मूकमाटी-मीमांसा

('मूकमाटी' महाकाव्य पर समालोचनात्मक आलेखों का संग्रह)

तृतीय खंड

मूकमाटी-मीमांसा

('मूकमाटी' महाकाव्य पर समालोचनात्मक आलेखों का संग्रह)

तृतीय खण्ड

सम्पादक
डॉ. प्रभाकर माचवे
आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

भारतीय ज्ञानपीठ

ISBN 978-81-263-1409-6 (Set)
978-81-263-1412-6 (Vol. III)

मूकमाटी-मीमांसा (तीन खण्डों में)

('मूकमाटी' महाकाव्य पर समालोचनात्मक आलेखों का संग्रह)

Mookmati Meemansa (in 3 Vols.)

तृतीय खण्ड

सम्पादक

डॉ. प्रभाकर माचवे

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

सम्पादन सहायक

डॉ. आर.डी. मिश्र, डॉ. शकुन्तला चौरसिया, डॉ. सरला मिश्रा

प्रबन्ध सम्पादक मंडल

सुरेश सरल (जबलपुर), सन्तोष सिंघई (दमोह)

नरेश दिवाकर (सिवनी), सुभाष 'खमरिया' (सागर)

मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक 40

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

लेजर टाइपसेटिंग : दिलीप जैन 'गुड्डा', बेस्ट कम्प्यूटर्स, सागर (म. प्र.)

चित्रांकन : प्रकाश माणिकराव राठौड, अंजनगाँव सुर्जी (महाराष्ट्र)

आवरण-चित्र : संजीव शाश्वती, आवरण-सज्जा : चन्द्रकान्त शर्मा

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर ऐंड प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

© भारतीय ज्ञानपीठ

प्रथम संस्करण : 2007

तृतीय खण्ड, मूल्य : 450 रुपये

तीनों खण्ड, मूल्य : 1100 रुपये

Published by

Bharatiya Jnanpith

18, Institutional Area, Lodi Road

New Delhi-110 003

First Edition : 2007

Volume III, Price : Rs. 450

Full set, Price : Rs. 1100

उद्‌भावना

अपने स्थापनाकाल से ही ज्ञानपीठ भारतीय चिन्तनधारा के विविध आयामी पक्षों को केन्द्रित कर लिखे जा रहे समग्र समकालीन साहित्य की कालजयी रचनाओं को प्रबुद्ध पाठकों तक ले जाने की अग्रणी भूमिका निभाता आ रहा है। यह सब इसलिए कि इससे हिन्दी भाषाभाषी पाठक तो लाभान्वित होंगे ही, इसके माध्यम से विभिन्न भारतीय भाषाओं के रचनाकारों एवं सजग पाठकों के बीच तादात्म्य भी स्थापित हो सके, परस्पर वैचारिक प्रतिक्रिया और आदान-प्रदान हो सके।

इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि श्रमण संस्कृति के उन्नायक आचार्यश्री विद्यासागर जी ने धर्म, दर्शन और अध्यात्म के सार को आधार बनाकर सामाजिक परिप्रेक्ष्य में सम-सामयिक समस्याओं के निवारण की मंगल भावना से हिन्दी में 'मूकमाटी' महाकाव्य का सृजन किया था। भारतीय ज्ञानपीठ ने बड़ी तत्परता से इस गौरवग्रन्थ का प्रथम संस्करण 1988 में प्रकाशित कर इसे बृहत् पाठक समुदाय तक पहुँचाने का कार्य किया था। यह कृति इतनी लोकप्रिय हुई कि सन् 2006 तक इसकी आठ आवृत्तियाँ हो चुकी हैं। इसी ग्रन्थ का मराठी अनुवाद 'मूकमाती' भी ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुका है। इसके अँग्रेजी, बांग्ला और कन्नड़ अनुवाद भी मुद्रण की प्रक्रिया में हैं।

आतंकवाद, आरक्षण वं दलित समस्याओं के समाधान तथा दहेजप्रथा, अर्थलिप्सा जैसी सामाजिक कुरीतियों का निर्मूलन एवं व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया का निर्धारण इस रचना का मूलभूत प्रयोजन माना जा सकता है। विशेषता यह है कि इसके लेखन में तपोनिधि का सन्त-स्वभाव क्रियाशील रहा है।

यह जानकर हम सभी को सुखद आश्चर्य होगा कि इसके व्यापक प्रचार-प्रसार एवं विषयगत भावों के सहज सम्प्रेषण होने के फलस्वरूप देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत आचार्यश्री विद्यासागर जी के विपुल वाङ्मय सम्बन्धी 41 शोधकार्यों में से 'मूकमाटी' पर अब तक 4 डी.लिट्., 22 पी-एच.डी., 7 एम. फिल. के शोध-प्रबन्ध तथा 2 एम.एड. और 6 एम.ए. के लघु शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके/रहे हैं।

इस कालजयी कृति पर अब तक जिन विख्यात समीक्षकों ने कृतिकार की मान्यताओं एवं काव्य के वैशिष्ट्य का अपने वैचारिक आलोक में जिस तरह आलोडन-विलोडन किया है और इसे आधुनिक भारतीय साहित्य की, विशेषरूप से हिन्दी काव्य-साहित्य की, अपूर्व उपलब्धि माना है, उस प्रभूत सम्पदा को भी पाठक तक प्रेषित करने का हमारा कर्तव्य बन जाता है।

हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार तथा साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली के पूर्व सचिव डॉ. प्रभाकर माचवे के प्रधान सम्पादकत्व में सम्पूर्ण भारत के लगभग 300 समालोचकों ने 'मूकमाटी' के विभिन्न पक्षों पर अपनी कलम चलायी थी। उनके आकस्मिक देहावसान के कारण, बाद में प्रस्तुत ग्रन्थ 'मूकमाटी-मीमांसा' के पृथक्-पृथक् तीन खंडों वाले इस समीक्षा ग्रन्थ का कुशल सम्पादन विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

के पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं मूर्धन्य विद्वान आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी ने किया है। भारतीय ज्ञानपीठ उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता है।

इस बृहद् ग्रन्थ के प्रबन्ध सम्पादक मंडल का धन्यवाद कि पांडुलिपि तैयार कराने से लेकर उसके प्रकाशन के लिए अपनी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सेवाएँ प्रदान कीं।

अन्त में परमपूज्य आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज के श्रीचरणों में हमारा नमन, कि उनके आशीर्वाद से ही यह कार्य सहजरूप से सम्पन्न हुआ।

हमने अपनी ओर से प्रयासभर ग्रन्थ की साज-सँभाल और उसके सुन्दर प्रकाशन में तत्परता बरती है। फिर भी इस दिशा में कोई त्रुटि या कमी रह जाती है तो सुविज्ञ पाठक उस ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगे, ताकि अगली आवृत्ति में उसका यथासम्भव शोधन किया जा सके।

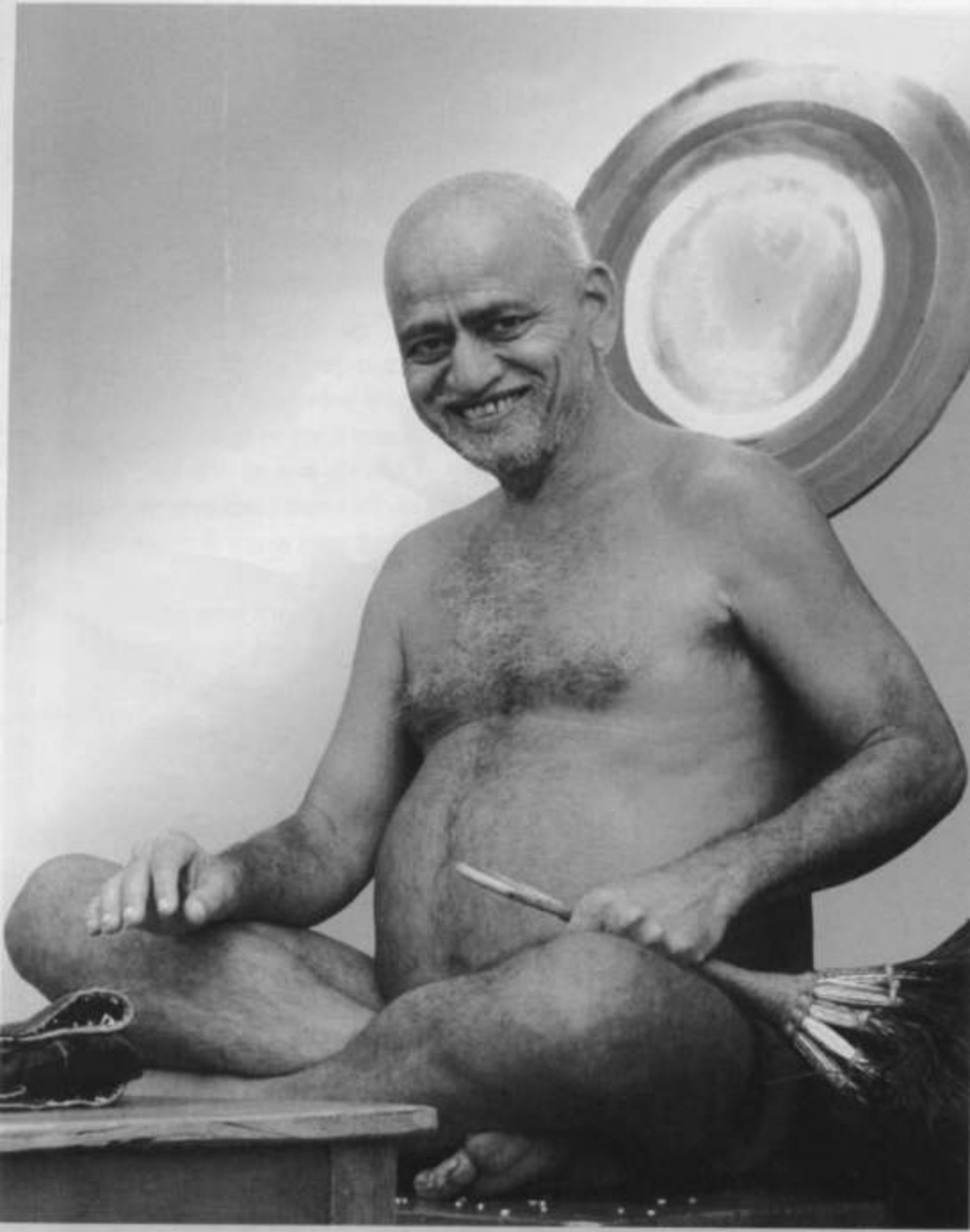
शुभं भूयात्।

—साहू अखिलेश जैन

प्रबन्ध न्यासी, भारतीय ज्ञानपीठ

नयी दिल्ली

11 जनवरी 2007



'मूकमाटी' महाकाव्य के रचयिता दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज



आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज से वार्तालाप करते हुए 'मूकमाटी-मीमांसा' के सम्पादक डॉ. प्रभाकर माचवे

'मूकमाटी' : शब्द से शब्दातीत तक जाने की यात्रा

आचार्य श्री विद्यासागरजी से भूतपूर्व सम्पादक डॉ. प्रभाकर माचवे की 'मूकमाटी' पर केन्द्रित बातचीत
स्थान-'त्यागी भवन', श्री दिगम्बर जैन मोठे मन्दिर के निकट, इतवारी बाजार, नागपुर, महाराष्ट्र
चैत्र शुक्ल नवमी – रामनवमी दिवस, वीर निर्वाण संवत् 2517, विक्रम संवत् 2048, रविवार, 24 मार्च 1991 ईस्वी

[संकेत – प्र. मा. – प्रभाकर माचवे, आ. वि. – आचार्य विद्यासागर]

प्र.मा.- 'मूकमाटी' शीर्षक ग्रन्थ या महाकाव्य लिखने की प्रेरणा आपको कहाँ से और कैसे हुई ? क्यों हुई ? मैंने यह इसलिए पूछा कि जैन पुराख्यानों में, कथानकों में वसुन्धरा या पृथिवी के प्रति, मिट्टी के प्रति ऐसी क्या बात थी जिसने आपको इस तरह से इतना बड़ा महाकाव्य लिखने की प्रेरणा दी ?

आ. वि.- हाँ, हमने सोचा कि काव्य और उसमें भी अध्यात्मपरक काव्य का मूल विषय सत्ता - महासत्ता हो, उसे बनाना उचित होगा। अध्यात्म की नींव इसी महासत्ता पर रखी जा सकती है, जो व्यापक होती है। इसे अन्तःप्रेरणा ही कहा जा सकता है। 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ (गाथा ८) में कहा गया है :

"सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया। भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का॥"

यानी सभी पदार्थों में सत्ता विद्यमान रहती है। वह विश्व यानी अनेक रूप है, अनन्त पर्यायात्मक है, उत्पाद-व्यय- ध्रौव्यशाली है और वह एक है तथा प्रतिपक्षधर्मयुक्त है।

प्र. मा.- यह महासत्ता क्या अणु से आरम्भ होती है ?

आ. वि.- हाँ, वह अणु में भी है और महत् में भी है। वह सब में व्याप्त है। वह गुण में भी है और पर्याय में भी है। वह गुणवत् भी है और पर्यायवत् भी है। वह अपने आप में द्रव्यवत् भी हो सकती है यानी सर्वांगीण भी हो सकती है। समष्टि या व्यष्टि से कोई मतलब नहीं - वह सर्वव्यापी है। जहाँ कहीं भी है, उस सबको सत् से जोड़ते चलना चाहिए।

प्र. मा.- जब आप 'सत्ता' को 'द्रव्य' कहते हैं तो वह क्या और कैसा होता है ?

आ. वि.-'द्रव्य' यहाँ उसको कहते हैं जो 'गुण' व 'पर्याय' का आधार होता है। [('गुणपर्ययवद् द्रव्यम्', तत्त्वार्थ-सूत्र, ५/३८)। यह द्रव्य भी सत् है ('उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (तत्त्वार्थसूत्र, ५/३०) यानी यहाँ प्रत्येक वस्तु में सत्ता विद्यमान है और वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है। वस्तु उत्पाद-व्ययशाली भी है और स्थिर भी। वह नित्य भी है और अनित्य भी। देश-कालजन्य परिणमनशील धर्म 'पर्याय' है और वस्तुसत्ता में एक रस विद्यमान रहने वाला धर्म 'गुण' है।] तो 'द्रव्य' जो है, वह जीव के रूप में रह सकता है एवं अजीव के रूप में भी हो सकता है। लेकिन 'सत्' जो है वह जीव और अजीव—उभयत्र विद्यमान है। ऐसे ही एक तत्त्व को प्रतीक बनाकर हमने सोचा कि इस माध्यम से सारभूत जो है, वह सब कहा जा सकता है।

प्र. मा.- अणु से मनु तक की जो यात्रा है, मृण्मय से चिन्मय तक की जो यात्रा है—जिसको हम मेटामॉर्फोसिस / ट्रान्स्फॉर्मेशन (Metamorphosis / Transformation) यानी रूपान्तरण कहते हैं, वह यात्रा किस प्रकार सम्पन्न होती है ? क्यों होती है ? ये आपके मत से क्या है ? यह कैसे हो गया ? यह जो घट है—मिट्टी का

घड़ा, इसमें आकाश कैसे आ गया ?

आ. वि. - इसमें आकाश रूप परिणमन करने की—मतलब आकाश को अवगाहित करने की और आकाश में अवगाहित होने की, दोनों तरह की क्षमता विद्यमान है। इसी को 'सत्ता' कहा जाता है। अर्थात् वह एक भी है एवं अनेक भी है; सत् भी है और असत् भी। वह सबके साथ जुड़ी हुई है—'सा प्रतिपक्षाऽपि विद्यते, सा विश्वरूपाऽपि विद्यते। सा एकाऽपि अनेकाऽपि वर्तते।'

प्र. मा.- और इसके ये नाम रूपात्मक हैं ? आकार - आयतन कैसा है ?

आ. वि.- अपने भीतर जो अनगिनत सम्भावनाएँ हैं, वे सभी सत् में विद्यमान हैं और उनके आकार को 'पर्याय' कहते हैं। वे सब प्रतीक बनाकर व्यक्त की गई हैं 'मूकमाटी' में। दूसरी बात यह भी है कि ये सब व्यापक होकर भी, पतित से पावन होने की जो यात्रा है – नीचे से उठकर उत्थान की ओर अग्रसर होने की जो हमारी आध्यात्मिक यात्रा है, इसमें सब की सब समाहित हो जाती हैं। कारण, ऐसे किसी नगण्य या तुच्छ व्यक्तित्व को हम ले लें और तुम पावन नहीं बन सकते, ऐसा सुनकर भी जो पावनता की सीढ़ी पर चढ़ने का प्रयास करता है तो स्पष्ट हो जायगा कि सब में पावनता की सीढ़ियों पर चढ़ने की सम्भावनाएँ हैं। मिट्टी ऐसे ही एक व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है।

प्र. मा.- तो आप जो मिट्टी और कांचन के – ये दो घड़े लाए हैं। उसमें उसके मृण्मय एवं धातुमय कांचन के बनाने से आपका कोई विशेष उद्देश्य नहीं है वरन् यह कि घटत्व दोनों में व्याप्त है, अतः घट दोनों एक हैं, यह आशय है ?

आ. वि.- नहीं, नहीं, उन दोनों में घटत्व की व्याप्ति दिखाकर उन्हें एक बताने का उद्देश्य नहीं है, वरन् उद्देश्य है—ऊँच-नीच दिखाने का।

प्र. मा.- ऊँच और नीच क्या चीज है ? यह ऊँच-नीच बनाने वाला कौन है ?

आ. वि.- यह ऊँच-नीच की भावना मनुष्यों के मस्तिष्क की उपज है। फिर तदर्थ कुछ न कुछ सम्बोधन तो देना आवश्यक है। मेरे पास और कुछ वस्तु या पदार्थ नहीं है जो इसको अवहेलित करने वाला व्यक्ति कुछ पा सके। इसीलिए इसको हमने कांचन का रूप दे दिया। कंचन और मृण्मय हमारे लिए समान हैं, यह ठीक है, परन्तु सब के लिए तो ये समान नहीं हैं। जिसके पास समानता नहीं, विषमता है, उसको भी कम से कम महानता का बोध हो जाय।

प्र. मा.- इसमें आपने 'आतंकवाद' शब्द का प्रयोग किया है। इसमें कांचन का घड़ा आतंक कराने वाला बन जाता है। इस आतंक से आपके मन में कहीं उस आतंक का भी संकेत विद्यमान है, जो आज इस देश में चल रहा है ? क्या इस आतंकवाद का भी कोई भाव आपके मन में है ?

आ. वि.- हाँ, उसका भी भाव, सम्बन्ध है।

प्र. मा. - तो आप क्या सोचते-समझते हैं ? कैसे आतंकवाद का मुकाबला कर सकते हैं ? उसका समाधान कैसे किया जा सकता है ? कैसे हो सकता है ? क्या हो सकता है ?

आ. वि.- आतंकवाद को मिटाने के लिए पहले हमें यह भी देखना होगा कि आतंकवाद का प्रादुर्भाव कैसे हुआ ?

प्र. मा.- कारण की तह में जाना होगा।

आ. वि.- वह कारण यही है कि कहीं न कहीं शोषण हुआ है, कहीं न कहीं अनादर या अवहेलना हुई है। उसके अस्तित्व को नकारा गया है। तभी इस प्रकार की घटनाएँ घटती हैं, यह भी तो हमें सोचना चाहिए।

प्र. मा.- अब देखिए, यहाँ पर जो नव बौद्ध लोग हैं, दलित लोग हैं, हरिजन लोग हैं, वे मानते हैं कि हजारों वर्षों से उन्हें दमित या दलित किया गया है, उनका अनादर हुआ है। इससे उनके मन में एक हीन ग्रन्थि पैदा हो गई है। सो अब वे वैसा ही नहीं रहना चाहते हैं। वे आरक्षण करवाते हैं कि हमारे अधिकार ज्यों के त्यों रहें और हम नव बौद्ध भी रहेंगे, साथ ही अधिकार भी लेंगे। यह कहाँ तक उचित है ?

आ. वि.- विकास का द्वार सबके लिए उद्घाटित होना चाहिए। लेकिन विकास इधर-उधर से नहीं आएगा अपितु उसी में होगा। हम उसमें निमित्त बन सकते हैं, सहयोगी हो सकते हैं। हाँ, यदि वह हमारे सहयोग का दुरुपयोग करता है तो वह ठीक नहीं माना जा सकता। वह बच्चा जिसके पास बुद्धि है, उसके लिए हम उपकरण जुटा सकते हैं। इस तरह सहयोग कर सकते हैं। यदि वह कमजोर बुद्धि का है तो विशेष प्रबन्ध कर सकते हैं। लेकिन जो विकास ही नहीं करना चाहता है और उसी अवस्था में रहकर विकसित व्यक्ति की तुलना में अपने आपको (आरक्षण की) बैसाखी पर बिठाना चाहता है, इससे तो अवरोध ही पैदा होगा। अवरोध तो होगा ही, उलटे जो मूल्यवान् पदार्थ या व्यक्ति होगा, उसका अवमूल्यन हो जाएगा। साथ ही जो मूल्यवान् नहीं है उसको भी मूल्य देना पड़ेगा। दारिद्र्य का ही स्वागत करना पड़ेगा।

प्र. मा.- आज तो देश भर में यही सब देखने में आ रहा है, दिखाई दे रहा है। प्रजातन्त्र के नाम पर अथवा सत्ता, सम्पत्ति और संस्था के नाम पर हम वो कार्य कर रहे हैं जिससे कि अवमूल्यन ही हो रहा है।

आ. वि.- आपने (दो दिन पूर्व) जो तीन बातें कहीं थीं – सत्ता, सम्पत्ति और संस्था...

प्र. मा.- तो इन पर भी विचार होना चाहिए। 'सत्ता' से राजसत्ता नहीं। इस सन्दर्भ में सत्ता, सम्पत्ति और संस्था-तीनों को मैं एक बहुत बड़ा कंचुक मानता हूँ। इनसे मनुष्य की आत्मा का बहुत बड़ा हनन होता है। यह बात मैंने पहले भी कही है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि प्रजातन्त्र से क्या आवश्यक रूप से वह होगा, जो आप कहते हैं ? बर्नार्ड शॉ ने कहा है : "डेमोक्रेसी इज मीडियाक्रेसी" – अच्छे जो लोग हैं, गुणवान् जो लोग हैं - आप जैसे जो लोग हैं, उन सबको नीचे उतरकर उनके साथ होना होगा, होना चाहिए या सब एक-से हो जाएँगे। सारा पानी मैला होगा या कि जो मैला पानी - नीचे के जो लोग हैं, वे सचमुच के बड़े हो जाएँगे ? इस प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया में आप क्या सोचते हैं ?

आ. वि.- बुद्धि की अपेक्षा से, आर्थिक दृष्टि से और साथ ही शारीरिक आदि दृष्टि से भी उनकी जो योग्यताएँ हैं, वहाँ तक उनका मूल्यांकन होना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि उनका जो मूल्य हो उसे भी नज़रअंदाज़ किया जाय। किसी का सर्वथा अवमूल्यन ठीक नहीं।

प्र. मा.- पर हो तो यही रहा है।

आ. वि.- अवमूल्यन से तो वह सब एक प्रकार से समाप्त ही हो जायगा।

प्र. मा. - आज तो वोट की राजनीति है। प्रजातन्त्र में संख्या का ही महत्त्व है, गिनती की ही महत्ता है। गिनती या संख्या में तो निरक्षर लोग ही ज्यादा हैं। मैं तो समझता हूँ कि आज का जो राज्य है वह निरक्षरों का, निरक्षरों के लिए, निरक्षरों द्वारा चलाया जाने वाला राज्य है। ये संख्या वाले और निरक्षर होते जाएँगे, बजाय इसके कि ये साक्षर हों–समस्या यह है।

आ. वि.- लेकिन साक्षर होने मात्र से क्या होता है ? साक्षर होने के उपरान्त भी यदि वे विलोम हो गए तो ? कहा गया है : "साक्षराः विपरीताश्चेत् राक्षसाः सन्ति केवलम्" - साक्षर विलोम भी हो सकते हैं और ऐसा होने पर वे केवल 'राक्षस' ही होंगे। मतलब इस ओर भी अपने को देखना आवश्यक है। सत्ता बहुत जल्दी करवट

लेती है। सत्ता तभी सत्ता है जब वह सही-सही चल सके।

प्र. मा.- सारी शक्तियों की यही स्थिति है। पहले जो तानाशाही होती थी - चाहे वह हिटलर की हो, स्टालिन की हो या सद्दाम की हो....

आ. वि.- संयम तो बरतना चाहिए।

प्र. मा.- प्राचीन ऋषियों ने जो 'द-द-द' कहा था – वह ठीक ही था - दान, दया और दमन। दमन करना संयम ही है और संयम धारण करना आज बहुत आवश्यक है।

अच्छा, यह बताइए कि आज की पीढ़ी में, आज की शिक्षा में जो कुछ हो रहा है - जैसे आपका ग्रन्थ पढ़ा और भी महाकाव्य पढ़े, बहुत सारी पुस्तकें पढ़ीं - तो क्या इस पढ़ाई से संयम की शिक्षा प्राप्त होगी, संयम की भावना पैदा होगी और बढ़ेगी ? क्योंकि आज की पढ़ाई को देखकर और पढ़ने वालों में आचरण की गिरती स्थिति को देखकर हितचिन्तक मनीषी बेचैन हैं। उन्हें संयम की दीवाल ढहती-सी दिखाई दे रही है। मैं आप सबके मुनि समाज और अन्य संघों में गया, सभाएँ भी सुनीं। पर सर्वत्र इसकी कमी लक्षित हो रही है। लोगों में संयम का अभाव बढ़ रहा है। रामकृष्ण आश्रम भी गया। पर नए लोग इसकी ओर नहीं आ रहे हैं। कारण, यह मार्ग कठिन है। इस मार्ग को सहसा कोई नहीं अपनाता। तो क्या कोई सरल उपाय किया जा सकता है जिससे सर्वसाधारण में संयम की शिक्षा अधिक से अधिक दी जा सके ? जैसे स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा और अन्य लोगों ने भी कहा कि यह कठिन मार्ग है, इसका सरलीकरण कैसे हो ?

आ. वि.- ऐसा है कि दो मार्ग निर्दिष्ट हैं अपने यहाँ। एक रुपया है (जो पूर्ण है-उसमें सौ पाई यानी पैसे हैं) और दूसरी एक पाई है। पाई की यात्रा या मात्रा(संख्या) एक पाई से आरम्भ होकर निन्यानवे पाई तक चलती है। इन सबको हम पाई ही गिनते हैं। इसमें आप कहीं भी फिट हो सकते हैं। इसकी तुलना में जो रुपया है- उसमें सौ पाई चाहिए ही चाहिए। तो यदि सौ नहीं हो सकते तो कम से कम पाई को तो हम सुरक्षित रखें - जो हो सके वह तो करें (पूर्ण न हो सकें तो क्या अंश बनना ही छोड़ दें ?)। एक पाई में दूसरी पाई जोड़ी जा सकती है। इस तरह एक से दो, दो से तीन तो हो सकते हैं। इस क्रम से धीरे-धीरे बढ़ें तो आपकी यात्रा उस एक पूर्ण की ओर होनी ही चाहिए, बढ़नी ही चाहिए।

प्र. मा.- इसका अभिप्राय यह कि संख्या या मात्रात्मक परिवर्तन से हम गुणात्मक परिवर्तन की ओर बढ़ें ?

आ. वि.- जी हाँ ! गुणात्मक परिवर्तन की ओर धीरे-धीरे बढ़ें।

प्र. मा. - कार्ल मार्क्स का यह कहना है : "क्वान्टिटी चेन्जेज़ क्वालिटी"- संख्या से गुणात्मक परिवर्तन होता है। हो जाता है। कहना यह है कि गुणात्मक परिवर्तन होना चाहिए।

आ. वि.- गुणात्मक परिवर्तन – जैसे, दो और दो मिलकर चार हो जाते हैं और दो में एक मिला दो, फिर एक मिला दो - इस तरह दो बार धन करने से भी चार हो जाते हैं। कहने का आशय यह है जो गुणित न कर सकें, वह धन कर के यानी जोड़कर करें पर ऋण तो न कर दें (मतलब घटाएँ न, बढ़ाते ही जाँय। वह गुणन की पद्धति से न हो सके तो धन के क्रम से ही हो जाय)।

प्र. मा.- जी हाँ, यह बहुत अच्छी बात कही आपने। आज तो ऋण की ही सम्भावनाएँ ज्यादा हैं। अन्तरराष्ट्रीय विश्व बैंक का ऋण भी तो उसी का प्रतीक है, जहाँ से ऋण लेते हैं हम।

आ. वि.- आज ऋण से ही हमारे सारे कार्य हो रहे हैं।

प्र. मा.- जी हाँ ! अब मैं आपका ध्यान इस 'मूकमाटी' काव्य की ओर फिर आकृष्ट करना चाहता हूँ। आपने मुक्त

छन्द ही क्यों चुना, इस काव्य के लिए ? आपके [जैन प्रस्थान के] वे जितने पारम्परिक काव्य हैं - चाहे प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत या हिन्दी के बहुत से काव्य हों– मुक्त छन्द में इतना बड़ा काव्य बहुत कम लोगों ने लिखा है। 'कामायनी', 'उर्वशी', 'साकेत' भी छन्दोबद्ध ही हैं। हरिऔधजी के काव्य भी ऐसे ही हैं। 'रामायण' या 'रामचरितमानस' भी ऐसे ही हैं। ये सभी छन्दोबद्ध ही हैं। आपको क्या मुक्त छन्द में कोई सुविधा लगी? कारण बताएँगे ? क्या कारण है ?

आ.वि.- इसमें एक तो सूत्रबद्धता यानी सूत्र रचना जिसको बोलते हैं, उसकी सुविधा मिल जाती है जो हमें इसमें देखने को मिली। छन्द जब बनाते हैं तब उसमें सूत्रात्मकता नहीं आ पाती, भले ही गेयता आ जाती है पर सूत्रात्मकता नहीं आ पाती। सूत्र में ऐसी क्षमता रहती है कि उसके माध्यम से हम संक्षेप में बहुत कुछ अर्थ कह लेते हैं। एक सुविधा तो यह है। दूसरी, छन्द में तुकबन्दी आदि-आदि पुनरावृत्ति जैसी लगती है। इससे उसमें कुछ कृत्रिमता भी आ जाती है। हम लाख प्रयत्न करें किन्तु उसका निवारण नहीं कर पाते पर वह अवांछित व्याघात या स्थिति आ ही जाती है।

प्र. मा.- आपके छन्द में ज्यादातर द्वयक्षर-प्रास आ जाता है। तेलगु और कन्नड़ में भी ये देखने को मिलता है। आपने कौन-कौन से महाकाव्य पढ़े हैं या देखे हैं या किनसे प्रभावित हुए हैं, जो आपके लेखन में प्रेरणास्रोत बन सके हैं ?

आ.वि.- महाकाव्य के रूप में हिन्दी का तो मैंने कोई महाकाव्य नहीं देखा।

प्र. मा. - नहीं, अपनी भाषा में ? संस्कृत, प्राकृत में या किसी अन्य भाषा में ?

आ.वि.- नहीं, हमने श्री गुरु महाराज (आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज) के द्वारा लिखित जो महाकाव्य हैं, उनका उन्होंने ही अपने श्रीमुख से अध्यापन कराया था। उनका 'जयोदय' महाकाव्य है, 'वीरोदय', 'सुदर्शनोदय' आदि महाकाव्य हैं, इनके अतिरिक्त उनके अन्य भी जो संस्कृत भाषा में निबद्ध ग्रन्थ हैं, उनसे पढ़ा करते थे। इस प्रकार संस्कृत भाषा के साथ-साथ हिन्दी भी अपने आप आ गई है।

प्र. मा.- आपने 'कामायनी' भी नहीं पढ़ी ?

आ. वि.- गुरु जी ने यह कहा था कि पहले संस्कृत सीखो, उसके साथ-साथ यह सब आ जायगा।

प्र. मा. - अँग्रेज़ी भी आप पढ़ते हैं या नहीं ?

आ. वि. - हाँ, थोड़ी-बहुत पढ़ लेता हूँ।

प्र. मा. - श्री अरविन्द का 'सावित्री' महाकाव्य भी नहीं देखा ?

आ. वि.- उसे साहित्यिक ढंग से (मूल में) नहीं पढ़ा। 'मूकमाटी' सृजन के पूर्व तो नहीं, किन्तु तत्पश्चात् अनूदित रूप में देखा है।

प्र. मा. - काफी अच्छा ग्रन्थ है। उसका अनुवाद भी हिन्दी में हुआ है। उसकी गणना बीसवीं शती के अच्छे ग्रन्थों में होती है। तो यह 'मूकमाटी' महाकाव्य स्वतः स्फूर्त पद्धति से लिखा गया है।

अच्छा, यह बताइए कि इसमें जो चार खण्ड आपने रखे हैं, इसकी भावना आपके मन में कहाँ से आई ?

आ. वि.- नहीं। मैंने पहले चार खण्ड नहीं बनाए। पहले तो धाराप्रवाह आद्योपान्त यों ही लिख गया। बाद में महसूस हुआ कि यह पाठकों के लिए असुविधाजनक हो सकता है, फलतः कोई काट-छाँट तो नहीं की, किन्तु प्रसंगों को लेकर भिन्न-भिन्न शीर्षक अवश्य रचे। अब इन को (शीर्षकों को) निकाल भी देते हैं तो भी इसकी निरन्तरता भंग नहीं होती, धारा नहीं टूटती। वह अविरुद्ध बनी रहती है। साथ ही यदि भिन्न-भिन्न

शीर्षक रख भी देते हैं तो पाठक थोड़ा विश्राम जैसा अनुभव कर लेता है।

प्र. मा.- अच्छा, अब मेरी जिज्ञासा पंच तत्त्वों के सम्बन्ध में है। आपने जल, मिट्टी, सूर्य-प्रकाश-अग्नि, वायु और आकाश—इनका प्रयोग इसमें रूपकात्मक पद्धति पर किया है या कि कोई और पद्धति पर और किसी अन्य अर्थ में किया है ? इन्हें केवल भौतिक पंच तत्त्व के रूप में न लेकर किसी पात्र का प्रतीक बनाकर ही नहीं वरन् उनका मानवीकरण किया है, कहीं- कहीं दिव्यीकरण भी किया है। अत: अब यह बताइए कि इन तत्त्वों के सम्बन्ध में जैसे मिट्टी आदि कहा तो इसके बारे में आपका मत क्या है ? अर्थात् उनके साथ जो एसोसियेशन्स (साहचर्य) बनते हैं या कहलाते हैं मनोविज्ञान में, वे क्या हैं ? आपका 'मिट्टी' से क्या मतलब है ? सचमुच ही मिट्टी अथवा कोई शरीर या मिट्टी का घड़ा ? क्या आशय है आपका ?

आ. वि.- 'मिट्टी' का अर्थ इतना ही लिया गया है कि वह एक अनगढ़ पदार्थ है।

प्र. मा.- जिसमें बहुत सारे कंकड़ भी मिले हैं।

आ. वि.- जी हाँ ! बहुत कुछ मिक्चर (मिश्रण) है, तो उनका संशोधन करके जिस प्रकार घड़े का रूप दिया जाता है उसी प्रकार अनगढ़ आत्माएँ, जो कि अनन्तकालीन हैं, उनको भी कोई विशिष्ट शिल्पी का योग मिल जाता है और वह स्वयं मिट्टी के समान उसके प्रति समर्पित होता चला जाता है तो वह भी निश्चित रूप से कुम्भ के समान मंगलमय हो जाता है या बन सकता है।

प्र. मा.- यह उसका उपादान कारण है या निमित्त ?

आ. वि.- जी हाँ ! उसका उपादान कारण तो वह स्वयं है। स्वयं मिट्टी ही लोंदे के रूप में परिवर्तित होगी। शिल्पी का (निमित्त—प्रेरक निमित्त) योग पाकर यह परिवर्तन होगा। इसको अपने यहाँ उपादान एवं निमित्त कारण बोलते हैं।

प्र. मा.- यानी कुम्भकार जब कुम्भ बनाता है तो उसका आशय यह कि कुम्भ जो है वही कुम्भकार को बना रहा है।

आ. वि.- जी हाँ ! जी हाँ !!

प्र. मा.- इसमें द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है। तो इस मिट्टी के लोंदे से जो आकार उभरा है घड़े का, उसका क्या करना है ? क्या यह पहले से कुम्भकार के मन में रहता है या बनता जाता है ? उसके बाद उसका उपयोग होता है।

आ.वि.- हाँ ! कुम्भकार का इसमें उद्देश्य रहता है, क्योंकि उसके माध्यम से वह अपनी जीविका चलाता है। रहा कुम्भ, उसका मतलब यह है कि जो मिट्टी के रूप में था, वह कुम्भ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार गुरु और शिष्य का सम्बन्ध है। गुरु के माध्यम से शिष्य का उत्थान होता है। शिष्य यदि चाहेगा तो पाएगा। उसमें पात्रता आ गई है।

प्र.मा.- अब मैं सृष्टिकर्ता और सृष्टि की बात करना चाहता हूँ, जिसका बार-बार आप उल्लेख करते हैं। क्या जो सृष्टिकर्ता है वह कुम्भकार है और जो सृष्टि है कुम्भ—वह क्या है ? मैं यह जानना चाहता हूँ कि वह किस चीज से सृष्टि बनाता है ? वह अपने अन्दर से उपजाता है, सृष्टि बनाता है या कोई बाहर की चीज है जिससे बनाता है ? इस विषय में दार्शनिकों में बहुत ऊहापोह और वाद-विवाद रहा है। जब शंकराचार्य से पूछा गया कि आपके यहाँ सृष्टि क्यों और कैसे बनी या बनाई गई ? तो वह युक्तिसंगत उत्तर ना दे सके। कारण, वह तो निरीह है, अत: उस परम सत्ता में कोई इच्छा ही नहीं और बिना इच्छा के क्रिया कैसे होगी ? फिर वह पूर्णकाम है, अत: उसे कोई अभावात्मक प्रयोजन भी नहीं, फिर सृष्टि क्यों बनाई ? जब उनको बहुत छेड़ा गया तो उत्तर दिया—"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" (ब्रह्मसूत्र, २/१/३३)—जिस प्रकार लोक में निष्प्रयोजन लीला की जाती है, क्योंकि लीला का प्रयोजन स्वयं लीला ही है, वैसे ही परमेश्वर ने की है यह

सब लीला। और छेड़ा गया तो उन्होंने कहा– 'सृष्टि एक भ्रम है।' वह वास्तव में भ्रम या अज्ञान या माया की उपज है। कहने के लिए उन्होंने यह सब कह दिया। आपकी धारणा क्या है ? आपकी दृष्टि क्या है? किस चीज से सृष्टि बनाई गई है ?

आ. वि.- सृष्टि यदि रचना है, इसलिए सृष्टि अपने आप में एक कर्म है। मान लो कार्य है। तो किसी का होगा। अब किसी का है तो किसका है ? यह प्रश्न तो निश्चित उठेगा। कोई कहेगा वह कर्ता ईश्वर है, कोई कहेगा भगवान् है और कोई कहेगा महावीर है, आदि-आदि। ऐसी स्थिति में प्रत्येक सत् के भीतर जो अनगिन सम्भावनाएँ हैं, वे सब नकार दी जाएँगी। ये सारी की सारी सम्भावनाएँ उस ईश्वर पर आधारित हो जाएँगी और यदि ऐसा मान भी लें तो भी हमें सन्तुष्टि नहीं मिलेगी। असन्तुष्टि का कारण यह है कि यदि ईश्वर कर्ता है तो उसने ऐसी विषम सृष्टि क्यों बनाई ? उसमें समानता क्यों नहीं ? कोई रंक है तो कोई राजा क्यों ? इसलिए ईश्वर को कर्ता कैसे माना जाय? सृष्टि में यह व्यत्यास की प्रक्रिया बनी ही क्यों ? इससे लगता है कि यह प्रक्रिया बनी ही नहीं, किसी ने बनाई भी नहीं। जड़ और चेतन में अन्तर व्याप्त है, व्यत्यास है। चूँकि जीव कर्म करता है तो राग-द्वेष आदि भी करता है। इस प्रकार कर्मबन्ध होने के पश्चात् उसी कर्म का पुनः उदय होता है। और उसका फल वह स्वयं भोगता है। जड़ यह स्वयं नहीं करता।

प्र. मा.- मलतब उस कुम्भकार के मन में कोई मॉडल नहीं था। उसने पहले कोई घड़ा नहीं देखा था और उसने अपने मन से नया बनाया। यह नई मौलिक उद्भावना है ? कहाँ से आई ?

आ. वि.- नहीं, यह उद्भावना खरीददार की चाह के अनुरूप है, वह जो चाहता है उसके अनुरूप है।

प्र. मा.- ओह !

आ. वि.- ग्राहक को देखकर ही दुकानदार को ज्ञात होता है कि दुकान में कहाँ-कहाँ क्या रखा है ? जब ग्राहक कहता है कि उसे कुछ दे दो तो दुकानदार जिज्ञासा करता है कि उसे क्या दे दे ? उसकी दुकान में तो हजारों सामान भरे पड़े हैं, तुम्हें क्या चाहिए। यही दृष्टान्त इस सन्दर्भ में भी लागू होता है। यहाँ केवल कुम्भकार नहीं चाहता, लोंदा स्वयं बता देता है कि मुझे इस प्रकार का आकार दें।

प्र. मा.- 'कामायनी' में और कश्मीरी शैवदर्शन में बार-बार इच्छा, ज्ञान और क्रिया की बात आती है। सृष्टि के मूल में इन तीनों का सामरस्य रहता है। इच्छा तो सब में होती है पर तदनुरूप ज्ञान सब में नहीं होता। तो इच्छा और ज्ञान के बाद क्रिया का अर्थात् हेड, हार्ट और हैण्ड – दिमाग, दिल और हस्त इन तीनों का जब (समरस) सम्बन्ध होता है, तभी उनसे सृष्टि की बात सम्भव होती है। परन्तु आपने यहाँ जो बात कही है, उस सन्दर्भ में निराकार या साकार - जैसा भी कुम्भकार माना जाय, क्या उसमें इच्छा पहले से रहती है ? ज्ञान रहता है ? क्रिया करने की इच्छा रहती है? या उसमें तीनों एक साथ उद्भूत रहते हैं ? आपके मन में क्या विचार है ?

आ. वि.- माँ जो होती है, उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं होती।

प्र. मा.- वाह ! वाह !!–बहुत अच्छा उत्तर आपने दिया।

आ. वि.- सामने जब उसका बच्चा आता है, खाना माँगता है तो खाना खिला देती है। पेट भर जाने पर यदि वह खेलना चाहता है तो स्वयं साथ में खेलने भी लगती है।

प्र. मा.- वाह ! हमारे गुरु पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी अपने को 'माँ' लिखा करते थे। 'मुझको कहते हैं माता' उन्होंने कविता लिखी थी। सारी कविता को वे इसी तरह मानते रहे। यह मिलती-जुलती प्रक्रिया है।

आ. वि.- कवि को भी इसी तरह होना पड़ता है। यदि नहीं होता, युग के अनुरूप अपनी तस्वीर नहीं बनाता तो वह कवि ही नहीं है।

प्र. मा.- वाह ! क्या बात है।

आ. वि.- तो इसका (कवि का) कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि फिर युग कैसा लेगा उसको। मैं अपनी तरफ से दे दूँ तो युग स्वीकार नहीं करेगा। आपकी चाह के अनुरूप हम देंगे तो निश्चित रूप से वह स्वीकार्य हो जायगा।

प्र. मा.- आपकी युग की जो कल्पना है क्या वह दिक् और काल से बँधी है? कौन-सा युग ? क्या आज का युग या प्राचीन युग ? महाभारत का युग या राम का युग—क्या ?

आ. वि.- युग हम हमेशा 'वर्तमान' को ही मानते हैं।

प्र. मा.- 'वर्तमान' शब्द की क्या परिभाषा है ? इस क्षण से अगला क्षण क्या वर्तमान नहीं है ?

आ. वि.- जिसमें भूत नहीं, भविष्य नहीं।

प्र. मा. - हाँ।

आ. वि.- जहाँ इच्छा नहीं, स्मरण नहीं, उसका नाम 'वर्तमान' है—'वर्तते इति वर्तमानः'। वह ही वर्तमान है हमारा। जो वर्तमान है, वही वर्धमान है हमारा।

प्र. मा.- वाह ! वाह !! क्या बात है जो वर्तमान है, वही वर्धमान है। बुद्धि से उसका सम्बन्ध है। बहुत अच्छा। परन्तु जो भूत है उसको हम भूल भी नहीं सकते। वह (भूत) उस (वर्तमान) में मिला हुआ है। टी. एस. इलियट ने लिखा है : "The past is involved in future and future and past in the present." – ये त्रिकाल जो है, एक प्रवहमान नदी है। हमारे चेतन, अचेतन, अर्धचेतन में ये सारे क्षण-क्षण जो हैं– तो क्षणवादी दर्शन के जो बौद्ध लोग हैं, वे मानते हैं कि क्षण ही प्रधान है। जबकि हमारे शंकराचार्य या उनसे भिन्न जो अन्य हैं उसको (सत् को) कूटस्थ, अचल और ध्रुव अर्थात् उसको एक निश्चित क्षण मानते हैं। अतः काल के सम्बन्ध में आपकी क्या अवधारणा है ?

आ. वि.- काल के माध्यम से हम करते हैं, काल में करते हैं किन्तु काल के द्वारा हम नहीं करते।

प्र. मा.- मनुष्यत्व से काल कोई अलग चीज है ?

आ. वि.- काल अलग चीज होते हुए भी एक 'स्व-काल' होता है और एक 'पर-काल' होता है। एक स्व-चतुष्टय (स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) और एक पर-चतुष्टय (पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) होता है। अपनी योग्यता ही 'स्व-काल' है और पर का सहयोग जो अपेक्षित है, वह 'पर-काल' है।

प्र. मा.- इन दोनों का सम्बन्ध कैसे होता है ?

आ. वि.- इन दोनों का सम्बन्ध उसी प्रकार होता है—जैसे करंट और तार। करंट स्व-काल है। करंट स्वयं प्रकाशमान् है और जो वायर है उसके लिए पर-काल है। वायर के बिना वह (करंट) एक स्थान से दूसरे स्थान तक नहीं जा सकता। पर वह साधन (उपकरण) मात्र है। स्वयं वह प्रेषित नहीं करता मात्र मीडियम/माध्यम है। यदि हम चाहते हैं तो जितनी गति के साथ करंट दौड़ेगा वह उसकी अपनी क्षमता होगी।

प्र. मा.- तो काल करंट है और मनुष्य मीडियम ?

आ. वि.- नहीं, काल केवल वायर है और करंट जो है वह स्वयं गतिमान् पदार्थ है। जीव चेतन है। वह स्वयं यात्रा करेगा तो उसके लिए काल सहयोग करेगा। काल के द्वारा करंट (जीव) नहीं दौड़ रहा है।

प्र. मा.- तो इसकी प्रत्यभिज्ञा कैसे होती है, ज्ञान कैसे होता है ?

आ. वि.- हमें क्या करना है, कहाँ तक चलना है—वैसे करते चले जाएँ। यह आवश्यक है। जैसे, वर्तमान को लेकर हम चलें। एक व्यक्ति तार के ऊपर चल रहा है। वह अतीत की ओर, पीठ की ओर नहीं देखता। इस प्रकार होने से भूत भी उसका गायब हो गया एवं वर्तमान की ओर भी वह देखता नहीं, लेकिन वर्तमान में ही वह चल रहा है। पैर उसके वर्तमान हैं।

प्र. मा.- भविष्य ?

आ. वि.- भविष्य आशात्मक नहीं है। पहुँचने रूप है। प्रति (हर) समय वह चल रहा है। इसलिए भविष्य उसका निश्चित रूप से उज्ज्वल है। लोग उसे देखते रहते हैं और वह पार कर जाता है।

प्र. मा.- मार्क्सवादियों का कहना है कि प्रतिक्षण जब आप एक-एक कदम चलते हैं तो आपका जो दाहिना पैर है वह बाएँ पैर का निषेध है और जब अगला पैर चलेगा तब दाएँ पैर का निषेध होगा अर्थात् निषेध का निषेध, नकार का नकार।

आ. वि.- लेकिन हम दोनों पैर से नहीं चलते हैं, एक ही पैर से चलते हैं। दूसरा पैर हमारे लिए सहयोगी रहता है, वह टिका हुआ रहता है। ये धन और ऋण हैं।

प्र. मा.- यानी धन और ऋण दो अलग-अलग करंट नहीं हैं ?

आ. वि.- अलग-अलग करंट नहीं हैं। वह दोनों की संयोजना है। करंट दोनों की संयोजना है। न केवल धन में करंट है और न केवल ऋण में।

प्र. मा.- उनका द्वन्द्व नहीं है।

आ. वि.- नहीं, सहयोग है। दोनों पैर से हम चलेंगे तो हम 'लौंग जम्प' वाले कहलाएँगे या 'हाई जम्प' वाले कहलाएँगे किन्तु 'वाकिंग' (walking) वाले नहीं कहलाएँगे।

प्र. मा.- बहुत अच्छा।

आ. वि.- एक पैर से ही चला जाता है और तब दूसरा पैर बैलेंस में रहता है।

प्र. मा.- मैक्समूलर ने रामकृष्ण परमहंस पर जर्मन में एक पुस्तक लिखी है। उसमें बहुत अच्छा लिखा है। उसमें लिखा है कि डायलेक्टिक (Dialectic) जो है या परस्पर द्वन्द्वात्मकता जो है, उसमें एक दूसरे को काटने की बात है यानी नकार का नकार। भारतीय दर्शन में यह काट-पीट नहीं है, यहाँ मात्र Dialogue है।

आ. वि.- हाँ संयोजन है, डायलेक्टिक नहीं है। जैसे खेत में बहुत-सा सस्य है। उसमें हवा बहती है, तब वह एक दूसरे में संचार करती है, एक दूसरे को काटती नहीं।

प्र. मा.- जैसे इकबाल ने कहा है : "जियो, मगर मौज़ों की तरह जियो।" एक लहर आती है वह दूसरी लहर को काटती नहीं वरन् एक दूसरे को आगे बढ़ाती हुई आगे चली जाती है। आपका दर्शन भी इसी तरह सोचता है।

आ. वि.- जी हाँ !

प्र. मा. - फिर भी मुझे यह स्पष्ट नहीं हुआ कि यह काल का जो आपका अवबोध है, काल की जो आपकी परिकल्पना है, उसका 'दिक्' से यानी दिशा से क्या सम्बन्ध है और उन दोनों का काव्य से क्या सम्बन्ध है ?

आ. वि.- दिशा एक प्रकार से "सही दिशा का प्रसाद ही/सही दशा का प्रासाद है।" (द्रष्टव्य, पृ. ३५२)

प्र. मा.- वाह ! वाह !! 'मूकमाटी' में है यह ?

आ. वि.- जी हाँ ! 'मूकमाटी' में है। यही दिशा है। दिक् का अर्थ दिशा नहीं, बोध है।

प्र. मा.- तो फिर आप के चिन्तन में राष्ट्र शब्द नहीं आएगा ? क्योंकि राष्ट्र शब्द दिशा से बँधा है किसी सीमा में। 'किसी दिशा में'—इसका अर्थ क्या होगा ?

आ. वि.- राष्ट्र अपने यहाँ एक प्रकार से संयोजना जो कुछ बनती है, उसका नाम है। वही है देश। 'समाज' को केन्द्र में रखकर जो विचारधारा बनती है वह है समाजवाद। समाज समूह अर्थ का वाचक है और समूह का अर्थ है—सम् यानी समीचीन रूप से ऊह अर्थात् विचार। मतलब जहाँ आचार-विचार समीचीन हों, वह है समाज। जो इस बाद में आस्था रखता है वह है समाजवादी। अन्यथा समाज तो बाद में है—हम समाजवादी (पहले) हैं।

प्र. मा.- बहुत अच्छा ! किन्तु देश-देश में आपस का जो वितण्डा या विखण्डन है, वह भी विचारणीय है इस सन्दर्भ में। यह तो एक तथ्य या सत्य है कि भारत एक देश है। उसके आज तीन खण्ड हो गए हैं – भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश। यह विभाजन—जो दिक् से जुड़ा है वहाँ है या हमारे चिन्तन या अवधारणा में है?

आ. वि.- हमारे विचारों में विघटन का नाम ही देश का विभाजन है। देश में कोई विभाजन हुआ ही नहीं। यह विचारों का विघटन है। इस विभाजन को विचारों का ही विघटन बोला जाता है।

प्र. मा.- विचारों का विघटन ! तो आपका क्या ख्याल है कि विचारों का यह विघटन समाप्त हो जायगा ? क्या सारी दुनियाँ एक हो जायगी?

आ. वि. - एक हो या न हो, एक होने की भावना या विचार हम रखेंगे तो निश्चित रूप से दूसरे में भी सम्भावना देख सकते हैं।

प्र. मा.- पहले भारत एक था। हम देख रहे है कि विखण्डन की क्रिया भयानक रूप से चल रही है। बढ़ रही है। देख लीजिए– असम, पंजाब, तमिलनाडु, जम्मू-कश्मीर आदि इसके उदाहरण हैं।

आ. वि.- इसमें कारण एक मात्र है कि ऊपर से हम एकता भले चाहते हों लेकिन भीतर से नहीं चाहते।

प्र. मा. - हाँ ! यह एकता का जो हम प्रचार आदि कर रहे हैं, यह सिर्फ प्रचार है।
अब, हम कविता की ओर आते हैं। काव्य दिक्-कालातीत होता है या दिशा और काल से बँधा होता है ?

आ. वि.- कविता स्वाश्रित होती है। स्वायत्त होती है। इसका दिशा-काल से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्र. मा.- स्वाश्रित (होती है कविता) ! उसका क्या दिशा-काल से कोई सम्बन्ध नहीं ?

आ. वि.- कोई नहीं।

प्र. मा. - पर उद्भूत तो होती ही दिशा में ही, दिशा-काल से ही।

आ. वि. - 'स्व' में (या 'स्व' से) उद्भूत होती है।

प्र. मा. - पर भाषा से तो बँधी है ?

आ. वि.- हाँ ! भाषा से बाँधना पड़ता है। जैसे जन्म होने के बाद आवरण या आभरण आ जाता है।

प्र. मा.- भाषा तो दिगम्बर नहीं हो सकती। भाषा के साथ तो दिशा-काल बँधा है।

आ. वि.- भाषा की परिभाषा भी एक प्रकार से दिगम्बर जैसी ही है। हम बना देते हैं तो बन जाती है, नहीं तो नहीं है। भीतर से भाव यही है कि भाव हमेशा उत्पन्न होते रहते हैं और भावों को हमेशा व्यवस्थित रखने के लिए भावों को, भाषा को अपनाना पड़ता है। वह अपनाना कहाँ तक है, यह आप ही जानें। पर हमारा राजकुमार तो राजकुमार ही है, रूपवान् है। बाद में भले ही वस्त्र रख दो तो रख दो, नहीं भी रखो तो हमारा

राजकुमार तो राजकुमार ही है।

प्र. मा.- क्या बात है ! 'स्वाश्रित' जब आपने कहा तो इसमें कविता का कोई भावक, कोई सामाजिक, कोई रसज्ञ, कोई उसका ग्रहण करने वाला भी अभिहित है या नहीं ? क्या आप यह मानकर चलते हैं कि मैंने काव्य 'स्वान्तः -सुखाय' लिख दिया। वह हवा में या शून्य में रहे, कोई न भी पढ़े तो परवाह नहीं ?

आ. वि.- रसोइया जो है न, वह पाकशास्त्र को जानता है। पाकशास्त्र जानने वाला व्यक्ति अपने 'पाक' को दूसरों तक पहुँचाने की कोशिश अवश्य करता है।

प्र. मा.- करता ही है। मतलब दूसरा है उसके मन में ?

आ. वि.- हाँ ! लेकिन दूसरा है, इसलिए मन में है, ऐसा नहीं। वह अपने में उत्पन्न करता है कि जो खाने के लिए आया, उसको पूछने नहीं जाता कि आपको क्या चाहिए या कैसे बनाऊँ। हाँ, जितना खाना है, उतना खा लो। लेकिन मैं बनाऊँगा तो अपने रस पाकज्ञान से ही बनाऊँगा।

प्र. मा.- 'स्वाश्रित' में 'पर' यह जो है उसका स्वाद लेने वाला है, स्वादक निहित है।

आ.वि.- 'स्व' के साथ वह भोजन तो कर ही रहा है, स्व के साथ दूसरों को भी लाभ हो जाय तो ठीक है, किन्तु वह गौण ही है।

प्र. मा.- क्या आप कविता को संवाद नहीं मानते ?

आ. वि.- नहीं।

प्र. मा.- केवल आत्माभिव्यक्ति मानते हैं ?

आ. वि.- नहीं। वो तो संवाद में आ ही नहीं सकता।

प्र. मा.- संवाद से मेरा मतलब है—सम्प्रेषण। यानी कोई और है जिससे मैं बात करना चाहता हूँ।

आ. वि.-'वद्' धातु से 'वाद' बना है तो फिर कविता के लिए वद् से जुड़ा ही नहीं।

प्र. मा.- हाँ ! हाँ !! वाद, विवाद, संवाद, प्रवाद आदि। तो वाद या भाषा जैसा आप कह रहे हैं, वह केवल आत्माभिव्यक्ति है यानी स्वाभाविक ही है।

आ. वि.- इसीलिए 'मूकमाटी' में लिखा है – परावाक्, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। ये चारों हैं लेकिन ये सारे के सारे योगीगम्य हैं, मात्र वैखरी ही श्रोत्रेन्द्रिय का विषय बन पाती है।

प्र. मा. - काव्य का अन्त मुझे ऐसा लगा कि आपने कुछ जल्दी कर दिया। मुझे समझ में नहीं आया कि अन्त में क्या होता है इस घड़े को लेकर के मूकमाटी का।

आ. वि.- उसकी पूर्णता हो गई। उसकी यात्रा पूर्ण हो गई मौन में। वह मौन में लीन है और जब पूर्णता हो जाती है, तो अनुभूति आ जाती है। जब अनुभूति हो जाती है तब वचन को, वाक्य को विराम मिलता है।'''फिर बोलना, क्या बोलना ?

प्र. मा.- यह जो आपकी धारणा है वह बहुत कुछ झेन बौद्ध धर्म के निकट है। मैं बहुत से झेन बौद्ध मठों में गया। मैंने वहाँ देखा है कि वे लोग पत्थरों को जमा कर लेते हैं और बैठे रहते हैं और सोचते हैं कि झरना है। चन्द्रमा की तरफ देखते हैं और घण्टों बैठे रहते हैं, बात नहीं करते हैं। खाली कप में पानी रहता है उसे थोड़ा-थोड़ा पीते हैं। समझते हैं कि चाय पी रहे हैं। ये जो झेन है, वह 'ध्यान' से निष्पन्न है। उनका कहना है कि जैसे हाथ पर हाथ मारें तो आवाज होती है, वैसे ही एक हाथ से भी आवाज़ आनी चाहिए। वे वर्षों केवल इसी आवाज़ को सुनते हैं हवा में। मेरे लिए यह विचित्र स्थिति है कि 'जो है, उसको हम नहीं है' तक ले जाते हैं। वाणी

को मौन तक ले जाना''' शून्य की ओर ले जाना है।

आ. वि.- नहीं। शून्य की ओर नहीं। वही वास्तव में एक सही, सत्य तक पहुँचाने की यात्रा है। शब्द बोलने में आता है और सुनने में भी आता है। बोध बोलने में नहीं आता, सुनने में नहीं आता लेकिन बोध को वाणी मिली, ऐसा कह देते हैं। तो शब्द-प्रत्यय से अर्थ-प्रत्यय यानी बोध-प्रत्यय होता है।

प्र. मा.- इसमें 'शोध' और 'बोध' आपने कहा है।

आ. वि.- इसके उपरान्त 'शोध' आता है। शोध में शब्द भी गायब हो जाता है और बोध कहता है कि बहुत पंगु हूँ मैं, क्योंकि उस फूल का नाम है बोध और पेड़ का नाम है शब्द। तो शब्द के पौधों के ऊपर बोध के फूल लगें, यह कोई नियम नहीं।

प्र. मा. - उसकी सुरभि तो है ?

आ. वि.- इसके उपरान्त बोध के पास भले ही सुरभि हो लेकिन तृप्ति का साधन फूल नहीं। शोध में सुरभि भी है और फल भी। हमारे काम में तो दोनों आते हैं। इसलिए जब तक बोध है, तब तक शोध नहीं। बोध को ही शोध में ढलना होगा यानी फूल को फल में ढलना होगा। किन्तु ध्यान रहे—फूल का रक्षण हो और फल का भक्षण हो।

प्र. मा.- वाह ! वाह !! तो यह शब्द से शब्दातीत तक जाने की यात्रा है। इस 'मूकमाटी' सम्बन्धी एक जिज्ञासा मेरे मन में और थी कि मनु और अणु—ये शब्द प्रयोग किए हैं आपने। तो अणु के स्फोट को लेकर के आज विश्व में जिस तरह की बातें हो रही हैं, उस सन्दर्भ में आपका मत क्या है ? अणु की जो शोध की जा रही है, उससे मनु को कुछ लाभ होगा ? मनु कुछ आगे बढ़ेगा ?

आ. वि.- नहीं। वह रोकी जाए, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ। लेकिन अणु का प्रयोग क्यों किया जा रहा है ? अणु का प्रयोग करने वाला मनु की परम्परा को लाँघेगा तो आनन्द नहीं ले सकेगा। स्वयं आइंस्टीन ने यह कहा कि मैंने अणु का शोध किया है, यह निश्चित बात है, लेकिन प्रयोग करने के लिए नहीं कहा। प्रकृति पर हम प्रयोग करेंगे तो निश्चित रूप से हमारी हार होगी और जब तक मनुष्य का दिल और दिमाग ठिकाने है तब तक ये एटम बम, हाइड्रोजन बम आदि हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं करेंगे। लेकिन जिस दिन यह मस्तिष्क/मन विकृत हो जायगा वह हमारे लिए आत्मनाशी होगा । इसलिए प्रयोग के लिए नहीं कहा है। योग रखिए, प्रयोग नहीं।

प्र. मा.- परन्तु कवि तो यह मानता है कि वह सदा वियोग में रहता है : ''वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान। उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान।'' इस दुनिया की सारी कविता अतृप्ति से ही फूटी है।

आ. वि.- बहुत अच्छा। सुनिए ! वह जो योग—संयोग व वियोग के उलझन में फँसा है, वह निश्चित रूप से, नियोग रूप से योग का आधार नहीं ले सकता और यदि योग का आधार नहीं ले सकेगा तो उसके उपयोग में विश्व क्या है, यह आ ही नहीं सकेगा।

प्र. मा. - यहाँ पर लोगों का यह कहना है कि यह तो सन्तों का मार्ग है। मुनियों का मार्ग है। यहाँ मुक्त होकर आप मौन की ओर, परम मोक्ष की ओर जाएँगे।

आ. वि.- नहीं, नहीं, नहीं।

प्र. मा. - परन्तु बेचारा कवि जो है वह दर्द में छटपटाता रहता है : ''दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।''

आ. वि.- जो यह कहा है कि दर्द, दवा और हवा – इन्हें हमें देखना आवश्यक है। जब हवा से काम नहीं चलता तब दवा काम में आती है और जब दवा से काम नहीं चलता तब दुआ काम आती है। लेकिन ये बिलकुल बाहरी जगत् की बात हो गई। जब दुआ काम नहीं आती उस समय हमें क्या करना ? कौन-सा आधार है ? किस की शरण में जाएँ और कौन-सा हमारा एक सहारा या स्तम्भ हो ? निश्चित बात तो यह है कि जब दुआ काम नहीं करती तब परम चेतना– शुद्ध आत्मतत्त्व – स्वयम्भुवा काम करती है।

प्र. मा. - तो आपने, महाकाव्य जो है, यह एकदम प्रेरणा हुई और लिख दिया··· ऐसा है ? कितना समय लगा लिखने में ?

आ. वि.- लगातार लिखते गए, लगभग पौने तीन वर्ष* लगे।

प्र. मा. - पहले से कोई ढाँचा बनाया था या फिर बनता चला गया ?

आ. वि.- ढाँचा तो कुछ नहीं बनाया। बस प्रारम्भ हो गया और बनता गया।

प्र. मा. - जैसे कुम्भ बनता चला गया।

आ. वि.- जी हाँ ! एक कथा पूर्ण करनी है अपने को। अतः वहाँ तक घट को ले जाना है। इसलिए बनाते चले जाओ। तदुपरान्त कुम्भ जो है वह जल-धारण भी करता है और जल से पार भी करा देता है। तो जल से पार भी करा दिया यानी पूर्ण यात्रा हो गई।

प्र. मा.- तो आपके इस कुम्भ में जो जीवन है, जल है – क्योंकि मैं अभी पंच तत्त्व की बात कर रहा था, मिट्टी की बात हमने बहुत कर ली- अब यह जीवन जो तत्त्व है, क्या ये भी एक अमूर्त तत्त्व है या एब्सेट्रक्ट तत्त्व है ? या पानी जिसको आप कह रहे हैं, कुम्भ के अन्दर जो नीर आता है, पानी है, सलिल है, वारि है, जो भी शब्द कहें – ये दृश्य हैं ? स्पृश्य हैं ? कैसी चीज हैं ? या केवल यह धारणा है ?

आ. वि.- जल भी एक तत्त्व है। जल को अपने यहाँ जल के ही रूप में अंगीकार किया और 'भू' को सब की भूमिका के रूप में अंगीकार किया है।

प्र. मा. - उस दिन (दो दिन पूर्व हुई बातचीत के समय) आपने धरती को 'सर्वंसहा' यानी गन्धवती, पृथिवी, भूमा कहा था तो जल को आपने एक चलायमान, गतिशील तत्त्व के रूप में अंगीकार किया और भूमि को स्थितिशील ?

---

* *'मूकमाटी' ग्रन्थ आलेखन प्रारम्भ - श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र पिसनहारी की मड़िया, जबलपुर, मध्यप्रदेश में आयोजित हो रहे ग्रन्थराज 'षट्खण्डागम वाचना शिविर' (चतुर्थ) के प्रारम्भिक दिवस–बीसवें तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रतनाथजी के दीक्षाकल्याणक दिवस–वैशाख कृष्ण दशमी, वीर निर्वाण संवत् २५१०, विक्रम संवत् २०४१, बुधवार, २५ अप्रैल १९८४ को।*

समापन - श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र नैनागिरिजी, छतरपुर, मध्यप्रदेश में आयोजित श्रीमज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक एवं त्रय गजरथ महोत्सव के दौरान केवलज्ञान कल्याणक दिवस– माघ शुक्ल त्रयोदशी, वीर निर्वाण संवत् २५१३, विक्रम संवत् २०४३, बुधवार, ११ फरवरी १९८७ को।

प्रकाशन- 'मूकमाटी' (महाकाव्य) - आचार्य विद्यासागर, भारतीय ज्ञानपीठ, १८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-११० ००३, पहला संस्करण-१९८८, पृष्ठ-२४+४८८, मूल्य-५० रुपए, सातवाँ संस्करण-२००४, मूल्य-१४० रुपए।

आ. वि.- हाँ ! स्थितिशील, धारणशील, पालनशील, क्षमाशील और तारणशील है। धरणी– "जो धारण करती है यानी ध···र···णी- णी···र···ध।" अथवा "तीर पर जो धरने वाली है वह ध···र···ती-ती···र ···ध।"(द्रष्टव्य, पृ.४५२-४५३)

प्र. मा. - वाह ! वाह !! तो इन दो तत्त्वों में, जल और मिट्टी में, आपने 'अग्नि तत्त्व' को किस तरह इस्तेमाल किया ?

आ. वि - अग्नि को जलाने के रूप में भी लोग अंगीकार कर लेते हैं। लेकिन जलाने वाली सारी चीज़ें हमारे लिए बाधक हैं, ऐसा नहीं है। स्वयं ही घड़ा कहता है कि मुझे जला दो, क्योंकि तुम्हारे द्वारा मैं जब तक नहीं जलूँगा, तब तक मेरी यात्रा पूर्ण नहीं होगी। और ऐसा मत सोचो कि तुम मुझे 'जला' रही हो। नहीं, वास्तव में तुम मुझे 'जिला' रही हो। मेरे भीतर जो दोष हैं, उन दोषों को जला रही हो। उन दोषों को जलाए बिना मेरी जीवन यात्रा सम्भव नहीं। मेरी जीवन यात्रा का विकास तुम्हारे जलाने के ऊपर ही है। अतः तुम निःसंकोच होकर जला दो, मैं जलने के लिए तैयार हूँ। तो अग्नि को इस रूप में अंगीकर कर लिया ।

प्र. मा. - न्याय या वैशेषिक आदि दर्शनों में घड़े के निर्माण के समय यह माना जाता है कि अग्नि में एक-एक कण जलता चला जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि इकट्ठा बन जाता है। आपका क्या कहना है ?

आ. वि.- कोई भी कार्य जो होता है तब यदि हम 'निष्पन्न दशा' को लेकर चलते हैं तो 'पीछे का' गौण हो जाता है। लेकिन 'पीछे को' गौण के साथ हम यदि निराकृत कर दें तो हमारे हाथ कुछ नहीं लगता।

प्र. मा.- थोड़ा स्पष्ट कीजिए इसे।

आ. वि.- जैसे किसी ने एम. ए. किया। तो सोलह (११+३+२) कक्षाएँ उत्तीर्ण करने के उपरान्त उसके पास गुरुत्व आया। किसी एक विषय के ऊपर अधिकार आ गया। यह निश्चित बात है। लेकिन यदि प्रथम कक्षा, द्वितीय कक्षा आदि-आदि पास नहीं करता तो सोलहवीं कक्षा कोई वस्तु तो हमारे सामने नहीं रहती। प्रथम कक्षा, दूसरी कक्षा आदि का सारा ज्ञान संयोजित होकर ही तो एम. ए. कहलाता है।

प्र. मा.- तो ये स्टेप-बाई-स्टेप होता है ? घड़े का निर्माण भी स्टेप-बाई-स्टेप हुआ ? एकदम नहीं ?

आ. वि.- एकदम नहीं होता।

प्र. मा. - एक दम अग्नि के प्रवेश से नहीं बन जाता, ऐसा नहीं होता। मेरी एक जिज्ञासा यह थी कि यह घड़ा जो निर्मित हुआ, उसमें पानी के अंश और आकाश की क्या स्थिति है ?

आ. वि.- आकाश की स्थिति यह है कि उसने पानी को अवगाहित करने का अवकाश दे दिया। दूसरा यह कि घटाकाश, पटाकाश का जब व्यवहार किया जाता है तो उसका आशय यह नहीं होता कि वह सब आकाश का नाम है, अपितु वह घटगत आकाश है, पटगत आकाश है। जिस स्थान पर घड़े ने अपने को स्थापित किया है, उस स्थान पर स्थित घट में जो आकाश है, वह घटाकाश है। उसे घटाकाश मान लिया गया– अन्यथा, वहाँ आकाश की कोई बात नहीं।

प्र. मा.- यहाँ आपने स्पेश (Space) या दिक् जो है या खम् - इस तत्त्व को मान लिया । अभी आपने कहा था कि...

आ. वि - हाँ, माना है। दिक्-कालातीत नहीं है। घट की स्थिति जो है।

प्र. मा. - यहाँ आपने कहा था कि घट की यात्रा दिक्-कालातीत नहीं है, अमूर्त नहीं है ?

आ. वि.- जी हाँ ! काल को बताने के लिए घट कारण तो है। और इसकी प्रक्रिया में काल सहयोग भी दे रहा है। इसकी व्यवस्था भी हमने बताई । लेकिन काल को ही सब कुछ मान लें या स्थान को ही सब कुछ मान लें तो घट

का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा।

प्र. मा. - 'कामायनी' गत शैव दर्शन में इच्छा, ज्ञान और क्रिया– ये तीन शब्द मैंने पहले कहे थे। इन तीनों को आप क्या एक समझते हैं ? एक साथ मानकर चल रहे हैं ?

आ. वि.- प्रत्येक क्रिया में कोई सहयोग आवश्यक होता है। वह तो अपने आप चलता ही रहता है। हम बोल रहे हैं तो इस समय वचन-वर्गणाएँ आ ही रही हैं, मन के माध्यम से विचार भी चल रहा है।

प्र. मा.- परन्तु, अकेले मनुष्य या सामूहिक मनुष्यों के विकास में पहले इच्छा रहती है, फिर ज्ञान आता है और फिर क्रिया बहुत बाद में होती है, ऐसा प्राणीशास्त्र विज्ञान कहता है। इसमें अवस्था भेद से–छोटेपन से बड़ेपन में या कि एक आदिवासी समाज में और एक अत्यन्त सम्पन्न आज का जो यान्त्रिक समाज है, इसके बीच में जो कुछ परिवर्तन होता है, उसके सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?

आ. वि.- इस सम्बन्ध में तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रारम्भ में आदिवासी होकर ही आदिनाथ भगवान् का उपासक बनता है और फिर आदिनाथ बन जाता है। लेकिन अन्य दशाओं का वह एकदम गौणीकरण कर देता है। प्रत्येक आदमी जब पहला क़दम रखता है, उस समय वह बालक ही माना जायगा।

प्र. मा.- यानी प्रत्येक व्यक्ति पुनः बालक बन सकता है ?

आ. वि.- बालक ही है वह। जिस दिशा में वह चलना चाहता है, एक चरण रखता है तब वह बालक ही रहता है। बालक से ही पालक बनता है।

प्र. मा.- तो क्या यह सम्भव है कि किसी वृक्ष के लिए वह फिर से वहीं पहुँच जाय जहाँ से प्रारम्भ किया ? प्रत्येक वृक्ष फिर बीज बनेगा ? क्या खिला हुआ फूल फिर कली बन जायगा ?

आ. वि.- नहीं ! इसे यूँ कहना चाहिए कि यदि अभी बनने की प्रक्रिया ही नहीं हुई है तो उसको हम चलना नहीं मानेंगे।

प्र. मा.- केवल इच्छा है ?

आ. वि.- हाँ ! केवल इच्छा है। अभी ज्ञान और क्रिया नहीं आ पाई। क्रिया हो रही है लेकिन समीचीन क्रिया होनी चाहिए। तभी इच्छा पूर्ण हो पाएगी। मात्र इच्छा ही ज्यों-कि-त्यों बनी रहती है तो क्रिया फलीभूत नहीं होती–"यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः" (कल्याणमन्दिर-स्तोत्र/३८) यानी भाव से शून्य-क्रिया फलीभूत नहीं हो पाती।

प्र. मा.- ये सारा आपने आत्मनिष्ठ विवेचन किया। मैं थोड़ी वस्तुनिष्ठता की बात चाहता हूँ। आपके दृष्टिकोण में कोई जड़ या बाहर की पृथ्वी या भौतिक जगत् नहीं है ? या है ? या केवल आभास है मन में या केवल विवर्त है ?

आ. वि.- ऐसा है – वैसे यदि देखा जाय तो आभास भी है और वैसे...

प्र. मा.- क्या केवल कल्पना है महाराज ? दुनिया जो है – 'माई वर्ल्ड इज माई विल' – ऐसा हावर ने कहा है। 'क्या केवल एक मिथ्या है', जैसा शंकराचार्य कहते हैं ?

आ. वि.- एकान्त रूप से मिथ्या ही कहें, ऐसा भी नहीं है। क्योंकि मिथ्या को कहने के लिए जो शब्द प्रयोग किए जाएँगे तो फिर वो भी मिथ्या ही हो जाएँगे। जैसे शंकराचार्य ने कहा कि यह संसार जो है, वह मिथ्या है। तो यह संसार मिथ्या कहने वाले जो वचन हैं, वे भी मिथ्या हैं। ऐसा तो नहीं है कि इन वचनों के माध्यम से हमें कुछ भी नहीं मिला है। वह केवल बुद्धि है, उच्चरित शब्दार्थ की समझ तो है ही। यदि यह एकान्ततः मान लिया जाय कि यह सारा का सारा संसार झूठ है, तब जो शब्द सुना जा रहा है, वह भी झूठ है। इसलिए

जब यह शब्द निकला और उसने बोध कराया तब एकान्ततः झूठ कैसे मान लिया जायगा ? कुछ तो वह है।

प्र. मा. - ठीक है। शंकराचार्य के विषय में एक कहानी है। वे कहीं जा रहे थे कि उनके पीछे एक दौड़ता हुआ हाथी लग गया। यह देखकर शंकराचार्य जान बचाने के लिए भागने लगे। इसी समय उनके द्वारा शिक्षित और दीक्षित व्यक्ति आया और देखा कि शंकराचार्य भाग रहे हैं। उसने कहा कि स्वामिन् ! आपके अनुसार जब सारा संसार झूठा है, तब क्या यह हाथी सच्चा है, जो आप इस से डर के भाग रहे हैं ? शंकराचार्य ने कहा कि उनका भागना भी कहाँ सच्चा है,वह भी मिथ्या है। मतलब यह कि मिथ्या की अवधारणा नितान्त सूक्ष्म है। विदेशी अर्थात् पश्चिमी दार्शनिकों ने मिथ्या का अर्थ अभाव नहीं माना है।

आ. वि.- मिथ्या का अर्थ अभाव नहीं है।

प्र. मा. - हाँ ! मैं यहीं आ रहा हूँ ।

आ.वि.- हाँ ! मिथ्या का अर्थ एक प्रकार से विलोम होना है।

प्र. मा.- तो क्या आप इसको आंशिक मिथ्या या आंशिक सत्य मानते हैं?

आ. वि.- नहीं। इसको हम यह कहेंगे कि जैसे एक तो अभाव है और दूसरा विभाव। तो जल का अभाव अत्यन्ताभाव नहीं है। हिम, जल का विभावीकरण है। और विभाव के द्वारा हमेशा कष्ट होता है। इसको मिथ्यात्व बोलते हैं।

प्र. मा. - तो जल का हिम जो है, वह निषेध नहीं है ?

आ. वि.- नहीं। अभाव नहीं है, विभाव है। विभाव रूप हिम को पुनः तरल बना दो। जल को तरल माना है स्वभावतः। जब जल रहेगा तब तरल रहेगा, बहाव रहेगा। लेकिन, जब तरल के स्थान पर सघन हो जाएगा तब वह विभाव हो जाएगा और विभाव होने के कारण न नाव उसमें डूबेगी और न तैरेगी, किन्तु अटक जाएगी।

प्र. मा.- समय काफी हो रहा है। मैं अन्तिम प्रश्न पूछना चाह रहा हूँ—क्या आप और कोई महाकाव्य लिख रहे हैं या लिखेंगे ? हमारी उम्मीद है, हम चाहते हैं कि इससे भी बड़ी चीज़ आप लिखें।

आ. वि.- माँग तो आ रही है, लेकिन उस माँग की...

प्र. मा.- इच्छा आपके मन में जागे, फिर ज्ञान हो और फिर क्रिया हो। जो आपका काव्य('मूकमाटी') है वह हिन्दी के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि है, हम ये मानते हैं। ऐसी कोई चीज़ पहले नहीं लिखी गई और ये कई दृष्टियों से अभूतपूर्व रचना है। मैंने तो कई महाकाव्य पढ़े हैं। कई भाषाओं में पढ़े हैं। मैंने इसकी तुलना अन्य कई महाकाव्यों से कराना चाही है—'गिलगिमेश' पहला महाकाव्य है जो पश्चिम में माना जाता है कि ईंटों के अन्दर लिखा प्रलय के बारे में कुछ मिलता है। और मिल्टन के 'पैराडाईज़ लॉस्ट'और डान्टे की 'डिवाइन कामेडी'—इन सब से तुलना करते हुए हम चलते हैं, विश्व के महाकाव्यों के इतिहास में हम देख रहे हैं कि यह अलग चीज़ है। अरविन्द की 'सावित्री' कुछ-कुछ इसके करीब की रचना है, फिर 'कामायनी' है, परन्तु ये उससे भी भिन्न है। ये आपने बहुत बड़ा महत्त्व का ग्रन्थ लिखा है, इतना ही मैं कहना चाहता हूँ। मैं तो लिखूँगा ही जो कुछ लिखना है।

हम ये चाहते हैं कि इसका अधिकाधिक लोगों में प्रचार-प्रसार हो। इसके द्वारा लोगों को काव्य का एक नया आयाम खुल जाता है। अभी तक काव्य के सम्बन्ध में जो हमारी धारणा थी उसमें एक नया कल्पना-लोक, आलोक उद्घाटित हुआ है। कल्पना का क्या योग मानते हैं आप काव्य में ?

आ. वि.- अनुभूति को जीवित रखने के लिए कोई साँचा तो बनाना चाहिए। मैं कल्पना के पक्ष में बहुत कम हूँ।

प्र. मा. - अच्छा, ये आपकी दी हुई कल्पना है, जो महाकाव्य है, वह अकल्पनीय कल्पना है ?

आ. वि.- ये कल्पनातीत है, क्योंकि घटित नहीं हो रही है और कल्पना कर लें तो इस अपेक्षा से जो घटित है, जिस रूप में है, उसको हम शब्द रूप दे दें तो बहुत अच्छा रहेगा ।

प्र. मा.- हमारे अचेतन मन की खान के अन्दर जो छुपी हुई स्वर्ण राशि है, उसे मिट्टी के अन्धकार में से निकाल कर के कल्पना तक उसको परिशोधित कर जब उसका बोधन-शोधन होता है तब जाकर उसकी एक मुद्रिका बनती है। शब्दों के जड़ाव के अन्दर तब जाकर लोगों के काम की होती है। रस प्रक्रिया जैसी है यह। जैसे कि भोजन के लिए पाकशास्त्र में भी जो मूल चीज है, उसका वैसा ही सेवन नहीं करते, ये सारा परिष्करण है।

आ. वि.- जहाँ तक बन सके वहाँ तक मैं सोचता हूँ इन रसों में ही विशेष संयोजना या खोज ना करके जो रसास्वादी व्यक्ति हैं, उनकी रसास्वादन में थोड़ी रुचि ज्यादा बढ़ जाए तो अपने आप ही इसका नाम ज्यादा हो जाएगा। इसमें हम बहुत कुछ भरना चाहते हैं, लेकिन सामने वाला व्यक्ति ग्रहण नहीं कर पाता। इसलिए जहाँ तक बन सके वह बन्धन टूट जाए। अन्यथा, शृंगार लाओ, विरह लाओ - यानी वो लाओ, ये लाओ। इससे पूरा का पूरा वो ही इतिहास, पुनः जमघट हो जाता है।

प्र. मा.- आप केवल शान्त रस में विश्वास करते हैं ?

आ. वि.- जी हाँ ! इसमें कहा भी है : ''सब रसों का अन्त होना ही-/शान्त-रस है'' (पृ.१६०)। कहा है: ''शान्ताद् भावाः प्रवर्तन्ते।''

(अन्य के द्वारा एक प्रश्न)

प्र. मा. - आप पूछ रही हैं– कुम्भकार ईश्वर है या गुरु है ? वो गुरु मान कर चल रही हैं। आप क्या मानते हैं ?

आ. वि.- ईश्वर अपने यहाँ (जैन दर्शन में) दो प्रकार के होते हैं – एक सकल परमात्मा और एक निकल परमात्मा। सकल परमात्मा – शरीर सहित, जो अरहन्त परमेष्ठी हैं। दूसरे शरीर रहित होने से निकल परमात्मा हैं। वो हमारे परम गुरु हैं। और ये जो ज्ञानसागर महाराज हैं वो हमारे गुरु हैं।

प्र. मा.- हमारे यहाँ तो गुरु को ही ''गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः, गुरुर्देवो महेश्वरः'' कहा है। ये तीनों जो हैं, वे गुरु में आ गए हैं तो सृष्टि उत्पत्ति-स्थिति एवं लय– इन सबका गुरु के अन्दर समावेश है। हमारे यहाँ गुरु की धारणा बहुत व्यापक है। तो गुरु और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं हमारे यहाँ विचारों में ?

आ. वि.- इतना ही अन्तर है कि गुरु जो हैं : ''गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय। बलिहारी गुरु आपनै...आगे..., -गोविन्द दियो 'बताय' नहीं, बल्कि गोविन्द दियो 'बनाय' कहते हैं।''

प्र. मा. - वाह ! वाह !! 'बताय' के बदले में 'बनाय' कर दिया।

(एक अन्य के द्वारा प्रश्न)

प्र. मा.- आप पूछ रहे हैं कि जब आप कर्नाटक से आए थे, तब इतनी हिन्दी नहीं आती थी। फिर हिन्दी पर इतना अधिकार कैसे प्राप्त किया ?

आ. वि.- अधिकार तो नहीं था, इसे स्वीकार किया है। हमने केवल सुना है। गुरुजी ने केवल सुनाया था। वो कुछ-कुछ मारवाड़ी बोलते थे।

प्र. मा.- मैं सोचता हूँ सारा श्रेय संस्कृत-प्राकृत को देना चाहिए, जिन भाषाओं ने इस सब को आधार दिया।

आ. वि.- गुरुजी के मुख से हमने संस्कृत पढ़ी, लेकिन बोल-चाल का माध्यम हिन्दी भाषा रही ।

प्र. मा.- इसमें कहीं-कहीं ग्रामीण शब्दों के प्रयोग भी आ जाते हैं, जैसे 'जघन' शब्द (पृ.२२७) आपने लिखा है। इसका हिन्दी में अर्थ अच्छा नहीं होता। आपने कन्नड अर्थ में शायद लिखा है ? दर्शन को इस तरह काव्य रूप में प्रस्तुत करना अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि मैं मानता हूँ, क्योंकि जितने भी दर्शन के बारे में महाकाव्य हैं, वे बहुत कुछ क्लिष्ट हो जाते हैं जबकी ये ('मूकमाटी') क्लिष्ट नहीं है। इसका प्रभाव जो है-प्रसाद गुण बहुत बड़ा है। यह बराबर प्रवहमान् चलता जाता है, क्योंकि इसके पीछे आपकी जो चेतना है वह निरन्तर आपको आगे ठेलती हुई चली जाती है। आप बहुत स्पष्ट हैं। आपका जो उद्देश्य है, आपके कुम्भ का जो भाव है वह बहुत स्पष्ट है। बहुत-बहुत धन्यवाद। हम बहुत उपकृत हुए। आपके काव्य को पढ़कर के बहुत लाभान्वित हुए। ये जिज्ञासाएँ तो यूँ ही थीं, हमारी मूर्खता या हमारी सीमा का— जानने के लिए। लेकिन लोगों तक पहुँचने में इसे समय लगेगा। जब अन्तरिक्ष में लोग गए तो उनका भार कम हो गया—लोगों को जैसे आसमान में तैरना पड़ा। इसको ('मूकमाटी') पढ़ते समय ऐसा ही आभास होता है। जैसे हम कहीं स्पेश में जा रहे हों। ज़मीन पर एकदम पैर नहीं टिकते। उन जैसी ही हमारी उपलब्धि है। और कुछ पूछना है किसी को ? इसमें 'प्रास' बहुत आते हैं। शब्दों की क्रीड़ा, अनुरमण, उसका जो है अवलोइन'''तो क्या ये सब सहज रूप से हुआ या आप कहीं-कहीं जान-बूझ कर ले आए हैं ?

आ. वि.- अर्थाभिव्यक्ति अच्छी हो तो उसके लिए कोई विशेष मेहनत नहीं करनी पड़ती।

प्र. मा.- शब्दाधिकार बहुत हैं इसमें। शब्द और अर्थ को आप कैसे मानते हैं ? शब्द पहले आता है आपके मन में या अर्थ पहले आता है ?

आ. वि.- हम तो भाव से ज्ञान की ओर, मतलब बोध से शब्द की ओर बढ़ते हैं। हमारी कविता की यात्रा हमेशा भीतर से बाहर की ओर होती है।

प्र. मा. - तो शब्द कहाँ हैं— बाहर हैं, भीतर हैं या बीच में हैं ?

आ. वि.- भाव भीतर हैं और उन्हें शब्द के आलम्बन के लिए बाहर आना पड़ता है।

प्र. मा. - कभी आपको ऐसा नहीं लगा कि किसी शब्द के लिए आपको रुकना पड़ा हो ?

आ. वि.- नहीं, नहीं। अपने भाव के साथ जब शब्द जुड़ता है तब बहुत भारी हो जाता है। तब अपने चिन्तन के लिए कोई क्षति नहीं पहुँचती और शब्द अपने आप मिलते चले जाते हैं। इस की ('मूकमाटी') एक विशेषता कि हमने रात में कभी भी नहीं लिखा, चिन्तन के उपरान्त दिन में ही लिखा।

प्र. मा.- इतना बड़ा जो 'अभिधान राजेन्द्र कोश' उन्होंने बनाया, वो भी रात को स्याही को सुखाकर रख देते थे। दिन-दिन में स्मृति से लिखते थे। यह 'मूकमाटी' भी बहुत अद्भुत काव्य है, क्योंकि और किसी जैन मुनि ने ऐसा महाकाव्य लिखा हो, ध्यान में नहीं आता। इस तरह के अमूर्त विषय पर किसी ने कार्य किया हो, ऐसा भी ध्यान में नहीं आता। यह बहुत आधुनिक है मेरे मत से, क्योंकि ये विज्ञान के लिए भी प्रेरित करता है। आज विज्ञान की जो खिड़कियाँ खुल रहीं हैं, विभिन्न विद्वान् लिख रहे हैं—'डान्स ऑफ शिवा' आदि विदेशों में जो लोग हैं वो इसी तरफ आ रहे हैं, इसी भारतीय मनीषा का जो चरम बिन्दु है। सारे भौतिकवादी चिन्तन, सारे द्वन्द्वात्मक चिन्तन सीमित हो गए हैं, वे भी धीरे-धीरे वहीं पर आ रहे हैं उसी बिन्दु पर। उसकी ओर ही संकेत करता है ये ग्रन्थ। इसीलिये मैं इसको 'फ्यूचर पोयट्री' यानी भविष्यवादी काव्य, जैसा कि अरविन्द ने कहा है, इसे बहुत अच्छा दिशादर्शक मानता हूँ। अन्य कवियों के लिए भी ये बहुत प्रेरणादायक ग्रन्थ है।

❑



आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के चरण-सान्निध्य में' मूकमाटी-मीमांसा' के सम्पादक आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

पातनिकी

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

(क) प्रस्तुत कृति पर आमन्त्रित समीक्षाएँ और उनकी समीक्षा

आलोच्य संकलन में अनेकविध समीक्षाएँ हैं। लेखक या समीक्षक कश्मीर से केरल और गुजरात से गुवाहाटी तक के हैं, इसीलिए ये समीक्षाएँ अपने में विविधता लिए हुई हैं। विविधता आकारगत भी है और आन्तरिक कथ्य या विवेच्यगत भी। कतिपय समीक्षाएँ बृहदाकार हैं और कतिपय सम्मत्यात्मक पत्र क़िस्म की। एकाध समीक्षक तो ऐसे भी हैं जिन्होंने कई (चार) अध्याय की पुस्तक ही लिख दी है और एक विद्वान् से भूमिका भी लिखवा ली है। सोचा इसी में छप जायगी। सम्पादन के क्रम में ऐसे प्रयासों को अन्यथा आकार देकर उसे पृथक् कृति होने के भ्रम से बचा लिया गया है। ऐसे विद्वानों के भी निबन्ध हैं जिन्होंने स्वतन्त्र पुस्तक छपवा ली है पर उसी पुस्तक से कुछ लेकर ग्रन्थोपयोगी स्वतन्त्र आकार दे दिया है।

अधिकांश लेखों में आलोच्य कृति की कथावस्तु का सारांश प्रस्तुत कर अपनी प्रतिक्रिया कतिपय मुद्दों पर दे दी गई है। कुछ समीक्षाएँ श्रद्धातिरेक से आपाद-मस्तक-सिक्त हैं तो कतिपय ऐसी भी हैं जिनमें अधिक श्रम दोषोद्घाटन-परक ही हुआ है, यह अवश्य है कि ऐसी समीक्षाएँ कम हैं। परिचयोल्लेखपूर्वक गम्भीर प्रतिक्रिया प्रस्तुत करने वाले निबन्धों की संख्या उपस्थापकों की प्रातिभक्षमता के अनुरूप अनुपात में अधिक है। एकाध स्तवपरक पद्यबद्ध प्रशस्ति भी है। संकलन के आरम्भ में दिवंगत भूतपूर्व सम्पादक डॉ. प्रभाकर माचवे की वार्ता है आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज से, जिसमें प्रेरणास्रोत से लेकर प्रक्रिया और कथ्य के अनेक मुद्दों पर विमर्श है। अपने अन्तरंग में एकाध निबन्ध महाराजश्री का भावप्रवण जीवनवृत्त प्रस्तुत करता है तो वैसे ही एकाध उनका कर्तृत्व भी निरूपित करता है। संकलन की समग्रता के ख्याल से ये समस्त प्रयास महत्त्व के हैं। मैं चाहता था कि उपस्थापक आलोच्य ग्रन्थ की कथावस्तु का अनपेक्षित विवरण और आवर्तन न करके उसको बुद्धिगत ही रखें और जमकर उसके विभिन्न पक्षों, मुद्दों और बिन्दुओं पर अपनी वैचारिक प्रतिक्रिया अधिक दें, ताकि पाठक की ग्रन्थ विषयक समझ विकसित हो। बृहदाकार निबन्धों में कई एक अपना ज्यादा झुकाव उसके सैद्धान्तिक और दार्शनिक पक्षों पर और कई एक काव्योचित पक्ष पर दिखाते हैं। कुछ महिला लेखिकाओं के निबन्ध अवश्य ऐसे मिले हैं जो केवल नारी महिमा पर ग्रन्थकार की दृष्टि का पल्लवन प्रस्तुत करते हैं। कितने निबन्ध ऐसे भी हैं जो भाषा-शैली और छन्दोविधान के विवेचन पर ही अपने को केन्द्रित करते हैं। ऐसे प्रयास अधिकांश निबन्धों में कथावस्तु की आवृत्ति को देखते हुए अधिक संगत लगते हैं। भारत की विभिन्न भाषाओं में निबद्ध महाकाव्यों की तुलना में आलोच्यग्रन्थ का वैशिष्ट्य निर्दिष्ट करने वाले लेखों की संख्या कम है—यद्यपि भूतपूर्व सम्पादक डॉ. माचवे का यह संकल्प था। समीक्षा संकलन के लोभ में कुछ लेख बहुत ही सामान्य और भरती के आ गए हैं। आश्चर्य तो तब होता है जब बड़ी लेखनी अपने स्वरूप की रक्षा नहीं करती और प्रत्याशित से अनुरूप प्रतिक्रिया नहीं मिलती। प्रसन्नता की बात है कि इधर कुछ ऐसे प्रयास अवश्य हुए हैं जिससे और भी गम्भीर लेखनी सक्रिय हों और समीक्षक कुछ अनछुए पहलुओं पर गम्भीरतापूर्वक प्रकाश डाल सकें। प्रयास ही है, सफलता तो सम्मानास्पद समीक्षकों की अनुरूप निष्ठा पर निर्भर करती है। आचार्यश्री की प्रातिभक्षमता की जिस दमखम के साथ एकाध सज्जन ने त्रुटियाँ दिखाई हैं, उसी दमख़म के साथ औरों ने उनकी उपलब्धियाँ भी बताई हैं। मुझे इसमें कोई अनौचित्य नहीं लगता कि समीक्षक जो भी कहे वह वस्तुनिष्ठ पद्धति पर साधार कहे। अतः ऐसे निष्ठावान् समीक्षक की मैं प्रशंसा करता हूँ परन्तु केवल

त्रुटियाँ-त्रुटियाँ और खामियाँ-खामियाँ ही दिखाना तथा उपलब्धियों की ओर से आँख बन्द कर लेना सर्वथा अनुचित है। दोषज्ञ होना पण्डित का लक्षण है पर मात्र उतने को ही अपनी सीमा बना लेना उसकी संकुचित और ओछी मनोवृत्ति का प्रकाशन है। फिर गुणज्ञ और गुणग्राही होना मूर्ख का लक्षण नहीं है, वह साक्षर का नहीं, सरस का लक्षण है। 'काव्यप्रकाश'कार ने काव्यलक्षण में जब "अदोषौ···" का समावेश किया, आचार्य हेमचन्द्र ने जब उसका प्रवेश किया तब टीकाकारों ने ऊर्ध्वबाहु घोषणा की कि ऐसा लक्षण या तो 'निर्विषय' होगा या 'प्रविरलविषय'। अभिप्राय यह कि दोषों का होना तो निसर्गप्राप्त है, सर्जक की उपलब्धि उसके पौरुष और प्रतिभा का प्रमाण है। विद्वान् को चाहिए कि वह दोषों के साथ उसकी उपलब्धियों की ओर भी अपनी दृष्टि को फेरे और उसका भी उल्लेख करे। ऐसा करने का लाभ यह होगा कि इस सन्तुलित प्ररोचना से जिज्ञासु पाठक समीक्षित ग्रन्थ के पठन-पाठन, मनन, परिशीलन में प्रवृत्त होता है, अन्यथा उसे अरुचि हो जाती है और वह प्रवृत्त की जगह निवृत्त हो जाता है। परिणामतः सर्जना निष्फल चली जाती है। कविता-कामिनी के पास रसिक सहृदय भी जाता है और प्रेत (समीक्षक) भी। एक दुलारता, पुचकारता, अपने अनुकूल बनाता हुआ उसका आस्वाद लेता है और दूसरा प्रेतकल्प तार्किक समीक्षक कृति के भीतर घुसकर उसका प्राण ही ले लेता है। कहा गया है :-

"काव्यं कवीनामुपलालयन् हि भुङ्क्ते रसज्ञो युवतीं युवेव।
तामेव भुङ्क्ते ननु तार्किकोऽपि प्राणान् हरन् भूत इव प्रविष्टः॥"

कुछ एक मित्रों ने ऐसे कार्य में प्रवृत्त होने को चापलूसी या भौतिक स्वार्थ की पूर्ति का माध्यम समझा है। समझ तो समझदार के संस्कारों से रंजित होती है, अतः उसकी टिप्पणी जितना स्वयम् उस पर लागू होती है, सामने वाले पर नहीं। अस्तु, ऐसे अप्रिय प्रसंगों को ज़्यादा जगह देनी भी नहीं चाहिए। तुलसीदास के शब्दों में ऐसे लोग प्रथम वन्द्य हैं ताकि उनके कारण सत्कार्य से निवृत्ति न हो।

अनेक प्रबुद्ध सज्जनों और मनीषियों ने अपनी समीक्षाएँ इस बृहत् सारस्वत यज्ञ में आहुति के रूप में प्रदान नहीं कीं कि इससे उनका व्यक्तिवैशिष्ट्य समष्टि में तिरोहित हो जायगा और उनके अहम् को उसका प्राप्य प्राप्त नहीं होगा। वे यह क्यों नहीं समझते कि वे जहाँ भी रहेंगे अपना भास्वर व्यक्तित्व अलग से ही प्रकाशित करते रहेंगे, उनकी पंक्ति अलग ही दूर से लक्षित होगी। इससे उनका अहंकार भी विघटित होता और समाज की दृष्टि में उनका स्वरूप और महान् हो जाता। किसी के सम्मान से सम्मानकर्ता का अहम् छोटा होता है, हैवान नष्ट होता है, पर उसका इन्सान समाज की दृष्टि में ऊँचा उठ जाता है। सन्तों की यह प्रणाली कि अपनी ओर से विनत रहो, समाज की ओर से सहज ही समुन्नत हो जाओगे, कितनी सात्त्विक है। गजानन माधव मुक्तिबोध का 'ब्रह्म राक्षस' इस सत्य को समझ कर भी अनदेखा कर देता है।

हाँ, तो कहा यह जा रहा था कि आलोच्य कृति की समीक्षा प्रक्रान्त है, अतः सर्वप्रथम यह देखना है कि आलोच्य कृति की प्रकृति क्या है, वह वाङ्मय की किस विधा के अन्तर्गत आ सकती है ? यह शास्त्र है या काव्य या शास्त्रकाव्य। अनेक समीक्षकों की आपाततः धारणा यह मालूम हुई है कि यह काव्य ही नहीं है, प्रबन्ध काव्य या महाकाव्य होना तो दूर की बात है।

(ख) आलोच्य कृति की प्रकृति

आलोच्य कृति पर आपाततः दृष्टिपात करने पर जैन प्रस्थान की मान्यताओं और सिद्धान्तों की विभिन्न प्रतीकों के सहारे उन्हें रूक्ष उपस्थापन ही दृष्टिगोचर होता है। उन्हें लगता है कि काव्य रसात्मक वाक्य है, संवेदना या

सर्जनात्मक अनुभूति का कलात्मक उद्रेखण है, जीवनानुभूति का कवित्वमय प्रकाशन है, भावनाओं का गुणालंकारमण्डित भाषा में प्रभावी उपस्थापन है, पृथिवी और स्वर्ग का मधुमय मिलन है तथा और भी कुछ लोकोत्तर है। उन्हें इस रचना में ऐसा कुछ दिखाई नहीं पड़ता। उनका पक्ष यह है कि काव्य के मूलभूत काव्योपादन संवेदना का घटक दृष्टि या विचार गन्ध की तरह काव्य में व्याप्त अवश्य हो, पर तह में निहित हो। यह पक्ष निस्सन्देह युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

(ग) बहिरंग साक्ष्य

'मूकमाटी' के 'मानस तरंग' (पृ. XXIV) में उपस्थापक स्वयं कह रहा है : "ऐसे ही कुछ मूल-भूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है और यह वह सृजन है जिसका सात्त्विक सान्निध्य पाकर रागातिरेक से भरपूर शृंगार-रस के जीवन में भी वैराग्य का उभार आता है, जिसमें लौकिक अलंकार अलौकिक अलंकारों से अलंकृत हुए हैं; अलंकार अब अलं का अनुभव कर रहा है; जिसमें शब्द को अर्थ मिला है और अर्थ को परमार्थ; जिसमें नूतन-शोध-प्रणाली को आलोचन के मिष, लोचन दिये हैं;...जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है'''और जिसका नामकरण हुआ है 'मूकमाटी'।" इस उद्धरण की प्रशस्तिपरक उक्तियों को हटा दिया जाय, केवल तथ्यपरक उक्तियों को दृष्टिगत किया जाय तो मानना पड़ेगा कि इस कृति की रचना जिनशासन के कतिपय मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु हुई है। इसका लक्ष्य है – युग को संस्कार देना और वीतराग श्रमण संस्कृति को जीवित रखना। अश्वघोष (सौन्दरनन्द, १८/६३) के शब्दों में, "इत्येषा व्युपशान्तये न रतये।"

(घ) अन्तरंग साक्ष्य

यह तो रहा बहिरंग साक्ष्य, यद्यपि इस प्रकार के निर्णय पर अन्तरंग अनुशीलन से ही पहुँचा गया है। इस निर्णय से हट कर कृति के विषय पर सीधे दृष्टिपात किया जाय तो उससे भी उक्त निष्कर्ष की ही पुष्टि होती है। किसी भी ग्रन्थ का तात्पर्य स्पष्ट करना हो तो निम्नलिखित दृष्टियों से मन्थन करना पड़ता है– (क) उपक्रम (ख) उपसंहार (ग) अभ्यास (घ) अपूर्वतापरक फल (ङ) अर्थवाद तथा (च) उपपत्ति। आलोच्य ग्रन्थ का 'उपक्रम' होता है प्रातःकालीन परिवेश में सरिता तट की माटी का माँ धरती के संवाद के साथ, जिसमें नित्य 'सुखमुक्त' और 'दुःखयुक्त' पर-संसर्गजन्य वैभाविक स्वरूप पर ग्लानि के आँसू बहाए जा रहे हैं और 'स्व-भाव' की उपलब्धि का मार्ग अभूतपूर्व तड़प और वेदना के साथ जिज्ञास्य है। 'उपसंहार' में वृहत् सत्ता माँ धरती का 'प्रतिसत्ता' अर्थात् उपादानभूत सरिता तट की माटी की मूर्त सम्भावना 'घट' और घट की सम्भावना 'सृजनशील जीवन का वर्गातीत अपवर्ग' की उपलब्धि पर सन्तोष है। आलोच्य ग्रन्थ में घट की – जीवात्मा के प्रतीक घट की अपवर्ग निमित्तक महायात्रा का प्रचुरता से सावष्टम्भ वर्णन ही तो 'अभ्यास' है और इस महायात्रा का गन्तव्य 'अपवर्ग' 'अपूर्व फल की उपलब्धि' है। स्थान-स्थान पर इस उपलब्धि की प्रशस्ति 'अर्थवाद' है और यही सर्वश्रेष्ठ है, की सिद्धि में दिए गए तर्क ही 'उपपत्ति' हैं। इन सब तात्पर्य निर्णायक कारणों से अन्तरंग परीक्षण भी सिद्ध करता है कि ग्रन्थकार का लक्ष्य श्रेयःप्राप्ति में उपयोगी जैन प्रस्थान-सम्मत-मान्यताओं का रोचक उपस्थापन ही है।

(ङ) पारम्परिक साक्ष्य

जैन काव्य की परम्परा पर अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास' - भाग ६ में श्री गुलाबचन्द चौधरी भी कहते हैं : "जैन काव्यों का दृष्टिकोण धार्मिक था। जैन धर्म के आचार और विचारों को रमणीय

पद्धति से एवं रोचक शैली से प्रस्तुत कर धार्मिक चेतना और भक्तिभावना को जाग्रत करना उनका मुख्य उद्देश्य था। उसके लिए उन्होंने धर्मकथानुयोग और प्रथमानुयोग का सहारा लिया। जन सामान्य को सुगम रीति से धार्मिक नियम समझाने के लिए कथात्मक साहित्य से बढ़ कर अधिक प्रभावशाली साधन दूसरा नहीं है।'' अभिप्राय यह कि परम्परा अर्थात् जैन काव्य परम्परा का साक्ष्य भी यही कहता है कि इस प्रस्थान के प्रति समर्पित जैन मुनियों का लक्ष्य 'व्युत्पत्ति' के आधान पर अधिक है, 'प्रीति' माध्यम है। ब्राह्मणधारा के शैव आचार्य अभिनव गुप्त ने काव्य प्रयोजन पर विचार करते हुए 'आनन्दवादियों' (प्रीतिवादियों) और 'व्युत्पत्तिवादियों' के पक्षधरों से उभरते हुए अन्तर्विरोध का समन्वय करते हुए 'अभिनव भारती' और 'लोचन' में बताया है कि वस्तुतः परिणतप्रज्ञ या परिणतकवि का मूल प्रयोजन तो 'प्रीति' या 'रस' निष्पादन ही है। यह बात भिन्न है कि तदर्थ नियोजित विभावादि सामग्री में 'औचित्य' का सम्यक् निर्वाह होना चाहिए। यह औचित्य इसकी परा उपनिषद् है और औचित्य हमारी सम्प्रदायानुमोदित मान्यताएँ ही हैं, जिनसे ग्राहक लोक में अपेक्षित 'व्युत्पत्ति' अनायास आहित हो जाती हैं। ब्राह्मणधारा और उसमें भी शैवागमसम्मत-धारा वासनाशोधन की पक्षधर है। वह उसमें भी अमृत का अनुसन्धान करती है, उसके माध्यम से भी श्रेयस्कर गन्तव्य पर पहुँचती है, जबकि श्रमण धारा, विशेष कर जैन प्रस्थान वासना का दमन या क्षयोपशम करती है। अतः वह उसे उस साध्य स्थान पर रख ही नहीं सकती, उसे पार्श्ववर्ती ही बनाकर उपयोग कर सकती है। फलतः यहाँ 'प्रीति' और 'व्युत्पत्ति' में व्युत्पत्ति पर ज़यादा और प्रत्यक्ष बल रहता है, प्रीतिकर सामग्री साधन होती है। यहाँ 'कान्तासम्मित-उपदेश' का स्वर मुखर होता है।

आलोच्य ग्रन्थ का स्वर प्रभावोत्पादन से अधिक प्रबोधोत्पादन है। घट की आत्मकथा के साथ चलने वाला व्युत्पित्सु अन्ततः यह प्रबोध प्राप्त करता है कि निमित्त की शरण जाकर सम्भावनामय उपादान समर्पण के माध्यम से अपनी सम्भावनाओं को उपलब्धि का आकार दे। इसके साथ-साथ उसका बाधक काषाय शान्त होगा, 'पर' के प्रति निर्वेद होगा, शान्त की निष्पत्ति होगी। इस प्रकार प्रीतिकर शान्त रस सहायता करेगा। शास्त्र की अपेक्षा इस और इस तरह के प्रबन्ध काव्य लक्ष्य तक पहुँचाने में सौन्दर्य प्रदान करेंगे।

इस अन्तरंग एवं बहिरंग साक्ष्य और परम्परा के आधार पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत कृति 'शुद्ध कविता' की अपेक्षा 'शास्त्र काव्य' है। शुद्ध कविता में सामग्री की योजना में प्रीतिकर प्रभाव उत्पन्न करना मुख्य लक्ष्य होता है, मान्यताओं की सुगन्ध व्यंजना से मिलती है। शास्त्रकाव्य में मान्यताएँ संवाद-विधान में उपदेश का स्वर अधिक पकड़ती हैं और अभिधा में होती हैं। आलोच्य रचना में संवादों की प्रचुरता है, भाव व्यंजना और वर्णनात्मक प्रसंगों की अपेक्षाकृत कमी है। इसकी पुष्टि आगे विशद विवेचन से की जायगी। इस विवेचन का तात्पर्य किसी धारा की आपेक्षिक श्रेष्ठता या अ-श्रेष्ठता से नहीं है, यह तो अपनी-अपनी धारा है। इसका मतलब यह भी नहीं है कि जैन काव्य परम्परा में प्रेमाख्यानक नहीं हैं या कि उसमें भाव व्यंजना और वर्णनमय रचनाएँ नहीं हैं, नहीं; हैं और खूब हैं। यहाँ जैन मुनियों की काव्य परम्परा की बात प्रकान्त है। फलतः इस निष्कर्ष को उसी क्रम में होना चाहिए। क्षमता अलग बात है और क्षमता का उपयोग अलग बात है। आचार्य श्री विद्यासागरजी के प्रस्तुत प्रबन्ध काव्य का आरम्भ ही देखें – वर्णन है, काव्योचित कोमल और शृंगारिक भंगिमा है, भाव का आवेग है, पर मानसिक संरचना इस क्षमता को पूरे उभार पर नहीं लाती। 'स्व-भाव' की प्राप्ति में अपेक्षित मान्यताओं को संवादात्मक पद्धति पर रोचक कथा के सहारे उभारने की ओर उनकी प्रतिभा का संरम्भ लक्षित होता है। ऐसा करके जहाँ एक ओर इन्होंने अपनी परम्परा का साथ दिया है, वहीं चरित काव्य, पुराण काव्य या कथा काव्य की पद्धतियाँ अस्वीकार कर अपना अक्षुण्ण मार्ग भी निर्मित किया है। इन्होंने 'कामायनी'कार की भाँति रूपक या प्रतीक काव्य की पद्धति अपनाई है। उसकी अपेक्षा इसका वैशिष्ट्य संवादों के प्रचुर विधान में है। निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत काव्य 'संवाद प्रचुर प्रतीक पद्धति का शास्त्रकाव्य' है। इस निष्कर्ष के आलोक

में उन लोगों का आक्षेप भी निरस्त हो जाता है जो रचना को मात्र संवेदना का ही मूर्त रूप मानते हैं और चेतन पात्रों में उसकी परिणति देखते हैं।

'मूकमाटी' में प्रस्फुटित कवित्व का पूर्ववृत्त : कवित्व की विकास यात्रा

(क) प्रस्तुत कृति की प्रेरणा का प्रश्न

भूतपूर्व सम्पादक डॉ. माचवे ने महाराजश्री से अपने वार्तालाप में यह जिज्ञासा की है कि महाराजश्री को इस तरह का, इस पद्धति का, काव्य लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली ? मेरा ख्याल है कि इसका उत्तर महाराजश्री के तपोरत स्वभाव में है, पर-भाव में नहीं। इसके लिए उनका तपोरत स्वभाव और उसके अनुरूप पूर्व निर्मित रचनाओं का गहन मन्थन करना चाहिए। इससे उनके काव्य विकास के सोपान भी लक्षित होंगे और साथ ही प्रस्तुत जिज्ञासा का समाधान भी निकल आएगा।

(ख) काव्य कारण का उपार्जन

साक्षात् वाग्देवता ही अपनी परिस्फूर्ति का माध्यम किसी को बनाएँ, यह बात भिन्न है, पर सामान्यतः निसर्गजात प्रतिभासम्पन्न साधक रचनाकार को भी अपनी प्रतिभा को अभ्यास और व्युत्पत्ति के शाण पर चढ़ाना ही पड़ता है। उसका भी साधना काल होता है। महाराजश्री ने '६८ में मुनिदीक्षा ग्रहण की और सद्गुरु श्री ज्ञानसागरजी महाराज के चरणों में साधनालीन हो गए। अध्यात्म साधना के साथ-साथ सारस्वत साधना भी चलती रही। साधक रातों-रात कवि नहीं बन जाता, उसके लिए भी 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' की आवश्यकता पड़ती है। 'व्युत्पत्ति' राजशेखर के शब्दों में 'उचितानुचित विवेक', मम्मट के शब्दों में 'लोक शास्त्र, काव्य आदि के अवेक्षण से होने वाली निपुणता' अथवा सामान्य साधना के लिए अपेक्षित सद्गुरु में अ-बोधपूर्वक श्रद्धा और विश्वास, आन्तरिक आकर्षण 'अर्जित बोध' का ही नामान्तर है। महाराजश्री ने व्युत्पत्ति भी प्राप्त की और गुरु-चरणों में बैठकर 'अभ्यास' भी किया, काव्यज्ञ से मम्मट के शब्दों में शिक्षा भी ली, सीख भी ली।

महाराजश्री ने मुनिदीक्षा के बाद से ही रचना का श्रीगणेश या शुभारम्भ कर दिया। गुरु शास्त्रोदधि का घन है, अतः अध्यात्म के क्षेत्र में प्रस्थान सद्गुरु के प्रति श्रद्धा से ही सम्भव है। श्रद्धा में भी सम्यक्त्व का आधान हो जाय, तो सोने में सुहागा की कहावत भी चरितार्थ हो जाय। सन्त सद्गुरु की पहचान से ही विश्वास और विश्वास से ही श्रद्धा होती है। अध्यात्म जगत् के पथिक के ये ही श्रद्धा और विश्वास पाथेय हैं। अध्यात्म राज्य का यह चमत्कार ही है कि अ-बोध साधक को विश्वास हो जाता है। सामान्यतः किसी बात पर विश्वास उसका रहस्य जान लेने पर ही होता है, पर संस्कारवान् को अ-बोधपूर्वक ही विश्वास चेतना के व्यापक और अज्ञात स्तर पर ही हो जाता है। कालिदास ने कहा है :

"तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्।"

चेतना का कोई ऐसा स्तर भी है जो अ-बोधपूर्वक [Unconcious state of mind] देशकाल से व्यवहित सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। सच्चा मुमुक्षु वही है जिसमें सच्ची मुमुक्षा हो और सच्ची मुमुक्षा वहीं होती है जहाँ चेतना में नैर्मल्य हो। निर्मल चेतना के स्तर ऐसे साधक में काम करते हैं। फलतः वह उस अन्तरात्मा की आवाज़ से परिचालित होकर अ-बोधपूर्वक सन्त सद्गुरु को पहचान लेता है, विश्वास कर लेता है एवं श्रद्धागोचर कर लेता है। उसे यह अकारण कौंध जाता है कि ज्ञान के लिए कहाँ जाना चाहिए। साधना जगत् के मर्मज्ञ अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है कि साधक को 'गुरोः गुर्वन्तरं व्रजेत्' यानी एक गुरु से दूसरे गुरु के पास, जो पहले की अपेक्षा श्रेष्ठ है, जाना ही चाहिए। प्रसंगान्तर होता जा रहा है, मुझे कहना यह कि सद्गुरु श्री ज्ञानसागरजी के सत् निर्देशन में परा और अपरा—उभयविध विधाओं में कवि-रचनाकार मुनि श्री विद्यासागर स्नात होते चले गए और अन्ततः निष्णात हो गए।

(ग) कवित्व का प्रथम पुष्प : 'गुरु-स्तव'

महाराजश्री मुनि दीक्षा के बाद अन्तस् में स्फुरित भावराशि को भाषा में बाँधने लगे, लिपिबद्ध करने लगे। साधक का अपना प्रस्थान मार्ग होता है, उसके प्रति उसे निष्ठावान् होना होता है। निष्ठा के सुदृढ़ीकरण के लिए अन्य प्रस्थानोचित चिन्तन का खण्डन भी करना पड़ता है। यह खण्डन, खण्डन के लिए नहीं, प्रत्युत् अपने प्रस्थान के प्रति अपनी श्रद्धा के सुदृढ़ीकरण के लिए होता है। महाराजश्री की 'मूकमाटी' का 'मानस-तरंग' इस सन्दर्भ में उल्लेख्य है, जहाँ उन्होंने अपने प्रस्थान के अनुरूप न पड़ने वाले 'ईश्वर' का खण्डन किया है और स्रष्टा के रूप में अनावश्यक बताया है। प्रस्थान मार्ग में चलने पर अनुभूतियाँ उभरती हैं, जिससे साधक गहराई से जुड़ा होता है। इसमें सारा श्रेय सद्गुरु का होता है। साधक का उपाय उसी के निर्देश से चरितार्थ होता है, अतः एक तरफ श्रद्धा में सम्यक्त्व का आधान होता है और दूसरी ओर ज्ञान और चारित्र में सम्यक्त्व का उदय होता है। इस दौरान जो अनुभूतियाँ होती हैं, एक सन्त उसे काव्यबद्ध करता ही है, यह उसकी विवशता है। अपने आनन्द को वह काव्य के माध्यम से लोक को बाँटता है। इसमें उसे आनन्द मिलता है। इसीलिए सन्त लिखता है–'स्वान्तःसुखाय', पर उसका स्वान्तः स्व-पर की संकीर्ण भावना का अतिक्रमण कर चुका होता है। अतः उसका स्वान्तःसुख सबका सुख बन जाता है। तो मैं कह यह रहा था कि साधना के दौरान सबसे पहले जिसके प्रति श्रद्धा का उदय होता है, अपने वाक्पुष्प वह उसी को चढ़ाता है। महाराजश्री ने भी यही किया। इनकी पहली मुद्रित/उपलब्ध रचना गुरु वन्दना ही है। १९७१ में लिखित इस गुरुवन्दनामय काव्य की संज्ञा दी गई –'आचार्यश्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज के पावन चरणारविन्द में हार्दिक श्रद्धांजलि।' साधक अपनी साधना को लोक में उजागर करते हुए लोकमान्यता की हवा से डरते हैं। एक सन्तप्रवर ने कहा है :"लोकमान्यता अनल-सम कर तप कानन दाहु" – लोक प्रशंसा वह आग है जो तप के उद्यान को भस्म कर डालती है। महाराजश्री भी कहते हैं:

"लोकैषण की चाह ना, सुर-सुख की ना प्यास।
विद्यासागर बस बनूँ, करूँ स्व-पद में वास॥" (सुनीति-शतक)

इसलिए महाराजश्री उसे प्रकाश में नहीं लाते थे, पर उनके भक्त श्रावकों ने वैसा नहीं होने दिया, प्रकाश में ला ही दिया। फिर तो श्रावकगण के साथ महाराजश्री ने भी उस गुरु वन्दना के मधुरगान में सहयोग प्रदान किया। स्तोत्र-काव्य का यह शुभारम्भ बढ़ता ही गया। महाराजश्री की श्रद्धासिक्त प्रतिभा आचार्य श्री वीरसागरजी (१९७१), आचार्य श्री शिवसागरजी (१९७१) एवं आचार्य श्री ज्ञानसागरजी (१९७३) पर भी उमड़ कर कविता के रूप में बरस पड़ी। यह क्रम बढ़ता ही गया और नित्यप्रति नूतन भावभूमियों पर उनकी प्रतिभादेवी चढ़ती गई। इस प्रवाह में भावना भी थी और उसमें सुगन्ध की तरह व्याप्त जीवन दर्शन तथा चिन्तन प्रसूत मान्यताएँ भी।

(घ) संस्कृत भाषाबद्ध शतकों की सृष्टि

आलोच्य रचना 'मूकमाटी' से पूर्व उनकी दर्जनों रचनाएँ आ चुकी हैं – गद्यबद्ध प्रवचन भी और पद्यबद्ध प्रकीर्ण तथा प्रबन्धात्मक भी। महाराजश्री अनेक भाषाविद् हैं – संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड तथा मराठी जैसी देशभाषाएँ तो वे जानते ही हैं, विदेशी आंग्लभाषा के भी अच्छे जानकार हैं। आपकी रचनाएँ प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, बंगला, कन्नड और अँग्रेजी में ही प्रायः हैं। 'मूकमाटी' (१९८८)* हिन्दी भाषा में निबद्ध है। उस तक की प्रातिभ यात्रा

** आलेखन प्रारम्भ – श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर, मध्यप्रदेश में आयोजित ग्रन्थराज 'षट्खण्डागम वाचना शिविर' (चतुर्थ) के प्रारम्भिक दिवस, बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के दीक्षा कल्याणक दिवस– वैशाख कृष्ण दशमी, वीर निर्वाण संवत् २५१०, विक्रम संवत् २०४१, बुधवार, २५ अप्रैल, १९८४।*

समापन- श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र नैनागिरिजी, छतरपुर, मध्यप्रदेश में आयोजित श्री मज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक एवं त्रय गजरथ महोत्सव के दौरान केवलज्ञान कल्याणक दिवस– माघ शुक्ल त्रयोदशी, वीर निर्वाण संवत् २५१३, विक्रम संवत् २०४३, बुधवार, ११ फरवरी, १९८७ को हुआ।

पूर्ववर्ती अनेक रचनाओं से गुज़रने के बाद हुई है। संस्कृत भाषा में निबद्ध प्राय: उत्कृष्ट रचनाएँ 'श्रमण-शतकम्' (१९७४), 'भावना-शतकम्' (१९७५), 'निरञ्जन-शतकम्' (१९७७), 'परीषहजय शतकम्' (१९८२), 'सुनीति शतकम्' (१९८३) एवं इन्हीं पाँचों शतकों का उसी कालावधि में हिन्दी पद्यानुवाद तथा 'शारदास्तुतिरियम्' (१९७१)—'पंचशती' संज्ञक कृति में संकलित हैं। इन सबका विषय धार्मिक और आध्यात्मिक है, परन्तु अभिव्यक्ति शैली काव्योचित है। अर्थालंकारों से काव्योचित रमणीयता आती है, पर शब्दालंकारों से वह रमणीयता नहीं आती। इतना अवश्य है कि शब्दालंकार—विशेषकर यमक, अनुप्रास तथा मुरज बन्धादि चित्र—का सन्निवेश प्रयोक्ता और ग्रहीता दोनों के लिए दुरूह है। महाराजश्री ने इस चुनौती का निर्वाह किया है। अर्थगत रमणीयता की दृष्टि से इसे अधम काव्य की संज्ञा अवश्य दी गई है, परन्तु इसमें रचना करने वाला जानता है कि उसका निर्वाह कितना श्रमसाध्य है। इन शतकों में 'सुनीति-शतकम्' की भाषा प्रांजल है पर शेष शतकों की दुरूह। शब्दक्रीड़ा की यह प्रवृत्ति इतिहास में प्रत्येक महाकवि में विद्यमान है—चाहे वह वाल्मीकि हों या कालिदास। माघ और भारवि की तो बात ही भिन्न है। परवर्ती रचनाओं में तो पाण्डित्य प्रदर्शन एक प्रवृत्ति ही बन गई। महाराजश्री की इन रचनाओं का समाकलन स्तोत्रकाव्यों की शतक परम्परा में किया जा सकता है। वैसे इन रचनाओं में स्तोत्र का ही स्वर नहीं है, विभिन्न और भी संज्ञानुरूप धार्मिक, आध्यात्मिक तथा नीतिपरक विषय भी हैं।

(ङ) हिन्दी में कवित्व का उन्मेष और विकास

हिन्दी में रचनाओं का निर्माण अस्सी ईस्वी के दशक में आरम्भ होता है। आरम्भ होने के बाद फिर कभी विच्छिन्न नहीं हुआ, विपरीत इसके कि समृद्ध ही होता गया। इस क्रम में 'नर्मदा का नरम कंकर' सम्भवत: पहला काव्य संकलन है। यों तो हिन्दी में रचनाएँ पहले से ही प्रकीर्णक रूप में होती आ रही थीं, पर संकलन के रूप में यह पहला प्रयास है। इसके बाद के अधिकांश संकलन '८४ में या उसके बाद प्रकाश में आए हैं। इन संकलनों से गुज़र जाने के बाद 'मूक-माटी' के आविर्भाव के अनेक सूत्र-संकेत मिल जाते हैं। ऐसे संकलनों में उक्त संकलन के अतिरिक्त 'तोता क्यों रोता?', 'डूबो मत, लगाओ डुबकी' तथा 'चेतना के गहराव में'- का विशेष महत्त्व है। विशेष महत्त्व इसलिए है कि एक तो ये सभी मुक्तछन्द में निबद्ध हैं अर्थात् इन रचनाओं में महाराजश्री का हाथ मुक्तछन्द में मँज चुका है। दूसरे, इन रचनाओं से इस सवाल का जवाब भी मिल जाता है कि आलोच्य महाकाव्य का विषय 'माटी' जैसी उपेक्षित वस्तु को क्यों बनाया गया? यों तो हिन्दी काव्य परम्परा में 'माटी' का यशोगान और उसके साथ 'कुम्भकार' का सम्बन्ध पहले से ही मिलता है। उदाहरण के लिए कविवर हरिवंशराय बच्चन की ही निम्नलिखित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं :

"हे कुम्भकार, मेरी मिट्टी को/और न अब हैरान करो।"

(च) 'मूकमाटी' की भूमिका में उपयोगी कण

महाराजश्री की रचनाओं में भी इसके संकेत विद्यमान हैं। नर्मदा के नरम कंकर पर ही उनकी दृष्टि क्यों गई? कारण क्या है? असल में लगता है कि वह चूँकि स्वयम् बनने की प्रक्रिया में हैं, चलते जा रहे हैं : ब्रह्मचारी से क्षुल्लक, ऐलक, मुनि और आचार्य बनने के क्रम में हैं, भले ही ये ब्रह्मचारी से सीधे ही मुनि पद और बाद में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए हैं। अत: उनका ध्यान सम्भावनाओं से मण्डित सामान्य पदार्थ की ओर ही ज़्यादा जाता है। नर्मदा के कंकर बनने के क्रम में कितना संघर्ष झेलते हैं, इस संघर्ष को झेलकर उसमें शालिग्राम का सुघर रूप उभरता है, जो पूज्य बन जाता है। मिट्टी में क्या कुछ बनने की सम्भावना नहीं है? शर्त इतनी ही है कि सधा हुआ शिल्पी मिल जाय। क्रमागत महाकाव्य शलाकापुरुषों का यशोगान करते हैं, धीरोदात्त नायक-नायिकाओं का यशोगान करते हैं।

'नर्मदा का नरम कंकर' से साम्य

महाराजश्री के काव्य संकलन 'नर्मदा का नरम कंकर' के 'नरम कंकर' की स्थिति देखें। वह क्यों कुछ कहने की प्रेरणा देता है ? 'प्रकाशकीय' में बाबूलाल पाटोदी की सम्भावना से मैं सहमत हूँ। वह भी यही उत्तर देते हैं : "ऐसा मुनि-कवि जिसकी राहें काँटों की हैं, कंकरीली हैं, पाषाणी हैं, जिसे अहर्निश भीतर-बाहर चलना-ही-चलना है, रचना कर रहा हो"– वह और किसे प्रतीक बनाएगा ? वह कहता है :

"युगों-युगों से/जीवन विनाशक सामग्री से/संघर्ष करता हुआ
अपने में निहित/विकास की पूर्ण क्षमता सँजोये/अनन्त गुणों का
संरक्षण करता हुआ/आया हूँ/किन्तु आज तक/अशुद्धता का विकास/ह्रास
शुद्धता का विकास/प्रकाश/केवल अनुमान का/विषय रहा विश्वास
विचार साकार कहाँ हुए ?/बस ! अब निवेदन है/कि/या तो इस कंकर को
फोड़-फोड़ कर/पल भर में/कण-कण कर/शून्य में/उछाल···
समाप्त कर दो/अन्यथा/इसे/सुन्दर सुडौल/शंकर का रूप प्रदान कर
अविलम्ब/इसमें/अनन्त गुणों की/प्राण प्रतिष्ठा/कर दो
हृदय में अपूर्व निष्ठा लिए/यह किन्नर/अकिंचन किंकर
नर्मदा का नरम कंकर/चरणों में/उपस्थित हुआ है
हे विश्व व्याधि के प्रलयंकर/तीर्थंकर !/शंकर !"

रचनाकार साधक है। साधना काल में उस पर बीत रही है, वह बाधाओं से गुजर रहा है, परीषहों और उपसर्गों से संघर्ष कर रहा है, पर वह हताश नहीं है। कारण, उसे सम्भावनाओं पर विश्वास है, अपने प्रस्थान के प्रति गहरी निष्ठा है, विश्वव्याधि के प्रलयंकर, शंकर तीर्थंकर के चरणों में उपस्थित है। तड़प दिखाई पड़ रही है, जो कहता है :

"पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें,
धरती में धसौं कि अकासहिं चीरौं।"

वह बीच में लटकना नहीं चाहता। कंकर जैसा प्रतीक साधक या तो घनघोर तपस्या के आँधी-तूफान में इसे नि:शेष ही कर देगा या इसे सुन्दर, सुडौल बनाकर दम लेगा। अध्यात्म के पथिकों में प्रज्वलित यही तड़प, अभीप्सा और बेचैनी उसका सात्त्विक पाथेय है। स्पष्ट ही उक्त रचना में साधक तपस्वी अपने को अनन्त सम्भावनाओं से संवलित 'कंकर-पत्थर' ही मानता है। साधना बेला में अटूट विश्वास के साथ प्रस्थित मुनि की प्रातिभ चेतना में - स्वभाव में - ऐसे ही प्रतीक उभरेंगे। जिसका उत्तर स्वभाव में निहित हो, उसका उत्तर 'विभाव' में क्यों ढूँढ़ा जाय ? इसलिए वार्तालाप के प्रसंग में डॉ. माचवे द्वारा उठाया गया सवाल कि आचार्यश्री ने 'माटी' का प्रतीक क्यों लिया, यहाँ समाहित हो जाता है। इस रचना के आलोक में इस सवाल का भी समाधान निहित है कि प्रस्तुत आलोच्य कृति मुक्त छन्द में क्यों लिखी गई ? इस उपर्युक्त उद्धृत रचना में जिस आवेग का विस्फोट है वह 'मुक्त छन्द' में ही व्यक्त हो सकता है, इसमें जिस स्नायविक तनाव से उन्मुक्ति का एहसास होता है, वह मुक्त छन्द में ही व्यक्त हो सकता है। जब आवेग नया है तो वह अपनी अभिव्यक्ति का रास्ता भी नया ही बनाएगा। लयबद्धता होनी चाहिए, छन्द के क्रमागत ढाँचे अपर्याप्त पड़ जायँ तो पड़ना ही चाहिए।

'डूबो मत, लगाओ डुबकी' का साक्ष्य

इस सन्दर्भ में 'डूबो मत, लगाओ डुबकी' (१९८४ में प्रकाशित संग्रह की 'डूबो मत, लगाओ डुबकी' कविता) का भी अनायास स्मरण हो आता है। यह अत्यन्त भावावेगमयी दार्शनिक रचना है। जिसमें रचयिता का स्वभाव बोलता है, उसकी ऐसी ही परिणति होती है। रचनाकार कहता है :

"यह बात सत्य है/कि/डुबकी वही लगा सकता/जो तैरना जानता है
जो नहीं जानता/वह डूब सकता है/डूबता ही है।
डूबना और डुबकी लगाने में/उतना ही अन्तर है
जितना/मृत्यु और जीवन में।"

डुबकी लगाता है गोताखोर, गहरे में गहरी वस्तु की उपलब्धि के लिए, पर यदि वह तैरना नहीं जानता तो लक्ष्य प्राप्ति के साथ ऊपर आ नहीं सकता। तैरने के लिए जैसे आरम्भ में तुम्बी जैसी किसी वस्तु का अवलम्ब आवश्यक है। ध्यान भी डुबकी है, पर निरवलम्ब। निरवलम्ब समाधि सावलम्ब समाधि के अभ्यास से ही पाई जा सकती है। अतः सावलम्ब ध्यान आवश्यक है। तैरना जानना आवश्यक है डुबकी लगाने के लिए, अन्यथा साधक डूब जायगा। डुबकी लक्ष्य प्राप्ति के बाद ऊपर उठ जाने के लिए लगाई जाती है। डूबता वह है जिस पर आवरण का लबादा चढ़ा हुआ है। तिरता वह है, ऊपर उठता वह है जो आवरण का नाश कर हलका हो जाता है। ध्यान इसी हलके होने का साधन है। यह रचना भी अभ्यासी के अभ्यासरत स्वभाव और अनुभव से फूटी है, इसीलिए उसमें प्रसाद, प्रवाह, आवेग और प्रांजलता है। डुबकी लगाने वाले के लिए तैरना जानना पड़ता है पर डुबकी लगाते समय तैरना और तैरने का अभ्यास हो जाने के बाद सहारे के लिए गृहीत तुम्बी का त्याग भी आवश्यक है, अन्यथा डुबकी के लिए अपेक्षित एकतानता प्रतिहत हो जायगी। साधक के लिए लक्ष्य प्राप्ति के निमित्त निर्विकल्पक का और निर्विकल्पक के लिए सविकल्पक का सहारा लेना पड़ता है, पर इन सहारों को उत्तरोत्तर छोड़ना भी पड़ता है। कारण, अन्ततः ये भी बाधक ही रहते हैं। अभिप्राय यह कि साधना बेला की अनुभूति की ये रचनाएँ स्व-भाव का स्वाभाविक समुच्छलन हैं। ये रचनाएँ अभ्यास साध्य या सायास नहीं हैं।

'तोता क्यों रोता?' का साक्ष्य

आचार्यश्री प्रतीक की ही भाषा में बोलते हैं। कहा जाता है कि 'नई कविता' बिम्बों में बोलती है, पर रहस्यवादी रहस्यदर्शी प्रतीकों में बोलता है। प्रतीक भाषा की सर्वोच्च शक्ति है, उसमें संकेत और व्यंजना की असीम क्षमता है। आलंकारिक भाषा से बड़ी है वर्ण्य की स्वभावमयी बिम्बात्मक भाषा और उससे भी बड़ी है वर्ण्य-दृश्य की तह में निहित अदृश्य को सम्प्रेषित करने वाली प्रतीक भाषा। आचार्यश्री इसी भाषा में बोलते हैं। देखिए 'तोता क्यों रोता?' ('हिन्दी दिवस' – १४ सितम्बर '८४ को प्रकाशित संग्रह) में सब कुछ प्रतीक ही तो है। दाता का प्रतीक वृक्ष, ग्रहीता का प्रतीक अतिथि की पात्रता, इनका-उनका हड़प कर दान देने का दम्भ भरने वाले अकर्मण्य का प्रतीक तोता और फल को बन्धन से मुक्ति दिलाने में सहायक सपूत का प्रतीक पवन। पात्र के प्रति निरभिमान समर्पण भी बन्धनमुक्ति का एक उपक्रम ही है। तोता अकर्मण्य का प्रतीक है, अतः दान का मर्म समझ कर वह ग्लानि से भर उठता है, रोता है। उसे भी वृक्ष की तरह तपोरत होकर सफल होना है ताकि सत्पात्र के प्रति निःस्वार्थ आत्मविसर्जन कर बन्धन से मुक्त हो सके।

'चेतना के गहराव में' का साक्ष्य

प्रतीकमयी भाषा का प्रयोग वही कर सकता है जो 'चेतना के गहराव' में उतरकर अनुभव के रत्न कमा चुका

है। महाराजश्री ठीक कहते हैं कि 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि'। इसके आगे का सत्य यह है कि 'जहाँ न पहुँचे कवि, वहाँ पहुँचे स्वानुभवी'। यह स्व-अनुभव 'चेतना के गहराव' से आता है। बाहर का अनुभव आलंकारिक और बिम्बात्मक भाषा में उभर सकता है, पर 'चेतना के गहराव' का अनुभव प्रतीक भाषा में ही उभरता है, उभर सकता है। प्रतीक भाषा के साथ-साथ शब्दों से क्रीड़ा करने की प्रवृत्ति भी इन्हीं रचनाओं से फूटती लक्षित होती है। वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति भी शब्दक्रीड़ा करते हैं, इसके लिए उनकी रचनाएँ देखी जा सकती हैं। देखिए, 'चेतना के गहराव में' (१९८८ में प्रकाशित संग्रह की 'तुम कैसे पागल हो' नामक कविता) से यह शब्द क्रीड़ा किस प्रकार अपना मार्ग ढूँढ़ती है :

"रेत रेतिल से नहीं/रे ! तिल से/तेल निकल सकता है
निकलता ही है विधिवत् निकालने से/...ये सब नीतियाँ
सबको ज्ञात हैं/किन्तु हित क्या है ?/अहित क्या है ?
हित किस में निहित है कहाँ ज्ञात है ?/किसे ज्ञात है ?
मानो ज्ञात भी हो तुम्हें/शाब्दिक मात्र !/अन्यथा
अहित पन्थ के पथिक/कैसे बने हो तुम/निज को तज
जड़ का मन्थन करते हो/तुम कैसे पागल हो/तुम कैसे 'पाग' लहो ?"

अभ्यासरत जीवन ही रचना का उत्स

उपर्युक्त उद्धृत रचना को देखें। शब्द क्रीड़ामयी रेखांकित पंक्तियों को देखें। कह सकता है कोई कि यह शब्द क्रीड़ा सायास है ! यहाँ अक्रीड़ पंक्ति से सक्रीड़ पंक्ति स्वतः स्फूर्त है। 'मूकमाटी' की कथावस्तु, उसकी प्रतीक भाषा और उसमें लक्षित शब्द क्रीड़ा का इतिहास एक क्रम से स्वयं आता गया है। 'मूकमाटी' की प्रकृति के परमाणु इन पूर्ववर्ती रचनाओं में विद्यमान हैं। इसकी आलोचना के लिए पूर्ववर्ती रचनाओं का मनन-मन्थन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। इसलिए यह पूछने की आवश्यकता नहीं है कि प्रकान्त विषयवस्तु की प्रेरणा का बीज कहाँ निहित है? साधक के अभ्यासी जीवन में ही उसका उत्स है।

रचना आत्माभिव्यक्ति ही नहीं, सम्प्रेषण भी है

वार्तालाप में डॉ. माचवे ने एक दूसरा सवाल भी खड़ा किया गया है कि आचार्यश्री कविता को आत्माभिव्यक्ति मानते हैं या सम्प्रेषण ? पर इसका उत्तर लेने या देने से पूर्व पहली जिज्ञासा पर थोड़ा और विचार कर लेना चाहिए। 'मूकमाटी' का विकास उनके तपोरत उस स्वभाव से हुआ है जहाँ वे संघर्षशील हैं, मूल्यों और मान्यताओं को जीते हुए अपमूल्यों के गुरुत्वाकर्षण से जूझ रहे हैं, तभी 'नर्मदा का नरम कंकर' निकला। उसी संघर्ष का स्वर है 'डूबो मत, लगाओ डुबकी'। पौद्गलिक कर्मों का लबादा ओढ़े रहोगे तो वज़नदारी डुबो देगी, इसे फेंक कर हलके बनो और तदर्थ डूबकर तिर जाओ, डूबकर मान्यताओं और मूल्यों को जिओ। 'चेतना के गहराव में' उतरो। इस संग्रह में भी 'तोता क्यों रोता ?' कविता का रहना 'मूकमाटी' के विकास की पूर्ववर्ती भाव शृंखला की करामात है। महाराजश्री जिसका प्रवचन करते हैं, उसे जीते हैं और जिसे जीते हैं, अनुभव करते हैं, उसे लिखते हैं। इसीलिए वह असरकारी होता है। उसमें आवेग के ज्वार-भाटे होते हैं, इसीलिए वे रूढ़ छन्दों के ढाँचे को अपर्याप्त पाकर तोड़ देते हैं और मुक्त छन्द पकड़ते हैं।

'तोता क्यों रोता ?' का 'मूकमाटी' के सन्दर्भ में महत्त्व

'तोता क्यों रोता ?' एक दीर्घ प्रगीत या लम्बी रचना है। इसमें 'मूकमाटी' का पूर्वरूप लक्षित होता है। इसमें

भी प्रतीक या रूपक पद्धति पर कथा है और कथा के भीतर कथा है, जिनके सहारे जिन-सिद्धान्तों का आख्यान है। विशेष स्मरणीय यह है कि ये सिद्धान्त अपनी प्रकृति में साम्प्रदायिक होकर भी सार्वभौम प्रकृति के हैं, इसीलिए वह साम्प्रदायिक रचना नहीं, काव्य है। इसमें भी प्रकृति के परिवेश में तपी धरती पर नग्न-पाद आम्रपादप खड़ा है, दाता के रूप में, पात्र की प्रतीक्षा है। उद्यमी पथिक आता है, पर दाता में दाता होने का अहम् उभरता है जो अयाचक पथिक को खटकता है। वह भी मान-सम्मान के साथ दान चाहता है। मोक्षमार्ग में दोनों की वृत्ति बाधक है। इस संवाद – मौन संवाद – को वहाँ बैठा हुआ निस्संग तोता सुनता है, जो न उपार्जित फल का दाता है और न याचक। दान का फल पाना चाहता है, पर श्रमपूर्वक उपार्जन किए बिना। निस्संग भाव से जब वह अपनी इस वृत्ति का मानस साक्षात्कार करता है तो अपने अकर्मण्य जीवन पर ग्लानि से भर उठता है और चाहता है कि वह भी श्रमी बने, तपस्वी बने एवं फलोपार्जन करे। इस बीच फल में निरहंकार आत्मदान का भाव जगता है। वृक्षपुत्र सुपुत्र पवन की सहायता चाहता है। उसे भी पिता की वृत्ति पर खेद होता है। फल वृन्त-बन्धन से मुक्त होने की कामना में पवन की सहायता प्राप्त करता है और ससम्मान तपस्वी पथिक के पात्र का आह्वान करता है, फिर जो मुक्ति फल को चाहिए, वह मिल जाती है। एक प्रगीत में यह अन्योक्ति सूक्ति मुक्तिका की भाँति ढली हुई है। कितना काव्योचित काव्यरूप है! अनुभूति के जल में स्नात होने से इसमें प्रभावी प्रबोध-उत्पादन की क्षमता है। 'मूकमाटी' ऐसे ही प्रगीत मुक्तकों की पीठिका पर आकार पाती है। रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध में प्रकृति के ऐसे रमणीय व्यापारों से मार्मिक तथ्य निकालने वालों की प्रतिभा की प्रशंसा की है। उन्होंने जैसे 'कामायनी' को प्रगीतों का समुच्चय कहा है, उसी प्रकार 'मूकमाटी' को भी संवाद-मुक्तकों का समुच्चय कहा जा सकता है - इस व्यतिरेक के साथ कि उन संवाद-मुक्तकों में घट की आत्मकथा आद्यन्त सूत्र की भाँति अनुस्यूत है। इस प्रकार डॉ. माचवे की प्रथम जिज्ञासा सहज ही समाहित हो जाती है।

सम्प्रेषणवादी का पक्ष—आत्माभिव्यक्तिवादी का पक्ष

सम्प्रति, दूसरी जिज्ञासा देखी जाय। रचना आत्माभिव्यक्ति है या सम्प्रेषण? रचना का सम्बन्ध चेतना की अज्ञात गहराइयों से जोड़ने वाला मनोवेत्ता तो यही मानता है कि रचना 'हो' जाती है, 'की' नहीं जाती। वह आत्माभिव्यक्ति है, एक विस्फोट है, जो चेतना के अज्ञात स्तर से होता है। ज्ञानचेतना के स्तर का अहंकारमूलक कर्तृत्व या तो प्रसुप्त रहता है अथवा समर्पित होकर माध्यम बन जाता है और जो कुछ होना है, होता रहता है। दूसरा पक्ष मानता है कि चेतना का उत्स समाज है। वह समाज में सत्ता का आसादन करती है और जिस 'भाषा' का सहारा पकड़ती है, वह समाज की ही देन है। अतः सम्प्रेषण भी रचयिता के स्वभाव में है। उसका 'स्व' इतना विकसित और व्यापक है कि उसमें समस्त 'पर' समाहित हैं। रचयिता का व्यक्तिहृदय लोकहृदय होता है, उसकी निजी अनुभूति में सर्वसामान्य की हिस्सेदारी होती है। इसीलिए कहता है वह 'स्वान्तः सुखाय', पर निमग्न होता है सारा लोक। संस्कार पाता है सारा पाठक समाज।

अनेकान्तवादी समन्वयी दृष्टि

रचयिता के हृदय का भार तभी उतरता है जब वह औरों में संवाद पाता है। मतलब प्रयोजन की दृष्टि से 'प्रीति' और 'व्युत्पत्ति' की भाँति 'आत्माभिव्यक्ति' और सम्प्रेषण में भी आत्यन्तिक विरोध नहीं है। आत्माभिव्यक्ति सामाजिक क्रिया है और सामाजिक में ही चरितार्थ होती है। अतः आत्माभिव्यक्ति कहीं मूल में ही सम्प्रेषण है, सम्बोध्य के लिए है। लोक उसके लक्ष्य में अज्ञातभाव से ही सही, अवश्य विद्यमान है। महाराजश्री लोक-मंगल की भावना से तो परिचालित हैं ही, उन सिद्धान्तों को जिया है उन्होंने, अतः अनुभूति परिचालित भी हैं।

"प्रखर चिन्तकों दार्शनिकों/तत्त्व-विदों से भी ऐसी/अनुभूति-परक पंक्तियाँ प्रायः नहीं मिलतीं···जो/आज अग्नि से सुनने मिलीं।" (पृ. २८७)

स्वानुभूति का प्रकाशन यों ही अच्छा लगता है – लोक मंगल हो, इस कारण और अच्छा लगता है। वह सम्प्रेषण के विषय में 'मूकमाटी' में कहते हैं :

> *"विचारों के ऐक्य से/आचारों के साम्य से/सम्प्रेषण में/निखार आता है,*
> *वरना/विकार आता है !/बिना बिखराव/उपयोग की धारा का*
> *दृढ़-तटों से संयत,/सरकन-शीला सरिता-सी/लक्ष्य की ओर बढ़ना ही*
> *सम्प्रेषण का सही स्वरूप है/हाँ ! हाँ !! इस विषय में/विशेष बात यह है कि*
> *सम्प्रेष्य के प्रति/कभी भूलकर भी/अधिकार का भाव आना*
> *सम्प्रेषण का दुरुपयोग है,/वह फलीभूत भी नहीं होता !/और,*
> *सहकार का भाव आना/सदुपयोग है, सार्थक है।*
> *सम्प्रेषण वह स्वाद है/जिससे, कि/सद्भावों की पौध*
> *पुष्ट-सम्पुष्ट होती है।" (पृ. २२-२३)*

इन पंक्तियों के आलोक में लगता है कि महाराजश्री का सम्प्रेषण की ओर झुकाव है। लोकमंगलकामी में यह होना ही चाहिए। शास्त्रकाव्य में सम्प्रेषण की भावना बलवती होती ही है। परन्तु सम्प्रेषण का जो स्वरूप उपर्युक्त पंक्तियों में व्यक्त है, वह स्तरीय है। उसमें निखार के लिए विचारों का समन्वय और आचारगत साम्य चाहिए। लक्ष्य की ओर एकतानता ही उसका सही स्वरूप है। यह वह खाद है जिससे सद्भावों की पौध पुष्ट-सम्पुष्ट होती है। साथ ही यह कि सम्प्रेष्य पर हावी होने से सम्प्रेषण का स्वरूप बिगड़ता है, फलतः उसे भोग रूप में सहकारी ही होना चाहिए।

'मूकमाटी'- काव्यत्व और काव्यरूप

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में स्पष्ट है कि प्रस्तुत रचना लोक-मंगल की भावना से लिखी गई है। इसमें उन मूल्यों का संवादों द्वारा उपस्थापन है जो मानव को 'विभाव' से 'स्व-भाव'-साक्षात्कार की दिशा में ले जाते हैं। महाराजश्री ने इन मूल्यों को जिया है। अतः उन्हें सम्प्रेषण ही नहीं, स्वानुभूति का रस भी 'स्वान्तः सुखाय' परिचालित करता है। इस पद्धति से सम्प्रेषण के बीज उनकी पूर्ववर्ती रचनाओं में लक्षित होते हैं। उसी का यह प्रबन्ध की धरा पर सहज विकास है। इसमें आत्माभिव्यक्ति भी है और सम्प्रेषण भी, स्वानुभूति का उल्लास भी परिचालक है और लोक-मंगल की कामना भी।

महाकाव्यों में मूल्यगान की परम्परा

ऊपर यह मान्यता रखी गई है कि प्रस्तुत रचना शुद्ध कविता नहीं, शास्त्रकाव्य है। सहृदय आचार्यों की धारणा है कि वस्तुतः काव्य संवेदना का समुच्छलन है। आदिकाव्य रामायण की रचना प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्तपादाचार्य ने काव्य को सर्जनात्मक अनुभूति का ही रूपान्तरण माना है, शास्त्रीय मान्यताओं का रोचक उपस्थापन मात्र नहीं; गो कि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य की रचना के उपयुक्त नायक की तलाश में नारद के सामने जो मानदण्ड रखे थे, वे मानव मूल्यों के ही थे। उन मूल्यों से मण्डित नायक के जीवन के कलात्मक उद्रेखण के व्याज से महर्षि उन मूल्यों का ही गान करना चाहता है। महाभारत के भी आदि, अन्त और मध्य में भगवान् वासुदेव ही विद्यमान हैं।

महाकाव्य की दो धाराएँ

जैसा कि ऊपर कहा गया है, समस्या काव्यसामग्री के संयोजन में दिए गए बलाबल का है। कोई रसात्मक प्रभाव को केन्द्र में रख कर उसके अनुरूप समुचित सामग्री का संयोजन करेगा जबकि दूसरा मूल्यों के रोचक ढंग से

उपस्थापन में रुचि प्रदर्शित करेगा। अनुभूति और मूल्य योजना दोनों ही धाराओं में है। प्रथम धारा में स्थायी का चेतन आश्रय में विधान होगा और हृदय जगत् के भावों की ऊँचाइयाँ, गहराइयाँ, विविधता और व्यापकता प्रभावी होंगी, मूल्य चर्चा आनुषंगिक और दूसरी धारा में यह सब अभिव्यक्ति पद्धति में आ जायगा, कव्य का स्वर उपदेशपरक होगा। यहाँ साधनारत मुनि अपने जीवन क्रम से प्रेरित होकर 'सम्भावनाओं' को 'उपलब्धि' की मंज़िल की यात्रा करा रहा है जबकि पहली धारा में उपलब्धि बनी महान् आत्माओं की रसमय जीवनगाथा प्रस्तुत की जाती है। सम्भावनाएँ उपलब्धि बनती हैं। मूल्यों के प्रति आस्थावान् होकर उन्हें जीने से लक्ष्य की प्राप्ति होती है। सम्भावना प्रतिसत्ता में विद्यमान है। इसके लिए प्रतीक का माध्यम ग्रहण करना काव्योचित सरणि है। प्रस्तुत या प्रधान चेतन मानव ही है, पर व्यंजना से उसकी कथा और भी प्रभावी तथा काव्योचित है।

'मूकमाटी' का कवि—युग का कवि

सरिता-तट की मूकमाटी असीम सम्भावनाओं से संवलित है, भले ही वह पद दलित, उपेक्षित और नगण्य लगती हो। इसमें प्रस्तुत नगण्य मानव ही है, जो अपनी ऊर्ध्वगामी अपरिमेय सम्भावनाओं में गणनीय है। अतः इसके काव्यत्व पर अँगुली उठाना असहृदयता होगी। दूसरे आज का तकादा भी अवाम को उठाने का है। पहले मंच पर ग्लैमर (उदात्त) अभिनीत होता था, आज मंच पर सामान्य ज़िंदगी अभिनीत होती है। पहले उपलब्धि का यशोगान होता था, आज सम्भावनाओं का संघर्ष गाया जाता है। साधना और संघर्ष जितना सम्भावना को उपलब्धि बनने में सहज और प्रेरणाप्रद है, उतना उलटे रास्ते चलकर नहीं। चरित काव्यों और पुराण काव्यों में भी संघर्ष है, पर दोनों का युग-भेद है। एक संघर्षशील तपोरत मुनि अपने युग के साथ चल रहा है और सम्भावनामयी विराट् सत्ता के बेटे या बेटी की कथा कह रहा है। उसके काव्य का विषय विराट् सत्ता ही है। प्रस्तुत वही है, यह तो अप्रस्तुत है।

काव्य स्वरूप विषयक दो धाराएँ

जो लोग विविधविध परिस्थितियों के बीच चेतन मानव को आश्रय बनाकर भावनाओं का आवर्जक रूप, उसके ज्वार-भाटों के काव्यगत कलागत उद्रेखण के पक्षधर हैं, उनका भी एक पक्ष है, पर उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि आलोच्य कृति का रचयिता एक जैन सन्त है, आध्यात्मिक यात्रा का कृतार्थ पथिक है। उसकी काव्य सम्बन्धी अवधारणा कुछ और है, यह नहीं कि वह इससे असहमत है। परम्परा में पीछे की ओर चलें, स्पष्ट ही काव्य की दो प्रतिनिधि परिभाषाएँ मिलेंगी— एक साहित्यरसिक आचार्य कुन्तक की और दूसरी अध्यात्मरसिक गोस्वामी तुलसीदास की। कुन्तक कहते हैं- वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है और वक्रोक्ति 'प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणी विचित्र अभिधा' है, वक्रभणिति है, परन्तु इस वक्रता का परम रहस्य प्रतिभा नाम की तीसरी आँख से दृष्ट वर्ण्यवस्तु का 'स्वभाव' निरूपण ही है। सर्जनात्मक अनुभूति की चारुता को सम्प्रेषित करने वाला सटीक शब्द ही काव्य है। गोस्वामीजी का पक्ष है :

"भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ, राम नाम बिनु सोह न सोऊ।"

अर्थात् सुकवि कृत 'विचित्र या वक्रभणिति' ही क्यों न हो, पर काव्य के लिए जिस तरह की 'चारुता' का होना आवश्यक है वह आध्यात्मिक चेतना के संस्पर्श के बिना सम्भव नहीं है। काव्योचित चारुता का स्रोत आध्यात्मिक चेतना है। हाँ, वह अनुभूति के स्तर की हो, मात्र बौद्धिक स्तर की नहीं। रचयिता ने उसे जिया हो, तभी उसके शब्दबद्ध समुच्छलन में पाठक को रस आएगा, उसका आनन्दवर्धन होगा, ज्ञानवर्द्धन तो होगा ही। रचयिता बड़े आत्मविश्वास के साथ कहता है :

"इस पर भी यदि/तुम्हें/श्रमण-साधना के विषय में/और

अक्षय सुख-सम्बन्ध में/विश्वास नहीं हो रहा हो/तो···फिर अब
अन्तिम कुछ कहता हूँ/कि,/क्षेत्र की नहीं,/आचरण की दृष्टि से
मैं जहाँ पर हूँ/वहाँ आकर देखो मुझे,/तुम्हें होगी मेरी
सही-सही पहचान/क्योंकि/ऊपर से नीचे देखने से/चक्कर आता है
और/नीचे से ऊपर का अनुमान/लगभग गलत निकलता है।
इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंज़िल पर!" (पृ. ४८७-४८८)

रचयिता की साहित्य विषयक अवधारणा

गोस्वामी तुलसीदास, जो नाभादास के शब्दों में 'कलिकुलजीवनिस्तारहित वाल्मीकि के ही, आदि कवि के ही, अवतार हैं'—की परम्परा में मुनि विद्यासागर की भी साहित्य स्वरूप विषयक अवधारणा को दृष्टिगत करें। उनका पक्ष है — साहित्य सहित का भाव है और 'सहित' में 'हित' निहित है :

"अर्थ यह हुआ कि/जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव - सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!" (पृ. १११)

रचयिता 'स्वभाव-सुख' को सुख कहता है। वही जीवन्त और शाश्वत साहित्य में व्याप्त सुगन्ध है जिससे रहित होने पर सुकवि कृत भणिति 'विचित्र' होकर भी सारहीन शब्द-झुण्ड है।

रचयिता जिस शान्त रस को रसराज मानता है, उसे शब्दबद्ध कर रहा है, पर 'शान्त' की पार्यन्तिक अनुभूति वाग्बद्ध नहीं हो सकती। उसकी संघर्षमय साधनावस्था ही शब्दबद्ध हो सकती है। 'दशरूपक' और उसके टीकाकार धनिक धनंजय कहते हैं :

"न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥" ४/४६॥

शान्त रस आत्मस्वरूपायत्ति है, अतः स्वरूपतः वह अनिर्वचनीय है, अतः उसके उपाय का ही वर्णन और आस्वाद हो सकता है।

प्रस्तुत कृति शान्त रस की संवेदना का रूपान्तरण है

आलोच्य ग्रन्थ में शान्त रस स्वरूप 'स्वभाव-सुख' की मंज़िल तक पहुँचने के लिए संघर्षशील, तपोरत सम्भावना-मयी माटी, जो घट का उपादान है, की ही तो आत्मकथा कही गई है। घट का उपादान माटी महासत्ता माँ धरती का ही अंश है। इसीलिए रचयिता स्थान-स्थान पर धरती के व्याज से उस महासत्ता का स्तवन करता है और गगन से भी अधिक उस माता धरती की महत्ता का ख्यापन करता है। यही विराट् मातृ सत्ता ही इस काव्य का वर्ण्य है। जिस प्रकार रामायण में 'राम', महाभारत में 'वासुदेव' और रामचरितमानस के आदि, मध्य तथा अवसान में 'राम' का ही यशोगान है, उसी प्रकार यहाँ भी मातृ सत्ता विराट् चेतना - विराट् सत्ता - व्यापक सत्ता ('धरती' से व्यंजित प्रस्तुत) का यशोगान है। इस प्रकार यह प्रतीक काव्य है, घटोपादान माटी उसी का अंश है। यह घट ईश्वरत्व पर्यवसायिनी सम्भावना वाले

साधक जीव का प्रतीक है। इसीलिए व्यास ने 'नरत्वं दुर्लभं लोके' कहा है।

कवित्व के उच्छलन का स्रोत–प्रतीक पद्धति

शान्त का स्थायी भाव शम या निर्वेद है जो 'समस्ततृष्णाक्षयसुखात्मा' है। वाच्य रूप में घट से व्यंजित प्रतीयमान तपोरत साधक ही उस शम नामक स्थायी भाव का आश्रय है। कंकर अजीव, कर्ममय पौद्गलिक परमाणुसंघात के प्रतीक हैं, जिनसे सम्पृक्त होकर जीव 'स्वभाव' को विस्मृत किए हुए है और विभावाभिमानी बनकर दुःख भोग रहा है। माँ धरती का होनहार पुत्र घट अपनी माँ से जो 'श्रुत' सुनता है, आस्था की नासा से उसकी पूरी सुगन्धि लेता है, और तब खुला हुआ गन्तव्य का रास्ता ही उसका शास्ता बन जाता है, घट की पात्रता अपनी अदम्य अभीप्सा से आचार्य कुम्भकार को खींच लाती है, जो निमित्त बन जाता है उपादान की सम्भावनाओं को उपलब्धि बनाने में। तीसरे और चौथे खण्डों में वर्णित संघर्ष पर दृढ़ आस्था और विश्वास विजय पाती है। घट तो जीवन मुक्त होता ही है, आचार्य के प्रति आत्मदान करता हुआ, उससे जुड़ा हुआ सेठ परिवार भी दुःख सरिता का सन्तरण कर जाता है। सभी अरिहन्त का साक्षात्कार कर लेते हैं। यह सब समस्त तृष्णा या काषायक्षय के बिना– घाति कर्मक्षय के बिना सम्भव नहीं है। यही समस्त तृष्णाक्षयसुखात्मा शम की शान्त में निष्पत्ति है। 'काव्यप्रकाश'कार कहता है :

"स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंजकस्त्रिधा।" (२/५)

अर्थात् व्यवहार और शास्त्र में शब्द वाचक और लाक्षणिक होते हैं, परन्तु 'अत्र' अर्थात् काव्य में 'व्यंजक' होते हैं। इस प्रकार व्यंजक या प्रतीक को माध्यम बनाकर वर्ण्य का उपगूहन कवित्व का प्रबल स्रोत है। भारतीय परम्परा में रहस्य के उपस्थापन की यही पद्धति है। कवित्व के इतने बड़े स्रोत के जागरूक होते हुए भी जिन्हें यहाँ कवित्व लक्षित नहीं होता, उनके विषय में क्या कहा जाय ?

"नायं स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति।"

'लोचन'कार काव्य को 'ललितोचितसन्निवेशचारु' कहता है और पण्डितराज जगन्नाथ 'समुचितललितसन्निवेशचारु' कहते हैं। वही शब्दार्थसन्निवेश ललित और उचित है, फलतः 'चारु' है, काव्य है, जो रसानुरोधी है। लालित्य का आधान रसानुरोध से ही होता है और उसी के अनुरोध से औचित्य का निर्धारण भी होता है। यह लालित्य काव्य की जिस भावक भाषा में होती है उसमें रस भावकता का आधान गुण और अलंकार मण्डन से होता है। शान्त रस होने से माधुर्य गुण तो है ही, अलंकार की बात हम आगे करेंगे। अलंकारों में एक अलंकार है-'निरुक्ति' जो व्युत्पत्ति मूलक चमत्कार का मुखापेक्षी है। यह अलंकार तो रचयिता की पहचान बन गया है। इस प्रकार आलोच्य कृति की भाषा शास्त्रभाषा नहीं है, वह अभिधात्मक नहीं है। कहीं क्वचित्, विशेषकर जब कोई पात्र मान्यताओं का वर्णन कर रहा हो, तो वहाँ की भाषा अभिधात्मक हो सकती है, पर कृति को उसकी अखण्डता में देखना चाहिए न कि काटकर एकदेश में। साहित्यदर्पण-कार ने कहा है कि महाकाव्य की आस्वादधारा में नीरस प्रसंग भी सरस हो उठते हैं।

शम की पुष्टि

कहा जा सकता है कि जिस शान्त को संवेदना मानकर प्रस्तुत कृति को उसका रूपान्तर कहा जा रहा है, उसका स्थायी भाव 'शम' चेतन में ही सम्भव है। घट चेतन कहाँ है ? अतः शम की स्थिति न होने से शान्त की संवेदना अचेतन पात्र में कैसे रखी जा सकती है ? उत्तर में कहा जा सकता है कि घट अप्रस्तुत है। प्रस्तुत तो साधक जीवात्मा ही है, जो शान्त की स्थिति में पहुँचने के लिए शम या निर्वेद का अन्तस् में अवस्थान करता है। आरम्भ में ही वह माँ धरती

से अपनी व्यथा-कथा प्रस्तुत करता है। उसमें विषय के प्रति विराग भाव ही तो है। स्वरूपायत्ति लक्षण शान्त की स्थिति में जाने की अदम्य अभीप्सा का इज़हार करता है सम्भावना के रूप में 'माटी' में निहित घट। माटी कहती है :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की
च्युति कब होगी ?/बता दो, माँ···इसे !" (पृ. ५)

कृति के अन्त में वही माँ सत्ता 'शान्त' रस में प्रतिष्ठित घट साधक को सम्बोधित करती हुई कहती है :

"···सो/सृजनशील जीवन का/वर्गातीत अपवर्ग हुआ।"(पृ. ४८३)

निष्कर्ष यह कि आलोच्य कृति में कवित्व के विभिन्न स्रोत विद्यमान हैं। यह अवश्य है कि यह सन्तों का काव्य है जहाँ मूल्यगान की चेतना उदग्र रहती है, आध्यात्मिक चेतना की सुगन्ध आद्यन्त व्याप्त रहती है, वही 'हित' है, उससे युक्त अर्थात् 'सहित' का ही भाव यहाँ साहित्य की अपेक्षित शर्त है। रसराज से भिन्न शान्तेतर रस की पार्यान्तिक अनुभूति सम्भव है। अत: जिस प्रकार विभावादि समग्र अंगों की योजना प्रीत्युत्पादक ढंग से वहाँ सम्भव है, वैसा शान्त रस को अंगी बनाकर नहीं। यहाँ उपाय का ही वर्णन सम्भव है, जैसा कि धनञ्जय ने 'दशरूपक' में कहा है। दूसरे शैली-विज्ञान कहता है कि अ-काव्यभाषा से काव्यभाषा के व्यावर्तक चार लक्षण हैं :

१. विचलन (Deviation) (विपथन भी) २. सादृश्य (Analogy)

३. चयन (Selected Word) (उपयुक्त शब्द) ४. समान्तरता (Foregrounding)

शैली विज्ञान का साक्ष्य

'मूकमाटी' की भाषा में 'घट' को जीवात्मा का प्रतीक बनाकर आद्यन्त एक कथा प्रस्तुति 'विचलन' का ही उदाहरण है। परम्परा में ऐसा कहीं नहीं मिलता, विशेषकर जैन मुनियों की प्रबन्ध काव्य परम्परा में। नई उपलब्धि के लिए पुराने को तोड़ना भी रचना की एक विशिष्ट उपलब्धि है। प्रकीर्णक रूप में भाषा पर विचार करते हुए आगे इस या इन बिन्दुओं पर अधिक कहा जायगा।

सादृश्यमूलक अलंकारों का स्वत:स्फूर्त विनियोग

प्राचीन शब्दावली में यह 'समुचिताललितसन्निवेशचारु' काव्यभाषा से मण्डित होने के कारण इसे 'काव्य' कहने में मुझे कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। जिस रोचक और रमणीय भाषा में अनुभव की अभिव्यक्ति यहाँ है, है वैसी भाषा में किसी शास्त्र की संरचना ? कहीं-कहीं तो ऐसे 'अपृथग्यत्नानिर्वर्त्य' अलंकारों का प्रवाह उफन पड़ा है कि 'कादम्बरी' की महाश्वेता के विलाप की भाषा याद आ जाती है। इस सन्दर्भ में अन्तिम खण्ड का वह प्रसंग देखा जा सकता है, जिसमें "घर की ओर जा रहा सेठ···"(पृ.३५० से ३५२ तक) की दशा का विवरण देने के लिए अप्रस्तुतों की माला उफन पड़ी है। तीसरे खण्ड के संवाद को पढ़ें तो उसके पीछे निहित भाव-प्रवाह का आवेग भावमग्न कर देता है। दृश्यकाव्य की अपेक्षा महाकाव्य की संरचना शिथिल होती है। उसमें प्रसंगवश समागत सन्दर्भ अनपेक्षित विस्तार पा जाते हैं। अनुपात में स्वल्प शब्द क्रीड़ा या संख्या क्रीड़ा से समग्र प्रबन्ध अधम कोटि का या प्रहेलिकाप्राय हो जायगा ? मुझे ऐसा नहीं लगता। 'लगना' है भी आत्मनिष्ठ प्रतिक्रिया। सबका 'लगना' अलग-अलग होता है। हाँ, 'लगना' से 'होना' अवश्य भिन्न है।

काव्यरूप का विचार—महाकाव्य

कवित्व या काव्य की प्रकृति की दृष्टि से देख लेने के बाद सम्प्रति 'महाकाव्य' के निकष पर इसकी परीक्षा की

जानी चाहिए। अनेक समीक्षकों ने इसे जैसे-तैसे 'काव्य' तो मान लिया है, परन्तु 'महाकाव्य' नहीं माना है। निश्चय ही उन समीक्षकों के मानस पर जो मानदण्ड अंकित हैं, वे पारम्परिक महाकाव्यों से निर्गत साँचे या लक्षण हैं। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' को लेकर भी ऐसी ही कशमकश चली थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो उसके प्रबन्धत्व पर ही कड़ा प्रहार किया है और उसे प्रगीतों का समुच्चय घोषित कर दिया है। पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उसे 'एकार्थ काव्य' कहा है, परन्तु डॉ. नगेन्द्र ने उसमें निहित 'महत्त्व' और 'काव्यत्व' को देखकर, विभिन्न घटकों में निहित औदात्त्य को देखकर उसे छायावादी पद्धति का महाकाव्य कहा है। प्रचलित मंचों पर अपने नाटकों को अनभिनेय घोषित करने वालों से प्रसादजी ने कहा था कि नाटक के लिए मंच बनाया जाना चाहिए, न कि मंचों के बने-बनाए ढाँचों के अनुरूप नाटक बनाए जाने चाहिए। यदि पूर्व प्रचलित साँचों में ही सर्जना सिमट कर रह जाय तो उसकी प्रगति किस प्रकार सम्भव है ? अतः समुचित यही है कि पारम्परिक साँचे को तोड़ कर युगीन संवेदना से परिचालित रचना में यदि 'महत्त्व' और 'काव्यत्व' है, तो तदनुरूप नया साँचा भी बनाया जाना चाहिए। 'मूकमाटी' के महाकाव्यत्व की परीक्षा स्वयं उससे निर्गत मानदण्ड पर किया जाना समुचित होगा। यह कहना कि इस प्रकार अराजकता फैलेगी, लोग नए-नए साँचों के अनुरूप महाकाव्य लिखने लगेंगे, तो पहली बात यह है कि ऐसा हो भी तो सही। 'मूकमाटी' की भाँति नए मानदण्डों वाली रचनाएँ महाप्राण रचयिता ही कर सकते हैं, आम आदमी से सम्भव नहीं है, फलतः अराजकता का सवाल ही नहीं उठता। ऐसे प्रयास सम्भावनामयी रचना के विविध आयाम अनावृत करते हैं।

पारम्परिक साँचा—महाकाव्य के अनिवार्य घटक 'महत्त्व' और 'काव्यत्व'

कह सकता है कोई कि इसमें 'महत्त्व' और 'काव्यत्व' नहीं है? क्या इस काव्य का लक्ष्य जो 'अपवर्ग' है, उससे भी महत्तर लक्ष्य हो सकता है ? काव्यत्व की बात ऊपर की ही गई है। 'तुस्यतु दुर्जनन्याय' से पहले पारम्परिक साँचे को ही लें। पारम्परिक साँचे के लिए निम्नलिखित उपकरण अपेक्षित हैं :

१. इसमें जीवन का सर्वांगीण चित्रण होना चाहिए।
२. इसमें एक या अनेक नायक हों। वे प्रख्यात राजवंशी हों और धीरोदात्त हों।
३. इसमें मंगलाचरण हो।
४. आठ या उससे अधिक सर्ग हों।
५. दिवा, रात्रि, पर्वत आदि का वर्णन हो।
६. सर्ग में एक ही छन्द हो, पर अन्त में छन्द परिवर्तन हो।
७. सभी सन्धियाँ हों, फलतः प्रख्यात या लोक प्रसिद्ध कथा हो।
८. वीर, शृंगार अथवा शान्त में से एक रस हो, जो अंगी हो।
९. सज्जन-असज्जन की स्तुति और निन्दा हो।

इन लक्षणों में स्पष्ट ही दो वर्ग हैं— बहिरंग और अन्तरंग। बहिरंग में— (क) मंगलाचरण (ख) सर्ग की संख्या का नियम (ग) छन्द सम्बन्धी नियम का समावेश किया जा सकता है। 'कामायनी' या 'प्रिय प्रवास' में मंगलाचरण नहीं है। जिन-जिन महाकाव्यों में वस्तु निर्देशात्मक मंगलाचरण कहा जाता है, उसमें कोई ठोस प्रमाण नहीं है। सर्ग की संख्या 'रामचरितमानस' पर ही लागू नहीं होती। छन्दों का अन्त में बदलना भी ऐसा ही बहिरंग लक्षण है। अन्तरंग लक्षणों में नवम को छोड़कर शेष आ सकते हैं।

महाकाव्य का लक्षण

'साहित्यदर्पण'कार कहता है :

"सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।
शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ॥
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ।
...क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्त्तनम् ।
...सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ॥
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ॥
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोग्यं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ॥"

इस उद्धरण से निर्गत आवश्यक-अनावश्यक घटकों का उल्लेख ऊपर कर दिया गया है। लक्षण लक्ष्य से निकाले जाते हैं, इसीलिए काव्यशास्त्र 'काव्यानुशासन' भी कहा जाता है। यह शासन या शास्त्र काव्यानुधावी होता है। शास्त्र 'शंसन', 'शासन' और 'अनुशासन' - तीनों के कारण भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में परिभाषित होता है।

सम्प्रति आलोच्य कृति पर पारम्परिक साँचे के घटकों का संचार करना चाहिए।

आलोच्य कृति की संक्षिप्त कथावस्तु

पारम्परिक साँचे के अनुसार कथावस्तु में आधिकारिक कथा और प्रासंगिक कथाएँ होती हैं। प्रासंगिक कथा भी दो प्रकार की होती है – पताका और प्रकरी। पहली दूर तक चलती है और दूसरी अल्पदेशव्यापी होती है। इसमें आधिकारिक कथा उस मूकमाटी की है जिसमें घट रूप में परिणत होने की सम्भावना है।

अधिकार का अर्थ है—फलस्वाम्य - मुख्य फल। यह मुख्य फल जिसे प्राप्त हो, वह अधिकारी कहा जाता है और इससे सम्बद्ध कथा आधिकारिक है। यहाँ मुख्य फल है 'अपवर्ग,' जिसे घट प्राप्त करता है। इस प्रयोजन की प्राप्ति में नेतृत्व या प्रयास उसी का है, अतः उसे ही अधिकारी माना जाना चाहिए। इसकी कथा आद्यन्त चलती है। प्रत्येक खण्ड में उसकी कथा प्रमुख है। यह बात अलग है कि अवान्तर प्रसंग प्रचुरता से आते हैं जिससे मूल कथा का प्रवाह बाधित होता है। कथा के प्रवाह में सहज ही प्रसंगान्तर का फूट पड़ना एक बात है और सिद्धान्तों तथा मान्यताओं के उपस्थापन के लोभ से प्रसंगान्तर बढ़ाते चलना दूसरी बात है। यहाँ दूसरी प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती है।

ग्रन्थ के चार खण्डों में कथावस्तु विभाजित है :

[क] संकर नहीं : वर्ण-लाभ।

[ख] शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं।

[ग] पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन।

[घ] अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।

काव्य जब अपनी समग्रता में रूपक, अन्योक्ति अथवा अन्यापदेश का बाना धारण करके आता है, तब अनेक प्रकार की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। 'कामायनी' को भी इन समस्याओं से जूझना पड़ा है और उसका काव्यत्व व्याहत हुआ है। सबसे पहली समस्या यह आती है कि अप्रस्तुत आख्यान की प्रस्तुत वृत्त पर आद्यन्त संगति कैसे बिठाई जाय? कथावस्तु की परिकल्पना में रचयिता ने अपना प्रस्थान पृथक् कर लिया है, परन्तु मान्यताएँ कैसे पृथक् कर सकता है?

प्राचीन युग में 'उपलब्धियों' पर महाकाव्य लिखे जाते थे। कारण यह था कि तब व्यक्ति 'उपलब्धि' बनकर हमारे सामने विद्यमान थे। आधुनिक युग के बुद्धिवाद ने हमें संशयग्रस्त करके 'अज्ञ' और 'अश्रद्धालु' बना दिया है। औसतन हमारा अधिकांश अ-निष्ठा प्रस्थान का अनुवर्ती बन गया है। आम आदमी की चेतना पूरी तरह किसी से नहीं जुड़ पा रही है। इसलिए यह युग बौनों का युग कहा जा रहा है। ऐसे समय में चिन्तक का ध्यान 'उपलब्धि' से हट कर 'सम्भावना' पर केन्द्रित होता जा रहा है जो प्रतिपदार्थ और व्यक्ति में विद्यमान है। 'सम्भावना' जब 'उपलब्धि' बनने की दिशा में अग्रसर होती है तब उसे मूल्यों और मान्यताओं को जीना पड़ता है और ऐसे में अपमूल्यों से संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष में वही विजयी बन सकता है जो दृढ़निष्ठा वाला होता है। रचयिता ने इसीलिए परम्परा से हटकर अपने काव्य का नायक उस मूकमाटी को बनाया है, जो पद दलिता है, जिसमें ऊर्ध्वगामी सम्भावनाओं से भरे हुए घट को अनुरूप निमित्त पाकर उभरने की सम्भावना है अथवा जिसमें घटात्मक परिणाम की सम्भावना है।

प्रस्थान पार्थक्य के कारण उत्पन्न समस्याएँ

प्रस्थान पार्थक्य के साथ अपनी बात कहने के लिए रचयिता को अन्यापदेश की पद्धति पकड़नी पड़ी। जैनेतर महाकाव्यों में उन मूल्यों और मान्यताओं से मण्डित नायकों की कथा कही गई है जिनसे व्यवहार या लोक और समाज का सन्धारण होता है किन्तु प्रथमानुयोग के अन्तर्गत पारम्परिक जैन रचनाकारों ने इससे आगे बढ़कर पारमार्थिक लक्ष्य की उपलब्धि में अभिरत शलाका पुरुषों का चरित्र चित्रित किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता ने अपनी परम्परा से सम्पृक्त रहकर भी युगीन संवेदना के प्रभाव में महाकाव्य लेखन की पद्धति बदल दी है और इससे कई कठिनाइयाँ भी उभरी हैं। एक ओर प्राचीन और पारम्परिक साँचे के संस्कारी समीक्षक झल्ला उठे हैं और दूसरी ओर सहानुभूतिशील समीक्षकों को भी अप्रस्तुत और प्रस्तुत के आद्यन्त संगति में कठिनाई उठ खड़ी हुई है। उदाहरणार्थ, पहले खण्ड में ही देखें—उपादान कारण स्वरूप 'माटी' में विजातीय कंकर का सांकर्य जलधारण करने योग्य घटात्मक सत्पात्र के निर्माण में बाधक है। अतः 'वर्णलाभ' करने के निमित्त 'सांकर्य' का हटाया जाना आवश्यक है। इसलिए निमित्त बनकर कुम्भकार शिल्पी को यह कार्य करना ही है। इस अन्यापदेशिक आख्यान में 'अजीवगत' दोष का अप्रस्तुत 'कंकर' है और 'जीव' का 'घट', जो अभी 'माटी' में सम्भावना बना हुआ है, आकारतः अव्यक्त है। कुम्भकार सद्गुरु का प्रतीक या अप्रस्तुत है, जो सत्पात्र के रूप में 'घट' का निर्माण करता है। परन्तु समापन के सन्दर्भ में वह कुम्भकार अपने को ऋषि-सन्तों का जघन्य सेवक मानता है तथा कुछ ही दूरी पर पादप के नीचे पाषाण-फलक पर आसीन नीराग साधु को इंगित करता है। आपाततः सन्देह होता है कि यदि घट बद्धजीव का आरम्भ में प्रतीक है तो 'धरती' और 'माटी' किसके प्रतीक हैं? वे किस प्रस्तुत की व्यंजना कर रहे हैं? वास्तव में यह शंका निर्मूल है। माटी तो धरती जैसी महासत्ता का अंश ही है और 'घट' उसका पर्याय है, भिन्न नहीं। वह तो माटी में ही सम्भावित की निमित्त-सापेक्ष दशा विशेष है, भिन्न नहीं। ग्रन्थ का 'माटी' और 'कुम्भकार' से शुभारम्भ जैन दर्शन की 'उपादान' और 'निमित्त' जैसे उस सिद्धान्त को आत्मगत करके चलना है, जिसमें संसार के कर्ता जैसे पृथक् ईश्वर की परिकल्पना का निषेध है। कथाधारा वर्णन और संवाद के सहारे आगे बढ़ती है। माटी की अभीप्सा में इतना वज़न है कि शिल्पी, जो सद्गुरु का प्रतीक है, स्वयं चला आता है। वह करुणासागर है। साधक की तड़प उसे खींच लाती है। निर्माता शिल्पी कुदाली चलाकर, माटी को गधे पर लादकर उपाश्रम में लाता है, जहाँ माटी छानी जाती है एवं कंकर अलग किए जाते हैं। तदनन्तर कूप से बालटी में पानी बाहर लाया जाता है। बालटी जिस रस्सी में बँधी है, उसमें ग्रन्थि है, जो प्रयत्नपूर्वक खोल ली जाती है। इससे पानी भरी बालटी सुकरता से ऊपर आ जाती है। प्रथम खण्ड की कथा इतनी ही है।

समाधान

यहाँ आशंका पुनः शिर उठाती है कि जीव विजातीय अजीव पौद्गलिक कर्म से आवृत होने के कारण अनादिकाल

से संकीर्ण स्वरूप है। शिल्पी इस सांकर्य से घट को अलग कर देता है। फलतः वह असंकीर्ण होकर शुद्ध वर्णलाभ कर लेता है। इस तरह जब वह शुद्ध वर्णलाभ कर लेता है, तब लक्ष्य प्राप्ति हो जाती है और जब लक्ष्य प्राप्ति हो गई तब कथा सूत्र को समाप्त हो जाना चाहिए। आगे की कथा क्यों बढ़ाई जाय? इसका समाधान यह है कि अभी आंशिक मल ही समाप्त हुआ है। कंकर संयोगज विकार का ही प्रतीक है। आंशिक मल या कषाय अभी भी शेष है जिसे तप की अग्नि में और जलाना है और जलने-जलाने का यह क्रम लम्बा चलता है तब कहीं 'घट' शुद्ध स्व-भाव में प्रतिष्ठित होता है। अतः कथासूत्र को आन्तरालिक संघर्ष के प्रतीक रूप में और बढ़ाना ही है।

इस प्रसंग में 'संकर' और 'वर्ण' शब्दों की तह में एक और अर्थ की झलक मिल सकती है। 'संकर' दोष क्रमागत 'वर्ण-व्यवस्था' में 'वर्ण' से परस्पर भिन्न माता और पिता से उत्पन्न सन्तति में भी होता है, जो उसी जन्म में नहीं हट सकता। इसके लिए जन्मान्तर आवश्यक है। अतः इस आशय से ग्रस्त संकीर्ण वर्णवादी को आपत्ति हो सकती है कि उसी जन्म में शिल्पी ने माटी का सांकर्य कैसे हटा दिया ? परन्तु रचयिता की निम्नलिखित पंक्तियों के साक्ष्य पर स्पष्ट है कि उसने 'वर्ण' शब्द का प्रयोग 'शील' के अर्थ में किया है :

"इस प्रसंग से/वर्ण का आशय/न रंग से है
न ही अंग से/वरन्/चाल-चरण, ढंग से है।" (पृ. ४७)

साथ ही 'संकर' शब्द पर (अजीव) संसर्ग-जन्य विकार के अर्थ में प्रयुक्त है। अतः सन्त – सद्गुरु के संसर्ग से उसका निरसन सम्भव है। इन्हीं अर्थों में प्रस्तुत काव्यगत प्रयुक्त 'वर्ण' और 'संकर' को लेना चाहिए, न कि संकीर्ण और निहित स्वार्थी दृष्टि से अन्य आरोपित अर्थ।

शेष कथावस्तु

द्वितीय खण्ड में शोधित मृत्तिका का जल से, छाने हुए जल से, सेचन होता है। रौंदी जाकर माटी लोंदे का आकार ग्रहण करती है। लोंदा चक्र पर चढ़ाया जाता है और घट का आकार ग्रहण करता है। इसके बाद वह तपन में सुखाया जाता है। इस ताप या तप से कुछ विकार और भस्म होते हैं। तपस्या का क्रम तृतीय खण्ड में और उग्र होता है। यहाँ पुण्य का पालन और पाप का प्रक्षालन होता है। कुम्भकार हट जाता है। प्राकृतिक उपसर्गों की बदली, बादल के प्रतीकों से घट की आस्था की गहन परीक्षा की जाती है। आस्था के दृढ़ होने से घट डिगता नहीं। फलतः प्रकृति की कुछ शक्तियाँ बाधक बनती हैं तो कुछ सहायक भी बन जाती हैं। इस तरह उसकी परीक्षा होती है। शिल्पी इस परीक्षा सागर के सन्तरण से प्रसन्न होकर पुनः समीप आ जाता है और उसे छाया देता है। ये सभी विघ्न परीषह और उपसर्ग के अप्रस्तुत विधान हैं। तपस्या की पराकाष्ठा , जिससे माँ धरती का भी दिल दहल उठता है, चतुर्थ खण्ड में आती है। नियम-संयम के सम्मुख यम भी घुटने टेक देता है। नभश्चर और सुरासुर भी हार जाते हैं। तपन से प्रतप्त घट और परिपक्व हो गया है, पर अभी विकार और शेष हैं। अवा की आग उसके काष्ठापन्न तप का प्रतीक है जो सारे विकारों को सुखा डालता है। कषाय निःशेष हो जाता है। यह तप ही विकार दाह में कारण है। कारण को अव्यवहित पूर्व, प्रतिबन्धकरहित और सामग्रय सम्पन्न होना चाहिए, तभी कार्य होता है। तपस्या इन सभी अप्रस्तुतों से समग्र होती है। अब वह पूर्ण पक्व है। उसमें अब (जलधारण की) पात्रता सही अर्थों में आती है। सद्गुरु के चरणों में समर्पण का पूर्ण भाव आ जाता है। 'स्व-भाव' में प्रतिष्ठित हो जाता है और तब उसमें वह अनन्त बल आ जाता है जब अपने उपासक को भी अपने से जोड़ कर भवसरिता पार करा देता है। कहा जा सकता है :

□ *"तैरते-तैरते पा लिया हो/अपार भव-सागर का पार !"* (पृ. २९८)

□ *"यूँ ! कुम्भ ने भावना भायी/सो, 'भावना भव-नाशिनी' !" (पृ. ३०२)*

यहीं प्रतिपाद्य के समाप्त होने से ग्रन्थ को समाप्त हो जाना चाहिए, आगे क्यों ? मैं समझता हूँ कि परिपूर्णता के चार चरण हैं- अधीति, बोध, आचरण और प्रचारण। आगे की कथा प्रचारण– लोक कल्याण है। सम्भव है इसलिए कथा आगे बढ़ाई गई है। अध्यात्म की यह यात्रा वृत्ताकार है। जहाँ से प्रस्थान हुआ था, वहीं वह पहुँचता है, पर परिवेश या भाव वह नहीं है। पहले वह बद्धावस्था में था, अब मुक्तावस्था में है। अब कषाय के न होने से भोग बन्ध का निमित्त नहीं बन रहा है। अब वह मिथ्यादृष्टि नहीं, सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि का भोग नई वासना पैदा नहीं करता। विपरीत इसके वह पूर्व कर्म को शान्त करता है और नूतन पैदा नहीं होने देता। मतलब यह कि सम्यग्दृष्टि का कर्मभोग निर्जरा ही नहीं, संवर का भी कारण बनता है। यह साधक की कर्मभोग से कर्मयोग तक की वृत्तात्मक यात्रा है, पर पहला कर्मभोग मिथ्यादृष्टि का था और दूसरा कर्मभोग सम्यग्दृष्टि का है। बालटी की मछली की यात्रा भी तो ऐसी ही वृत्ताकार यात्रा है। कूप से बालटी द्वारा बाहर आकर पुनः उसी बालटी से उसी कूप जल तक। अन्तर यही है न कि पूर्व भावना और परवर्ती भावना में अन्तर है।

कथावस्तु के दो भेद–आधिकारिक और प्रासंगिक

सम्प्रति, कथावस्तु की अन्य महाकाव्योचित विशेषताओं की ओर भी दृष्टिपात करना है। आधिकारिक कथा का संक्षेप ऊपर दिया जा चुका है। सम्प्रति, प्रासंगिक कथाओं की समीक्षा प्रसंग प्राप्त है। प्रासंगिक कथाओं में 'पताका' का लक्षण चौथे खण्ड में सेठ-प्रसंग पर घटित होता है और पुंखानुपुंख रूप से घटित होने वाली घटनाओं को 'प्रकरी' के अन्तर्गत ही लिया जा सकता है, जैसे कि प्रथम खण्ड की मछली की कथा है। 'प्रासंगिक कथा' का लक्षण 'दशरूपक'कार धनंजय द्वारा इस प्रकार दिया गया है :

"प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः।" (१/१३, पृ.४)

प्रासंगिक कथा वह होती है जो प्रवाह में आई हो मुख्य प्रयोजन की सिद्धि के लिए, परन्तु प्रसंगतः उसका प्रयोजन सम्पन्न हो गया हो। आलोच्य ग्रन्थ में आधिकारिक कथा घट की है। उसी प्रसंग से मछली का भी प्रसंग आ गया है और मुक्ति रूप अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो गया है। सेठ की कथा लम्बी चलती है, अतः उसे पताका कथा कहा जा सकता है। 'दशरूपक'कार ने कहा है :

"सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥" (१/१३, पृ.४)

चौथे खण्ड में अवा से बाहर कुम्भ के आते ही सेठ को स्वप्न आता है कि उसने अपने ही प्रांगण में हाथों में माटी का कुम्भ लिए महासन्त का स्वागत किया है। स्वप्न को धन्यवाद देता हुआ सेठ सेवक को कुम्भकार के पास कुम्भ लाने के लिए भेज देता है। इस प्रकार आधिकारिक कथा से प्रसंगतः सेठ जुड़ जाता है और इस खण्ड के अन्त तक दोनों कथाएँ साथ-साथ चलती हैं। सेठ से कुम्भ को और कुम्भ से सेठ को सार्थकता प्राप्त होती है। कुम्भ का मूल प्रयोजन सेठ से सधता है। अतः उसकी स्थिति स्पष्टतः ही 'परार्थ' है, पर साथ ही प्रसंगतः उसका स्वार्थ भी सिद्ध हो जाता है। कुम्भ उसे भी अपने साथ भव सरिता का सन्तरण करा देता है। एक मुक्त दूसरे को भी मुक्त करा देता है। 'मानस' की आधिकारिक राम कथा में जो स्थान पताका नायक सुग्रीव का है, वही यहाँ सेठ का है।

आलोच्य कृति में प्रासंगिक कथाएँ

प्रथम खण्ड में 'मछली प्रसंग' और तृतीय खण्ड में 'मुक्तावृष्टि प्रसंग' स्वल्पदेशव्यापिनी घटनाएँ हैं। फलतः

इन्हें प्रकरी के अन्तर्गत लिया जा सकता है। यह अवश्य विचारणीय है कि ये दोनों प्रसंग प्रसंगतः प्राप्त तो हैं, पर इनसे आधिकारिक कथा का क्या उपकार हुआ है ? प्रासंगिक कथाओं में तीन शर्तों का निर्वाह होना चाहिए– प्रसंगतः सहज विकास, दूसरे 'परार्थ' और तीसरे 'स्वार्थसिद्धि'। यहाँ प्रसंगतः दोनों घटनाएँ घटती हैं। पहली शर्त स्पष्ट है। जहाँ तक 'परार्थता' अर्थात् नायक घट के प्रयोजन सिद्धि में सहकार का सम्बन्ध है, 'मछली प्रसंग' की घटना पर उतना लागू नहीं होता। एक तो कूप में मछलियों का झुण्ड कदाचित् ही कहीं होता हो, दूसरे अपवाद स्वरूप कहीं हो भी तो इस मछली प्रसंग का घट नायक की आधिकारिक कथा से कोई सीधा उपकारक सम्बन्ध नहीं जुड़ता। एक तो तब तक उपादान माटी का वह पर्याय ही स्व-सत्ता-आसादन नहीं कर सकता है, प्रक्रिया अवश्य चल रही है । मछली का अपना परमार्थ अवश्य सिद्ध हो जाता है। कल्पना की जाय कि यदि यह प्रसंग न भी होता तो घट नायक का मूल या अवान्तर प्रयोजन कहाँ विघटित होता अथवा उससे क्या सहकार मिलता ? ऐसी कथा जिसका आधिकारिक कथा पर किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं होता, असम्बद्ध ही मानी जायगी। अन्वय-व्यतिरेक से भी उसकी हेतुता सिद्ध नहीं होती। प्रबन्ध में ए असम्बद्धता खटकती है। लगता है कि एक सैद्धान्तिक मान्यता का उपस्थापन करने के लोभ में यह प्रसंग थिगली की तरह आधिकारिक कथा में ऊपर से थोप दिया गया है। माटी से जो घट पर्याय रूप में उभरता है उसमें जल तो निमित्त है, पर मछली का योगदान क्या है ? इस प्रकार मछली न तो घट के उभरने में और न ही उसके द्वारा सम्पाद्य मुख्य-गौण प्रयोजनों में अपना कोई योगदान करती है। दूसरा प्रसंग है – मुक्तावृष्टि का। तृतीय खण्ड की यह प्रासंगिक कथा तपोनिष्ठ कुम्भ का परीक्षा प्रसंग है। जड़धी जलधि कुम्भकार की अनुपस्थिति में कुम्भ का अस्तित्व मिटाने के लिए बदलियों को भेजता है, पर प्रभाकर अपने प्रवचन से उनका हृदय परिवर्तन कर देता है। वे पति के प्रतिकूल वचन का तिरस्कार कर जगत्पति प्रभाकर की बात मान लेती हैं और उसे नष्ट करने की जगह उस पर-पक्ष की मुक्ता वर्षा से पूजा करती हुई लौट जाती हैं। बात फैलते-फैलते राजपरिवार तक जाती है। मण्डली अनुपस्थित कुम्भकार के प्रांगण में वृष्ट मुक्ताराशि को बलात् लूटती है। मणियाँ जहरीला प्रभाव पैदा करती हैं और अवसर देखकर कुम्भ व्यंग्य करता है। उपस्थित कुम्भकार–करुणालय कुम्भकार परिस्थिति को सूँघ कर समझ लेता है और तत्काल एक तरफ कुम्भ को उसके बड़बोलेपन पर फटकारता है तथा दूसरी ओर प्रजापति को सम्मान देता है, साथ ही बोरियों में मुक्ता भर कर उसके खजाने को समृद्ध कर देता है। यहाँ जल उपादान है, पर उसके मुक्ता रूप में पर्याय बनने का निमित्त क्या है ? निमित्त है पृथिवी कक्ष में उसका आना। यह चमत्कारी घटना है, कुम्भकार की दिव्य महिमा है। इस घटना से आधिकारिक कथा का यद्यपि उतना घनिष्ठ सम्बन्ध तो नहीं, पर मछली-प्रसंग की तुलना में तो है ही। कुम्भकार कुम्भ को उसके बड़बोलेपन का एहसास कराकर उसे मर्यादा में लाता है और साथ ही अपनी उदारता से उसमें अपने प्रति सद्भाव भी पैदा करता है। ये सभी बातें साक्षात्-असाक्षात् आधिकारिक कथा और मुख्य प्रयोजन से जुड़ जाती हैं। लेकिन इसमें मुक्ता अपना कौन सा स्वार्थ या परमार्थ सिद्ध करता है ? प्रासंगिक कथा की यह भी तो एक शर्त है। प्रासंगिक जब आधिकारिक से जुड़ता है तो इस जोड़ में दोनों का स्वार्थ साधन होता है। मुक्ता प्रसंग जैसे-तैसे परार्थसिद्धि से तो जुड़ता है पर आत्मसिद्धि क्या है ? हाँ, मुक्ता में कहीं मुक्ति की आलंकारिक गन्ध मान ली जाय, तो बात दूसरी है अथवा प्रजापति का भाण्डार समृद्ध करने में ही उसकी सार्थकता है।

कथावस्तु में पंचसन्धियाँ

कथावस्तु में अगली बात जो देखने की होती है वह है उसका पंचसन्धि समन्वित होना। सन्धियाँ पाँच हैं– मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श या अवमर्श और निर्वहण। प्रत्येक सन्धि या खण्ड में एक 'अवस्था' और एक 'अर्थ प्रकृति' होती है। अवस्थाएँ भी पाँच हैं और अर्थ प्रकृतियाँ भी पाँच। आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम – ये

पाँच अवस्थाएँ हैं। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य – ये पाँच अर्थ प्रकृतियाँ हैं। अवस्था और अर्थ प्रकृतियों का संचार करने से पूर्व पहले यह देखना आवश्यक है कि कथावस्तु के ये जोड़ सन्तुलित हैं या नहीं ? वैसे इस सन्दर्भ में यह बात पहले कही जा चुकी है कि कथावस्तु का जितना चुस्त-दुरुस्त विधान दृश्यकाव्य में होता है उतना श्रव्य के भेद महाकाव्य में नहीं होता। उसकी कथावस्तु की योजना अपेक्षाकृत शिथिल होती है। अतः आलोच्य कृति में भी सन्धि योजना शिथिल है। कथावस्तु में उसके विकास की सन्तुलित अवस्थाएँ होनी चाहिए। होता यह है कि कथावस्तु तो घटनाओं और व्यापारों की शृंखला है, जो नायक द्वारा सम्पाद्य होती है। इन व्यापारों का एक लक्ष्य होता है, वह चतुर्वर्ग में से अन्यतम या एकाधिक होता है। प्रस्तुत कृति में स्पष्ट ही 'स्व-भाव' में स्थिति या मोक्षलाभ जैसा चौथा पुरुषार्थ ही परम प्रयोजन है। 'माटी' ग्रन्थारम्भ में ही संकल्प लेती है और माँ धरती से प्रार्थना करती है :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की
च्युति कब होगी ?/बता दो, माँ···इसे !" (पृ. ५)

और अन्त में :

"सृजनशील जीवन का/वर्गातीत अपवर्ग हुआ।" (पृ. ४८३)

संकल्प उसकी पार्यन्तिक परिणति के मध्य सारा व्यापार चलता है। इस व्यापार में 'आरम्भ' अवस्था आती है। यहाँ मात्र औत्सुक्य होता है। औत्सुक्य है - कालाक्षमत्व। प्रयोजन की प्राप्ति के प्रति त्वरा का भाव। 'काया की च्युति कब होगी', के द्वारा वही कालिक व्यवधान की असहिष्णुता व्यक्त होती है। 'दशरूपक'कार कहता है :

"औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे ॥" (१/२०)

तदनन्तर फलाभाव नायक को अतित्वरापूर्वक व्यापारशील, प्रयत्नशील बना देता है। 'माटी' का पर्याय घट शिल्पी की कृपा से सत्तासादन में जुट जाता है और तीसरे क्या चौथे खण्ड के आरम्भ तक उसे पूर्ण रूप से जलधारण रूप अर्हता की प्राप्ति के लायक बनने में चला जाता है। ऊपर से लगता है कि नायक अपने परिपक्व और परिणत रूप में चौथे खण्ड में आता है, जो समापन खण्ड है। मतलब प्रयत्नावस्था ही यहाँ तक आती है, पर अन्यापदेशी पद्धति पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट होता है कि जीव द्वारा तपःसाधना पूर्वक बनने की प्रक्रिया का शुभारम्भ पहले ही खण्ड से आरम्भ हो जाता है, प्रयत्न का विन्यास वहीं हो जाता है। दूसरे खण्ड से 'प्रयत्न' के साथ, उपाय के साथ अपायों का भी आना आरम्भ हो जाता है। अपाय का वेग उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। जल और अनल के हृदयवेधी आँधी-तूफान, जो उपसर्ग और परीषहों के प्रतीक हैं, अपनी काष्ठापन्न स्थिति में आते हैं और साधक का प्रतीक कुम्भ उसमें दृढ़तापूर्वक अटल है और परिणत तथा परिपक्व हो जाता है। लगता है कि अब गला-तब गला, किन्तु पुरुषार्थी को किसी न किसी का अवलम्ब मिल जाता है। अपायों की आँधी में बीज 'गर्भस्थ' हो-होकर 'विमर्श' करता हुआ संकल्पित के 'निर्वहण' के तट पर आ लगता है। उपाय और अपाय का यह लम्बा संघर्ष प्रायः अन्त तक चलता रहता है और 'विमर्श' तथा 'निर्वहण' के लिए आनुपातिक दृष्टि से जो आयाम मिलना चाहिए, वह नहीं मिल पाता। इसे असन्तुलन कहें अथवा शान्त पर्यवसायी आध्यात्मिक यात्रा की गुरुता कहें, जहाँ उपेयदशा की अपेक्षा उपायों का ही वर्णन होता है।

संवाद योजना

यद्यपि ऊपर दिए गए महाकाव्य के पारम्परिक साँचे में स्पष्ट रूप से 'संवाद' जैसे घटक का उल्लेख नहीं है, तथापि यहाँ इस शीर्षक से विचार करने के पीछे दो कारण हैं–एक तो यह कि प्रस्तुत कृति संवाद-प्रचुर है और दूसरे यह

कि महाकाव्य में संवाद होते ही हैं। कारण, इन संवादों से दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं – पहला यह कि उससे कथा का विकास होता है और दूसरा यह कि उससे वक्ता या पात्र का चरित्रगत वैशिष्ट्य उद्घाटित होता है। कुम्भकार और वीतराग साधु को छोड़कर अन्य पात्र या तो मानवीकृत हैं अथवा मानव के प्रतीक हैं। सामान्यतः 'संवाद' दृश्यकाव्य की विशेषता माने जाते हैं, पर श्रव्यकाव्य में भी इनका अस्तित्व होता है। अन्तर यह होता है कि दृश्यकाव्य में पात्र-नाम-निर्देश अलग रहता है और संवाद अलग। श्रव्यकाव्य में छन्दोबद्ध काव्य प्रवाह के भीतर ही पात्र नाम का अनुप्रवेश रहता है। दूसरा अन्तर यह होता है कि दृश्यकाव्य जिस सर्जनात्मक अनुभूति का रूपान्तर होता है 'रंग-चेतना' उसका अविभाज्य अंग होती है। श्रव्यकाव्य जिस सर्जनात्मक अनुभूति का रूपान्तर होता है उसमें रंग-चेतना नहीं होती। यहाँ हम श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत 'संवाद योजना' पर विचार कर रहे हैं।

आलोच्य काव्य की विशेषता यह है कि इसमें घटना व्यापार जितना है उससे कहीं अधिक संवाद योजना है और उसका कारण 'मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन' की चेतना है। सिद्धान्त घटनाओं और व्यापारों की तह में रहकर व्यंजित होते तो वह पद्धति अधिक काव्योचित होती, अपेक्षाकृत दो पात्रों के बीच अभिधा स्तरीय कथोपकथन के। पर शास्त्रकाव्य में तो यह वैशिष्ट्य होगा। रचयिता का प्रातिभ संरम्भ बार-बार इस उद्घाटन की ओर आता जायगा।

संवादों की विशिष्टता

संवादों की विशिष्टता और उपयोगिता के निकष स्वरूप निम्नलिखित बिन्दुओं को दृष्टिगत किया जाना उचित है :

१. वह कथा धारा के विकास में कहाँ तक सहायक है ?
२. वह अपने सम्प्रेष्य भाव और विचार में कितना सटीक और सक्षम है ?
३. उससे वक्ता के चरित्र का वैशिष्ट्य कैसा उभरता है ?
४. सैद्धान्तिक मान्यताओं के उद्घाटन में कितनी दूर तक खींचा गया है ? इस प्रवृत्ति से काव्यत्व बाधित और कथाधारा व्यवहित तो नहीं होती ?

आलोच्य कृति में सेठ विषयक पताका कथा से पूर्व कथावस्तु बहुत स्वल्प है और उसकी गति काफी धीमी है। इन साढ़े तीन खण्डों में माटी से कंकर को अलग करना, जल का छाना जाना, जल और मिट्टी का मिलाव, रौंद कर लोंदा बनाना और चक्र पर चढ़ा कर कुम्भाकार परिणाम पैदा करना, तपन के ताप से जलीय अंश का सुखाना, फिर भी अवशिष्ट मल और दोषों का अग्नि द्वारा दाहन और तब उसकी परिपक्व परिणति–इतनी ही कथावस्तु या आधिकारिक कथावस्तु है। अवशिष्ट भाग में कथा की गति तेजी पकड़ती है। एकालाप, संवाद और लेखनी के स्वर ज्यादा मुखर हैं। यह सही है कि सपाट घटना-व्यापार के प्रचुर उपस्थापन में जितनी शक्ति लगती है उससे कहीं अधिक उद्भावन क्षमता और उर्वर कल्पना की अपेक्षा इनमें है। जहाँ कुछ नहीं है वहाँ भी अपेक्षा से ज्यादा निकाल लिया गया है। संवादों की संख्या सौ तक पहुँच गई है और अब तक के काव्य में जिस तरह के वक्ता-श्रोता कभी नहीं आ पाए, वैसे वक्ता-श्रोताओं की बाढ़ है। वक्ता श्रोता का ताँता कम पड़ता देख लेखनी स्वयं बोलने लगती है। इससे काव्यत्व बाधित हो या न हो, कथाधारा अवश्य व्यवहित हो जाती है। उदाहरणार्थ, द्वितीय खण्ड में पृ. ११३ में आरब्ध रौंदन क्रिया तीस पृष्ठों तक प्रसंगान्तर से व्यवहित होकर पुनः पृ.१६० में याद आती है। वैसे ऐसा नहीं है कि संवाद कथाधारा के विकास में योग न देते हों,देते हैं; अवश्य देते हैं। आलोच्य कृति की कथा का शुभारम्भ ही, आरम्भिक वर्णन छोड़ दें तो, संवाद से ही होता है–सरिता-तट की माटी और माता धरती के संवाद से। दोनों के बीच संवाद का क्रम चलता रहता है और यह चलता है काफी दूर तक। कहाँ तक कहा जाय, ये सारे खण्ड संवादों से भरे पड़े हैं।

भाव और विचार के सक्षम संवाहक संवाद

संवादों में कहीं भावोद्गार हैं, कहीं वैचारिक अभिव्यक्ति है और कहीं घटना-सूत्र का संकेत। सरिता तट की माटी का आरम्भिक उद्गार कितनी करुणा लिए हुए है? कितनी दयनीयता है उसमें कि माता का हृदय पसीज जाता है और वह उसी स्तर से उद्बोधन देती है। माटी मुँह नहीं खोलती, हृदय खोलती है, इसीलिए उसका मर्मभेदी प्रभाव पड़ता है। यह बहिरात्मा का नहीं, अन्तरात्मा का उद्गार है। किसी भी स्थिति का जितनी ही गहराई से एहसास होता है कविता उतनी ही प्रभावकारी और बलवती होती है। माटी को वैभाविक बन्धजन्य वेदना का जिस गहराई से एहसास है, उसके वर्ण-वर्ण और उनसे घटित पद तथा वाक्य बोलते हैं। प्रायः कहा जाता है कि भाव की व्यंजक सामग्री का नियोजन होना चाहिए, न कि उसके वाचक शब्द का। इससे तो 'स्वशब्द-वाच्यत्व' दोष आ जाता है - देखें :

"यातनायें पीड़ायें ये !/कितनी तरह की वेदनायें/कितनी और···आगे
कब तक···पता नहीं/इनका छोर है या नहीं !" (पृ. ४)

परन्तु जब वेदना अन्त - इयत्ताहीन हो तब अनुभविता बहुत लम्बा व्यंजक वक्तव्य नहीं दे सकता, अन्यथा कालिदास का कण्व शकुन्तला की भावी विदाई का गहराई से एहसास करता हुए अभिव्यक्ति के शिखर पर 'वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः' कहकर मौन का पथ न पकड़ता। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'शोक' का लक्षण देते हुए कहा है-"पुत्रादिवियोगमरणादिजन्मा वैक्लव्याख्याश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः" – अर्थात् वैक्लव्य नामक चित्तवृत्ति ही शोक है। इष्ट के नाश, इष्ट की अप्राप्ति और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण का आविर्भाव होता है, व्यंजना होती है। पण्डितराज कहते हैं कि पुत्र प्रभृति इष्टजनों के वियोग अथवा मरण आदि से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता ही शोक है। माटी भी इष्ट की अप्राप्ति तथा अनिष्ट की प्राप्ति से विकलता का गहराई से अनुभव करती है, अतः उसे शोकसंविग्न कहा जा रहा है। उसमें शोक ही नहीं है, निर्वेद भी है। निर्वेद 'नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा' विषय-वैराग्य का ही दूसरा नाम है। उसकी वेदना की तह में वैराग्य भी मुखर है। निष्कर्ष यह कि जब वक्ता का अन्तस् भावों की निरवधि परम्परा से भर उठता है तब कालिदास की तरह उसी भाव को स्वशब्द वाच्य करके ही राहत पाता है, कहाँ तक उसका व्यंजन करें ? माटी व्यवहार के प्रति सुप्त है और आत्मा के विषय में जागरूक है। श्रीमद् देवनन्दी-पूज्यपाद स्वामी ने 'समाधितन्त्र' में ठीक ही कहा है :

"व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे" ॥७८॥

इस प्रकार विभिन्न मानस भावों की संवादों द्वारा सशक्त व्यंजना की गई है। सन्त के संसर्ग में आकर आतंकवादी हृदय तक बदल जाता है और कहता है :

"समग्र संसार ही/दुःख से भरपूर है,/यहाँ सुख है, पर वैषयिक
और वह भी क्षणिक !" (पृ. ४८५)

इसमें भी नित्यानित्यविवेकजन्मा वैराग्य का भाव मुखर है। संवादों में भावजगत् भी लहराता है और विवेक तथा तत्प्रसूत मान्यताएँ तो मुखर हुई ही हैं। सन्त सद्गुरु अपनी प्रकृति और सम्बोध्य मुमुक्षु को दृष्टिगत कर निर्णीत मान्यता व्यक्त करते हैं :

"दूसरी बात यह है कि/बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का
आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।" (पृ. ४८६)

शान्त रस में निमग्न सन्त के इस तरह के संवाद मान्यताओं से आमूल-चूल बिखरे पड़े हैं। कहीं से भी उठाकर देखा जा सकता है।

संवादों द्वारा चरित्रगत वैशिष्ट्य का उद्घाटन

अगली बात जो संवादों के विषय में द्रष्टव्य है वह यह कि इन संवादों से वक्ता पात्र की चरित्रगत विशिष्टताएँ किस सीमा तक मुखर हैं ? इसमें सागर, स्वर्ण कलश और आतंकवाद के खलनायक भी बोलते हैं और धरती, सद्गुरु शिल्पी तथा वीतराग साधु भी बोलते हैं, कवि की लेखनी भी बोलती है। एक शब्द में कहूँ तो क्या नहीं बोलता है—सुनने और ग्रहण करने की शक्तियाँ जागरूक हों तो सभी कुछ न कुछ कहते हैं। बहिरात्मा को अपने अनुकूल और अन्तरात्मा को अपने अनुकूल विश्ववीणा से निर्गत ध्वनि श्रुतिगोचर होती है। अपनी-अपनी प्रकृतिगत विशेषता के कारण जैसा सुनते और ग्रहण करते हैं वैसा ही बोलते भी हैं। सागर, स्वर्ण कलश और आतंकवाद के संवादों में उनकी रौद्रवृत्ति, निर्ममता, अत्याचार परायणता, निःसीम क्रूरता—सभी विशिष्टताएँ उभर आती हैं। कहीं से भी इनके उद्धरण लिए जा सकते हैं। विपरीत इसके मुमुक्षु घट और परिग्रहमुक्त सद्गुरु के भी अहिंसापरक शान्तिदायक वचन सुनने को मिलते हैं। कुम्भकार के प्रांगण में बादल से गिरे मुक्ता को लोभवश बटोरने वाले राजा और राजमण्डली को मुमुक्षु घट का व्यंग्यपूर्ण वचन और अनुद्वेजक तथा मर्यादोचित शिल्पी के वचन—दोनों की प्रकृतिगत विशेषताओं को व्यंजित करते हैं। एक बनने की प्रक्रिया में है, अतः अन्याय का प्रतिकार व्यंग्य वचन से करता है जबकि दूसरा अपनी परम शान्त वृत्ति के छींटे डाल कर दोनों को पथ दिखाता है। उदाहरणों से निबन्ध का कलेवर तुन्दिल हो जायगा, अतः विरत रहना ही उचित है। जिज्ञासु पाठक मूल में ही उन पंक्तियों को देखें। संवाद भीगे भावों की अभिव्यंजना है, शास्त्रसम्मत मान्यताओं के प्रकाशक तो हैं ही। संवाद ही नहीं प्रभाकर के लम्बे-लम्बे 'प्रवचन' भी हैं।

वर्णनतत्त्व

महाकाव्य के पारम्परिक साँचे में अगला तत्त्व 'वर्णन' है। 'वर्णन' और 'संवाद' महाकाव्य में व्याप्त भावधारा या संवेदना को उभारने में सहायक होते हैं। इसमें केवल संवाद, एकालाप, स्वगत और प्रवचन ही नहीं हैं, जिनसे मात्र सैद्धान्तिक मान्यताएँ रखी गई हों। ऐसा तब होता जब वह केवल 'शास्त्र' लिखते। रचयिता को इस बात या संकल्प का ध्यान है कि वह काव्य या प्रबन्ध काव्य दे रहा है, फलतः विचार की आँच में परिपक्व भावना, सन्तुलित कल्पना और विवेक परिचालित वर्णनतत्त्व का भी उसने ध्यान रखा है और अच्छा रखा है।

वर्णनाएँ

कृति के चारों खण्डों में रमणीय वर्णनाएँ हैं। प्रकृति वर्णन में प्रातः, सायं, रात्रि का, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म का, सागर, प्रभाकर, सुधाकर का, धरती, नारी, साधक और सन्त का, तपःप्रक्रिया और स्वप्न का, पात्र (सेठ) मुद्रा और माटी का तो मनोहर, चित्तावर्जक तथा ललित वर्णन है ही, सत् और असत् के पक्षधर और विपक्षियों का लोमहर्षक तथा भयावह संघर्ष भी वर्णित है। निष्कर्ष यह कि ये वर्णन काव्य को भावोद्दीपन की पीठिका प्रदान करते हैं जिससे काव्य की मूलभूत उपादान संवेदना रूपान्तरित होती है। एक रचयिता को यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि काव्य संवेदना का रूपान्तरण होता है। वर्णन भी सपाट वर्णन नहीं है, भावना और कल्पना की रंगीनी लिए हुए इन्द्रधनुषी है। रचयिता जिसका जैसा भावदीप्त रूप प्रस्तुत करना चाहता है, वैसा वर्णन करता है—मृदु और कोमल भी, भयावह और कर्कश भी, चित्ताकर्षक और रमणीय भी और क्षोभकर और उद्वेजक भी, साथ ही आलम्बन चेतन का भी और

उद्दीपन अचेतन का भी। जीवन और संसार के कलात्मक उद्रेखण में दोनों का ही प्रसंग आता है।

प्रातःकाल और सरिता वर्णन

ग्रन्थारम्भ में प्रातःकाल और सरिता के ही वर्णन को लें। भावना और कल्पना की रंगीनी काव्योचित आकर्षण पैदा करती है। रचयिता कलाकार भी है और सन्त भी है। उसे इस बात का ध्यान है कि सांसारिक उद्वेग, व्यथा, वेदना और वैराग्य की माटीगत भावना के उद्दीपक रूप में प्रकृति सहायिका होकर पीठिका प्रस्तुत करे। ऊपर-नीचे चतुर्दिक् नीरवता छाई हुई है, ऐसे में साधक का मन शान्त रहता है। माया का ब्राह्म प्रहर है। उषा अपनी तरुणिमा में है। भानु और प्राची का दृश्य बिम्बविधान अनुभवैकगम्य है। यह कथन समासोक्ति के आलंकारिक आवरण में है। प्रस्तुत तन्द्रिल भानु की अरुणिम परिवेश में उदयोन्मुखता है और अप्रस्तुत माँ की मार्दव-निर्भर-गोद में लाल चादर ओढ़े जागरणोन्मुख तन्द्रिल शिशु की अँगड़ाई। इसी प्रकार प्रस्तुत है अरुणिम प्राची पर अप्रस्तुत है सिन्दूर-निर्भर-सीमन्त वाली गदराई सिंदूरी आभा की खुले माथ वाली तरुणी। इन अप्रस्तुत योजनाओं से लिपटी प्रकृति कितनी मनोरम है! उधर निमीलनोन्मुख कुमुदिनी और सामने आता प्रभाकर और अप्रस्तुत रूप में उस बिम्ब की कल्पना करें जहाँ निर्लज्ज परपुरुष के कर-स्पर्श के भय से अपने में सिमटती कुलीना स्त्री परिदृश्य से ओझल होते हुए पति के प्रति उभरी हुई सराग-मुद्रा और अंग पर छिटके राजस पराग को ढँक रही हो। कमलिनी भी अर्धोन्मीलित है, जहाँ अप्रस्तुत यह कि वह कुमुदिनी परपुरुष की दर्शनीया प्रभा को भी नहीं देखना चाहती। इस पर अर्थान्तरन्यास यह कि ईर्ष्या पर कौन विजयी बन सका है, वह भी जीव के स्त्री पर्याय में? यह तो अनहोनी है। यहाँ तिल-तुण्डलवत् दोनों अलंकरों की 'संसृष्टि' है, न कि सन्देह संकर, अंगांगिभाव संकर अथवा एकव्यंजकानुप्रवेश संकर। रात्रि का यह आलंकारिक लिबास कितना मनोहर है। यह सन्धि बेला है! तारापति चन्द्र का अनुगमन तारिकाएँ कर रही हैं, उन्हें शंका है कि परपुरुष दिवाकर कहीं देख न ले। प्रातःकालीन मलयानिल मचल उठा है, गन्धवह गन्ध बिखेर रहा है। आत्मचेता माटी कुछ रहस्य, कुछ एकान्त व्यथा अपनी माँ से कहना चाहती है और परिवेश उसे अनुकूल लग रहा है :

"पर की नासा तक/इस गोपनीय वार्ता की गन्ध/···जा नहीं सकती!"(पृ.३)

बगल में सरिता प्रवाहित है, पर वह अपनी धुन में गुनगुनाती अपने पति सागर की ओर गतिशील है। इस समय न निशाकर है न निशा, न दिवाकर है न दिवा और दिशाएँ भी अन्धी हैं। रहस्यवार्ता और एकान्त व्यथा के निवेदन के निमित्त इससे अधिक उपयुक्त परिवेश क्या हो सकता है? अप्रस्तुत में प्राची की शृंगारिक मुद्रा का ऐसे में भाना थोड़ा अवश्य खटकता है, पर रचनाकार रचनाकार भी होता है, सन्त तो है ही।

प्रकृति और सरिता का पुनः वर्णन

माटी की उद्दिष्ट महायात्रा के आरम्भिक क्षण में किया गया प्रकृति और सरिता का वर्णन कुछ ऐसा है जैसे वे सभी माटी का स्वागत कर रहे हों। प्रभात अपनी बहिन रात्रि को माटी के अभ्युदय से प्रसन्न होकर हर्षातिरेक से उपहार के रूप में कोमल कोपलों की हलकी आभा घुली हरिताभ की साड़ी देता है और इसे पहन कर जाती हुई वह अपने भाई प्रभात को सम्मानित करती है। इधर सरिता तट की ओर आती उन रजताभ लहरियों से, जो फूलों की अनगिन मालाओं का उपहास कर रही हों, माटी का चरण चूमती है। हँसमुख कलशी में फेन के ब्याज से मानो दधि लेकर सरिता तट खड़ा है। तृण बिन्दुओं के ब्याज से धरती के हृदय में माटी के लिए मानो करुणा उमड़ रही है और उसके अंग-अंग अपूर्व हर्ष-निर्भर-पुलक से नाच उठे हों। चारों तरफ उल्लास और प्रकाश है, रोष प्रशान्त है, दोष का ह्रास और गुणों के कोष का उदय है। यात्रा का सूत्रपात है न! इसलिए प्रकृति भी चारों ओर प्रसन्न और पुलकित-सी नज़र आ रही है।

शिल्पी स्वरूप वर्णन

माटी में जिस घट का परिणाम होता है, शिल्पन होना है, तदर्थ सन्त सद्गुरु मूर्तिमान् शान्तरस आता दृष्टिगोचर हो रहा है। रचयिता उसका नितान्त सन्तोचित रूप प्रस्तुत करता है। 'शिशुपालवध' में माघ कवि ने जिस प्रकार नारद का वर्णन किया है ठीक उसी रौ में प्रस्तुत रचयिता भी शिल्पी कुम्भकार का शनैः-शनैः अपनी आकृति में स्फुट-स्फुटतर उभरता हुआ समीप-समीपतर आता नज़र आ रहा है। उसमें अनन्य भाव और चाव भरे हुए हैं। उसके विशाल भाल पर, जो भाग्य का भण्डार है, कभी तनाव नज़र नहीं आता। उसमें कोई विकल्प नहीं है, विपरीत इसके दृढ़ संकल्प है। अर्थहीन जल्पना ज़रा भी नहीं रुचती उसे। वह एक कुशल शिल्पी है जो माटी में, माटी के कण-कण में निहित तमाम सम्भावनाओं को मूर्त रूप प्रदान करता है। वह अर्थ का अपव्यय तो क्या व्यय भी नहीं करता। यह शिल्प शिल्पी को अर्थ के बिना अर्थवान् बना देता है। इसने अपनी संस्कृति में कभी विकृति नहीं आने दी। इसके शिल्प में अब तक कोई दाग नहीं लगा। इसका नाम है – कुम्भकार, जो नितान्त सार्थक है, कारण, यह 'कुं'- धरती का 'भ'- भाग्य-विधाता है। कर्तव्यबुद्धि से सत्कार्य के प्रति जुड़े हुए इस शिल्पी में अज्ञान प्रसूत कर्तृत्वबोध का अहंकार नहीं है। वह शिल्प आरम्भ करता है। आगे रचयिता इस शिल्पन का इतिवृत्तात्मक वर्णन करता है।

शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म वर्णन

आलोच्य कृति के द्वितीय खण्ड में शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म के भी वर्णन आए हैं। प्रसंग शिल्पन का चल रहा है जहाँ शिशिर से आरम्भ कर ग्रीष्म तक का वर्णन है। शिशिर के प्रतिकूल ठण्डक का परिवेश शिल्पी की निर्माणोपयोगी एकतानता को भंग नहीं करता, न ही शिल्पी शिशिर की ठण्डक का प्रतिरोध करता है। वस्तुतः दोनों की प्रकृति ठण्डी है, अतः संवाद है। शिशिर और तपन के बीच हेमन्त और वसन्त दब गए हैं - हेमन्त तो बिल्कुल ही, वसन्त का नाम भर है। ग्रीष्म या तपन की भयावहता और भीषणता का 'समुचितललितसन्निवेशनचारु' काव्यभाषा में प्रभावी वर्णन रेखांकनीय है। एक उदाहरण लें :

> *"कभी कराल काला राहू/प्रभा-पुंज भानु को भी/पूरा निगलता हुआ दिखा,*
> *कभी-कभार भानु भी वह/अनल उगलता हुआ दिखा।/जिस उगलन में*
> *पेड़-पौधे पर्वत-पाषाण/पूरा निखिल पाताल तल तक*
> *पिघलता गलता हुआ दिखा।" (पृ. १८२)*

इस तरह लम्बा वर्णन प्रसंगोचित ढंग से चलता है। इस दृश्य में ग्रीष्म का प्रचण्ड रूप मूर्त हो गया है। यदि यहाँ की संघटना सामासिक तथा वर्ण संयुक्त और महाप्राण होते तो प्रभाव और बढ़ जाता, ओजस्वी वर्ण्य की प्रकृति के अनुरूप होता।

अन्तिम दो खण्डों के वर्णन प्रसंग

तृतीय और चतुर्थ खण्डों में वर्णनों की प्रचुरता है। वहाँ प्रसंगगत सूर्य, सागर और सुधाकर, बदली, घन, पवन के साथ धरती और नारी की महिमा प्रसंगोचित रूप में वर्णित है। इसी प्रकार चतुर्थ खण्ड में भी घट की तपस्या, अतिथि का सात्त्विक स्वरूप तथा सेठ की गमन मुद्रा का अत्यन्त जीवन्त और प्रभावी वर्णन है। आलोच्य कृति के इन अन्तिम दो खण्डों में रचयिता की प्रतिभा का संरम्भ घट की तपस्या और तपोयात्रा का संघर्ष वर्णित है, जहाँ सत् और असत् पक्षधर प्रतीकों का प्रभावी और तुमुल युद्ध है। अन्ततः असत् पक्ष पर सत् की विजय दिखाई गई है, असत् के पक्षधरों का भी हृदय परिवर्तित हुआ है और आतंकवादी का हृदय भी विभाव से स्वभाव की ओर मुड़ना चाहता है। निष्कर्ष यह कि रचयिता वर्णनों से कृति में प्रतिपाद्य अंगी शान्त रस का प्रभाव मूर्त करने में भरपूर सहयोग प्रदान करता है। इस वर्णन से पाठक को यह शिक्षा मिलती है कि 'रामादिवत् वर्तितव्यम् न रावणादिवत्' – सन्त और सिद्ध घट की तरह व्यवहार

करना चाहिए न कि असाधु और असन्त स्वर्ण कलश और आतंकवादियों की तरह। इस संघर्ष वर्णन से दूसरी शिक्षा यह भी मिलती है कि नियति के बावजूद पुरुषार्थी साधक के दृढ़ संकल्प और पौरुष को देखकर दिव्य शक्तियाँ भी सहायक हो जाती हैं। कहा ही गया है : "न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः" – देवता भी सहायता का हाथ पुरुषार्थी की ओर तभी बढ़ाते हैं जब वे देखते हैं कि पुरुषार्थी साधक पुरुषार्थ करते-करते श्रान्त हो उठा है, पर अपने संकल्प और कर्तव्य लभ्य-प्राप्य पर अडिग है।

पात्र-नायक और चरित्र : पारम्परिक साँचे में धीरोदात्त नायक

महाकाव्य के लिए पारम्परिक साँचे में अगला तत्त्व जो अपेक्षित है वह है एक या अनेक लोक प्रसिद्ध, इतिहास प्रसिद्ध या पुराण प्रसिद्ध धीरोदात्त नायक। यह बात आरम्भ में कही जा चुकी है कि शायर - सिंह और सपूत लीक छोड़कर चलते हैं, पर पारम्परिक विरासत और सांस्कृतिक रिक्थ का निर्वाह करते हैं। नायक पौराणिक या ऐतिहासिक हो या न हो, महासत्ता अंशी धरती के अंश माटी का वह पर्याय अवश्य है, अन्तरात्मा जीव का प्रतिनिधि (घट) है। यह घट अनन्त सम्भावनाओं और अपरिमेय गुणों का आगार है। यह 'धीर शान्त' नायक है।

धीरोदात्त की सम्भावना

जब अंगी शान्त है तब उसका आश्रय शमप्रधान ही होगा, धीर शान्त ही होगा, न कि क्षत्रिय कुलोद्भूत प्रख्यात वंश का धीरोदात्त। यह तब होता जब अंगी वीर या शृंगार जैसा रस होता। वीर में लौकिक विजिगीषा होती है, शृंगारी में लौकिक राग। अथवा धीर शान्त की जगह 'धीरोदात्त' भी कहें तो क्या आपत्ति है ? 'नागानन्द' नाटक का नायक जीमूतवाहन धीरोदात्त ही तो है। यह सही है कि 'औदात्त्य' सर्वोत्कृष्ट वृत्ति का ही दूसरा नाम है जो विजिगीषुता के चलते ही सम्भव है। परमार्थ का साधक सन्त तो शमप्रधान होने से उससे उदासीन और 'निर्जिगीषु' ही प्रतीत होता है। यह तथ्य आलोच्य कृति से स्पष्ट है। वह आतंकवादियों से संघर्ष नहीं कर रहा है अपितु सेठ परिवार को यही परामर्श दे रहा है कि ये असत् पक्ष के प्रतिनिधि आतंकवादी षड्यन्त्र से उपद्रव करना चाहते हैं, अतः इनके घेरे से निकल भागना चाहिए। देखिए :

> *"कुम्भ ने कहा सेठ से कि/"तुरन्त परिवार सहित*
> *यहाँ से निकलना है,/विलम्ब घातक हो सकता है" ।" (पृ. ४२२)*

असत् पक्ष के मूर्तिमान् विघ्न का प्रतीक स्वर्ण कलश ललकारता है :

> *"एक को भी नहीं छोड़ूँ,/तुम्हारे ऊपर दया की वर्षा*
> *सम्भव नहीं अब,/प्रलय-काल का दर्शन/तुम्हें करना है अभी।" (पृ. ४२१)*

उत्तरपक्ष : सपूर्वपक्ष–धीरोदात्त का

इसका संकेत झारी ने माटी के कुम्भ को दिया और कुम्भ ने परिवार को मौन संकेत दिया। सब भाग निकले। क्या यह 'औदात्त्य' है, विजिगीषुता है ? और नहीं है तो 'घट' नायक 'धीरोदात्त' कैसे ? यह तो शमप्रधान होने से परम -कारुणिक और वीतराग है, इसलिए धीरशान्त ही प्रतीत होता है। इन सबका समाधान यह है कि यद्यपि औदात्त्य सर्वोत्कृष्ट होकर रहने की वृत्ति का ही दूसरा नाम है, और वह विजिगीषुता है, तो वह भी नायक घट में विद्यमान है। विजिगीषु वह भी है जो शौर्य, त्याग, दया, दान, उपकार आदि सात्त्विक गुणों से दूसरों से आगे बढ़ जाता है। विजिगीषु केवल वही नहीं है जो परापकार पूर्वक परकीय अर्थग्रहण आदि में प्रवृत्त होता है। औदात्त्य की इस अवधारणा से तो मार्गदूषक भी धीरोदात्त हो जायगा। राम आदि को भी भूमिलाभ या राज्यलाभ हुआ है परन्तु उनका मुख्य लक्ष्य है – लोक

- मंगल। इस निमित्त वह रावण जैसे दुष्ट का निग्रह करते हैं। उन्हें भूमिलाभ या राज्यलाभ या पत्नीलाभ तो आनुषंगिक प्राप्ति है।

धीरशान्त का सैद्धान्तिक पक्ष

घट जिस सन्त अन्तरात्मा या परमात्मा का अब प्रतीक बन चुका है, वह तो अपना सब कुछ दाँव पर लगा कर समर्पणशील सेठ परिवार की रक्षा अर्थात् लोक मंगल में परायण है। इस प्रकार तो वह सम्पूर्ण विश्व का ही अतिक्रमण कर रहा है। वह अन्तरात्मा या परमात्मा बन जाने पर विषय सुख में पराङ्मुख है। समस्त दुःखों के हेतुभूत वैषयिक सुख सम्बन्धी समस्त प्रकार की तृष्णा में निरभिलाष है, अतः उसने तो सभी को जीत लिया है। इससे बड़ा औदात्त्य क्या होगा ? इस पर से भी कहा जा सकता है कि आलोच्य कृति में शान्त अंगी है, जिसका स्थायी भाव 'शम' है और 'शम' 'समस्ततृष्णाक्षयसुखात्मा' है। परसंसर्गज विकारों के क्षय से आत्मभाव में प्रतिष्ठित घट स्वभाव सुख-लाभ कर रहा है, अतः हर तरह से इसे 'शान्त' ही माना जाना चाहिए, तो इससे भी क्षति क्या है ? वास्तव में महाकाव्य का धीरोदात्त कम से कम शान्तरस प्रधान कृति में धीरशान्त का भी उपलक्षण है। यह नाट्य कृति नहीं है, यह श्रव्यकाव्य है। यहाँ जब 'शान्त' रस का होना पारम्परिक साँचे में विहित है तब उसके स्थायी भाव 'शम' का आश्रय 'धीरशान्त' का नायक होना भी मौन विधान ही है। निष्कर्ष यह कि यहाँ प्रतीक घट ही नायक है और वह धीर शान्त ही है। सम्पूर्ण कृति ही इसमें साक्षी है, तर्क और प्रमाण प्रस्तुत करने की अलग से कोई आवश्यकता नहीं है। वह इतना दृढ़ निश्चय है कि विघ्न और बाधाओं से आक्रान्त सेठ परिवार के उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है जिसमें नदी सन्तरण न कर वापस हो जाने की बात कही जा रही है। उसकी श्रद्धा, विश्वास, ज्ञान और चारित्र सभी मिलकर मुक्ति का मार्ग खोलते हैं। वह संघर्ष परायण, दृढ़ाध्यवसायी, अतिगम्भीर, महासत्त्व, अविकत्थन तथा दृढ़व्रत है। कृतिकार ने चतुर्थ खण्ड में वर्णित संघर्ष के दौरान उसकी चरित्रगत तमाम विशेषताओं का मुक्तकण्ठ अनावरण किया है। उसके दृढ़व्रत और अनुरूप व्यवसाय को देखकर विश्व की सभी अनुकूल तो अनुकूल, प्रतिकूल शक्तियाँ भी समर्पित हो जाती हैं। इस पर भी विनयी इतना कि वह कुम्भकार की ओर, कुम्भकार वीतराग साधु की ओर इंगित करते हैं कि इस सारी सफलता का श्रेय उन्हें है। उनका अभय और वरद हस्त उठा हुआ है।

नायक-नायिका की अन्यथा कल्पना

कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ कुम्भकार में 'पुंस्त्व' और 'माटी' 'स्त्रीत्व' है और गर्भस्थ घट को बाहर निकालने का श्रेय कुम्भकार को है, अतः कुम्भकार को नायक तथा माटी को नायिका माना जाना चाहिए। यह पक्ष सुचिन्तित नहीं है। एक तो घट माटी से पृथक् नहीं, उसी का पर्याय है। कृतिकार को अभीष्ट भी यही है। दूसरे नायक वह होता है जो फलभोक्ता हो। मोक्षरूपी चतुर्थ पुरुषार्थ लक्ष्य है, फल है। इसे तपोनिष्ठ घट प्राप्त करता है, उपसर्गों और परीषहों का सामना उसे करना पड़ता है, इसलिए वही नायक है। कहा गया है : "फलभोक्ता तु नायकः।" दूसरे वह स्वयं फल भोक्ता बनकर नहीं रह जाता, सेठ परिवार को भी भव सरिता से पार उतार देता है। स्वयं तो अधीति, बोध और शोध करता ही है उसका लोक में, जिसका प्रतीक सेठ परिवार है, प्रचारण भी करता है। इस प्रकार स्वभाव स्थित घट चतुष्पाद प्रतिष्ठित है। मानव की सम्भावना जिन चार पादों पर स्थित होकर उपलब्धि बनती है, वे हैं—वे पूर्वोक्त—अधीति, बोध, आचरण और प्रचारण। जैन प्रस्थान का आदर्श यही है। केवली से तीर्थंकर इसी माने में उच्चतर हैं कि एक आत्मकल्याण कर चुके हैं और दूसरे आत्मकल्याण करते हुए लोककल्याण भी करते हैं। सेवाभाव शुद्ध भावना है। निष्कर्ष यह कि कृति का नायक आचरण सम्पन्न प्रचारणरत सन्त का प्रतीक घट ही है। मार्ग से होकर मंजिल तक पहुँचा हुआ घट ही है जो महामौन में डूबते हुए सन्त और माहौल को निहारता हुआ स्वयं पूर्णकाम और आत्मविश्रान्त है।

अंगीरस निरूपण अर्थात् भाव-योजना

उपर्युक्त विवेचन से सुस्पष्ट है कि आलोच्य कृति में अंगीरस शान्त है। पारम्परिक साँचे के लक्षण में भी अंगीरस के रूप में 'शान्त' का विधान है। इसका स्थायी भाव 'समस्ततृष्णाक्षयसुखात्मा' शम है। यह लक्षण अभिनव गुप्त का है। पण्डितराज का कहना है : "नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः" – तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद ही शान्त रस का स्थायी भाव है– (नाट्यशास्त्र-अभिनव भारती) अर्थात् आत्मस्वरूप सुख नित्य, निरतिशय और स्वात्मस्वरूप है जबकि विषय-आत्मेतर-सुख अनित्य, सातिशय और पर-सापेक्ष है। इस प्रकार के दृढ़ विचार से उत्पन्न विषयविराग ही निर्वेद है और यह शान्त का स्थायीभाव है। वितृष्णीभावरूप चित्तवृत्ति विशेष ही निर्वेद है। निर्वेद संचारी भी है और स्थायी भी। पहला क्षणिक है और दूसरा स्थिर – "वासनारूपाणामसीषां मुहर्मुहरभिव्यक्तिरेव स्थिरपदार्थत्वात्" (रसगंगाधर, प्र.आ.) क्षणिक निर्वेद गृहकलह आदि से उत्पन्न होता है पर दूसरा विचार करते-करते स्थिर प्रकृति का पैदा होता है। पहला लक्षण विध्यात्मक है और दूसरा निषेधात्मक। पहले में 'तृष्णाक्षयसुखात्मा' माना गया है, दूसरे में 'वितृष्णीभाव' ही कहा गया है। एक विवाद यह भी है कि यदि स्थायी भाव चित्तवृत्ति विशेषरूप ही है और शान्त उसी का पुष्टरूप है तो वह निखालिस आत्मस्वरूपापत्ति स्वरूप नहीं होगा, जैसा कि धनिक ने 'दशरूपक' की टीका में कहा है। श्रुति भी उसे नेति-नेति के अन्यापोह रूप से ही कहती है। इस तरह के शान्त का आस्वाद तो मुक्त पुरुष ही मोक्षावस्था में कर सकते हैं, न कि सहृदयमात्र। इसलिए दूसरे लोगों का पक्ष है कि वहाँ तक पहुँचाने वाले उपाय का आस्वाद ही शान्त रस कहा जाय। यह उपाय अभावात्मक नहीं है, रस सुख स्वरूप है, अतः उसका स्वरूप 'सुखात्मा' ही होना चाहिए, विध्यात्मक होना चाहिए। काव्यास्वाद के रूप का शान्त और मोक्षावस्था के शान्त में उपाय और उपेय का अन्तर मानकर चलना चाहिए। इस पर यह भी समस्या उठ खड़ी होती है कि जैसे और रसों का स्थायी भाव इदानीन्तन और तदानीन्तन वासना के रूप में सहृदयों के हृदय में पहले से ही विद्यमान (जीवनानुभव क्रम में) रहते हैं, क्या उसी प्रकार वितृष्णीभाव भी रहता है ? समस्ततृष्णाक्षयसुखात्मा शम भी रहता है ? हाँ, सांसारिक विषयों की विरसता वर्णित हो तो सहृदय पाठक की चित्तवृत्ति बनती है। अस्तु।

प्रस्तुत काव्य में नित्यानित्यविचारजन्मा विषयवैराग्य घट में है। उसी से वह स्वरूप-सुख प्राप्ति के लिए प्रयत्न आरम्भ करता है और समस्त काव्य में उसका उपाय-तप-वर्णित है, जो मोक्षदशा में उपेय पर्यवसायी है। पार्यन्तिक दशा की अनुभूति मुक्त को होगी, आन्तरालिक दशा की सहृदय को। यहाँ आलम्बन है अनित्य विषयसुख।

जैन प्रस्थान में जगत् अनित्य नहीं है, अतः वेदान्तियों की भाँति वह आलम्बन नहीं हो सकता। शास्त्रश्रवण, तपोवन, तापस दर्शन आदि उद्दीपन हैं। विषय सुख में अरुचि, शत्रु-मित्र में उदासीनता, निश्चेष्टता, नासाग्रदृष्टि आदि अनुभाव हैं। ग्लानि, क्षय, मोह, विषाद, चिन्ता, उत्सुकता, दीनता और जड़ता आदि व्यभिचारी भाव हैं। 'अभिनव-भारती'कार का पक्ष है कि जब तीनों पुरुषार्थों के अनुरूप चित्तवृत्ति होती है तब महाभारतादि में अंगीरूप से प्रतिष्ठित शान्त के अनुरूप मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थोपयोगी चित्तवृत्ति भी होती है, होनी चाहिए। उनकी दृष्टि में 'शम' और 'वैराग्य' में भेद है। तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद या प्रत्येक स्थायी, या समुदित स्थायी शान्त का स्थायी नहीं है विपरीत इसके तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार को ही शान्तरस का स्थायीभाव माना जाना चाहिए। वैराग्य और संसार से पलायन आदि उस शान्त रस के विभाव हैं। मोक्षशास्त्र का विचार आदि उसके अनुभाव हैं। निर्वेद, धृति आदि व्यभिचारी भाव हैं। भक्ति और श्रद्धा भी इसी के अंग हैं। अभिनव गुप्त ने शान्त रस का विरोध करने वालों के पक्ष में अनेक युक्तियाँ दी हैं और फिर उनका खण्डन कर उसका सांगोपांग विवेचन किया है।

अभिनव गुप्त ने 'लोचन' और 'अभिनव भारती' में शान्त रस पर जमकर विचार किया है। विवाद न केवल

'शान्त' रस के (काव्य) नाट्यगत अस्तित्व पर है अपितु उसके स्थायी भाव पर भी है। उनका कहना है कि धर्म, अर्थ और काम की तरह मोक्ष भी एक पुरुषार्थ है जिसकी उपलब्धि के उपायों पर शास्त्रों में पर्याप्त चर्चा है। जिस प्रकार काम आदि तीन पुरुषार्थों के अनुरूप रति आदि चित्तवृत्तियाँ होती हैं और अनुरूप पोषक सामग्री से परिपुष्ट होकर संवादी सहृदय में आस्वाद्य होती हैं, उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति के अनुरूप भी चित्तवृत्ति बनती है। यही चित्तवृत्ति रस्यमान होकर शान्त रस के रूप में निष्पन्न होती है। सवाल यह है कि इस चित्तवृत्ति का स्वरूप क्या है ? चित्तवृत्ति का स्वरूप होना इसलिए आवश्यक है कि 'भाव' (चित्तवृत्ति) वही होता है। भाव ही सामग्री पुष्ट होकर रस बनता है। अनेक प्रकार के पक्ष-विपक्ष रखते हुए अन्ततः उन्होंने माना है कि तत्त्वज्ञान ही, जो आत्मस्वरूप है, शमता है। सहृदयरसिक की दो स्थितियाँ हैं - 'समाधि' की और 'व्युत्थान' की । समाधि में ही 'शान्त' का अनुभव रहता है, आत्मा का अनुभव होता है, व्युत्थान में नहीं, परन्तु समाधि में चित्तवृत्ति का निरोध रहता है। पातंजल योगसूत्र के साक्ष्य पर उनका पक्ष है कि समाधि से उठकर व्युत्थान दशा में भी (समाधि दशा के अनुभव से जनित) संस्कार वश कुछ देर तक प्रशान्तवाहिता बनी रहती है। व्युत्थान में चित्त की प्रशान्तवाही वृत्ति सम्भव है। यही शान्त रस का अनुभव सम्भव है। इस तत्त्वज्ञानात्मक स्थायी के लौकिक-अलौकिक समस्त चित्तवृत्तियाँ व्यभिचारी हैं। तत्त्वज्ञान का अनुभव ही उसका अनुभाव है। ईश्वरानुग्रह प्रभृति विभाव हैं। जैन प्रस्थान में ईश्वर (ईश्वरकर्तृत्व की) की सत्ता नहीं है, अतः, जैसा कि ऊपर कहा गया है, आत्मेतर सुख की अनित्य भावना ही विभाव है।

इसी अभिनव गुप्त ने 'लोचन' में तृष्णाक्षयसुखरूप 'शम' को 'शान्त' कहा है, तब जब वह अनुरूप सामग्री से पुष्ट होता है। विषय मात्र की अभिलाषा की सार्वत्रिक निवृत्ति ही शम या निर्वेद है। विषय मात्र से छुटकारा पाने की इच्छा (चित्तवृत्ति) सात्त्विक स्वभाव के सहृदयों में तो होती ही है। यह भी एक प्रकार की निर्वेदात्मक चित्तवृत्ति या मनोदशा ही है। जो लोग सब प्रकार की चित्तवृत्तियों के प्रशम को शान्त का स्थायी भाव बताते हैं उनका पक्ष सुविचारित नहीं है। कारण, स्थायी भाव को भावरूप होने के लिए चित्तवृत्ति रूप होना आवश्यक है। चित्तवृत्तियाँ ही भाव कही जाती हैं। कुछ लोग भरत के "स्वं स्वं निमित्तमासाद्य..." इत्यादि को प्रमाण मानते हुए उस 'सामान्य चित्तवृत्ति' को शान्त का स्थायी भाव मानते हैं जिसमें किसी प्रकार का अवान्तर विशेष उत्पन्न न हुआ हो। इस पक्ष में सामान्य ही सही, कही तो गई है – चित्तवृत्ति ही। यह सही है कि 'शान्त' रस की पार्यन्तिक परिणति निश्चेष्टता में है, और अभिनय चेष्टा है। फलतः अनभिनेय कह कर उसका नाट्य में निषेध किया जाय तो यह बात सभी रसों पर लागू होगी। पार्यन्तिक परिणति में सभी अवर्णनीय हैं। पार्यन्तिक परिणति से पूर्व भूमि में (शान्त रस का अनुभव करने वाले जनक आदि पात्रों में) चेष्टा का होना दृष्टिगत है। इन लोगों में विक्षेप के न होने से चित्त का सदृश परिणाम देखा गया है। यह सदृश परिणाम ही प्रशान्तवाही स्थिति है, शान्त का अनुभव है। इस व्युत्थानकाल में शान्त रस (के आस्वादयिता) की चेष्टाएँ देखी जाती हैं। हाँ, यह अवश्य है कि इस रस का अनुभव वीतराग को ही होगा, सर्वसामान्य सहृदय को नहीं होगा। इसका खण्डन केवल इसलिए कर दिया जाय कि यह रस सर्वसामान्य के अनुभव में नहीं आता। जब किसी के अनुभव में आता है, तब उसका अस्तित्व कैसे नकार दिया जाय। वीर आदि रसों में इसका अन्तर्भाव भी सम्भव नहीं है। कारण है, उनमें अहंकार का सद्भाव जबकि शम में उसका प्रशम होता है। भट्टतौत प्रणीत 'काव्यकौतुक' के विवरण में अभिनव ने इस पर और भी प्रकाश डाला है।

'मूकमाटी' के चौथे खण्ड के अन्त में समर्पित आतंकवादी को भी आत्मसुख रूप शान्त के प्रति सन्देह है। सेठ परिवार के साथ आत्मोद्धार प्राप्त घट को देखकर धरती प्रसन्न होकर कहती है :

"सृजनशील जीवन का/वर्गातीत अपवर्ग हुआ।" (पृ. ४८३)

धरती की भावना सुनकर कुम्भ सहित सबने कृतज्ञता की दृष्टि से कुम्भकार की ओर देखा और निरभिमान प्रशान्त कुम्भकार ने कुछ ही दूर पर पादप के नीचे पाषाण फलक पर आसीन वीतराग साधु की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया। गुरुदेव ने प्रसन्न मन से अभय का हाथ उठाते हुए कहा :

"शाश्वत सुख का लाभ हो।" (पृ. ४८४)

यही शाश्वत स्वभाव सुख का लाभ शान्त रस का लाभ है। परन्तु आतंकवादी कहता है कि संसार के क्षणिक सुख का तो उसे अनुभव है परन्तु 'अक्षय सुख' पर उसे विश्वास नहीं हो रहा है। यदि वीतराग गुरुदेव अविनश्वर सुख पाने के बाद उसे उन्हें भी दिखा सकें, अपना अनुभव बता सकें, तो वह भी उसके प्रति आश्वस्त हो सके और अनुरूप साधना में उतरे। दल की धारणा सुनकर सन्त कहते हैं कि बन्धनरूप तन, मन और वचन का आमूल मिट जाना ही मोक्ष नामक चरम पुरुषार्थ है। इसी की शुद्ध दशा में अविनश्वर सुख होता है। इस पर भी यदि उसे विश्वास न हो तो आचरण करके विश्वास पूर्वक वह उस जगह पहुँचे जहाँ वीतराग स्थित है, तभी उसे सन्त के वचन पर विश्वास होगा और वह अविनश्वर सुख भोगेगा। तभी विश्वास को अनुभूति मिलेगी, पर मार्ग में नहीं, मंज़िल पर। शान्त रस की अनुभूति वस्तुतः मुक्त को ही होती है, वीतराग को ही होती है, समाधि में भी और व्युत्थान में भी।

मुक्तिकामी जीव के प्रतीक घट में विषय-संसर्ग से उत्पन्न वैभाविक सुख के प्रति निर्वेद है, वैराग्य है। यही अनित्य भावना 'विभाव' है। घट कहता है, माटी का पर्याय घट :

- *"सुख-मुक्ता हूँ/दुःख-युक्ता हूँ/तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ!" (पृ. ४)*
- *"इस पर्याय की/इति कब होगी?/इस काया की/च्युति कब होगी ?*
  बता दो, माँ···इसे!" (पृ. ५)

कुम्भ–मुक्तजीव का प्रतीक–में शान्त का 'अनुभाव' जगह-जगह वर्णित हुआ है। गहन साधना और तप से उसका कषाय शान्त हो गया है, समस्त तृष्णा का क्षय हो चुका है, शम या तत्त्वज्ञान हो गया है एवं सभी प्रकार के उपसर्ग और परीषहों को वह पार कर चुका है। सेठ के यहाँ से भेजा हुआ सेवक जब उसके मुक्तभाव या परिपक्वावस्था की परीक्षा करता है, तब उसमें से 'सा-रे-ग-म-प-ध-नि' की ध्वनि सुनाई पड़ती है, अर्थात् उसके रोम-रोम से यह ध्वनि निकल रही है कि समस्त प्रकार के दुःख आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं। यह शान्त रस और मुक्त वीतराग का अनुभव ही तो है। सेठ के समुद्धार का सारा प्रयास 'शान्त' का प्रचारण ही तो है, उसका कार्य ही है। इन सब चेष्टाओं से उसमें शान्त या मोक्ष की प्रतिष्ठा प्रमाणित होती है।

रहे व्यभिचारी भाव, सो उनके विषय में भी देखना चाहिए। 'इस पर्याय की इति कब होगी'- इस पंक्ति में प्रयुक्त 'कब' पद से 'कालाक्षमत्व' रूप 'औत्सुक्य' नामक व्यभिचारी भाव की व्यंजना है। आलोच्य ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अनेक संचारियों की व्यंजना हुई है। अभीष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति का नाम 'हर्ष' है। इसकी व्यंजना उन पंक्तियों से है जिनमें इष्ट शिल्पी का अपनी तरफ आना वर्णित हुआ है :

"अपनी ओर ही/बढ़ते बढ़ते/आ रहे वह
श्रमिक-चरण···/और/फूली नहीं समाती।" (पृ. २५)

'हर्ष' की व्यंजना अनेकत्र है, वहाँ भी जहाँ घट अनेक परीक्षाओं से गुज़रता हुआ मंज़िल पा लेता है अथवा वहाँ भी जहाँ वह उपासक सपरिवार सेठ को पार लगा देता है। संस्कारजन्य ज्ञान 'स्मृति' है :

"छने जल से कुम्भ को भर कर/आगे बढ़ा कि/वही पुराना स्थान
जहाँ माटी लेने आया है/शिल्पी कुम्भकार वह !
परिवार-सहित कुम्भ ने/कुम्भकार का अभिवादन किया।" (पृ. ४८१)

पुरुष को पराभव महसूस हो और चेहरा विवर्ण या अधोमुख हो जाय तो जो मनोदशा होती है, उसे 'व्रीडा' कहते हैं। कुम्भकार के प्रांगण में मेघ-मुक्ता की ओर लपकती मण्डली और राजा को देख कुम्भ व्यंग्य कसता है, पर कुम्भकार उसके बड़बोलेपन पर प्रताड़ित करता है। तब कुम्भ को अपने किए पर 'व्रीडा' होती है :

"कुम्भकार ने कुम्भ की ओर/बंकिम दृष्टिपात किया !
आत्म-वेदी, पर मर्म-भेदी/काल-मधुर, पर आज कटुक
कुम्भ के कथन को विराम मिले/···किसी भाँति,/और
राजा के प्रति सदाशय व्यक्त हो अपना/इसी आशय से।" (पृ. २१८)

'धृति' वह मनोदशा है जिससे लोभ, शोक, भय आदि से प्रसूत क्षोभ का निवारण हो जाता है। इसमें विवेक, शास्त्र ज्ञान आदि विभाव होते हैं व चापल्य आदि का उपशम अनुभाव। घट की महायात्रा में ऐसे अनेक क्षण आते हैं जब वह उपसर्ग और परीषहों को धृतिपूर्वक सहन करता है। तपन, सागर की ओर से प्रेषित बदली, बादल तथा अन्तिम खण्ड में आतंकवादियों का आक्रमण—ऐसी अनेक भयावह घटनाएँ हैं जिनमें धृतिपूर्वक घट यात्रा तय करता है। स्वयं भी विवेक-प्रसूत धृति धारण करता है और सपरिवार सेठ को भी साहस तथा धृति प्रदान करता है।

"ऊपर घटती इस घटना का अवलोकन/खुली आँखों से कुम्भ-समूह भी कर रहा।
पर,/कुम्भ के मुख पर/भीति की लहर-वैषम्य नहीं है।" (पृ. २५१)

'मति' का तो आगर है यह घट। मति वह मनोदशा है जो अर्थ का निर्धारण करती है और इस निर्धारण के पीछे शास्त्रीय विचार काम करते हैं। शंकाहीनता तथा संशय का उच्छेद आदि अनुभाव होता है। कठिन समय में शीघ्र निर्णय मति से होता है। इस प्रकार शान्त रस के पोषक – उपायावस्था के पोषक - साधनों का सम्यक् उपयोग हुआ है। व्यभिचारी भावों की पुष्कल अभिव्यंजना हुई है।

महाकाव्य के पारम्परिक साँचे में यह भी कहा गया है कि यहाँ एक अंगी रस तो होना ही चाहिए, अंग रूप में अन्य रसों का भी प्रयोग हो सकता है। अंग रूप में व्यंजित रस अपरिपुष्ट होते हैं। फलतः उन्हें औपचारिक रूप में ही रस कहा जाता है। अतिरिक्त अंग रूप रसों के स्थायीभाव व्यभिचारी भाव ही होते हैं।

आलोच्य कृति के दूसरे खण्ड में, जहाँ माटी का रौंदा जाना आरम्भ हुआ है—वहाँ, प्रसंगवश प्रायः नवों रसों की बात आई है। इन रसों की सत्ता तदनुरूप विभाव और अनुभावों की योजना से मूर्त हुई है। पर जैसा कि उपदेशपरक और विचारपरक इस कृति की प्रकृति रही है, ऐसे प्रसंग भी प्रकृति से प्रभावित हुए हैं। आश्रय और आलम्बन प्रायः यहाँ भी अचेतन हैं। फलतः अंगीभूत संवेदना का जिस तरह अंग बनकर इन्हें आना चाहिए, वैसे नहीं आ पाए हैं।

वीर रस

शिल्पी के आजानु पद से माटी लिपटी हुई है और लिपटन की इस क्रिया में महासत्ता माटी की बाहुओं से 'वीर रस' फूट रहा है और कह रहा है शिल्पी से कि वह अपनी विजय कामना की पूर्ति के लिए प्याला भर-भर कर पी ले। परन्तु शिल्पी का वीर्य उसको फटकारता है और सीख देता है कि विजय आग से नहीं पानी से शान्त रस की महायात्रा में

पाया जाता है। अहंकार आग है और विनम्रता पानी। आग पानी पर अपना असर दिखा सकती है पर पानी तो तब भी उसकी सत्ता समाप्त कर सकता है। वीर में अहम्भाव होता है, भले ही धीरोदात्त में वह विनयच्छन्न हो, शान्त में उसका अस्तित्व निःशेष हो जाता है। कुम्भकार शान्त रस का पक्षधर है। वह मानता है कि उसका कहीं भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इस प्रसंग में वीर रस की व्यंजना तो व्याज है। वस्तुतः शान्त के प्रतिपक्षी रूप में उसका नकार ही उपदिष्ट है।

हास्य रस

वीर रस की अनुपयोगिता पर शिल्पी का वक्तव्य सुन कर माटी की महासत्ता के अधरों से हास्य फूट पड़ा और उपहासास्पद बने वीर रस की महत्ता पर कुछ कह चला। शिल्पी ने हास्य का भी उपहास किया और उसकी भी अनुपयोगिता यह कह कर जताई कि खेद-भाव के विनाश हेतु भले ही हास्य उपयोगी हो, पर शान्त में उपयोगी वेद-भाव के विकास हेतु हास्य का त्याग ही अनिवार्य है। कारण, अन्ततः वह भी कषाय ही है। फिर हँसोड़ में कार्याकार्य का विवेक कहाँ होता है और शम के लिए नित्यानित्य के विवेक की परम आवश्यकता होती है।

रौद्र रस

शान्त के पक्षधर शिल्पी पर हास्य ने अपना प्रभाव जमते न देख कर रौद्र का स्मरण किया। अनुभाव वर्णना द्वारा रौद्र का प्राकट्य हुआ, महासत्ता माटी के भीतर से। शिल्पी ने उसे भी फटकारा और सौम्य मुद्रा में निर्भीक होकर बोला। एक है रुद्रता, जो विकृति है और दूसरी ओर भद्रता है, जो प्रकृति है। पहली समिट है और दूसरी अमिट। इस वक्तव्य से रौद्र रस अपनी भयावहता में और भयावह आकार ग्रहण करता है, जिससे शिल्पी में 'भीति' उदित हो, पर शिल्पी मतिमान् है। उसकी मति भीति का सामना करने को उद्यत है—एक सभय है, दूसरा अभय है। बीच में है उभयवती मति। मति अभया हो जाती है। यह शिल्पी पुरुष का प्रभूत प्रभाव है। शान्त के आगे उसका भी वश नहीं चला।

अद्भुत रस

यह एक असाधारण, फलतः अद्भुत घटना थी। ऐसी अद्भुत कि विस्मय को भी विस्मय हो आया। उसकी पलकें अपलक रह गईं और वाणी मूक हो गई।

शृंगार रस

विस्मय का भी शान्त पर कुछ प्रभाव चलते न देख शृंगार के मुख का आब उतरने लगा। शिल्पी को उन विषयान्ध शृंगारिकों पर तरस आया। कारण, वे विषय के अन्धकार में निमग्न हैं। शिल्पी की दृष्टि से रस तो शान्त ही है, शेष में परसंसर्गज विकार हैं। उनमें वैभाविक रस है जो वस्तुतः अरस है। शान्त रस के उपासक को रूप की नहीं, अरूप की प्यास रहती है, इसीलिए जड़ शृंगारों से उसे क्या प्रयोजन ? उसका संगीत संगातीत है और प्रीति अंगातीत। इस प्रकार शृंगार का भी निषेध्य रूप से वर्णन हुआ।

बीभत्स रस

स्वर की नश्वरता और सारहीनता सुनकर प्रकृति की नासा प्रवाहित होने लगी, बीभत्स के विभावों का जमघट लग गया। जिन अंगों को देखकर राग होता है, उन पर बीभत्स वैराग्य पैदा कर मानों वह भी शृंगार को नकार देता है। इस प्रकार बीभत्स शृंगार से हटाकर चेतना को शान्त रस की ओर उन्मुख कर देता है।

करुण रस

प्रकृति और लेखनी ही नहीं, स्वयं करुणा भी अपने बाल-स्वरूप कण-कण में उफनती संघर्ष परायण और ध्वंसावसायी भावों की स्थिति देखकर फफक उठती है। शिल्पी इस अति को देखकर स्तब्ध रह जाता है और कहता है औरों की तुलना में करुणा हेय नहीं, उपादेय है पर उसकी भी सीमा है। उसकी सही स्थिति समझनी है। दिशाबोधिनी

करुणा करने वाला और उसका पात्र बनने वाला, दोनों का मन घुलता है, दोनों कुछ अपूर्व अनुभव करते हैं:

"पर इसे/सही सुख नहीं कह सकते हम।" (पृ. १५४)

यह करुणा दुःख का आत्यन्तिक क्षय नहीं कर सकती। इसलिए 'करुणा' में दुःख का आत्यन्तिक क्षय करने वाले शान्त का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। करुणा प्रभावित और प्रवाहित होती है। शान्त न प्रभावित होता है और न प्रवाहित। वह स्थिर है। रचयिता का ध्यान वर्णन करते समय प्रबोध पर अधिक रहता है। तभी रस का प्रसंग आने पर भी कहता है :

"विषय को और विशद करना चाहूँगा।" (पृ. १५६)

वात्सल्य रस

करुणा अलग भाव है और वात्सल्य अलग। इसमें गुरुजन आश्रय होते हैं और शिशु आलम्बन। महासत्ता माँ आश्रय है यहाँ। करुणा की भाँति यहाँ भी द्वैत होता है - आश्रय-आलम्बन का। अद्वैत मौन रहता है। यह भी क्षणभंगुर भाव है। अतः स्थायी और अविनश्वर शान्त का उसमें भी अन्तर्भाव सम्भव नहीं। वात्सल्य और करुणा ये दोनों ही लौकिक भाव हैं। सब रसों का अन्त होना ही शान्त रस है।

ऊपर रसों का अभिव्यंजन कम और वर्णन ही अधिक है, जिसमें रचयिता उनके संवेदनात्मक पक्ष को गौण रखकर शान्त को रसराज बताता हुआ वैचारिक पक्ष पर बल देता है। जिस प्रकार शास्त्रग्रन्थों में रस-सामग्री का वर्णन होता है, यहाँ बहुत कुछ वैसा ही है। कहीं-कहीं संवेदनात्मकता की भी छौंक है पर मूलतः झुकाव इस प्रतिपाद्य पर है कि शान्त अन्य रसों में अनन्तर्भुक्त तथा उनका उपमर्दी है। वह आत्मास्वाद रूप होने से और परसंसर्गज भावों से अलग है। घट, जिस साधक जीवात्मा का प्रतीक है उसमें शान्त रस और मोक्ष पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा ही रचयिता का लक्ष्य है। आश्रय में आरम्भ से ही नित्यानित्यविवेकजन्मा शम की प्रतिष्ठा है, वैभाविक सुख में वैराग्य है। एतदर्थ अपेक्षित सभी शास्त्रोक्त उपायों का सहारा लेता है, गुरु का मार्गनिर्देश पाता है। सभी प्रकार के कषाय अथवा विकारों का नाश करता है। यह बात पहले विस्तार से कही जा चुकी है कि शान्त की पार्यन्तिक स्थिति को वर्णन या व्यंजना में भी उतारना सम्भव नहीं, वह अनुभवैकगम्य है। उसकी उपायावस्था का ही वर्णन सम्भव है और वह हुआ है। और रसों की वासना सहृदय सामाजिक मात्र में है पर शान्त की या उसके स्थायी भाव (शम) की मुक्त में ही सम्भव है। इसके रसयिता परिगणित ही हैं। ऐसे प्रसंगों में समाधिस्थ हो जाते होंगे और फिर व्युत्थान में कुछ समय तक चित्त की प्रशान्तवाहिता रहती ही है।

वैचारिक पक्ष

'मानस तरंग' में रचयिता कहता है : "ऐसे ही कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है और यह वह सृजन है जिसका सात्त्विक सान्निध्य पाकर रागातिरेक से भरपूर शृंगार रस के जीवन में भी वैराग्य का उभार आता है।" यही वैराग्य या निर्वेद नामक स्थायी भाव प्रकृत ग्रन्थ का अंगी रस है, यह बात पहले कही जा चुकी है। प्रयोजन की दृष्टि से मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ ही इसका प्रतिपाद्य है। शास्त्र की दृष्टि से मोक्ष और काव्य की दृष्टि से शान्त रस इसका प्रतिपाद्य है, इसीलिए यह कृति शास्त्रकाव्य है।

जैन प्रस्थान के इस शास्त्रकाव्य में काव्य के मूल उपादान संवेदना के घटक 'विचार' पक्ष का जहाँ तक सम्बन्ध है, रचयिता की मूल विचारधारा अपने प्रस्थान की होनी स्वाभाविक है। गन्तव्य (मोक्ष) के प्रति इस प्रस्थान में 'सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र' समुदित रूप से 'मोक्ष' का 'मार्ग' है। इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष निष्पन्न नहीं होगा। पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर का उन्मेष होता है। 'दर्शन' 'ज्ञान' में कारण है और 'दर्शन' सहित 'ज्ञान'

'चारित्र' में। फिर तीनों सम्मिलित रूप से मोक्ष में साधन हैं, उपाय हैं। इसी के साथ यह भी जानना चाहिए कि यदि 'मुक्त' पुरुष में 'चारित्र' है तो 'ज्ञान' आवश्यक है और 'ज्ञान' है तो 'दर्शन' की सत्ता अनिवार्य है। मतलब 'आस्था' के साथ 'ज्ञान'-पूर्वक किया गया 'आचरण' ही अभीष्ट फल पैदा करता है। ज्ञानहीन की क्रिया और क्रियाहीन का ज्ञान व्यर्थ है और ये दोनों व्यर्थ हैं—आस्थाहीन के।

मोक्षमार्गी 'घट' जब 'मोक्ष' के लिए कथा के आरम्भ में ही अपनी गहरी अभीप्सा या संकल्प सच्चे दिल अथवा मुक्त हृदय से व्यक्त करता है तब अनुरूप प्रतिध्वनि महासत्ता धरती से निकलती है। वह सबसे पहले 'आस्था' अर्थात् 'सम्यग् दर्शन' की ही बात करती है। वह कहती है—'प्रति सत्ता में अपरिमेय सम्भावनाएँ होती हैं जो अनुरूप निमित्त पाकर चरितार्थ होती हैं।' 'सबसे पहले रहस्य में पड़ी इस गन्ध का अनुपान 'आस्था की नासा' से करना होगा' (पृ.७-८); 'आस्था से वास्ता होने पर रास्ता स्वयं शास्ता होकर सम्बोधित करता हुआ साधक को साथी बन साथ देता है' (पृ. ९); 'साधना की अँगुलियाँ जब आस्था के तारों पर चलती हैं तभी सार्थक जीवन में स्वरातीत सरगम झरती है' (पृ. ९)। गम्भीर साधना की ज्वाला से जब घट की आत्मा का समग्र विकार क्षीण हो जाता है और सेठ का सेवक उस परिपक्व घट की परीक्षा करता है तब उसमें से 'सा-रे-ग-म-प-ध-नि' यानी 'सारे गम पद नहीं' का स्वर सुनाई पड़ता है, अर्थात् आत्मा का स्वभाव समस्त दुःखों से मुक्त है। वह नित्य निरतिशय आनन्द स्वरूप है, यह स्पष्ट हो जाता है। उसके समस्त बन्ध हेतु— मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग- क्षीण हो चुके हैं। उसमें 'सम्यक् ज्ञान' का उदय हो चुका है। वह साधना के सभी गुणस्थानों पर आरूढ़ हो चुका है। जब तक साधक स्व-भाव में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता तब तक आत्यन्तिक मुक्ति सम्भव नहीं है। जब साधनात्मक मन्थन से नवनीत दधि से बाहर आ गया, तब फिर उससे मिलकर सांकर्य की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। चतुर्थ खण्ड में घट के सभी आवरक कर्मों का क्षय हो चुका है, अतः वह सम्यक् ज्ञानी है। वह प्रमाण तथा नयों द्वारा सभी तत्त्वों— जीव, अजीव (धर्म, अधर्म, काल, आकाश) आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष- का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इसके ज्ञान में संशय, विपर्यास तथा अनध्यवसाय नहीं होता। तत्त्वतः चारित्र आत्मा का स्वरूप ही है। अतः उसकी अभिव्यक्ति दर्शन और ज्ञानगत सम्यक्त्व से होती है। पंच महाव्रत इसी स्वभाव की अभिव्यक्ति के लिए हैं। सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिए साधक को जिस नैतिक उन्नति के अनुसार आगे बढ़ना पड़ता है, वे ही मोक्षमार्ग के सोपान चतुर्दश गुणस्थान हैं। आलोच्य कृति के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ खण्डों की समस्त साधना की व्याख्या इनके आलोक में की जा सकती है। सम्यग् ज्ञानी से आचरण या चारित्र वैसे ही फूटता है जैसे पुष्प से गन्ध। मुक्त घट शरणागत सेठ परिवार की मुक्ति में स्वयं प्रवृत्त होता है। 'मोक्षशास्त्र' में कहा गया है कि कषाय, पाप और व्यसन आदि संसार के कारणों से विरक्त होना तथा देव पूजा, दान आदि शुभ क्रियाओं में प्रवृत्त होना सम्यक् चारित्र है।

कुम्भ कहता है :

> *" 'स्व' को स्व के रूप में/'पर' को पर के रूप में*
> *जानना ही सही ज्ञान है,/और/'स्व' में रमण करना*
> *सही ज्ञान का 'फल'।" (पृ. ३७९)*

आगे वह अपनी प्रकृति का परिचय देता हुआ झारी से कहता है :

> *"किसी रंग-रोगन का मुझ पर प्रभाव नहीं,/सदा-सर्वथा एक-सी दशा है मेरी*
> *इसी का नाम तो समता है।" (पृ. ३७८)*

जैन प्रस्थान में तीर्थंकरत्व ही सेवा का आदर्श है। केवलज्ञान की प्राप्ति तेरहवें गुणस्थान में और सिद्धिलाभ चौदहवें गुणस्थान को पार करने पर होता है। सामान्यतः केवलज्ञान पाकर भी उसे सभी प्राणियों में देने का कार्य नहीं होता, पर यह तीर्थंकर में अवश्य ही होता है, जो एक प्रकार से सेवा भाव है। ब्राह्मण धर्म का सद्गुरु, बुद्ध धर्म का सम्बुद्ध और जैन प्रस्थान का तीर्थंकर भी सेवा या निष्काम कर्म का परम आदर्श है। जब तक जीव का ग्रन्थिविच्छेद नहीं होता तब तक शुद्धिलाभ नहीं होता। शुद्धिलाभ की पूर्णता तीर्थंकरत्व में ही है। जिस जीव में ग्रन्थिविच्छेद होते ही विश्ववेदना का अनुभव होने लगे, फलतः उसकी निवृत्ति में संलग्न हो जाय, वही जीव तीर्थंकर हो पाता है और वही सेवा का उच्च आदर्श प्राप्त कर सकता है। केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद सिद्ध घट अपने प्रति समर्पित (सेठ परिवार) के उद्धार में संलग्न हो जाता है। इसी सेवाभाव और चारित्र में कृति परिसमाप्त होती है। कृति की परिसमाप्ति में सन्त की धारणा है :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है।" (पृ. ४८६)

साधक के संकल्प की यह निष्पन्नता है।

साधक घट की सम्यक् श्रद्धा कैसी है—निसर्गज अथवा अधिगमज ? अनन्त सम्भावनाओं का उपादान तो वह है, पर निमित्त कौन है ? मोक्ष, इस बन्धन से कैसे प्राप्त हो—यह बेचैनी तो घट में सहज है, परन्तु तदर्थ अपेक्षित मोक्षमार्ग का निर्देश कौन करे ? सम्यग्दर्शन कैसे और कहाँ से आए ? इस कृति में अपनी ही अंशी धरती के उपदेश से आस्था या श्रद्धा की नासा घट को मिलती है, अतः अधिगमज ही कहा जा सकता है।

ब्राह्मण प्रस्थान में उपादानगत सम्भावनओं को मूर्त होने के लिए पारमेश्वर अनुग्रह की आवश्यकता नहीं है। कारण, वहाँ अतिरिक्त ईश्वर की कल्पना ही नहीं है। संसार अनादि है। उसके निर्माण के लिए ईश्वर की अपेक्षा नहीं है। 'मानस तरंग' में इसकी सम्यक् उपस्थापना की गई है। यहाँ केवल उपादान है और उसमें निहित सम्भवानाओं को मूर्त होने में निमित्त कारण भी हैं, जिनमें से कुछ उदासीन होते हैं और कुछ प्रेरक। उनका प्रतिबन्ध राहित्य तो अपेक्षित है ही, सामग्रय भी अपेक्षित है। आलोच्य कृति में अपने प्रस्थान की अनेक दार्शनिक और पारिभाषिक पदावलियाँ प्रयुक्त हुई हैं, उन सब पर विचार इस संक्षिप्त भूमिका में सम्भव नहीं है। ग्रन्थकार की तो प्रतिज्ञा ही है कि यहाँ काव्योचित और रोचक पद्धति पर सैद्धान्तिक मान्यताएँ निरूपित की जायँ, फलतः वे संवादों से भरी पड़ी हैं।

आचार्यश्री ने भारतीय ही नहीं, प्रायः विश्व के सभी दर्शनों में बहुचर्चित 'नियति' और 'पुरुषार्थ' का द्वन्द्व भी उठाया है और अपनी चिर परिचित निरुक्ति पद्धति का भी सहारा लिया है। 'नियति' और 'पुरुषार्थ' की विभिन्न व्युत्पत्तियाँ सम्भव हैं। चतुर्थ खण्ड में सेठ अतिथि सद्गुरु से प्रार्थना करता है :

"कैसे बढ़ूँ मैं···अब···आगे !/क्या पूरा का पूरा आशावादी बनूँ ?
या सब कुछ नियति पर छोड़ दूँ ?/छोड़ दूँ पुरुषार्थ को ?
हे परम-पुरुष ! बताओ क्या करूँ ?/...कर्ता स्वतन्त्र होता है—
यह सिद्धान्त सदोष है क्या ?" (पृ.३४७-३४८)

सद्गुरु उत्तर देते हैं :

" 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन – स्थिरता है

अपने में लीन होना ही नियति है/निश्चय से यही यति है,
और/'पुरुष' यानी आत्मा – परमात्मा है
'अर्थ' यानी प्राप्तव्य – प्रयोजन है/आत्मा को छोड़कर
सब पदार्थों को विस्मृत करना ही/सही पुरुषार्थ है।" (पृ. ३४९)

यह आचार्यश्री की प्रौढ़ोक्ति है। रेखांकित पंक्तियाँ उनकी दृष्टि से नियति और पुरुषार्थ का स्वरूप स्पष्ट करती हैं। इसे प्रकृत प्रस्थान के वैचारिक आलोक में सविस्तार देखना चाहिए।

जैन दर्शन में नियति और पुरुषार्थ

अमृतचन्द्र सूरि ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में अनादि बन्ध का वर्णन करते हुए कहा :

"जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि"॥१३॥

जीव द्वारा किए गए राग-द्वेष-मोह आदि परिणामों के निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु स्वतः ही कर्म रूप से परिणत हो जाते हैं। आत्मा अपने चिदात्मक भावों से स्वयं परिणत होता है, पुद्गल कर्म तो उसमें निमित्त मात्र है। जीव और पुद्गल एक दूसरे के परिणमन में परस्पर निमित्त होते हैं। पूर्व कर्म से रागद्वेष और रागद्वेष से पुद्गल कर्मबन्ध की धारा बीज वृक्ष की सन्तति की तरह अनादिकाल से चल रही है।

पूर्वकर्म के उदय से राग-द्वेष की वासना और राग-द्वेष की वासना से नूतन कर्मबन्ध का चक्र कैसे उच्छिन्न हो, यही मूल रोग है। वस्तुतः पूर्वकर्म के उदय से होनेवाला कर्मफलभूत राग-द्वेष-वासना आदि का भोगना कर्मबन्धक नहीं होता, किन्तु भोगकाल में जो नूतन राग-द्वेष रूप अध्यवसान भाव होते रहे हैं, वे बन्धक होते हैं। ऐसा होता है मिथ्यादृष्टि को न कि सम्यग्दृष्टि को। सम्यग्दृष्टि का भोग नई वासना पैदा नहीं करता। वह पूर्व कर्म को शान्त करता है और नूतन पैदा नहीं होने देता। मलतब सम्यग्दृष्टि का कर्मभोग निर्जरा ही नहीं, संवर का भी कारण बनता है।

आत्मा का स्वरूप उपयोग है। आत्मा की चैतन्य शक्ति को 'उपयोग' कहते हैं। यह चितिशक्ति बाह्य-आभ्यन्तर कारणों से यथासम्भव ज्ञानाकार पर्याय को और दर्शनाकार पर्याय को धारण करती है। जिस समय चैतन्य शक्ति ज्ञेय को जानती है उस समय साकार होकर 'ज्ञान' कहलाती है तथा जिस समय मात्र चैतन्याकार रहकर निराकार रहती है तब 'दर्शन' कहलाती है। दर्शन और ज्ञान, क्रम से होने वाली पर्यायें हैं। निरावरण दशा में चैतन्य अपने शुद्ध चैतन्य रूप में लीन रहता है। इस अनिर्वचनीय स्वरूपमात्र प्रतिष्ठित आत्ममात्र दशा को ही 'निर्वाण' कहते हैं। निर्वाण अर्थात् वासनाओं का निर्वाण। आत्मदृष्टि ही बन्ध का उच्छेद करती है। बुद्ध को आत्मा से चिढ़ है। वह उस आत्मसम्बन्धी नित्य दृष्टि को ही सर्व अनर्थमूल मानते हैं। वास्तव में सर्व अनर्थमूल आत्मस्वरूप का अन्यथाबोध है।

धर्म, अधर्म, आकाश और असंख्य कालाणु का सदृश परिणमन ही होता है पर रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुण वाले पुद्गल परमाणुओं का शुद्ध परिणमन तो होता ही है, स्कन्धात्मक अशुद्ध परिणमन भी होता है। स्थूल शरीर और कर्ममय सूक्ष्म शरीर से बद्ध जीव का विभावात्मक या विकारी परिणमन होता है, पर स्वरूप बोध हो जाने पर शरीरों के उच्छिन्न होने से शुद्ध चिन्मात्र रह जाता है। फिर उसे अन्यत्र अहंकार या ममकार नहीं होता। धर्मकीर्ति का यह वक्तव्य

ठीक नहीं है :

"आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥" प्र.वा.- १।१२१ ॥

आत्मा तीन प्रकार के हैं – बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। शरीरादि परपदार्थ में आत्मबुद्धि है तो बहिरात्मा, सम्यग्दृष्टि की पर-पदार्थ से आत्मबुद्धि हट गई है सो अन्तरात्मा और वही क्रमशः परमात्मा हो जाता है।

जीव और अजीव का योग ही बन्ध है और मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँच उसके कारण हैं। असम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि है। अविरति- व्रताचरण का अभाव, विशिष्ट रति का अभाव है। प्रमाद असावधानी है। क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय हैं। काय-वचन एवं मन का कर्म यानी कार्य ही योग है। बन्धन-मुक्ति ही मोक्ष है, जो इन कारणों के हटाने से सम्भव है। मोक्ष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र—तीनों के होने से होता है, चारित्र शून्य मात्र सम्यग्ज्ञान या मात्र सम्यग्दर्शन से नहीं। वैदिकधारा मात्र ज्ञान से ही मुक्ति मानती है।

स्वरूपप्रच्यव मिथ्या दृष्टि से होता है, अतः सर्वविध पतन का मूल कारण वही है। इसलिए सम्यक् दृष्टि होना आवश्यक है। यह हो कैसे ? द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं पर उनके परिणाम अनिवार्य होकर भी अनियत हैं। परिणमन निमित्त के सद्भाव पर निर्भर करता है। जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य का ही खेल यह जगत् है। दोनों परस्पर के परिणमन में निमित्त हैं और दोनों की अपनी शक्तियाँ नियत हैं। इन्हें कोई कम-ज़्यादा नहीं कर सकता। वहाँ हमारा पुरुषार्थ काम नहीं दे सकता। हमारा पुरुषार्थ सम्भावना को उपलब्धि का आकार देने में है, कोयले के हीरापर्याय के विकास में है। कोयले में यह सम्भावना है। जब कर्मबन्ध और तदनुरूप निमित्तवश प्रत्येक जीव का प्रतिसमय कार्यक्रम निश्चित है अर्थात् परकर्तृत्व तो है ही नहीं, स्वकर्तृत्व भी नहीं है, तब पुरुषार्थ क्या अर्थ रखता है ? स्वातन्त्र्य कहाँ है पुरुषार्थ का? नियतिवाद में पुरुषार्थ कहाँ है ? उपादान में जैसी योग्यता होगी और निमित्त जैसा मिलेगा, वैसा होगा। इस नीरन्ध्र-लौहचक्र में स्वातन्त्र्य कहाँ ? पुरुषार्थ कहाँ ? पाप-पुण्य कहाँ ?

परिणमन नियत है, पर जिस हेतु से नियत है, उसे हेतु बनने में तीन कारण हैं—एक तो वह कार्य से अव्यवहित 'पूर्वक्षण में विद्यमान' हो, दूसरे 'अप्रतिबद्ध' हो, तीसरे 'अविकल' हो। रागादि कषाय का, जिन का उपादान आत्मा है, निमित्त पुद्गल हैं, अतएव रागादि कषाय या वासना पौद्गलिक कहे जाते हैं। अध्यात्म उभयविध कारण से कार्य होता है, यह मानता है, पर यह उपादान का सुधार चाहता है, उसकी दृष्टि इसी पर रहती है। अतः वह प्रतिसमय अपने मूलस्वरूप की याद दिलाता रहता है कि तेरा स्वरूप तो शुद्ध है, ये रागादि कुभाव परनिमित्त से उत्पन्न होते हैं, अतः पर निमित्तों को छोड़। इसी में अनन्त पुरुषार्थ है, न कि नियतिवाद की निष्क्रियता में। कार्य मात्र के लिए उपादान और निमित्त—दोनों कारण हैं। दोनों की समग्रता ही द्रव्यगत निजस्वभाव है। यह सही है कि अध्यात्मनिष्ठ पुरुष के लिए बाह्य निमित्त गौण हैं। मोक्ष के लिए दोनों आवश्यक हैं। स्वामी समन्तभद्र ने 'स्वयम्भू-स्तोत्रम्' में कहा है :

"बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ।
नैवाऽन्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाऽभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम्" ॥६०॥

जीव के भावों के निमित्त से पुद्गलों का कर्मरूप पर्याय होता है और पुद्गलों के कर्मरूप पर्याय से जीव रागादि रूप से परिणमन करता है। उपादानदृष्टि से आत्मा अपने भावों का कर्ता है। पुद्गल के ज्ञानावरणादि रूप द्रव्यकर्मात्मक परिणमन का कर्ता नहीं है। अहंकार या ममकार घातक है। उपादान आत्मा के गुण-विकास में हमारा स्वातन्त्र्य है, पर वे गुण यदि आत्मा में न होते तो क्या मैं पैदा कर लेता ? या अनुरूप निमित्त न मिलता तो उपादान में भी सम्भावित गुणों

का विकास हो पाता ? पुरुषार्थ में इस प्रकार निश्चय नय से स्वातन्त्र्य है, पर इसका अहंकार नहीं होना चाहिए। साथ ही उपादान योग्यता के ही सब कुछ होने से अध्यात्म का अकर्तृत्व भी है। निश्चय नय वस्तु की परनिरपेक्ष स्वभूत दशा का वर्णन करता है जबकि व्यवहार नय परसापेक्ष अवस्थाओं का। निश्चय नय से आत्मा अकर्ता है, व्यवहार नय से कर्ता।

"यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः" (कल्याणमन्दिरस्तोत्रम्, ३८)- भावशून्य क्रियाएँ सफल नहीं होतीं। यह भाव है–निश्चय दृष्टि। निश्चय नय परनिरपेक्ष आत्मस्वरूप को कहता है। उसकी दृष्टि परम वीतरागता पर रहती है। वे ही क्रियाएँ मोक्ष में सार्थक हैं जो परम वीतरागता की साधिका और पोषिका हैं।

इस प्रकार नियति और पुरुष के स्वातन्त्र्य से पुरुषार्थ–दोनों का सहभाव निरूपित किया जाता है और उसकी ग्रन्थि सुलझाई जाती है।

आलोच्य कृति में दर्शनोचित चिरन्तन चिन्तन के तो विभिन्न पक्ष चर्चित हैं ही, जिन पर स्वतन्त्र ग्रन्थाकार लेखन सम्भव है, उनके साथ समकालीन समस्याओं पर भी प्रकाश डाला गया है। उनकी भी संक्षिप्त चर्चा प्रासंगिक होगी। ऐसे प्रसंग अधिकांशतः चतुर्थ खण्ड में हैं। उदाहरणार्थ :

(क) माटी और धरती की महिमा
(ख) अवाम का महत्त्व
(ग) नारी महिमा और उनकी वर्तमान स्थिति
(घ) परिग्रहवृत्ति और तज्जन्य शोषण का ताण्डव
(ङ) आतंकवाद और मानवता
(च) स्टार वार का संकेत
(छ) बरनाला प्रभृति अन्य प्रासंगिक और सामयिक संकेत

रचयिता अपने समय की समस्याओं से कैसे तटस्थ रह सकता है ? उसका ध्यान उपलब्धियों पर तो है, पर उससे ज्यादा वह सम्भावनाओं को काव्य का विषय बनाता है, गगन की अपेक्षा धरती का यशोगान करता है, कर की अपेक्षा पाँव का महत्त्व निरूपण ज्यादा करता है। सम्भावना किस तरह संघर्ष करती हुई उपलब्धि बनती है, इसको गाथाबद्ध करता है। उसका नायक स्वर्ण का घट नहीं, माटी का घट बनता है। आज का युग माना कि बौनों का है, आज हमारा विश्वमंच महान् विभूतियों के प्रकाश से कम, हैवानों के अन्धकार से ज्यादा घिरा है। परिग्रही और स्वार्थान्धवृत्ति समाज में शोषण और विश्वमंच पर आतंकवाद और स्टार वार की विभीषिकाएँ पैदा कर रही है। नारी और गरीब त्रस्त हैं। स्वर्ण का वर्चस्व है। उसके पास भौतिक हैवानियत भरी ताकत है। वह इन्सान पर अपना रक्तिम पंजा जमाए हुए है। पाणिग्रहण के बाद प्राणग्रहण हो रहा है। रचयिता इन सभी समस्याओं का समाधान आत्मवादी प्रस्थान में देखता है। पदार्थवादी वैज्ञानिक चिन्तन 'भौतिकता' को ही काम्य बनाता है जो अपनी विनश्वरता और सीमाओं में अपर्याप्त पड़कर दुर्निवार और हैवानियत भरे संघर्ष को आमन्त्रित करता है। यदि हमें इन सब समस्याओं पर विजय पानी है तो चेतनावाद की शरण में जाना ही होगा। वही ऐसी सम्पत्ति है जो अविनश्वर है, पर-निरपेक्ष है, नित्य और निरतिशय है तथा अविनश्वर और सारवान् है। इसीलिए ग्रन्थ समाप्त करता हुआ रचयिता सन्त के स्वर में कहता है :

"इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंजिल पर !" (पृ. ४८८)

इस प्रकार कृति का वैचारिक पक्ष न केवल आमुष्मिक अपितु ऐहिक पक्ष से भी समृद्ध है।

प्रस्तुत कृति का भाषापक्षीय विवेचन

भाषा यदि सम्प्रेषण का माध्यम है तो कवि की कल्पना के लिए ऐसा विश्व में कुछ भी नहीं है जो कुछ न कुछ उसे सम्प्रेषित न करता हो। अत: व्यापक अर्थ में भाषा का स्वरूप अपरिमेय और अपरिभाष्य है। 'मूकमाटी' की भाषा ऐसी न होती हुई भी ऐसी ही है। उसमें क्या नहीं बोलता। न बोलना भी बोलता है, मौन भी मुखर है। प्रस्तुत प्रसंग में भाषा का यह स्वरूप अनुपयोगी है। इस सन्दर्भ में भाषा–कवि की भाषा, कवि कर्म की भाषा, काव्य की भाषा वागर्थमयी है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है :

"आखर अरथ कविहिं बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहिं नट नाचा॥"

ध्वनिप्रस्थान परमाचार्य आनन्दवर्धन ने भी महाकवि की पहचान बताते हुए कहा है :

"सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥" ध्व.प्र.उ./८

अर्थात् महाकवि की अपनी पहचान 'कुछ और' ही अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति के अनुरूप सामर्थ्य सम्पन्न और ही शब्द के प्रयोग में है। ये शब्दार्थ यत्नपूर्वक पुन: पुन: अनुसन्धान या भावन की अपेक्षा करते हैं। भारतीय आचार्यों ने व्यवहारोपयोगी और शास्त्रीय या व्यवस्थित चिन्तन में उपयोगी 'सामान्य भाषा' से 'काव्यभाषा' का व्यतिरेक निरूपित करते हुए कहा है कि सामान्यभाषा का प्रयोजन या तो व्यवहार चलाना होता है या ज्ञान की परिधि का विस्तार। काव्यभाषा में ये बातें गौण होती हैं। उसका सम्प्रेष्य 'कुछ और' ही होता है, जिसे प्रयोजनातीत प्रयोजन कहा गया है– कांट के शब्दों में Purposeless Purpose. इसे शब्दान्तर से अ-व्यक्तिगत आस्वाद कह सकते हैं, अ-लौकिक सौन्दर्य संवेदन कह सकते हैं सहृदयग्राहक की दृष्टि से। सर्जक उसी मनोदशा का सम्प्रेषण अनुरूप वाग्भंगिमा से करता है। भारतीय परम्परा विधेयात्मक पद्धति पर उसे अपनी प्रकृति में सामाजिक और शिव मानती है। समाजानुमोदित सामग्री को सुन्दर ढंग से सम्प्रेषित करने के लिए (समाजानुमोदित मनोदशा में) सर्जक जिस भाषा को अपनी अनुरूपता में पकड़ता है, वही काव्यभाषा है। आनन्दवर्धन इसे 'ललितोचितसन्निवेशचारु' कहते हैं और पण्डितराज 'समुचितल-लितसन्निवेशचारु'। अभिनव गुप्त 'ललित' की व्याख्या करते हुए उसे 'गुण और अलंकार'परक मानते हैं। गुण-अलंकारमण्डित काव्यभाषा आस्वाद के भावन में समर्थ होती है, इसीलिए वह उचित है। पण्डितराज का आशय स्पष्ट करते हुए नागेश भट्ट कहते हैं कि यदि सन्निवेश– शब्दसन्निवेश सम्प्रेष्य आस्वाद के अनुरूप है तो वह समुचित है और समुचित है तो ही 'ललित' है। मतलब भारतीय साहित्यिक परम्परा में दोष रहित भाषा ही काव्यभाषा बनती है जब गुण और अलंकार से मण्डित हो। कुन्तक सामान्य भाषा को काव्यभाषा बनने के लिए आवश्यक मानते हैं कि वह कवि की प्रतिभा से प्रसूत वक्रता या बाँकपन से मण्डित हो। यह बाँकपन व्यवहार और शास्त्र की पिटी-पिटाई लीक से हटकर प्रयुक्त की गई काव्यभाषा में होता है। कुन्तक सम्प्रेष्य 'चारुता' या 'सौन्दर्य' को प्रतिभा-प्रसूत मानता है। वह कहता है :

"यत् किंचनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्।"

काव्य में सम्प्रेष्य 'चारुता' प्रतिभा या कविव्यापार से ही उत्पन्न है। इसी चारुता से मण्डित होकर शब्दार्थ 'कुछ

और हीं' जान पड़ते हैं। वे काव्योचित शब्दार्थ या काव्य की भाषा माने जाते हैं। इसीलिए 'प्रतिभा' का स्वरूप निरूपित करते हुए कहा गया है कि वह 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमप्रज्ञा' ही है। प्रश्न यह है कि वस्तु में प्रतीत यह अपूर्वता वस्तु की निजी विशेषता है या उत्पादित ? आनन्दवर्धन और कुन्तक– दोनों ही अपने-अपने ढंग से इसका उत्तर देते हैं। आनन्दवर्द्धन का पक्ष है कि काव्य भी एक प्रस्थान है, जीवन के चरम प्रयोजन के लाभ का और यह लाभ है 'निजचित्स्वरूपविश्रान्ति' या 'स्वरूपबोध'। कवि इनकी दृष्टि से दो प्रकार के हैं–परिणत प्रज्ञ और प्राथमिक या आभ्यासिक। प्राथमिक या आभ्यासिक कवि की तो नहीं परन्तु परिणत प्रज्ञ कवि का व्यापार, कवि कर्म तदनुरूप 'विभावादि संयोजनात्मा' होता है। उनकी दृष्टि में यही कवि का मुख्य कर्म है। सर्जक काव्य निर्माणवेला में इसी आस्वादमय स्वरूपबोध की लोकोत्तर भूमि पर प्रतिष्ठित होता है। इस काव्यानुभूति के आवेश में निष्णात शब्दार्थ जब जैविकी प्रक्रिया से व्यक्त होते हैं तो कुछ और या अपूर्व जान पड़ते हैं। इस प्रातिभ आवेश में निसर्गजात फूट पड़ने वाले काव्यप्रवाह के अन्तर्गत अलंकार के निमित्त अतिरिक्त प्रयास नहीं करना पड़ता। वह 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' होता है। रहा गुण, वह तो उस आस्वाद की निसर्ग सिद्ध विशेषता है। इस प्रकार प्रातिभ आवेश में स्वतः समुच्छ्वसित काव्यभाषा 'गुणालंकारमण्डित' होकर ही निकलती है। उसका बाद में सायास मण्डन नहीं होता। उसके 'वाचक' और 'वाच्य' भी कुछ और होते हैं। अरस्तू इसे Strange Word कहते हैं। अजनबी या अपूर्व का अर्थ यह नहीं है कि वे अपरिचित या सर्वथा अपरिचित होते हैं आनन्दवर्धन कहते हैं : "सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः"–वसन्त में जैसे रहते वे ही द्रुम हैं, पर नई आभा से मण्डित होकर नए से लगते हैं, इसी प्रकार इस काव्यभाषा की भी स्थिति है। वह परिचित होकर भी अपरिचित है, अतः 'कुछ और' या 'अपूर्व' है। शब्द और अर्थ का अभेद होने से यह अपूर्वता उभयनिष्ठ है। वह कहते हैं : "वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद् रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते।" शास्त्र और व्यवहार की बात छोड़िए, काव्य में जो (वाचक और) वाच्यार्थ प्रतीत होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्राह्य जैसा यानी प्रत्यक्षायमाण लगता है, अपनी समस्त व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ। व्यवहार और शास्त्र में मात्र अर्थ ग्रहण होता है पर काव्य में बिम्बार्थ ग्रहण होता है, बिम्ब रूप में, संश्लिष्ट रूप में अर्थ का ग्रहण होता है। इसे अर्थ संश्लेष कह सकते हैं। इसी में कवि की सर्जनात्मक प्रतिभा का प्रकाश होता है। कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन चारुता या अपूर्वता केवल भाषा के व्यंजक और व्यंग्यमय शब्दार्थ में ही मानते हैं, पर यहाँ तो उस अपूर्वता की सत्ता वाच्यार्थ में भी बताई जा रही है, सो कैसे ? व्यंजना स्वरूपबोधमय आस्वाद की प्रक्रिया है। पण्डितराज के शब्दों में वह स्वरूप पर पड़े हुए आवरण का भंग है। उन्होंने कहा है : "व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्"-व्यक्ति या व्यंजना निरावरण चित् का ही नामान्तर है जो विज्ञानवादी बौद्धों की भाँति स्वरूपभूत आनन्द या आस्वाद का प्रकाशक होता है। 'प्रकाश'कार ने कहा है : "स्वाकार इव"–विज्ञान अपने ही आकार का प्रकाशक होता है। वस्तुतः कवि की प्रतिभा कोई नियम नहीं जानती, वह किसी नियम या सिद्धान्त से नहीं बँधती, तब इस नियम से कैसे बँध जायगी कि काव्योचित चारुता का सम्बन्ध व्यंजक शब्द या व्यंग्य अर्थ से ही है। यही तो प्रतिभा का स्वातन्त्र्य है कि वह चारुता का उद्रेक कहीं भी कर सकती है, वाच्यार्थ हो या व्यंग्यार्थ।

महिमभट्ट ने भी प्रतिभा या कवि व्यापार का स्वरूप निरूपित करते हुए माना है कि वह कविरूपी शिव की तीसरी आँख है जिससे वह व्यवहित-अव्यवहित, विप्रकृष्ट-अविप्रकृष्ट यानी देशकालगत और देशकालातीत समस्त विश्व के पदार्थजात का साक्षात्कार करती है। उनका कहना है कि पदार्थ का स्वरूप दो प्रकार का होता है– सामान्य और विशिष्ट। सामान्य स्वरूप परोक्ष प्रमाण से प्राप्त होता है और विशिष्ट रूप एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण से। यही प्रत्यक्षग्राह्य विशिष्ट रूप ही सत्कवियों की प्रतिभाप्रसूत वाणी का विषय बनता है। कारण, प्रतिभा नाम की जो उसकी तीसरी आँख है, उससे वह पदार्थजात की असाधारणता, विशिष्टता, कुछ और का ग्रहण करती है। क्रोचे ने भी कहा

है ज्ञान का इण्ट्यूटिव रूप 'व्यक्ति' या 'विशिष्ट' को और लाजिकल रूप 'सामान्य' को अपना विषय बनाता है। प्रतिभा द्वारा दृष्ट पदार्थ का यह असाधारण रूप, अपूर्व रूप, सुन्दर रूप पदार्थ का स्वाभाविक धर्म है, उत्पादित या आरोपित नहीं है।

कुन्तक भी इसी तथ्य को अपने ढंग से रेखांकित करते हैं। उनका भी मानना है कि प्रतिभा ही कवि व्यापार है और वही वक्रता है। काव्यभाषा की, सामान्य भाषा की अपेक्षा जो वैशिष्ट्य है, वह इसी प्रतिभा की प्रसूति है।

इन पारम्परिक भारतीय आचार्यों के उपर्युक्त विवेचन से जो निष्कर्ष निकलता है वह यह कि चारुता या पदार्थगत सुभग तत्त्व पदार्थ के स्पन्दमय स्वभाव में है। उसे सक्षम सर्जक प्रतिभा से कुरेदकर उभार देता है, वैयक्तिक विशेषताओं से मण्डित (अर्थ मात्र नहीं) संश्लिष्ट अर्थ या बिम्बार्थ का उपस्थापन करता है। हाँ, यदि प्रतिभा की नैसर्गिक आँख सर्जक में नहीं है तो वह उपस्थाप्य अर्थ में रमणीयता का आधान करता है, ऊपर से डालता है। ये सर्जक प्राथमिक या आभ्यासिक हैं। वक्रोक्तिजीवितकार ने इन दोनों प्रकार के कविकर्मों को दृष्टिगत कर कहा है :

"लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते-
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा कविः।
वन्दे द्वावपि तावुभौ···।"

अर्थात् प्रतिभा सम्पन्न कवि वस्तुमात्र में अव्यक्त रूप से निहित सूक्ष्म सुभगतत्त्व को अपनी वाणी से उभारकर सहृदय ग्राहक को दृष्टिगोचर करा देता है, पर जिसमें यह आँख नहीं है, वह भी प्रयत्नपूर्वक वर्ण्यवस्तु को मनोहर बना देता है। दोनों ही प्रकार के कवि वन्दनीय हैं।

जो आधुनिक आलोचक भारतीय आचार्यों के काव्यार्थ– संश्लिष्ट अर्थ या बिम्बार्थ के विवेचन को नहीं जानते और जो नहीं जानते कि उनके मत से अलंकार और गुण 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' और 'स्वभावधर्म' हैं, वे कुछ भी कहते हैं और कह सकते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी और डॉ. जगदीश गुप्त आदि तक यह कहते सुने जाते हैं कि पारम्परिक आचार्यों ने बिम्बार्थ की चर्चा नहीं की है। इन नवचिन्तकों को पारम्परिक काव्यशास्त्र की गम्भीरता और व्यापकता का मनोयोगपूर्वक अनुशीलन करना चाहिए। इस बिन्दु पर आगे और विचार किया जायगा।

सम्प्रति, लगे हाथ शैली वैज्ञानिकों का भी काव्य-भाषा के सम्बन्ध में क्या अभिमत है, यह देख लेना चाहिए। साथ ही यह भी देखना चाहिए कि वह काव्यभाषा के स्वरूप-विश्लेषण के सन्दर्भ में कितना आगे बढ़ता है ? बढ़ता है या नहीं बढ़ता है ?

इधर नए भाषाविदों ने 'आलोचना की नई भूमिका' अदा करने वाले 'शैलीविज्ञान' की चर्चा की है। 'शैली-विज्ञान' Stylistics का रूपान्तर है। 'विज्ञान' के साथ 'रीति' का जोड़ना जितना संगत है, 'शैली' का नहीं। कारण, भारतीय काव्यशास्त्र की 'रीति' की आन्तरिक प्रकृति वस्तुनिष्ठ है और 'विज्ञान' की भी। विपरीत इसके 'शैली' में आत्मनिष्ठता की प्रतिष्ठा है। भारतीय आचार्यों ने 'मार्ग' या 'रीति' को स्वभाव (दण्डी और कुन्तक) से जोड़कर 'स्वभाव' को भी 'वस्तुनिष्ठ' कर दिया है, कम से कम इस सन्दर्भ में। स्टाइलिस्टिक्स भी मानता है कि काव्यभाषा सामान्य भाषा पर ही समाधृत है, इसीलिए परिचित है फिर भी अपनी सर्जनात्मक प्रकृति के कारण 'अपरिचित' सी लगती है। सामान्य भाषा रूढ़ अर्थ के बोध द्वारा व्यवहार चलाती है या व्यवस्थित या शास्त्रीय होकर हमारे बोध की परिधि का विस्तार करती है। काव्यभाषा सर्जक या रचनाकार के अ-व्यक्तिगत स्तर पर स्वानुभूत सत्य का आकर्षक ढंग से सम्प्रेषण करती है। उसका सम्प्रेष्य संवेद्य सौन्दर्य या सुन्दर अनुभूति है। इसका ग्रहण 'प्रतिभा' सहकृत शब्द से होता

है। ग्राहक या सर्जक की 'प्रतिभा' का सहकार यदि शब्द को न मिले तो सर्जक सम्प्रेषित नहीं हो सकता। भारतीय चिन्तन में 'प्रतिभा' का स्वरूप तरह-तरह से परिभाषित किया गया है। कुछ लोग उसे चित्त का ही निर्मल रूप मानते हैं और कुछ चित् रूप ही बताते हैं। सामान्य भाषा एककेन्द्रिक होती है और काव्यभाषा बहुकेन्द्रिक। प्रतिभा के सम्पर्क से शब्द रणन ही नहीं अनुरणन करने लगता है और अनुरणन करती हुई अर्थ की परतें या छायाएँ एक बृहत्तर संश्लिष्ट अर्थचित्र निर्मित करती हैं। प्रतिभा अपने स्वरूप में अपरिमेय है, अतः शब्द द्वारा सम्प्रेषित होने वाले अर्थ अपनी सम्भावनाओं में पूर्णतः गृहीत ही हो जायँ, यह सम्भव नहीं।

'गहि न जाइ अस अद्भुत बानी'

स्टाइलिस्टों का विचार है कि सामान्य भाषा से काव्यभाषा 'चयन', 'विचलन', 'सादृश्य' और 'विरलता' जैसे प्रयोगों से अपना लक्ष्य प्राप्त करती है। मुकारोस्की कहता है : "Poetic language is characterized by a constant tension between automatization and forgrounding." अर्थात् काव्यभाषा का लक्षण ही है यन्त्रबद्धता और पेशबंदी के बीच निरन्तर तनाव बना रहना। इस पेशबंदी के उपर्युक्त चार स्रोत चर्चित हुए हैं। उसने कहा है कि पेशबन्दी भाषा के उपादान तत्त्वों का सर्जनात्मक उद्देश्य से परिचालित आवर्तन है। उक्त स्रोत परस्पर विकल्प नहीं अपितु पूरक हैं। प्रतिभा प्रयोक्ता या सर्जक का सामर्थ्य है। यही सामर्थ्य भाषा को वह सामर्थ्य प्रदान करता है जिससे वह अपना लक्ष्य वेध कर पाता है। भाषा का सामर्थ्य उसकी शक्ति है। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने शब्द-शक्तियों को आलोचना का कभी न चुकने और चूकने वाला अस्त्र कहा है। इस शब्दशक्ति पर जितना गहन विवेचन भारतीय आचार्यों ने किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए मैं यह मानता हूँ कि पौरस्त्य चिन्तक अपरिमेय सम्भावनाओं के सामान्य प्रतिमान दे गए हैं। नया प्रस्थान उसका विशेषीकरण और बोधगम्य विवरण है। 'चयन' पर्यायवाची शब्दों में से किसी एक का चयन है। कारण, उसमें रूढ़ अर्थ से अतिरिक्त अर्थ देने की क्षमता है। यह अतिरिक्त अर्थ सन्दर्भगम्य सम्प्रेष्य को संवाद की भूमि पर पहुँचा देता है। विचलन या विपथन मानक भाषा के नियमों का सोद्देश्य अतिक्रमण है, अतिरिक्त अर्थ प्राप्त करने के लिए। यही बात 'समान्तरता' या 'सादृश्य' और 'विरलता' के लिए कही जा सकती है। काव्य की सर्जनात्मक भाषा 'अतिरिक्त अर्थ' चाहती और देती है। ध्वनि सिद्धान्त इस अतिरिक्त अर्थ पर ही बल देता है। ध्वनिकार कहता है :

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥"(१/४)

सर्जकों की भाषा में यह अतिरिक्त अर्थ प्रतीयमान अर्थ है और वह रूढ़ अर्थ से भिन्न है। ठीक उसी प्रकार जैसे सर्व-सामान्य की दृष्टि में आनेवाले अंगों से तदाश्रित अतिरिक्त लावण्य। काव्यभाषा का यह सैद्धान्तिक पक्ष है। इस निकष पर प्रस्तुत कृति की भाषा का व्याकरणसम्मत तथा काव्यसम्मत परीक्षण भी करना चाहिए। इस पक्ष से बात करते समय कुछ सीमाओं और विवशताओं को दृष्टिगत न रखा जाय तो कृतिकार के साथ समुचित न्याय नहीं होगा। उन सीमाओं में से एक यह है कि रचयिता मूलतः कन्नड़भाषी है और संस्कृत के माध्यम से हिन्दी की ओर आया है। तीसरी बात यह कि जिस प्रकार की अनुभूति की इन्द्रधनुषी आभा से भाषा में काव्योचित बाँकपन फूटता है, वीतरागता के कारण उस पर आँच आई है। ऐसा नहीं है कि उसमें उस इन्द्रधनुषी आभा से भाषा को मण्डित करने की क्षमता नहीं है, पर वह उधर से विरक्त है। क्षमता का आकलन करना ही हो तो उनके प्रकृति वर्णन के प्रसंगों को लिया जा सकता है। लौकिक जीवन की अनुभूतियों के ज्वार-भाटे यहाँ हैं नहीं और अलौकिक शान्त की पार्यन्तिक दशा अवर्णनीय है। फलतः विवशतापूर्वक उपाय पक्षपरक संघर्ष का चित्रण या वर्णन मात्रा में अधिक है। शास्त्रकाव्य होने के कारण संवादों

की भाषा में सैद्धान्तिक मान्यताओं को उकेरने पर प्रातिभ संरम्भ ज़्यादा है। अतः ये सीमाएँ भाषागत काव्योचित आभा के पूर्ण प्रस्फुटन में आड़े आती हैं। कतिपय प्रयोग व्याकरण की दृष्टि में संस्कार च्युत हो सकते हैं, जैसा कि आलोचकों ने लक्षित किया है। रचयिता की एक और प्रवृत्ति है और वह है निर्वचन की। चमत्कार पर्यवसायी होने पर यह कुवलयानन्दकारसम्मत निरुक्ति अलंकार भी बन जाता है, पर वैसा न होने पर वह मात्र प्रौढ़ि प्रदर्शन है। विशेषकर संख्यापरक संयोजन का चमत्कार अकाव्योचित कुतूहल में पर्यवसित होता है। ये कुछ सीमाएँ आलोच्य कृति की भाषा की हो सकती हैं, पर उसकी कुछ उपलब्धियाँ भी हैं जिन्हें नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता।

रचयिता की भाषा सम्बन्धी सीमाओं का उल्लेख सामान्यतः ऊपर किया जा चुका है, अतः उसके विस्तार में मैं नहीं जाना चाहता। यहाँ भाषा सम्बन्धी उनकी उपलब्धियों की चर्चा की जायगी।

कृति की भाषा तत्सम बहुल परिष्कृत हिन्दी है। इसमें शास्त्रविशेष की पारिभाषिक शब्दावली भी है और इसका कारण सैद्धान्तिक मान्यताओं का उपस्थापन है। निश्चय ही इस कारण सामान्य पाठक - जो इस दर्शन और उसकी पारिभाषिक शब्दावली से अपरिचित है - कठिनाई का अनुभव करेगा और केवल काव्यभाषा का रसिक थोड़ा बिचकेगा।

इतना तो स्पष्ट है कि प्रस्तुत कृति में कई प्रकार के स्थल हैं – (१) भावसिक्त तथा सौन्दर्यबोध मण्डित प्रकृति के वर्णनात्मक स्थल (२) भावसिक्त स्थल (३) वैचारिक मान्यताओं से गर्भित स्थल (४) सामान्य वर्णनपरक इतिवृत्तवाही स्थल तथा अन्यविध। सर्वाधिक काव्योचित भाषा प्रथम प्रकार के वर्णनात्मक स्थलों की है जिसका उल्लेख पहले भी किया गया है।

प्रकृति वर्णन के प्रसंग पूर्वार्ध में ही हैं– प्रातःवर्णन, शिशिर, वसन्त एवं ग्रीष्म ऋतु वर्णन, सरिता वर्णन आदि। उत्तरार्ध में भी स्थिति विशेष के वर्णन उपलब्ध हैं। इन स्थलों की भाषा रंगीन है। इनमें रचयिता कभी-कभी सन्तजनोचित लक्ष्मण रेखा को लाँघ भी जाता है। यहाँ कल्पना भी है और शब्द-सामर्थ्य भी; ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता और उपचार-वक्रता भी; विचलन, सादृश्य, चयन और समान्तरता भी; आलंकारिक रुझान, बिम्ब और प्रतीक भी। अभिप्राय यह कि भाषा को काव्योचित बनाने के सभी सौन्दर्य स्रोत। इससे रचयिता की क्षमता का भी पता चलता है। अभिप्राय यह कि उसमें काव्यभाषा की गुणात्मक क्षमता है, मात्रात्मक प्राचुर्य न हो, यह बात भिन्न है।

आरम्भ से ही चलें। कृति का प्रारम्भ प्रातःकाल के रमणीय वर्णन और सरिता-वर्णन तथा दार्शनिक संवाद से है–माँ धरती और बेटी सरिता तट की मूकमाटी। इसमें कई खण्ड चित्र हैं, सबको जोड़कर प्रातःकाल का मनोरम चित्र उभरता है। निशा का अवसान है, उषा अपनी अरुणिमा में प्रतिष्ठित है। निरभ्र अनन्त में नीलिमा व्याप्त है और नीचे नीरवता छाई हुई है। इस विराट् चित्र के बाद कल्पना उमड़ पड़ी है और अप्रस्तुत बिम्ब-विधान की शृंखला बँध गई है। प्रथम अप्रस्तुत बिम्ब-विधान में प्रस्तुत इतना ही है कि अरुणाभ प्रभाकर मण्डल प्राची में उदित है। इस पर कल्पना में जो अप्रस्तुत का बिम्ब बना है, वह है एक ऐसे शिशु का, जो तन्द्रित अवस्था में अपने मुखमण्डल पर माँ का अरुणवर्णी आँचल डाले हुए अँगड़ाइयाँ ले रहा है। भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से यहाँ प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यंजना हो रही है, अतः समासोक्ति अलंकार है। भानु का मानवीकरण तो है ही। इसी वर्णन में एक दूसरा बिम्ब है। वर्णन वही प्रातः-कालीन अरुणाभ प्राची दिशा का है। बिम्ब अप्रस्तुत जो कवि की कल्पना में उभरता है वह है एक ऐसी नायिका का जिसने अपने सिर से पल्ला हटा लिया है और खुला हुआ सीमन्त सिंदूरी धूल से रंजित है। उसकी यह रंगीन राग की आभा बरबस सहृदय की आँखों को अपनी ओर खींच लेती है। रचयिता को यह मुद्रा भा गई है। यहाँ वीतराग सन्त के भीतर का अनासक्त सौन्दर्यदर्शी रचयिता मुखर हो उठा है। इसी प्रकार जहाँ एक ओर प्रभाकर की किरणों से संस्पृष्ट निमील-नोन्मुख कुमुदिनी पर यह कल्पना है मानो कुलीन पत्नी पर-पुरुष के हाथों के स्पर्श से बचने के निमित्त आत्मगोपन कर

रही है और पंखुरियों की ओट में अपनी सराग मुद्रा को छिपा रही है, वहीं दूसरी ओर अधखुली कमलिनी भी परपुरुष चाँद की चाँदनी तक का स्पर्श करना अनुचित समझती है, इसीलिए अपनी आँखें बन्द कर रही है। कवि इस निमीलन में कारण बता रहा है कि ईर्ष्या जो न करा दे, और वह भी स्त्री-पर्याय में तो उसकी सक्रियता और बढ़ जाती है। इस समग्र उक्ति से जो सौन्दर्य उभरता है उसमें समासोक्ति और अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि कार्य कर रही है। यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन भी है। एक अगला बिम्ब लें। चन्द्रमा अस्त हो रहा है, तारिकाएँ आसमान से एक-एक करके हट रही हैं। इस पर कवि की कल्पना यह है कि जब तारापति हट रहा है तो छाया की भाँति अनुगमन करने वाली उसकी पत्नियाँ भी पीछे-पीछे इस भय से भागी चली जा रही हैं कि कहीं परपुरुष प्रभाकर अपने फैलते हुए हाथों से उन्हें छू न ले। इस उक्ति को एक कोण से देखें तो तारिकाओं के सहज लुप्त होने में अकारण की कारण रूप से परिकल्पना है, फलतः हेतूत्प्रेक्षा है तो दूसरी ओर से उसमें एक बिम्ब की परिकल्पना भी है। मानवीकरण तो है ही। इस प्रकार यहाँ भी एकाधिक अलंकारों की संसृष्टि कही जा सकती है।

वर्णनात्मक स्थलों के काव्य सौन्दर्य की चर्चा पिछले पृष्ठों में भी की जा चुकी है। अतः उन स्थलों के काव्योचित सौन्दर्य स्रोतों की बानगी लेने के बाद सम्प्रति 'भावासिक्त प्रसंगों' को लिया जाय ओर देखा जाय कि उनमें आन्तरिक भावधारा की अभिव्यंजना कितनी शक्त और क्षम हो चुकी है। अनुभूति के गहरे एहसास में स्नातभाषा की दीप्ति देखनी हो तो घट की अन्तर्व्यथा की माँ के समक्ष की जाने वाली अभिव्यक्ति को देखें। उसके वर्ण-वर्ण वेदनासिक्त हैं। इसमें 'वैराग्य' या निर्वेद की तो व्यापक अभिव्यक्ति है ही, जिसमें नित्यानित्यत्व का 'विवेक' भी गर्भस्थ है। इस कर्मबन्ध से उत्पन्न दुःखराशि से मुक्त होने का 'औत्सुक्य' भी व्यंजित है। अभिप्राय यह कि अनेक संचारी भाव स्थायी निर्वेद की क्रोड में उन्मज्जन-निमज्जन करते हुए भाषा को दीप्ति प्रदान करते हैं। द्वितीय खण्ड में जहाँ प्रसंगात् विभिन्न रसों की व्यंजना का प्रसंग आया है, वहाँ भी रसोचित पदशय्या और अनुरूप विभाव-अनुभाव का संयोजन भाषा के समुचित संयोजन में पर्याप्त प्रभावी बन पड़ा है। भयानक और बीभत्स के बोलते चित्र देखे जा सकते हैं :

"इतना बड़ा गुफा-सम/महासत्ता का महाभयानक/मुख खुला है
जिसकी दाढ़-जबाड़ में/सिंदूरी आँखों वाला भय/बार-बार घूर रहा है बाहर,
जिसके मुख से अध-निकली लोहित रसना/लटक रही है
और/जिससे टपक रही है लार/लाल-लाल लहू की बूँदें-सी।" (पृ. १३६)

इसी प्रकार मूर्तिमान् बीभत्स का चित्र देखें :

"नासा बहने लगी प्रकृति की।/कुछ गाढ़ा, कुछ पतला
कुछ हरा, पीला मिला—/मल निकला, देखते ही हो घृणा!" (पृ. १४७)

ऐसी काव्योचित चित्रभाषा इन प्रसंगों में विद्यमान है।

कहीं-कहीं स्थिति-विशेष का चित्र भावविह्वल होकर ऐसा सहज और आलंकारिक उद्भावनाओं से उफन पड़ा है कि रचयिता की कल्पना-शक्ति की दाद देनी पड़ती है। प्रसंग है चौथे खण्ड का। सेठ समागत समादृत सत्पात्र गुरु के समक्ष अपनी व्याकुलता भरी जिज्ञासाएँ रखता है और उनकी ओर से समाधान मिलता जाता है, इस तरह :

"सेठ की शंकायें उत्तर पातीं/फिर भी···" (पृ. ३४९)

जिस मुद्रा में सेठ घर की ओर जा रहा है, उसका वर्णन उपमाओं के 'अपृथग्यत्नलनिर्वर्त्य' अविरल प्रवाह में पढ़ते बनता है।

कृति के पृ. ३४९ से पृ. ३५२ तक के अंश पठनीय हैं। एक अंश देखें:

"जल के अभाव में लाघव/गर्जन-गौरव-शून्य
वर्षा के बाद मौन/कान्तिहीन-बादलों की भाँति
छोटा-सा उदासीन मुख ले/घर की ओर जा रहा सेठ···।" (पृ. ३४९)

प्रसंगों की उद्भावना शक्ति काफी उर्वर है, यह कहना अनावश्यक है।

चौथा सन्दर्भ संवादों से भरी 'विचार प्रवण भाषा' का है। यह सही है कि सैद्धान्तिक मान्यताएँ संवादों से भरी पड़ी हैं। उनकी योजना ही इसीलिए है तथापि वे पारिभाषिक शब्दावली से इतनी बोझिल नहीं हैं कि एक सामान्य प्रबुद्ध सहृदयक पाठक की पकड़ से बाहर रह जायें। संकल्पानुसार जहाँ-तहाँ अपने प्रस्थान के विचार-गर्भ पारिभाषिक पद और वाक्य तक यहाँ-वहाँ आ गए हैं, जिन्हें काव्यशास्त्री 'अप्रतीतत्व' दोष से ग्रस्त मानते हैं। एक बात है कि रचयिता स्वयं जानता है कि वह जिनको केन्द्र में रखकर व्युत्पत्ति का आधान करने के निमित्त लिख रहा है वे सामान्य पाठक भी हो सकते हैं। अतः जब वह ऐसी कोई बात रखता है तब एक बार कह लेने के बाद भी शब्दान्तर से उसे और स्पष्ट करता चलता है। यह सही है कि काव्य शास्त्र नहीं है, पर काव्य विचारशून्य होता है, ऐसा भी नहीं है। विचारों की रेशमी डोर जितनी मजबूत होगी, भाव के पैग उतने ही लम्बे जा सकते हैं। एक उदाहरण लें :

"इस पर अतिथि सोचता है कि/उपदेश के योग्य यह
न ही स्थान है, न समय/तथापि/भीतरी करुणा उमड़ पड़ी
सीप से मोती की भाँति/पात्र के मुख से कुछ शब्द निकलते हैं :
'बाहर यह/जो कुछ भी दिख रहा है/सो···मैं···नहीं···हूँ
और वह/मेरा भी नहीं है'···।" (पृ.३४४-३४५)

यह एक दार्शनिक वक्तव्य है, सो सुबोध भी है और दुर्बोध भी। मतलब यह कि विचारगर्भ स्थलों की भाषा शास्त्र की दुर्बोध और व्याख्यागम्य भाषा नहीं है। भाषा जब अनुभूति से फूटती है और अनुवाद की नहीं होती, तब सुबोध होती है।

भाषा का पाँचवाँ सन्दर्भ 'घटनाओं के धारावाहिक वर्णनात्मक प्रसंगों' का है। चौथे खण्ड का उत्तरार्ध इसकी प्रयोगस्थली है। यद्यपि विचार-गर्भ संवादों की योजना से शून्य वह भी नहीं है। ये वर्णन इतिवृत्तात्मक पद्धति पर अभिधा की भाषा में हैं पर काव्यात्मक बनाने का प्रयास वहाँ भी रहता है, देखें :

"उद्दण्डता दूर करने हेतु/दण्ड-संहिता होती है/माना,
दण्डों में अन्तिम दण्ड/प्राणदण्ड होता है।" (पृ. ४३०-४३१)

ऐसी आनुप्रासिक योजना पाठक को खींचती है। घटना वर्णन की भाषा का प्रसंग है, अतः एक उदाहरण :

"तत्काल विदित हुआ विषधरों को/विप्लव का मूल कारण।
परिवार निर्दोष पाया गया/जो/इष्ट के स्मरण में लगा हुआ है,
गजदल सरोष पाया गया/जो/शिष्ट के रक्षण में लगा हुआ है।" (पृ. ४३०)

अन्त्यानुप्रास युक्त अभिधामयी सपाट भाषा है। अलंकार प्रयोग, ध्वनि और वक्रता-गर्भ भाषा के तमाम उदाहरण रखे जा सकते हैं, पर भूमिका की एक लक्ष्मण रेखा है, उसके बाहर भी नहीं जाना है। साथ ही सम्पादित संकलन में इस विषय पर विस्तृत निबन्ध मिलेंगे। अतः लेखनी विरत हो रही है।

भाषा पर विचार करने के सन्दर्भ में रचयिता की एक विशिष्ट प्रवृत्ति का उल्लेख करना आवश्यक है। समीक्षकों की दृष्टि इस तरफ गई है और इस पर महाकाव्योचित गम्भीरता के साथ खिलवाड़ की बात कही गई है, विशेषकर जहाँ ९ संख्या को लेकर गुणाभाग का प्रदर्शन हुआ है। द्वितीय खण्ड में कुम्भकार स्वनिर्मित घट पर कुछ संकेतक रेखाएँ, अंक और चित्र बनाता है। उन्हीं में यह कि घट के कर्णस्थान पर आभरण की भाँति प्रतीत होने वाले ९९ तथा ९ के अंक अंकित हैं। संख्याओं का यह अंकन तत्त्वोद्घाटक है जिसका विवरण रचयिता ने मूल में दिया है। बेहतर होता यदि यह गुणाभाग काव्य के भीतर से हटाकर पाद-टिप्पणी में अलग से रख दिया गया होता।

रचनाकार संस्कृत से हिन्दी की ओर आया है। 'पंचशती'-गत शतकों में उसने एकाक्षरी कोश का चमत्कार प्रदर्शित किया है। वही वृत्ति सन्दर्भवश यहाँ भी जहाँ-तहाँ उद्ग्रीव हो गई है। यह प्रवृत्ति ग्रन्थ की भाषा में आद्यन्त प्रयुक्त देखी जा सकती है। अवसरोचित अर्थ प्रायः व्युत्पत्तिपूर्वक निकाले गए हैं। पर कहीं-कहीं उसकी प्रौढ़ोक्ति भी है। 'सा-रे-ग-म-प-द-नि' में 'ध' की जगह बलात् 'द' रख दिया गया है ताकि अवसरोचित अर्थ संगति लगाई जा सके। 'कुम्भकार', 'नियति', 'पुरुषार्थ', 'दुहिता', 'अबला', 'नारी', 'महिला', 'कला' एवं 'गदहा' आदि यदि एक तरह के उदाहरण हैं तो 'दया-याद', 'चरण'···चर न' तथा 'न रच', 'धरणी-नीरध', 'ही'''रा'''रा'''ही', 'रा'' ख'' ख'' रा', 'आदमी'''आ-दमी' इत्यादि दूसरी तरह के हैं। 'श' - 'स' - 'ष' की व्याख्या एक तीसरी वृत्ति के उदाहरण हैं। कुवलयानन्दकार ने एक 'निरुक्ति' नामक अलंकार की चर्चा की है जो चमत्कारी निर्वचन पर समाधृत है। योगशक्ति से नामों की, जो भिन्न अर्थ में प्रचलित हैं, अर्थान्तर निकाला जाता है। यह सही है कि महाकाव्य की गम्भीरवृत्ति से यह चमत्कारी और कुतूहलतर्पक वृत्ति मेल नहीं खाती, तथापि महाकवियों की परम्परा में भी इसके दर्शन होते हैं। यह या ऐसे प्रयासों के पीछे निहित उपर्युक्त वृत्ति के ही कारण इन प्रयोगों को अधमकाव्य के अन्तर्गत कहा गया है। आनन्दवर्धन ने तो इन्हें आकार साम्य से औपचारिक रूप में ही काव्य माना है।

इन संकलित लेखों में दो-तीन पुस्तकाकार निबन्ध भी समाविष्ट हैं। 'मूकमाटी' सहित आचार्यश्री के विपुल वाङ्मय पर तीन दर्जन से अधिक शोधस्तरीय कार्य भी हो चुके हैं। इन बृहत्काय तथा लघुकाय निबन्ध और प्रबन्धों में 'मूकमाटी' से सम्बद्ध अनेक बिन्दुओं और पक्षों पर एक सीमा में प्रकाश डाला गया है जिन्हें परिशिष्ट में दिया गया है। यद्यपि दार्शनिक और काव्यपक्षीय बहुविध पक्षों पर उक्त प्रयासों से प्रकाश मिलता है तथापि महाकवि की रचनाओं में सम्भावनाओं की परतें निःशेष नहीं होतीं। आनन्दवर्धन ने महाकवि की पहचान बताते हुए कहा है :

"सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥" ध्व.प्र.उ./८

महाकवि के शब्दार्थ यत्नपूर्वक पुनः-पुनः अनुसन्धेय होते हैं, उनके अर्थ के अनन्त आकाश में प्रातिभ पक्ष की शक्ति के अनुसार पाठक का पक्षी निरावधि उड़ सकता है। इसलिए कहना यह है कि जिन बिन्दुओं पर प्रकाश डाला जा चुका है और जितना जो कुछ शोधकों ने अपने शोधग्रन्थ में संकलित किया है, उनके अतिरिक्त और भी अनेक पक्ष सम्भावनाओं से संवलित हैं, उन पर भी आगे कार्य होना चाहिए। उदाहरणार्थ :

१. 'मूकमाटी' का शब्द सामर्थ्य – अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि
२. 'मूकमाटी' की प्रातिभ विच्छित्ति और भंगिमाएँ
३. काव्यशास्त्रीय विभिन्न सम्प्रदाय और 'मूकमाटी' का वस्तु और रूप पक्ष
४. 'मूकमाटी' और वर्तमान के जीवन्त सन्दर्भ–रचनाकार का युगबोध
५. 'मूकमाटी' में व्याप्त रचनाकार का व्यावहारिक और व्यवहारातीत चेतना-वितान
६. 'मूकमाटी' में पूँजीवाद, आतंकवाद तथा अन्य विघटक प्रवृत्तियों का संकेत और उनकी निषेध्यता

७. 'मूकमाटी' में लोकमंगल और आत्ममंगल के विविध संकेत, साधन और समाधान
८. विविध भारतीय दर्शनों के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' में निर्दिष्ट दर्शन की आपेक्षिक और तुलनात्मक विशेषता का निरूपण
९. 'मूकमाटी' में क्रमागत भंगिमाएँ और नवाविष्कृत चमत्कारिक भंगिमाएँ
१०. 'मूकमाटी' में पात्रों की मनोदशाओं का मनोविज्ञान के आलोक में विवेचन
११. शान्त रस की पक्ष-प्रतिपक्ष पूर्वक स्थापना और 'मूकमाटी' में उसकी निष्पत्ति की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन
१२. हिन्दीतर विभिन्न भारतीय भाषाओं में निबद्ध महाकाव्यों के साथ 'मूकमाटी' के तुलनात्मक वैशिष्ट्य का आकलन
१३. पाश्चात्य प्रतिष्ठित महाकाव्यों के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' का वैशिष्ट्य निर्धारण

इस प्रकार अभी भी और सम्भावित बिन्दु विचारार्थ लिए जा सकते हैं और खोज के नए-नए द्वार उद्घाटित किए जा सकते हैं।

यह प्रबन्ध काव्य अपनी संयोजना में सर्वांग अभिनव प्रयोग का साहस लेकर सहृदयों की सभा में उपस्थित हुआ है, अतः उस पर तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ आई हैं और आती रहेंगी। प्रसाद की 'कामायनी' पर इसी प्रकार निरन्तर पक्ष-प्रतिपक्ष बनते रहे पर आज वह एक छायावादी महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित हो ही गई है। काल के निर्मम निकष पर यह भी कसा जायगा, यदि अपनी प्राणवत्ता इसमें होगी तो निस्सन्देह महाकाव्यों की परम्परा में इसे भी जगह मिलेगी या यह स्वयं अपनी जगह बना लेगा। नए प्रयास को जमे हुए लोगों के बीच अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में समय लगता ही है। इस सन्दर्भ में कविकुलगुरु कालिदास की उक्ति याद आती है :

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥"

सन्त वे ही हैं, सहृदय समीक्षक वे ही हैं जो बँधी-बँधाई लीक नहीं पीटते और स्वयं विवेकपूर्वक परीक्षा करके निर्णय लेते हैं कि कृति कहाँ तक ग्राह्य या अग्राह्य है। अन्ततः निर्णय ऐसे ही लोग देंगे, इस विश्वास के साथ यह लेखनी यहीं विराम लेती है।

पुनश्च, प्रस्तुत कृति इस रूप में सुसम्पादित होकर कभी भी न आ पाती, यदि मुनिवर्य श्री अभयसागरजी की अनन्य निष्ठा, अटूट श्रम और दुर्लभ धैर्य का कांचन किंवा पारस संस्पर्श न मिलता। जिस त्रुटि परिहार, परिष्कार और समुचित सुधार की बाट जोहते वर्षों बीत गए और उस चुनौती को उठाने वाला कोई नहीं दिखा, उस समय मुनिश्री ने स्वयं इस गुरुतर भार को उठाने का अदम्य संकल्प लिया। प्रसिद्ध श्लोक है :

"प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः, प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः, प्रारभ्य उत्तमजना न परित्यजन्ति॥"

'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'—श्रेयः सम्पादन में विघ्न आते ही हैं। ऊर्ध्वगमन में अधःकर्षक शक्तियाँ सक्रिय होती ही हैं। यह जानकर निम्नकोटि के लोग विघ्नभीत होकर शुभकार्य का आरम्भ ही नहीं करते। मध्यम कोटि के साधक आरम्भ तो कर देते हैं परन्तु विघ्नों से प्रतिहत होकर मध्य में ही विरत हो जाते हैं। वे साधक उच्चकोटि के हैं जो बार-बार विघ्नविहत होने पर भी आरब्ध को छोड़ते नहीं हैं, प्रत्युत उसे अभीष्ट गन्तव्य बिन्दु तक ले जाकर ही रुकते हैं। मुनिवर्य श्री अभयसागरजी ऐसे ही उत्तमकोटि के साधकों में परिगणित किए जाएँगे। इतने अनुयायियों और अनुधावियों

के बीच यही एक सिद्धसाधक दीप्तप्रभ नक्षत्र की भाँति सक्रिय हो उठे जिन्होंने चिरप्रतीक्षित चुनौती को ग्रहण कर वर्तनीशोधन तथा समस्त पाण्डुलिपि का पुनरीक्षण कर आरब्ध को सम्पन्नता प्रदान की। उनके भक्ति-निर्भर अथक प्रयास और समर्पण भावना से अवशिष्ट कार्य सम्पन्न हुआ। इसलिए सम्पादक के नाते मैं उन्हें नमन करता हूँ।

तीन खण्डों वाले इस ग्रन्थ के सम्पादन का कार्यभार पहले विद्वद्वर डॉ. प्रभाकर माचवे, नई दिल्ली को दिया गया था और उन्होंने बड़ी आस्था और निष्ठा के साथ अपना उत्तरदायित्व निबाहा, पर अकाल में कालकवलित हो जाने के कारण कार्य बीच में ही रुक गया। तदनन्तर आरब्ध के निर्वाह का दायित्व इन पंक्तियों के लेखक को मिला। और श्री सुरेश सरल, जबलपुर के द्वारा स्थापित व्यवस्था में स्थगित कार्य पुनः प्रारम्भ हुआ। दुबारा सन्तोषप्रद व्यवस्था में यह कार्य किया गया।

प्रासाद के निर्माण में घटकों की विभिन्न स्तरीय तथा विभिन्न स्थानीय घटना होती है। कुछ घटक शिखर पर होते हैं, कुछ अन्तराल में और कुछ नींव में पड़े रहते हैं जिसकी ओर लोगों का ध्यान नहीं जा पाता। इस कार्य में कुछ सारस्वत उपासकों का भी योगदान सहायक के रूप में है उनमें डॉ. रमेशदत्त मिश्र, पूर्व प्राचार्य, शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, सागर का उल्लेख आवश्यक है। उन्होंने अपने साथ डॉ. शकुन्तला चौरसिया, सहायक प्राध्यापिका, शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय-सागर, डॉ. सरला मिश्रा, सहायक प्राध्यापिका, शासकीय स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय, सागर एवं डॉ. राजमति दिवाकर, सहायक प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर को रखा था और उन्होंने एक सीमा में कुछ किया भी। जो कुछ और जितना किया, एतदर्थ उन लोगों को साधुवाद। अन्त-अन्त में प्रेमशंकर रघुवंशी, हरदा ने भी अपनी सेवाएँ दीं, तदर्थ उनको भी धन्यवाद देना उचित प्रतीत होता है।

प्रासाद के प्रबन्धन में प्रबन्ध सम्पादक मण्डलगत सर्वश्री सुरेश सरल, पूर्व मानद जनसम्पर्क अधिकारी, आचार्य श्री विद्यासागर शोध संस्थान,जबलपुर; सन्तोष सिंघई, अध्यक्ष,श्री दिगम्बर जैन अतिशय सिद्धक्षेत्र कुण्डलगिरि, कुण्डलपुर, दमोह, मध्यप्रदेश; नरेश दिवाकर (डी. एन.) विधायक,सिवनी; सुभाष जैन (खमरिया वाले) सुमत मेडीकल स्टोर्स, सागर ने अकूत योगदान किया है। श्री सरलजी ने लेखों का पत्राचार द्वारा संग्रहण कराया। श्री सुभाषजी का सहयोग अप्रतिम और श्लाघ्य है। वो संघोचित आतिथ्य में अपना उत्तरदायित्व निरन्तर जागरूकता से करते रहे हैं। अतः इनके कारण चाहे सागर हो या नेमावर या बिलासपुर, सर्वत्र मेरी सुव्यवस्था सम्पादित की गई, फलतः मैं अपना उत्तरदायित्व ठीक-ठीक अपनी सीमाओं में निभा सका। श्री सन्तोष सिंघई की भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सेवाएँ मिलती रहीं। साथ ही भाग्योदय तीर्थ, सागर; दयोदय तीर्थ, जबलपुर के कार्यकर्ताओं आदि का भी यथोचित सहयोग मिला है। अतः इन सभी को भी मैं अपना साधुवाद देना उचित समझता हूँ।

आचार्यश्री द्वारा स्थापित संघ के प्रति निष्ठावान, समर्पणशील और त्यागमूर्ति जिन श्रावकों का इस पुनीत संकल्प के कार्यान्वयन में स्मरणीय सहयोग रहा है, वे हैं : श्री पंकज जी प्रभात शाह, सुपुत्र श्रीमती चिन्तामणी जी धर्मपत्नी स्व. सवाई लाल जी मुम्बई एवं श्री सुन्दरलाल जी मूलचन्दजी, श्री कमल कुमार पवन कुमार अग्रवाल जी एवं श्री संजय कुमार संजीव कुमार जी मेक्स, श्री खेमचन्द जी इन्दौर। सम्पादक और प्रबन्ध सम्पादकों की ओर से इन्हें हार्दिक साधुवाद।

इस पाण्डुलिपि के प्रकाशन में भारतीय ज्ञानपीठ के पूर्व प्रबन्ध-न्यासी स्व. साहू रमेशचन्द्र जी के सात्त्विक संकल्प और उसके कार्यान्वयन में योगदान देनेवाले उनके आत्मज वर्तमान प्रबन्ध-न्यासी श्री अखिलेश जैन को सम्पादक की ओर से कृतज्ञता ज्ञापन उचित है। इस सन्दर्भ में एक वाक्य स्मरण आता है –'कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः'।

सम्पादक तथा मुनिवर्य श्री अभयसागर जी के इस पुनीत कार्य निर्वहण में जो योगदान है – वह तो है ही, पर इसकी सांगोपांगता में ज्ञानपीठ के मुख्य प्रकाशन अधिकारी डॉ. गुलाबचन्द्र जैन ने जागरूकता दिखाई है, तदर्थ हार्दिक

साधुवाद के वे भी सत्पात्र हैं।

इस प्रकार प्रकृत कार्य में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, साक्षात्-परम्परया जिसने भी, जो कुछ साहाय्य प्रदान किया है वे सभी साधुवाद के पात्र हैं। विशेषकर कम्प्यूटर में टंकण का पूरा कार्य सम्पन्न करने वाले *श्री दिलीप जैन 'गुड्डा', बेस्ट कम्प्यूटर्स, सागर* का बहुत-बहुत धन्यवाद, जिसके बिना सब किया, न किया ही रह जाता।

अन्ततः आचार्य श्री विद्यासागरजी के चरणों में प्रणति निवेदित करता हूँ जिनकी कृपा और जिनके वरदहस्त की छाया यदि न मिलती तो यह सब कभी भी सम्भव न हो पाता। सारे प्रासाद निर्माण में इन्हीं की कृपा सुगन्ध की तरह अदृष्टिगोचर होती हुई भी व्याप्त है। उनकी कृपा का आख्यान शब्दातीत है। वह केवल गुड़ की मिठास की भाँति अनिर्वचनीय है। शुभ कार्य में विघ्न आते ही हैं, पर आचार्यश्री का अमोघ आशीर्वचन तथा मुनि श्री अभयसागरजी की संकल्प दृढ़ता से सारे विघ्न निश्शेष हो गए। और वर्तमान स्थिति इसी सबकी वासन्तिक परिणति है। अतः उन्हें पुनः-पुनः नमन करता हुआ अपनी लेखनी को विराम प्रदान करता हूँ।

राममूर्ति त्रिपाठी



पृष्ठ ५८
इसी कार्य हेतु—
--- सुलझाते-सुलझाते

मूकमाटी-मीमांसा

तृतीय खण्ड

विषयानुक्रम

	उद्भावना	साहू अखिलेश जैन	v
	'मूकमाटी' : शब्द से शब्दातीत तक जाने की यात्रा (वार्तालाप)	डॉ. प्रभाकर माचवे	vii
	पातनिकी (सम्पादकीय)	प्रो. (डॉ.) राममूर्ति त्रिपाठी	xxv
अनुक्रम			
1.	'मूकमाटी' : एक सन्त महाकाव्य	डॉ. शिव प्रसाद कोष्टा	1
2.	'मूकमाटी' का दर्शन : समीक्षा के दो शब्द	डॉ. रामजी सिंह	6
3.	'मूकमाटी' : एक अपूर्व महाकाव्य	डॉ. श्रीधर वासुदेव सोहोनी	8
4.	हिन्दी महाकाव्य परम्परा में श्रेष्ठ कृति : 'मूकमाटी'	अक्षय कुमार जैन	9
5.	'मूकमाटी' : सन्त काव्य की आधुनिक परम्परा	डॉ. प्रेमशंकर	10
6.	'मूकमाटी' : एक अनुपम कृति	पुष्कर लाल केडिया	17
7.	दार्शनिक - वैचारिकता की सहज अभिव्यक्ति : 'मूकमाटी'	प्रो. (डॉ.) दिलीप सिंह	18
8.	हृदयग्राही काव्य : 'मूकमाटी'	डॉ. कैलाश चन्द्र भाटिया	25
9.	'मूकमाटी' : एक अध्ययन	डॉ. जगमोहन मिश्र	29
10.	भविष्यत् चेतना का महाकाव्य : 'मूकमाटी'	प्रो. (डॉ.) महावीर सरन जैन	47
11.	मानवता का महाकाव्य : 'मूकमाटी'	प्रो. (डॉ.) आनन्द प्रकाश दीक्षित	60
12.	साधक की साधना का प्रबन्धकाव्य : 'मूकमाटी'	डॉ. सुधाकर गोकाकर	61
13.	'मूकमाटी' : मानवता का अमर संगीत	प्रो. (डॉ.) सत्यरंजन बन्दोपाध्याय (बैनर्जी)	79
14.	'मूकमाटी'- अनुशीलन	प्रो. (डॉ.) रतनचन्द्र जैन	80
15.	'मूकमाटी' : सरस शैली में लिखित दार्शनिक महाकाव्य	डॉ. रमानाथ त्रिपाठी	96
16.	दार्शनिक विचार बीजों का पल्लवन : 'मूकमाटी' महाकाव्य	डॉ. विश्वनाथ भट्टाचार्य	97
17.	'मूकमाटी' : धर्म, दर्शन और अध्यात्म का सार	डॉ. हरि नारायण दीक्षित	98
18.	'मूकमाटी' महाकाव्य : एक कालजयी रचना	पद्मश्री रामनारायण उपाध्याय	99
19.	'मूकमाटी' : आचरण की शुचिता का महाकाव्य	डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र	101
20.	'मूकमाटी' : आधुनिक काव्य जगत् की अनुपम उपलब्धि	डॉ. विमलेश कुमार श्रीवास्तव	108

21.	नई शैली और नए भावबोध का महाकाव्य : 'मूकमाटी'	देवर्षि कलानाथ शास्त्री	114
22.	'मूकमाटी' : एक सन्तकवि की अनूठी काव्य यात्रा	प्रो. (डॉ.) देवव्रत जोशी	115
23.	'मूकमाटी' : एक प्रतीकात्मक दार्शनिक काव्य	प्रो. (डॉ.) सुदर्शन लाल जैन	122
24.	'मूकमाटी' : मंगल-यात्रा का काव्य	डॉ. (कु.) गिरिजा रानी मिश्रा	125
25.	'मूकमाटी' के प्रणेता	प्रो. (डॉ.) आर. डी. मिश्र	133
26.	'मूकमाटी' : मानव चेतना के विकास की गाथा	डॉ. शरेशचन्द्र चुलकीमठ	138
27.	'मूकमाटी' : भोग से योग की ओर प्रस्थान का एक अनुपम महाकाव्य	प्रो. (डॉ.) फूलचन्द जैन 'प्रेमी'	141
28.	स्वच्छन्द यथार्थ के साथ बौद्धिक लाक्षणिकता का समन्वय : 'मूकमाटी'	डॉ. केदार नाथ पाण्डेय	145
29.	'मूकमाटी' : संवेदना की साधना	डॉ. तालकेश्वर सिंह	156
30.	आधुनिक हिन्दी काव्य साहित्य की अद्भुत कृति : 'मूकमाटी'	दर्शन लाड़	161
31.	धर्म और लोक जीवन के समन्वय का अद्भुत महाकाव्य : 'मूकमाटी'	डॉ. शम्भू नाथ पाण्डेय	179
32.	शाश्वत सत्य की काव्यात्मक अभिव्यक्ति : 'मूकमाटी'	डॉ. एच. एल. मिश्र	186
33.	माटी और जीवन यथार्थ से जुड़ी कविताओं का महाकाव्य : 'मूकमाटी'	डॉ. हौसिला प्रसाद मिश्र	189
34.	अध्यात्म-विद्या का सागर : 'मूकमाटी' महाकाव्य	डॉ. विमल कुमार जैन	194
35.	भारतीय संस्कृति एवं साहित्य का विश्वकोश : 'मूकमाटी' महाकाव्य	डॉ. उमेश प्रसाद सिंह 'शास्त्री'	205
36.	सन्त काव्य-परम्परा की अद्वितीय प्रस्तुति : 'मूकमाटी'	डॉ. नागेश्वर सिंह	207
37.	'मूकमाटी' की एक झलक	डॉ. रमापति राय शर्मा	215
38.	'मूकमाटी' : दार्शनिक विचार एवं तीव्र अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति	डॉ. आर. सी. शुक्ल	237
39.	'मूकमाटी' : मिथक के काव्य में रूपान्तरण की प्रक्रिया	डॉ. शशि मुदीराज	238
40.	'मूकमाटी' : हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों को नया मोड़ और प्रतीकार्थ देने वाला महाकाव्य	डॉ. नरेन्द्र भानावत	243
41.	'मूकमाटी' : एक अद्वितीय रचना	डॉ. (मिस) पी. सी. साल्वे	244
42.	शब्दों के जादूगर आचार्य विद्यासागर और उनकी 'मूकमाटी'	डॉ. पवन कुमार जैन	254
43.	'मूकमाटी' : पिछले दशक की एक सर्वाधिक सशक्त कृति	डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र	263
44.	'मूकमाटी' : युग की महान् उपलब्धि	डॉ. योगेश्वरी शास्त्री	273
45.	सारस्वत साधना का स्वर्णकलश : 'मूकमाटी' महाकाव्य	प्रो. अक्षय कुमार जैन	280
46.	'मूकमाटी' और शब्दविनोदी आचार्य श्री विद्यासागर	डॉ. महावीर प्रसाद उपाध्याय	283
47.	'मूकमाटी' : अपनी ही शैली का एक नया महाकाव्य	डॉ. वेद प्रकाश द्विवेदी	291
48.	'मूकमाटी' का शैलीय वैशिष्ट्य	डॉ. भगवान दीन मिश्र	298
49.	'मूकमाटी' की मानवीय संवेदना	डॉ. रामनारायण सिंह 'मधुर'	301
50.	'मूकमाटी' की संवेदना	डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय	306
51.	हिन्दी वाङ्मय की एक अमूल्य निधि : 'मूकमाटी'	एस. एन. ठाकुर	311
52.	हिन्दी का प्रथम सफल दार्शनिक महाकाव्य : 'मूकमाटी'	डॉ. दुर्गा शंकर मिश्र	312
53.	'मूकमाटी' महाकाव्य में अभिनव अर्थबोधक शब्द-प्रयोग	डॉ. तिलक सिंह	319
54.	मृण्मय से चिन्मय तक की विकास-यात्रा : 'मूकमाटी'	प्रो. (डॉ.) विश्वास पाटील	327
55.	'मूकमाटी' महाकाव्य : जीवन का उद्बोधन	डॉ. (श्रीमती) महाश्वेता चतुर्वेदी	333
56.	'मूकमाटी' : भावों के बिन्दु, रेखाएँ और तल	प्रो. लक्ष्मी चन्द्र जैन	336

57.	'मूकमाटी' : विकास यात्रा की निरन्तरता - पद, पथ और पाथेय	डॉ. सन्तोष कुमार तिवारी	342
58.	'मूकमाटी' में अलंकार	पण्डित विष्णुकान्त शुक्ल	348
59.	'मूकमाटी' : एक उत्कृष्ट काव्यकृति	डॉ. रामेश्वर प्रसाद द्विवेदी	352
60.	'मूकमाटी' : अधुनातम आध्यात्मिक रूपक महाकाव्य	डॉ. पुष्पलता जैन	354
61.	A Mythopoetic Epic of Jainism	Dr. Om Parkash Biyani	359
62.	'मूकमाटी' में प्रतिपादित जैन तत्त्वदर्शन : एक परिचय	डॉ. मधु धवन	361
63.	'मूकमाटी' : जीवन का अनुचिन्तन	रञ्जन त्रिवेदी	372
64.	सन्त साहित्य की आध्यात्मिक साधना और 'मूकमाटी'	डॉ. कृष्णलाल शर्मा 'सूदन'	376
65.	'मूकमाटी' : एक जीवन्त महाकाव्य	मिश्रीलाल जैन	383
66.	'मूकमाटी' : ग्रन्थिभंजक सर्जना	डॉ. (श्रीमती) कृष्णा अग्निहोत्री	386
67.	'मूकमाटी' : माटी पर हिन्दी में लिखा पहला महाकाव्य	डॉ. शिवसिंह पतंग	388
68.	कालजयी कृति : 'मूकमाटी'	डॉ. कुसुम पटोरिया	390
69.	'मूकमाटी' : आधुनिक परिवेश की जीवन्त अभिव्यक्ति	डॉ. के . आर. मगरदे	403
70.	आज के अन्धकार युग में प्रकाश स्तम्भ : 'मूकमाटी'	आलोक वर्मा	411
71.	'मूकमाटी' : सामाजिक चेतना का महाकाव्य	डॉ. ब्रजबिहारी निगम	417
72.	नारी शब्द के पर्यायों की सार्थक अभिव्यंजना : 'मूकमाटी'	डॉ. (श्रीमती) नीलम जैन	421
73.	'मूकमाटी' में मुखर चिन्तन	डॉ. हनुमन्त नायडू	424
74.	'मूकमाटी' : सन्त की अन्तरात्मा का प्रस्फुटन	आचार्य गणेश शुक्ल	426
75.	भारतीय मनीषा की तत्त्व-सृष्टि : 'मूकमाटी'	डॉ. चक्रधर नलिन	427
76.	सन्त काव्य परम्परा को नई सन्ध्या भाषा में बढ़ाने वाली : 'मूकमाटी'	डॉ. विद्या बिन्दु सिंह	428
77.	'मूकमाटी' की सामाजिक चेतना	डॉ. (श्रीमती) सुशीला सालगिया	429
78.	'मूकमाटी' महाकाव्य में प्रयुक्त प्रमुख सूक्तियों का मूल्यांकन	डॉ. सतीराम सिंह 'सरस'	434
79.	अ-मूक 'मूकमाटी'	लालचन्द्र हरिश्चन्द्र जैन	445
80.	'मूकमाटी' : आध्यात्मिक महाकाव्य	डॉ. परशुराम 'विरही'	448
81.	'मूकमाटी' : आध्यात्मिक जीवन की देन	पं. भँवर लाल जैन	449
82.	आध्यात्मिक उत्कर्ष का रसकलश : 'मूकमाटी'	डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'	451
83.	'मूकमाटी' : एक विवेचन	डॉ. पी. के. बालसुब्रह्मण्यन	454
84.	'मूकमाटी' की सूक्तियाँ : आत्मकल्याण की संजीवनी बूटी	डॉ. हेमलता सावकार	457
85.	गहन दर्शन का सरल काव्य : 'मूकमाटी'	डॉ. (श्रीमती) सन्ध्या भराडे	462
86.	'मूकमाटी' : एक कमनीय कल्पना	मगनलाल 'कमल'	465
87.	'मूकमाटी' में निहित 'माटी' का स्वरूप	डॉ. विनोद कुमार जैन एवं डॉ. अर्पणा जैन	467
88.	अध्यात्म रस का शब्दशास्त्र : 'मूकमाटी'	डॉ. (श्रीमती) अलका प्रचण्डिया 'दीति'	470
89.	आचार्य श्री विद्यासागर और उनका महाकाव्य 'मूकमाटी'	डॉ. लक्ष्मी नारायण गुप्त	472
90	'मूकमाटी' : एक वीतराग सन्त साहित्यकार की काव्ययात्रा	के. एल. सेठी	474
91.	'मूकमाटी' : महिला शक्ति के प्रति महान् आदर की अभिव्यक्ति	सम्पादक-सन्मार्ग (हिन्दी दैनिक)	476
92.	'मूकमाटी' का विद्यासागरीय संवाद	राम प्रकाश	477
93.	युग की प्रतिनिधि रचना : 'मूकमाटी'	राजेश पाठक	479

94. मूकमाटी की मूक व्यथा की सार्थक प्रस्तुति : 'मूकमाटी' महाकाव्य — मोदी ताराचन्द जैन — 481

परिशिष्ट : प्रथम

95. आचार्य श्री विद्यासागर : व्यक्तित्व, जीवन-दर्शन और रचना संसार — प्रो. (डॉ.) राममूर्ति त्रिपाठी — 485

परिशिष्ट : द्वितीय

96. आचार्य श्री विद्यासागर : व्यक्तित्व, सृजन एवं शोध-संदर्भ — 525

परिशिष्ट : तृतीय

97. लेखकों के पते — 552



'मूकमाटी' : एक सन्त महाकाव्य

डॉ. शिव प्रसाद कोष्टा

'काव्य प्रकाश' के रचयिता आचार्य मम्मट ने काव्य प्रयोजनों को स्पष्ट करते हुए लिखा है : "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यःपरिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।" काव्य की रचना यशःप्राप्ति, धनलाभ, व्यवहार ज्ञान, मानव के लिए अशिव, अमांगलिक, हितविरुद्ध कार्य-कारणों हेतुओं के क्षय, तत्काल दुःखमोक्ष अर्थात् सुख-शान्ति की अनुभूति और कान्ता के समान प्रिय उपदेश प्रदान के लिए होती है। मम्मट के इन काव्य प्रयोजनों की कसौटी दिगम्बर जैनाचार्य विद्यासागरजी द्वारा रचित 'मूकमाटी' महाकाव्य पर लगाकर देखें तो स्पष्टतः 'मूकमाटी' के निष्काम, निःसंग महाकवि ने यशलाभ, धनलाभ, व्यवहार ज्ञान एवं कान्ता के समान प्रिय उपदेश प्रदान करने के लिए इस महाकाव्य का प्रणयन नहीं किया। इसकी रचना में उनके दो प्रयोजन स्पष्ट दिखाई देते हैं–शिवेतर यानी अशिव अथवा अकल्याणकर का क्षय तथा सद्यः दुःख-मुक्ति। तथापि इससे कवि को अनन्य यशःलाभ भी हुआ है। अध्यात्म के साथ-साथ व्यवहार ज्ञान इस कृति में पग-पग पर बिखरा पड़ा है। 'मूकमाटी' का प्रत्येक सुबुद्ध पाठक स्वयं इसकी साक्षी दे सकता है। कान्ता के समान प्रिय उपदेश न होने पर भी अध्यात्म के प्रखरवेत्ता की अन्तश्चेतना से प्रसूत होने तथा अविलम्ब, अविराम सुख शान्तिप्रद-सन्तपाक होने से वह अमृत के समान मधुर और प्रिय है, इसमें सन्देह नहीं।

काव्यलक्षणों की दृष्टि से 'मूकमाटी' की समीक्षा में जाना इस लेखक का प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वह साहित्य-शास्त्र का मर्मज्ञ नहीं है। सन्त के जीवन की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक श्वास, प्रत्येक विचार और प्रत्येक शब्द सब जीवों के शिवेतर क्षय, सब दुःख-मुक्ति के लिए होता है। इस दृष्टि से ही यह लेखक 'मूकमाटी' पर कुछ लिखने में प्रवृत्त हुआ है।

"अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः" तथा "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः"– ये दो उद्धरण भारतीय वाङ्मय में कवि के व्यक्तित्व और उसके स्थान व सम्मान की सुन्दर व्याख्या करते हैं। इन उद्धरणों के प्रकाश में दिगम्बर जैनाचार्य पूज्य विद्यासागरजी महाराज के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर विचार करते हैं तो ये शत-प्रतिशत सत्य और सटीक सिद्ध होता है तथा उनका 'मूकमाटी' महाकाव्य इसका जीवन्त और जाज्वल्यमान प्रमाण है। भारतीय परम्परा में "वक्तुः प्रामाण्यात् वचनप्रामाण्यम्" के अनुसार वक्ता को प्रामाण्य अथवा प्रामाणिकता ही उसके वचनों की प्रामाणिकता की कसौटी है। "परोपदेशे पाण्डित्यम्" को इस भूमि में सम्मान प्राप्त नहीं हुआ। यह भूमि ऋतसाधनों की है और 'ऋत' का दर्शन ही इस संस्कृति का प्राण तथा आत्मसर्वस्व है। 'कान्त' और यह जो 'ऋत' है वह यहाँ सत्य, धर्म, परमसत्, परमधर्म, परब्रह्म, परमयज्ञ तथा इस ब्रह्माण्ड में जो भी कुछ श्रेष्ठतम, प्राप्यतम व आराध्यतम है, उस सबका प्रतीक है। ऋत-दर्शन की इस पृष्ठभूमि में आचार्यश्री की 'मूकमाटी' नामक यह काव्यकृति 'ऋत' के ही विविध पक्षों की अकृत्रिम अभिव्यक्ति है और वे स्वयं इसके वक्ता। आचार्यश्री के आभ्यन्तर व बाह्य और बाह्य व आभ्यन्तर जीवन की शुद्धता, पवित्रता, तन्मयता, काय-वाक्-मनोकर्म की एकता व अभिन्नता के कारण वे ऋतवाक् हैं और ऋतद्रष्टा भी; ऋतगामी हैं और ऋतदर्शक भी; ऋतज्ञ भी हैं और ऋतद भी; ऋतसाधक भी हैं और स्वयं ऋतमय भी। सत्य उनकी वाणी है और सत्य है उनका दर्शन। सत्य ही उनका मार्ग है और वही है उनका गन्तव्य। ऐसे आचार्यश्री द्वारा रचित 'मूकमाटी' जीवन के और जगत् के नाना सत्यों का ऐसा ही ऋतपरक निदर्शन है। अतः मैंने निश्चय किया है कि अपनी ओर से कुछ न कहकर क्यों न मैं उन्हीं के शब्दों में 'मूकमाटी' पर कुछ कहूँ, क्योंकि जो सत्य, सरल (ऋजु) और स्वाभाविक है उसे चाहे जितनी बार क्यों न दोहराया जाय, उससे उसकी रसवत्ता कम नहीं होती अपितु उस सत्य के स्वयंवेदन के साथ-साथ निरन्तर और अधिक बढ़ती जाती है।

सृजन के पथ पर 'मूकमाटी' की यात्रा पथिक के रूप में ही आरम्भ होती है। गन्तव्य की प्राप्यता, आत्मशक्ति

में अडिग विश्वास और तन-मन की एकाग्रता उसकी पहली शर्त है और वही है उसका पहला कदम। अतः वे कहते हैं :

"पथ पर चलता है/सत्पथ-पथिक वह
मुड़कर नहीं देखता/तन से भी, मन से भी।" (पृ. ३)

पर पथिक सत्य से असत्य को अलग करके पहचान न सके तो सत्य का सन्धान कैसे सम्भव है ? इसीलिए कहा :

"असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है, बेटा !" (पृ.९)

फिर कहते हैं :

"आस्था के विषय को/आत्मसात् करना हो/उसे अनुभूत करना हो तो
साधना/के साँचे में/स्वयं को ढालना होगा सहर्ष !
पर्वत की तलहटी से भी/हम देखते हैं कि/उत्तुंग शिखर का
दर्शन होता है,/परन्तु/चरणों का प्रयोग किये बिना
शिखर का स्पर्शन/सम्भव नहीं !" (पृ. १०)

और साथ ही यह भी कि :

"आस्था के बिना रास्ता नहीं।" (पृ. १०)

क्योंकि सत्पथ के निःसंग, निर्मोही पथिक का वही तो एकमात्र 'पाथेय' है। 'आस्था' नामक इस 'पाथेय' के बिना क्या कभी कुछ भी महान् घटित हुआ है, या हो सकता है इस धरती पर ?

सरल होने पर भी सत्य के पथ का पीड़ा रहित होना सम्भव नहीं और उस पीड़ा का अ-शेष हो जाना ही उसका निःशेष (निरोध) हो जाना है। अतः कहते हैं : *" पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है" (पृ. ३३)*। "दर्द का हद से गुज़र जाना है, दवा हो जाना"– शायर की इस पंक्ति की यह कहानी चरितार्थ है। इसी सन्दर्भ में पश्चिमी सभ्यता और भारतीय संस्कृति की संक्षिप्त, सारगर्भित तुलना कवि की वाणी में परखिए :

"पश्चिमी सभ्यता/आक्रमण की निषेधिका नहीं है/अपितु
आक्रमण-शीला गरीयसी है/...और/महामना जिस ओर
अभिनिष्क्रमण कर गये/सब कुछ तज कर, वन गये/...उसी ओर···
उन्हीं की अनुक्रम-निर्देशिका भारतीय संस्कृति है
सुख-शान्ति की प्रवेशिका है।" (पृ. १०२)

वे बताना चाहते हैं :

"चेतन वाले वतन की ओर/कम ध्यान दे पाते हैं,
और/चेतन वाले तन की ओर/कब ध्यान दे पाते हैं ?
इसीलिये तो···/राजा का मरण वह/रण में हुआ करता है
प्रजा का रक्षण करते हुए/और/महाराज का मरण वह
वन में हुआ करता है/ध्वजा का रक्षण करते हुए,
जिस ध्वजा की छाँव में/सारी धरती जीवित है।" (पृ. १२३)

कोई-कोई नासमझ, दिग्भ्रान्त, नियतिवादी, मूढ़जन ऐसा कहते हैं कि कर्म-सिद्धान्त के अनुसार दया करना मूढ़ता है, क्योंकि सब जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोगते हैं, अतः हमें उनके कर्म-फल भोग में किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं करनी चाहिए। उनके लिए कहते हैं कि दूसरों पर दया करना, स्वयं अपने पर दया करना है :

- *''धम्मो दया-विसुद्धो''* तथा *''धम्मं सरणं गच्छामि''* (पृ. ७०)
- *''पर पर दया करना/बहिर्दृष्टि-सा''मोह-मूढ़ता सा''*
  स्व-परिचय से वंचित सा''/अध्यात्म से दूर''/प्रायः लगता है...
  ...पर की दया करने से/स्व की याद आती है/और
  स्व की याद ही/स्व-दया है।'' (पृ. ३७-३८)

इस देश की आत्मावलम्बन, आत्मविश्वास तथा आत्मनिर्माण की आश्रम संस्कृति का परिचय देते हुए आचार्यश्री कहते हैं :

- *''यह/उपाश्रम का परिसर है/...यहाँ पर/जीवन का 'निर्वाह' नहीं*
  'निर्माण' होता है/इतिहास साक्षी है इस बात का।/अधोमुखी जीवन
  ...सहारा देनेवाला बनता है।'' (पृ. ४२)
- *''ऋषि - सन्तों का/सदुपदेश–सदादेश/हमें यही मिला कि*
  पापी से नहीं,/पाप से/पंकज से नहीं/पंक से/घृणा करो।/अयि आर्य !
  नर से/नारायण बनो/समयोचित कर कार्य।'' (पृ. ५०-५१)

आज के भारत में 'धर्म' और नैतिक जीवन की दुर्दशा एवं स्वार्थपरता पर कवि अपनी मर्मान्तक पीड़ा इन शब्दों में अभिव्यक्त करता है। अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता और समादर की तो बात ही क्या ? आज का दुःखद और कटु सत्य तो यह है कि सहधर्म, सजाति में ही बैर - वैमनस्य भाव परस्पर देखे जाते हैं। यथा–श्वान, श्वान को देखकर ही, नाखूनों से धरती को खोदता हुआ गुर्राता है बुरी तरह।

- *'' ''वसुधैव कुटुम्बकम्''/इस व्यक्तित्व का दर्शन/स्वाद–महसूस*
  इन आँखों को/सुलभ नहीं रहा अब''!/यदि वह सुलभ भी है
  तो भारत में नहीं/महा-भारत में देखो !
  भारत में दर्शन स्वारथ का होता है।'' (पृ. ८२)
- *''''वसुधैव कुटुम्बम्''/इस का आधुनिकीकरण हुआ है/'वसु' यानी धन द्रव्य*
  'धा' यानी धारण करना/आज/धन ही कुटुम्ब बन गया है
  धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।'' (पृ. ८२)

धर्म और समाज में तथाकथित नेताओं के झूठ, कपट और आडम्बर पर मर्मवेधक तीव्र प्रहार करते हुए कवि कहता है :

''उस पावन पथ पर/दूब उग आई है सब !/वर्षा के कारण नहीं,
चरित्र से दूर रह कर/केवल कथनी में करुणा रस घोल
धर्मामृत-वर्षा करने वालों की/भीड़ के कारण !/आज पथ दिखाने वालों को
पथ दिख नहीं रहा है, माँ !/कारण विदित ही है–/जिसे पथ दिखाया जा रहा है वह
स्वयं पथ पर चलना चाहता नहीं,/औरों को चलाना चाहता है

और/इन चालाक, चालकों की संख्या अनगिन है।" (पृ. १५२)

इसी में चार अक्षरों की कविता में कहते हैं :

" 'मैं दो-गला'/...मैं द्विभाषी हूँ/भीतर से कुछ बोलता हूँ
बाहर से कुछ और"'/पय में विष घोलता हूँ।" (पृ. १७५)

और वे सावधान करते हैं कि अरे बन्धु सोचकर तो देख :

"भोग पड़े हैं यहीं/भोगी चला गया,/योग पड़े हैं यहीं/योगी चला गया
कौन किस के लिए/धन जीवन के लिए/या जीवन धन के लिए ?
मूल्य किसका/तन का या वेतन का,/जड़ का या चेतन का ?" (पृ.१८०)

कवि त्रिकालदर्शी होता है और उसकी वाणी समय की परतों को भेदकर गूँजती है। ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध ने कहा था : "नहि बैरेन बैराणि सम्मन्तीध कदाचन। अबैरेन च सम्बन्ती एसधम्मो सनन्तनो।" आज आचार्यश्री के मुख से मूकमाटी उसी भाव का साक्षात्कार करते हुए कहती है कि बैर, बदले का भाव पर का घात करे या न करे, आत्मा का घात अवश्य करता है।

"बदले का भाव वह दल-दल है/कि जिसमें/बड़े-बड़े बैल ही क्या
बल-शाली गज-दल तक/बुरी तरह फँस जाते हैं/और/गल-कपोल तक
पूरी तरह धँस जाते हैं।/बदले का भाव वह अनल है
जो/जलाता है तन को भी, चेतन को भी/भव-भव तक !" (पृ. ९७ -९८)

अज्ञजन सत्य तत्त्व की परख-पहचान किए बिना मन्त्र या शास्त्र को ही अच्छा-बुरा कहने लगते हैं। कवि उन्हें सम्बोधित करते हैं जो उसका अच्छा-बुरा अर्थ या उपभोग करता है :

"मन्त्र न ही अच्छा होता है/ना ही बुरा
अच्छा, बुरा तो/अपना मन होता है।" (पृ. १०८)

'मूकमाटी' सम्बोधन है माँ धरती का। अपनी सन्तानों से कहती है माँ :

"सुत को प्रसूत कर/विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करने मात्र से/माँ का सतीत्व वह
विश्रुत—सार्थक नहीं होता/प्रत्युत/सुत-सन्तान की सुषुप्त शक्ति को
सचेत और/शत-प्रतिशत सशक्त—/साकार करना होता है, सत्-संस्कारों से।
सन्तों से यही श्रुति सुनी है/सन्तान की अवनति में/निग्रह का हाथ उठता है माँ का
और/सन्तान की उन्नति में/अनुग्रह का माथ उठता है माँ का।" (पृ. १४८)

जयशंकर प्रसाद की अमरकृति 'कामायनी' में महाप्रलय के जलप्लावन के उपरान्त मनु और श्रद्धा के कालजयी संवाद को मानों प्रतिध्वनित-सा करते हुए मूकमाटी की यह अनुगूँज कर्णकुहरों से हृदय सरोवर में प्रवेश कर उसे आलोड़ित-बिलोड़ित, मथित, विक्षुब्ध-सा करती प्रतीत होती है। पुरुष जाति को मद, अहंकार और गर्व की प्रगाढ़ मोह-निद्रा से झकझोर कर उठाती, सम्बोधित करती है मूकमाटी कि मेरे पुरुष बन्धु, मीत, तनिक होश में आ और सुन!

"अतीत के असीम काल-प्रवाह में/स्त्री-समाज द्वारा
पृथ्वी पर प्रलय हुआ हो/सुना भी नहीं, देखा भी नहीं।
...अपने हों या पराये,/भूखे-प्यासे बच्चों को देख
माँ के हृदय में दूध रुक नहीं सकता।" (पृ. २००-२०१)

और फिर पुरुष व स्त्री दोनों को ही मानो एक साथ सम्बोधन करते हुए कहती है माटी :

- *"क्या सदय-हृदय भी आज/प्रलय का प्यासा बन गया ?*
  क्या तन-संरक्षण हेतु/धर्म ही बेचा जा रहा है ?
  क्या धन-संवर्धन हेतु/शर्म ही बेची जा रही है ?" (पृ. २०१)

- *"स्त्री-जाति की कई विशेषताएँ हैं/जो आदर्श रूप हैं पुरुष के सम्मुख।*
  ...प्रायः पुरुषों से बाध्य हो कर ही/कुपथ पर चलना पड़ता है स्त्रियों को
  परन्तु/कुपथ-सुपथ की परख करने में/प्रतिष्ठा पाई है स्त्री-समाज ने।
  इनकी आँखें हैं करुणा की कारिका/शत्रुता छू नहीं सकती इन्हें।" (पृ. २०१)

- *"मही यानी धरती/धृति-धारणी जननी के प्रति/अपूर्व आस्था जगाती है।*
  और पुरुष को रास्ता बताती है/सही-सही गन्तव्य का—
  'महिला' कहलाती वह !" (पृ. २०१-२०२)

इन तथा आगे के कई पृष्ठों में आचार्य विद्यासागर ने 'मूकमाटी' के मुख से समाज में नारी की स्थिति, उसका सहज स्वभाव और सरल, सदय प्रवृत्ति, पुरुष के समक्ष उसकी बाध्यता तथा नारी के स्त्री, नारी, महिला, अबला, कुमारी, सुता, दुहिता, मातृ एवं अंगना—इन विभिन्न नाम रूपों की सार्थक व्युत्पत्तियाँ और व्याख्याएँ काव्यभाषा में दी हैं, जिनसे कवि के हृदय में नारी विषयक महत् श्रद्धा, सम्मान और आदर भाव अभिव्यक्त होता है।

सम्पूर्ण 'मूकमाटी' और उसके सभी पक्षों पर एक व्यक्ति एक छोटे-बड़े लेख में विचार कर सके व न्याय कर सके, ऐसा सम्भव नहीं है। 'मूकमाटी' महाकाव्य है और महाकाव्य के सभी शास्त्रीय लक्षण अथवा गुण उसमें विद्यमान हैं। उन सभी का निदर्शन मात्र भी पर्याप्त समय और विस्तार माँगता है। अतः मेरे जैसे सामान्य रंचमात्र रसग्राही पाठक के लिए वैसा प्रयत्न न करणीय है, न साध्य। अन्य मूर्धन्य आधुनिक काव्य समीक्षकों ने 'मूकमाटी' के रस, रीति, अलंकार व ध्वनि प्रभृत्ति काव्यगुणों पर अपने पृथक्-पृथक् लेखों में पर्याप्त चर्चा की है। उनमें मेरा प्रयास अनावश्यक और अनपेक्षित है। मैं अपना कथ्य यह कहकर पूर्ण करना चाहूँगा कि 'मूकमाटी' सन्त काव्य की अखण्ड भारतीय परम्परा में एक अभिनव महाकाव्य है और एक निरीह, निःस्पृह, निष्काम, वीतराग दिगम्बर जैन सन्त की रचना होने पर भी, केवल निर्वेद, वैराग्य, संसार की असारता, जीवन की क्षणभंगुरता और माँगों की व्यर्थता ही उसका कथ्य नहीं है, अपितु जगत् और जीवन के सौन्दर्य तथा उसके विविध रूपों को भी उसके रचयिता ने अपने मुनिपद की गरिमा और मर्यादाओं के भीतर रहते हुए काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करके 'मूकमाटी' के महाकाव्यत्व का औचित्यपूर्वक निर्वाह किया है। इत्यलम्।

□

'मूकमाटी' का दर्शन : समीक्षा के दो शब्द

डॉ. रामजी सिंह

'मूकमाटी' काव्य रूप में एक दार्शनिक कृति है, जिसका केन्द्र बिन्दु सृष्टि-सृजन का कर्तृत्व एवं कारणत्व का अवगाहन है। माटी और कुम्भकार, दण्ड, कील और चक्र, आलोक आदि सब उपमा के उपकरण हैं, लेकिन मूल स्थापना ईश्वर को कर्त्ता नहीं मानना है। इस दृष्टि से यह महाकाव्य निषेधात्मक है। दुर्भाग्य यह है कि जिस सृष्टिकर्ता ईश्वर तत्त्व को यहाँ अस्वीकार किया जाता है, उस ईश्वर तत्त्व को अन्यरूप में अत्यन्त आस्था के साथ 'परम श्रद्धेय पूज्य' के रूप में स्वीकारा गया है। असल में आस्तिकता का बोझ इतना प्रचण्ड है कि मुक्त होकर नास्तिक जीवन मूल्य को स्वीकार करने की क्षमता नहीं हो पाती है। इसके विपरीत लोकायत पूर्ण नास्तिक है, इसीलिए उन्होंने ईश्वर को सृष्टि का न उपादान माना है और न निमित्त। आचार्य श्री विद्यासागरजी ईश्वर प्रत्यय से न तो पूर्णतः मुक्त हो पाते हैं, न संयुक्त ही। यही विडम्बना उनके महाकाव्य की चेष्टा को न दर्शन बना पाती है, न काव्य। ईश्वर प्रत्यय की स्थापना के लिए जगत् तत्त्व की स्वीकृति ही आवश्यक नहीं है। जगत् सृष्टि के पूर्व परमात्म तत्त्व है, जिसने आत्मा एवं अनात्मारूपी सभी पदार्थों का रूप धारण किया : "बहुस्यां प्रजायेयेति।" 'पुरुष सूक्त' को ही देखिए : "प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः अजायमानो बहुधा विजायते।" 'गीता' में भी कहा है :

- *"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्माणा हुतम्।"* (४/२४)
- *"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।*
  क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥" (१३/२)

असल में इस ऊँचाई पर बिना उठे - उपादान-निमित्त आदि की अवधारणाओं के संकट को दूर नहीं कर सकते।

'सीमातीत शून्य' की कल्पना सम्भवतः आधारहीन हो जायगी, जब तक हम उस तत्त्व को स्वीकार नहीं करेंगे। ईश्वर तत्त्व के अभाव में प्रबल सांख्य का पुरुष-प्रकृति द्वैत उपमाओं के दुर्बल आधार पर रहा है। मीमांसा कर्मकाण्ड में उलझ गया। बौद्ध दर्शन भी 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्तम्' से दिशा संकेत कर उसी तत्त्व की ओर अभिमुख हुआ।

आचार्य विद्यासागर या तो शुद्ध दार्शनिक की तरह आते और उदयनाचार्य के तर्कों को खण्डित करते तो एक यशस्वी दार्शनिक द्वन्द्व का दर्शन होता। या फिर सांख्य की तरह कहते : "ईश्वरा सिद्धेः।"

यों, ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ सिद्धि अनुमान से नहीं, शास्त्र एवं आस्था से मानी गई है। मूल तत्त्व को चाहे जिस रूप से हो, मानना है। एक ही महाशक्ति आचार-भेद से भिन्न-भिन्न शक्तिरूप में प्रकाशित हो भिन्न-भिन्न कार्य करती है : "एकैव सा महाशक्तिः तया सर्वमिदं ततम्।" वही परमात्मा सब प्राणियों के भीतर छुपा है : "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।"

जगत् उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीन कल्पनाएँ की जा सकती हैं :

१. जगत् इसी प्रकार सदैव से बना बनाया चला जाता है।

२. जगत् का उपादान प्रकृति है और प्रकृति में जड़ता है।

३. जगत् को किसी बाह्य शक्ति ने बनाया है।

प्रथम के विषय में तो यही कहना काफी होगा कि जगत् में प्रथम तत्त्व कुछ नहीं है, सभी मिश्रित हैं और मिश्रित वस्तुएँ नित्य नहीं हो सकतीं। अतः यह कल्पना की जगत् सदैव से इसी प्रकार बना बनाया चला जाता है,

अस्वीकार्य है। दूसरे में, जगत् का उपादान यदि जड़ प्रकृति को मान लिया जाय तो फिर चेतना के बिना वस्तु-निर्माता की योजना आदि की कल्पना ही व्यर्थ हो जाती है। तीसरी कल्पना में भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। ईश्वर ही जगत् का कारण है : "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे" इत्यादि वचन इसको सिद्ध करते हैं। सृष्टि पूर्व वह अपनी प्रकृति में शक्तिरूप से रहा करता है : "आनीय वातं स्वधया तदेकम्।" वह अव्यक्त अवस्था है : "तम आसीत्तमसा गुप्यहमग्रे।" असल में हम भूल जाते हैं कि वह मायोपाधिक ईश्वर भी जड़, चेतन दोनों प्रकार से आविर्भूत हुआ है :

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं।
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै॥"

प्रकृतिवाद की अनेक त्रुटियाँ हैं। पहली तो यह की मानसिक क्रियाएँ प्राकृतिक अर्थात् आधिभौतिक क्रियाओं, गतियों अथवा स्पन्दनों से नितान्त ही भिन्न हैं। चेतना को प्राकृतिक क्रियाकलाप का कार्य मात्र ही मानना समुचित नहीं। यदि चेतना की प्रकृति से उत्पत्ति मान ली जाए तो इसका अर्थ हुआ कि प्रकृति से किसी आप्रकृत वस्तु की उत्पत्ति हुई। फिर दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध भी नहीं कहा जा सकता है। सृष्टि के इतिहास में चेतना के पैदा होने और नष्ट होने के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि इन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का ज्ञान भी चेतना द्वारा ही हो सकता है। चेतना की अपनी उत्पत्ति एवं नाश का ज्ञान भी चेतना द्वारा ही हो सकता है।

मुझे लगता है कि आचार्य विद्यासागरजी यदि आस्तिक जीवन मूल्य को मानते हैं तो ईश्वर की सत्ता को सम्पूर्ण रूप से स्वीकार करें। सापेक्षतावाद व्यावहारिक स्तर पर सही है। उसी प्रकार उपादानवाद भी कुछ ही दूर तक उपयोगी है। अच्छा होता यदि आचार्यप्रवर दार्शनिक ग्रन्थ का ही निरूपण करते, क्योंकि काव्य की कोमलता एवं दर्शन की शुष्कता दोनों में खतरनाक सम्बन्ध होता है।

□



पृष्ठ १०० हमें अपने शील-स्वभाव से/---- दाग नहीं लगा पातीं वह।

'मूकमाटी' : एक अपूर्व महाकाव्य

डॉ. श्रीधर वासुदेव सोहोनी

यह एक अपूर्व महाकाव्य है। रचयिता ने अत्यन्त गम्भीर चिन्तन करके उसका निर्माण किया है। प्रत्येक पृष्ठ पर इस प्रदीर्घ और महान् चिन्तन का संस्कार देखने में आता है। उसकी विचार-शृंखला सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति के प्रमुख सिद्धान्तों से सम्बन्धित रही है।

यह पार्श्वभूमि इस महाकाव्य की ओर, प्रत्येक वाचक का ध्यान केन्द्रित करती हुई दिखाई पड़ती है। उसका जाज्वल्य प्रतिबिम्ब दृग्गोचर होते-होते, वाचक का मन और बुद्धि स्तब्ध-सी हो जाती है; और उसके प्रतिसाद, अपने जीवन में कहाँ-कहाँ मिले थे, उसकी खोज रसिक विद्वान् अनिवार्य रूपेण ही करते होंगे। कवि के साथ, वाचक इस प्रकार एक आत्मीयता के वातावरण में मग्न हो जाते हैं।

इस महाकाव्य में रचयिता ने वैदिक पृथ्वीसूक्त में जो विचार प्रकट हुए थे, सम्भवतः उनका परामर्श लिया हो और संस्कृत साहित्य में (वैदिक तथा जैन, दोनों में) भूमि के सम्बन्ध में जो कुछ कल्पनाएँ तथा वाङ्मयीन अलंकार और संकेत मिलते हैं उनका मन्थन करके, उनमें से अपने काव्य सृजन में, अलंकार में रत्नों की तरह प्रयुक्त किए हैं। इस प्रकार हिन्दी वाङ्मय की यह कविता एक विलक्षण गहने के रूप में प्रतीत होती है।

वर्तमान युग में भूमि की सम्पदा तथा प्रदूषणों की मानव निर्मित समस्याओं के विषय पर अनेक प्रगतिशील और विकसित देशों में गम्भीर विचार हो रहे हैं। इन विचारों की प्रतिध्वनि भी इस महाकाव्य में कहीं-कहीं अन्तर्गत की हुई दिखाई पड़ती है।

श्रीमद् बाणभट्ट के 'शब्द रत्नाकर' में भूमि के छत्तीस नाम दिए हुए हैं :

"भूर्भूमिर्वसुधा मही वसुमती विश्वम्भरा मेदिनी।
गोत्रा गोर्धरणी समुद्ररशना सर्वंसहोर्वी क्षमा॥
पृथ्वी क्षमा पृथिवी रसा, क्षितिरिलानन्ताचला काश्यपी।
क्षोणी ज्या जगती स्थिरा कुरुधनी धात्री धरित्री धरा॥
वसुन्धरा भूतधात्री सैव सस्यधनोर्वरी।
मृत्तिका मृत्प्रशस्तायां मृत्सा मृत्स्ना च मृद्वमे॥"

परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर के इस महाकाव्य में इन सभी नामों का अर्थ लेकर काव्यगुंजन हुआ है, यह विशेष ध्यान देने की परिस्थिति है। उनकी महान् संवेदना का यह ठोस प्रमाण है। काव्य सृजन में संवेदना की शक्ति और प्रखर बुद्धि का सहयोग होने से ही प्रतिभा जाग्रत होती है। इसी प्रकार 'मूकमाटी' महाकाव्य का निर्माण हुआ होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। परमपूज्य आदरणीय आचार्यश्री को मेरे सहस्रशः प्रणाम।



पृष्ठ ६३
गाँठ से सजित दन्तावली
--- पुराना गौंड चेहरा
देखें।

हिन्दी महाकाव्य परम्परा में श्रेष्ठ कृति : 'मूकमाटी'

अक्षय कुमार जैन

आचार्य श्री विद्यासागरजी के इस महाकाव्य का पारायण मैं कर चुका हूँ और इससे अत्यन्त प्रभावित भी हुआ हूँ। माटी मूक है पर वह तपस्वी आचार्य विद्यासागरजी को किस प्रकार दिखाई देती है और आध्यात्मिक जीवन पर उन्हें लेखनी चलाने को प्रेरित करती है, यह सुखद आश्चर्य की बात है।

आचार्यजी के दर्शनों का सौभाग्य कई बार प्राप्त हुआ है। उनकी निर्मल और निरीह स्मिति से अत्यन्त प्रभावित हुआ। आचार्यश्री की आभा का एक कारण यह भी है कि वे अल-छल और आडम्बर से दूर हैं। परम्परा के मुनि मनीषियों के-से जीवन दर्शन को उन्होंने अपनाया है।

आचार्य विद्यासागरजी मात्र बाईस वर्ष की आयु में मुनि बन गए थे और छब्बीस वर्ष के होते-होते वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो गए थे। इन तपस्वी आचार्य सन्त कवि ने युवावस्था में ही वह अनुभव प्राप्त कर लिया । उनकी अन्य कृतियों में 'मूकमाटी' को मैं सर्वश्रेष्ठ कृति मानता हूँ।

माटी है क्या ?

"...संकोच-शीला/लाजवती लावण्यवती-/सरिता-तट की माटी
अपना हृदय खोलती है/माँ धरती के सम्मुख !
'स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
...अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ' !" (पृ. ४)

किन्तु सर्वोच्च विचार इन तीन पंक्तियों में हैं :

"सुख-मुक्ता हूँ/दुःख-युक्ता हूँ/तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ !" (पृ. ४)

इस प्रकार माटी की अमर कथा आगे बढ़ती है, और देखिए -'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं।'

और आगे माटी शिल्पी के हाथों पहुँचती है। इस प्रकार पिसकर, कुटकर और फिर होता है उसका 'पुण्य का पालन: पाप-प्रक्षालन'। फिर उसकी अग्नि परीक्षा होती है। कुम्भ के रूप में अवा में रखी जाती है तब 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' बन जाती है।

ग्रन्थ में धरती की वेदना-व्यथा, शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा साधु के समग्र आचार का बोध भली प्रकार से हो जाता है। वर्तमान में ये महाकाव्य अपने आप में एक ही है। इसकी जैसी ग्रन्थ रचना विरल है। साहित्यप्रेमियों और साहित्यिक मनीषियों में ये समादृत होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। हिन्दी महाकाव्य की परम्परा में उनका ये ग्रन्थ 'मूकमाटी' समीक्षकों एवं साहित्य प्रेमियों का कृपा भाजन बना है। ज्यों-ज्यों इसका पठन और अध्ययन होगा त्यों-त्यों उसका समादर बढ़ेगा। आचार्यश्री एवं उनके इस महाकाव्य को प्रणाम।

□□□



'मूकमाटी' : सन्त काव्य की आधुनिक परम्परा

डॉ. प्रेमशंकर

आचार्य श्री विद्यासागर के व्यक्तित्व की कई दिशाएँ हैं जिससे आचार्यश्री की वैविध्य-भरी प्रतिभा का प्रमाण मिलता है। कर्नाटक में जन्मे आचार्यश्री का अवतरण कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा, वि.सं. २००३ को हुआ था। जैसे उनकी चेतना को आरम्भ से ही मन की निर्मलता का वरदान मिला जिसे किसी सन्त का प्रस्थानबिन्दु कहा जाता है। मन में सात्त्विक वृत्तियों के उदय से चेतना उत्तरोत्तर ऊर्ध्व धरातल प्राप्त करती है, नहीं तो माया बहुत भटकाती है। भाग्य से आचार्य विद्यासागर को आचार्य ज्ञानसागर जैसे आलोकपुरुष गुरु प्राप्त हुए, जिनके चरणों में बैठकर उन्होंने जीवन-जगत् को जाना-समझा। पुस्तकें जानकारी दे सकती हैं, पर ज्ञान–आध्यात्मिक ज्ञान के लिए आलोकदाता गुरु के पास जाना ही होगा। आचार्य विद्यासागर की सतेज मेधा, निश्छल जिज्ञासा, अटूट समर्पण, अनवरत निष्ठा से उनके व्यक्तित्व को निरन्तर विकास मिला। उसने एक ऊर्ध्वमुखी यात्रा की, जिसे सामाजिक स्वीकृति मिली और वे वन्दनीय हुए।

सन्त स्वभाव और कविता में कोई विसंगति नहीं है, बशर्ते लक्ष्य उच्चतर मानव मूल्यों के निष्पादन का हो। भारतीय सन्त काव्य परम्परा, जो सिद्ध-नाथ-सन्त-भक्त कवियों से होती हुई श्री गुरुनानक तक विद्यमान है, उसका मूल स्वर यही है कि मनुष्य देहवाद से ऊपर कैसे उठे। इस दृष्टि से सन्त काव्य श्रेष्ठतम मूल्य चिन्ता को लेकर अग्रसर हुआ और सन्तों ने एक साथ कई भूमिकाओं का निर्वाह किया। उन्होंने कथनी-करनी के द्वैत को पाटा और आचरण की शुद्धता पर बल दिया। सामाजिक, सांस्कृतिक रूपान्तरण में सन्त काव्य की भूमिका निर्णायक रही है। उन्होंने सही नेतृत्व किया जिसे सर्वाधिक स्वीकृति मिली सामान्य जन में। आचार्य विद्यासागर ने अपनी कृतियों के माध्यम से सन्त काव्य की दीर्घ परम्परा को नया आधुनिक प्रस्थान दिया है और एक सचेत सांस्कृतिक नेतृत्व का दायित्व निभाया है। जब-जब मानव मूल्य स्खलित होंगे, ऐसे महापुरुषों की आवश्यकता होगी जो अपने प्रभावी व्यक्तित्व से समाज को नई दिशा देने का प्रयत्न करें और उनका जीवन स्वयं मूल्य चिन्ता का प्रतिमान हो। 'मूकमाटी' एक प्रकार से आचार्य विद्यासागर के समग्र व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है – अपने समय को नया विकल्प देने का प्रयत्न।

महाकाव्यों के विषय में कहा जाता है कि सभ्यता-संस्कृति के एक निश्चित रूपाकार ग्रहण करने पर, कोई महाकवि अपनी विराट् प्रतिभा से, उस समय को कथा माध्यम से व्यक्त करने का यत्न करता है। इस दृष्टि से हमारे शीर्षस्थ महाकाव्य– रामायण और महाभारत दो संस्कृतियों के वाहक हैं। धीरे-धीरे महाकाव्यों की रचना का कार्य कठिन होता गया और आधुनिक युग में इसे एक अप्रासंगिक माध्यम घोषित कर दिया गया। यहाँ तक कि लूकाच ने आधुनिक उपन्यास को प्राचीन महाकाव्य का स्थानापन्न माना। महाकाव्यों की रचना की दिशा में प्रयत्न हुए, पर सम्भवतः पाठक में इसका धैर्य और साहस न था कि उनसे अन्तरंग साक्षात्कार कर सके। ऐसे में आचार्य विद्यासागर का साहसपूर्ण रचना-प्रयत्न है और वह आधुनिक समय में किसी सन्त कवि द्वारा ही सम्भव है। 'मूकमाटी' प्राचीन महाकाव्यों की आख्यान आश्रित परम्परा का आश्रय भी नहीं लेता, इसलिए यह कार्य और भी कठिन हो गया है।

'मूकमाटी' के चार खण्ड हैं– 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ;' 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं;' 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' और 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'। इनमें चतुर्थ खण्ड, जो कि महाकाव्य का समापन अंश है, आकार में सबसे बड़ा है, अन्य की तुलना में लगभग दुगने आकार का। ये शीर्षक काव्य की चिन्तनशीलता के परिचायक हैं और वास्तव में महाकाव्यों की लम्बी परम्परा में एक नए प्रयोग के सूचक। प्रायः महाकाव्य कथानक का

आश्रय लेकर विकसित होते हैं और पात्र उस कथा को घटनाओं के माध्यम से गति देते हैं। महाभारत जैसा विशिष्ट महाकाव्य जिसके विषय में यहाँ तक कहा गया कि जो इसमें नहीं है, वह फिर कहीं नहीं है। पर कथा-उपकथाओं की बहुलता से सम्पन्न यह सांस्कृतिक महाकाव्य बल देकर कहता है कि मनुष्य से श्रेष्ठतर कुछ नहीं है और यहाँ मनुष्य परिभाषित है, उच्चतर मूल्य चिन्ताओं से प्रेरित। 'मूकमाटी' का प्रस्थान, विकास और समापन सबका आधार तत्त्व-चिन्तन है, पर वह उस साधारण 'मेटाफिजिकल काव्य' से आगे बढ़ता है, जहाँ दृश्य देखकर निष्कर्ष प्राप्त किए जाते हैं और किंचित् सदाशयता व्यक्त की जाती है, बस।

चिन्तनशीलता के सहारे दीर्घाकारी काव्य रच लेना कई बार असम्भव-सा लगता है। राबर्ट ब्रिजेज जैसे कवियों ने 'टेस्टामेंट ऑफ ब्यूटी' में प्रयोग किया है जहाँ वह चिन्तन के सहारे अग्रसर है। सौन्दर्य को परिभाषित करते हुए उसने उसे आध्यात्मिक आधार दिया है : ''सौन्दर्य विधाता का सर्वोत्कृष्ट मौलिक उद्देश्य, लक्ष्य तथा शान्ति भरा आदर्श है।'' आचार्य विद्यासागर 'मूकमाटी' में तत्त्व चिन्तन की प्रतिष्ठा करते हुए सावधान हैं कि विचार अमूर्त अथवा वायवीय बनकर न रह जायँ। यह कठिनाई इसलिए और भी अधिक है कि उन्होंने धरती, माटी, शिल्पी, कुम्भ आदि को पात्रों के रूप में प्रस्तुत करने का अभिनव कार्य किया है। वे अपने चिन्तन को पृथ्वी से जोड़ते हैं। यह है उसका प्रस्थानबिन्दु, पर उसे वे निरन्तर ऊर्ध्वमुखी प्रयाण की ओर ले जाते हैं। इसे उनकी कविता की चिन्तन ऊर्जा के रूप में देखना होगा। जो कविता उठान नहीं लेती वह एकरस होकर एक ही बिन्दु पर रुक-ठहर जाती है, गतिरोध जैसी। पर आचार्य विद्यासागर का सन्त-कवि अपने समय-समाज से असन्तुष्ट है और वह एक श्रेष्ठतर समय की परिकल्पना करता है। 'मूकमाटी' कवि की कल्पना क्षमता से सम्पन्न काव्य है जिसे पात्र नियोजन, प्रतीक विधान, बिम्ब रचना सभी में देखा जा सकता है।

'मूकमाटी' शीर्षक स्वयं में प्रमाण है कि आचार्य विद्यासागर का तत्त्वदर्शन अपनी भूमि के संस्पर्श से उपजा है, पर वह उस का अथ है, इति नहीं; प्रस्थान है, समापन नहीं। माटी मौन है, पर वह सम्पूर्ण जीवन-जगत् का आधार है। उसकी मौन भाषा अत्यन्त अर्थगर्भी है। धरती माँ है, माटी उसकी प्रिय सन्तति और शिल्पी वह अद्वितीय रचनाकार, जो मृत्तिका को कुम्भ के रूप में रूपायित करता है। अपनी धरती के परस से उपजा यह काव्य सूर्योदय से आरम्भ होता है, मानों कवि समय के अन्धकार से संघर्षरत है और यह परम्परा कबीर, तुलसी, रवीन्द्र, निराला का अग्रिम विकास है। ''सन्तो भाई, आई ज्ञान की आँधी'' (कबीर), ''अब लों नसानी, अब ना नसैहों'' (तुलसी), ''आज इस प्रभातकाल में सूर्य की किरणें/प्राणों के भीतर कैसे प्रवेश कर गईं'' (रवीन्द्र : निर्झर का स्वप्नभंग), ''जागो जागो आया प्रभात/बीती वह बीती अन्ध रात'' (निराला : तुलसीदास) में सूर्योदय चेतना के जागरण का उपक्रम है। 'मूकमाटी' में निशा का अवसान और सूर्योदय में चेतना की जागृति का आवाहन है : ''*प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है*''(पृ. १)। उषा आगमन के दृश्य के माध्यम से कविश्री दर्शन की निष्पत्ति करते हैं : ''*मन्द-मन्द/सुगन्ध पवन/बह रहा है;/बहना ही जीवन है*'' (पृ. २)– अर्थात् 'चरैवेति चरैवेति'। चलना ही जीवन है, रुक जाना - ठहर जाना जड़ता, लगभग मृत्यु।

आचार्य विद्यासागर ने सन्त की चिन्तनशीलता और कवि के संवेदन के संयोजन-कौशल से 'मूकमाटी' की रचना की है। जीवनानुभव पर आधारित काव्य पंक्तियाँ यदि केवल वक्तव्य होतीं तो वे उपदेश बनकर रह जातीं और उन्हें स्वीकारना कोई अनिवार्यता न होती। पर सन्त-कवि के रूप में वे इस दिशा में पर्याप्त सजग हैं, समानधर्माओं की प्राचीन परम्परा को अग्रसर करते हुए। मराठी सन्त कवियों ने अपने अभंगों में गूढ़ातिगूढ़ तत्त्वदर्शन का प्रतिपादन किया है, पर जीवन की पीठिका पर। सन्तों की सबसे बड़ी शक्ति है–उनकी सहजता और इसीलिए वे सामान्यजन में स्वीकृत

हुए। कवि ज्ञान, पाण्डित्य, दर्शन सब कुछ को संवेदन में ऐसा विलयित कर लेता है कि वे अपना पार्थक्य खो दें और रसधारा का अविभाज्य अंश प्रतीत हों। कबीर ने आध्यात्मिक प्रेमभाव की अभिव्यक्ति के लिए स्वयं को राम की बहुरिया रूप में चित्रित किया : "दुलहिन गावहु मंगलचार/मोरे घर आए राजा राम भरतार।" 'मूकमाटी' में दर्शन सम्प्रदाय के रूप में नहीं प्रवेश पाता, अन्यथा यहाँ अश्वघोष के 'बुद्धचरित' जैसी कठिनाई होती। आचार्य विद्यासागर ने अहिंसा, करुणा, अपरिग्रह, विवेक आदि जिन उच्चतर मानव मूल्यों पर बल दिया है, वह सन्त कवि की बड़ी मूल्य चिन्ता के अन्तर्गत है :

"यहाँ पर इस युग से/यह लेखनी पूछती है/कि/क्या इस समय मानवता
पूर्णतः मरी है ?/क्या यहाँ पर दानवता/आ उभरी है···?" (पृ. ८१)

आश्चर्यजनक लग सकता है पर आचार्य विद्यासागर की विरागी वृत्ति में अपने समय के प्रति गहन आकुलता है जिस ओर प्रायः उस पूर्वाग्रही दृष्टि का ध्यान नहीं जा सकता जो वैराग्य को जीवन असम्पृक्त मानने की भूल करती है। ऐसा प्रतीत होता है 'मूकमाटी' का कवि अपने समय से बेहद विक्षुब्ध है और इस सात्त्विक आक्रोश के लिए कलिकाल वर्णन का सहारा लिया गया है, भागवत और तुलसीदास की तरह। मूल्यों की विकृति का वर्णन करते हुए तुलसी ने 'कलि' के माध्यम से मध्यकाल के भयावह यथार्थ का संकेत किया है, यहाँ तक कि : "बिनु अन्न दुखी सब लोग मरें।" कलिकाल को आचार्य विद्यासागर विषय परिचालित, अर्थ केन्द्रित मानते हैं :

"अधिक अर्थ की चाह-दाह में/जो दग्ध हो गया है
अर्थ ही प्राण, अर्थ ही त्राण/यूँ-जान-मान कर,
अर्थ में ही मुग्ध हो गया है" (पृ. २१७)

इसे उन्होंने 'कलि-काल की वैषयिक छाँव' को एक प्रकार से 'वैश्यवृत्ति के परिवेश में वेश्यावृत्ति की वैय्यावृत्य' कहा है। मनुष्य की स्थिति यह है कि भोग-विलास की सामग्री में तुष्टि खोजता है, पर मन को विश्राम नहीं—एक निरन्तर उद्विग्न असन्तुष्ट चेतना जो भटकती रहती है। कवि ने इसे मछली के माध्यम से कहा है : "*जल में जनम लेकर भी/जलती रही यह मछली*" (पृ. ८५)। कबीर ने ऐसा ही प्रश्न उठाया है कि ईश्वर-जन्मा होकर भी आत्मन् दुःखी क्यों है ?— "काहे री नलिनी तू कुम्हलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।" इसका कारण है विषयकेन्द्रित माया, जिसके अनेक रूप हैं, जो जीवन को विकारग्रस्त करती है।

समय का एक अभिशाप है—अर्थोन्मुखी दृष्टि, जिसे प्रसाद ने 'कामायनी' में अतिरिक्त भौतिकवाद कहा है। पदार्थ सत्य है, माना, पर अर्थ अन्तिम सत्य कैसे हो गया ? आचार्य विद्यासागर सन्त-कवि के रूप में इस मूलभूत प्रश्न से उलझते हैं और एक चरित्र के माध्यम से अपने मूल्य चिन्तन को अग्रसर करते हैं। 'मूकमाटी' में महासेठ की कल्पना की गई है, जो अर्थ-प्रतीक है, धन को सर्वत्र स्वीकारता, मणि-माणिक्य-मुक्ता में आबद्ध। अपने प्रतीक को पूर्णता देने के लिए आचार्य विद्यासागर मृत्तिका कुम्भ और स्वर्ण कलश की लम्बी बातचीत दिखाते हैं जो वास्तव में दो पृथक् जीवन दृष्टियों का संघर्ष है। अन्त में अहंकार-डूबा स्वर्ण कलश शिल्पी के कुम्भ से पराजित होता है—गाँधीवादी हृदय-परिवर्तन जैसा। अपने आशय को परिपुष्ट करने के लिए कवि ने उसे विस्तार दिया है :

"हे स्वर्ण-कलश !/दुखी-दरिद्र जीवन को देखकर/जो द्रवीभूत होता है
वही द्रव्य अनमोल माना है/दया से दरिद्र द्रव्य किस काम का ?

माटी स्वयं भीगती है दया से/और/औरों को भी भिगोती है।
माटी में बोया गया बीज/समुचित अनिल-सलिल पा
पोषक तत्त्वों से पुष्ट-पूरित/सहस्र गुणित हो फलता है।" (पृ. ३६५)

अर्थवादी की वणिक वृत्ति के लिए 'मूकमाटी' में स्वर्ण कलश के लिए 'पूँजीवाद' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिस पर क्रान्तिकारी अपना एकाधिकार मानते हैं :

"परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम,/पूँजीवाद के अभेद्य
दुर्गम किला हो तुम/और/अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला!"(पृ. ३६६)

अर्थकेन्द्रित समय कलिकाल है जो अनेक विकारों से ग्रस्त एक भयावह स्थिति भी है। आचार्य विद्यासागर ने उसकी कुछ विकृतियों का उल्लेख किया है – कथनी-करनी में अन्तर, उष्ण प्रकृति, उन्मत्त, बाचाल, कूटनीति, विषधर, घमण्ड के अखण्ड पिण्ड, अदय हृदय, कलह, दुराशय, दुराचार, रुष्ट, तप्त, बैर, विरोध, विषयरसिक, कठोर, कर्कश, कायरत आदि। यहाँ तक कि आचार्य विद्यासागर की टिप्पणी है कि रचना और कलाएँ भी विक्रय सामग्री हैं :

"सकल-कलाओं का प्रयोजन बना है/केवल
अर्थ का आकलन-संकलन।" (पृ. ३९६)

आचार्य विद्यासागर सन्त-कवि हैं और सन्त केवल समस्याओं पर आक्रोश व्यक्त करके सन्तुष्ट नहीं हो जाते, वे प्रश्नों का उत्तर भी चाहते हैं। यहीं आचार्य विद्यासागर के व्यक्तित्व में सन्त और कवि का उल्लेखनीय संयोजन हुआ है। सन्त बड़ी मूल्य चिन्ताएँ करते हैं और कवि कल्पना क्षमता से दिवास्वप्न का संकेत। 'मूकमाटी' में 'विवेक' पर बल दिया गया है, अनेक रूपों में। यह विवेक तथाकथित ऐसे बुद्धिवाद से भिन्न है, जिसकी आड़ में कई बार छल का भी औचित्य प्रमाणित करने की चतुराई की जाती है। आचार्य विद्यासागर का विवेक जागृत बोध है, ऊर्ध्वमुखी यात्रा करता हुआ, जीवन दृश्यों को निहारता। जो लोग सन्त को किसी विलग संसार का व्यक्ति मानते हैं, उन्हें सही अवधारणा के लिए 'मूकमाटी' के उन असंख्य स्थलों पर ध्यान देना चाहिए जहाँ जीवन-जगत् की आधुनिक व्याख्याएँ हैं :

"उत्साह हो, उमंग हो/पर उतावली नहीं।/अंग-अंग से
विनय का मकरन्द झरे,/पर, दीनता की गन्ध नहीं।" (पृ. ३१९)

'मूकमाटी' में आचार्य विद्यासागर की मौलिक चिन्तन क्षमता सर्वाधिक विचारणीय है। वे श्लेष का सहारा लेते हुए कई बार शब्दों की अपनी व्याख्या करते हैं और ऐसे अनेक प्रसंग हैं : 'कुम्भ' – कु=धरती, भा=भाग्य अर्थात् धरती का भाग्य (पृ. २८); 'कृपाण' – कृपा+न अर्थात् जिसमें कृपा न हो (पृ. ७३); 'अबला' – अ= नहीं, बला- संकट अर्थात् जिससे कोई संकट न हो (पृ. २०३)। पर इस शब्द कौशल की व्याख्या से आगे बढ़कर 'मूकमाटी' का वह समृद्ध चिन्तन पक्ष है जहाँ कवि ने जीवन-जगत् के अनेक ऐसे प्रश्नों पर विचार किया है जो सामयिक कहे जा सकते हैं और प्रायः यह मान लिया जाता है कि सन्त को उनकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। आचार्य विद्यासागर में वीर रस का विरोध (पृ. १३१), वेतन के अनुचित वितरण पर तीखी टिप्पणी(पृ. ३८७), आतंकवाद (पृ. ४१८), दलित-शोषित जन (पृ. ४२६), अलगाव (पृ. ८९), प्रतिकार भाव (पृ. ९८), हिंसा (पृ. ६४), धर्म का विकृत रूप (पृ. ७३), अणुबम, प्रक्षेपास्त्र, स्टार वार (पृ. २४९-२५१) आदि प्रमाणित करते हैं कि सन्त-कवि अपने समय की पीड़ा से

कितना उद्विग्न है और कविता वास्तविकता तथा यथार्थ से आदर्श की ओर प्रयाण का प्रयत्न करती है। यहीं स्वप्नद्रष्टा कवि साधारण व्यक्तियों से अधिक उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित होता है। 'मूकमाटी' में बबूल की लकड़ी के माध्यम से समय की पीड़ा व्यक्त हुई है :

"प्रायः अपराधी-जन बच जाते/निरपराध ही पिट जाते,/और उन्हें
पीटते-पीटते सदा टूटतीं हम।/इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?
यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है/या/ मनमाना 'तन्त्र' है।" (पृ. २७१)

विरागी वृत्ति ने नारी को आदर देते हुए भारतीय नारीत्व को जो गौरव दिया है, वह नितान्त सराहनीय है। यहाँ नारी के सभी रूपों का संकेत किया गया है : स्त्री, मातृ, सुता, दुहिता, अबला, कुमारी आदि। कवि ने नारी को भारतीय संस्कृति का गरिमामय आधार माना है, और अपने विवेचन को पर्याप्त विस्तार से प्रस्तुत किया है :

"यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना/तब तक रहेगी/जब तक यहाँ 'कुमारी' रहेगी।
यही कारण है कि/सन्तों ने इन्हें/प्राथमिक मंगल माना है
लौकिक सब मंगलों में···!" (पृ.२०४)

नारी के प्रति यह मंगल दृष्टि उसी वीतरागी में सम्भव है जो गहन मानवीय संवेदन से परिचालित हो।

वक्तव्य भर दे देना, पूर्ण कविता का लक्षण नहीं है। उसे समापन तक पहुँचाना कविता का गन्तव्य होना चाहिए। सन्तों ने अपने समय की विभीषिका पर तीखे प्रहार किए हैं, एक प्रकार से वह सात्त्विक आक्रोश का स्वर है, पर इस अर्थ में वह सार्थक है कि विकल्प भी चाहता है। 'मूकमाटी' में अनेक उद्धरणीय पंक्तियाँ हैं जिसे हम किसी सफल कविता का गुण भी मानते हैं। कई बार सामान्य जन सन्तवाणी को उद्धत करते हैं, यद्यपि वे उसके रचयिता से परिचित नहीं होते। इस प्रकार कविता वाचिक परम्परा से जुड़ जाती है, पुस्तक से बाहर निकल कर। अग्नि-परीक्षा के बिना, किसी की मुक्ति नहीं (पृ. २७५), सदाशय, सदाचार अग्नि की ऊष्मा है (पृ. २७६), प्रकाश का लक्षण सबको प्रकाशित करना (पृ. ३४२), जीवन संगीत में आनन्द की प्राप्ति (पृ. १४४), परिश्रमी ऋषि-कृषक (पृ. २२२), धन-संग्रह नहीं, जन-संग्रह करो (पृ. ४६७), ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है (पृ. ६४), धर्म का झण्डा भी डण्डा बन जाता है (पृ. ७३) आदि असंख्य पंक्तियाँ उद्धत की जा सकती हैं। कहीं-कहीं सात्त्विक आक्रोश व्यंग्य के रूप में व्यक्त होता है : *"आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी ?/सबसे आगे मैं/समाज बाद में"* (पृ. ४६१)। कवि की परिभाषा है : *"प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है" (पृ. ४६१)*। कवि ने कई बार 'समता' शब्द का प्रयोग किया है और इस सम्बन्ध में उसकी अपनी व्याख्या है : *"अमीरों की नहीं/गरीबों की बात है;/कोठी की नहीं/कुटिया की बात है" (पृ. ३२)*। ये वक्तव्य केवल उद्धरण के उपयोग में आकर रह जाते, पर आचार्य विद्यासागर ने अपने चिन्तन को समापन तक पहुँचाया है। इसलिए अन्तिम खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' का आकार बड़ा हो गया। यहाँ कवि ने अपने तत्त्व चिन्तन को अधिक ग्राह्य बनाने के लिए महासेठ चरित्र का सहारा लिया है। खण्ड के आरम्भ में अग्नि को समर्पित कुम्भ के व्यक्तित्व का निखार है, जिसे कवि ने 'कुम्भ की अग्नि-परीक्षा' कहा है। कुम्भ का रूपान्तरण होता है : *"कुम्भ के मुख पर प्रसन्नता है मुक्तात्मा-सी/तैरते-तैरते पा लिया हो/अपार भव-सागर का पार !"(पृ. २९८)*। फिर स्थितप्रज्ञ का चित्रण : *"ख्याति-कीर्ति-लाभ पर/कभी तरसते नहीं"*(पृ. ३०१)। तपःपूत कुम्भ उच्चतर मानव मूल्यों का प्रतीक है।

समापन अंश में अग्नि-परीक्षित कुम्भ, कुम्भकार शिल्पी उच्चतम धरातल पा जाते है, पर सब में सर्वोपरि है

'माटी की महिमा,' जिसे कवि शिवमंगलसिंह 'सुमन' ने अपनी प्रसिद्ध कविता में प्रतिपादित किया है :

"मिट्टी में घर है, संयम है, होनी-अनहोनी कह जाए
हँसकर हालाहल पी जाए, छाती पर सब कुछ सह जाए
यों तो ताशों के महलों-सी, मिट्टी की वैभव बस्ती क्या
भूकम्प उठे तो ढह जाए, बूड़ा आ जाए, बह जाए
लेकिन मानव का फूल खिला, सबसे पाकर वाणी का वर
निधि का विधान लुट गया, स्वर्ग-अपवर्ग हो गए न्यौछावर
कवि मिट जाता लेकिन उसका उच्छ्वास अमर हो जाता है
मिट्टी गल जाती पर उसका विश्वास अमर हो जाता है।"

आचार्य विद्यासागर ने कुम्भ की अग्नि-परीक्षा का क्रम समाप्त होते ही महासेठ का प्रवेश कराया है, जो आधुनिक अर्थवाद का प्रतीक है। दो विपरीत जीवन दृष्टियाँ—एक ओर तपःपूत कुम्भ और कुम्भकार शिल्पी, जिसे कवि ने 'अनल्प श्रम, दृढ़ संकल्प, सत्-साधना-संस्कार का फल' (पृ. ३०५) बताया है और जो कुम्भ को नई छवि देता है, शिल्पन कौशल से। धनिक विषयान्ध, मदाधीन महासेठ का हृदय-परिवर्तन माटी-कुम्भ के माध्यम से दिखाना आचार्य विद्यासागर का अद्भुत कवि कौशल है और इसे निष्पादित करने के लिए कुम्भ की वाणी का सार्थक उपयोग किया गया है। कुम्भ से किसी सन्त की कविता सुनकर महासेठ की आँखें खुल जाती हैं। वह संयत होता है, भ्रांतियाँ समाप्त होती हैं। यद्यपि यहाँ पूजन-अनुष्ठान की भी पर्याप्त चर्चा है, पर कवि का मूल आशय अर्थवाद का हृदय-परिवर्तन है, महासेठ के माध्यम से। इसी अवसर पर गुरु द्वारा सेठ की शंकाओं का समाधान है, दार्शनिक शब्दावली में और यहाँ कवि ने कुम्भ की भाव-भाषा का उपयोग भी किया है : *"कुम्भ के विमल-दर्पण में/सन्त का अवतार हुआ है"* (पृ. ३५४)।

'मूकमाटी' में आचार्य विद्यासागर ने जिस शिल्प का प्रयोग किया है, वह कई दृष्टियों से अभिनव है। बिना आख्यान के सहारे रचा गया काव्य अनाम पात्र चुनता है और प्रकृति की इकाइयों को पात्रत्व देता है। विद्यासागरजी की कला की परिभाषा इस सन्दर्भ में विचारणीय है : *"कोई भी कला हो/कला मात्र से जीवन में/सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है"* (पृ. ३९६)। काव्य में पृथ्वी, माटी, कुम्भ, लकड़ी, नदी, सर्प, स्वर्णकलश आदि सब पात्रों के रूप में बोलते हैं। कवि ने इनके माध्यम से विभिन्न जीवनदृष्टियों का बोध कराया है और काव्य में नाटक तत्त्व का ऐसा कौशल अपनाया गया है जैसे कवि के समक्ष पाठक श्रोता के रूप में उपस्थित हो। वार्तालाप की यह शैली दार्शनिक प्रसंगों को बहुत नीरस नहीं हो जाने देती और यह बात विशेष रूप से अन्तिम खण्ड में देखी जा सकती है जहाँ कई बार शास्त्रीय दार्शनिक चर्चा है, जिसमें जैन धर्म के शब्द भी आए हैं। विद्यासागरजी 'स र ग म' की मौलिक व्याख्या कर सकते हैं, और श्रमण की भी : *"ज्ञान के साथ साम्य भी अनिवार्य है/श्रमण का शृंगार ही/समता-साम्य है"* (पृ. ३३०)। काव्य के लगभग अन्त में नदी का वक्तव्य विशेष रूप से विचारणीय है जिससे 'बहता पानी, रमता जोगी' का दर्शन प्रतिपादित किया गया है, पर जिसे ललकारता है वही कुम्भ, जो काव्य का महानायक जैसा है: *"कुम्भ के आत्म-विश्वास से/साहस-पूर्ण जीवन से/नदी को बड़ी प्रेरणा मिल गई/नदी की व्यग्रता प्रायः अस्त हुई/समर्पण-भाव से भर आई वह!"* (पृ. ४५४-४५५)। इस महाकाव्य में कुम्भ की भूमिका एक महानायक की है – माटी से उपजा, कुम्भकार शिल्पी द्वारा निर्मित पर स्वयं सम्पूर्ण भी, जो काव्य के अन्त में नेतृत्व की भूमिका में है : *"सबसे आगे कुम्भ है/मान-*

दम्भ से मुक्त, /...जीवन बने मंगलमय'' (पृ. ४७८) की कामना करता। 'कामायनी' के समापन छन्द में यही स्थिति है : ''समरस थे जड़ या चेतन/सुन्दर साकार बना था/चेतनता एक विलसती/आनन्द अखण्ड घना था।''

'मूकमाटी' भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा का काव्य है और आचार्य विद्यासागर पश्चिम की भोगवादी दृष्टि का स्पष्ट विरोध करते हैं, इसीलिए मृत्तिका कुम्भ को नेतृत्व प्रदान किया गया है। विद्यासागरजी के शब्द हैं :

''पश्चिमी सभ्यता/आक्रमण की निषेधिका नहीं है/अपितु !
आक्रमण-शीला गरीयसी है/जिसकी आँखों में
विनाश की लीला विभीषिका/घूरती रहती है सदा सदोदिता/और
महामना जिस ओर/अभिनिष्क्रमण कर गये/सब कुछ तज कर, वन गये
नग्न, अपने में मग्न बन गये/उसी ओर''/उन्हीं की अनुक्रम-निर्देशिका
भारतीय संस्कृति है/सुख-शान्ति की प्रवेशिका है।'' (पृ. १०२)

भारतीय संस्कृति के प्रति यह राग-भाव 'मूकमाटी' के पूरे विन्यास में देखा जा सकता है, चिन्तन से लेकर प्रतीक योजना, बिम्ब विधान और शब्द-शिल्प तक। कविता जब उठान भरती है तो कवि प्रकृति का भरपूर उपयोग करना चाहता है :

''धरती की धवलिम कीर्ति वह/चन्द्रमा की चन्द्रिका को लजाती-सी
दशों दिशाओं को चीरती हुई/और बढ़ती जा रही है
सीमातीत शून्याकाश में।'' (पृ. २२२)

शूल-फूल, धरती-माटी, कुम्भ-नदी, कुम्भ-कलश आदि के वार्तालापों में दार्शनिक प्रसंगों के बावजूद काव्य निष्पत्ति इसीलिए हो सकी, क्योंकि कवि ने सार्थक बिम्बों की खोज का प्रयत्न किया है, यद्यपि कविता का ढाँचा गद्य का समीपी है। मृत्तिका कुम्भ पात्र का स्वागत-सत्कार होता है और स्वर्ण कलश अपमानित महसूस करता है : *''स्वर्ण-कलश की मुख-गुफा से/आक्रोश-भरी शब्दावली फूटती है/साक्षात् ज्वालामुखी का रूप धरती-सी''* (पृ. ३५६)। आचार्य विद्यासागर उन प्रसंगों में अपनी सर्वोत्तम उठान में हैं जहाँ प्रकृति बिम्बों के माध्यम से चिन्तन संकेत हैं, जैसे महाकाव्य के आरम्भ में ही :

''लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी/प्रभाकर के कर-छुवन से
बचना चाहती है वह;/अपनी पराग को—/सराग-मुद्रा को—
पाँखुरियों की ओट देती है।'' (पृ. २)

अथवा, उन प्रसंगों में जब आस्तिकी वृत्ति का प्रकाशन होता है, जैसे काव्य के अन्त में :

''सादर आकर प्रदक्षिणा के साथ/सबने प्रणाम किया
पूज्य-पाद के पद-पंकजों में,/पादाभिषेक हुआ,/पादोदक सर पर लगाया।
फिर,/चातक की भाँति/गुरु-कृपा की प्रतीक्षा में सब।'' (पृ. ४८४)

काव्य ही शब्दराशि का सांस्कृतिक धरातल है, यद्यपि उसमें अन्य सहज-सरल शब्द भी अन्तर्भुक्त हो गए हैं। किसी महान् लक्ष्य की ओर अग्रसर समाज का दृश्य है जिसमें एक नए दृष्टान्त का प्रवेश कराया गया है, जिससे कवि

की आधुनिक दृष्टि का आभास होता है :

"लगभग यात्रा आधी हो चुकी है/यात्री-मण्डल को लग रहा है कि
गन्तव्य ही अपनी ओर आ रहा है।/कुम्भ के मुख पर प्रसन्नता है
प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण/परिश्रमी विनयशील/विलक्षण विद्यार्थी-सम।"(पृ.४५५)

'मूकमाटी' सन्त काव्य की आधुनिक परम्परा को अग्रसर करने वाला काव्य है जो अपने चारों ओर की विकृतियों से विक्षुब्ध है। मनुष्य का धरातल कैसे उठे, यह इस काव्य की मूल चिन्ता है। पर कवि आशावादी है ,क्योंकि वह जानता है कि : *"माटी को निद्रा/छूती तक नहीं"(पृ. १८)*। वह चिरन्तन जागरण का प्रतीक है। सन्त की यही स्थिति है : "या निशा सर्वभूतानां, जागर्ति तस्यां संयमी" (गीता, २/६९) जो अन्धकार में भी अलख जगाए, वह है सन्त। कवि का चिरन्तन विश्वास है :

"कृतघ्न के प्रति विघ्न उपस्थित/करना तो दूर,
विघ्न का विचार तक नहीं किया मन में।
निर्विघ्न जीवन जीने हेतु/कितनी उदारता है धरती की यह !
उद्धार की ही बात सोचती रहती/सदा - सर्वदा सबकी।" (पृ. १९४-१९५)

जीवन का यह संस्पर्श 'मूकमाटी' को सन्त काव्य परम्परा में एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी बनाता है, जहाँ कवि ने मूल्यहीन समय में, नए मूल्य-संसार के सन्धान का निष्ठावान् प्रयत्न किया है।

□

'मूकमाटी' : एक अनुपम कृति

पुष्कर लाल केडिया

आचार्य श्री विद्यासागर प्रणीत महाकाव्य 'मूकमाटी' एक अनुपम कृति है। माटी की महिमा और गरिमा जगत् में सर्वत्र व्याप्त है। इस महाकाव्य ने मूकमाटी को भाषा दी है और उसे पूर्ण चैतन्य रूप में सामने ला खड़ा किया है।

महाकाव्य में भाषा का प्रवाह और सौन्दर्य हृदयग्राही है। यह कृति हिन्दी के महाकाव्यों की परम्परा में अपनी नवीनता के लिए समादृत होगी।

'मूकमाटी', काव्य के निकष पर शत-प्रतिशत उत्कृष्ट प्रमाणित होगी और इससे हिन्दी काव्य का भण्डार समृद्ध होगा। मैं 'मूकमाटी' के प्रणेता को अपनी प्रणति देता हूँ।

□



दार्शनिक-वैचारिकता की सहज अभिव्यक्ति : 'मूकमाटी'

प्रो. (डॉ.) दिलीप सिंह

आज की बौद्धिकता सरल को जटिल बनाने की प्रक्रिया को ही प्रज्ञा का विस्तार मानती है। इस मान्यता के पीछे बौद्धिक वर्ग की सीमाएँ ही कार्य करती हैं। बिना आत्मसात् किए ज्ञान की अभिव्यक्ति का सहज हो पाना सम्भव भी नहीं है। 'मूकमाटी' महाकाव्य इस धरातल पर एक सुखद आश्चर्य की अनुभूति पाठक में जगाता है। इसमें जटिल दार्शनिकता का उद्घाटन सहजता के स्तर पर हुआ है। कथानक, सरल-सम्प्रेष्य भाषा, दृष्टान्त, रूपक, उपमाएँ– सभी अपने सघन रूप में सुरक्षित भी हैं और आचार्यजी ने इन्हें अभिव्यक्ति के धरातल पर जटिल होने से भी बचाए रक्खा है। यही कारण है कि 'मूकमाटी' को आद्यन्त पढ़ते जाइए और गहरे दार्शनिक विचार आपके मन में स्वतः उतरते जाते हैं– बिना किसी प्रयत्न या बौद्धिक 'द्राविड़ी प्राणायाम' के।

'काव्य' के दो अंगों की चर्चा सम्प्रति साहित्य शास्त्र करता है - कथ्य और अभिव्यक्ति। 'मूकमाटी' का कथ्य चार खण्डों में विभक्त है। इन चारों खण्डों में मूल-प्रसंग के साथ-साथ अनेक उप-प्रसंग उद्घाटित होते चलते हैं जो मूल-प्रसंग को प्रवाहमय और प्रभावशील बनाते हैं। 'मूकमाटी' का केन्द्रीय कथ्य हमें जीवन के प्रत्येक अंकुर से प्यार करने के लिए प्रेरित करता है। यह प्रेम अभिमान को तिरोहित करके ही उत्पन्न होता है। 'प्रेम के विस्तार' और 'अहं के त्याग' को 'मूकमाटी' की निम्नलिखित पंक्तियाँ कितनी सहजता से व्यक्त करती हैं :

" 'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को/'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है/'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है।"
(पृ.१७३)

ये पंक्तियाँ भारतीय चिन्तन में अन्तर्भुक्त 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा को भी पुष्ट करती हैं। ये धारणा पश्चिमी चिन्तन में कहाँ ?

" 'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।
रावण था 'ही' का उपासक/राम के भीतर 'भी' बैठा था।" (पृ. १७३)

यह तो भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र ही है कि जिस भी कारण अभिमान आता है वह बन्धनकारक है। उसका आश्रय स्थान तो ' मैं' है। यह ' मैं' भक्ति में ही तिरोहित हो सकता है जहाँ नदी सागर में डूब रहती है और 'मैं' के स्थान पर 'सब' आ जाता है। भक्ति के इसी समर्पण की कामना आचार्यजी करते हैं :

"प्रभु से प्रार्थना है, कि/'ही' से हीन हो जगत् यह
अभी हो या कभी भी हो/'भी' से भेंट सभी की हो।" (पृ. १७३)

यह कामना सभी के लिए है। अखिल विश्व के लिए। अपने अहं का समर्पण ही तो भक्ति है। समर्पण का अर्थ 'अहं' को मेट देना नहीं है। समर्पण का अर्थ है मनुष्य के अपने अस्तित्व की आत्मिक और नैतिक घोषणा। केवल वही व्यक्ति जो एक बार समर्पण की स्थिति से गुज़र चुका है 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की घोषणा भी कर सकता है। 'मूकमाटी' का कवि यह घोषणा एकाधिक स्थलों पर करता है। समर्पण में संकोच, अधमनापन और अपने प्रकृतिगत अहं से लगाव ही मनुष्य को 'स्वान्तः सुखाय' के तंग दायरे में सीमित करके उसे अविचारी और जड़ बनाता है। भारतीय दर्शन

का यह तात्त्विक सत्य 'मूकमाटी' में 'कंकर' के रूपक द्वारा कितनी सहजता से व्यक्त हुआ है :

"अरे कंकरो !/माटी से मिलन तो हुआ/पर/माटी में मिले नहीं तुम !
माटी से छुवन तो हुआ/पर/माटी में घुले नहीं तुम !
इतना ही नहीं,/चलती चक्की में डालकर/तुम्हें पीसने पर भी
अपने गुण-धर्म/भूलते नहीं तुम !/भले ही/चूरण बनते, रेतिल;
माटी नहीं बनते तुम !/जल के सिंचन से/भीगते भी हो/परन्तु, भूलकर भी
फूलते नहीं तुम !/माटी-सम/तुम में आती नमी नहीं/क्या यह तुम्हारी
है कमी नहीं ?/तुम में कहाँ है वह/जल-धारण करने की क्षमता ?" (पृ. ४९-५०)

'पूर्ण समर्पण' ही 'प्राणीमात्र के प्रति आस्था' का भी संचार करता है। और तभी मनुष्य 'अविचारों' से भी मुक्त रह पाता है। कोई भी ऐसा विचार जो मनुष्य को संशय, सन्देह और नास्तिकता की ओर उन्मुख करता है वस्तुतः विचार नहीं, अविचार है। इस बात की पुष्टि इसी तथ्य से हो जाती है कि तब वह जीवन और जगत् के रहस्यों से स्वयं को असम्पृक्त रखता है। ऐसे में प्राणीमात्र के प्रति आस्था, सर्वमंगल का भाव या लोकमंगल की कामना तो उसके हृदय में प्रस्फुटित हो पाना असम्भव ही है। 'प्राणीमात्र के प्रति आस्था' का सिद्धान्त तीन तत्त्वों से सम्पृक्त है– समर्पण, जीवन और जगत् की परस्पर एकता और नैतिकता। यही तीन तत्त्व 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त में भी पाए जाते हैं। 'मूकमाटी' में लोक मंगल के इस भाव पर आइए दृष्टिपात करें :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें–/अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों/नाशा की आशा मिटे
आमूल महक उठे/···बस !" (पृ. ४७८)

'अविचार' ही 'कु-विचार' की ओर उन्मुख करता है। बदले या वैर के इस भाव की अभिव्यक्ति 'मूकमाटी' में 'काँटे' के दृष्टान्त द्वारा हुई है :

"माटी खोदने के अवसर पर/कुदाली की मार खा कर
जिसका सर अध-फटा है/जिसका कर अध-कटा है...
...फिर भी मिट नहीं रहा वह,.../शिल्पी को शल्य-पीड़ा देकर ही
इस मन को चैन मिलेगा.../बदले का भाव वह अनल है/जो
जलाता है तन को भी, चेतन को भी।" (पृ. ९५-९८)

ये पंक्तियाँ तत्काल स्मृति-पटल पर संजोती हैं एक अविस्मरणीय और ऐतिहासिक घटना– भरत और बाहुबली की। बाहुबली, जिन्होंने राज्य के निमित्त लड़ाई में विजय पाने और वैर-प्रतिवैर तथा कुटुम्ब-कलह के बीज बोने की अपेक्षा 'सच्ची विजय' का वरण किया। उन्होंने अहंकार और तृष्णा-जय में ही जीवन की सार्थकता देखी। युद्ध उन्होंने क्रोध और अभिमान से किया और प्रतिकार किया अवैर से वैर का। क्रोध, वैर के विपरीत संयम और परदुःख-कातरता की स्थापना का आदर्श संकल्प भी 'मूकमाटी' के कथ्य का केन्द्रीय बिन्दु है। जहाँ 'काँटा' वैर और बदले के भाव से दग्ध छटपटा रहा है वहीं निकट में एक गुलाब का पौधा खड़ा है। सुरभि से महकता। प्रकृति ने तो भरसक हमें सद्गुणों

से बोध कर ही सिरजा है :

"अपने हों या पराये,/भूखे-प्यासे बच्चों को देख
माँ के हृदय में दूध रुक नहीं सकता/बाहर आता ही है उमड़ कर,
इसी अवसर की प्रतीक्षा रहती है—/उस दूध को।" (पृ. २०१)

संस्कृति मात्र का उद्देश्य ही है मानवता की भलाई के लिए आगे बढ़ना। 'मूकमाटी' इसी उद्देश्य से अनुप्राणित है। हिंसा को रोकने का भरसक प्रयत्न करती है यह कृति और तप-संयम के आदर्शों को अपने ढंग से उभारती है। इसका बड़ा ही सहज उद्घाटन 'मशाल' और 'दीपक' के माध्यम से हुआ है :

"मशाल के मुख पर/माटी मली जाती है/असंयम होता है, इसलिए।
मशाल से प्रकाश मिलता है/पर अत्यल्प !/उससे अग्नि की लपटें उठती हैं...
मशाल अपव्ययी भी है,/बार-बार तेल डालना पड़ता है/...मशाल की अस्थिरता...
दीपक संयमशील होता है/बढ़ाने से बढ़ता है,/और/घटाने से घटता भी।
...मशाल की अपेक्षा/अधिक प्रकाशप्रद है यह।" (पृ.३६८-३७०)

दोष, गलती, बुराई और अकल्याण से तब तक कोई नहीं बच सकता जब तक उसकी एवज में सद्गुणों की पुष्टि न करे। हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि दोषों से बिना बचे सद्गुणों में प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। जिस-जिस दोष को दूर करना है उस-उस दोष के विरोधी सद्गुण को जीवन में स्थान देते जाना ही एकमात्र मार्ग है। हिंसा को दूर करना हो तो प्रेम आत्मीयता के सद्गुण को जीवन में व्याप्त करना होगा। बिना सत्य बोले, सत्य बोलने का बिना बल पाए असत्य से निवृत्ति कैसे होगी ? परिग्रह और लोभ से बचना हो तो सन्तोष और त्याग जैसी प्रवृत्तियों में अपने को खपाना होगा। यही तो बोध है :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
यह भी सत्य है कि/शब्दों के पौधों पर/सुगन्ध मकरन्द-भरे
बोध के फूल कभी महकते नहीं,/...बोध का फूल जब
ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो/शोध कहलाता है।"(पृ. १०६-१०७)

जैसा कि 'मूकमाटी' के 'प्रस्तवन' में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने निवेदित किया है : "...दर्शन आरोपित नहीं लगता, अपने प्रसंग और परिवेश में से उद्घाटित होता है।" वास्तव में 'मूकमाटी' का कथ्य तत्त्व-दर्शन से पग-पग पर सम्पृक्त है। जिन दार्शनिक तत्त्वों को ऊपर विवेचित किया गया है वे इस लेखक के वे उद्वेग हैं जो 'मूकमाटी' के अध्ययन के समय मथित होकर निकल आए, आरोपण मेरा है यहाँ, आचार्यजी का नहीं।

कथ्य की सहज और जीवन-दर्शन की सरल अभिव्यक्ति 'मूकमाटी' को मुखर बनाती है। अभिव्यक्ति की चर्चा करें तो 'भाषा' या 'शब्द' की चर्चा करनी ही होगी। 'मूकमाटी' की अभिव्यक्ति शैली इतनी सशक्त, प्रवाहमय और पारदर्शी क्यों है ? इसका मूल कारण है 'भाषा का सहज सम्प्रेषणीय प्रयोग।' कहीं यह गद्यमय काव्य बन कर हमें भाव-सागर में डुबाती है तो कहीं काव्यमय गद्य के रूप में हमारे भीतर स्वयं डूब जाती है। भाषा की यह सहजता कभी-कभी तो पाठक से सीधा संवाद करती-सी लगती है। यह सहजता वैचारिक जटिलता को भी सहज अभिव्यक्त करती है। 'मूकमाटी' की इस अभिव्यक्ति को निम्नलिखित भाषा-प्रयोग के स्तर पर विवेचित करने का प्रयत्न आइए करें :

(१) प्रचलित और सरल अभिव्यक्तियों का प्रयोग (२) सम्बोधनों की छटा (३) नवीन भाषा प्रयोग (४) सूक्ति कथन (५) उपमेयता (६) उर्दू भाषा के सहज प्रयोग (७) व्याख्या/परिभाषा (८) अनुप्रास प्रयोग (९) तुकान्तता।

प्रचलित और सरल अभिव्यक्तियों के स्तर पर देखने पर यह लगता है कि 'मूकमाटी' का कवि अपने लोक और लोक-भाषा प्रयोग से कितने गहरे जुड़ा हुआ है। उसका यह जुड़ाव भावाभिव्यक्ति को तत्काल पाठक के मानस-पटल पर बिखरा देता है। इस प्रकार के प्रयोग कहीं लोक-मुहावरों से सम्बद्ध हैं, कहीं लोक-विश्वासों से, कहीं बोलचाल की शैली से तो कहीं पूरे परिवेश को चित्र की भाँति पाठक के समक्ष उकेरने से। कुछ प्रयोग देखें : ''झट-पट झट-पट/उलटी-पलटी जाती माटी! (पृ.१२७), अपनी दाल नहीं गलती, लख कर (पृ.१३४), हास्य ने अपनी करवट बदल ली (पृ.१३४), 'नाक में दम कर रक्खा है' (पृ.१३५), इस पर प्रभु फमति हैं... (पृ.१५०), घूम रहा है माथा इसका (पृ.१६१), कुम्भ का गला न घोट दिया (पृ.१६५), संसार ९९ का चक्कर है (पृ.१६७), धग-धग लपट चल रही है (पृ.१७७), चिलचिलाती धूप है (पृ.१७७), साबुत निगलना चाहती है! (पृ.१८७), छूमन्तर हो गया (पृ. २०७), हाथों-हाथ हवा-सी उड़ी बात (पृ. २११), गुरवेल तो कड़वी होती ही है/और नीम पर चढ़ी हो/तो कहना ही क्या! (पृ.२३६), ईंट का जबाव पत्थर से दो !(पृ.२४८), जब सुई से काम चल सकता है/तलवार का प्रहार क्यों? (पृ.२५७), अपनी चपेट में लेता है (पृ. २६१), नव-दो-ग्यारह हो जाता है पल में (पृ. ३९७), 'माटी, पानी और हवा/सौ रोगों की एक दवा '(पृ. ३९९), कोप बढ़ा, पारा चढ़ा (पृ. ४६५), उसके दृढ़ संकल्प को/पसीना-सा छूट गया! (पृ. ४६९), 'पूत का लक्षण पालने में '(पृ. ४८२)।'' ऐसे प्रयोग 'मूकमाटी' को पठनीय भी बनाते हैं और पाठक के साथ सौधा रिश्ता कायम करते हैं।

पाठक के लिए सहज सम्प्रेषणीय बनाने में 'मूकमाटी' में सम्बोधनों का प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। गद्य लेखन में सम्बोधन अनिवार्य होते हैं। यहाँ काव्य में इनका प्रयोग भाषा और अभिव्यक्ति दोनों को सशक्त रूप से सम्प्रेषणीय बनाता है और कवि इन सम्बोधनों द्वारा सम्बोध्य से अपने को आत्मीय धरातल पर जोड़ पाता है : ''और सुनो! (पृ. ५), बेटा! (पृ. ७), हाँ! हाँ!! (पृ. १०), धन्य! (पृ. २६), सुनो! (पृ. २६), हे मानी, प्राणी! (पृ. ५३), भूल क्षम्य हो माँ! (पृ. ५६), स्वामिन्! (पृ. ६०), हे भ्रात! (पृ. ६०), चल री चल''! (पृ. ७१), सुनो बेटा! (पृ. ८२), हे प्रभो! (पृ. ११५), ओ माँ माटी! (पृ. ११९), अरे मौन! (पृ. १२१), हे देहिन्! (पृ. १४३), हे शिल्पिन्! (पृ. १४३), ओ मनोरमा! (पृ. १४४), रे शृंगार! (पृ. १४४), अरे पथभ्रष्ट बादलो! (पृ. २६१), हे शिल्पी महोदय! (पृ. २९४), आइए स्वामिन्! (पृ. ३२३), अरे पापी! (पृ. ३७२), अरे मतिमन्द, मदान्ध, सुन! (पृ. ३७४), अरे कातरो, ठहरो!'' (पृ. ४२६)। ये सम्बोधन प्रसंग, सम्बोधित और सन्दर्भ से मिल कर आदर, उपेक्षा, घृणा, स्नेह, हताशा, कामना आदि अनेक भावों की अभिव्यक्ति इतनी सहजता से करते हैं कि आचार्यजी की अभिव्यक्ति क्षमता पर अचरज होने लगता है और जो अन्ततः उनके प्रति श्रद्धावनत कर देता है।

आचार्यजी ने सहज सम्प्रेषणीयता के लिए भाषा के व्याकरणिक नियमों को तोड़ कर नवीन भाषा-प्रयोग को भी स्थान दिया है। ये नवीन प्रयोग संरचना के स्तर पर भी किए गए हैं, जिन्हें सर्जनात्मक भाषा अध्ययन में 'विचलन' कहा जाता है और परम्परागत अर्थ से सम्पृक्त शब्दों को नवीन अर्थ सन्दर्भ दे कर भी प्रयुक्त किया गया है। नवीन भाषा प्रयोग 'मूकमाटी' को सर्जना शक्ति से पुष्ट करते हैं : ''प्रतिकार की पारणा (पृ. १२), विराधना (पृ. १२), कलिलता आती है (पृ. १३), मुइन (पृ. २९), जुइन (पृ. २९), कुधन (पृ. ३०), हमारा वियोगीकरण (पृ. ४५), फूलन (पृ. ९४), रौंदन (पृ. ११३), कहकहाहट (पृ. १३३), ओरे हँसिया! (पृ. १३३), हँसन-शील (पृ. १३३), बदलाहट (पृ.

१४०), आँखें पलकती नहीं हैं (पृ. १६५), पीलित हुआ (पृ. ३५६), तुम माटी के उगाल हो (पृ. ३६५), प्रकटता गया (पृ. ४००), झगझगाहट" (पृ. ४७०) आदि प्रथम श्रेणी के प्रयोग हैं और लोंदा (पृ. ११३), अखरा (पृ. ८३), तार दो (पृ. १६१)। दूसरी श्रेणी के। इस प्रकार के नव-प्रयोग सन्दर्भ में बड़े ही प्रभावशाली बन पड़े हैं।

सूक्ति कथन 'मूकमाटी' की आत्मा है। इनकी संख्या भी काव्य में बहुत बड़ी है। वास्तव में ये सूक्तियाँ आचार्यजी के जीवन दर्शन को 'मूकमाटी' के कथा सन्दर्भ से आबद्ध कर ज्ञान और चिन्तन का आनन्दमय मार्ग पाठक के समक्ष प्रशस्त करती हैं। इतना ही नहीं, ये सूक्तियाँ कथानक के प्रति निर्णय देने, उन्हें प्रमाणित करने तथा कवि के गहरे मन्तव्यों को प्रस्फुटित करने में भी सहायक हैं। सभी का संग्रह यहाँ सम्भव नहीं है, इनका संकलन अलग से अवश्य होना चाहिए ताकि आचार्यजी का गरिमामय चिन्तन सूत्र रूप में लोगों तक पहुँच सके। कुछ सूक्तियाँ देखने मात्र से ही इस अनिवार्यता की पुष्टि हो जाएगी :

"बहना ही जीवन है (पृ. २), जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है (पृ. ८), असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है (पृ. ९), किसी कार्य को सम्पन्न करते समय/अनुकूलता की प्रतीक्षा करना/सही पुरुषार्थ नहीं है (पृ. १३), मीठे दही से ही नहीं,/खट्टे से भी/समुचित मन्थन हो/नवनीत का लाभ अवश्य होता है (पृ. १३-१४), दुःख की वेदना में/जब न्यूनता आती है/दुःख भी सुख-सा लगता है (पृ. १८), पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है/और/पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है (पृ. ३३), वासना का विलास/मोह है/दया का विकास/मोक्ष है (पृ. ३८), मन की छाँव में ही/मान पनपता है (पृ. ९७), सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/...जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव-सम्पादन हो/सही साहित्य वही है (पृ. १११), ...जो जीव/अपनी जीभ जीतता है/दुःख रीतता है उसी का (पृ. ११६), आस्थावाली सक्रियता ही/निष्ठा कहलाती है (पृ. १२०), दाता के कई गुण होते हैं/उनमें एक गुण विवेक भी होता है (पृ. ३१७), 'ध्येय यदि चंचल होगा, तो/कुशल ध्याता का शान्त मन भी/चंचल हो उठेगा ही'(पृ. ३६९), गुणों में गुण कृतज्ञता है (पृ. ४५४), घृत का दुग्ध के रूप में/लौट आना सम्भव है क्या ?" (पृ. ४८७)।

'मूकमाटी' की ये सूक्तियाँ कव्य में ही लिपटी हुई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन सूक्तियों में भारतीय धर्म और संस्कृति को अपने भीतर पचा कर ही आचार्यजी ने सहजता से हमारे समक्ष रख दिया है। इनके द्वारा धर्म के दोनों रूप– जीवन शुद्धि और बाह्य व्यवहार हमारे भीतर उघड़ते चलते हैं। इन सूक्तियों में क्षमा, नम्रता, सत्य, संघर्ष आदि जीवनगत गुण भी पिरोए हुए हैं और आस्था, अर्चन, गुरु सत्कार, इन्द्रिय दमन, नैतिकता जैसे बाह्य व्यवहार से सम्बन्धित गुण भी।

सशक्त और सहज अभिव्यक्ति के लिए उपमान और उपमेय का गठन अति सार्थक साधन है। इससे भाव, अनुभूति, विचार जैसे सशरीर पाठक के समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। 'मूकमाटी' में इनका हटकर प्रयोग है अर्थात् इसके पहले इस प्रकार की उपमेयता सर्जनात्मक लेखन में दिखाई नहीं पड़ी। इस धरातल पर 'मूकमाटी' 'नई अभिव्यक्ति की खोज' के महती सृजन कर्त्तव्य को भी निभाती परिलक्षित होती है। इन सार्थक प्रयोगों को देखें और स्वयं निर्णय करें: *"खसखस के दाने-सा (पृ. ७), भाई को बहन-सी (पृ. १९), नवविवाहिता तनूदरा/घूँघट में से झाँकती-सी (पृ. ३०), ...खरा बने कंचन-सा ! (पृ. ५६), दादी, दीदी-सी (पृ. ६२), कूप-मण्डूक-सी (पृ. ६७), बालटी वह यान-सम (पृ. ७७), फूल-दलों-सी (पृ. ९४), चकित चोर-सा ! (पृ. ९५), मुक्ता-मोती-सी (पृ. ११०) सुरभि से विरहित पुष्प-सम (पृ. १११), बाल-भानु की भाँति (पृ. ११७), चतुरी चकवी-सम (पृ. १२६), चन्दन तरु-लिपटी नागिन-सी (पृ. १३०), ज्वालामुखी-सम (पृ. १३१), बबूल के ठूँठ की भाँति (पृ.१३१),*

बालक-सम (पृ. १३४), गुब्बारे-सी (पृ. १३४), नहर की भाँति (पृ. १५५), घृत से भरा घट-सा (पृ. १६५), हवा-सी (पृ. २११), आदेश-तुल्य (पृ. २११), दुर्दिन से घिरा दरिद्र गृही-सा (पृ. २३८), जीर्ण-ज्वर-ग्रसित काया-सी (पृ. २३८), मुक्तात्मा-सी (पृ. २९८), गुलाब-सम (पृ. ३४०), टिमटिमाते दीपक-सम (पृ. ३५०), वणिक-सम (पृ. ३५०), धूल में गिरे फूल-सम (पृ. ३५०), सिसकते शिशु की तरह (पृ. ३५१), कृष्ण-पक्ष के चन्द्रमा की-सी (पृ. ३५१), शान्त-रस से विरहित कविता-सम (पृ. ३५१), पंछी की चहक से वंचित प्रभात-सम (पृ. ३५१), शीतल चन्द्रिका से रहित रात-सम (पृ. ३५१), अबला के भाल-सम (पृ. ३५२), आदर्श गृहस्थ-सम (पृ. ३६९), कुलीन-कन्या की मति-सी (पृ. ३९५), लवणभास्कर चूरण-सी (पृ. ४४३), सिंह-कटि-सी'' (पृ. ४४३)।

धार्मिक, दार्शनिक अथवा सांस्कृतिक काव्य में संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दावली के प्रयोग की ओर ही लेखक सामान्यतः उन्मुख होता है। काव्य में तो और भी तत्समोन्मुखता होती है। परन्तु आचार्यजी ने 'मूकमाटी' के सहज प्रवाह में तत्सम के साथ देशज (लोक शब्द) का ही प्रयोग नहीं किया बल्कि अरबी-फारसी (उर्दू) शब्दावली का भी खूबसूरती से प्रयोग किया है। ऐसे प्रयोग अभिव्यक्ति को और भी प्रखर बनाते हैं। वास्तव में जिस समन्वय और सामंजस्य की चर्चा 'मूकमाटी' दार्शनिक धरातल पर करती है उसी समन्वय और सामंजस्य का परिचय वह शब्द चयन में भी देती है : ''*बरना (पृ. २२), आह (पृ. २८४), खून (पृ. १३१), खूब (पृ. १३१), क़ाबू (पृ. १३१), तेज़ाबी (पृ. १३४), साफ़-साफ़ (पृ. १४३), असर (पृ. १५१), गुज़र (पृ. १६२), नज़र (पृ. १६२), बेशक (पृ. १६२), मासूम (पृ. २३९), दुआ (पृ. २४१), जवाब (पृ. २४८), जानदार (पृ. २६७), असरदार (पृ. २६७), अफ़सोस (पृ. २९२), मिशाल (मिसाल) (पृ. ३६९)*'' आदि इसी तरह के शब्द हैं।

'मूकमाटी' अभिव्यक्ति की सहजता का एक और नया मार्ग अपनाती है। यह मार्ग भी काव्य सृजन की प्रक्रिया में बहुत कम दिखाई देता है। यह मार्ग है शब्दों के अर्थ को उनके संरचनात्मक घटकों द्वारा ही व्याख्यायित करने का प्रयास अथवा शब्दों का विलक्षण प्रयोग करते हुए अर्थ का उद्घाटन। पहले के उदाहरण स्वरूप : ''*स्व की याद ही/स्व-दया है/विलोम-रूप से भी/यही अर्थ निकलता है/या''द द''या*'' (पृ. ३८), और दूसरे का उदाहरण ''*रा''त्री/लम्बी होती जा रही है*'' (पृ. १८), को देखा जा सकता है। इस प्रकारके अन्य उदाहरण भी देखें :

''*संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है,/स्वयं राही शब्द ही/विलोम-रूप से कह रहा है–/रा''ही''ही''रा*'' (पृ. ५७), *किसलय.../किस लय में (पृ. १४१), स्वप्न प्रायः निष्फल ही होते हैं/.../'स्व' यानी अपना/'प्' यानी पालन–संरक्षण/और /'न' यानी नहीं (पृ. २९५), 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन–स्थिरता है/अपने में लीन होना ही नियति है*''(पृ. ३४९)– इस प्रकार की व्याख्या-परिभाषा का विस्तृत भण्डार है 'मूकमाटी' में। 'नारी', 'स्त्री' की महिमा 'मूकमाटी' में मुक्त कण्ठ से गाई है। ऐसे में *'नारी'(पृ. २०२), 'कुमारी'(पृ. २०४), 'स्त्री' (पृ. २०५), 'सुता'(पृ. २०५), 'दुहिता' (पृ. २०५)* को उपरोक्त प्रकार से व्याख्यायित-परिभाषित करते हुए 'मूकमाटी' नई दिशादृष्टि-का सूत्रपात करती है।

इस प्रकार के प्रयोग पाठक के लिए विलक्षण और नवीन तो हैं ही, पाठक को आचार्यजी की विश्लेषण क्षमता से भी परिचित कराते हैं। इसी क्षमता का प्रयोग अनुप्रास प्रयोग में मिलता है। इन्हें मूल काव्य से अलग कर निकालने का प्रयास तो हम कर रहे हैं, अन्यथा तो काव्य के भीतर ये इस तरह अन्तर्भुक्त हैं कि यह सोचा भी नहीं जा सकता कि इन्हें सायास निर्मित किया गया होगा। ये तो अभिव्यक्ति के सहज प्रवाह में अनायास प्रवाहित लगते हैं :

''*बड़ का बीज वह (पृ. ७), छिलन के छेदों में जा (पृ. ३५), मृदुतम मरहम/बनी जा रही है (पृ. ३५),*

...सुनो, सुनाती हूँ/कुछ सुनने-सुनाने की बातें (पृ. १२७), मासूम ममता की मूर्ति (पृ. २३९), ...स्वतन्त्र-संज्ञी/...सर्व-संगों से मुक्त''निः संग/अंग ही संगीती - संगी जिस का/संघ-समाज-सेवी /वात्सल्य-पूर वक्षस्थल !/...वैर-विरोधी वेद-बोधि (पृ. २३९), ...पथिक हो कर भी/पवन के पद थमे हैं...(पृ. २३९), काक-कोकिल कपोतों में/चील-चिड़िया चातक-चित में/बाघ-भेड़-बाज-बकों में/...खग-खरगोशों-खरों-खलों में/ललित ललाम-लजील लताओं में/पर्वत-परमोन्नत... प्रौढ़ पादपों औ' पौधों में/पल्लव-पातों, फूल-फूलों में (पृ. २४०) पाप-पाखण्ड पर प्रहार (पृ. २४३), प्रशस्त पुण्य (पृ. २४३), सुर-सुराती सुलगती'' (पृ. २७८) आदि।

इसी प्रकार तुकान्तता भी 'मूकमाटी' की अभिव्यक्ति को सहजता प्रदान करती है। तुकान्तता काव्य के प्रवाह के साथ भावों के प्रवाह को भी नियन्त्रित करती और साधती चलती है :

''निशा-उषा (पृ. १), अवसान-शान (पृ. १), सुख-दुःख (पृ. ४), मुक्ता-युक्ता (पृ. ४), इति-च्युति (पृ. ५), करो-हरो (पृ. ५), शास्वत-भास्वत (पृ. ७), आस्था-वास्ता-रास्ता -शास्ता(पृ. ९), पारणा-धारणा (पृ. १२), आराधना-विराधना (पृ. १२), ओस-होश-जोश-तोष -रोष-दोष-कोष (पृ. २१), घिसाई-सफाई (पृ. २४), ओंकार को नमन-अहंकार का वमन (पृ. २८), दरश-परस-हरष (पृ. ४४), प्रसंग-रंग-अंग-ढंग (पृ. ४७), अवरोधक-उद्बोधक-अतिशोषक-परिपोषक (पृ. ५२), सर अध-फटा - कर अध-कटा (पृ. ९५), मोह क्या बला है - मोक्ष क्या कला है ? (पृ. १०९), माधुर्य-चातुर्य (पृ. १०९), दूर-चूर (पृ. ११५), लहर-जहर (पृ. ११५), प्रकृति-आकृति-विकृति (पृ. १२३), लख-परख (पृ. १३४), घाम-धाम-आयाम (पृ. १४०), मनोज-ओज (पृ. १४०), राग-पराग (पृ. १४१), दुःस्वर-सुस्वर-नश्वर (पृ. १४३), सदय-अदय-अभय-सभय (पृ. १४९), अंकन-मूल्यांकन-वांछन-लांछन (पृ. १४९), चेतन का पतन-चेतन का जतन (पृ. १६२), भ्रमण-रमण (पृ. १६२), गुज़र-नज़र (पृ. १६२), ओट-चोट-खोट-घोट (पृ. १६५), कृति-संस्कृति-जागृत-आकृत (पृ. २४५), फूल-शूल-मूल-चूल (पृ. २५७), शरण-वरण-भरण-चरण-संचरण-करण-संस्करण (पृ. २६३), जाग-भाग-राग-पराग (पृ. २६३), क्षुधा-सुधा, मंगल-जंगल (पृ. २६३), मति-यति (पृ. २६३), पलक-पुलक-ललक-झलक (पृ. २६४), विदित-मुदित (पृ. २७८), हमें चख लो, तुम - हमें छू लो, तुम - हमें सूँघ लो, तुम (पृ. ३२९), दाह का रोग - आह का योग - चाह का भोग'' (पृ. ३९०)।

श्रीयुत लक्ष्मीचन्द्र जी जैन का यह कथन सर्वथा उपयुक्त ही है : ''काव्य की दृष्टि से 'मूकमाटी' में शब्दालंकार और अर्थालंकारों की छटा नए सन्दर्भों में मोहक है।...'मूकमाटी' में कविता का अन्तरंग स्वरूप प्रतिबिम्बित है।'' यहाँ मैं इतना और जोड़ना चाहूँगा कि 'मूकमाटी' काव्य भारतीय संस्कृति के द्विविरुद्ध भावों के समन्वय को लेकर चलती है। प्रत्यक्ष जीवन और परोक्ष जीवन, बन्धन-मोक्ष, इहलोक-परलोक, शरीर-आत्मा, गृहस्थ-संन्यास, संचय-त्याग, कर्म-ज्ञान– ये सभी काव्य में सहज और प्रतीकात्मक ढंग से व्यक्त हुए हैं। कवि ने लगता है धर्म का साक्षात्कार किया है अथवा उसका स्वयं अनुभव किया है। धर्म, अपने सीमित साम्प्रदायिक अर्थ में नहीं 'धारणात्मक तत्त्व के वाचक शब्द' के रूप में है। धर्म की इतनी सहज व्याख्या 'मूकमाटी' में तभी सम्भव हुई है जब इसके कथ्य की जटिलता को अभिव्यक्ति की सहजता के माध्यम से व्यक्त किया गया है। सम्भवतः यही इस काव्य का लक्ष्य और अभिप्रेत भी है तथा यही इसकी सफलता का मूल कारण भी बना है।

❑



हृदयग्राही काव्य : 'मूकमाटी'

डॉ. कैलाश चन्द्र भाटिया

आचार्यप्रवर सन्त विद्यासागरजी काव्य प्रतिभा के धनी हैं जिनकी लेखनी से 'माटी' को केन्द्रबिन्दु में रखकर काव्य का ताना-बाना बुना गया है। 'माटी' जैसा निरीह पदार्थ दुर्लभ है जिसको काव्य एवं अध्यात्म में अवगाहन करने के लिए पवित्र घट की सृष्टि की गई। 'प्रस्तवन' में लिखे श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के इस वाक्य को उद्धृत करना चाहता हूँ: ''...माटी की तुच्छता में चरम भव्यता के दर्शन करके उसकी विशुद्धता के उपक्रम को मुक्ति की मंगल-यात्रा के रूपक में ढालना कविता को अध्यात्म के साथ अ-भेद की स्थिति में पहुँचाना है।''

वह माटी तुच्छ हो नहीं पद-दलित है। माँ से स्वीकार करती है :

''स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
···अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !'' (पृ. ४)

और माँ ही सब कुछ प्रदान कर सकती है, अत: माँ से माटी कहती है :

''पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ !'' (पृ. ५)

प्रस्तुत महाकाव्य के चार खण्ड हैं। प्रथम खण्ड-'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' के अन्तर्गत कंकरों से मिश्रित माटी को उसके मूल स्वरूप में लाने की बात कही गई है जिससे वह अपना कोमल वर्ण प्राप्त कर सके। हर पदार्थ अपने मौलिक स्वरूप में आ जाए, यही धर्ममार्ग है। इस खण्ड के माध्यम से कवि ने कुछ सन्देश दिए हैं : मोती-निर्माण के सन्दर्भ में :

''जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है/मति जैसी, अग्रिम गति
मिलती जाती ···मिलती जाती···।'' (पृ. ८)

आस्था का जीवन में महत्त्व :

''आस्था के बिना रास्ता नहीं/मूल के बिना चूल नहीं।'' (पृ. १०)

इसी खण्ड में 'सम्प्रेषण' के महत्त्व को भी प्रतिपादित किया गया है :

''पथिक की/अहिंसक पगतली से/सम्प्रेषण प्रवाहित होता है
...सम्प्रेषण में/निखार आता है।'' (पृ.२२)

फलत: निष्कर्ष निकलता है :

''सम्प्रेषण वह स्वाद है/जिससे, कि/सद्भावों की पौध/पुष्ट-सम्पुष्ट होती है
उल्लास पाती है;/सम्प्रेषण वह स्वाद है;/जिससे कि/तत्त्वों का बोध
तुष्ट-सन्तुष्ट होता है/प्रकाश पाता है।'' (पृ.२३)

कुछ सूक्तियाँ भी इसमें हैं :

- *''अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं।'' (पृ. १९२)*

- *"संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है।" (पृ. ५६-५७)*
- *"नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।" (पृ. ४९)*

दूसरा खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' – सही दिशा में शब्द, बोध और शोध को प्रस्थापित करता है, जो क्रमशः पर्याय बन गए हैं – श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र के। कवि के अनुसार :

- *"शब्दों के पौधों पर/सुगन्ध मकरन्द-भरे/बोध के फूल कभी महकते नहीं,*
  ...बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो
  शोध कहलाता है।/बोध में आकुलता पलती है
  शोध में निराकुलता फलती है।" (पृ. १०६-१०७)
- *"काल स्वयं चक्र नहीं है/संसार-चक्र का चालक होता है वह।" (पृ. १६१)*

यही चक्र कुलाल के पास सान बन जाता है :

"कुलाल-चक्र यह, वह सान है/जिस पर जीवन चढ़कर
अनुपम पहलुओं से निखर आता है,
पावन जीवन की अब शान का कारण है।" (पृ. १६२)

'ही' और 'भी' व्याकरण में निपात मात्र हैं जबकि तत्त्ववेत्ता दार्शनिक मनीषी आचार्य विद्यासागर की दृष्टि में :

- *" 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है*
  'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।" (पृ. १७२)
- *" 'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को*
  'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
  'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है
  'भी' वस्तु के भीतरी भाग को भी छूता है,
  'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।"
  (पृ. १७३)

तीसरे खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' के अन्तर्गत शुभ कार्यों के सम्पादन, लोकहित एवं आत्महित के लिए किए गए प्रयत्नों के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। "अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं"- की चर्चा की जा चुकी है। कुछ अन्य सन्देश हैं :

"जल को जड़त्व से मुक्त कर/मुक्ता-फल बनाना,
पतन के गर्त से निकाल कर/उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।" (पृ. १९३)

कुम्भ के द्वारा 'दर्शन' को व्याख्यायित किया गया है :

"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में।/निरन्तर साधना की यात्रा

भेद से अभेद की ओर/वेद से अवेद की ओर
बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए।" (पृ. २६७)

चौथे खण्ड -'अग्नि' की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में कथा-शिल्प का अद्भुत विस्तार है। इस खण्ड में कवि, कथाकार और सर्वोपरि सन्त की अपूर्व अनुभूतियों का संगम है। प्रकारान्तर से युगीन परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब ही है, जैसे :

- *"प्रायः अपराधी-जन बच जाते/निरपराध ही पिट जाते।" (पृ. २७१)*
- *"इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?/यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है*
  या/मनमाना 'तन्त्र' है !" (पृ. २७१)
- *"वस्तुओं के व्यवसाय,/लेन-देन मात्र से*
  उनकी सही-सही परख नहीं होती/अर्थोन्मुखी-दृष्टि होने से।" (पृ. ३०४)
- *"प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है।" (पृ. ४६१)*

लघु होते हुए भी दीपक का महत्त्व है :

"दीपक संयमशील होता है/...मितव्ययी है दीपक !
कितना नियमित, कितना निरीह !/छोटा-सा बालक भी
अपने कोमल करों में/मशाल को नहीं,/दीपक ले चल सकता है प्रेम से।
मशाल की अपेक्षा/अधिक प्रकाशप्रद है यह। /...और/माटी का कुम्भ है
पथ-प्रदर्शक दीप- समान।" (पृ. ३६९ से ३७१)

आतंकवाद क्यों पनपता है :

- *"यह बात निश्चित है कि/मान को टीस पहुँचने से ही,*
  आतंकवाद का अवतार होता है।/अति-पोषण या अतिशोषण का भी
  यही परिणाम होता है।" (पृ. ४१८)
- *" जब तक जीवित है आतंकवाद*
  शान्ति का श्वास ले नहीं सकती/धरती यह।" (पृ. ४४१)

आचार्य विद्यासागर तो शब्दों के जादूगर हैं। उनके द्वारा विलोम मात्र से अनेक शब्दों के अर्थ स्पष्ट किए गए हैं :

दया : *"स्व की याद ही/स्व-दया है/विलोम-रूप से भी*
यही अर्थ निकलता है/या···द···द···या।" (पृ. ३८)

खरा : *"राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?/रा···ख···ख···रा !" (पृ. ५७)*

नदी : *"न···दी···दी···न !/जल से विहीन हो*
दीनता का अनुभव करती है नदी।" (पृ. १७८)

नाली : *"ना···ली···ली···ना/लीना हुई जा रही है धरती में*
लज्जा के कारण।" (पृ. १७८)

चरण : *"च···र···ण···न···र···च/चरण को छोड़ कर*

कहीं अन्यत्र कभी भी/न रच ! न रच ! न रच !'' (पृ. ३५९)

धरती : *''ध···र···ती ती···र···ध/यानी,/जो तीर को धारण करती है*
या शरणागत को/तीर पर धरती है/वही धरती कहलाती है !'' (पृ. ४५२)

धरणी : *''ध···र···णी नी···र···ध/नीर को धारण करे···सो···धरणी*
नीर का पालन करे सो···धरणी !'' (पृ. ४५३)

भाषा विज्ञान में जो 'संगम' (जंक्चर) है उसकी सहायता से अनेक शब्दों को हृदयंगम कराया गया है :

आदमी : *''आदमी वही है/जो यथा-योग्य/सही आ···दमी है।''* (पृ. ६४)

कृपाण : *''हम हैं कृपाण/हम में कृपा न !''* (पृ. ७३)

कामना : *''यही मेरी कामना है/कि/आगामी छोरहीन काल में*
बस इस घट में/काम ना रहे !'' (पृ. ७७)

शीतलता : *''मेरी स्पर्शा पर आज।/हर्षा की वर्षा की है/तेरी शीतलता ने।*
माँ ! शीत-लता हो तुम/साक्षात् शिवायनी !'' (पृ. ८५)

किसलय : *''किसलय ये किसलिए/किस लय में गीत गाते हैं ?''* (पृ. १४१)

कायरता : *''मन के गुलाम मानव की/जो कामवृत्ति है*
तामसता काय-रता है/वही सही मायने में/भीतरी कायरता है !'' (पृ. ९४)

अनेक शब्दों को व्युत्पत्ति से स्पष्ट किया गया है। यह व्युत्पत्ति कहीं निरुक्त पर आधारित है और कहीं लोकनिरुक्ति पर। सुधी विद्वान् श्री लक्ष्मीचन्द्रजी ने 'प्रस्तवन' में 'कुम्भकार', 'गधा', 'नारी', 'सुता', 'दुहिता', 'स्त्री', 'अबला' शब्दों की ओर संकेत भी किया है । कुछ और शब्द भी लिए जा सकते हैं :

कला : *'' 'क' यानी आत्मा—सुख है/'ला' यानी लाना—देता है/कोई भी कला हो*
कला मात्र से जीवन में/सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है।'' (पृ. ३९६)

वैखरी : *'' 'वै' यानी निश्चय से/'खरी' यानी सच्ची है।''* (पृ. ४०३)

समूह : *''सम—समीचीन ऊह—विचार है/जो सदाचार की नींव है।''* (पृ. ४६१)

स्थान-स्थान पर अलंकारों की छटा, चुटीले कथोपकथन, पात्रों का सजीव चित्रण, शब्दों की आत्मा का दर्शन 'मूकमाटी' महाकाव्य को गत शताब्दी के अन्तिम दशक का हृदयग्राही काव्य सिद्ध करता है। इस अप्रतिम महाकाव्य से जो जीवन दृष्टि मिलती है, वह अनुपम है। आचार्यप्रवर ने काव्य के माध्यम से अध्यात्म-दर्शन में प्रवेश कराया है।



वृक्ष २२६-२३७
लो, विचारों में समानता—
---आकुलता की घुली
कड़ी है।

□

'मूकमाटी' : एक अध्ययन

डॉ. जगमोहन मिश्र

'मूकमाटी' एक महत्-काव्य है। महत् शब्द का प्रयोग मैं साभिप्राय कर रहा हूँ, क्योंकि महा शब्द का प्रयोग कर 'महाकाव्य' की पारम्परिक अवधारणा से 'मूकमाटी' को मैं दूर रखना चाहता हूँ। महाकाव्य के लक्षणों को परिगणित कर उनके आधार पर 'मूकमाटी' को परखना अथवा महाकाव्य के अवयवों के आधार पर 'मूकमाटी' का मूल्यांकन करना अथवा महाकाव्य के प्रकारों को निर्धारित कर 'मूकमाटी' की प्रकार-कोटि दर्शाना 'मूकमाटी' के साथ न्याय करना नहीं होगा। कृतिकार आचार्य विद्यासागर ने 'मूकमाटी' को मात्र कृति की संज्ञा दी है: "ऐसे ही कुछ मूल-भूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है" ('मानस-तरंग', पृष्ठ XXIV)। आवरण पृष्ठ में 'मूकमाटी' के साथ महाकाव्य शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। हाँ, भीतर के शीर्षक पृष्ठ पर कोष्ठक में 'मूकमाटी' के नीचे महाकाव्य अवश्य लिखा है, जिसे हम चाहें तो पढ़ें, चाहें न पढ़ें।

परिमाण की दृष्टि से 'मूकमाटी' लगभग ५०० पृष्ठों का काव्य है। इन पृष्ठों में दार्शनिक सन्त की साधना मुखरित हो उठी है, उनकी आत्मा के संगीत हैं– ये पृष्ठ और हैं– उनकी दार्शनिक अनुभूति की अभिव्यक्ति।

आचार्य विद्यासागर विचारक सन्त हैं। प्रकृति और पुरुष के सन्दर्भ में, जीवन और जगत् के सम्बन्ध में, आत्मा और परमात्मा के विषय में, स्व और पर के बारे में, व्यक्ति और समाज की दृष्टि से उन्होंने तिल-तिल जो कुछ सोचा-विचारा है, गुना और बुना है, उसे मुट्ठी भर-भरकर बिखेरा है।

'मूकमाटी' को सन्त कवि ने चार खण्डों में विभक्त किया है, जो निम्न हैं–

खण्ड एक- 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; खण्ड दो- 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; खण्ड तीन- 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन'; खण्ड चार- 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।'

प्रथम खण्ड– संकर नहीं : वर्ण-लाभ

प्रथम खण्ड में कवि ने माटी की प्राथमिक दशा के परिशोधन की चर्चा की है, जहाँ माटी अपने हृदय की बात माँ धरती के सम्मुख करती हुई कहती है :

> *"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की/च्युति कब होगी ?*
> *बता दो, माँ ...इसे !/...कुछ उपाय करो माँ !/खुद अपाय हरो माँ !" (पृ. ५)*

कुम्भकार माटी का उद्धार करता है। वह माटी को मंगल घट का रूप देना चाहता है। पहले वह माटी को खोदता है, ताकि कूट-छानकर उसमें से कंकरों को हटा सके। माटी अभी वर्ण संकर है क्योंकि वह कंकर आदि बेमेल तत्त्वों से समन्वित है और उसे मौलिक स्वरूप तभी प्राप्त हो सकेगा जब वह उसमें आ मिले तत्त्वों से दूर हो सकेगी। कवि का कथन है :

- *"इस प्रसंग से/वर्ण का आशय/न रंग से है/न ही अंग से/वरन्*
  चाल-चरण, ढंग से है।/यानी !/जिसे अपनाया है/उसे/जिसने अपनाया है
  उसके अनुरूप/अपने गुण-धर्म–/'''रूप-स्वरूप को/परिवर्तित करना होगा
  वरना/वर्ण-संकर-दोष को/वरना होगा !" (पृ. ४७-४८)
- *"केवल/वर्ण-रंग की अपेक्षा/गाय का क्षीर भी धवल है*
  आक का क्षीर भी धवल है/दोनों ऊपर से विमल हैं/परन्तु

परस्पर उन्हें मिलाते ही/विकार उत्पन्न होता है –क्षीर फट जाता है
पीर बन जाता है वह !/नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है, वरदान है।
और/क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है।" (पृ.४८-४९)

माटी को भिगोने के लिए जल की आवश्यकता होती है। जल बालटी और रस्सी के माध्यम से, कुएँ से निकाला जाता है। रस्सी में पड़ी गाँठ को रसना और दाँत मिलकर दूर करते हैं। रसना रस्सी को उपदेश देती हुई कहती है :

"ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है/और
निर्ग्रन्थ-दशा में ही/अहिंसा पलती है।" (पृ. ६४)

जल के साथ बालटी में एक मछली भी आ जाती है। मानों वह मोक्ष यात्रा में निकली हो। बाहर आकर मछली माटी के चरणों में जा गिरती है। वह माटी से बोध एवं सल्लेखना की याचना करती है। माटी कहती है :

"सल्लेखना, यानी/काय और कषाय को/कृश करना होता है, बेटा !
...मिटती-काया में/मिलती-माया में/म्लान-मुखी और मुदित-मुखी
नहीं होना ही/सही सल्लेखना है...।" (पृ. ८७)

तत्पश्चात् माटी कुम्भकार को निर्देश देती है कि मछली को सुरक्षापूर्वक कूप में पहुँचा दिया जाय। वैसा ही किया जाता है। कूप में एक ध्वनि गूँजती है :

"दयाविसुद्धो धम्मो।" (पृ. ८८)

द्वितीय खण्ड–शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं

कुंकुम-सम माटी में निर्मल जल मिलाया जाता है। माटी प्रसन्न है। उसका रूखापन दूर हो गया है। उसमें चिकनाहट भर गई है। वहीं एक काँटा भी है, जिसका माथा माटी खोदते समय फट चुका था। वह शिल्पी से बदला लेना चाहता है। माटी उसे समझाती है :

"बदले का भाव वह दल-दल है/कि जिसमें/बड़े-बड़े बैल ही क्या,
बल-शाली गज-दल तक/बुरी तरह फँस जाते हैं।" (पृ. ९७)

काँटा तब माटी से कहता है कि फूल और वह साथ-साथ खिलते हैं, पर यह कहाँ का न्याय है कि फूलों के प्रशस्ति के गीत गाए जाते हैं और शूलों को तिरस्कृत किया जाता है।

'मूकमाटी' का शूल कहता है :

"दिशा-सूचक यन्त्रों/और/समय-सूचक यन्त्रों–घड़ियों में
काँटे का अस्तित्व क्यों ?/यह बात भी हम नहीं भूलें,/कि–
घन-घमण्ड से भरे हुओं/की उद्दण्डता दूर करने
दण्ड-संहिता की व्यवस्था होती है।" (पृ. १०४)

इसी प्रसंग में कवि ने बोध और शोध की बात भी की है। वह लिखता है :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,

यह भी सत्य है कि/शब्दों के पौधों पर/सुगन्ध मकरन्द-भरे
बोध के फूल कभी महकते नहीं,/फिर !/संवेद्य-स्वाद्य फलों के दल
दोलायित कहाँ और कब होंगे···?
...बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें
वह पक्व फल ही तो/शोध कहलाता है।" (पृ. १०६-१०७)

शिल्पी गीली माटी को रौंदता है। इसी प्रसंग में कवि आस्था, निष्ठा, प्रतिष्ठा और संस्था की व्याख्या करता है तथा यह स्पष्ट करता है कि पुरुष का चेतन पर, चेतन का मन पर, मन का करण-गण पर, करण-गण का तन पर शासन हो पर तन सदैव शासित ही रहे। इसी सर्ग में विचारक कवि विभिन्न रसों की व्याख्या करता है, कुम्भ पर चित्रित ९ तथा ९९ अंकों की विशिष्टताएँ दर्शाता है तथा ६३ का वास्तविक और ३६ का विपरीत भाव बताता है। सिंह और श्वान की प्रकृति की चर्चा करता हुआ वह कहता है :

"श्वान सभ्यता-संस्कृति की/इसीलिए निन्दा होती है
कि/वह अपनी जाति को देख कर/धरती खोदता, गुर्राता है।
सिंह अपनी जाति में मिलकर जीता है,
राजा की वृत्ति ऐसी ही होती है।/होनी भी चाहिए।" (पृ. १७१)

कछुवा और खरगोश की दौड़ की चर्चा भी कवि करता है। 'ही' तथा 'भी' के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कवि का कथन है :

"हम ही सब कुछ हैं/यूँ कहता है 'ही' सदा,
तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो !/और,/'भी' का कहना है कि/हम भी हैं
तुम भी हो/सब कुछ !.../'ही' पश्चिमी-सभ्यता है
'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।" (पृ. १७२-१७३)

इस प्रसंग में सन्त कवि राम-रावण के उदाहरण को देता हुआ लिखता है :

"रावण था 'ही' का उपासक/राम के भीतर 'भी' बैठा था।"(पृ. १७३)

निर्मित कुम्भ अब अग्नि में पकाए जाने के लिए तैयार है।

तृतीय खण्ड-पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन

इस खण्ड में माटी की विकास-कथा के माध्यम से पुण्य कर्म के सम्पादन से उत्पन्न उपलब्धि का चित्रण है। कवि धरती एवं सागर की विशिष्टताएँ दर्शाता है। धरा का ध्येय है धैर्य धारण करना (पृ. ७, १९०)। उधर, "सागर में परोपकारिणी बुद्धि का अभाव है" (पृ. १९९)। आगे चलकर कवि नारी, महिला, अबला, कुमारी, स्त्री, दुहिता, मातृ, अंगना आदि शब्दों की व्याख्या करता है। कुम्भकार की अनुपस्थिति में उसके प्रांगण में मुक्ता की वर्षा होती है। लोग आश्चर्य में डूब जाते हैं। राजा तक बात पहुँचती है। राजा अपने कर्मचारियों को लेकर कुम्भकार के प्रांगण में पहुँचता है। मुक्ता राशि को बोरियों में भरा जाने लगता है। तभी आकाश से गर्जना होती है कि यह अनर्थ है। मुक्ताओं को छूने वालों के हाथों में मानों बिच्छू के डंक-से चुभने लगते हैं। राजा को लगता है कि वह किसी मन्त्र शक्ति द्वारा कीलित कर दिया गया है। तभी कुम्भकार आता है। वह ईश्वर से प्रार्थना करता है कि राजा कर्मचारियों सहित

मूर्च्छाविहीन हों। सबकी मूर्च्छा दूर हो जाती है। कुम्भकार अपने हाथों मुक्ताओं को बोरियों में भरता है और राजा से निवेदन करता है :

> *"हे कृपाण-पाणि कृपाप्राण !/कृपापात्र पर कृपा करो*
> *यह निधि स्वीकार कर/इस पर उपकार करो !" (पृ. २२०)*

धरती की कीर्ति देखकर सागर को क्षोभ होता है। सागर के क्षोभ का प्रतिपक्षी है बड़वानल। सागर पृथ्वी पर प्रलय लाना चाहता है, इसीलिए वह तीन घन बादलों को आमन्त्रित करता है। ये बादल हैं—कृष्ण, नील एवं कापोत रंग के बादल। ये भी जब सफल नहीं होते तो सागर राहु का आह्वान करता है। सूर्यग्रहण होता है, इन्द्र द्वारा मेघों पर वज्रप्रहार किया जाता है। ओलों की वर्षा होती है और भयंकर, प्रलयंकर दृश्य सामने उभरता है :

- *"ऊपर अणु की शक्ति काम कर रही है/तो इधर···नीचे*
  मनु की शक्ति विद्यमान !/ऊपर यन्त्र है, घुमड़ रहा है/नीचे मन्त्र है, गुनगुना रहा है
  एक मारक है/एक तारक ; /एक विज्ञान है/जिसकी आजीविका तर्कणा है,
  एक आस्था है/जिसे आजीविका की चिन्ता नहीं।" (पृ. २४९)
- *"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं*
  साधक की अन्तर-दृष्टि में।/निरन्तर साधना की यात्रा
  भेद से अभेद की ओर/वेद से अवेद की ओर
  बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए/अन्यथा,/वह यात्रा नाम की है
  यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।" (पृ. २६७)

चतुर्थ खण्ड—अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख

चतुर्थ खण्ड अपेक्षाकृत विस्तृत फलक लिए हुए है। अनेक कथा-प्रसंग इसमें समाए हुए हैं। कुम्भकार कुम्भ को पकाने के लिए अवे का निर्माण करता है। अनेक प्रकार की लकड़ियाँ उसमें नियोजित की जाती हैं। बबूल की लकड़ी अपनी अन्तर्वेदना कुम्भकार से व्यक्त करती है। इस प्रसंग में आधुनिक गणतन्त्र की विसंगति को भी व्यक्त किया गया है :

> *"कभी-कभी हम बनाई जातीं/कड़ी से और कड़ी छड़ी*
> *अपराधियों की पिटाई के लिए।/प्रायः अपराधी-जन बच जाते*
> *निरपराध ही पिट जाते,/और उन्हें/पीटते-पीटते टूटतीं हम*
> *इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?/यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है*
> *या/मनमाना 'तन्त्र' है !" (पृ. २७१)*

अवा में तपता अपक्व कुम्भ कुम्भकार से कहता है :

> *"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है/स्व-पर दोषों को जलाना*
> *परम-धर्म माना है सन्तों ने।/दोष अजीव हैं,/नैमित्तिक हैं,*
> *बाहर से आगत हैं कथंचित्;/गुण जीवगत हैं,/गुण का स्वागत है।*
> *...मुझ में जल- धारण करने की शक्ति है/जो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है,*

उसकी पूरी अभिव्यक्ति में/तुम्हारा सहयोग अनिवार्य है।" (पृ. २७७)

अवा में कुम्भ कई दिनों तक तपता है। कुम्भकार रेतिल राख की राशि को फावड़े से हटाता है। उसे कुम्भ के दर्शन होते हैं। कुम्भ के अंग-अंग से संगीत की तरंग निकल रही है। इसी बीच नगर के एक श्रद्धालु सेठ का सेवक गुरु के निमित्त जल के आहार-दान तथा पाद-प्रक्षालन हेतु कुम्भ को लेने आ पहुँचता है। अग्नि-परीक्षा के पश्चात् भी कुम्भ की पुनः परीक्षा ली जाती है। सेवक कुम्भ को सात बार बजाता है और उससे सात स्वर ध्वनित होते हैं– सा···रे···ग···म···प···ध···नि:

"सा···रे···ग···म यानी/ सभी प्रकार के दु:ख
प···ध यानी ! पद–स्वभाव/और/नि यानी नहीं,
दु:ख आत्मा का स्वभाव–धर्म नहीं हो सकता।" (पृ. ३०५)

इसी प्रसंग में कवि मृदंग की चर्चा करता है। मृदंग के भाँति-भाँति के बोल प्रकृति और पुरुष के भेद खोल देते हैं। कवि लिखते हैं :

"धा···धिन्···धिन्···धा···/धा···धिन···धिन्···धा···
केतन-भिन्ना चेतन-भिन्ना,/ता···तिन···तिन···ता···
ता···तिन···तिन···ता···/का तन···चिन्ता, का तन···चिन्ता ?" (पृ.३०६)

कुम्भकार घट का मूल्य नहीं लेता। सेठ कुम्भ का शृंगार चन्दन, केसर, हल्दी और कुंकुम से करता है। मुख पर पान और श्रीफल रखता है और अष्टकोनी चन्दन की चौकी पर कुम्भ को स्थापित करता है। तभी एक अतिथि सन्त आते हैं। वे माटी के घट से ही आहार प्राप्त करते हैं।

सन्त समागम की महत्ता दर्शाते हुए कवि लिखते हैं :

"सन्त-समागम की यही तो सार्थकता है/संसार का अन्त दिखने लगता है,
समागम करने वाला भले ही/तुरन्त सन्त-संयत/बने या न बने
इसमें कोई नियम नहीं है,/किन्तु वह/सन्तोषी अवश्य बनता है।"(पृ.३५२)

इस सर्ग में कवि का चिन्तन बोल रहा है। पूजा-अर्चना के उपकरण सजीव हो वार्तालाप करते हैं। स्वर्ण की चर्चा करते हुए सन्त कवि लिखते हैं :

"परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम,/पूँजीवाद के अभेद्य
दुर्गम किला हो तुम/और/अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला !" (पृ. ३६६)

स्वर्ण कलश को दु:ख है कि उसे अतिथि की सेवा से वंचित रहना पड़ा। इस अपमान का बदला लेने के लिए वह एक आतंकवादी दल का आह्वान करता है। यह दल सेठ के परिवार को इतना कष्ट पहुँचाता है कि त्राहि-त्राहि मच जाती है। सेठ और उसके परिवार की रक्षा प्रकृति एवं मनुष्येतर शक्तियाँ करती हैं। गज और नाग-नागिनियाँ आतंकियों को दूर रखने का प्रयत्न करती हैं।

इसी प्रसंग में मत्कुण सामाजिक बोध देता हुआ कहता है :

"पाणिग्रहण संस्कार को/धार्मिक संस्कृति का
संरक्षक एवं उन्नायक माना है।/परन्तु खेद है कि

लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी/प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।
प्रायः अनुचित रूप से/सेवकों से सेवा लेते/और
वेतन का वितरण भी अनुचित ही।/ये अपने को बताते
मनु की सन्तान !/महामना मानव !/देने का नाम सुनते ही
इनके उदार हाथों में/पक्षाघात के लक्षण दिखने लगते हैं,
फिर भी, एकाध बूँद के रूप में/जो कुछ दिया जाता/या देना पड़ता
वह दुर्भावना के साथ ही।" (पृ. ३८६-३८७)

मत्कुण सेठ से भी कहता है :

"सूखा प्रलोभन मत दिया करो/स्वाश्रित जीवन जिया करो,
कपटता की पटुता को/जलांजलि दो !/गुरुता की जनिका लघुता को
श्रद्धांजलि दो !/शालीनता की विशालता में/आकाश समा जाय
और/जीवन उदारता का उदाहरण बने !" (पृ. ३८७-३८८)

अन्त में आतंकवाद परास्त होता है और वह सन्मार्ग पर आ जाता है। आतंकवादी दल पाषाण फलक पर आसीन साधु की प्रदक्षिणा करता है, उसे प्रणाम करता है, और कहता है :

"हे स्वामिन् !/समग्र संसार ही/दुःख से भरपूर है
यहाँ सुख है, पर वैषयिक/और वह भी क्षणिक !
यह···तो···अनुभूत हुआ हमें, परन्तु/अक्षय सुख पर
विश्वास हो नहीं रहा है;/हाँ हाँ !! यदि
अविनश्वर सुख पाने के बाद/आप स्वयं
उस सुख को हमें दिखा सको/या/उस विषय में
अपना अनुभव बता सको/···तो/सम्भव है/हम भी आश्वस्त हो
आप-जैसी साधना को/जीवन में अपना सकें।" (पृ. ४८४-४८५)

आत्मा का उद्धार पुरुषार्थ से ही होता है और परमात्म तत्त्व प्राप्त करने पर आत्मा को जो सुख प्राप्त होता है, वह अनिर्वचनीय होता है। तभी जीव के आवागमन का क्रम मिट जाता है। साधु के शब्दों में :

"बन्धन रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है/जिसे/प्राप्त होने के बाद,
यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है/तुम ही बताओ !" (पृ. ४८६-४८७)

गुरु को आचरण की दृष्टि से देखने पर उसकी सही पहचान होती है। गुरु का कथन भी है :

"इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंजिल पर !/और/महा-मौन में/डूबते हुए सन्त···
और माहौल को/अनिमेष निहारती-सी/···मूकमाटी।" (पृ. ४८८)

कथावस्तु का विश्लेषण

मूकमाटी की कथा सन्त कवि की तरह सरल, सीधी है। सरिता तट पर सुख मुक्ता, दुःख युक्ता, तिरस्कृत त्यक्ता माटी मूक होकर पड़ी है। माँ धरती से पद माँगती है, पथ माँगती है, पाथेय माँगती है ताकि वह अपने जीवन को सार्थक बना सके। धरती उसकी प्रार्थना सुनती है और पर-हितार्थ उद्धार की योजना बनाती है। यही कथा का प्रारम्भ है।

कुम्भकार मिट्टी खोदता है, उसे गदहे पर लाद कर घर ले जाता है। पानी से भिगोकर उसे गीली बनाता है। पत्थर-कंकरों से उसे मुक्त करता है और घट का रूप देता है। कथा का यह विकास है। कथावस्तु के इस विकास के साथ ही माटी की विकास कथा भी गुँथी हुई है। कुम्भकार के प्रांगण में मोतियों की वर्षा घट की महत्ता सिद्ध करती है। साधक जब साधना पथ पर बढ़ता है तब उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है किन्तु गन्तव्य का निश्चय हो जाने पर उसे ईश्वरीय सहायता भी प्राप्त होती चलती है।

कुम्भ को आग में पकाया जाता है। वह उत्कृष्ट रूपाकार प्राप्त करता है। उसके दोष जल चुके हैं। सद्गुण उसमें प्रवेश कर चुके हैं। वह नगर सेठ के यहाँ अतिथि के आहारदान हेतु लाया जाता है जहाँ अतिथि साधु उसके माध्यम से आहार दान प्राप्त कर तृप्त होता है। कथावस्तु की यह चरम सीमा है। साधक ब्रह्म के सान्निध्य के लिए साधना द्वारा पूर्णरूपेण तैयार हो चुका है। उसके अवगुण समाप्त हो चुके हैं। वह योग्य बन चुका है।

तभी आतंकवाद का सामना करना पड़ता है घट को। आतंकवाद के अनेक पक्षधर हैं। उधर कुम्भ की सहायता करने वाले भी हैं। पराजय आतंकवाद की होती है। कथा में उतार आता है। साधक को ईश्वर तत्त्व के निकट आकर भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। एक उर्दू शायर लिखता है :

"भँवर से बच निकलना तो बड़ा आसान है लेकिन
सफीने ऐन दरिया के किनारे डूब जाते हैं।"

उधर साधक के सत्कर्म भी उसे बाधाओं को दूर करने में सहायक होते हैं।

कुम्भ नगर सेठ को नीराग साधु तक पहुँचा देता है जो उसका गुरु है, ईश्वर तत्त्व है। कथा समाप्त होती है। साधक की साधना फलवती होती है। वह 'मंज़िल' तक पहुँच जाता है और मूकमाटी इस दृश्य को अनिमेष देखती रहती है।

विविध सन्दर्भ

कथा के साथ सन्त कवि ने अनेक सन्दर्भों को देखा-परखा है। कथा ने इन सन्दर्भों को महत्त्व दिया और इन सन्दर्भों ने कथा को गति दी है।

महाकाव्य में व्यक्त जीवन का घनत्व, प्रतीकत्व और विराटत्व ही महाकाव्य का मूल संवेदन बन सकता है। होमर के 'इलियड' और 'ओडसी' में तथा वर्जिल के 'एनियड' में शौर्य, साहस, प्रतिकार और बलिदान की विराट् जीवन भूमियाँ हैं। हमारे यहाँ 'रासो' और 'आल्हा' वैयक्तिक शौर्य तथा सामन्ती जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा करते हैं। 'रामायण' एवं 'महाभारत' भी मानवीय जीवन को अभिव्यक्ति देते हैं किन्तु हमने धर्म को सदा महत्ता दी है। भारतीय महाकाव्य युगधर्म की वज्र-ग्रन्थि रहे हैं। 'महाभारत' का केन्द्र 'भारत' युद्ध, न होकर 'गीता' है और अन्त में, 'सत्यमेव जयते नानृतम्' में उसकी सार्थकता व्यक्त हुई है। 'रामायण' में सत्य, निष्ठा, त्याग, तपस्या एवं दाम्पत्य की साधना और राक्षसत्व के पराभव की चर्चा है। तुलसी ने राम-रावण युद्ध को रामत्व और रावणत्व का शाश्वत संघर्ष बना दिया है। 'कामायनी' में प्रसाद के मनु श्रद्धा का हाथ थामे ऊर्ध्वारोहण करते हुए शिव दर्शन के सामाहारिक रूप में

आधुनिक मनुष्य को नया समन्वय देते हैं। महाकाव्य में अभिव्यक्त जीवन ही राष्ट्र का सच्चा जीवन होता है। क्योंकि वह सतही जीवन न होकर मूलगत अन्तर्भूत सामाजिक एवं सारभूत रहता है।

१. सन्त कवि विद्यासागर ने सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन को दृष्टि में रखकर ही 'मूकमाटी' का सृजन किया है। धरती माटी से कहती है :

"सत्ता शाश्वत होती है, बेटा !" (पृ. ७)

पात्र एवं स्थिति के अनुकूल ही वस्तु अथवा व्यक्ति की प्रकृति में परिवर्तन होता है। इधर भारतीय नीतिकार कहता है :

"मुक्ता कर, कर्पूर कर, चातक जीवन जोय।
सोई जल मुख में परे, व्याल अनिल विष होय॥"

उधर आचार्य विद्यासागर लिखते हैं :

"उजली-उजली जल की धारा/बादलों से झरती है
धरा-धूल में आ घूमिल हो/दल-दल में बदल जाती है।/वही धारा यदि
नीम की जड़ों में जा मिलती/कटुता में ढलती है;
सागर में जा गिरती/लवणाकर कहलाती है
वही धारा, बेटा !/विषधर मुख में जा/विष-हाला में ढलती है;
सागरीय शुक्तिका में गिरती,/यदि स्वाति का काल हो,/मुक्तिका बन कर
झिलमिलाती बेटा,/वही जलीय सत्ता···!" (पृ. ८)

२. यह विश्व दुःख से पीड़ित है। "Pleasures are the commas to punctuate the sad story of life." इतना होते हुए भी यह तथ्य भी सत्य है कि दुःख एक स्थल पर आकर अपना दंश खो देता है। उर्दू शायर कहता है : "दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।" कवि विद्यासागर लिखते हैं :

"दुःख की वेदना में/जब न्यूनता आती है
दुःख भी सुख-सा लगता है।"(पृ. १८)

३. समाज में शिल्पी का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है। शिल्पी अपने शिल्प के कारण चोरी के दोष से सदा ही मुक्त रहता है। शिल्पी के सौन्दर्य के सन्दर्भ में सन्त कवि की निम्न पंक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं :

"युग के आदि से आज तक/इसने/अपनी संस्कृति को/विकृत नहीं बनाया
बिना दाग है यह शिल्प/और कुशल है यह शिल्पी।" (पृ. २७-२८)

४. पुत्र के प्रति माँ का ममत्व अक्षुण्ण होता है। माँ के ममत्व की बूँद अमृत के समुद्र से अधिक होती है। माँ अपने बच्चे का सारा दुःख-दर्द, उसके सारे कष्ट स्वयं ही उठा लेती है। इस सन्दर्भ में आचार्य विद्यासागर लिखते हैं :

"लगता है,/माँ की ममता है वह/सन्तान के प्रति
...सब कुछ कष्ट-भार/अपने ऊपर ही उठा लेती है/और
भीतर-ही-भीतर/चुप्पी बिठा लेती है।" (पृ. ५५)

५. भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र रहा है–"वसुधैव कुटुम्बकम्।" आज यह मन्त्र विकृत हो चुका है। आचार्यजी के शब्दों में :

" "वसुधैव कुटुम्बकम्"/इसका आधुनिकीकरण हुआ है
'वसु' यानी धन-द्रव्य/'धा' यानी धारण करना/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

६. फूल की महत्ता तो निर्विवाद है, फल की भी अपनी महत्ता होती है। काँटे से ही काँटा निकाला जाता है। बिहारी की नायिका के पैरों में काँटा चुभकर मानों उसे मरने से बचा लेता है :

एहि काँटा मो पाँय गड़ि लीन्हो मरत जियाय।
प्रीति जतावत भीत सो, मीत जो काढ्यौ आय॥

'दिनकर' काँटे की महत्ता दर्शाते हुए लिखते हैं :

"तुम फूल नहीं हो शूल सही,/गुल के उपवन में आए जो,
फूलों में हाथ लगाए जो/उँगली में उसकी गड़ सकते,
कर को क्षत विक्षत कर सकते/तलवारें बजती जहाँ वहाँ
आती काँटों की बारी भी/ज्वाला अखंड फैला सकती।
छोटी सी चिनगारी भी।"

उधर उर्दू शायर कहता है :

"गुलों से खार अच्छे हैं, जो दामन थाम लेते हैं।"

इस सन्त कवि का कथन है :

"सूक्ष्माति-सूक्ष्म/स्थान एवं समय की सूचना/सूचित होती रहती है
सहज ही शूलों में।/अन्यथा,/दिशा-सूचक यन्त्रों/और
समय-सूचक यन्त्रों–घड़ियों में/काँटे का अस्तित्व क्यों ?" (पृ. १०४)

७. धीर-गम्भीर पुरुष अजातशत्रु होते हैं। विश्व को शान्ति एवं मैत्री का सन्देश देते हैं। उनका हृदय विश्व प्रेम से भरा होता है। घृणा अथवा विद्वेष के भाव उनमें नहीं होते। एक उर्दू शायर लिखता है :

"करूँ मैं दुश्मनी किससे, कोई दुश्मन तो हो अपना
मुहब्बत ने नहीं छोड़ी जगह, दिल में अदावत की।"

आचार्य विद्यासागर का शिल्पी अजातशत्रु है। इसीलिए उसका कथन है :

"खम्मामि, खमंतु मे–/क्षमा करता हूँ सबको,/क्षमा चाहता हूँ सबसे,
सबसे सदा-सहज बस/मैत्री रहे मेरी !/वैर किससे/क्यों और कब करूँ ?
यहाँ कोई भी तो नहीं है/संसार-भर में मेरा वैरी !" (पृ. १०५)

८. मनुष्य का मन बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। मन के भाव से ही पाप माना जाता है, वचन या कर्म से नहीं। पत्नी और पुत्री के आलिंगन में भाव की ही भिन्नता होती है। मन बड़ा जादूगर और महान् चित्रकार होता है। ब्रह्म सृष्टि का तत्त्व है। संकल्प के बिना सृष्टि नहीं होती और मन के बिना संकल्प नहीं होता। 'ब्रह्म-बिन्दु उपनिषद्' का कथन है :

"मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं, मुक्तं निर्विषयं स्मृतम् ॥"

स्वामी शंकराचार्य कहते हैं : "जिसने मन को जीत लिया, उसने जगत् को जीत लिया।" 'महाभारत' के वन पर्व में वेदव्यास का कथन है : "मन का दुःख मिट जाने पर शरीर का दुःख भी मिट जाता है।" 'गीता' का कथन है:

"चंचलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये ! वायोरिव सुदुष्करम् ॥" (६/३४)

कृष्ण अर्जुन से यह भी कहते हैं : "हे महाबाहो ! निःसन्देह मन बड़ा चंचल है, यह रुक नहीं सकता। परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से यह वश में किया जा सकता है।" तुलसी 'अयोध्या काण्ड' में लिखते हैं : "बिन मन तन दुःख सुख सुधि केही ?" आचार्यजी ने भी मन का विश्लेषण किया है। इस सन्दर्भ में अपना मत देते हुए वे लिखते हैं :

"अच्छा, बुरा तो/अपना मन होता है/स्थिर मन ही वह/महामन्त्र होता है
और/अस्थिर मन ही/पापतन्त्र स्वच्छन्द होता है,
एक सुख का सोपान है/एक दुःख का सो-पान है।" (पृ. १०८-१०९)

९. श्वान एवं सिंह की चर्चा करते हुए विद्वान् कवि ने स्पष्ट किया है कि सिंह कभी किसी पर श्वान की तरह पीछे से हमला नहीं करता, सिंह कभी बिना गरज़ नहीं गरजता, स्वामी के पीछे-पीछे एक टुकड़े के लिए पूँछ नहीं हिलाता, उसके गले में पट्टा बँधा नहीं होता। श्वान को पत्थर मारने पर वह पत्थर को ही पकड़ कर काटता है, जबकि सिंह विवेक से काम लेता है और उसकी दृष्टि मारने वाले पर ही जाती है। वे आगे लिखते हैं :

"श्वान-सभ्यता-संस्कृति की/इसीलिए निन्दा होती है/कि
वह अपनी जाति को देख कर/धरती खोदता, गुर्राता है।
सिंह अपनी जाति में मिलकर जीता है
राजा की वृत्ति ऐसी ही होती है।" (पृ. १७१)

१०. 'ही' और 'भी' के पार्थक्य की चर्चा 'मूकमाटी'कार ने बड़ी स्पष्टता से की है। वे लिखते हैं कि 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है तथा 'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक है। एक उर्दू शायर कहता है : "हमीं हम हैं तो क्या हम हैं, तुम्हीं तुम हो तो क्या तुम हो।" 'मूकमाटी' के रचयिता लिखते हैं :

"हम ही सब कुछ हैं/यूँ कहता है 'ही' सदा,
तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो !/और,
'भी' का कहना है कि/हम भी हैं/तुम भी हो/सब कुछ !" (पृ. १७२-१७३)

११. समसामयिक वैज्ञानिक सन्दर्भों को भी आत्मसात् किया गया है। 'मूकमाटी' में प्रक्षेपण की चर्चा करते हुए कवि

लिखते हैं :

"मस्तक के बल भू-कणों ने भी/ओलों को टक्कर देकर/उछाल दिया शून्य में
बहुत दूर···धरती के कक्ष के बाहर,/'आर्यभट्ट,' 'रोहिणी' आदिक
उपग्रहों को उछाल देता है/यथा प्रक्षेपास्त्र !" (पृ. २५०)

१२. स्टार वार का सन्दर्भ देते हुए विद्वान् कवि का कथन है :

"ओलों को कुछ पीड़ा न हो,/यूँ विचार कर ही मानो
उन्हें मस्तक पर लेकर/उड़ रहे हैं भू-कण !
सो···ऐसा लग रहा, कि/हनूमान अपने सर पर
हिमालय ले उड़ रहा हो !/यह घटना-क्रम
घण्टों तक चलता रहा···लगातार,
इसके सामने 'स्टार-वार'/जो इन दिनों चर्चा का विषय बना है
विशेष महत्त्व नहीं रखता।" (पृ. २५१)

१३. स्थल-स्थल में कवि ने पौराणिक प्रसंगों का उल्लेख करते हुए 'मूकमाटी' को और भी आकर्षक बना दिया है। मध्यकालीन जैन ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी रामायण के प्रसंग आए हैं, उनके साथ पूर्ण न्याय नहीं किया गया। विद्यासागरजी ने रामायण के प्रसंगों को उनके सही रूपों में अपना कर उनके साथ न्याय किया है। साथ ही अपनी श्रद्धा दर्शाई है, यथा :

लक्ष्मण-मूर्च्छा प्रसंग : *"जिस भाँति/लक्ष्मण की मूर्च्छा टूटी/अनंग-सरा की मंजुल अंजुलि के*
जल-सिंचन से।/सरिता के उछले हुए/सलिल-कणों के शीतल परस पा
आतंकवाद की मूर्च्छा टूटी।" (पृ. ४६७)

कामदेव एवं महादेव प्रसंग : *"लोक-ख्याति तो यही है/कि/कामदेव का आयुध फूल होता है*
और/महादेव का आयुध शूल।/एक में पराग है/सघन राग है
जिस का फल संसार है/एक में विराग है/अनघ त्याग है
जिसका फल भव-पार है।" (पृ. १०१-१०२)

१४. साहित्य की सरल-सीधी परिभाषा देते हुए आचार्यजी ने लिखा है :

"हित से जो युक्त—समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव—सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!" (पृ. १११)

इस तरह सन्दर्भों की दृष्टि से 'मूकमाटी' महाकाव्य में ज्ञान है, विज्ञान है, अध्यात्म है, दर्शन है, धर्म है, नीति है, आस्था है, विश्वास है, श्रम है, श्रम बिन्दु है, साहित्य है, समाज है और है रीति-नीति।

व्याख्याओं का महाकाव्य : 'मूकमाटी'

'मूकमाटी'कार सन्त हैं, प्रवचनकार हैं, धर्म-तत्त्व के ज्ञाता हैं, उसके व्याख्याकार हैं। जन-सामान्य को सम्बोधित करना, उन्हें सन्मार्ग में नियोजित करना, उनके हृदय में पुनीत भावों का प्रसार करना, अधर्म से उन्हें दूर करना ही आचार्यजी की जीवनचर्या है। ऐसे व्यक्ति भाव के धनी होते हैं। समाज, धर्म, दर्शन, नीति, राजनीति तथा संसार के तत्त्वों एवं तथ्यों को समझाते चलना आचार्यजी का कार्य है। प्रवचनकार के लिए यह भी आवश्यक है कि वह कुछ नए प्रयोग श्रोताओं के सम्मुख रखें। अपने प्रवचन को प्रभावशाली बनाने के लिए वह रोचकता लाने का प्रयास भी किया करता है। 'मूकमाटी'कार ने ऐसा ही किया है। 'मूकमाटी' महाकाव्य में विभिन्न प्रसंगों में आचार्य कवि ने विभिन्न प्रकार की व्याख्याएँ की हैं, यथा :

१. कुम्भकार : *" 'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य—/यहाँ पर जो*
भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

२. गदहा : *"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/'गद' का अर्थ है रोग*
'हा' का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस,
और कुछ वांछा नहीं/गद-हा···गदहा···!" (पृ. ४०)

३. वर्ण : वर्ण शब्द का अर्थ आचार्यजी ने पारम्परिक नहीं लिया। इस सन्दर्भ में उनकी निम्न व्याख्या महत्त्वपूर्ण है :

"वर्ण का आशय/न रंग से है/न ही अंग से/वरन्/चाल-चरण, ढंग से है
यानी !/जिसे अपनाया है/उसे/जिसने अपनाया है/उसके अनुरूप
अपने गुण-धर्म--/···रूप-स्वरूप को/परिवर्तित करना होगा/वरना
वर्ण-संकर-दोष को/वरना होगा !" (पृ. ४७-४८)

इसी सन्दर्भ में वे आगे लिखते हैं :

"नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।
और/क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है।" (पृ. ४९)

४. आदमी : *"संयम के बिना आदमी नहीं/यानी/आदमी वही है*
जो यथा-योग्य/सही आ···दमी है।" (पृ. ६४)

५. कृपाण : *"कृपाण कृपालु नहीं हैं/वे स्वयं कहते हैं*
हम हैं कृपाण/हम में कृपा न !" (पृ. ७३)

६. उपाधि : *"उपाधि यानी/परिग्रह - अपकारक है ना !" (पृ. ८६)*

७. सल्लेखना : *"सल्लेखना, यानी /काय और कषाय को*
कृश करना होता है, बेटा !" (पृ. ८७)

८. रात्रि : *"घनी अलिगुण-हनी/शनि की खनी-सी···*
भय-मद-अघ की जनी।"(पृ. ९१)

९. कम्बल : *"कम बलवाले ही/कम्बल वाले होते हैं।" (पृ. ९२)*

१०. मोह तथा मोक्ष : "पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही/मोह का परिणाम है/और
सब को छोड़कर/अपने आप में भावित होना ही
मोक्ष का धाम है।" (पृ. १०९-११०)

११. साहित्य : "हित से जो युक्त–समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/जिस के अवलोकन से
सुख का समुद्भव–सम्पादन हो/सही साहित्य वही है/अन्यथा,
सुरभि से विरहित पुष्प-सम/सुख का राहित्य है वह
सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!" (पृ. १११)

१२. रस : १. "वीर रस से तीर का मिलना/कभी सम्भव नहीं।" (पृ. १३१)
२. "करुणा-रस जीवन का प्राण है।" (पृ. १५९)
३. "वात्सल्य-जीवन का त्राण है।" (पृ. १५९)
४. "शान्त रस जीवन का गान है।" (पृ. १५९)

१३. दोगला : आचार्य कवि ने 'दोगला' के तीन अर्थ किए हैं, यथा :

"चार अक्षरों की एक और कविता/"मैं दो गला"
इस से पहला भाव यह निकलता है, कि
मैं द्विभाषी हूँ/भीतर से कुछ बोलता हूँ/बाहर से कुछ और···
पय में विष घोलता हूँ।/अब इसका दूसरा भाव सामने आता है :
मैं दोगला,/छली, धूर्त, मायावी हूँ/अज्ञान-मान के कारण ही
इस छद्म को छुपाता आया हूँ/यूँ, इस कटु सत्य को,
सब हितैषी तुम भी स्वीकारो अपना हित किसमें है ?/और
इसका तीसरा भाव क्या है–/पूछने की क्या आवश्यकता है ?
सब विभावों–विकारों की जड़/'मैं' यानी अहं को
दो गला–कर दो समाप्त।" (पृ. १७५)

१४. कुमारी : "'कु' यानी पृथिवी/'मा' यानी लक्ष्मी/और/'री' यानी देने वाली···
इससे यह भाव निकलता है कि/यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना
तब तक रहेगी/जब तक यहाँ 'कुमारी' रहेगी।" (पृ. २०४)

१५. अबला : अबला की व्याख्या आचार्यजी ने निम्न रूपों में की है :

"जो अब यानी/'अवगम'–ज्ञानज्योति लाती है,
तिमिर-तामसता मिटाकर/जीवन को जागृत करती है
अबला कहलाती है वह !
अथवा, जो/पुरुष-चित्त की वृत्ति को/विगत की दशाओं/और
अनागत की आशाओं से/पूरी तरह हटाकर/'अब' यानी
आगत - वर्तमान में लाती है/अबला कहलाती है वह···!

बला यानी समस्या संकट है/न बला··· सो अबला।" (पृ. २०३)

१६. स्त्री — *" 'स्' यानी सम-शील संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं*
धर्म, अर्थ, काम–पुरुषार्थों में/पुरुष को कुशल-संयत बनाती है
सो···स्त्री कहलाती है।" (पृ. २०५)

१७. दुहिता : — *"दो हित जिसमें निहित हों/वह 'दुहिता' कहलाती है*
अपना हित स्वयं ही कर लेती है,/पतित से पतित पति का जीवन भी
हित सहित होता है, जिससे/वह दुहिता कहलाती है।" (पृ. २०५)

१८. अंगना : — *"मैं 'अंगना' हूँ/परन्तु,/मात्र अंग ना हूँ···*
और भी कुछ हूँ मैं···!" (पृ. २०७)

१९. स्वप्न : — *" 'स्व' यानी अपना/'प्' यानी पालन-संरक्षण/और*
'न' यानी नहीं,/जो निज-भाव का रक्षण नहीं कर सकता।" (पृ.२९५)

२०. सा-रे-ग-म-प-ध-नि : — *"सा···रे ग···म यानी/सभी प्रकार के दुःख/प···ध यानी !*
पद–स्वभाव और/नि यानी नहीं,
दुःख आत्मा का स्वभाव–धर्म नहीं हो सकता।" (पृ. ३०५)

२१. स्वर्ण : — *"परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम,/पूँजीवाद के अभेद्य*
दुर्गम किला हो तुम/और/अशान्ति के
अन्तहीन सिलसिला !" (पृ. ३६६)

२२. कला : — *" 'क' यानी आत्मा–सुख है/'ला' यानी लाना–देता है*
कोई भी कला हो/कला मात्र से जीवन में
सुख–शान्ति–सम्पन्नता आती है।" (पृ. ३९६)

'मूकमाटी' सूक्तियों-नीतियों का काव्य

महापुरुषों की वाणियों में अद्‌भुत शक्ति होती है। कठिनाई के समय अथवा कर्तव्यगत द्वन्द्व उपस्थित होने पर सूक्तियाँ प्रकाश एवं प्रेरणा देती हैं। सूक्तियाँ साहित्य गगन में देदीप्यमान उज्ज्वल नक्षत्र के समान हैं। इनकी आभा देश और काल की संकुचित सीमा पार करके सर्वदा एक समान और एक रस रहने वाली है। मानव जीवन के विविध क्षेत्रों में सहस्रों वर्षों की अनुभूतियों ने इनको अमरता प्रदान की है और करोड़ों कण्ठों से निकलने के कारण इनमें माधुर्य एवं कोमलता का समावेश हो गया है। इन सूक्तियों के अभाव में रस की स्थिति बाधित होती है और कविता, कहानी, उपन्यास, निबन्ध और वक्तव्य कला विकल हो जाती है। दस-बीस वाक्यों को ही नहीं, पूरे पृष्ठ एवं सन्दर्भ को सजीव बनाने की क्षमता सूक्तियों में होती है। अनेक प्राचीन साहित्यकारों के सम्बन्ध में ऐसी अनेक किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं कि उनकी एक सूक्ति से ही बड़े-बड़े अनर्थ एवं दुर्घटनाएँ रुक गई हैं और घनान्धकार में भी पथ-प्रदर्शन हुआ है। सूक्तियों में शिक्षा एवं सदुपयोग की जितनी अमोघ शक्ति रहती है, उतनी ही आत्ममन्थन एवं अनुभूतियों को झंकृत करने की क्षमता भी होती है।

संसार में व्यवहार कुशल होने के लिए एवं सुखपूर्वक निर्वाह के लिए नीति का जानना अति आवश्यक है।

सूक्तियों में नीति के वचन थोड़े शब्दों में गागर में सागर की भाँति बड़ी सुन्दरता से व्यक्त होते हैं। इनमें उपदेश देने की निराली छटा होती है।

'मूकमाटी'कार ने सूक्तियों के मोतियों से अपने काव्य को अद्भुत छटा प्रदान की है। साथ ही नीतियों के माध्यम से उसे रसवत्ता प्रदान की है। ये सूक्तियाँ एवं नीतियाँ पारम्परिक भी हैं तथा आचार्यजी द्वारा निर्मित भी हैं। इनके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

१. "प्रतिकार की पारणा/छोड़नी होगी, बेटा !
अतिचार की धारणा/तोड़नी होगी, बेटा !" (पृ. १२)
२. "करुणा की कर्णिका से/अविरल झरती है/समता की सौरभ-सुगन्ध।" (पृ. ३९)
३. "लघुता का त्यजन ही/गुरुता का यजन ही/शुभ का सृजन है।" (पृ. ५१)
४. "ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है।" (पृ. ६४)
५. "दयाविसुद्धो धम्मो।" (पृ. ८८)
६. "आधा भोजन कीजिए/दुगुणा पानी पीव
तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव !" (पृ. १३३)
७. "लघु होकर गुरुजनों को/भूलकर भी प्रवचन देना/महा अज्ञान है दुःख-मुधा,
परन्तु,/गुरुओं से गुण ग्रहण करना/...महा वरदान है...।" (पृ. २१८-२१९)
८. "क्रोध का पराभव होना सहज नहीं।" (पृ. २५२)
९. "जब सुई से काम चल सकता है/तलवार का प्रहार क्यों ?" (पृ. २५७)
१०. "मन-वांछित फल मिलना ही/उद्यम की सीमा मानी है।" (पृ. २८४)
११. "परीक्षक बनने से पूर्व/परीक्षा में पास होना अनिवार्य है,
अन्यथा/उपहास का पात्र बनेगा वह।" (पृ. ३०३)
१२. "दाँत मिले तो चने नहीं,/चने मिले तो दाँत नहीं,
और दोनों मिले तो.../पचाने को आँत नहीं...!" (पृ. ३१८)
१३. "भोग ही तो रोग है।" (पृ. ३५३)
१४. "मात्र दमन की प्रक्रिया से/कोई भी क्रिया/फलवती नहीं होती है।" (पृ. ३९१)
१५. "माटी, पानी और हवा/सौ रोगों की एक दवा।" (पृ. ३९९)
१६. "बिन माँगे मोती मिले/माँगे मिले न भीख।" (पृ. ४५४)
१७. "मित्रों से मिली मदद/यथार्थ में मद-द होती है।" (पृ. ४५९)
१८. "चोर इतने पापी नहीं होते/जितने कि/चोरों को पैदा करने वाले।" (पृ. ४६८)

'मूकमाटी' महाकाव्य में कला-पक्ष

'मूकमाटी' की भाषा बड़ी समृद्ध है। कवि ने शब्दों के नगीनों को चुन-चुन कर जड़ा है। शब्दों के चामत्कारिक अर्थ हम 'व्याख्या' के अन्तर्गत देख चुके हैं। समानोच्चरित सानुप्रासिक शब्द कवि को अत्यधिक प्रिय हैं, यथा :

१. "बातानुकूलता हो या न हो/बातानुकूलता हो या न हो।" (पृ. ८७)
२. "निसर्ग से अनिमेष रहा इन्द्र भी/निमिष-भर में निमेषवाला बन गया।" (पृ. २४७)
३. "ऊपर यन्त्र है, घुमड़ रहा है/नीचे मन्त्र है, गुनगुना रहा है।" (पृ. २४९)
४. "आँखों से अश्रु नहीं, असु/यानी, प्राण निकलने को हैं।" (पृ. २७९)

५. *"सदय बनो !/अदय पर दया करो/अभय बनो !/सभय पर किया करो अभय की*
अमृत-मय वृष्टि/सदा-सदा सदाशय दृष्टि/रे जिया, समष्टि जिया करो !" (पृ. १४९)

६. अनेक स्थानों पर कवि ने हिन्दी और उर्दू शब्दों का सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है, यथा :

१. "इस पर प्रभु फर्माते हैं... ।" (पृ. १५०)
२. "मित्रों से मिली मदद ।" (पृ. ४५९)
३. "सही मूल्यांकन गुम होता है ।" (पृ. १०९)

'मूकमाटी' की भाषा सरल है, सरस है। उसमें प्रवाह है, गति है। अनुप्रासों का प्रयोग कवि ने अधिकता से किया है, यथा :

१. "धृति धारिणी धरती ।" (पृ. ७)
२. "आस्था की अराधना में/विराधना ही सिद्ध होगी !" (पृ. १२)
३. "पल-पल पत्रों की करतल-तालियाँ/...पल भर भी पली नहीं ।" (पृ. १७९)
४. "कठोर, कर्कश, कर्ण-कटु/शब्दों की मार सुन/दशों-दिशाएँ बधिर हो गईं ।" (पृ. २३२)
५. "चम-चम चम-चम/चमकने वाली चमचियाँ ।" (पृ. ३५६)

वर्ण विपर्यय, शब्द भंग अथवा विलोम शब्दों के माध्यम से कवि ने स्थल-स्थल पर चामत्कारिकता लाने का प्रयत्न किया है, यथा :

"या ··द ··द ··या" (पृ. ३८), "रा ··ख ··ख ··रा" (पृ. ५७), "रा ··ही ··ही ··रा" (पृ. ५७), "ला ··भ ··भ ··ला" (पृ. ८७), "मर, हम 'मरहम' "(पृ. १७५), "न ··दी ··दी ··न" (पृ. १७८), "साधन·· ...सा धन" (पृ. २३७), "ध ··र ··ती ती ··र ··ध" (पृ. ४५३)।

अन्य अलंकारों का संयत प्रयोग 'मूकमाटी' में स्थल-स्थल पर मिलता है, यथा :

१. "बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं ।" (पृ.१०६)
२. "पापड़-सिकती-सी काया सब की ।" (पृ. २१२) – उपमा
३. "सरिता से उछले हुए/सलिल-कणों के शीतल परस पा
आतंकवाद की मूर्च्छा टूटी/फिर क्या पूछो !
लक्ष्मण की भाँति उबल उठा/आतंक फिर से !" (पृ. ४६७)– दृष्टान्त अलंकार
४. "हीरक-सम शुभ्र ।" (पृ. २३०)

अनेक स्थलों पर ग्राम्य एवं गढ़े हुए शब्दों का प्रयोग किया गया है, यथा :

१. "जो निराशता का पान कर ।" (पृ. २२)
२. "एक जीवन को पूरी तरह/जिलाती है ।" (पृ. ३८)
३. "इन्द्रियों का चाकर ।" (पृ. ३९)
४. "चन्द्रमा का ही अनुसरण करती हैं/तारायें भी ।" (पृ. १९२)
५. "बिलखती इस लेखनी को ।" (पृ. १५१)
६. "अनखुली आँखों को लख कर ।" (पृ. ४०५)
७. "पहली वाली बदली वह ।" (वाली शब्द निरर्थक है) (पृ. १९९)
८. "कलिलता ।" (पृ. १३)

अनेक स्थलों पर लिंग दोष है, यथा :

१. "हमारी उपास्य-देवता ।" (पृ. ६४)

२. *"तभी कहीं चेतन–आत्मा/खरा उतरेगा"* (पृ.५७)
३. *"बचना चाहती है वह;/अपनी पराग को।"* (पृ. २)
४. *"उत्तुंग शिखर का/दर्शन होता है।"* (पृ. १०)

अनेक स्थलों पर न के स्थान 'ना' का प्रयोग किया गया है।

गीतात्मकता

संगीतात्मकता और उसके अनुरूप सरस प्रवाहमयी कोमलकान्त पदावली, संक्षिप्तता और भावों की एकता, गीत के प्रमुख तत्त्व होते हैं। 'मूकमाटी'कार ने गीतों का प्रयोग नहीं किया। सम्पूर्ण काव्य मुक्त छन्द में है, फिर भी लयात्मकता उसमें भरपूर है। सामान्यतः पाठकों में यह धारणा प्रभावी है कि मुक्त छन्द गद्य का ही टेढ़ी-मेढ़ी, छोटी-बड़ी पंक्तियों में कविता में रूपान्तरण है। यह धारणा भ्रान्त है। कविता का सम्बन्ध श्रवणेन्द्रिय से होता है और वह लयात्मक गति से सम्बद्ध होती है। लय ही कविता के प्राण हैं। छन्दों की सृष्टि में लय ही मूल में है। मुक्त छन्द होने पर भी कविता लय से मुक्त नहीं होती। 'परिमल' की भूमिका में निराला ने स्पष्ट रूप से कहा है कि मुक्त छन्द तो वह है जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है।

खड़ी बोली काव्य में पन्त ने कोमल पद-शैय्या का प्रयोग किया है और प्रगीतात्मक गति तथा लय का संचार किया है। निराला ने समासान्त पद-योजना द्वारा उदात्त एवं गम्भीर संगीत की सृष्टि की है। पन्त के छन्दों की गति मन्द, मन्थर गति से बहते झरने की-सी है किन्तु निराला ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'धारा' के समान ही अपने छन्दों में निर्बाध गति भर दी है। प्रसाद मुक्त छन्द की गति, लय, गूँज और संगीत को जानते, पहचानते थे और उसके वे सफल प्रयोक्ता थे।

प्रगतिवादी, प्रयोगवादी एवं नई कविता के कवियों में गिरिजाकुमार माथुर ने मुक्त छन्द के रोमानी परिवेश का सुन्दर प्रयोग किया है और इसकी गूँज शकुन्तला माथुर के मुक्त छन्दों में भी सुनाई पड़ती है।

'मूकमाटी' के छन्द मुक्त हैं किन्तु गीतात्मकता उनमें भरपूर है। अनेक स्थलों में तो गीत स्वयमेव उपस्थित हो गए हैं, यथा :

- *"जिन आँखों में/काजल-काली/करुणाई वह/छलक आई है,*
  कुछ सिखा रही है–/चेतन की तुम/पहचान करो···!
  जिन-अधरों में/प्रांजल लाली/अरुणाई वह/झलक आई है,
  कुछ दिला रही है–/समता का नित/अनुपान करो
  जिन गालों में/मांसल वाली/तरुणाई वह/ढुलक आई है,
  कुछ बता रही है–/समुचित बल का/बलिदान करो।" (पृ. १२८)
- *"नया मंगल तो नया सूरज/नया जंगल तो नयी भू-रज*
  नयी मिति तो नयी मति/नयी चिति तो नयी यति
  नयी दशा तो नयी दिशा/नयी मृषा तो नयी यशा
  नयी क्षुधा तो नयी तृषा/नयी सुधा तो निरामिषा।" (पृ. २६३)
- *"जय हो ! जय हो ! जय हो !/अनियत विहारवालों की*
  नियमित विचारवालों की,/सन्तों की गुणवन्तों की
  सौम्य-शान्त-छविवन्तों की/जय हो ! जय हो ! जय हो !" (पृ. ३१४-३१५)

उद्देश्य

समरसता के प्रसार में अथवा मानवता के विकास में काव्य का महत्त्वपूर्ण योग होता है। सच्चा कवि अपने हृदय की अनुभूति को सर्व साधारण की अनुभूति बनाकर एक गौरव, शान्ति एवं आनन्द की अनुभूति करता है। कवि के काव्य की सफलता इसी में है कि उसकी अनुभूति और उसका आनन्द साधारणीकरण में हो जाय।

महाकाव्य के उद्देश्यों में भारतीय साहित्य शास्त्र के अनुसार चतुर्वर्ग की प्राप्ति को महत्त्व दिया गया है। चतुर्वर्ग में सर्वप्रथम स्थान धर्म का है जो सार्वदिशिक और सार्वकालिक होता है। वह किन्हीं निश्चित सीमाओं में आबद्ध नहीं होता। अर्थ और काम का भी जीवन में महत्त्व है, किन्तु धर्म से नियन्त्रित होकर। हिन्दी महाकाव्यों में मानवता के सन्देश भरे पड़े हैं। तुलसी के राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। गुप्तजी के राम इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आए हैं। 'प्रिय प्रवास' के कृष्ण लोक-नायक हैं और 'कामायनी' तो मानवता के उद्धार के लिए ही लिखी गई है। 'मूकमाटी' का उद्देश्य भी मानवता का कल्याण है। माटी घट का रूप लेती है। घट अग्नि-परीक्षा में खरा उतरने के पश्चात् मानव की भूख-प्यास मिटाने के पुनीत कार्य में संलग्न हो जाता है।

नायक-नायिका

'मूकमाटी' की नायिका स्पष्ट रूप से माटी ही है। नायक कुम्भकार को माना जा सकता है और कुम्भकार कौन है? स्वयं अर्हन्त देव। नायिका और नायक की प्रणय-कथा भी स्पष्ट है। यह प्रणय है आध्यात्मिक प्रणय। वही प्रणय जो जायसी में परमतत्त्व के प्रति है, वही प्रणय जो कबीर में निराकार ब्रह्म के प्रति है, वही प्रणय जो मीरा में निराकार-साकार ब्रह्म के प्रति और सूर-तुलसी में साकार ब्रह्म के प्रति।

माटी युगों-युगों से कुम्भकार की प्रतीक्षा में है, जो उसका उद्धार करेगा और मंगल घट का रूप देगा। मंगल घट की सार्थकता है गुरु के पाद प्रक्षालन में।

महाकाव्यात्मक गरिमा को लेकर वस्तुतः आज के युग में 'प्रिय प्रवास', 'साकेत', 'कामायनी' और 'कुरुक्षेत्र' महाकाव्य ही लिखे गए हैं। 'प्रिय प्रवास', 'साकेत' दोनों पर 'काव्येर-उपेक्षिता' और आधुनिक बौद्धिकता का प्रभाव है। प्रथम में कृष्णाख्यान का नवीनीकरण है और द्वितीय में रामाख्यान का। 'साकेत' गीति प्रबन्ध की खिचड़ी भले ही हो पर युग की दुविधाग्रस्त मनःस्थिति का दर्पण अवश्य है। सामान्यतः साकेत बिखरे गृह जीवन का सुधरा हुआ चित्र है। 'कामायनी' गीति और प्रबन्ध के समन्वय के रूप में प्रकट होती है। प्रसाद ने इसमें आधुनिक मानवीय चेतना का मानों इतिहास ही प्रस्तुत कर डाला है। दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' कथानक से हीन होते हुए भी रोचक और नवीन दर्शन से ओत-प्रोत है, ''शान्ति नहीं तबतक, जबतक सुख-भाग न नर का सम हो'' ही इसका सन्देश है।

आगे जीवित रहने के लिए महाकाव्य ने अपनी परिभाषा बदल दी है, 'मूकमाटी' के रूप में। 'मूकमाटी' महाकाव्य भी है, खण्ड काव्य भी है, मात्र काव्य भी है। इसमें धर्म है, दर्शन है, जीवन है। इसमें ''फूल से नहीं, फल से तृप्ति का अनुभव होता है।'' पर यह दर्शन गीता के दर्शन से विरोध नहीं करता क्योंकि फल तभी मिलेगा, जब कर्म किया जाएगा और जब फल मिलेगा तभी तृप्ति होगी। यह शब्द, बोध और शोध को परिभाषित करने वाला महाकाव्य है। इसमें ज्ञान है, विज्ञान है, आयुर्वेद के प्रयोग हैं, गणित के अंकों के चमत्कार हैं। इसमें क्षमा है, दया है और है क्षमा के माध्यम से आतंकवादियों का हृदय परिवर्तन भी।

मैं 'मूकमाटी' का स्वागत करता हूँ और उसके रचयिता आचार्य विद्यासागर को प्रणाम करता हूँ।



□

भविष्यत् चेतना का महाकाव्य : 'मूकमाटी'

प्रो. (डॉ.) महावीर सरन जैन

अध्यात्म साधना के द्वारा ज्ञानार्जन एवं आत्म परिष्कार कर, लोक कल्याण में निरत महापुरुषों का भारतीय जनमानस समादर करता आया है। सन्तों एवं मुनियों के माध्यम से हमारे देश में संस्कृति एवं नैतिक मूल्यों के आचरण की अजस्र धारा निरन्तर प्रवहमान रही है। इसी धारा में अवगाहन कर कोटि-कोटि जनों ने अपनी वृत्तियों का परिष्कार करने की प्रेरणा प्राप्त की है। जीवन में नैतिक मूल्यों की पुनःस्थापना होती रही है। जीवन पाशविकता से मानवीयता की ओर अभिमुख होता रहा है।

श्रमण संस्कृति का एक विशिष्ट और गौरवपूर्ण स्थान है। संयम की साधना का सहज आचरण श्रमण-साधुओं का वैशिष्ट्य रहा है। श्रम करने वाला श्रमण है और श्रम का भाव है–तपस्या करना। श्रमण का व्युत्पत्यर्थ ही इसकी परम्परा के स्वरूपगत वैशिष्ट्य को प्रकट कर देता है। यह अकर्मण्य, भाग्यवादी एवं भोगवादी नहीं, अपितु मानव के पुरुषार्थ की परीक्षा करने वाली, कर्म में विश्वास रखने वाली तथा अपनी ही साधना एवं तपस्या के बल पर 'तीर्थ' का निर्माण कर सकने की भावना में विश्वास रखकर तदनुरूप आचरण करने वाली साधना परम्परा है।

जैन तीर्थंकरों ने 'अर्हन्त' होकर धर्म का उपदेश दिया। जब जीव कर्मों से पृथक् होने का उपक्रम कर, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों से अपने को पृथक् कर लेता है, तब वह 'केवलज्ञानी' हो जाता है और उसे 'अर्हन्त' संज्ञा की प्राप्ति होती है। आत्मार्थी साधक आभ्यन्तर एवं बाह्य दोनों परिग्रहों का त्याग करता है, समभाव की आराधना करता है। राग-द्वेषातीत होकर कोई भी व्यक्ति सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र से युगों-युगों के कर्मबन्धन काट फेंकता है।

आधुनिक युग में आचार्य विद्यासागर इसी परम्परा के एक जीवन्त प्रतीक हैं। वे श्रुत सम्पन्न भी हैं तथा शील सम्पन्न भी। उनमें ज्ञान की गरिमा है किन्तु उसका अहंकार नहीं। वे आगम साहित्य के गम्भीर ज्ञाता एवं तलस्पर्शी विद्वान् हैं किन्तु उनकी जिज्ञासा वृत्ति सदैव प्रवहमान रहती है। वे ज्ञान के आगर होते हुए भी ज्ञान के जिज्ञासु हैं। वे जगत् के प्रपंचों से विरत, निस्पृह श्रमण, निराकांक्ष रहकर आत्मसाधना में निरत आत्मद्रष्टा तथा ध्यान-साधना के योगी हैं। उनकी सरलता, सहजता तथा स्नेह-सौहार्द से आह्लादित रहने वाली मुखमुद्रा किसी भी दर्शक को अनायास अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। यही सजग, सतेज साधक आचार्य विद्यासागर ललित काव्यकला के सर्जक भी हैं। 'नर्मदा का नरम कंकर', 'डूबो मत, लगाओ डुबकी', 'तोता क्यों रोता ?', एवं 'चेतना के गहराव में' उनकी प्रमुख काव्य कृतियाँ हैं। इधर इनका 'मूकमाटी' शीर्षक महाकाव्य प्रकाशित हुआ है। 'मूकमाटी' आत्मोदय का महाकाव्य है, कुलाल चक्र पर चढ़कर जीवन के अनुपम पहलुओं से निखर आने की गाथा है, पावन जीवन के शान का इतिवृत्त है। 'मूकमाटी' एक ओर आत्मशक्ति का तो दूसरी ओर भूमण्डल की शक्ति का प्रतीक है। सौरमण्डल और भूमण्डल के द्वन्द्व में भूमण्डल की ही विजय निश्चित है। सौरमण्डल में भले ही अणु की शक्ति काम करे मगर भूमण्डल में मनु की शक्ति विद्यमान है। आचार्यश्री की आस्था है कि अणु से अधिक श्रेयस्कर मनु की शक्ति है; यन्त्र से अधिक मन्त्र की शक्ति है; विज्ञान की मारक शक्ति से अधिक आस्था की तारक शक्ति है। इस कारण यह अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म और अधिक विराट् जीवन चेतना के विकास की व्याख्या एवं प्रतिध्वनि का महाकाव्य है। इसका फलक जहाँ एक ओर आत्मशक्ति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप को समेटता है वहीं दूसरी ओर माटी की विराट् शक्ति की जय गाथा प्रस्तुत करता है।

इस कृति का मूल्यांकन करते समय सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि मूल्यांकन के प्रतिमान क्या हों ? पश्चिमी

दृष्टिकोण तो यह मानता है कि इन्द्रियों के द्वारा जो ग्राह्य होता है वही साहित्य का विषय बनता है। इस परिधि में तो आलोचक का कर्म अधिक से अधिक संवेदनात्मक जगत् की व्याख्या, विश्लेषण, विवेचना एवं मूल्यांकन करना ही हो सकता है। आचार्य विद्यासागर जैसे साधक जब काव्य सर्जन करते हैं तो उनका काव्य ऐसी सम्भावनाओं के द्वार खोलता है जहाँ लोकोत्तर अनुभूतियाँ झिलमिलाती नज़र आती हैं। इसका कारण यह है कि जब साधक कविता लिखता है, जब कवि-ब्रह्मा शब्दों से लोकों की सृष्टि करता है तब उसकी सारी अनुभूतियाँ ऐन्द्रियक ही नहीं, अपितु 'प्रज्ञात्मक' होती हैं, जो भावना एवं कल्पना से भी परे की होती हैं। उसकी अनुभूतियाँ 'लोकोत्तर' भी होती हैं जहाँ कोई 'चैतन्य शक्ति' सीधे ही 'वाक्' को प्राण, मार्मिकता, अर्थ तथा अस्तित्व प्रदान करती है और हमारा अन्तर्जगत् समस्त भौतिक प्रतिबन्धों को पार कर जाता है। पाश्चात्य आलोचना के मानदण्डों से इस प्रकार के काव्य की समीक्षा सम्भव नहीं है।

मैं 'मूकमाटी' की कथा अभिधा में प्रस्तुत कर रहा हूँ। उस कथा में स्थान-स्थान पर जो आध्यात्मिक प्रतीकार्थ एवं संकेत अभिव्यंजित हैं, उनको यदि हम छोड़ भी दें तो भी कथा अपने प्रस्तुत अर्थ में भी सूक्ष्म एवं विराट् भावभूमि को हमारे सामने प्रस्तुत कर देती है। क्या कोई पश्चिमी कवि मूकमाटी पर महाकाव्य लिखने की कल्पना कर सकता है? आचार्य विद्यासागर की आध्यात्मिक दृष्टि ही मूकमाटी के मंगल घट के रूप में परिवर्तित होने अर्थात् कर्मबद्ध आत्मा के परमात्मा बनने की जय यात्रा की साक्षी बन सकती है। यही दृष्टि पहचान पाती है तथा अनुभूत कर पाती है कि प्रत्येक सत्ता शाश्वत होती है। प्रतिसत्ता में उत्थान-पतन की अनगिनत सम्भावनाएँ होती हैं। अगर सागर की ओर दृष्टि जाती है तो सागर गुरु-गौरव-सा कल्पकाल वाला लगता है। अगर लहर की ओर दृष्टि जाती है तो वही सागर अल्पकाल वाला लगता है। एक ही वस्तु अनेक रंगों में रंगायित है, अनेक भंगों में भंगायित है। जीवन का चिर सत्य एवं चिर तथ्य यह है कि यहाँ आना-जाना-लगा हुआ है। आना अर्थात् जनन या उत्पाद है। जाना अर्थात् मरण या व्यय है। लगा हुआ अर्थात् स्थिर या ध्रौव्य है। संसार का चक्र वह है जो राग-द्वेष आदि वैभाविक अध्यवसान का कारण है। चक्री का चक्र वह है जो भौतिक जीवन के अवसान का कारण है। कुलाल चक्र वह है जिस पर जीवन चढ़कर अनुपम पहलुओं से निखर आता है। दुःख आत्मा का स्वभाव—धर्म नहीं हो सकता। वह आत्मा का मोह कर्म से प्रभावित विभाव-परिणमन-मात्र है। 'स्व' को स्व के रूप में तथा 'पर' को पर के रूप में जानना ही सही ज्ञान है और 'स्व' में रमण करना ही सही ज्ञान का फल है। ज्ञान का पदार्थ की ओर ढुलक जाना ही परम आर्त पीड़ा है और ज्ञान में पदार्थों का झलक आना ही परमार्थ क्रीड़ा है। पुरुष का प्रकृति में रमना ही मोक्ष है, सार है। पुरुष का अन्यत्र रमना ही भ्रमना है, मोह है, संसार है। गुणों के साथ दोषों का बोध होना भी अत्यन्त आवश्यक है किन्तु दोषों से द्वेष रखना दोषों का विकसन है। प्रत्येक व्यवधान का सावधान होकर सामना करना नूतन अवधान को पाना है।

'मूकमाटी' महाकाव्य चार खण्डों में विभक्त है :

खण्ड : एक— 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'

आत्मोदय के लिए साधना आवश्यक है। जब साधक की अँगुलियाँ आस्था के तारों पर साधना करने लगती हैं तब उसके सार्थक जीवन में स्वरातीत सरगम झरती है। आस्था के विषय को आत्मसात् करना हो, अनुभूत करना हो तो स्वयं को सहर्ष साधना के साँचे में ढालना होगा। पर्वत की तलहटी से उत्तुंग शिखर का दर्शन तो सम्भव है परन्तु अपने चरणों का प्रयोग किए बिना शिखर का स्पर्श सम्भव नहीं है। साधना के क्षेत्र में निरन्तर अभ्यास के बाद भी स्खलन की सम्भावना रहती है। साधक को आयास से डरना नहीं चाहिए, आलस्य नहीं करना चाहिए। कभी-कभी साधना के पथ में ऐसी भी घाटियाँ आ सकती हैं, जहाँ विषमता की नागिन साधक को सूँघ कर उसे गुमराह कर सकती है। इस प्रकार के सम्बोधन से 'माटी' अभिभूत होती है तथा उसके अन्तर्मन को यह बोध होता है :

''कर्मों का संश्लेषण होना,/आत्मा से फिर उनका/स्व-पर कारणवश
विश्लेषण होना,/ये दोनों कार्य/आत्मा की ही
ममता-समता-परिणति पर/आधारित हैं।'' (पृ. १५-१६)

आत्मा रूपी माटी इस ज्ञान चेतना के बाद अपनी यात्रा का सूत्रपात करती है। आत्मा का साक्षात्कार आत्मा के द्वारा ही सम्भव है। आत्मा के ही ये दो पक्ष प्रस्तुत कथा में 'माटी' एवं 'कुम्भकार' के द्वारा अभिव्यंजित हैं, प्रतीक रूप में वर्णित हैं। कुछ विद्वान् 'माटी' को नायिका तथा 'कुम्भकार' को नायक के रूप में रखकर कथा की व्याख्या कर सकते हैं अथवा इनके आध्यात्मिक प्रतीकार्थ रूप में नायक को परब्रह्म, पुरुषोत्तम, अन्तर्यामी, अज, अनन्त, अद्वैत, परमानन्द रूप तथा नायिका को जगत् उत्पादिका शक्ति के रूप में व्याख्यायित करने का प्रयास कर सकते हैं मगर जैन दर्शन की भूमिका पर यह आत्मा के द्वारा आत्मा का अन्वेषण है; आत्मा के द्वारा आत्मा का नियन्त्रण है; आत्मा के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार है; आत्मा के द्वारा आत्मा से अनात्मभूत कषायों को दूर करना है।

कुम्भकार एक कुशल शिल्पी है। उसका शिल्प कण-कण के रूप में बिखरी माटी को नाना रूप प्रदान करता है। शिल्पी कुम्भकार अपने कार्य का समारम्भ ओंकार को नमन करके करता है। अध्यात्म यात्रा की सबसे बड़ी रुकावट 'मैं' की है। शिल्पी कुम्भकार साधना पथ पर चरण रखने के पहले ही अहंकार का विसर्जन कर चुका होता है। वह कुदाली से माटी खोदता है। पीड़ा की अति ही पीड़ा की इति बन जाती है। साधना में निशि-वासर कस कर परिश्रम किया जाता है। शिल्पी से क्षण-प्रतिक्षण शिक्षण-प्रशिक्षण मिलता है। इसका सीधा असर भीतरी जीवन पर पड़ता है। यह मार्ग जीवन के निर्वाह का नहीं, जीवन के निर्माण का है जहाँ अधोमुखी जीवन ऊर्ध्वमुखी हो उन्नत बनता है। शिल्पी बारीक तार वाली चलनी में माटी को छानता है। कंकर कण माटी से वियुक्त हो जाते हैं। कंकर समझते हैं कि उनमें तथा माटी में समता-सादृश्य है। शिल्पी उनको समझाता है। वर्ण-रंग की अपेक्षा से गाय का दूध भी धवल है तथा आक का दूध भी धवल है। ऊपर से दोनों विमल हैं। परन्तु उन्हें परस्पर मिलाते ही विकार उत्पन्न होता है। दूध फट जाता है। इसी प्रकार मिट्टी एवं कंकरों की प्रकृति एवं स्वभाव में भिन्नता है। कंकरों का माटी से मिलन तो हुआ मगर वे मिट्टी में मिल नहीं सके। माटी से उनका संग तो हुआ मगर वे मिट्टी में घुल नहीं सके। चलती चक्की में डालकर उनको पीसने पर भी वे भले ही चूर्ण बन जाते हैं, रेत बन जाते हैं मगर मिट्टी नहीं बन पाते, अपने गुण-धर्म को छोड़ नहीं पाते। जब पानी से भीगते हैं तो मिट्टी की भाँति वे फूलते नहीं, मिट्टी की भाँति उनमें नमी नहीं आ पाती। शिल्पी को माटी में जल मिलाकर उसे जल में घोलना है, माटी को फुलाना है। वह प्रांगण में कूप से पानी निकालने के लिए बालटी लेकर जाता है। पानी निकालने के काम में आने वाली रस्सी में एक गाँठ है। गाँठ का खोलना तो अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है और अहिंसा के पलने, पनपने एवं बल पाने के लिए निर्ग्रन्थि दशा का होना अनिवार्य है। इसलिए गाँठ का खोलना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। शिल्पी रस्सी की गाँठ खोलकर, बालटी को रस्सी से बाँधकर धीमी गति से कूप में पानी भरने के लिए नीचे उतारता है।

खण्ड : दो— 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'

शिल्पी कुंकुम-सम मृदु माटी में छना निर्मल जल मिलाकर माटी के जीवन में नूतन प्राण फूँकता है। माटी के प्राणों में जाकर पानी नव-प्राण पाता है। फूल-दलों-सी माटी पूर्णरूपेण फूलती है। माटी का यह फूलना ही चिकनाहट, स्नेहिल भाव का आदिम रूप मूलन है और रूखेपन का अर्थात् द्वेष-भाव का अभाव-रूप-उन्मूलन है। माटी के हर्ष की सीमा नहीं है किन्तु माटी को खोदते समय कुम्भकार की कुदाली एक काँटे को क्षत-विक्षत कर देती है। वह काँटा मन

में बदला लेने की सोचता है। कवि का कथन है कि मन की छाँव में ही मान पनपता है। मन का माथा नमता नहीं है। जब 'मन' नहीं होता तब कहीं नमन होता है। माटी के समझाने पर वह अपनी यह आकांक्षा व्यक्त करता है कि कम से कम शिल्पी को अपनी भूल के लिए क्षमा-याचना तो करनी चाहिए। शिल्पी के मुख से पीयूष भरी वाणी निकलती है :

"क्षम्मामि, क्षमंतु मे— / क्षमा करता हूँ सबको, / क्षमा चाहता हूँ सबसे,
सबसे सदा - सहज बस / मैत्री रहे मेरी !" (पृ. १०५)

शिल्पी की क्षमा-याचना कंटि की सनातन चेतना को प्रभावित करती है। उसके क्रोध भाव का शमन एवं प्रतिशोध भाव का वमन होता है तथा उसमें बोध भाव का आगमन होता है। इसके अनन्तर वह सहज-अनायास शोध भाव को नमन करता है। उसके इस परिवर्तन से उसके मन में जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं जिनका सम्यक् समाधान शिल्पी करता है। इसके अनन्तर शिल्पी को फूली माटी को रौंद-रौंदकर उसका लोंदा बनाना है तथा उसमें अधिकाधिक स्निग्धता का संचार करना है। सर्वप्रथम शिल्पी का दाहिना चरण मंगलाचरण करता हुआ शनैः-शनैः ऊपर उठता हुआ माटी के माथे पर उतरता है। माटी शिल्पन-चरण का स्वागत करती हुई अपना माथा ऊपर उठाती है। रौंदन क्रिया की गति बढ़ती है। शिल्पी के पद आजानु तक माटी की गहराई में डूबते हैं। माटी पुरुष शिल्पी की पुष्ट पिण्डरियों से लिपटती है। महासत्ता माटी की बाहुओं से 'वीर रस' फूटता है। वीर रस की अनुपयोगिता और उसके अनादर को देखकर महासत्ता माटी के अधरों से 'हास्य रस' ठहाका मारता है। हास्य रस की दाल नहीं गलती, उसकी चाल नहीं चल पाती। इस कारण वह अपनी करवट बदल लेता है तथा अन्य रस-साथी का स्मरण करता है। महासत्ता माटी के भीतर रसातल में उबलता कराल काला 'रौद्र रस' जागता है। निर्भीक शिल्पी सौम्य मुद्रा में रौद्र से कहता है कि रुद्रता विकार है और विकार को समेटना, हटाना, नष्ट करना ही उपयुक्त होता है। इसके बाद 'भय रस' का वर्णन है। भय एवं अभय के द्वन्द्व में मति अभया बनती है। 'विस्मय' 'वीर' को अबीर के रूप में, 'रौद्र' को रुग्ण-पीड़ित के रूप में और 'भय' को भयभीत के रूप में पाकर बहुत अधिक विस्मित होता है। इसके बाद आता है— शृंगार। शृंगार का नया स्वरूप अभिव्यंजित है। शिल्पी के शब्द हैं :

"संगीत उसे मानता हूँ / जो संगातीत होता है
और / प्रति उसे मानता हूँ / जो अंगातीत होती है।" (पृ. १४४-१४५)

स्वर की नश्वरता और सारहीनता सुनकर शृंगार के बहाव में बहने वाली प्रकृति की नासा बहने लगती है जिससे 'बीभत्स रस' का उदय हो जाता है तथा ऐसा लगता है मानों बीभत्स रस ने शृंगार को नकार दिया है। शृंगार एवं बीभत्स के द्वन्द्व से आहत प्रकृति में करुणा का संचार होता है। शिल्पी करुणा को समझाता है कि करुणा के होने में नहीं अपितु करुणा के करने की सीमित सार्थकता है। करुणा की अपनी उपादेयता है मगर उसकी सीमा भी है। 'करुणा रस' में 'शान्त रस' का अन्तर्भाव मानना बड़ी भूल है। करुणा रस एवं शान्त रस की प्रकृतियों में अन्तर है :

"करुणा तरल है, बहती है / पर से प्रभावित होती झट-सी।
शान्त-रस किसी बहाव में / बहता नहीं कभी / जमाना पलटने पर भी
जमा रहता है अपने स्थान पर।" (पृ. १५६-१५७)

महासत्ता माँ के गोलगोल कपोल तल पर वात्सल्य पुलकित होता है। करुणा, वात्सल्य एवं शान्त— तीनों में अन्तर है। करुणा रस जीवन का प्राण है, वात्सल्य रस जीवन का त्राण है और शान्त रस जीवन का गान है। आचार्य ने शृंगार को नहीं, शान्त रस को रस-राज माना है, क्योंकि आत्मोदय की भूमिका पर सब रसों का अन्त होना ही शान्त रस

है। शान्त रस पर बल देती हुई माटी की रौंदन क्रिया भी पूरी होती है। शिल्पी धरती में गड़ी लकड़ी की कील पर, हाथ में दो हाथ की लम्बी लकड़ी ले, अपने चक्र को घुमाता है। घूमते चक्र पर माटी का लोंदा रखता है। लोंदा भी चक्रवत् तेज गति से घूमने लगता है। वह धीरे-धीरे कुम्भ का आकार-आकृति पा जाता है। मान घमण्ड से अछूती माटी पिण्ड से पिण्ड छुड़ाती हुई कुम्भ के रूप में ढल जाती है। इसके बाद वह कुम्भ पर कुछ तत्त्वोद्घाटक संख्याओं का अंकन करता है, विचित्र चित्रों का चित्रण करता है तथा कविताओं का सृजन करता है। अभी शिल्पी को कुम्भ में शेष जलीय अंश को निश्शेष करना है। इसके लिए कुम्भकार कुम्भ को तपी हुई खुली धरती पर रखता है।

खण्ड : तीन – 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन'

किसी कारणवश कुम्भकार को बाहर जाना पड़ता है। कुम्भकार की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर सागर से गागर भर-भर कर गगन की गली में अबला-सी बदलियाँ निकल पड़ती हैं। ये बदलियाँ पृथ्वी पर प्रलय करना चाहती हैं। प्रभाकर इनको अपने प्रवचन द्वारा उद्बुद्ध करता है। पुण्य का उदय होता है। जल को मुक्ति मिलती है। मेघों से मेघ मुक्ता का अवतार होता है। कुम्भकार के प्रांगण में अपक्व कुम्भों पर मुक्ता वर्षा होती है। बात चारों तरफ फैल जाती है। राजा के कानों तक इस आश्चर्यजनक घटना का संवाद पहुँचता है। राजा अपनी मण्डली के साथ मुक्ता राशि को बोरियों में भरकर ले जाने के लिए आ पहुँचता है। ज्यों ही मण्डली मुक्ता राशि को बोरियों में भरने के लिए नीचे झुकती है कि गगन में गुरु गम्भीर गर्जना होती है :

"अनर्थ···अनर्थ···अनर्थ !/पाप···पाप···पाप···!
क्या कर रहे आप···?/परिश्रम करो/पसीना बहाओ।" (पृ. २११)

कर्णकटु अप्रिय व्यंग्यात्मक वाणी सुनकर भी मण्डली हाथ पसारती है मगर मुक्ता को छूते ही बिच्छू के डंक की-सी वेदना से उनकी काया छटपटाने लगती है। एड़ी से चोटी तक सब में विष व्याप्त हो जाता है। मुग्धा मण्डली मूर्च्छित हो जाती है। सबकी देहयष्टि नीली पड़ जाती है।

यह सब देखकर राजा का मन भी भयभीत हो जाता है। उसे यह अनुभूत होता है कि किसी ने मन्त्रशक्ति के द्वारा उसे कीलित कर दिया है। उसे प्रतीत होता है कि उसके हाथों ने हिलना बन्द कर दिया है; पैरों ने चलना बन्द कर दिया है; आँखों से धुँधला दिखाई पड़ रहा है; कानों ने सुनना बन्द कर दिया है; मन में प्रतिकार की भावना होने पर भी वह प्रतिकार करने में असमर्थ है।

इसी बीच कुम्भकार का प्रत्यागमन होता है। इस दृश्य को देखकर शिल्पी की आँखों में विस्मय-विषाद-विरति की तीन रेखाएँ खिंच जाती है। कुम्भकार मन्त्रित जल के सिंचन से मण्डली की मूर्च्छा दूर करता है। मूर्च्छा दूर होते ही मण्डली मुक्ता से दूर भाग खड़ी होती है। कुम्भकार सारी मुक्ता राशि राजा को ही प्रदान कर देता है। मुक्ता की दुर्लभ निधि से राजकोष और अधिक समृद्ध हो जाता है।

धरती की बढ़ती कीर्ति देखकर सागर का क्षोभ पल भर में चरम सीमा छूने लगता है। उसकी भृकुटियाँ तन जाती हैं। पृथ्वी पर प्रलय करना उसका प्रमुख लक्ष्य हो जाता है। सागर में से क्रम-क्रम से वायुयान-सम क्षार पूर्ण नीर भरे बादल अपने-अपने दलों सहित आकाश में उड़ने लगते हैं। सागर राहु को अपने पक्ष में कर लेता है। सूर्यग्रहण होता है। बिजलियाँ कौंधती हैं। इन्द्र आवेश में आकर अपना अमोघ अस्त्र वज्र निकालकर बादलों पर फेंक देता है। वज्राघात होता है। बादल स्वाभिमान से सचेत ओलों का उत्पादन प्रारम्भ कर देते हैं। ओलों से सौरमण्डल भर जाता है। भू-कणों के ऊपर अनगिनत ओले प्रतिकार के रूप में अपने बल का परिचय देते हुए निर्दय होकर टूट पड़ते हैं। मगर इतना होने

पर भी एक भी ओला नीचे आकर 'कुम्भ' को भग्न नहीं कर पाता। नए-नए बादलों का आगमन, नूतन ओलों का उत्पादन, बीच-बीच में बिजली की कौंध, संघर्ष का उत्कर्षण-प्रकर्षण आदि के बावजूद बादलों-ओलों की हार हो जाती है, भूकणों की जीत। कई दिनों बाद निरभ्र नील नभ का दर्शन होता है। भानु की आभा से अणु-अणु, कण-कण, वन-उपवन और पवन सब ज्योतित हो उठते हैं। रजविहीन सूरज सहस्रों करों को फैलाकर सुकोमल किरणांगुलियों से शिल्पी की पलकों को सहलाता है। कुम्भकार स्वस्थ अवस्था की ओर लौटता है। कुम्भकार अपक्व कुम्भ की परिपक्व अवस्था को देखकर एक ओर आश्चर्यचकित होता है तथा दूसरी ओर आश्वस्त। उसे विश्वास है कि अब कुम्भ को आगे भी पूरी सफलता मिलेगी। आगे की यात्रा के बारे में वह कुम्भ से कहता है :

"और सुनो !/आग की नदी को भी पार करना है तुम्हें,
वह भी बिना नौका !/हाँ ! हाँ !!/अपने ही बाहुओं से तैर कर,
तीर मिलता नहीं बिना तैरे।" (पृ. २६७)

इस पर कुम्भ कहता है :

"निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर
वेद से अवेद की ओर/बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए/अन्यथा,
वह यात्रा नाम की है/यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।" (पृ. २६७)

खण्ड : चार— 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'

अब अविलम्ब अवधारित अवधि में कुम्भ को तपाने के लिए अवा के अन्दर पहुँचाना है। अवा को साफ़-सुथरा बनाया गया है। अवा के निचले भाग में बड़ी-बड़ी टेढ़ी-मेढ़ी गाँठ वाली बबूल की लकड़ियाँ एक के ऊपर एक सजाई गई हैं। लाल पीली छालवाली नीम की लकड़ियों से उन्हें सहारा दिया गया है। शीघ्र आग पकड़ने वाली देवदारु जैसी लकड़ियाँ बीच-बीच में बिछाई गई हैं। धीमी-धीमी जलने वाली सचिक्कण इमली की लकड़ियाँ अवा के किनारे चारों ओर खड़ी की गई हैं। अवा के बीचोंबीच कुम्भ समूह अवस्थित किया गया है। अवा के मुख पर दबा-दबाकर रवादार राख और माटी बिछाई गई है जिससे बाहरी हवा का कोई अंश अवा के अन्दर न जा सके। अवा की उत्तर दिशा में उसके निचले भाग में एक छोटा-सा द्वार है। इस द्वार पर आकर कुम्भकार नौ बार नवकार मन्त्र का उच्चारण करता है और एक छोटी-सी जलती लकड़ी से अवा में आग लगाता है। आग बुझ जाती है। वह बार-बार आग लगाता है और आग बार-बार बुझ जाती है। कुम्भ अग्नि से प्रार्थना करता है तथा कहता है कि किसी के दोषों को जलाना ही उसको जिलाना है। स्व-पर दोषों को जलाना तो सन्तों ने परम धर्म माना है। अग्नि को कुम्भ का आशय विदित हो जाता है। सुर-सुराती सुलगती अग्नि समूचे अवा को अपनी चपेट में ले लेती है। कुम्भ, कुम्भक प्राणायाम करता है जो ध्यान की सिद्धि में साधकतम है। धीरे-धीरे धूम का उठना बन्द होता है, आत्मा उज्ज्वल होने लगती है। कुम्भकार सोल्लास पके-तपे कुम्भ को बाहर निकालता है। कुम्भ के मुख पर मुक्तात्मा-सी प्रसन्नता व्याप्त है।

उधर नगर का महासेठ सपना देखता है कि वह हाथों में माटी का मंगल कुम्भ ले अपने ही प्रांगण में भिक्षार्थी महासन्त का स्वागत कर रहा है। वह अपने स्वप्न की बात अपने परिवार के सदस्यों को बता देता है। वह अपना एक सेवक कुम्भकार के पास कुम्भ लाने के लिए भेजता है। सेवक कुम्भ को हाथ में लेकर सात बार बजाता है जिससे सप्त स्वरों का उद्घोष होता है, जो मानो प्रतीकार्थ रूप में भावाभिव्यंजना करते हैं :

"सा···रे···ग···म यानी/सभी प्रकार के दुःख
प···ध यानी ! पद—स्वभाव/और
नि यानी नहीं,/दुःख आत्मा का स्वभाव—धर्म नहीं हो सकता,
मोह-कर्म से प्रभावित आत्मा का/विभाव-परिणमन मात्र है वह।" (पृ. ३०५)

सेवक कुम्भ समूह का परीक्षण-निरीक्षण कर एक-दो लघु तथा एक-दो गुरु कुम्भ चुन लेता है। सेठ सोल्लास आसन से उतरकर सेवक के हाथ से कुम्भ को अपने हाथ में ले लेता है। उसे ताजे शीतल जल से धोता है। दाएँ हाथ की अनामिका से मलायाचल के चारु चन्दन से कुम्भ पर चारों ओर स्वस्तिक अंकित करता है और प्रति स्वस्तिक की चारों पाँखुरियों में कश्मीर-केसर मिश्रित चन्दन से चार-चार बिन्दियाँ लगा देता है। प्रत्येक स्वस्तिक के मस्तक पर चन्द्र बिन्दु समेत ओंकार लिखता है। हल्दी की दो पतली रेखाओं से कुम्भ का कण्ठ शोभित करता है। कुम्भ के मुख पर चार-पाँच खाने के पान तथा उनके बीचोंबीच एक श्रीफल रखा जाता है। कुम्भ के गले में शुद्ध स्फटिकमणि की माला डाली जाती है। इस प्रकार सज्जित मांगलिक कुम्भ अष्ट पहलूदार चन्दन की चौकी पर रखा जाता है।

इसके अनन्तर जैन मुनि को आहार दान देने का विस्तृत विवरण है। नगर के प्रति मार्ग में अड़ोस-पड़ोस में आमने-सामने अपने-अपने प्रांगण में सुदूर तक दाताओं की पंक्ति खड़ी है। प्रत्येक की भावना है कि उसी के यहाँ अतिथि का आहार निर्विघ्न सम्पन्न हो। पूजन कार्य से निवृत्त सेठ भी अपने प्रांगण में माटी का मंगल कुम्भ लेकर अतिथि सत्कार के लिए विद्यमान है। अतिथि सेठ के ही प्रांगण में आकर रुकते हैं।

स्वादिष्ट दुग्ध से भरा स्वर्ण कलश, मधुर इक्षु रस से भरा रजत कलश, अनार के लाल रस से भरी स्फटिक झारी आदि आगे बढ़ाए जाते हैं। अतिथि उधर दृष्टि नहीं डालते। उनकी अँजुलि ग्रहण करने के लिए नहीं खुलती। जब सेठ माटी के कुम्भ को आगे बढ़ाता है तो अतिथि की अँजुलि खुल पड़ती है।

'स्वर्ण कलश' अपने को मूल्यहीन तथा उपेक्षित देखकर भीतर से जलता, घुटता है। बदला लेने की भावना से भरकर वह सेठ को परिवार सहित समाप्त करने का षड्यन्त्र रचता है। 'आतंकवाद' को आमन्त्रित करता है। स्वर्ण कलश की अपने सहचरों-अनुचरों से गुप-चुप मन्त्रणा होती है। दिन और समय निश्चित हो जाता है।

निश्चित होता है कि आज 'आतंकवाद का दल' आधी रात में आपत्तियों की आँधी लेकर आएगा। मगर इसी बीच 'स्वर्ण कलश' के अपने ही दल में एक असन्तुष्ट दल का निर्माण हो जाता है। इस असन्तुष्ट दल की संचालिका स्फटिक की उजली झारी है।

'झारी' का प्रभाव रौद्रकर्मा स्वर्ण कलश पर नहीं पड़ता। स्वर्ण कलश के अनियन्त्रित क्षोभ को पहचानकर 'झारी' माटी के कुम्भ को संकेतित करती है और कुम्भ सेठ परिवार को सचेत करता है। अड़ोस-पड़ोस की निरपराध जनता इस चक्रवात के चक्कर में आकर कहीं फँस न जाए, इसी सदाशयता के साथ कुम्भ सेठ को परिवार सहित तुरन्त घर से निकल जाने के लिए कहता है। और तदनुसार पूरा परिवार प्रासाद के पिछले पथ से पलायन कर जाता है। सेठ के हाथ में पथ प्रदर्शक कुम्भ है। पुर-गोपुर पार कर वे घने वन में लीन हो जाते हैं। वहाँ भी आतंकवाद का दल आ पहुँचता है। उनके हाथों में हथियार हैं। वे बार-बार आकाश में वार कर रहे हैं जिससे बिजली-सी ज्वाला कौंध उठती है। वे बार-बार होंठों को चबा रहे हैं, क्रोधाविष्ट हो रहे हैं। गजदल एवं नाग-नागिनियाँ सेठ परिवार की रक्षा के लिए उद्यत होते हैं। उनके द्वारा स्वयं आतंकवाद चारों ओर से घिर जाता है। यह पहली घटना है जिसमें आतंकवाद ही स्वयं आतंकित हो जाता है।

इसके अनन्तर भीषण प्रलयकालीन परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। घनी-घनी मेघों की घटाएँ गगनांगन में तैरने

लगती हैं। तामसता का साम्राज्य चतुर्दिक् छा जाता है। धरती का दर्शन दुर्लभ हो जाता है। प्रचण्ड पवन के प्रवाह के कारण पर्वतों के पद लड़खड़ाने लगते हैं, पर्वतों की चोटियाँ पृथ्वी पर गिरने लगती हैं, मेघों का गुरु गर्जन होता है, बिजली कौंधती है, मूसलाधार वर्षा होती है। कुल मिलाकर जलप्रपात के समान, जल प्रलय के समान दृश्य उपस्थित हो जाता है। तदनन्तर प्रकृति में परिवर्तन होता है।

बादल दल छँट जाते हैं। सुदूर प्राची में लाली फूटती है। सेठ परिवार नदी तट पर जाकर खड़ा हो जाता है। वर्षा के कारण नदी आवेगवती है। उधर आतंकवाद से अभी भी संघर्ष करना है। कुम्भ कहता है कि नदी को पार करना है। इसके लिए वह उपाय सुझाता है कि रस्सी के एक छोर को उसके गले में बाँधकर पीछे-पीछे सब पंक्तिबद्ध हो अपनी-अपनी कटि में कसकर रस्सी बाँध लें। कुम्भ के संकेतानुसार अपनी कटि में कुम्भ को बाँधकर सेठ नदी की तेज धार में कूद पड़ता है। परिवार के सदस्य सेठ का अनुसरण करते हैं। कुम्भ महायान का कार्य कर रहा है। नदी के भीतर छोटी-बड़ी मछलियाँ, विषधर, कछुवे, महा मगरमच्छ तथा अन्य क्रूरवृत्ति वाले विविध जातीय जलीय जन्तु हैं। परिवार की शान्त मुद्रा देखकर जलचरों की वृत्ति में आमूल-चूल परिवर्तन होता है। यात्रा लगभग आधी हो चुकी है। यात्री मण्डल को लग रहा है कि मानो गन्तव्य ही अपनी ओर आ रहा है। मगर तभी बीच मझधार में आतंकवाद मार्गविरोधी बनकर परिवार के सम्मुख आ खड़ा होता। कहता है :

"अब पार का विकल्प त्याग दो/त्याग-पत्र दो जीवन को
पाताल का परिचय पाना है तुम्हें/पाखण्ड-पाप का यही पाक होता है।" (पृ. ४६०)

परिवार के ऊपर अन्धाधुन्ध पत्थरों की वर्षा होने लगती है। घनी चोट लगने से सबके सिर फिर से जाते हैं। रक्त की धार बह उठती है। सेठजी के सिवा पूरा परिवार परवश हो पीड़ा का अनुभव करता है। ऐसी स्थिति में भी धैर्य- साहस के साथ सबसे आगे होकर सेठजी आतंक से संघर्ष करते हैं। आतंकवाद कुम्भ को फोड़ने का तथा कटि में कसी रस्सी को शस्त्रों से काटने का प्रयास करता है। मगर वह अपने प्रयास में सफल नहीं हो पाता। आतंकवादी दल की दमनशील धमकियों से सेठ के सिवा परिवार के अन्य सदस्यों का दिल दहल उठता है। जीवन का अवसान देखकर वे आत्म समर्पण करने का विचार करने लगते हैं। नदी कहती है कि उतावली मत करो। असत्य के सामने सत्य पक्ष आत्म समर्पण करे —यह कैसी विडम्बना है! क्या अब असत्य शासक बनेगा तथा सत्य शासित होगा? इसी बीच वह नाव डूबती-सी नज़र आती है जिस पर आतंकवाद सवार है। आतंकवाद पश्चाताप से घुटता हुआ व्याकुल, शोकाकुल अवरुद्ध कण्ठ से क्षमा-याचना करता है। सेठ आतंकवाद को प्रबुद्ध करता है :

"अपराधी नहीं बनो/अपरा 'धी' बनो,
'पराधी' नहीं/पराधीन नहीं/परन्तु/अपराधीन बनो।" (पृ. ४७७)

आतंक दल का संकोच-संशय समाप्त हो जाता है और दल के सदस्य डूबती नाव से धार में कूद पड़ते हैं। सेठ के परिवार का प्रति सदस्य दल के प्रति सदस्य को आदर के साथ सहारा देता है। आतंकवाद की नाव पूरी तरह डूब जाती है। आतंकवाद का अन्त हो जाता है, अनन्तवाद का श्रीगणेश होता है। कुम्भ के मुख से मंगल कामनाएँ निःसृत होती हैं कि यहाँ सब का जीवन सदैव मंगलमय हो। पूरा वातावरण धर्मानुराग से भर जाता है। नदी तट निकट आ जाता है। सब प्रसन्नचित्त नदी से बाहर निकल आते हैं। कटि में कसी रस्सी को सेठ परिवार के सदस्य खोल देते हैं। परिवार छने जल से भरे कुम्भ को लेकर आगे बढ़ता है कि उसी पुराने स्थान पर पहुँच जाता है जहाँ कुम्भकार माटी लेने आया करता है। परिवार सहित कुम्भ कुम्भकार का अभिवादन करता है। कुछ दूरी पर पादप के नीचे पाषाण-फलक पर

राग-विराग से परे साधु आसीन हैं। सबका ध्यान उनकी ओर आकृष्ट होता है। सब साधु को सादर प्रणाम करते हैं। उनके पदों का अभिषेक करते हैं। गुरुदेव सबको आशीर्वाद देते हैं। इस पर आतंकवाद प्रश्न करता है कि हमें यह तो अनुभूत हुआ कि समग्र संसार ही दुःख से भरपूर है। आतंकवाद दल अक्षय सुख के प्रति अपने अविश्वास को प्रकट करता है तथा अविनश्वर सुख के विषय में उनका अनुभव जानना चाहता है। गुरुदेव वचन नहीं, प्रवचन देते हैं। बन्धन रूप तन, मन एवं वचन का आमूल मिट जाना ही मोक्ष है। इसी की शुद्ध दशा में अविनश्वर सुख होता है जिसे प्राप्त होने के बाद इस संसार में आवागमन से मुक्ति मिल जाती है। महाकाव्य का अन्त होता है :

"महा-मौन में/डूबते हुए सन्त"/और माहौल को
अनिमेष निहारती-सी/"'मूकमाटी।" (पृ. ४८८)

यहाँ इस महाकाव्य की कथा सार संक्षेप में प्रस्तुत की गई है। महाकाव्य की कथा में जहाँ रोचकता है, वहीं सरसता भी है। रोचकता एवं सरसता से अधिक इस महाकाव्य में वैचारिकता है जो इसे विशिष्टता प्रदान करती है। इसी कारण इस महाकाव्य का अधिकांश भाग उद्धरणीय है। कुछ उद्धरण उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत हैं :

(१) *"बहना ही जीवन है।" (पृ. २)*
(२) *"ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना/सब के वश की बात नहीं।" (पृ. २)*
(३) *"सत्ता शाश्वत होती है।" (पृ. ७)*
(४) *"जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है।" (पृ. ८)*
(५) *"असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है।" (पृ. ९)*
(६) *"आस्था के तारों पर ही/साधना की अंगुलियाँ/चलती हैं।" (पृ. ९)*
(७) *"पतन पाताल का अनुभव ही/उत्थान-ऊँचाई की/आरती उतारना है।" (पृ. १०)*
(८) *"विचारों के ऐक्य से/आचारों के साम्य से/सम्प्रेषण में/निखार आता है।" (पृ. २२)*
(९) *"पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है।" (पृ. ३३)*
(१०) *"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है।" (पृ. ३८)*
(११) *"लघुता का त्यजन ही/गुरुता का यजन ही/शुभ का सृजन है।" (पृ. ५१)*
(१२) *"ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है।" (पृ. ६४)*
(१३) *"धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है/शास्त्र, शस्त्र बन जाता है।" (पृ. ७३)*
(१४) *"शव में आग लगाना होगा,/और/शिव में राग जगाना होगा।" (पृ. ८४)*
(१५) *"आस्था के बिना आचरण में/आनन्द आता नहीं।" (पृ. १२०)*
(१६) *"आस्था का दर्शन आस्था से ही सम्भव है।" (पृ. १२१)*
(१७) *"आमद कम खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का*
कूबत कम गुस्सा ज्यादा/लक्षण है पिट जाने का।" (पृ. १३५)
(१८) *"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है/और*
प्रीति उसे मानता हूँ/जो अंगातीत होती है।" (पृ. १४४-१४५)
(१९) *"एक ही वस्तु/ अनेक भंगों में भंगायित है/अनेक रंगों में रंगायित है, तरंगायित!" (पृ. १४६)*

(२०) *"परिधि की ओर देखने से/चेतन का पतन होता है/और*
परम-केन्द्र की ओर देखने से/चेतन का जतन होता है।" (पृ. १६२)

(२१) *" 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।" (पृ. १७२)*

(२२) *" 'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।" (पृ. १७२)*

(२३) *"निर्बल-जनों को सताने से नहीं,/बल-संबल दे बचाने से ही*
बलवानों का बल सार्थक होता है।" (पृ.२७२)

(२४) *"रसनेन्द्रिय के वशीभूत हुआ व्यक्ति/कभी भी किसी भी वस्तु के*
सही स्वाद से परिचित नहीं हो सकता।" (पृ. २८१)

(२५) *"ध्यान की बात करना/और/ध्यान से बात करना/इन दोनों में बहुत अन्तर है।"*
(पृ. २८६)

(२६) *"दुःख आत्मा का स्वभाव धर्म नहीं हो सकता।" (पृ. ३०५)*

(२७) *"अतिथि के बिना कभी/तिथियों में पूज्यता आ नहीं सकती।" (पृ. ३३५)*

(२८) *"एक के प्रति राग करना ही/दूसरों के प्रति द्वेष सिद्ध करता है।" (पृ. ३६३)*

(२९) *"प्रकृति से विपरीत चलना/साधना की रीत नहीं है।" (पृ. ३९१)*

(३०) *"योग के काल में भोग का होना/रोग का कारण है,/और*
भोग के काल में रोग का होना/शोक का कारण है।" (पृ. ४०७)

(३१) *"धन का मितव्यय करो,/अतिव्यय नहीं।" (पृ. ४१४)*

(३२) *"पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु/पर को पद-दलित करते हैं।" (पृ. ४३४)*

(३३) *"प्रचार-प्रसार से दूर/प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है।"*
(पृ. ४६१)

अभिव्यक्ति के धरातल पर 'मूकमाटी' में कुछ शब्दों को नए अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। इस दृष्टि से दो शैलियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :

(क) शब्दों के अक्षरों के अनुसार प्रति अक्षर की व्याख्या करते हुए शब्दों को नया अर्थ प्रदान किया गया है अथवा उनकी अभिनव व्याख्या की गई है।

(ख) शब्द के अक्षरों को अलग-अलग करके उन अक्षरों के विलोम क्रम से निर्मित शब्द को रखा गया है तथा इन दो शब्दों में अर्थ-भिन्नता के माध्यम से शब्दों के अर्थों को नए आयामों के साथ प्रस्तुत किया गया है। ये प्रयोग 'उलटबाँसी' से भिन्न हैं। उलटबाँसी में तो लोक विपरीत ढंग का वर्णन रहता है, सांसारिक क्रिया-कलापों को उलटे ढंग से दिखाया जाता है किन्तु 'मूकमाटी' में शब्द के अक्षरों को उलट कर रखा गया है तथा उससे निर्मित शब्द की पहले शब्द से तुलना की गई है।

इन दोनों प्रकार के शब्द प्रयोगों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

(क) आक्षरिक विभाजन

(१) कुम्भकार : *" 'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य–*
यहाँ पर जो/भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

(२) गदहा : " 'गद' का अर्थ है रोग/'हा' का अर्थ है हारक
मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस,
और कुछ वांछा नहीं/गद-हा···गदहा !" (पृ. ४०)

(३) कृपाण : "हम हैं कृपाण/हम में कृपा न !" (पृ. ७३)

(४) सरिता : "जो खिसकती-सरकती है/सरिता कहलाती है।" (पृ. ११९)

(५) संसार : "जो सम्यक् सरकता है/वह संसार कहलाता है।" (पृ. १६१)

(६) नारी : " 'न अरि' नारी···/अथवा/ये आरी नहीं हैं/सो···नारी।" (पृ. २०२)

(७) महिला : " 'मह' यानी मंगलमय माहौल/महोत्सव जीवन में लाती है
महिला कहलाती वह।" (पृ. २०२)

(८) अबला : □ "जो 'अव' यानी/'अवगम'-ज्ञानज्योति लाती है,/तिमिर-तामसता मिटाकर
जीवन को जागृत करती है/अबला कहलाती है वह।" (पृ. २०३)

□ "...जो/पुरुष-चित्त की वृत्ति को/विगत की दशाओं/और
अनागत की आशाओं से/पूरी तरह हटाकर/'अब' यानी
आगत - वर्तमान में लाती है/अबला कहलाती है वह ···!
बला यानी समस्या संकट है/न बला···सो अबला।" (पृ. २०३)

(९) कुमारी : " 'कु' यानी पृथिवी/'मा' यानी लक्ष्मी/और/'री' यानी देनेवाली···
इससे यह भाव निकलता है कि/यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना
तब तक रहेगी/जब तक यहाँ 'कुमारी' रहेगी।" (पृ. २०४)

(१०) स्त्री : " 'स्' यानी सम-शील संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं/धर्म, अर्थ, काम-पुरुषार्थों
में/पुरुष को कुशल-संयत बनाती है/सो···स्त्री कहलाती है।" (पृ. २०५)

(११) सुता : "'सु' यानी सुहावनी अच्छाइयाँ/और/'ता' प्रत्यय वह्
भाव-धर्म, सार के अर्थ में होता है/यानी,
सुख-सुविधाओं का स्रोत···सो-/'सुता' कहलाती है।" (पृ.२०५)

(१२) दुहिता : "दो हित जिसमें निहित हों/वह 'दुहिता' कहलाती है
अपना हित स्वयं ही कर लेती है,/पतित से पतित पति का जीवन भी
हित सहित होता है, जिससे/वह दुहिता कहलाती है।
उभय-कुल मंगल-वर्धिनी/उभय-लोक-सुख-सर्जिनी
स्व-पर-हित सम्पादिका/कहीं रहकर किसी तरह भी
हित का दोहन करती रहती/सो···दुहिता कहलाती है।" (पृ. २०५-२०६)

(१३) माता : "प्रमाण का अर्थ होता है ज्ञान/प्रमेय यानी ज्ञेय/और
प्रमातृ को ज्ञाता कहते हैं सन्त/जानने की शक्ति वह
मातृ-तत्त्व के सिवा/अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होती
यही कारण है, कि यहाँ/कोई पिता-पितामह, पुरुष नहीं है
जो सब की आधार-शिला हो/सब की जननी/मात्र मातृतत्त्व है।" (पृ. २०६)

(१४) कला : "'क' यानी आत्मा–सुख है/'ला' यानी लाना–देता है
कोई भी कला हो/कला मात्र से जीवन में
सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है।" (पृ.३९६)

(१५) साहित्य : "हित से जो युक्त–समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव–सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!" (पृ. १११)

(ख) विलोम अक्षर-विन्यास एवं शब्द

(१) याद : दया : "पर की दया करने से/स्व की याद आती है/और
स्व की याद ही/स्व-दया है/विलोम-रूप से भी
यही अर्थ निकलता है/या···द···दा···या।" (पृ. ३८)

(२) राही : हीरा : "संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है,
स्वयं राही शब्द ही/विलोम-रूप से कह रहा है-/रा···ही ही···रा।" (पृ. ५७)

(३) राख : खरा : "खरा शब्द भी स्वयं/विलोम-रूप से कह रहा है-
राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?/रा···ख···ख···रा।" (पृ. ५७)

(४) लाभ : भला : "लाभ शब्द ही स्वयं/विलोम-रूप से कह रहा है–
ला···भ···भ···ला।" (पृ. ८७)

(५) नदी : दीन: "नील नीर की झील/नाली - नदियाँ ये/अनन्त सलिला भी
अन्तःसलिला हो/अन्त-सलिला हुई हैं/इन का विलोम परिणमन हुआ है
यानी,/न···दी···दी···न।/जल से विहीन हो
दीनता का अनुभव करती है नदी।" (पृ. १७८)

(६) नाली : लीना : "ना···ली···ली···ना
लीना हुई जा रही है धरती में/लज्जा के कारण।" (पृ. १७८)

(७) तामस : समता : "विश्व का तामस आ भरा आय/कोई चिन्ता नहीं,
किन्तु विलोम भाव से/यानी /ता···म···स···स···म···ता···।" (पृ. २८४)

(८) रसना : नासर : "र···स···ना, ना···स···र/यानी वसन्त के पास सर नहीं था।" (पृ. १८१)

(९) धरती : तीरध : "धरती शब्द का भी भाव/विलोम रूप से यही निकलता है-
ध···र···ती···ती···र···ध/यानी,/जो तीर को धारण करती है
या शरणागत को/तीर पर धरती है/वही धरती कहलाती है।" (पृ. ४५२)

(१०) धरणी : नीरध : "स्वयं धरणी शब्द ही/विलोम-रूप से कह रहा है कि
ध···र···णी···नी···र···ध/नीर को धारण करे···सो···धरणी
नीर का पालन करे···सो···धरणी !" (पृ. ४५३)

कृति में कहीं-कहीं 'संहिता' (Juncture) का चमत्कार भी द्रष्टव्य है :

(१) कम+बलवाले : कम्बल+वाले। (पृ.९२)

(२) न + मन : नमन = न 'मन' हो, तब कहीं/नमन हो...। (पृ. ९७)

(३) "मैं दो गला"

(क) मैं दो + गला = मैं द्विभाषी हूँ।

(ख) मैं दोगला = दोगला = छली, धूर्त, मायावी ।

(ग) मैं + दो + गला = 'मैं' यानी अहं को/दो गला– कर दो समाप्त।(पृ. १७५)

मैंने 'मूकमाटी' महाकाव्य के कथानक, भाव वैशिष्ट्य, अभिव्यक्तिकौशल के सम्बन्ध में कुछ संकेत भर किए हैं। इसके आध्यात्मिक प्रतिकार्य अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं और इसी कारण मेरा विश्वास है कि यह कृति आज के अनास्थावान् व्यक्ति को आस्था का अभिन्न मन्त्र देने में समर्थ सिद्ध हो सकेगी, निराश व्यक्ति के जीवन में आशा का संचार कर सकेगी तथा उद्विग्न एवं खण्डित चेतना के लिए विराट्, अभिनव एवं शक्तिशाली आध्यात्मिक सत्य लोक के द्वार खोल सकेगी। आज विश्व में एक नई क्रान्ति हो रही है। भविष्यत् चेतना जन्म ले रही है। पुनः चिन्तन होना आरम्भ हो गया है। संकीर्णताएँ टूट रही हैं। दीवारें ढहाई जा रही हैं। विश्व नागरिकता की कल्पना को मूर्त रूप देने का प्रयास आरम्भ हो गया है। यह कृति समसामयिकता के आधुनिकता बोध की गाथा नहीं है, आतंकवाद एवं हिंसा से उपजी टूटन, पीड़ा, सन्त्रास, उद्वेग की प्रश्नाकुलता एवं भयाकुलता से ग्रसित नहीं है अपितु यह भविष्यत् चेतना का महाकाव्य है–अधिक विराट् आत्मशक्ति तथा अधिक व्यापक भूशक्ति की प्रेरणामयी भावात्मक भूमिका तक पहुँचने का जयपथ है और मैं इस दृष्टि से इस कृति का साहित्य जगत् में स्वागत करता हूँ तथा कृतिकार आचार्यश्री विद्यासागर के प्रति नमन एवं आभार व्यक्त करता हूँ।

['णाणसायर' (शोध त्रैमासिकी), नई दिल्ली, अंक ३, मार्च, १९९०]

□



पृष्ठ १९९
जब कभी धरा पर---
---- धरती के वैभव को
ले गया है!

मानवता का महाकाव्य : 'मूकमाटी'

प्रो.(डॉ.) आनन्द प्रकाश दीक्षित

लोक-परलोक में उड़ान भरते-भरते कभी-कभी कवि की दृष्टि से उसके समीप की वस्तु भी वंचित रह जाती है। तत्त्वदर्शी उसे देख लेता है। मिट्टी ऐसा ही अपदार्थ-सा पदार्थ है, जिस पर बहुत कवियों की आँख नहीं ठहर पाई। तत्त्वदर्शी कवि कबीर ने उसे अवश्य देख लिया था। उनकी विद्रोही वाणी में मिट्टी की तड़प और कुम्हार के प्रति उसकी चेतावनी मुखर हो उठी :

"माटी कहे कुम्हार से, तू क्या रूँदे मोय।
इक दिन ऐसा होयगा, मैं रूँदूँगी तोय॥"

उसी मूक मिट्टी की व्यथा सदियों बाद जैन तत्त्वदर्शी सन्त आचार्य श्री विद्यासागर की प्रतिभा का स्पर्श पा प्रबन्धकाव्य 'मूकमाटी' के रूप में मुखरित हुई है।

तत्त्वज्ञानी प्रवचनकर्ता के रूप में आचार्यश्री को यह सुयोग सुलभ रहा है कि मुख्य लक्ष्य की सिद्धि पर आँख रखते हुए वे सहायक कथा वृत्तों के योग से सहृदय श्रोता की चेतना और उसके कौतूहल को जगाए रख सकें और शब्द कौशल के सहारे न केवल उसे चमत्कृत करें बल्कि कथ्य को मर्मग्राही और सम्प्रेष्य भी बनाए रखें। सर्गों की रूढ़ पद्धति को त्याग कर चार बड़े खण्डों में निबद्ध इस रूपक कथाकाव्य में उसी सहज कौशल के सहारे मिट्टी की संकर दशा से उसका शोधन, उसका कुम्हार द्वारा रौंदा जाना और कच्चा कलश तैयार करना, फिर कलश का पकना, सेठ के हाथों बिकना, सेठ के द्वारा आहार-दान दिया जाना, मंगल कलश की ऐसी प्रतिष्ठा देखकर स्वर्ण कलश के द्वारा आतंकवादी योजना का रचा जाना और अन्ततः सेठ के क्षमाभाव के कारण स्वर्ण कलश की आतंकवादी प्रवृत्तियों में परिवर्तन आने तक की कथा वर्णित है।

स्पष्ट ही, कथा का पूर्ण गठन और विकास कल्पनाश्रित है, और कथा का कलेवर अत्यन्त संक्षिप्त। अन्यान्य जीवन प्रसंगों के अन्तर्गुम्फन और अनुभव बल से कथा एक ऐसे रागात्मक धरातल को प्राप्त कर लेती है कि जीवन के जटिल रहस्य बौद्धिक श्रम या व्यायाम कराए बिना ही आपसे-आप खुलने और पाठक के मन में पैठने लगते हैं।

आश्चर्य नहीं, यदि पाठक को कहीं-कहीं सीधे गद्य की प्रतीति ही अधिक हो और काव्यत्व हाथ से छूटने-सा लगे, पर अपनी गहन अर्थवत्ता और उदात्तता के कारण पाठक पर से उसकी पकड़ नहीं छूटती। मुक्त छन्द और सामाजिक दायित्वबोध की सजगता के कारण नवीन काव्यरुचि को बनाए रखने में रचनाकार को कठिनाई नहीं हुई है। धर्म विशेष की विचारभूमि पर अंकुरित होकर भी तात्त्विक दृष्टि से एकता के कारण रचना संकुचित सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए सार्वजनीन और साधारणीकृत भूमि को प्राप्त करती है।

आचार्यश्री के सन्त रूप ने उनके कवि रूप को आतंकित नहीं किया है, बल्कि दोनों के सुखद संयोग ने एक ऐसी रचना सृष्टि को जन्म दिया है जिसमें जीवन और साहित्य की तात्त्विक पहचान के प्रसंग अपना सहयोग देते हैं और प्रसंगगत रूप से प्राकृतिक दृश्य विधान उसमें सौन्दर्य का रंग भरता है। शब्द कौतुक और अलंकरण की पद्धति उसमें चमत्कार का समावेश करती है। कई बार शब्दों को मनमानी रूप भंगिमा भी प्रदान कर दी गई है, किन्तु भाव एवं रस के प्रभाव में वे बहुत रोक-टोक पैदा नहीं करते। वैचारिकता भिन्न रसों के योग में स्निग्धता प्रदान करती है।

लोक में पैर टिकाकर भी मुक्ति की मंगल यात्रा पर पदचारण करता हुआ यह काव्य अध्यात्म की ऊँचाइयाँ पार करता है। नियमबद्ध कृति के रूप में यह महाकाव्य की रूढ़ता का पालन न भी करता हो, पर उदात्त संकल्प की दृष्टि से यह मानवता का महाकाव्य कहा जाय तो अनुचित भी नहीं है।

साधक की साधना का प्रबन्धकाव्य : 'मूकमाटी'

डॉ. सुधाकर गोकाकर

जब प्रबन्धकाव्यों के सृजन की परिपाटी लुप्त हो रही है, तब 'मूकमाटी' जैसे विभिन्न स्तरों पर विशिष्ट प्रबन्धकाव्य की सृष्टि अपने आप में एक उपलब्धि है। आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के इस प्रबन्धकाव्य की आलोचना, मात्र महाकाव्य अथवा प्रबन्धकाव्य के परम्परापोषित सिद्धान्तों के आधार पर करना अपर्याप्त सिद्ध होगा। 'मूकमाटी' के काव्य प्रकार पर 'ही' लिखना भी पूर्ण लेखन कर्म नहीं कहा जा सकता और न जैन दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर इसका मूल्यांकन परिपूर्ण सिद्ध हो सकता है। आचार्यजी की दार्शनिक पहुँच, चिन्तन की सूक्ष्मता, कल्पनाशक्ति की विराटता, कवित्वशक्ति की विपुलता, भावशक्ति की महानता, अभिव्यक्ति की आशयगर्भता तथा दृष्टि की वर्तमानकालिकता के एक साथ दर्शन इस कृति में होते हैं। यह सही है कि विषय की प्रस्तुति का मुख्य आधार जैन दर्शन है तथा इसका लक्ष्य शुभ संस्कारों की स्थापना करना है, लेकिन इसमें उतनी ही विराट् प्रतिभा भी विद्यमान है। कृति के 'मानस-तरंग' में आचार्यजी ने रचना के उद्देश्य पर विस्तार से लिखते हुए कहा है : "जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है" (पृ. XXIV)। स्पष्ट है कि प्रस्तुत कृति एक शुभ उद्देश्य का प्रतिफल है।

सन्त-कवि ने जिस उद्देश्य की स्थापना के लिए जिस चरित्र का निर्माण किया है, वह अपने आप में नवीन तथा अपूर्व है। माटी की महत्ता का यह महागान नवीन दिशाबोध और भावबोध का अनोखा संसार प्रस्तुत करता है। यह माटी उस श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है, जो स्वयं ही नहीं अपितु समाज को भी भोग से हटाकर योग की ओर मोड़ देने में सक्षम है।

इस प्रबन्धकाव्य में पात्रों की सृष्टि नए और व्यापक भावबोध को स्पष्ट करती है। कुम्भकार, सेठ, सेठ का परिवार, सन्त आदि कुछ मानव चरित्र अवश्य हैं, लेकिन माटी, लेखनी, स्वर्ण कलशी, स्फटिक झारी, केसर आदि भी पात्र बनकर आते हैं। फिर नदी, सूर्य, बादल, चन्द्रमा, मछली, सर्प आदि पात्र बनकर अवतरित हों, तो आश्चर्य ही क्या! यहाँ तक कि भाववाचक आतंकवाद भी एक पात्र बन गया है। आचार्यजी ने इन पात्रों को सजीवता प्रदान कर उन्हें वर्ग विशेष और चरित्र विशेष का प्रतिनिधित्व प्रदान किया है।

संकोचशीला, लाजवती, सुखविहीना, दुःखयुक्ता, त्यक्ता, तिरस्कृता, क्रमहीना, पराक्रमरीता माटी को केन्द्र में रखकर काव्य की सृष्टि आचार्यजी के सूक्ष्म चिन्तन और संवेदनशीलता की उपलब्धि है। 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश' आदि विश्वप्रसिद्ध रचनाओं में पशु-पक्षियों का पात्र-संसार आता है, लेकिन 'मूकमाटी' में जड़-चेतन संसार ही पात्र बन जाता है। इस संसार का नेतृत्व करती है माटी। माटी को केन्द्रीय पात्र रखने की कल्पना ही मौलिक है। वास्तविकता तो यह है कि प्रस्तुत कृति माटी और धरती की महानता का मंगलगान है। क्षुद्र-सी, त्यक्ता माटी को इतनी ऊँचाई पर पहुँचाना महाकाव्यात्मक प्रतिभा का ही परिणाम है। रचना के विकासक्रम में माटी ऊर्ध्वता के एक-एक सोपान को पार करती हुई मोक्षमार्ग तक पहुँचती है—यह स्वयमेव एक प्रेरक उदाहरण है।

'मूकमाटी' की माटी अपनी मंज़िल पर पहुँचती है और साथ-साथ वह सेठ, सेठ के परिवार, हाथी, सर्प आदि को भी इस मार्ग का अनुसरण करने को उद्‌बोधित करती है। अपने चरित्र से वह स्वयं एक आदर्श की स्थापना अवश्य करती है तथा अपने साथ समाज को भी अपने रास्ते पर ले चलती है। भोग को सर्वस्व माननेवाले सब यहाँ मात खाते हैं, हार जाते हैं और त्याग का अनुसरण करनेवाले अपार पीड़ाओं को सहने के बावजूद अपने गंतव्य पर पहुँचते हैं। माटी, सेठ आदि की प्राप्ति आचार्यजी की 'युग को श्रमणसंस्कृति की सीख' देने का प्रतिफल है।

शिल्पी के आँगन के मोतियों का मोह रखनेवाले राजा को शिल्पी के सामने हार खानी पड़ती है। स्फटिक

झारी, तश्तरी तथा अन्य भोगलक्ष्यी पात्र भी कुम्भ और सेठ के व्यवहार और उपदेश से योग की ओर अग्रसर होते हैं। योग मार्ग ही सफलता का मार्ग बन जाता है।

भोग को छोड़कर योग को अपनाना इतना सहज, सरल मार्ग नहीं है। इस रास्ते पर रुकावटें हैं, संकट हैं। जैन साहित्य में प्रायः यह देखा जाता है कि योग के रास्ते पर बढ़नेवाले के सामने हमेशा संकटों की राशि खड़ी रहती है। योगी जीव की जितनी शक्ति होती है, वह उतना ऊपर उठता है। आगे की यात्रा के लिए जब वह पुनः जन्म लेता है, तब उसके साथ भोगी जीव भी, खलत्व के कार्य के हेतु, जन्म लेता है। 'मूकमाटी' में कुम्भ के साथ आतंकवाद का योग इस तथ्य को स्पष्ट करता है।

लेकिन ऊर्ध्वकामी साधक के लिए इन सब पीड़ाओं को सहना अनिवार्य ही तो होता है। फिर भी उसे बिना क्रुद्ध हुए, मनसा भी हिंसा भाव बिना रखे आगे बढ़ना होता है। इसमें तनिक भी गलती हुई कि फिसलन, निश्चित और यातनाओं का दौर बढ़ा। कुम्भ ने गलती से स्वर्ण कलशी पर व्यंग्य भाव व्यक्त किया और उसे अनगिनत आपदाओं से जूझना पड़ा।

साधना का रास्ता कठिन तो होता ही है, फल तो प्रदीर्घ परिश्रम के पश्चात् ही प्राप्त होता है। साधना के मार्ग की कठिनता को आचार्यजी ने सही ढंग से बताया है। साधना के एक-एक सोपान को पार करते समय हर कदम पर स्खलन का खतरा रहता है। साधक को फिर भी न डरना चाहिए और न डिगना। प्राप्त समय का सदुपयोग करके साधक को अपने मार्ग पर जल्दी-से-जल्दी आगे बढ़ना चाहिए, अनुकूल अवसर का इंतज़ार करने के बहाने रुकना नहीं चाहिए और न प्रतिकूलता का द्वेष के साथ मुकाबला करना चाहिए। इस रास्ते पर प्रगति के अभाव में कभी-कभी साधक का उत्साह ठण्डा भी पड़ता है, लेकिन उसे समझ लेना चाहिए कि यह स्थिति भी उसके लिए अभिशाप नहीं। मीठे ही नहीं, खट्टे दही से भी नवनीत तो मिलता ही है। और संघर्षमय जीवन का अन्त हमेशा हर्षमय होता ही है। धरती के इस उपदेश में साधना मार्ग की जटिलता का सटीक विवरण प्राप्त होता है।

ऊर्ध्वकामी को तो हमेशा यातनाएँ भुगतनी पड़ती ही हैं। यातनाओं, पीड़ाओं से भागनेवाला कभी ऊपर चढ़ नहीं सकता। आचार्यजी ने मछली की ऊर्ध्वगमन कामना के वर्णन द्वारा यह स्पष्ट किया है कि शाश्वत सत्य की खोजी मछली जान पर खेलकर ही प्राप्तव्य को पा सकती है, उसका परिवार मोह में फँसकर पानी में ही बना रहता है। लेकिन ऊर्ध्वकामी एक मछली अपने आवास को और सगे सम्बन्धियों को छोड़ कर अपने साधना पथ पर चल पड़ती है। उसमें ईश्वर प्राणों की आस पैदा हुई, वह कृतसंकल्प बन गई। अमृत गृह की प्राप्ति से उसका भय नष्ट हो गया, उसने जीवन में विजय पाई। संसाररूप अन्धकूप में रहनेवाली मछलीरूप जीवात्मा की ऊर्ध्वयात्रा को मुनिजी ने जिस संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है, वह एक वीतरागी के योग्य ही है। क्या यह आचार्यश्री के जीवन का रूपक तो नहीं है ?

इस प्रकार प्रबन्धकाव्य के आरम्भ से अन्त तक मुनिजी ने साधना पथ के विभिन्न आयामों को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। इससे कृति में आद्योपान्त एक गम्भीरता और दार्शनिकता स्पष्ट होती है। दार्शनिकता की अभिव्यक्ति जैन दर्शन के आधार पर हुई है। इस दर्शन के मूल सूत्रों का तो इसमें पूरा निर्वाह हुआ ही है, साथ-साथ जैन आचार का भी यथास्थान चित्रण किया गया है।

श्रमण परम्परा शारीरिक क्लेश पर तथा अपने तपोबल पर निःश्रेयस् को पाने का मार्ग बताती है। यह मानती है कि किसी भी बात के अनेक पक्ष होते हैं (अनेकान्तवाद), अतः भिन्नमतसहिष्णुता एवं विचार तथा आचार के स्तर पर भी अहिंसा का पालन अनिवार्य है। धरती के उपदेश में यह सार ग्रथित है तथा माटी के व्यवहार से इसे प्रत्यक्ष में प्रस्तुत भी किया है। माटी का कथन है : *"पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है"(पृ. ३३)*। यह इस कृति का सूत्र है, जो स्पष्ट करता है कि संघर्षमय जीवन का अन्त हमेशा हर्षमय होता है।

इस मूल संवेदना ने आगे चलकर प्रसंगों का केवल निर्माण तथा वर्णन ही नहीं किया, बल्कि स्थान-स्थान पर उसकी दार्शनिक व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की हैं। अतः पूरी रचना में दर्शन, अध्यात्म तथा नीति वचनों की अपूर्व बुनावट

प्राप्त होती है।

साहित्य के सम्बन्ध में मान्यताएँ : इस प्रकार स्पष्ट है कि मुनिवरजी प्रस्तुत कृति को सोद्देश्य प्रस्तुत करते हैं। आरम्भ में आपने अपना प्रयोजन साफ शब्दों में बताया भी है। अतः स्पष्ट है कि आप साहित्य को हित का साधन मानते हैं।

शूल को प्रबोधित करता हुआ शिल्पी कहता है कि स्थिर मन से अपने आप में भावित होना ही मोक्ष प्राप्ति है। साहित्य का यही कर्तव्य है। साहित्य के सम्बन्ध में शिल्पी बताता है :

"हित से जो युक्त–समन्वित होता है/वह सहित माना है
और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव--सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!
...शान्ति का श्वास लेता/सार्थक जीवन ही
स्रष्टा है शाश्वत साहित्य का/...यह साहित्य जीवन्त है ना!" (पृ. १११)

आचार्यजी सुख एवं शान्ति का निर्माण करने वाले साहित्य को साहित्य मानते हैं; हितविहीन साहित्य को आप सुगन्ध विरहित फूल, सारशून्य शब्द-समूह मात्र मानते हैं। शाश्वत साहित्य की निर्मिति शान्त एवं स्थिर चित्त प्रतिभाशाली से ही सम्भव है, कारण वह जीवन्त प्रक्रिया है।

आप कला को जीवन में सुख-शान्ति-सम्पन्नता लाने का साधन मानते हैं :

" 'क' यानी आत्मा–सुख है/'ला' यानी लाना–देता है/कोई भी कला हो
कला मात्र से जीवन में/सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है।" (पृ. ३९६)

अतः सुख-शान्ति-सम्पन्नता को लाने के लिए विचारों के ऐक्य, संयतता तथा सोद्देश्यता को आप आवश्यक मानते हैं। इस प्रयोजन की परिपूर्ति के लिए रचा गया साहित्य निश्चय ही सदुपयोगी होगा। कवि अपने आपको श्रेष्ठ, महान्, अधिकारी मानकर अपनी बात को पाठकों तक नहीं पहुँचा सकता है। संयतता, नम्रता एवं सहकार की भावना से ही तत्त्वबोध तक पहुँचा जा सकता है। आचार्यजी का यह कथन इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है :

"सम्प्रेषण वह स्वाद है/जिससे, कि/सद्भावों की पौध/पुष्ट-सम्पुष्ट होती है
..जिससे कि/तत्त्वों का बोध/तुष्ट-सन्तुष्ट होता है/प्रकाश पाता है।" (पृ.२३)

उपदेश मात्र रचना का निर्माण नहीं कर सकता। आचार्यजी का यह निवेदन सही है :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
...बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो
शोध कहलाता है।/बोध में आकुलता पलती है
शोध में निराकुलता फलती है।" (पृ. १०६-१०७)

जीवन तथा संसार को सही परिप्रेक्ष्य में समझकर मानव मंगल की कामना से लिखा गया साहित्य स्वयं ही ऊँचा नहीं उठता, वह रचनाकार को भी ऊँचा उठाता है। वास्तविकता यह है कि सृजन निसर्ग से घुल-मिल जाना है।

कहना न होगा कि आचार्यजी ने जिस व्यापक पट को चुना है, वह निसर्ग का पट है। निसर्ग के सही आशय

को पकड़ने में रचना के साथ स्वयं को अपवर्ग का वासी सिद्ध करने में आप सफल हुए हैं। आपने ठीक ही लिखा है :

"निसर्ग से ही/सृज्-धातु की भाँति/भिन्न-भिन्न उपसर्ग पा
तुमने स्वयं को/जो/निसर्ग किया,/सो
सृजनशील जीवन का/वर्गातीत अपवर्ग हुआ।" (पृ. ४८३)

साहित्य एवं कला सम्बन्धी अपनी धारणाओं के अनुरूप माटी के अपवर्ग बनने की कहानी उसके निसर्ग बनने की कहानी है, जो मानव के समक्ष जीवन का आदर्श प्रस्तुत करती है। इस कहानी का पट भी विराट् निसर्ग है और अन्त भी निसर्ग बन जाने में निहित है। एक व्यापक, मंगलकारी उद्देश्य की परिपूर्ति के लिए निसर्ग से बढ़कर और कौन-सा कैनवास उपयोगी था ?

मानव मंगल की कामना, श्रमण वृत्ति के विकास के हेतु रचित इस कृति की रचना इसलिए सम्भव हो सकी है कि आप मूलतः आचार्य हैं तथा अपने आध्यात्मिक कर्तव्य के पालन के लिए आपने अपनी प्रतिभा को लगाया है। अतः आप साहित्य को मानव मंगल का उपकरण ही मान सकते हैं। जीवन लक्ष्य के अनुरूप आप साहित्य के क्षेत्र में भी शाश्वतता के अन्वेषक ही हैं। यही कारण है कि इस कृति के प्रत्येक चरण पर आपके चिन्तन की, एक अन्वेषक की तथा सत्य तक पहुँचे हुए विभूति के चिह्न विद्यमान हैं। चिन्तन से आपूरित प्रतिभा का यहाँ अपूर्व संगम प्राप्त होता है तथा यह निर्णय कर पाना कठिन हो जाता है कि चिन्तक प्रतिभा पर हावी हो गया है या प्रतिभा ने चिन्तक को चिन्तन के नए आयाम प्रदान किए हैं। परिणाम यह है कि प्रति पग तत्त्वबोध का एक नया पहलू सामने आता है, यहाँ तक कि कहीं-कहीं उसकी अति भी प्रतीत होती है। लेकिन जिस विभूति ने पूरे विचार, विश्वास और आस्था के साथ जिस मार्ग को चुना है और जीवन भर उसी में चित्तवृत्तियाँ लगाई हैं, उस आत्मा के लिए यह स्वाभाविक भी है। अपनी आध्यात्मिक दुनिया का यात्री भौतिक जीवन की ऊपरी सतह पर कैसे सन्तोष पा सकता है ?

वर्तमान के प्रति जागरूकता : आचार्यजी की मानसिकता एक तत्त्व चिन्तक की अवश्य है फिर भी आपकी प्रतिभा का चमत्कार है कि आप वर्तमान से आँख मूँदे हुए नहीं हैं। यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि आपका तत्त्वबोध जीवन-वास्तव के अनुभव के कारण अधिक गहरा और तीव्र बन पड़ा है। प्रत्यक्ष से मुँह मोड़कर अन्तर के निविड़ में अगर आप रम जाते तो ऐसी रचना सम्भव नहीं थी।

आपने 'मानस-तरंग' में रचना के प्रयोग की चर्चा के प्रसंग में वर्तमान कुरीतियों को निर्मूल बनाने का उद्देश्य भी स्पष्ट किया है। यह सही है कि इस कृति की कहानी माटी के अपवर्ग तक पहुँचने की कहानी है। प्रकृति के विराट् फलक पर माटी की ऊर्ध्वयात्रा सम्पन्न होती है। इसके पात्र भी प्रायः मानव वर्ग के नहीं हैं तथा दर्शन की प्रधानता रचना को भौतिक जीवन से दूर उच्च स्तर पर ले जाती है। तथापि यह स्वतः सिद्ध बात है कि आचार्यजी वर्तमान के प्रति भी पूर्णतः जागरूक हैं।

पाश्चात्य जीवन के संसर्ग एवं भौतिक साधनों की अतिशयता ने भारतीय मानस को बदल ही नहीं दिया है, विकृत भी बना दिया है। बाहरी तड़क-भड़क और चमक-दमक को जीवन मान कर विलासमय जीवन जीने के पीछे आदमी आत्मकेन्द्रित, स्वार्थलिप्त और दोगला बन गया है। भारतीय संस्कृति की दुहाई देता हुआ वह असल में पाश्चात्य जीवन की बाह्य विकृतियों को अंगीकार कर चुका है। इससे सांस्कृतिक, शैक्षिक, राजनीतिक, धार्मिक क्षेत्र में विसंगतियाँ पैदा हो गई हैं। आचार्यजी ने स्थान-स्थान पर इन विसंगतियों पर व्यंग्य किया है और संयत, मर्यादामय, त्यागमय तथा शान्त जीवन की अनिवार्यता स्पष्ट की है। आश्चर्य तो तब होता है जब आचार्यजी जीवन के उच्चादर्शों एवं अध्यात्म की गुह्यताओं की व्याख्याओं को प्रमुखता देते हुए भी वर्तमान जीवन की विसंगतियों को नज़रअंदाज़ नहीं करते।

इस सन्दर्भ में आपने पश्चिमी सभ्यता पर व्यंग्य किया है और भारतीय संस्कृति से पश्चिमी सभ्यता की तुलना

करते हुए लिखा है कि पाश्चात्य आक्रमणकारी प्रवृत्ति के हैं, जब कि भारतीय सुख और शान्ति को चाहने वाले हैं। भारत की संस्कृति सन्त संस्कृति है। भले ही हमारे देवता शंकर-शूलधारी हों, लेकिन वे पूजा के फूलों तक को नहीं छूते हैं।

पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण भारत में स्वार्थलिप्सा बढ़ गई है। दोनों संस्कृतियों के बीच का अन्तर स्पष्ट करते हुए आप लिखते हैं :

" 'ही' पश्चिमी-सभ्यता है
'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।" (पृ. १७३)

'ही' एकान्त सूचक है, 'भी' समूह सूचक। अतः आचार्यजी 'भी' संस्कृतिवाली भारतीय संस्कृति को लोकतन्त्र की रीढ़ मानते हैं। लेकिन भारत के वर्तमान गणतन्त्र में समूह कल्याण का नामोनिशान नहीं रहा है। आचार्यजी के शब्दों में आज का 'गणतन्त्र' 'धनतन्त्र' बन गया है। परिणामतः अपराधी को पीटने के काम आनेवाली लकड़ी आज निरपराध को ही पीटती रहती है।

यहाँ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाला मन्त्र आज विकृत अर्थों में अपनाया जा रहा है। वर्तमान युग की स्वार्थमयता एवं अर्थकेन्द्रितता को आपने सटीक शब्दों में अभिव्यक्त किया है। लेखनी कहती है :

"भारत में दर्शन स्वारथ का होता है।/हाँ-हाँ!
इतना अवश्य परिवर्तन हुआ है/कि/"वसुधैव कुटुम्बकम्"
इसका आधुनिकीकरण हुआ है/वसु यानी धन-द्रव्य
धा यानी धारण करना/आज/धन ही कुटुम्ब बन गया है
धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

पूँजीवादी प्रवृत्ति के कारण ही देश में अशान्ति फैल गई है :

"अब तो···/अस्त्रों, शस्त्रों, वस्त्रों/और कृपाणों पर भी
'दया-धर्म का मूल है'/लिखा मिलता है।/किन्तु,
...कहाँ तक कहें अब!/धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है
शास्त्र शस्त्र बन जाता है/अवसर पाकर।" (पृ. ७३)

कितना सटीक व्यंग्य है यह! वर्तमान काल में धन का बोलबाला है, पद का बोलबाला है। पद के पीछे भागते हुए दूसरों को पद दलित करना, विपदाओं का निर्माण करना मनुष्य का धर्म बन गया है। धन ने मनुष्य को कितना स्वार्थी बना दिया है :

"चेतन वाले वतन की ओर/कम ध्यान दे पाते हैं
और/चेतन वाले तन की ओर/कब ध्यान दे पाते हैं?" (पृ. १२३)

खटमल और मच्छर के संवाद में धनवानों पर करारा व्यंग्य किया है। ज्वरग्रस्त सेठ के रक्त के स्वाद को लेकर धनिकों पर व्यंग्य करता हुआ मच्छर कहता है :

"अरे, धनिकों का धर्म दमदार होता है,/उनकी कृपा कृपणता पर होती है,
उनके मिलन से कुछ मिलता नहीं,/काकतालीय-न्याय से
कुछ मिल भी जाय/वह मिलन लवण-मिश्रित होता है

पल में प्यास दुगुनी हो उठती है।" (पृ. ३८५)

इधर समाज एक-दूसरे के खून का प्यासा बन गया है। आदमी उस श्वान की तरह बन गया है जो प्रयोजनहीन भौंकता है और जीने के लिए पूँछ हिलाता है। वह स्वतन्त्रता का मूल्य नहीं समझता है। इससे सर्वत्र मलिनता आ गई है। स्वार्थान्धता और व्यर्थ की आपाधापी के कारण शान्ति समाप्तप्राय है, अशान्ति का विकास हो गया है। अशान्ति से आतंकवाद को बढ़ावा मिलता है। आतंकवाद समाप्त होगा तभी पर-मत के प्रति सहिष्णु और अनेक विकल्पों की सम्भावनाओं को स्वीकार करने वाले 'अनेकान्तवाद' का श्रीगणेश होगा :

"आतंकवाद का अन्त/और/अनन्तवाद का श्रीगणेश।" (पृ. ४७८)

प्रशस्त आचार-विचार वाले जीवन को समाजवाद सिद्ध करते हुए आप लिखते हैं :

"समाज का अर्थ होता है समूह/और/समूह यानी
सम—समीचीन ऊह—विचार है/जो सदाचार की नींव है।
कुल मिला कर अर्थ यह हुआ कि/प्रचार-प्रसार से दूर
प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है।
समाजवाद-समाजवाद चिल्लाने मात्र से/समाजवादी नहीं बनोगे।" (पृ. ४६१)

लेकिन तर्क पर चलनेवाले विज्ञान के बढ़ते चरणों तथा स्वार्थलिप्सा के कारण समाज अपना रास्ता भूल गया है। करुणा भाव के अभाव में हृदय के स्थान पर 'सर' का प्रयोग प्रमुख बन गया है, इसलिए 'असर' समाप्त हो गया है। अतः कोष के श्रमणों को छोड़ कर होश के श्रमणों की संख्या बढ़ने, आतंकवाद के समाप्त होने, स्वार्थ लिप्सा के नष्ट होने और करुणा पर आधारित प्रशस्त आचार-विचार का विकास होने से ही समाज में सुख-शान्ति-सम्पन्नता आ सकती है। आतंकवाद से वही लड़ सकता है जो निःस्वार्थ बन समाज के लिए सर पर कफन बाँध लेने की करुणा हृदय में पालता है। कुम्भ इसका प्रतीक है।

आध्यात्मिक समाजवाद की दृष्टि एक ओर विकृति पर प्रहार करती है तो दूसरी ओर परिवर्तन की नई प्रेरणा प्रदान करती है। प्रस्तुत प्रबन्धकाव्य मात्र नीरस दर्शन की सीढ़ियों का पथदर्शन नहीं करता, वह वर्तमान से सीधे नाता जोड़ कर आमूलचूल अहिंसामय, परमतसहिष्णु, मानव-मंगल-कामी नए समाज की स्थापना का मार्ग भी प्रशस्त करता है। वह रास्ता है निर्वैर, शुभसंकल्प धारण करनेवाले ऊर्ध्वकामी कुम्भ का। विचार के स्तर पर आचरण की उच्चता इस कृति की अन्यतम विशेषता है। प्रस्तुत कृति का शिल्पपक्ष भी उतना ही श्रेष्ठ है जितना उसका चिन्तनपक्ष। सन्त कविजी की चिन्तनशीलता, कल्पनाप्रवणता, विस्तारक्षमता तथा महाकाव्यात्मक विराटता के एक साथ दर्शन इस कृति में होते हैं।

प्रकृति-चित्रण : इस कृति के विषय के समान इसका प्रकृति चित्रण भी विराटता, व्यापकता तथा विविधता धारे हुए है। इसमें दो प्रकार के चित्र प्राप्त होते हैं—काल एवं ऋतुएँ। काल वर्णन में प्रभात एवं अपराह्न के चित्र प्राप्त होते हैं तो ऋतु वर्णन में शिशिर, ग्रीष्म एवं वर्षा के। इन प्रधान चित्रों के अतिरिक्त विभिन्न अवसरों पर अलंकारों के रूप में प्रकृति विद्यमान है। वास्तविकता यह है कि प्रस्तुत कृति का 'अभिनय' प्रकृति के प्रांगण में ही सम्पन्न होता है। अतः इस कृति का 'स्थान' प्रकृति ही है।

प्रकृति चित्रण के प्रसंग में प्रथम चित्र हैं काल के। प्रभात बेला के रूप-वर्णन से ही कृति का आरम्भ होता है। यह पूरा वर्णन मूल से ही देखने योग्य है। सूर्योदय के साथ कुमुदिनी की पोखरियों के सिमटने पर आचार्यजी ने अपनी कोमल कल्पनाशीलता के सहारे एक रंगीन समाँ बाँधा है। प्रभाकर के स्पर्श से बचने के लिए कुमुदिनी मानो लज्जा के घूँघट में छिप जाती है, ताराएँ अपने पतिदेव चन्द्रमा के पीछे-पीछे दिगन्त में इसलिए छिपती हैं कि दिवाकर उन्हें कहीं

देख न ले। इस सन्धिकाल का छायावादी चित्रण सरलता में भी लाजवाब है :

"न निशाकर है, न निशा/न दिवाकर है, न दिवा
अभी दिशायें भी अन्धी हैं।" (पृ. ३)

कितना सटीक, सरल, किन्तु स्पष्ट चित्र है यह सन्धिकाल का ! अत: प्रात: के आगमन की गुप्तवार्ता की गन्ध किसी दूसरे की नाक तक नहीं जा सकती, सागर की ओर सरपट भागनेवाली सरिता इस वार्ता को सुन नहीं पाती। कितना सूक्ष्म, मोहक एवं सौन्दर्यलक्ष्यी चित्र है यह ! कृति के प्रारम्भ में ही आपकी अपूर्व कल्पनाविधायिनी, सूक्ष्म निरीक्षणकारी, सौन्दर्यविधायिनी कवित्वशक्ति का परिचय प्राप्त होता है। इस वर्णन में चित्रात्मकता, आलंकारिकता एवं आकर्षकता है। इस चित्र की पृष्ठभूमि पर धरती और मिट्टी का चिन्तनगर्भ संवाद चित्रण को अधिक पावन बना देता है।

धरती और माटी के बीच की तत्त्वचर्चा के पश्चात् माटी में नवजीवन छा जाता है जिससे उसे रात्रि भी प्रभात-सी लगती है, फिर प्रभात का क्या कहना ! :

"प्रभात आज का/काली रात्रि की पीठ पर
हलकी लाल स्याही से/कुछ लिखता-सा है, कि
यह अन्तिम रात है/और/यह आदिम प्रभात।" (पृ. १९)

माटी के जीवन में परिवर्तन लानेवाले प्रभात चित्रण में उल्लास, उत्साह और ऊर्ध्वगामिता के निश्चय का संकेत है। अत: उसके लिए आज का प्रभात आदिम प्रभात है। इस प्रभात में अब हरियाली खिल जाती है, पानी में हर्ष पैदा होता है और ओसकणों में उल्लास। माटी के जीवन में नया पर्व आने वाला है। मुनिजी ने यहाँ प्रभात का हर्षोल्लासमय मनोहर चित्र प्रस्तुत किया है। इस वर्णन में आपने प्रकृति को माटी के जीवन की उच्चस्तरीय भावना के साथ जोड़ दिया है :

"जोश के क्षणों में/प्रकाश-असंग।" (पृ. २१)

प्रारम्भिक प्रभात वर्णन में मंगलाचरण का-सा स्वर है, कल्पनाशक्ति और बाह्यवर्णन का आग्रह है, तो दूसरे वर्णन में माटी के जीवन की ऊर्ध्वता का संकेत है, मनोवैज्ञानिकता है तथा कथावस्तु को आगे ले चलने की सूचकता है। प्रारम्भिक चित्र विशाल, उल्लासमय कैनवास की सूचना प्रदान करता है, तो दूसरा दार्शनिकता को ग्रहण करता है।

इस कृति के अपराह्न का चित्र अपनी विशेषता लिए हुए है। आतप और उमस से भरी दोपहरी का उदास एवं यातनामय चित्र यहाँ नहीं है। शिल्पी द्वारा कुएँ में छोड़ी गई बालटी से ऊर्ध्वकामी मछली ऊपर आ रही है। उसे दोपहरी की धूप की आभा से सुख का अनुभव होता है। धूल सिन्दूर-सी लगती है। सूर्य की अंगना धूप उपाश्रम की सेवा में रत है। लेकिन इस समय रूपराशि ईश्वर-सी अस्पर्श्य है। वह पकड़ में नहीं आती। यह मानो उपाश्रम की छाया का परिणाम है। शिल्पी के आँगन को यहाँ स्वर्गीय बताया है। धूप भी ज्योत्स्ना-सम प्रतीत होती है मानो स्वभावदर्शन से क्रिया का अभाव उत्पन्न होता है।

काल वर्णन में सरलता, कल्पनाशीलता, सहजता, सोद्देश्यता एवं प्रसंगानुकूलता है। मनोहारिता और नवीनता इनकी विशेषताएँ हैं। इनमें सहज आलंकारिकता, दिव्यता और पावनता विद्यमान है। मुनिजी की चिन्तनशीलता इन्हें व्याप लेती है तो अनायास कवित्वशक्ति कुलाँचें मारती रहती है। प्रकृति पटी के इस विराट् अभिनय के ये भिन्न-भिन्न चित्र अपने रूप में भी उतने ही श्रेष्ठ बन पड़े हैं।

काल के अतिरिक्त ऋतु वर्णन इस कृति की एक और विशेषता है। इसमें प्रधानत: शीतकाल, ग्रीष्मकाल तथा

वर्षाकाल के चित्र हैं। काल वर्णन से ऋतु वर्णन अधिक लम्बे और विस्तृत हैं। इनमें भी वर्षा का वर्णन सर्वाधिक विस्तृत है। इस प्रबन्धकाव्य के तीसरे खण्ड का आरम्भ ही वर्षा वर्णन से होता है और वह पूरे खण्ड को ही व्याप लेता है।

शिल्पी ने कुंकुम-सम मृदु माटी में पानी डाला है। माटी फूल रही है। माटी और पानी एकमेक हो गए हैं। शिल्पी अपने काम में निमग्न है कि शीतकाल का आगमन होता है। सर्वत्र हिमपात हो रहा है। ठण्डी हवा बह रही है। शिशिर ऋतु के कारण लताओं का रंग पीला हो गया है। कँपकँपी फैल रही है। दाँत बज रहे हैं। दिन में भी सिकुड़न आ गई है। इस काल में दोपहरी में भी सूर्य नतमाथ है। सर्वत्र हिम का बोलबाला है। शनि की खनी, भय-मद-अघ की जनी रात दुगुनी हो गई है। यह काल सबको अखर रहा है। लेकिन इसका शिल्पी पर कोई असर नहीं है। वह तो प्रकृति से जुड़ा हुआ है। शीतल शीलवाला है। इस स्थिति का निष्कर्ष ध्यातव्य है :

"पुरुष प्रकृति से/यदि दूर होगा/निश्चित ही वह/विकृति का पूर होगा
पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।" (पृ. ९३)

शीतकाल के यथातथ्य, सरल, बाह्य चित्रण से जो निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है, वह आचार्यजी की चिन्तनशील प्रकृति का परिचायक है। यह तथ्य पूरी कृति में सर्वत्र व्याप्त है। शीतकाल के समाप्त होते-होते शिल्पी ने कुम्भ की निर्मिति की है तथा उसे सुखाया भी है, लेकिन कुम्भ में अभी जलत्व शेष है। वसन्त की समाप्ति के साथ ग्रीष्म काल प्रारम्भ हो गया है। सूर्य का प्रचण्ड आतप है, धूप चिलचिला रही है, पृथ्वी का पेट मानो फट गया है, हवाएँ आग उगल रही हैं। पानी के क्षेत्र ऐसे सूख गए हैं कि नदी दीन बन गई है, नालियाँ धरती में लीन हो गई हैं। अब सूर्य को अपनी यात्रा पूर्ण करने में अधिक समय लगता है, उसकी गति में शिथिलता आ गई है, अतः दिन बड़े हो गए हैं। ग्रीष्म के प्रभाव के कारण धरती की हरियाली समाप्त हो गई है, लतिकाओं में फल नहीं हैं, हवा रुक गई है, फूलों की मुस्कान समाप्त हो गई है, परिणामतः मधुपों का गुंजन भी समाप्त हो गया है। फिर राग-पराग कहाँ, महक-चहक कहाँ ?

मृतप्राय-सी प्रतीत होनवाली धरती में अब भी जीवन शेष है। यह सही है :

"बिना तप के जलत्व का, अज्ञान का,/विलय हो नहीं सकता/और
बिना तप के जलत्व का, वर्षा का,/उदय हो नहीं सकता।" (पृ. १७६)

ग्रीष्म की तपन के इस यातनामय काल में आकाश में बादल छा जाते हैं। धारासार वर्षा हो रही है। धरती ने पानी के मोह से वर्षा का स्वागत ही किया। वह लुट गई, वसुंधरा नहीं रही। धरती के वैभव को बहा ले जाकर ही सागर रत्नाकर बन गया है। मुनिजी ने प्रलय वर्षा का ऐसा श्रेष्ठ वर्णन किया है कि आप की प्रतिभा के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ता है। माटी के कुम्भ को समाप्त करने के लिए वर्षा की अनवरत झड़ी चल रही है। सूर्य अपने आतप द्वारा बादलों को रोकने का प्रयास कर रहा है, लेकिन वर्षा के मूल सागर से बराबर अधिक भयानक बादल तैयार होकर आक्रमण कर रहे हैं, चन्द्रमा सागर को उकसा रहा है। यहाँ बादलों और सूर्य के बीच बराबर संघर्ष जारी है, आक्रमण प्रत्याक्रमण हो रहे हैं। कभी एक पक्ष विजय की ओर बढ़ता है, तो कभी दूसरा। सूर्य बादलों को समझा रहा है, लेकिन बादल अपना आक्रमण और अधिक तेज, और अधिक भयानक कर रहे हैं। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि यह वर्षा रुकेगी नहीं, प्रलय होगी और सब कुछ उसमें स्वाहा हो जाएगा। सूर्य के प्रयासों के बावजूद बादलों का आक्रमण और प्रखर बन रहा है। तीन बादल तैयार होते हैं। उनमें से एक इतना काला है कि भ्रमरों ने भ्रमवश अपने साथियों का साथ छोड़ दिया है। दूसरा बादल विष उगलते हुए विषधर-सम नीला है, जो पके पीले धान के खेत को हरिताभ बना रहा है। तीसरा बादल कबूतर के रंग का है। इस अपूर्व, विनाशकारी युद्ध का आतंक इतना ज़बरदस्त है कि तीनों बादल चाण्डाल-सम लगते हैं। प्रचण्ड शीतवाले, घमण्डी, निष्ठुर, कलही बादलों से भयभीत होकर अमावस्या एक महीने में एक बार ही घर छोड़कर बाहर आती है। मोहभूत के वश होने से ये बादल किसी के वश में नहीं आते। सही है, दुराशयी, दुष्ट, दुराचारी,

प्रतिशोधी कभी सुकृत नहीं चाहते हैं। बादल सूर्य के प्रभामण्डल को भी निस्तेज कर रहे हैं। सूर्य के तेज के कारण सागर की सहायता के लिए राहु आता है और वह सूर्य को ग्रस देता है। अब धरती के रजकण बादलों का रास्ता रोकते हैं। इन्द्रधनुष का निर्माण होता है, इन्द्र प्रत्यक्ष न आकर धनुष के रूप में इस युद्ध में सम्मिलित होता है। इन्द्र के अमोघ अस्त्र के प्रहार से मेघ रोने लगते हैं, बिजली काँपने लगती है। सागर ओलों की वर्षा करता है। इस प्रकार कई दिनों के अनवरत महायुद्ध के बाद आकाश निरभ्र होता है। वर्षा रुक जाती है।

प्रस्तुत कृति का तीसरा खण्ड वर्षा वर्णन से व्याप्त है। यह वर्णन लगभग ७५ पृष्ठों का वर्णन है। प्रकृति के इस काल का इतना विस्तृत वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। वर्षा वर्णन को मुनिजी ने एक कथात्मक बाना पहना दिया है। सागर और सूर्य के बीच एक युद्ध छिड़ जाता है। इस युद्ध में कभी सागर का पक्ष बलवान् सिद्ध होता है, तो कभी सूर्य का पक्ष। इसमें एक दूसरे को ललकारा जाता है तो कभी समझा-बुझाने का प्रयास होता है। सागर दल में चन्द्रमा, राहु सम्मिलित होते हैं, सूर्य दल में इन्द्र आदि। देखते ही देखते महायुद्ध खड़ा होता है। इस प्रकार मुनि प्रतिभा इसे नाटकीयता प्रदान करती है।

नाटकीयता के साथ-साथ इस चित्र में आचार्यजी की कल्पनाशक्ति और कवित्वशक्ति अपनी पूरी सामर्थ्य एवं श्रेष्ठता के साथ विद्यमान है। सागर को रत्नाकर कहा जाता है। कविवर्य की कल्पना एक नया चित्र खड़ा करती है। धरती का धन वर्षा के कारण सागर तक पहुँचता है। धरती निर्धन बनती है और चोरी के धन से सागर रत्नाकर बन जाता है। चन्द्रमा का नाम सुधाकर है। मुनिजी ने कल्पना की है कि जलतत्त्व से घूस लेकर चन्द्रमा सुधाकर बन गया है। वह वसुधा की सुधा का पान करके सुधाकर बनता है। परिणामतः वह लज्जा से कलंकित है जिससे वह रात में घर से बाहर निकलता है, चोर की तरह, मुँह छिपाकर। मोतियों के निर्माण पर कविकल्पना अधिक विकसित होती है। वंशी जल को वंशमुक्ता बनाता है। इसलिए कृष्ण भी वंशी की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं। इसी प्रकार नाग, सूकर, मच्छ, गज आदि भी धरती के वंश होने से उनके नाम से मोती जाने जाते हैं। इस प्रकार पूरे चित्रण में कल्पना की ऐसी झड़ी सर्वत्र व्याप्त है। एक चित्र अपने परिपूर्ण रूप में आता है, कभी सांग रूपक बनकर कभी माल्योपमा बनकर। कुल मिलाकर इसमें अपूर्व बिम्ब निर्माण क्षमता विद्यमान है। विभिन्न अलंकारों का सहज, स्वाभाविक प्रयोग इस वर्णन की शोभा को बढ़ाता है।

मुनिजी ने बादल को नारी रूप देकर उसे बदली कहा है। अति वर्षा से व्याप्त धरती को बचाने के लिए सूर्य अपनी पत्नियों – बदलियों को उनके ममतामयी स्त्रीरूप की याद दिलाता है। इस प्रसंग में महिला, अबला, कुमारी, स्त्री, सुता, दुहिता, माता आदि नारी विषयक शब्दों और सम्बन्धों की व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। इसमें नारी प्रशस्ति के साथ शब्दों के मूल तक पहुँचने की मुनिजी की प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है।

युद्ध के विभिन्न अस्त्रों, दाँवपेंचों, घात-प्रतिघातों के चित्रों में भी प्रतिभा का निर्बाध विलास दिखाई देता है। प्रतिभा, प्रबन्धात्मकता, चित्रात्मकता, कल्पनाशीलता, नाटकीयता, बिम्बात्मकता, आलंकारिकता का ऐसा योग और चित्रण की सजीवता, स्पष्टता, प्रभावशीलता का रूप अन्यत्र दुर्लभ है। वास्तविकता यह है कि मात्र यह खण्ड भी आचार्यजी की महाकाव्यात्मक प्रतिभा का श्रेष्ठ परिचय देता है। यह खण्ड अपने आप में स्वतन्त्र और स्वयं पूर्ण हस्ती रखता है। मुनिजी ने इसे मूल विषय से जोड़ कर अपनी निर्मिति-कुशलता और प्रबन्धात्मक प्रतिभा का अपूर्व परिचय दिया है। अतः इसका अपना स्वतन्त्र स्थान भी सिद्ध होता है और कृति को महाकाव्यात्मकता प्रदान करने में सहायक सिद्ध होता है।

इस वर्णन से और दो-एक तथ्य स्पष्ट होते हैं। इससे मुनिजी का जलतत्त्व की अपेक्षा धरती के प्रति अधिक झुकाव सिद्ध होता है। अतः यहाँ जलतत्त्व से महासंघर्ष चित्रित है। वास्तविकता यह है कि यह चित्र धरती की श्रेष्ठता का महागान प्रस्तुत करता है। इस संघर्ष से एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि साधना के रास्ते में आनेवाले विघ्नों का डटकर मुकाबला करने से ही ऊर्ध्वगामित्व सम्भव है। इस संघर्ष के आतप में तपकर कुम्भ अपनी यात्रा सफल बना

सकता है। इसका रहस्य यह है कि प्रकृति से जुड़कर ही कुम्भ अपनी यात्रा में यश प्राप्त करता है। निष्कर्ष रूप ठीक ही लिखा गया है :

"निसर्ग से ही/सृज्-धातु की भाँति/भिन्न-भिन्न उपसर्ग पा
तुमने स्वयं को/जो/निसर्ग किया,/सो/सृजनशील जीवन का
वर्गातीत अपवर्ग हुआ।" (पृ. ४८३)

कहना न होगा कि 'मूकमाटी' प्रकृति के विराटता पर अंकित ऊर्ध्वगमन का एक अपूर्व काव्य है। इसमें केवल कुछ श्रमणों की अथवा शिल्पी या सेठ और उसके परिवार की ऊर्ध्वयात्रा की कहानी नहीं है, प्रकृति की अभिन्न अंग माटी की ऊर्ध्वयात्रा की सफलता की गाथा है।

संवाद : संवाद इस कृति के प्राण हैं। इन संवादों की कतिपय विशेषताएँ हैं। संवादों द्वारा आचार्यश्री का चिन्तन ही विशेषकर उभरकर आ गया है। इनके माध्यम से निर्जीव पात्रों को भी सजीव बना दिया गया है और परिणामतः नाटकीयता का भी निर्वाह हो सका है। यहाँ धरती, माटी, कंकर, रस्सी, लेखनी, काँटा, कुम्भ, बबूल की लकड़ी, श्रीफल, पत्र, कपोल, लट, स्वर्ण कलश, कलसी आदि निर्जीव पात्र तो सूर्य, बादल, सागर, अग्नि आदि सचेत-से पात्र भी बोलते हैं। विभिन्न रस, आतंकवाद, चेतना आदि भाववाचक पात्र भी बोलते हैं, फिर शिल्पी, राजा, सेवक, सेठ तो बोलेंगे ही। इस कृति में सजीव पात्र कम बोलते हैं और निर्जीव पात्र अधिक बोलते हैं। निर्जीव पात्र भी अपनी बातों द्वारा अपनी चारित्रिक विशेषताओं को भी स्पष्ट करते हैं। बबूल की लकड़ी का यह कथन देखिए :

"जन्म से ही हमारी प्रकृति कड़ी है/हम लकड़ी जो रहीं
लगभग धरती को जा छू रही हैं/हमारी पाप की पालड़ी भारी हो पड़ी है।"
(पृ.२७१)

लकड़ी का कड़ापन, धरती की ओर खिसकना आदि का कितना सरल और यथातथ्य चित्रण है। इसी प्रकार प्रायः हर पात्र अपनी विशेषता स्पष्ट करता है। संकोचशीला, लाजवती माटी का यह दास्यभाव युक्त आत्मनिवेदन देखिए :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
...अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !
सुख-मुक्ता हूँ/दुःख-युक्ता हूँ/तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ !" (पृ. ४)

एक ओर ऐसे विनययुक्त वचन हैं, तो दूसरी ओर अहंकार से युक्त भी। सेठ ज्वरग्रस्त अवस्था में बेहोश हो गया है। बिस्तर में खटमल है, सेठ के चारों ओर मच्छर चक्कर काट रहा है। लेकिन दोनों अपने चरित्र के अनुरूप सेठ के ज्वरयुक्त शरीर का खून नहीं पा सकते। अपने कुकर्म को कुकर्म न मानकर वे सेठ को ही दोषी ठहराते हैं। उनके संवाद में कथन का तिरछापन एक ओर उनके चरित्र को उजागर करता है तो दूसरी ओर एक व्यंग्य का निर्माण करता है। मच्छर खटमल से कह रहा है :

"अरे, धनिकों का धर्म दमदार होता है,/उनकी कृपा कृपणता पर होती है,
उनके मिलन से कुछ मिलता नहीं,/काकतालीय-न्याय से/कुछ मिल भी जाय
वह मिलन लवण-मिश्रित होता है/पल में प्यास दुगुनी हो उठती है।" (पृ. ३८५)

ज्वरयुक्त व्यक्ति का खून खट्टा होता है। इस तथ्य को पकड़कर धनिकों पर कितना सही व्यंग्य किया है!

इसमें वचनवक्रता, व्यंग्यात्मकता और वाग्-विदग्धता कूट-कूटकर भरी हुई है। ऐसे और भी कई उदाहरण प्राप्त होते हैं। पात्रों की चरित्रगत विशेषता के अनुरूप तथा प्रसंगों के अनुकूल संवाद सर्वत्र पाए जा सकते हैं। आतंकवाद का यह आवाहन देखिए :

"पकड़ो ! पकड़ो !/ठहरो ! ठहरो !/सुनते हो या नहीं/अरे बहरो !
मरो या/हमारा समर्थन करो,/अरे संसार को स्वप्न में/उतारने वालो!
किसी को भी तारनेवाले नहीं हो तुम !/अरे पाप के मापदण्डो!
सुनो ! सुनो !··· जरा सुनो !" (पृ. ४६७)

भागते हुए कुम्भ सेठ और सेठ परिवार को सम्बोधित करते हुए आतंकवाद का प्रस्तुत कथन उसकी भयानकता और उद्धतता को स्पष्ट करता है।

आत्मपरिचय, आत्मनिवेदन, सम्बोधन, व्यंग्य के साथ-साथ संवादों में उचित स्थानों पर चुलबुलापन और उससे उत्पन्न व्यंग्य भी है। मछली ऊर्ध्वयात्रा के लिए तत्पर है, लेकिन एक मोहयात्री मछली इस यात्रा के लिए कतई तैयार नहीं है। उसे यह समझाकर कि यहाँ पड़ी रहोगी तो बड़ी मछली छोटी मछली को निगल लेगी ही, उसका मार्मिक उत्तर है कि हम अपने के काम तो आएँगी, आदमी का क्या भरोसा ? वह कहती है :

"बाहरी लिबावट-सी/भीतरी लिबावट/माल मिल जाये,
फिर कहना ही क्या !/ यहाँ···तो···/'मुँह में राम/बगल में छुरी'
बगुलाई छलती है।" (पृ. ७२)

वह फिर कहती है :

"अस्त्रों, शस्त्रों, वस्त्रों/और कृपाणों पर भी
'दया -धर्म का मूल है'/लिखा मिलता है।" (पृ. ७३)

भाषा का प्रयोग, कथन में मछली-सी चंचलता और वक्रता तो है ही। इसके अतिरिक्त, कितने सहज, सरल शब्दों में मनुष्य की वास्तविकता का भण्डाफोड़ कर दिया है। इस कृति के संवादों में ऐसे स्थान कम नहीं हैं। संवादों में पात्रानुकूल विविधता इनकी प्रमुख विशेषता है।

लेकिन प्रस्तुत कृति के संवादों में प्रमुखता रही है तत्त्वचिन्तन और नीतिशिक्षा की। इस कृति में ऐसे सैकड़ों स्थल सर्वत्र प्राप्त होते हैं। धरती का माटी को उपदेश इसका बहुत अच्छा उदाहरण है। साधना पथ की कठिनता, साधना के मार्ग के अवरोधों के प्रति माटी को सचेत करते हुए अपने पथ से विचलित न होने की सीख इसका उदाहरण है। चिन्तनगर्भ संवाद पर्याप्त विस्तृत हैं, जो आवश्यक भी हैं। इनमें आख्यानात्मकता, व्याख्यामयता तथा मार्मिकता भी है। एक-एक तत्त्व को उद्घाटित करने के हेतु दिए गए सर्व ज्ञात दृष्टान्त तथा दार्शनिक चिन्तन का मनोहर मेल इनमें है। लेकिन ऐसे संवादों में निरा उपदेश नहीं, जो संवाद को नीरस बना दे। इनके माध्यम से सन्त कवि ने आवश्यक टिप्पणी द्वारा चिन्तन के एक-एक अंग और अंश को उद्घाटित किया है।

वर्णन : प्रकृति चित्रण में वर्णनात्मकता है ही, किन्तु प्राकृतिक चित्रों के अतिरिक्त आचार्यजी ने इस कृति में स्थान-स्थान पर विभिन्न भावों को वर्णनात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। अतः प्रस्तुत कृति के वर्णनों पर अलग से लिखना आवश्यक है।

बादल सूर्य को चुनौती देते हुए जब दूषित वचनों की वर्षा करते हैं तब मुनिजी इस स्थिति का वर्णन करते हुए लिखते हैं :

"कठोर कर्कश कर्ण-कटु/शब्दों की मार सुन

दशों-दिशायें बधिर हो गईं,/नभ-मण्डल निस्तेज हुआ
फैले बादल-दलों में डूब-सा गया
अवगाह-प्रदाता अवगाहित-सा हो गया !" (पृ. २३२)

घनघोर घटाओं से आच्छन्न आकाश मण्डल की भयंकरता, उदासीन स्थिति की निर्मिति आदि का पूरा चित्र यहाँ खड़ा होता है तथा एक भाव की सृष्टि भी होती है। ऐसे और भी कई चित्र इस कृति में प्राप्त होते हैं। प्रलय वर्षा प्रसंग में ऐसे कतिपय उदाहरण सर्वत्र विद्यमान हैं। सागर और सूर्य का एक महासमर जारी है। कभी सागर सूर्य पर छा जाता है तो कभी सूर्य की विजय स्पष्ट होने लगती है। सूर्य के प्रताप से बादल और सागर हार-से गए, तब सागर ने राहु का आवाहन किया। पानी और किरणों के मेल से आकाश में स्वर्गीय रंगीनी फैल गई जिससे राहु गुमराह हो गया। मुनिजी ने इस स्थिति का मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है :

"यान में भर-भर/झिल-मिल, झिल-मिल
अनगिन निधियाँ/ऐसी हँसती धवलिम हँसियाँ
मनहर हीरक मौलिक-मणियाँ/मुक्ता-मूँगा माणिक-छवियाँ
पुखराजों की पीलिम पटियाँ/राजाओं में राग उभरता
नीलम के नग रजतिम छड़ियाँ।" (पृ. २३५-२३६)

इस वर्णन में रंग ज्ञान, शब्द प्रयोग आदि का परिचय तो प्राप्त होता ही है, मुनिजी की सूक्ष्म निरीक्षणशक्ति, प्रकृति से तादात्म्य का भी श्रेष्ठ चित्र मिलता है। यह चित्र ऐसा मनोरम मायाजाल खड़ा करता है कि राहु रास्ता भूल जाए तो कोई आश्चर्य नहीं। अपनी स्थिति से राहु उकता जाता है और फिर क्रोध से सूर्य को ग्रसता है :

"यह सन्ध्याकाल है या/अकाल में काल का आगमन।
तिलक से विरहित/ललना-ललाट-तल-सम
गगनांगन का आँगन/अभिराम कहाँ रहा यह ?" (पृ. २३८)

आकाश का रंगहीन रूप ललना के तिलक विरहित ललाट-सा बन गया है। गगनांगना का अभिराम प्रिय ओझल-सा हो गया है। अकाल में सन्ध्याकाल का आगमन हुआ है। कितना सटीक चित्र है यह ! लेकिन इस समर का अन्त निश्चित है। प्रलयकालीन वर्षा के पश्चात् आकाश के निरभ्र हो जाने पर जो उत्साहजन्य स्थिति पैदा होती है, उसका चित्र देखिए :

"गगन की गलियों में,/नयी उमंग, नये रंग
अंग-अंग में नयी तरंग/नयी ऊषा तो नयी ऊष्मा
नये उत्सव तो नयी भूषा।" (पृ. २६३)

यह सरल किन्तु उत्साहपूर्ण चित्र देखते ही बनता है। हर्ष, उल्लास, खुशी, पीड़ा, करुणा, क्रोध, भयंकरता, उदासीनता, निराशा, आशा, ईषत् शृंगार आदि के अनेकानेक चित्र पूरी कृति में भरे पड़े हैं। आचार्यजी की वर्णन-क्षमता, दृश्यों की विविधता और विराटता, अलंकरण पद्धति, आशय सघनता, चिन्तनशीलता के अनेकानेक दृश्य आपकी अपार वर्णनशक्ति के परिचय देते हैं।

शब्द से उसके मर्म तक : 'मूकमाटी' के रचयिता की महाकाव्यात्मक प्रतिभा के अनुरूप वर्णनशक्ति, संवादपद्धति के साथ-साथ उनकी चिन्तनशीलता भी उनकी भाषा-शैली के विभिन्न पहलुओं को उद्घाटित करती है। आचार्यजी की

चिन्तनशीलता और भाषाधिकार के दर्शन तब होते हैं जब आप एक-एक शब्द के मूल तक पहुँचते हैं और उसके रहस्य को खोलते हैं। इस सन्दर्भ में आपने कुम्भकार, गदहा, संसार, स्वप्न आदि शब्दों की जो व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं, वे मौलिक हैं। 'कुं' और 'भ' के मूलार्थ के आधार पर आप कुम्भकार को भाग्यविधाता बताते हैं तो रोगहारक को गदहा। 'संसार' शब्द की व्याख्या विशेष द्रष्टव्य है :

"सृ धातु सति के अर्थ में आती है,/सं यानी समीचीन
सार यानी सरकना''/जो सम्यक् सरकता है
वह संसार कहलाता है।" (पृ. १६१)

'स्वप्न' शब्द का अर्थोद्घाटन करते हुए आप कहते हैं कि निजभाव का रक्षण न कर सकनेवाला स्वप्नदर्शी होता है। जो अपनी रक्षा खुद नहीं कर सकता वह औरों को क्या सहयोग देगा ? अतः सही है :

"अतीत से जुड़ा/मीत से मुड़ा
बहु उलझनों में उलझा मन ही/स्वप्न माना जाता है।" (पृ. २९५)

प्रलय वर्षा प्रसंग में सूर्य द्वारा प्रस्तुत नारी, महिला, अबला, सुता आदि स्त्रीसूचक शब्दों की व्याख्याएँ भी मार्मिक, नवीन तथा आचार्यजी की श्रेष्ठ चिन्तनशीलता और पवित्र आदर्शवादिता की परिचायक हैं। नारी की महानता, कोमलता, पवित्रता आदि गुणों का उद्घाटन शब्दार्थों द्वारा किया गया है। यह एक विशिष्ट शैली आपकी साहित्य को देन है।

शब्दों एवं परिकल्पनाओं की नई व्याख्याओं के समान आपकी शैली में एक अन्य विशेषता दृष्टिगोचर होती है, और वह है विलोम शैली। शब्द विशेष के अक्षरों को विलोम द्वारा नई अर्थवत्ता प्रदान करने की आपकी विशेषता अनन्य कही जा सकती है। यह मात्र चमत्कृति निर्माण के आग्रह का परिणाम नहीं है। इसमें आपकी चिन्तनशीलता और मौलिकता के दर्शन होते हैं। 'दया', 'हीरा', 'राख', 'लाभ' आदि के विलोम 'याद', 'राही', 'खरा', 'भला' इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं। 'धरती' की विलोम द्वारा प्रस्तुत व्याख्या द्रष्टव्य है :

"ध'''र'''ती ती'''र'''ध'''/यानी,/जो तीर को धारण करती है
या शरणागत को/तीर पर धरती है/वही धरती कहलाती है।" (पृ. ४५२)

आगे चलकर आप 'धरती' शब्द में किंचित् परिवर्तन कर विलोम द्वारा 'तीरथ' बताते हैं और कहते हैं कि शरणागत को जो तारता है, वही सही तीर्थस्थान है। 'धरणी' शब्द को नीर धारण करनेवाली कहकर उसकी एक नई व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। धरती और धरणी की ये व्याख्याएँ धरती माता के नए आशयों को ही स्पष्ट नहीं करती, बल्कि एक नई उदार, पवित्र दृष्टि का भी निर्माण करती हैं। प्रकृति के हर कण-कण के प्रति चिन्तन मुनिजी की आत्मीयता, एकरूपता तथा मौलिकता को स्पष्ट करता है। प्रकृति के प्रति यह काव्यात्म चिन्तन इस कृति को महान् बना देता है।

विलोम के प्रयोग के समान शब्दों के, अक्षरों के विशिष्ट विग्रह द्वारा भी आप नई भूमिका प्रस्तुत करते हैं। आदमी शब्द को आ-दमी, कृपाण को कृपा-न, नमन को नम-न अथवा न-मन, कलसी को कल-सी आदि इसी शैली के कुछ उदाहरण हैं। इसी तरह का यह प्रयोग द्रष्टव्य है :

"कम बलवाले ही/कम्बलवाले होते हैं।" (पृ. ९२)

यमक, श्लेष आदि शब्दालंकारों की सृष्टि के आग्रह से ऐसे प्रयोग नहीं प्राप्त होते हैं। यह आपकी शैली की मौलिक विशेषता है। इस व्युत्पत्तिमूलक शैली के पीछे आपकी व्यापक, विराट्, शुभंकर तथा हितकारी चिन्तनशीलता

एवं दार्शनिकता काम करती है। इस पद्धति के प्रयोग के परिणामस्वरूप शैली में चमत्कृति भी अनायास आ जाती है।

शैली के कुछ आयाम : इस विवेचन से यह तात्पर्य नहीं कि आपने व्युत्पत्तिमूलक, वर्णनात्मक तथा संवादशैलियों का ही प्रयोग किया है। इस कृति में प्रसंगानुरूप विभिन्न शैलियों का ऐसा प्रयोग किया है कि सबके उदाहरण यहाँ न दिए जा सकते हैं और न ही सम्भव हैं। तथापि विविधता दर्शानेवाले कुछ चुने हुए उदाहरण यहाँ देने का मोह संवरण नहीं होता है। प्रलयसदृश वर्षा हो रही है। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची है। धरती की स्थिति को देखकर सूर्य प्रखर किरणों द्वारा बादलों को दूर भगाने का उपक्रम कर रहा है। अपने रास्ते में इस व्याघात को देख कर बादल क्षुब्ध हो उठते हैं। अपनी करतूत से बादलों में घमण्ड, उद्धतता और उद्दण्डता पैदा हो गई है। वे सूर्य को ललकारते हुए सम्बोधित करते हैं :

"अरे खर प्रभाकर, सुन !/भले ही गगनमणि कहलाता है तू,
सौर-मण्डल देवता-ग्रह—/ग्रह-गणों में अग्र
तुझमें व्यग्रता की सीमा दिखती है/अरे उग्रशिरोमणि !
तेरा विग्रह'''यानी—/देह-धारण करना वृथा है।
कारण,/कहाँ है तेरे पास विश्राम-गृह ?/तभी'''तो
दिन भर दीन-हीन-सा/दर-दर भटकता रहता है !" (पृ. २३१)

इस उद्धत, उद्दण्ड ललकार में तर्क का श्रेष्ठ संकेत भी है। छोटे मुँह बड़ी बात ! असभ्य की बातों में ग्राम्यता और घमण्ड का वास रहता ही है। आचार्यजी की शैली नीच और दुर्जन की भावना को शब्दों में पकड़ पाने में सफल हो गई है।

उद्दण्डता के साथ-साथ दयनीय स्थिति का चित्र प्रस्तुत करते हुए पक्षियों का कैसा तर्कसंगत वर्णन किया है ! राहु ने सूर्य को ग्रस लिया है और पक्षीगण विचलित हो उठे हैं :

"मासूम ममता की मूर्ति/स्वैर-विहारी स्वतन्त्र-संज्ञी
संगीत-जीवी संयम-तन्वी/सर्व-संगों से मुक्त'''निःसंग
अंग ही संगीती-संगी जिस का/संघ-समाज-सेवी
वात्सल्य-पूर वक्षस्तल !" (पृ. २३९)

पंछियों के लिए अपनाए गए विशेषण पंछियों का पूर्ण परिचय कराने में पूर्णतः सक्षम हैं। पंछियों के समस्त गुण-विशेषों से युक्त यह चित्र आचार्यजी की महा प्रतिभा की सहज अभिव्यक्ति है। राहु के कारनामों से त्रस्त पक्षीदल अपने-अपने नीड़ों में पहुँच चुपचाप, निस्तब्ध बैठ गया है। उनकी निस्तब्धता का चित्र देखिए :

"ये तो कल के ही कर्ण हैं/परन्तु, खेद है कल का रव
कहाँ है वह कलरव ?/कलकण्ठ का कण्ठ भी कुण्ठित हुआ
वन - उपवन - नन्दन में/केवल भर-भर आया है
करुण-क्रन्दन आक्रन्दन !" (पृ. २४०)

कल के कलरवकारियों के इस चित्र में प्रभाव तो है ही, साथ-साथ यमक, अनुप्रास आदि अलंकारों का भी सहज प्रयोग मोहक भी है।

इन कुछ उदाहरणों के अतिरिक्त और भी ऐसे कई स्थल हैं, जहाँ आचार्यजी की भाषा-शैली की विशेषताओं के नमूने प्राप्त होते हैं। विभिन्न रस परस्पर वार्तालाप द्वारा आत्मपरिचय और कहीं-कहीं परनिन्दा करते हैं। आचार्यजी की शैलीगत कुशलता का यहाँ सुन्दर प्रयोग प्राप्त होता है। रस की विशेषता के अनुसार भाषा एवं शैली में भिन्नता

आचार्यजी के पाण्डित्य और भाषाधिकार को सिद्ध करती है। भयानक रस का यह चित्र देखिए :

"भीतर से बाहर, बाहर से भीतर/एक साथ, सात-सात हाथ के
सात-सात हाथी आ-जा सकते/इतना बड़ा गुफा-सम
महासत्ता का महाभयानक/मुख खुला है/जिसकी दाढ़-जबाड़ में
सिंदूरी आँखोंवाला भय/बार-बार घूर रहा है बाहर,
जिसके मुख से अघ-निकली लोहित रसना/लटक रही है
और/जिससे टपक रही है लार/लाल-लाल लहू की बूँदें-सी।" (पृ. १३६)

भयानक के समान आतंकवाद का चित्र भी द्रष्टव्य है :

"मस्तक के बाल/सघन, कुटिल और कृष्ण हैं
जो स्कन्धों तक आ लटक रहे हैं/कराल-काले व्याल से लगते हैं।" (पृ. ४२७)

चित्रात्मक शैली में वर्ण्य-विषय का यथातथ्य, परिपूर्ण एवं प्रभावशाली चित्र प्रस्तुत करने में मुनिजी की काव्यकुशलता पूर्णतः निखर उठती है। सहज, सरल और स्पष्ट, अभिधामूलक शब्दों द्वारा बाह्य चित्र के साथ-साथ चारित्रिक विशेषता और परम्परापुष्ट सांस्कृतिक धरोहर का सम्मिश्रण आपके काव्य कौशल की अन्यतम विशेषताएँ हैं।

चित्रशैली के साथ-साथ तुलनात्मक शैली का प्रयोग भी विशेष आकर्षक है। 'अध्यात्म' और 'दर्शन', 'ही' और 'भी' की तुलनाएँ इस सन्दर्भ में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। तुलनीय विषय की तह तक पहुँचने, उचित स्थान पर चिन्तन अथवा व्यंग्य का प्रयोग करने तथा वर्ण्य विषय के पहलुओं की भिन्नता को पूर्णरूपेण प्रस्तुत करने की क्षमता अपूर्व है।

'दीपक' और 'मशाल' की तुलना इस सन्दर्भ में विशेष द्रष्टव्य है। साधारणतः, एक पक्ष की श्रेष्ठता तथा दूसरे की कनिष्ठता दिखाने के लिए तुलना की जाती है। अध्यात्म और दर्शन की तुलना में श्रेष्ठता-कनिष्ठता वाला अंश कम है, लेकिन 'ही' और 'भी' तथा 'दीपक' और 'मशाल' की तुलना में यह अंश अधिक है। तुलना में अहंकार तुष्टि, आत्मश्लाघा तथा श्रेष्ठता को स्थान होता है। अतः इससे स्पर्धा बढ़ती है। आचार्यजी ने एक स्थान पर तुलना के बारे में सही लिखा है :

"वह तुलना की क्रिया ही/प्रकारान्तर से स्पर्धा है;
स्पर्धा प्रकाश में लाती है/कहीं···सुदूर···जा···भीतर बैठी
अहंकार की सूक्ष्म सत्ता को।" (पृ. ३३९)

इस प्रकार आचार्यजी के लेखन में चिन्तन को विशेष स्थान प्राप्त है। आपके कवि की कुशलता ने चिन्तन को समूर्तता, नाटकीयता, भावात्मकता प्रदान की है और इनसे विभिन्न शैलियों की सृष्टि हो सकी है।

'मूकमाटी' में तत्सम शब्दावली की प्रधानता है। कहीं-कहीं तद्भव शब्दों का प्रयोग भी किया है। 'आदमी', 'परन्तु', 'गलत', 'लत' आदि हिन्दी-संस्कृतेतर शब्दों के प्रयोग भी प्राप्त होते हैं किन्तु इनकी संख्या सीमित है तथा वे बहुप्रचलित भी हैं। कृति में आवश्यक स्थानों पर मुहावरों का भी उचित प्रयोग किया गया है। सूक्तिमयता इसकी सहजप्राप्त विशेषता है, यथा :

- *"गगन का प्यार कभी/धरा से हो नहीं सकता*
  मदन का प्यार कभी/जरा से हो नहीं सकता।" (पृ. ३५३)
- *"मन की छाँव में ही/मान पनपता है।" (पृ. ९७)*

□ *"सहधर्मी सजाति में ही/वैर वैमनस्क भाव/परस्पर देखे जाते हैं।" (पृ. ७१)*

ऐसे शताधिक उदाहरण प्रस्तुत कृति में सहज ही प्राप्त हो सकते हैं।

भाषा के सम्बन्ध में कुछ अन्य विशेषताएँ भी द्रष्टव्य हैं। संस्कृत वचनों का व्यावहारिक दृष्टातों द्वारा अनुवाद प्रस्तुत करना आपकी अन्यतम विशेषता है। 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' का यह अनुवाद देखिए :

"आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन—उत्पाद है
जाना यानी मरण—व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर—ध्रौव्य है
और/है यानी चिर—सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

इसी प्रकार जैन दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली के अर्थों को भी आपने सहज, सरल भाषा में अनूदित किया है।

माटी की मृदुता का क्या ही सुन्दर चित्र अंकित किया है आपने ! :

"आम्र-मंजुल-मंजरी/कोमलतम कोंपलों की मसृणता
भूल चुकी अपनी अस्मिता यहाँ पर ।" (पृ. १२७)

ग्रीष्म ऋतु से सृष्टि में जो परिवर्तन आ गया है, उसका भी श्रेष्ठ चित्र आपने खींचा है :

"वह राग कहाँ, पराग कहाँ/चेतना की वह जाग कहाँ ?
वह महक नहीं, वह चहक नहीं,/वह ग्राह्य नहीं, वह गहक नहीं,
वह 'वि' कहाँ, वह कवि कहाँ,/मंजु-किरणधर वह रवि कहाँ ?" (पृ. १७९)

ग्रीष्म के कारण हरियाली समाप्त हो गई है, फलों की मधुरिमा समाप्त हो गई है, मन्द, सुगन्धयुक्त पवन का कहीं पता नहीं है, फल-पत्ते हिलते नहीं हैं, भ्रमरों का गुंजन रुक गया है, शीतलता विनष्ट हो गई है, अब केवल तपन शेष है। ग्रीष्म के इस वर्णन में आपने 'कहाँ' की झड़ी लगाई है। ऐसे श्रेष्ठ वर्णन स्थलों की इस कृति में कमी नहीं है। इनमें भी भाषा की सरलता, अभिधात्मकता, सरसता सर्वत्र झलकती है। शब्द का बोधात्मक स्तर तक अवगाहन कर उसे रंग, रूप, ध्वनि के साथ प्रस्तुत करने में आपको कमाल हासिल है।

महाकाव्यात्मकता :- 'मूकमाटी' चार खण्डों में विभाजित कृति है जिसमें माटी की ऊर्ध्वयात्रा ग्रथित है। प्रत्येक खण्ड शीर्षकयुक्त है। पहले खण्ड का नाम है 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ', जिसमें नदी के किनारे की माटी कुम्भकार के आँगन में पहुँचती है। कुम्भकार उसे मृदु बनाकर कुम्भ तैयार करने योग्य बनाता है। दूसरे खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में माटी से कुम्भ की निर्मिति और कुम्भ को अवाँ में रखने की कहानी है। 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' शीर्षक तीसरे खण्ड में जलवर्षा का चित्र है तो चौथे खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में कुम्भ के तैयार होने, सेठ द्वारा उसे खरीदने और सेठ परिवार को ऊर्ध्वयात्रा की ओर ले चलने की कहानी है। माटी की यात्रा सफल होती है। इस प्रकार माटी से कुम्भ के निर्माण और उसके गन्तव्य तक पहुँचने की कहानी है। अर्थात् यह यात्रा इतनी सरल यात्रा नहीं थी। अनगिनत संकटों से जूझने और अपनी तपस्या पर अटल रहने के पश्चात् ही उसे प्राप्तव्य प्राप्त होता है।

माटी की ऊर्ध्वयात्रा अनेक मायनों में अपूर्व है। माटी जैसी क्षुद्र वस्तु के जीवन की सफलता मानव जाति के लिए प्रेरक तो है ही, साथ-साथ उसके लिए वह एक मानक भी है। जैन दर्शन के निर्वाण पथ की यह काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। मुनिजी ने अपनी प्रतिभा से इस घटना को वृहत्, महाकाव्यात्मक रूप प्रदान किया है। साधना पथ के इस अटल पथिक की यात्रा को पूर्णतः प्रकृति के विराट् पटल पर अंकित करके कवि ने इस कृति को भव्य एवं पावन रूप प्रदान किया है। कथावस्तु की विरलता को विभिन्न घटना चक्रों के निर्माण से व्यापक बनाया है, अनेकानेक निसर्ग चित्रों, रस

विवरण आदि के द्वारा अपनी निर्बाध कल्पना शक्ति का मनोरम परिचय कराया है, पात्रों के चरित्र-निर्माण में आपको कमाल हासिल है। कुल मिलाकर यह एक महाकाव्यात्मक कृति है।

रस वर्णन : महाकाव्यात्मकता का एक और लक्षण - रसचित्रण - इस कृति में प्राप्त होता है। इसमें सभी रसों का वर्णन प्राप्त होता है। यद्यपि इस कृति में सभी रसों का विस्तार से चित्रण प्राप्त होता है, तथापि वह प्रसंग से अनुप्राणित नहीं है। माटी को शिल्पी द्वारा रौंदने के प्रसंग को लेकर सब रसों का चित्रण किया गया है। इस चित्रण की विशेषता यह है कि प्रत्येक रस अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करने की कोशिश में है जब कि दूसरा उसकी कमियों को उजागर करता है। रसों के आपसी संवादों द्वारा रस विशेष के स्थायीभाव, विभाव आदि का परिचय दिया गया है। इस प्रकार इनमें नाटकीयता अनुस्यूत है।

जैसा कि संकेत दिया जा चुका है यहाँ रस वर्णन का निमित्त है शिल्पी का पैरों द्वारा माटी को रौंदना। रौंदन क्रिया में वह इतना निमग्न हो जाता है कि धीरे-धीरे जोश उभरता है। जोश के साथ वीर रस का आगमन होता है। वीर रस जब अपनी डींग हाँकने लगता है तब शिल्पी उसे समझाता है कि उद्रेक, अधिकार भावना के निर्माता वीर रस के स्थान का सुपरिणाम तो नहीं निकलता। इसमें लालसा होती है। अतः मान का हनन इसकी परिणति है। तब हास्य का आगमन होता है। शिल्पी हास्य को हँसोड़, उतावला, अगम्भीर, अविवेकी बताता है तथा वेद बनने के लिए गम्भीर बनने की सीख देता है। हास्य अपमानित होकर रौद्र का आवाहन करता है, फिर भयानक, विस्मय आदि का आगमन होता है। इनके पश्चात् शृंगार आ टपकता है। शिल्पी मानता है कि शृंगार शरीर की प्रीति से बँधा हुआ है। अतः वह श्रेष्ठ नहीं हो सकता, अंगातीत होना ही सच्ची प्रीति है। शृंगार की स्थिति को देखकर मंच पर बीभत्स आ पहुँचता है। बीभत्स के घिनौने रूप के दर्शन से करुण रस से रहा नहीं जाता।

यहाँ, प्रत्येक रस अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने पर तुला हुआ है। करुण रस सब रसों को समझाता है कि हमें अपनी न हाँकते हुए, दूसरों का मूल्य करना चाहिए, सदाशयता से रहना चाहिए। करुणा श्रेष्ठ है, अन्य रसों की तुलना में श्रेष्ठ है, लेकिन वह नहर की भाँति, उछलते उपयोग की परिणति है। उजली-सी उपयोग की नदी की भाँति रहनेवाला शान्त ही सर्वश्रेष्ठ है। आचार्यजी ने करुण और शान्त की विस्तार से तुलना करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किया है :

"शान्त-रस जीवन का गान है/मधुरिम क्षीर-धर्मा है।" (पृ. १५९)

इस प्रकार शान्त रस की सर्वश्रेष्ठता स्वतःसिद्ध है।

रस वर्णन में संवाद शैली का प्रयोग, प्रत्येक रस की श्रेष्ठता सिद्ध करने की स्पर्धा, रस विशेष के आगमन पर उसका रूप वर्णन, विवाद के बीच उत्पन्न अनुभाव, संचारी भाव आदि का एक अद्भुत समाँ बँध जाता है। रौद्र रस के अनुभावों का चित्रण इस सन्दर्भ में विशेष द्रष्टव्य है।

इस वर्णन की विशेषता यह भी है कि रस वर्णन प्रसंग के अनुसार स्थान-स्थान पर नहीं आता, वह एक ही स्थान पर (पृ. १३०-१६०) आ गया है। इस प्रकार रस वर्णन की परम्परा को निभाया भी गया है और तोड़ भी दिया गया है। कारण, प्रस्तुत कृति में शान्त रस की प्रधानता है, शृंगार की नहीं।

इस वर्णन द्वारा कवि का उद्देश्य भी स्पष्ट होता है। आचार्यत्व एवं विषय की यह परिणति है। यह तो स्पष्ट है कि इस वर्णन में आचार्यजी की कवित्वशक्ति और ज्ञानशक्ति का अद्भुत संयोग हुआ है।

महाकाव्य के लक्षणों की चर्चा से यह तात्पर्य नहीं है कि प्रस्तुत कृति की समीक्षा महाकाव्य के परम्परापुष्ट लक्षणों के आधार पर करनी है। यह सही है कि उस दृष्टि से भी इसकी महाकाव्यात्मकता में बाधा नहीं आती है, फिर भी इस कृति की समीक्षा महाकाव्य के लक्षणों मात्र के आधार पर करना अपर्याप्त है।

वर्तमान भारतीय जीवन अनेक कारणों से विखण्डित बन गया है। परम्परालब्ध जीवन मूल्यों की अपर्याप्तता और कुछ माने में अप्रासंगिकता स्पष्ट हो रही है। दूसरी ओर पाश्चात्य जीवन के बाह्य आकर्षण हावी हो रहे हैं। विज्ञान

की अनिवार्यता ने कई एक प्रश्नचिह्न खड़े कर दिए हैं। जीवन की नई संकल्पनाओं का आग्रह आदमी को अपनी ओर खींच रहा है। प्राचीनता, परम्परा, नवीनता, विद्रोह के बीच फँसा आदमी बीच में ही लटक रहा है। व्यक्तिनिष्ठा, व्यक्ति स्वतन्त्रता, आत्मलिप्तता एक ओर बलवती बन गई है तो दूसरी ओर समष्टि की, वास्तव की व्यापकता, विराटता एवं सामूहिकता उसे पराजित कर रही है। ऐसी स्थिति में जीव अकेलेपन, क्षुद्रता और मूल्यहीनता से ग्रस्त है। वह मिट्टी से भी गया-बीता महसूस कर रहा है।

सम्भवतः इसी कारण आचार्यजी ने माटी को ही इस काव्य का प्रधान पात्र बनाया है। आँधी, पानी, आतंक एवं विनाश को जीतनेवाली माटी आज के खण्डित, क्षुद्र जीव की प्रतीक है। जीव अगर प्रतिज्ञाबद्ध होता है, स्वार्थ से ऊपर उठता है, आग में तपता है, आँधी-पानी से जूझता है, आतंक एवं विनाश से लोहा लेता है तो उसकी क्षुद्रता समाप्त हो सकती है। वह स्वयं भी ऊपर उठ सकता है तथा अपने साथ अपने समाज को भी ऊपर उठा सकता है। आचार्यजी ने 'मूकमाटी' में इस तथ्य को स्पष्ट किया है। माटी जनसामान्य का प्रतिनिधित्व करती है। जनसाधारण भी माटी के समान मूक ही होता है। उसका ऊपर उठना, ऊर्ध्वगामी बनना निश्चित है। वर्तमान जटिलताओं से जूझ कर, विनाशक आतंक से लड़ कर, फिर भी शुभ संकल्प को अपना कर, उसके लिए अथक, अडिग प्रयास कर, औरों के प्रति ईर्ष्या-द्वेष न रख कर तथा अपने साथ समाज को लेकर वह गन्तव्य तक पहुँच सकता है।

आचार्यजी ने यद्यपि मूकमाटी के ऊर्ध्वगामित्व को अध्यात्म के स्तर पर प्रस्तुत किया है, जो उनके चिन्तन के अनुरूप ही है, तथापि मेरी सम्मति में प्रस्तुत कृति जनसाधारण के अप्रतिहत ऊपर उठने की भी कहानी है। वर्तमान किंकर्तव्यविमूढ़ समाज के सामने आपने नया आदर्श प्रस्तुत किया है। भारतीय चिन्तन परम्परा और मानसिकता के अनुरूप आपने इसे आध्यात्मिक स्तर पर प्रस्तुत किया है। यह दृष्टिकोण और उद्देश्य महान् लक्ष्य को सूचित करता है, जो महाकाव्य का विषय अवश्य बन सकता है। आचार्यजी ने इस सूत्र को विभिन्न जटिलताओं के माध्यम से, महाकाव्यात्मक ढंग से चित्रित किया है।

अपनी अपूर्व प्रतिभा के बल पर, संवेदनशीलता और शुभ भावना के बल पर इस कृति को महाकाव्यात्मक रूप देने में आप पूरी तरह से सफल हुए हैं। 'मूकमाटी' वर्तमान युग के जनसाधारण की विजय की महाकाव्यात्मक अभिव्यक्ति है।

□



पृष्ठ १४५
किसी वय में बँध कर -
--- मुक्त नंगी रीत है

'मूकमाटी' : मानवता का अमर संगीत

प्रोफे. (डॉ.) सत्यरंजन बन्दोपाध्याय (बैनर्जी)

आचार्य मुनि श्री विद्यासागर द्वारा रचित 'मूकमाटी' एक आधुनिक महाकाव्य है। आचार्य श्री विद्यासागर एक दिगम्बर जैन मुनि हैं। 'मूकमाटी' लगभग ५०० पृष्ठों का एक हिन्दी महाकाव्य है। आचार्य विद्यासागर अनेक ग्रन्थों के रचयिता हैं किन्तु 'मूकमाटी' ने उनकी समस्त रचनाओं में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। मुनिश्री हिन्दी साहित्य में विशेष पारदर्शी एवं एक विज्ञ समालोचक भी हैं।

यह महाकाव्य चार खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' है यानी मृत्तिका को परिशुद्ध करके उसमें से मंगल भावना का उदय। यह भाव उन्होंने एक उपमा की सहायता से परिस्फुरित किया है। कुम्भकार जैसे पात्र निर्माण के कार्य में मृत्तिका को परिशुद्ध करके मंगल घट की स्थापना करता है, तदनुरूप मनुष्य का कर्तव्य है कि कंकड़ के जैसे पाप, ताप, शोक, जरा, व्याधि इत्यादि दूर करके धरती की प्रकृति को परिशुद्ध करे। इस का ही नाम है 'वर्ण-लाभ।' द्वितीय खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' नामक इस खण्ड का मूल वक्तव्य है--'साहित्य बोध का मूल्यांकन एवं संगीत की अन्तरंग प्रकृति का प्रतिपादन।' तृतीय खण्ड है 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन।' इस खण्ड का मूल प्रतिपाद्य विषय है--'पुण्य अर्जन करना।' मन-वचन एवं काय से मनुष्य का जीवन निर्मल होना वांछनीय है। निर्मल जीवन के माध्यम से शुभ कार्य का उदय होता है, मनुष्य में कल्याण करने की प्रवृत्ति आती है एवं उस कल्याण से पुण्य अर्जित होता है। पुण्य अर्जन के लिए काम, क्रोध, लोभ, माया इत्यादि पाप उत्पन्न करने वाली मनोवृत्तियों का दमन करना ही मनुष्य मात्र की कामना होनी आवश्यक है। चतुर्थ खण्ड है 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।' यह खण्ड दीर्घ है एवं नाना कथाओं के द्वारा समृद्ध है। मनुष्य के आचार, व्यवहार एवं शुद्ध आहारादि के माध्यम से किस प्रकार पृथिवी पर शान्ति स्थापना की जाए, इसमें इसकी एक परिकल्पना है।

इस काव्य की भाषा अपूर्व, छन्द अनवद्य, शब्दों का चयन एवं वयन झंकारमय है। विषय वस्तु के भावों की अतिशयता में काव्य महान् हो गया है। जहाँ भावों का गाम्भीर्य है, वहीं भाषा भी गुरु गम्भीर है। स्पष्ट, ऋजु वाक्य स्वछन्द हैं तो शब्दों में भी झंकार है। भाषा की मधुरता असाधारण है तो प्रसाद गुण अतुलनीय है। दुरूह दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या में भी भाषा की सरल गति अव्याहत रही है। यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि इस महाकाव्य के माध्यम से मुनि श्री विद्यासागर के मानसिक गुणों के समृद्धतर स्तर का अनुसन्धान मिलता है।

'मूकमाटी' एक दार्शनिक महाकाव्य है जो मानवात्मा का अमर संगीत है। यह साधना एवं आत्मशुद्धि का एक सजीव प्रतिरूप है। तपस्या के द्वारा अर्जित जीवन दर्शन की एक अभूतपूर्व अनुभूति है। वेदना-व्यथा, शोक-ताप, जरा-मृत्युग्रस्त माटी की सहनशीलता मनुष्य लोक के लिए शिक्षा का विषय है। कवि की भाषा में जीवन के सुख-दुःख, उत्थान-पतन, राग-द्वेष, क्रोध आदि त्याग के रूप में प्रकाशित हुआ है :

"जनम-मरण-जरा-जीर्णता/जिन्हें छू नहीं सकते अब
...सप्त-भयों से मुक्त, अभय निधान वे,/निद्रा-तन्द्रा जिन्हें घेरती नहीं,
...शोक से शून्य, सदा अशोक हैं।" (पृ. ३२६-३२७)

मुनि श्री विद्यासागर ने काव्य के माध्यम से जीवन दर्शन प्रकाशित किया है। आध्यात्मिक साधना के वे मार्गदर्शक हैं। इस महाकाव्य में सन्त कवि श्री विद्यासागर मुनि की असाधारण प्रज्ञा एवं काव्य प्रतिभा प्रकाशित हुई है। इस महाकाव्य के अध्ययन से लगता है जैसे कि सन्त कवि मनुष्य लोक की समस्याओं के समाधान लिए एक कल्पवृक्ष हैं। इस महाकाव्य के प्रचार-प्रसार की उत्तरोत्तर वृद्धि हो, ऐसी कामना करता हूँ।

(बंगला भाषा से अनूदित--अनुवादक ब्रह्मचारी शान्ति कुमार जैन)

□

'मूकमाटी' - अनुशीलन

प्रो. (डॉ.) रतनचन्द्र जैन

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" अर्थात् जो उक्ति सहृदय को भावमग्न कर दे, मन को छू ले, हृदय को आन्दोलित कर दे, उसे काव्य कहते हैं। काव्य की यह परिभाषा साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने की है, जो अत्यन्त सरल और सटीक है।

तात्पर्य यह कि दार्शनिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों की मीमांसा, नैतिक और धार्मिक उपदेश, पहेलियों जैसा चमत्कार उत्पन्न करनेवाली शब्दलीला या व्याख्या, शब्दों और वर्णों का विचित्र विन्यास तथा अलंकारों की शुष्क छटा, इन सब का नाम काव्य नहीं है। काव्य तो भावमग्न या रसविभोर कर देने वाली उक्ति का नाम है।

ऐसी उक्ति की रचना तब होती है जब मानव चरित, मानव आदर्श एवं जगत् के वैचित्र्य को कलात्मक रीति से प्रस्तुत किया जाता है। कलात्मक रीति का प्राण है भाषा की लाक्षणिकता एवं व्यंजकता। भाषा को लाक्षणिक एवं व्यंजक बनाने के उपाय हैं–अन्योक्ति, प्रतीक विधान, उपचारवक्रता, अलंकार योजना, बिम्ब योजना, शब्दों का सन्दर्भ विशेष में व्यंजनामय गुम्फन आदि। शब्दसौष्ठव एवं लयात्मकता भी कलात्मक रीति के अंग हैं। इन सबको आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति नाम दिया है। कलात्मक अभिव्यंजना-प्रकार में ही सौन्दर्य होता है। सुन्दर कथनप्रकार का नाम ही काव्यकला है। रमणीय कथनप्रकार में ढला कव्य काव्य कहलाता है। "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" (पण्डितराज जगन्नाथ), "सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति" (ध्वन्यालोक/उद्योत, ४)–ये उक्तियाँ इसी तथ्य की पुष्टि करती हैं।

विषय हो मानव चरित, मानव आदर्श या जगत्स्वभाव तथा अभिव्यंजना हो कलात्मक तभी काव्य जन्म लेता है। इनमें से एक का भी अभाव हुआ तो काव्य का अवतार न होगा। विषय मानव चरित, मानव आदर्श या जगत्स्वभाव हुआ, किन्तु अभिव्यंजना कलात्मक न हुई तो वह शास्त्र, इतिहास या आचारसंहिता बन जाएगा, काव्य न होगा। इसके विपरीत अभिव्यंजना कलात्मक हुई और विषय मानव चरित, मानव आदर्श या जगत्स्वभाव न हुआ तो प्रहेलिका बन जाएगी, उसमें काव्यत्व न आ पाएगा।

'मूकमाटी' के काव्यत्व को इसी कसौटी पर कस कर परखना होगा। इस कसौटी पर कसने से उसमें काव्य के अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं, किन्तु उसमें काव्यत्व से दूर ले जाने वाले अनेक तथ्यों का भी साक्षात्कार होता है। उनके कारण यह कुछ ही अंश में काव्य है, अधिकांशतः विभिन्न शास्त्रों का संगम है। दर्शनशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, धर्मशास्त्र, मीमांसाशास्त्र, निरुक्तिशास्त्र, भाषाशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, गणितशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, मुक्ताशास्त्र आदि अनेक शास्त्र इसमें उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें प्रहेलिकाएँ भी प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। ये शास्त्र ज्ञानवर्धक हैं, किन्तु रसात्मक न होने से काव्य नहीं कहला सकते।

सन्त कवि ने स्वयं स्पष्ट किया है कि उन्होंने प्रस्तुत काव्य की रचना कार्यसिद्धि में निमित्त के महत्त्व, ईश्वर के द्वारा सृष्टिरचना की असम्भाव्यता आदि दार्शनिक सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु की है। मूकमाटी का कुम्भकार के निमित्त से जलधारण और जलतारण की क्षमता से युक्त सुन्दर घट का रूप प्राप्त कर लेने का तथ्य निमित्त के महत्त्व को दर्शाने के लिए ही काव्य का विषय बनाया गया है। दार्शनिक सिद्धान्तों के उद्घाटन की पद्धति भी मीमांसात्मक एवं देशनात्मक है, न कि व्यंजनात्मक। इससे स्पष्ट है कि सन्तकवि का उद्देश्य भी काव्य के माध्यम से दार्शनिक एवं आध्यात्मिक तथ्यों के उद्घाटक शास्त्र का सृजन करना था।

कृति के प्रस्तवन-लेखक श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैन की आलोचक दृष्टि को भी इसमें काव्य की अपेक्षा शास्त्र के

ही प्रधानतया दर्शन हुए हैं जो उनकी टिप्पणी से प्रकट है : "यह कृति अधिक परिमाण में काव्य है या अध्यात्म, कहना कठिन है। लेकिन निश्चय ही यह है आधुनिक जीवन का अभिनव शास्त्र। और, जिस प्रकार शास्त्र का श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करना होता है, गुरु से जिज्ञासुओं को समाधान प्राप्त करना होता है, उसी प्रकार इसका अध्ययन और मनन अद्भुत सुख और सन्तोष देगा, ऐसा विश्वास है।" (प्रस्तवन, पृ. XVII)

शास्त्र की दृष्टि से जहाँ यह एक उच्चकोटि की रचना है, वहीं काव्य की दृष्टि से अनेक दोषों से ग्रस्त है। फिर भी, इसमें उत्तम काव्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। गुण-दोषों की समीक्षा के पूर्व कथावस्तु पर एक नज़र डाल लेना आवश्यक है।

कथावस्तु: अर्थहीन तुच्छ माटी का कुम्भकार के निमित्त से कुम्भ का सुन्दर रूप धारण करना और जलधारण तथा जलतारण (नदी आदि को पार कराना) द्वारा परोपकारी बनना, यह इस काव्य की कथावस्तु है जो देव-शास्त्र-गुरु के निमित्त से बहिरात्मत्व से परमात्मत्व अवस्था की प्राप्ति का प्रतीक है। 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' नियम की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए कुम्भदशा की प्राप्ति में सागर द्वारा जलवर्षा और उपलवृष्टि के विघ्न उपस्थित कराए गए हैं। सज्जन सदा दूसरों के विघ्ननिवारण में तत्पर रहते हैं, यह दर्शाने के लिए सूर्य और पवन के द्वारा मेघों के छिन्न-भिन्न किए जाने की घटना कल्पित की गई है। बिना तप के जीवन में परिशुद्धता एवं परिपक्वता नहीं आती, इस तथ्य के प्रकाशन हेतु कुम्भ को अवा में तपाए जाने का दृश्य समाविष्ट किया गया है। योग्य बनकर मनुष्य दूसरों के उपकार में अपना जीवन लगाता है, इस आदर्श के दर्शन कराने हेतु घट के द्वारा मुनि के लिए आहारदान के समय जलभरण तथा संकट की स्थिति में अपने स्वामी को नदी पार कराए जाने की घटनाएँ बुनी गई हैं।

अनेक तिर्यंचों और जड़पदार्थों को विभिन्न उपदेशों और सिद्धान्तों के प्रतिपादन का प्रसंग उपस्थित करने के लिए पात्रों के रूप में कथा से सम्बद्ध किया गया है।

इस कथा की धारा में उत्तम काव्य के अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं और काव्यकला के अनेक उपादानों का सटीक प्रयोग भी मन को मोहित करता है। उन सब पर एक दृष्टि डालना सुखकर होगा।

भावों की कलात्मक अभिव्यंजना : कृति के आरम्भ में ही मानवीकरण द्वारा प्रभात का मनोहारी वर्णन हुआ है। सूर्य और प्राची, प्रभाकर और कुमुदिनी, चन्द्रमा और कमलिनी, इन्दु और तारिकाओं पर नायक-नायिका के व्यापार का आरोप कर शृंगार रस की व्यंजना की गई है :

> *"लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी/प्रभाकर के कर-छुवन से*
> *बचना चाहती है वह ;/अपनी पराग को—/सराग-मुद्रा को—*
> *पाँखुरियों की ओट देती है।" (पृ. २)*

सहृदयों के सम्पर्क में रहने पर भी हृदयहीनों में सहृदयता का आविर्भाव असम्भव है, इस स्वजातिर्दुरतिक्रमा का घोष करने वाले मनोवैज्ञानिक तथ्य की व्यंजना कंकरों की प्रकृति के द्वारा कितने मार्मिक ढंग से हुई है। अन्योक्ति या प्रतीकात्मक काव्य का यह सुन्दर नमूना है। लाक्षणिक प्रयोगों से इस काव्य की हृदयस्पर्शिता द्विगुणित हो गई है :

> *"अरे कंकरो !/माटी से मिलन तो हुआ/पर/माटी में मिले नहीं तुम !*
> *माटी से छुवन तो हुआ/पर/माटी में घुले नहीं तुम !/इतना ही नहीं,*
> *चलती चक्की में डालकर/तुम्हें पीसने पर भी/अपने गुण-धर्म*

भूलते नहीं तुम !/भले ही/चूरण बनते, रेतिल;/माटी नहीं बनते तुम !
जल के सिंचन से/भीगते भी हो/परन्तु, भूलकर भी/फूलते नहीं तुम !
माटी-सम/तुम में आती नमी नहीं/क्या यह तुम्हारी/है कमी नहीं ?
तुम में कहाँ है वह/जल-धारण करने की क्षमता ?
जलाशय में रह कर भी/युगों-युगों तक/नहीं बन सकते/जलाशय तुम !
मैं तुम्हें/हृदय-शून्य तो नहीं कहूँगा/परन्तु/पाषाण-हृदय है तुम्हारा,
दूसरों का दुःख-दर्द/देखकर भी/नहीं आ सकता कभी/जिसे पसीना
है ऐसा तुम्हारा/···सीना !" (पृ. ४९-५०)

दुष्ट प्रकृति के लोग धर्म का उपयोग अपने को सुधारने में न कर साम्प्रदायिक विद्वेष फैला कर निहित स्वार्थों की सिद्धि में करते हैं। इस मानव स्वभाव की हृदय को मथ देनेवाली कलात्मक अभिव्यक्ति निम्न पंक्तियों में हुई है :

"कहाँ तक कहें अब !/धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है
शास्त्र शस्त्र बन जाता है/अवसर पाकर।/और
प्रभु-स्तुति में तत्पर/सुरीली बाँसुरी भी/बाँस बन पीट सकती है
प्रभु-पथ पर चलनेवालों को।/समय की बलिहारी है।" (पृ. ७३)

धर्म के झण्डे के साथ 'डण्डा' तथा शास्त्र के साथ 'शस्त्र' शब्द असीम अर्थ के व्यंजक बन गए हैं। धर्म के नाम पर घटे और घट रहे दुनिया के सारे रक्तरंजित इतिहास को वे प्रत्यक्ष कर देते हैं।

सांसारिक विषयों के प्रति जब आकर्षण समाप्त हो जाता है, हानि-लाभ, निन्दा-प्रशंसा, जय-पराजय दोनों ही जब अर्थहीन प्रतीत होने लगते हैं तब आत्मा में शान्ति का संगीत पैदा होता है, क्षोभ विलीन हो जाता है, समभाव का उदय होता है। इस प्रकार संग अर्थात् सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति से अतीत होने पर ही वास्तविक संगीत उत्पन्न होता है। यह महान् मनोवैज्ञानिक तथ्य हृदय को आन्दोलित कर देने वाले निम्न शब्दों में अत्यन्त कलात्मक रीति से अभिव्यक्त हुआ है :

- *"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है/और*
  प्रीति उसे मानता हूँ/जो अंगातीत होती है।" (पृ. १४४-१४५)
- *"सुख के बिन्दु से/ऊब गया था यह/दुःख के सिन्धु में/डूब गया था यह,*
  कभी हार से/सम्मान हुआ इसका,/कभी हार से/अपमान हुआ इसका।
  कहीं कुछ मिलने का/लोभ मिला इसे,/कहीं कुछ मिटने का/क्षोभ मिला इसे,
  कहीं सगा मिला, कहीं दगा,/भटकता रहा अभागा यह !
  परन्तु आज,/यह सब वैषम्य मिट-से गये हैं/जब···से मिला···यह
  मेरा संगी संगीत···है/स्वस्थ जंगी जीत है।" (पृ. १४६-१४७)

इस काव्य से अनेक अर्थकिरणें प्रस्फुटित होती हैं। जिस प्रेम का केन्द्र शरीर होता है, वह प्रेम नहीं, वासना है। गुणाश्रित प्रेम ही प्रेम है। संसार में सुख बिन्दु बराबर है और दुःख सिन्धु बराबर। 'हार' शब्द दोनों जगह भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। प्रथम बार उसका अर्थ है 'फूलों का हार', द्वितीय बार 'पराजय'। यहाँ यमक अलंकार ने अपनी स्वाभाविकता के कारण चार चाँद लगा दिए हैं। बिन्दु-सिन्धु, सम्मान-अपमान, मिलने-मिटने, लोभ-क्षोभ,

सगा-दगा, इन प्रयोगों में अन्त्यानुप्रास ने संगीतात्मक श्रुतिमाधुर्य की सृष्टि की है।

भगवान् आदिनाथ द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्ग की आजकल चर्चा बहुत होती है। उसका भावविभोर कर देने वाले प्रवचनकर्त्ता बरसाती मेंढकों के समान प्रकट हो गए हैं। किन्तु वे मोक्षमार्ग की केवल बात ही करते हैं, उस पर चलते नहीं हैं। इस तथ्य की अभिव्यक्ति निम्न शब्दों में बड़ी पैनी हो गई है :

"आदिनाथ से प्रदर्शित पथ का/आज अभाव नहीं है माँ !
परन्तु,/उस पावन पथ पर/दूब उग आई है खूब !/वर्षा के कारण नहीं,
केवल कथनी में करुणा रस घोल/धर्मामृत-वर्षा करने वालों की
भीड़ के कारण !" (पृ. १५१-१५२)

जिस मार्ग पर लोग चलना छोड़ देते हैं उस पर दूब उग आती है। अतः 'दूब उग आई है' मुहावरा, लोगों ने मोक्षमार्ग पर चलना छोड़ दिया है, इस अर्थ की अभिव्यक्ति में कितना प्रभावशाली हो गया है।

होश को खोकर भी चिन्तामुक्त हुआ जा सकता है और होश में आकर भी। इन दोनों उपायों में क्या फर्क है? इस रहस्य को इस प्रकार खोला गया है कि एक उपाय के प्रति जुगुप्सा और दूसरे के प्रति श्रद्धा की धाराएँ मन में प्रवाहित होने लगती हैं। यह 'शव' और 'शिव' शब्दों का कमाल है :

"इस युग के/दो मानव/अपने आप को/खोना चाहते हैं–
एक/भोग-राग को/मद्य-पान को/चुनता है;
और एक/योग-त्याग को/आत्म-ध्यान को/धुनता है।
कुछ ही क्षणों में/दोनों होते/विकल्पों से मुक्त।
फिर क्या कहना!/एक शव के समान/निरा पड़ा है,
और एक/शिव के समान/खरा उतरा है।" (पृ. २८६)

शरीर नहीं, आत्मा मूल्यवान् है, अतः आत्मा ही उपास्य है। इस आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यंजना सीप और मोती तथा दीप और ज्योति के प्रतीकों द्वारा करनेवाली ये पंक्तियाँ उत्तम काव्य का निदर्शन हैं :

"सीप का नहीं, मोती का/दीप का नहीं, ज्योति का
सम्मान करना है अब !" (पृ. ३०७)

तत्त्वज्ञानी आत्मा के बारे में केवल विचार करता है, ध्यानी आत्मा का आस्वादन करता है। ज्ञान और ध्यान के अन्तर को प्रकाशित करनेवाले ये काव्यात्मक शब्द प्रतीकात्मक सौन्दर्य से मण्डित हैं :

"तैरने वाला तैरता है सरवर में/भीतरी नहीं,/बाहरी दृश्य ही दिखते हैं उसे।
वहीं पर दूसरा डुबकी लगाता है,/सरवर का भीतरी भाग/भासित होता है उसे,
बहिर्जगत् का सम्बन्ध टूट जाता है।" (पृ. २८९)

मनुष्य की साधना यदि निर्दोष हो तो संसार-सागर को पार करना असम्भव नहीं है। सागर और नाव के प्रतीकों ने इस भाव को कितनी मार्मिक व्यंजना दी है :

"अपार सागर का पार/पा जाती है नाव/हो उसमें

छेद का अभाव भर !" (पृ. ५१)

विषयों की चाह इन्द्रियों को नहीं होती। वे तो जड़ हैं। इन्द्रियों के माध्यम से वासनाग्रस्त आत्मा ही विषयों की चाह करता है। रूपकालंकार में पिरोया गया यह भाव शोभा से निखर उठा है :

"इन्द्रियाँ ये खिड़कियाँ हैं/तन यह भवन रहा है,/भवन में बैठा-बैठा पुरुष
भिन्न-भिन्न खिड़कियों से झाँकता है/वासना की आँखों से।" (पृ. ३२९)

जो कठिनतम संकट को पार कर लेता है उसके लिए छोटे-मोटे संकट खिलौनों के समान हो जाते हैं। उपचारवक्रता के द्वारा अभिव्यक्त यह भाव कितना नुकीला हो गया है :

"जब आग की नदी को/पार कर आये हम/और/साधना की सीमा-श्री से
हार कर नहीं,/प्यार कर, आये हम/फिर भी हमें डुबोने की
क्षमता रखती हो तुम ?" (पृ. ४५२)

आग की नदी का यह उपचारवक्र प्रयोग संकट की विकटता का एहसास कराने में अद्‌भुत क्षमता रखता है। एक तो नदी अपने आप में संकट का प्रतीक है, फिर वह भी आग की ? आग ने संकट को सहस्रगुना भयावह कर दिया है। इसी प्रकार साधना की चरम सीमा से, जहाँ हारना सम्भव हो, प्यार कर लेना साधना के अत्यन्त आनन्दपूर्वक सम्पन्न होने का द्योतक है। यहाँ भी उपचारवक्रता ने अपार सौन्दर्य का निवेश कर दिया है।

संसार सन्ताप से मुक्ति की आकांक्षा बड़ी व्यग्रता से झाँक रही है शब्दों के इन सुन्दर झरोखों से :

"कितनी तपन है यह !/बाहर और भीतर/ज्वालामुखी हवायें ये !
जल-सी गई मेरी/काया चाहती है/स्पर्श में बदलाहट।" (पृ. १४०)

मानव स्वभाव की यही विडम्बना है कि मनुष्य की दृष्टि सदा दूसरों को परखने में लगी रहती है। अपने को वह दूसरों से सदा ऊपर समझता है। यही उसके जहाँ का तहाँ रह जाने का कारण है। कवि की मुहावरामय काव्यकला इस तथ्य की ओर बड़े आह्लादक ढंग से ध्यान आकृष्ट करती है :

"पर को परख रहे हो/अपने को तो परखो···जरा !/परीक्षा लो अपनी अब !
बजा-बजा कर देख लो स्वयं को,/कौन-सा स्वर उभरता है वहाँ
सुनो उसे अपने कानों से !/काक का प्रलाप है, या
गधे का पंचम आलाप ?" (पृ. ३०३)

पाप कर्म का फल प्रत्येक को भोगना पड़ता है, चाहे वह कोई भी हो। यह तथ्य व्यंजित किया गया है 'लक्ष्मण रेखा', 'राम', 'सीता' और 'रावण' के पौराणिक प्रतीकों से, जिससे अभिव्यक्ति कलात्मक बन गई है :

"लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन/रावण हो या सीता
राम ही क्यों न हों/दण्डित करेगा ही।" (पृ. २१७)

सन्त कवि की कवितामयी लेखनी से आहारदान के उत्तम पात्रभूत साधु का स्वरूप उपमाओं के मनोहर दर्पण से झाँकता हुआ मनहरण करता है :

"पात्र हो पूत-पवित्र/पद-यात्री हो, पाणिपात्री हो
पीयूष-पायी हंस-परमहंस हो,/अपने प्रति वज्र-सम कठोर
पर के प्रति नवनीत···/...पवन-सम निःसंग/दर्पण-सम दर्प से परीत
पादप-सम विनीत।/नदी-प्रवाह-सम लक्ष्य की ओर
अरुक, अथक···गतिमान/...सिंह-सम निर्भीक।" (पृ. ३००-३०१)

पथ-प्रकाशक सूक्तियाँ : 'मूकमाटी' में जीवन पथ को आलोकित करने वाले सूक्तिरत्न बिखरे पड़े हैं जो मन को जगमगा देते हैं। कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं :

- *"आस्था के बिना रास्ता नहीं/मूल के बिना चूल नहीं।" (पृ. १०)*
- *"संघर्षमय जीवन का/उपसंहार/नियमरूप से/हर्षमय होता है।" (पृ. १४)*
- *"दुःख की वेदना में/जब न्यूनता आती है/दुःख भी सुख-सा लगता है।" (पृ. १८)*
- *"पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है।" (पृ. ३३)*
- *"सब रसों का अन्त होना ही—/शान्त-रस है।" (पृ. १६०)*
- *"तीर मिलता नहीं बिना तैरे।" (पृ. २६७)*

सटीक मुहावरे : मुहावरे उपचारवक्रता (लाक्षणिक प्रयोग) के सुन्दर नमूने हैं। उनसे अभिव्यक्ति लाक्षणिक और व्यंजक बन जाती है जो काव्यकला का प्राण है। इस कारण उनमें हृदयस्पर्शिता एवं रमणीयता रहती है। आचार्यकवि ने मुहावरों का सटीक प्रयोग करके कथन को काव्यात्मक चारुत्व से मण्डित किया है तथा अभिव्यक्ति को तीक्ष्ण बनाया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं। निम्न उद्धरणों में मुहावरे रेखांकित करके दर्शाए गए हैं :

"अरे मौन ! सुन ले जरा/कोरी आस्था <u>की बात मत कर</u> तू
आस्था <u>से बात कर ले</u> जरा !" (पृ. १२१)

यहाँ 'की बात मत कर' और 'से बात कर ले' इन दो मुहावरों ने 'कथनी' की निरर्थकता और 'करनी' की सार्थकता की अभिव्यंजना को सौन्दर्य के उत्कर्ष पर पहुँचा दिया है :

"शिल्पी का दाहिना चरण/<u>मंगलाचरण करता है</u>।" (पृ. १२६)

कार्य आरम्भ करने के भाव की अभिव्यक्ति 'मंगलाचरण करने के' मुहावरे से कितनी रमणीय बन गई है।

"...मानव-सून/<u>ऊब उबलने लगता है</u>
...शान्त माहौल भी <u>खौलने लगता है</u>।" (पृ. १३१)

ये मुहावरे जन-आक्रोश तथा सामाजिक अशान्ति की पराकाष्ठा को अभिव्यक्ति देते हुए उक्ति को चारुत्व से मण्डित करते हैं।

"प्रभाकर का प्रवचन यह/हृदय को जा छू गया
छूमन्तर हो गया, भाव का वैपरीत्य।" (पृ.२०७)

'हृदय को जा छू गया' मुहावरा प्रवचन की प्रभावशालिता तथा 'छूमन्तर हो गया' मुहावरा विपरीत बुद्धि के एकदम दूर हो जाने के भाव को कितने मनोहर ढंग से सम्प्रेषित करते हैं।

"जब आँखें आती हैं···तो/दुःख देती हैं,/जब आँखें जाती हैं···तो
दुःख देती हैं !/...कहाँ तक और कब तक कहूँ,
जब आँखें लगती हैं···तो/दुःख देती हैं।" (पृ. ३५९-३६०)

यहाँ भी मुहावरों के द्वारा अभिव्यक्ति की हृदयाह्लादकता उत्कर्ष पर पहुँच गई है।

औचित्यपूर्ण उपचारवक्रता : अचेतन पर चेतन के, चेतन पर अचेतन के, मूर्त पर अमूर्त के, अमूर्त पर मूर्त के, मानव पर तिर्यंचादि के, तिर्यंचादि पर मानव के धर्म का आरोपण उपचारवक्रता कहलाता है। यह वस्तु के गुणोत्कर्ष, भावों के अतिशय, उत्कटता, तीक्ष्णता, घटनाओं और परिस्थितियों की गम्भीरता, चरित्र की उत्कृष्टता या निकृष्टता आदि की व्यंजना के लिए किया जाता है। इससे कथन मर्मस्पर्शी एवं रमणीय बन जाता है। 'मूकमाटी' के कवि ने उपचारवक्रता का औचित्यपूर्ण प्रयोग किया है जिससे काव्यात्मक चारुत्व की सृष्टि हुई है। कुछ नमूने प्रस्तुत हैं :

- *"भय को भयभीत के रूप में/पाया !*
  ...विस्मय को बहुत विस्मय हो आया।" (पृ. १३८)
- *"जो अपरस का परस करता है/क्या वह परस का परस चाहेगा ?" (पृ. १३९)*
  (अपरस=स्पर्श से परे– चिन्मय, परस=अनुभव) (परस=स्पर्शमय, पुद्गल)
- *"स्पर्श की प्रतीक्षा स्पर्शा कब करती ?*
  स्वर के अभाव में/ज्वर कब चढ़ता है श्रवणा को ?" (पृ. ३२८)

अभिव्यंजक अलंकार : कवि ने भावों की कलात्मक अभिव्यंजना के लिए जिन अलंकारों का प्रयोग किया है उनमें अत्यन्त स्वाभाविकता है। वे बलपूर्वक आरोपित किए गए प्रतीत नहीं होते। वस्तु के स्वरूप-वैशिष्ट्य को सम्यग्रूपेण व्यंजित करते हैं, यथा :

"सिन्धु में बिन्दु-सा/राहु के गाल में समाहित हुआ भास्कर।" (पृ. २३८)

सिन्धु में बिन्दु की उपमा से राहु की विशालकायता और उसके समक्ष सूर्य की लघुता का द्योतन औचित्यपूर्ण है।

निम्नलिखित उक्ति में प्रयुक्त उत्प्रेक्षा द्वारा कुम्भ की बाह्य कालिमा का वर्णन बड़े रोचक ढंग से किया गया है :

"आज अवा से बाहर आया है/सकुशल कुम्भ।/कृष्ण की काया-सी
नीलिमा फूट रही है उससे,/ऐसा प्रतीत हो रहा है वह, कि
भीतरी दोष-समूह सब/जल-जल कर/बाहर आ गये हों।" (पृ. २९७-२९८)

शब्दालंकारों में यमक के एक-दो सुन्दर उदाहरण हैं, जिनमें स्वाभाविकता के कारण अर्थवैभिन्यगत वैचित्र्य रोचक बन पड़ा है :

"कभी हार से/सम्मान हुआ इसका,/कभी हार से
अपमान हुआ इसका।" (पृ. १४६)

प्रथम 'हार' का अर्थ है 'फूलों का हार', द्वितीय का 'पराजय'।

ललित वर्ण विन्यास : संगीतात्मकता भी काव्य का एक गुण है। ललित वर्ण विन्यास के द्वारा इसका आविर्भाव होता है। सन्त कवि इसके अत्यधिक प्रेमी हैं। वर्णों की आवृत्ति के द्वारा उन्होंने संगीतात्मक सौन्दर्य उत्पन्न करने का बहुशः प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं इसके सुन्दर उदाहरण मिलते हैं, यथा :

- *"खरा भी अखरा है सदा।" (पृ. ८३)*
- *"तन में चेतन का/चिरन्तन नर्तन है यह।" (पृ. ९०)*
- *"काया तो काया है/जड़ की छाया-माया है।" (पृ. ९२)*
- *"श्वास का विश्वास नहीं अब।" (पृ. ९६)*
- *"नम्र, अपने में मग्न बन गये।" (पृ. १०३)*
- *"अहित में हित/और/हित में अहित/निहित-सा लगा इसे।" (पृ. १०८)*

रसात्मकता : महाकवि ने विभिन्न रसों के पुट से काव्य में कहीं-कहीं रस भरने का प्रयत्न किया है। आरम्भ में ही सूर्य और प्राची, प्रभाकर और कुमुदिनी, चन्द्रमा और ताराओं पर नायक-नायिका-व्यापार के आरोप द्वारा शृंगार रस की व्यंजना की है। अन्तिम खण्ड में भी निम्न पंक्तियाँ शृंगार रस की सामग्री प्रस्तुत करती हैं :

"बाल-भानु की भास्वर आभा/निरन्तर उठती चंचल लहरों में
उलझती हुई-सी लगती है/कि/गुलाबी साड़ी पहने
मदवती अबला-सी/स्नान करती-करती/लज्जावश सकुचा रही है।" (पृ. ४७९)

प्रस्तुत अंश वात्सल्य रस के विभावों और अनुभावों से परिपूर्ण है :

"और देखो ना !/माँ की उदारता–परोपकारिता
अपने वक्षस्थल पर/युगों-युगों से''चिर से
दुग्ध से भरे/दो कलश ले खड़ी है
क्षुधा-तृषा-पीड़ित/शिशुओं का पालन करती रहती है
और/भयभीतों को, सुख से रीतों को
गुपचुप हृदय से/चिपका लेती है पुचकारती हुई।" (पृ. ४७६)

भक्ति रस का अतिरेक निम्न पंक्तियों से छलकता है :

"एक बार और गुरु-चरणों में/सेठ ने प्रणिपात किया
लौटने का उपक्रम हुआ, पर/तन टूटने लगा।/लोचन सजल हो गये
पथ ओझल-सा हो गया/पद बोझिल से हो गये/रोका, पर/ रुक न सका रुदन,
फूट-फूट कर रोने लगा/पुण्य-प्रद पूज्य-पदों में/लोटपोट होने लगा।" (पृ. ३४६)

आहार दान के प्रकरण में अपार श्रद्धा के पात्र मुनि को आहार देने के लिए श्रावकों की आतुरता का जो वर्णन किया गया है वह भक्तिरस से ओत-प्रोत है।

संसार की निस्सारता, जीवन की क्षणभंगुरता और परमात्मतत्त्व की सारभूतता का वर्णन या इनकी अनुभूति का वर्णन शान्तरस के विभाव हैं। इनके वर्णन से पाठक के मन में सांसारिक विषयों के प्रति अनाकर्षण और रुचि का भाव उद्‌बुद्ध होता है जिससे इच्छानिरोधजन्य शमभाव की अनुभूति होती है। यही शान्तरस का आस्वादन है। प्रस्तुत काव्य में इसके कई जगह दर्शन होते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय के विषय की निस्सारता के बोध की यह अभिव्यक्ति शान्तरस की व्यंजना करती है :

"ओ श्रवणा !/कितनी बार/श्रवण किया स्वर का
ओ मनोरमा !/कितनी बार/स्मरण किया स्वर का
कब से चल रहा है/संगीत - गीत यह
कितना काल अतीत में/व्यतीत हुआ, पता हो, बता दो···!
भीतरी भाग भीगे नहीं अभी तक
दोनों बहरे अंग रहे/कहाँ हुए हरे भरे ?" (पृ. १४४)

इष्ट और अनिष्ट में समभाव की अनुभूति का यह वर्णन शान्तरस का अप्रतिम उदाहरण है :

"सुख के बिन्दु से/ऊब गया था यह/दुःख के सिन्धु में/डूब गया था यह,
कभी हार से/सम्मान हुआ इसका,/कभी हार से/अपमान हुआ इसका।
कहीं कुछ मिलने का/लोभ मिला इसे,/कहीं कुछ मिटने का/क्षोभ मिला इसे,
कहीं सगा मिला, कहीं दगा,/भटकता रहा अभागा यह !/परन्तु आज,
यह सब वैषम्य मिट-से गये हैं/जब से···मिला···यह
मेरा संगी संगीत है/स्वस्थ जंगी जीत है।" (पृ. १४६-१४७)

आहार-ग्रहण के समय आराध्य के वीतराग स्वरूप का जो निरूपण किया गया है (पृष्ठ ३२६) वह भी शान्तरस का आस्वादन कराता है। आतंकवादियों के प्रकरण में रौद्र रस का प्रसंग भी है। कहीं बीभत्स और वीर की भी झलक मिलती है।

मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उद्‌घाटन : महाकाव्य में कई जगह मनोवैज्ञानिक तथ्यों का उद्‌घाटन किया गया है। कंकरों के प्रसंग में 'स्वजातिर्दुरतिक्रमा' तथ्य उन्मीलित हुआ है। बड़वानल का प्रकरण इस तथ्य को उद्‌घाटित करता है कि आवश्यकता पड़ने पर सज्जन को भी उग्रता का आश्रय लेना पड़ता है। निम्न पंक्तियाँ भी एक महान् मनोवैज्ञानिक सत्य पर प्रकाश डालती हैं :

"सीमा में रहना असंयमी का काम नहीं,/जितना मना किया जाता
उतना मनमाना होता है/पाल्य दिशा में।
त्याज्य का तजना/भाज्य का भजना, सम्भव नहीं/बाल्य-दशा में।
तथापि जो कुछ पलता है/बस, बलात् ही भीति के कारण!" (पृ. ३४१)

पूर्ववर्णित सभी सूक्तियाँ मनोवैज्ञानिक तथ्यों का साक्षात्कार कराती हैं।

प्रवचनकला के सुन्दर निदर्शन : कुम्भ पर अंकित सामग्री के दृष्टान्तों के द्वारा अनेक दार्शनिक, आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को हृदयंगम बनाया गया है। इनसे आचार्यश्री का अप्रतिम प्रवचनकौशल परिलक्षित होता है, यद्यपि यह काव्य की सीमा में नहीं आ सकता।

'मूकमाटी' में जितना काव्यांश है वह उत्तम काव्य के इन गुणों से विभूषित है। शेष अंश अनेक काव्य-दोषों से ग्रस्त है जिनके कारण वह काव्यत्व से दूर चला गया है। सम्यक् समीक्षण के लिए उन्हें भी उजाले में लाया जा रहा है।

विधागत अनौचित्य : विधा की दृष्टि से यह कृति न तो अन्योक्ति (प्रतीकात्मक काव्य) की कोटि में आती है, न निजोक्ति की। जब तिर्यंच या जड़ के धर्म का वर्णन किया जाय और उससे मानव-धर्म की प्रतीति हो तब अन्योक्ति होती है। जब तिर्यंच या जड़ पर मानव-धर्म का आरोप किया जाय और उससे तिर्यंच या जड़ के ही धर्म की व्यंजना हो तब निजोक्ति होती है। यदि तिर्यंचादि पर मानवधर्म का आरोप किसी व्यंग्यार्थ में पर्यवसित नहीं होता तो यह एक असंगत कथन मात्र रहता है। एक वस्तु पर दूसरी वस्तु के धर्म का आरोप बिना किसी साधर्म्यादि सम्बन्ध के तथा अर्थविशेष की व्यंजना के प्रयोजन के बिना नहीं किया जाता।

'मूकमाटी' में तिर्यंचादि के धर्मों के वर्णन द्वारा मानवधर्मों की प्रतीति नहीं कराई गई है, इसलिए यह अन्योक्ति नहीं है। तिर्यंचादि पर मानवधर्मों के आरोप द्वारा तिर्यंचादि के ही धर्मों की व्यंजना नहीं की गई है, इसलिए यह निजोक्ति नहीं है। इसमें तिर्यंचों और जड़ पदार्थों पर मानवधर्मों का आरोप है, किन्तु साधर्म्यादि सम्बन्ध पर आश्रित न होने से निराधार है तथा अर्थविशेष का व्यंजक न होने से निष्प्रयोजन है। माटी आदि के मुख से जो जीवादि तत्त्वों की मीमांसा और मोक्षमार्ग का उपदेश कराया गया है उससे उन पर जैनाचार्यों और जैन तत्त्वज्ञानियों का आरोप हो जाता है। किन्तु माटी आदि में ऐसा कोई भी धर्म नहीं है जो जैनाचार्यों और जैन तत्त्वज्ञानियों के धर्म से समानता रखता हो, जिसके कारण उन पर यह आरोप संगत हो सके और आरोप के द्वारा उस धर्म का वैशिष्ट्य व्यंजित हो सके। अतः यह आरोप असंगत ठहरता है। बिना किसी व्यंग्यार्थ के माटी, मछली आदि को जैन तत्त्वज्ञानियों और आचार्यों जैसी तत्त्वमीमांसा और मोक्षमार्ग की देशना करते हुए स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह प्रत्यक्षतः असम्भव है। असंगत बात बुद्धिग्राह्य नहीं होती, फलस्वरूप सहृदयहृदयाह्लादक न होने से काव्य नहीं कहला सकती।

माटी आदि पदार्थों को जैनाचार्यों या जैन उपदेशकों का प्रतीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनमें ऐसे कोई स्वाभाविक या सन्दर्भजन्य धर्म नहीं हैं जो जैनाचार्यों और जैन उपदेशकों के धर्मों को लक्षित कर सकें।

प्रस्तुत कृति में तिर्यंचों और जड़ पदार्थों के द्वारा उनकी प्रकृति से सर्वथा असम्बद्ध (साधर्म्य आदि किसी भी सम्बन्ध से संगत न होने वाले) मोक्षमार्ग के सिद्धान्तों की मीमांसा तथा देशना कराई गई है। धरती यह बतलाती है कि कर्मों का संश्लेष और विश्लेष कैसे होता है (पृ. १५)। मछली माटी से सल्लेखना माँगती है। माटी सल्लेखना की व्याख्या करती है कि काय और कषाय को कृश करना सल्लेखना है (पृ. ८७)। वह प्रतिशोध भावना के दोषों और क्षमा के गुणों पर प्रकाश डालती है (पृ. ९७-१०५)। कौआ मोह और मोक्ष का लक्षण जानना चाहता है और लक्षण जानकर बड़ा सन्तुष्ट होता है। शिल्पी का धन्यवाद करता है (पृ. १०९-११२)।

रसना रस्सी की अहिंसा और निर्ग्रन्थ दशा पर प्रवचन देती है (पृ. ६४-६६)। सूर्य स्त्री जाति के गुणों का वर्णन करता है और नारी, अबला, महिला आदि शब्दों का ऐसा भाषाशास्त्रीय विवेचन करता है कि यास्क और पाणिनि भी उसके सामने फीके पड़ जाते हैं। कुम्भ परीषह-उपसर्ग, स्वर्ग-अपवर्ग, सन्त समागम, संसार का अन्त आदि तथ्यों का महत्त्व बतलाता है। वह सेठ को अत्यन्त मार्मिक देशना देता है। माटी कंकरों को उपदेश देती है कि संयम की राह चलो (पृ. ५६)।

यह तत्त्वमीमांसा और देशना ही कृति का प्रतिपाद्य है। तिर्यंचों और जड़ पदार्थों पर इसका आरोप कर कोई अन्य अर्थ लक्षित और व्यंजित करना कवि का उद्देश्य नहीं है, न ही कृति में ऐसा हुआ है, न हो सकता है। अतः किसी व्यंग्यार्थ के अभाव में तिर्यंचादि के द्वारा जैन तत्त्वज्ञानियों और जैन आचार्यों की तरह जैनतत्त्वों की मीमांसा और धर्मदेशना किया जाना युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता। इसलिए यह विधा अनौचित्यपूर्ण है। प्रश्न है कि मनुष्यों का कार्य मनुष्य ही करते तो क्या हानि थी ? और तिर्यंचादि से कराकर कौन सा प्रयोजन सिद्ध हुआ है ? मात्र एक अबुद्धिग्राह्य और रसविहीन शब्द व्यवहार के अलावा ?

अभिधात्मकता का प्राधान्य : कव्य को व्यंजना द्वारा अल्पांश में ही अभिव्यक्ति मिली है। अधिकांशतः, जिस भाव को व्यक्त करना था उसे उसका नाम लेकर सीधे-सीधे कह दिया गया है। काव्य में भाव को व्यंजित होना चाहिए, उसका नाम लेकर वर्णित करना काव्य का लक्षण नहीं है। उदाहरणार्थ अग्नि कहती है :

> *"सदाशय और सदाचार के साँचे में ढले/जीवन को ही अपनी*
> *सही कसौटी समझती हूँ।/फिर कुम्भ को जलाना तो दूर,*
> *जलाने का भाव भी मन में लाना/अभिशाप—पाप समझती हूँ...।" (पृ. २७६)*

यहाँ सदाशय और सदाचार शब्दों का प्रयोग न कर सदाचार की परिभाषा में आ सकने वाले अग्नि के धर्मों के वर्णन द्वारा अभिप्राय को व्यंजित किया जाना चाहिए था, जैसे :

> *ठिठुरतों की ठिठुरन मिटाना/भूखों का भोजन पकाना/निस्सार को दहाना*
> *तम का विनाश करना/मेरा मंगलमय धर्म है।/नीड़ को जलाना/सस्य को झुलसाना*
> *प्राण होम देना/अमंगल, अधर्म है।/कुम्भ को जलाना भी/पापमय कर्म है।*

इन पंक्तियों के द्वारा 'सदाचार' शब्द का उल्लेख किए बिना अग्नि के सदाचार की प्रतीति हो जाती है जिससे अभिधात्मकता का दोष निराकृत हो जाता है, साथ ही करुणामय प्रवृत्तियों के वर्णन से उदात्तभाव की अनुभूति होती है।

शास्त्रात्मकता : प्रस्तुत महाकाव्य में विवरण, विवेचन, प्रवचन, देशना और मीमांसा की प्रधानता है। मानवीय मनोभावों, प्रवृत्तियों, आदर्शों तथा जगत् के वैचित्र्य की कलात्मक अभिव्यंजना अल्पमात्रा में है। इसलिए यह अधिकांश में शास्त्र है, अल्पांश में काव्य।

प्रहेलिकात्मक शब्दलीला : काव्य में प्रहेलिकात्मक शब्दविलास, काल्पनिक निरुक्तिवैचित्र्य तथा अनुप्रासातिरेक का अभिनिवेश दृष्टिगोचर होता है। काव्य में अनेकत्र वर्णविपर्यय और वर्णव्यत्यय द्वारा स्वाभिप्रेत अर्थ निकाल कर प्रहेलिकात्मक चमत्कार दर्शाया गया है। जैसे 'राही' शब्द के उलटने से 'हीरा' शब्द बनता है। इससे यह अर्थ निकाला गया है कि संयम का राही बनने से मनुष्य हीरा बनता है :

> *"संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है,/स्वयं राही शब्द ही*
> *विलोम-रूप से कह रहा है—/रा···ही···ही···रा।" (पृ. ५६-५७)*

यहाँ केवल शब्द को उलटने का चमत्कार है। संयम के राही के साथ हीरा बनने के समर्थन में जो राही शब्द के उलटने से हीरा शब्द बन जाने की युक्ति दी गई है वह युक्तिसंगत नहीं है। इस युक्ति से तो असंयम की राह का राही बनने को भी हीरा बनना कह सकते हैं। क्योंकि 'राही' शब्द चाहे संयम के साथ जोड़ा जाय, चाहे असंयम के साथ 'हीरा' अर्थ ही निकलेगा।

इसी प्रकार 'राख' शब्द को उलटने से 'खरा' शब्द बनता है। इससे यह अर्थ निकाला गया है कि राख बने बिना कोई खरा नहीं बन सकता :

"खरा शब्द भी स्वयं/विलोमरूप से कह रहा है–/राख बने बिना
खरा-दर्शन कहाँ ?/रा···ख···ख···रा···।" (पृ. ५७)

ऐसे अनेक उदाहरण हैं : याद-दया, नदी-दीन, लाभ-भला, नाली-लीना, रसना-नासर, धरती-तीरध, चरण-न रच, तामस-समता, धरणी-नीरध आदि।

इसी प्रकार शब्दभंग या वर्णव्यत्यय के द्वारा भी शब्द के नए-नए अर्थ निकाल कर चमत्कार दर्शाया गया है और स्वाभिप्रेत भाव का समर्थन किया गया है। उदाहरणार्थ :

'कृपाण' शब्द से 'ण' वर्ण को दूर कर 'कृपा न' बनाते हुए कृपाण का कृपा रहित अर्थ सिद्ध किया गया है :

"कृपाण कृपालु नहीं हैं/वे स्वयं कहते हैं
हम हैं कृपाण/हम में कृपा न !" (पृ. ७३)

इसी प्रकार 'आदमी' शब्द के 'आ' को दूर कर 'आ दमी' रूप दर्शाते हुए आदमी का अर्थ 'आ समन्तात् दमी' अर्थात् पूर्ण संयमी प्रतिपादित किया गया है।

इसके भी अनेक उदाहरण हैं : नमन-न मन, कायरता-काय रता, करण-कर न, चरण-चर न, रसना-रस ना, पायसना-पाय सना, धोखा दिया है-धो खा दिया है, मदद- मद द, वासना-वास ना इत्यादि।

शब्दों के ऐसे तोड़-मरोड़ द्वारा नए-नए अर्थ निकालने से पाठकों का पहेलियों जैसा मनोरंजन तो होता है, किन्तु इसे काव्य नहीं कर सकते। काव्य तो सहृदयहृदयाह्लादक रसात्मक उक्ति का नाम है। उपर्युक्त शब्दलीला से प्राप्त होने वाला आनन्द प्रहेलिकानन्द है, काव्यानन्द नहीं।

कवि को यमक और श्लेष से युक्त प्रहेलिकात्मक वाक्यों की योजना में भी आनन्द आता है। कुम्भ पर अंकित होने का बहाना लेकर प्रहेलिकावत् तीन वाक्य प्रस्तुत किए गए हैं और उनका रहस्य खोला गया है। वे वाक्य हैं - 'कर पर कर दो', 'मर हम मरहम बनें' और 'मैं दो गला'। सन्त कवि जब उनका आशय खोलते हैं तब वैसा ही मज़ा आता है जैसा पहेलियों का अर्थ समझने पर आता है। अर्थात् यहाँ काव्य रस की अनुभूति न होकर प्रहेलिकारस की अनुभूति होती है। पहेलिकाएँ काव्य नहीं हैं।

अयुक्तिसंगत निरुक्तियाँ: कवि की रुचि का एक अन्य विषय है शब्दों की बुद्धि में न बैठने वाली विचित्र निरुक्तियाँ जिन्हें पढ़ते वक्त मनोविनोद तो होता है, रसानुभूति नहीं होती। नारीवाचक शब्दों की कवि ने बड़ी मज़ेदार निरुक्तियाँ की हैं। वह आरी नहीं है सो नारी है। संग्रहणी के रोगी को मही अर्थात् मठा-महेरी पिलाती है इसलिए महिला कहलाती है। वह बला (संकट) नहीं है इसलिए अबला है। 'कु' यानी पृथिवी, 'मा' यानी लक्ष्मी और 'री' यानी देनेवाली अर्थात् धरती को लक्ष्मी से सम्पन्न करती है इसलिए कुमारी कहलाती है। 'स्' यानी संयम, 'त्री' यानी धर्म-अर्थ-काम– इन में पुरुष को कुशल बनाती है सो स्त्री कहलाती है। मैं केवल अंग नहीं हूँ, अंग के अतिरिक्त भी कुछ हूँ–पुरुष को यह उपदेश

देती है इसलिए अंगना कहलाती है (पृ. २०२-२०७)।

सा-रे-ग-म यानी सभी प्रकार के गम (दुःख), प-ध (पद) यानी स्वभाव, 'नि' यानी नहीं हैं, इस अर्थ को समझना ही संगीत है (पृ.३०५)। इसी प्रकार मृदंग की ध्वनियों के भी नए अर्थ कल्पित किए गए हैं। 'धा ···धिन्···धिन्···धा' का अर्थ है 'चेतन-भिन्ना चेतन-भिन्ना'। 'ता···तिन··· तिन···ता' का आशय है 'का तन ···चिन्ता, का तन···चिन्ता' (पृ. ३०६)।

श-स-ष की अत्यन्त रोचक व्याख्याएँ की गई हैं। 'श' यानी कषायों का शमन, 'स' यानी समता, 'ष' यानी पुण्य-पाप का पेट फाड़ना अर्थात् कर्मातीत होना (पृ. ३९७-३९८)।

कवि ने ९ की संख्याओं में से भी गूढ़-गम्भीर तत्त्वों का उद्घाटन किया है जिसने काव्य को गणित और दर्शन का पादपीठ बना दिया है।

एक तो ये निरुक्तियाँ अयुक्तिसंगत होने से बुद्धि में नहीं बैठतीं, दूसरे इनमें काव्यकला का लेश भी न होने से ये काव्य की कोटि में नहीं आतीं। ये पहेलियों जैसा मजा अवश्य देती हैं।

अस्वाभाविक भाषा : भाषा अधिकांशतः अस्वाभाविक है। कृत्रिमता के कारण कहीं-कहीं शब्दों के मुख्यार्थ को ग्रहण कर पाना भी असम्भव हो जाता है। अस्वाभाविकता का कारण है कवि का अनुप्रास-मोह। अनुप्रास-योजना के लिए कवि ने भाषा की प्रकृति से मेल न खानेवाले कृत्रिम शब्दों का प्रयोग किया है, शब्दों को तोड़-मरोड़कर या उनमें कुछ नया जोड़ कर ऐसा रूप दे दिया है कि वे पहचान में नहीं आते। फलस्वरूप उनके मुख्यार्थ का अन्वेषण करने में ही पाठक भटक जाता है, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ की थाह पाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। कुछ उदाहरणों से इसका अनुभव हो जाता है :

- *"यह कार्मिक-व्यथन है, माँ !" (पृ. १५)*
- *"पीर-सागर की सावणता/चूलतः झरी है।" (पृ. ८१)*
- *"घनी अलिगुण-हनी/शनि की सनी-सी···*
  भय-मद अघ की जनी/दुगुणी हो आई रात है।" (पृ. ९१)
- *"ऋतु की प्रकृति भी शीत-झीला है।" (पृ. ९३)*
- *"जिन बालों में/अलि-गुण-हरिणी/कुटिलाई वह/भनक आई है*
  ...जिन-चरणों में/सादर आली/चरणाई वह/पुलक आई है।" (पृ. १२८-१२९)
- *"अपने से विपरीत पनों का पूर/पर को कदापि मत पकड़ो।" (पृ. १२४)*
- *"आमूल जीवन इसका/प्रशम-पूर्ण शम्य हो।" (पृ. १०८)*
- *"हे सखे!/अदेसख भाव है यह।" (पृ. २२३)*
- *"पाँव नता से मिलता है/पावनता से खिलता है।" (पृ. ११४)*
- *"सहन-शीलता आ ठनी/हनन-शीलता सो हनी।" (पृ. २०९)*
- *"तमो-रजो अवगुण-हनी/सतो-गुणी, श्रमगुण-घनी*
  वैर-विरोधी, वेद-बोधि।" (पृ. २३९)
- *"राजा की चिति की बुदबुदी को।" (पृ. २२०)*
- *"रुद्रता विकृति है विकार/समिट-शीला होती है।" (पृ. १३५)*

हिन्दीभाषियों के लिए यह भाषा बिलकुल अपरिचित है। सावणता, अलिगुण-हनी, शीत-झीला, प्रशमपूर्ण

शम्य, अदेसखभाव, पाँव नता, बुदबुदी, समिटशीला आदि ये शब्द अजनबी हैं। पाठकों के लिए अपरिचित होने से ये शब्द कवि के भावों का सम्प्रेषण नहीं कर पाते, उलटे दीवार बन कर उन्हें पाठक तक आने से रोकते हैं जिससे कवि का उद्देश्य ही विफल हो जाता है।

कवि को स्वप्रयुक्त शब्दों की दुरूहता का भान है, इसलिए उनके अर्थ को कई जगह स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़ी है, जैसे :

- *"उपधि यानी/उपकरण - उपकारक है ना !*
  उपाधि यानी/परिग्रह - अपकारक है ना !" (पृ. ८६)
- *"आँखों से अश्रु नहीं, असु/यानी, प्राण निकलने को हैं।" (पृ. २७९)*
- *"जलधि ने जड़-घी का,/बुद्धि-हीनता का, परिचय दिया है।" (पृ. १८९)*
- *"जल को मुक्ता के रूप में ढालने में/शुक्तिका—सीप कारण है।" (पृ. १९३)*

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कवि ने अनुप्रास मोह के कारण ही दुरूह शब्दों का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं कवि को अपने पूरे कथन का ही आशय स्पष्ट करना पड़ा है :

- *"अब ये प्राण/जल-पान बिन/सम्मान नहीं कर पायेंगे किसी का।*
  यानी,/इनका प्रयाण निश्चित है।" (पृ. २९२)
- *"हित से जो युक्त—समन्वित होता है/वह सहित माना है/और/सहित का भाव ही साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि/जिस के अवलोकन से*
  सुख का समुद्भव - सम्पादन हो/सही साहित्य वही है।" (पृ. १११)

कवि को अपने ही शब्दों का अर्थ खोलने तथा कथन का आशय स्पष्ट करने की आवश्यकता का आ पड़ना बतलाता है कि भाषा अनेक स्थलों पर दुरूह हो गई है।

भाषा में कई जगह सामासिकता और सूत्रात्मकता है, जो भावों के प्रस्फुटित होने में बाधक है। निम्नवाक्य इसके उदाहरण हैं :

- *"नति नमन-शीलता जगी/यति यजन-शीलता जगी।" (पृ. २०९)*
- *"शुक्ला-पद्मा-पीता-लेश्या-धरी।" (पृ. २०९)*
- *"वन-उपवन-विचरण-घर्मा/वसन्त-वर्षा-तुषार-घर्मा।" (पृ. २५७-२५८)*
- *"रति-पति-प्रतिकूला-मतिवाली/पति-मति-अनुकूला-गतिवाली।" (पृ. १९९)*

अनावश्यक शब्दों का बोझ : कहीं अकारण, कहीं अनुप्रास मोह के कारण अनावश्यक शब्दों के प्रयोग या शब्द की पुनरुक्ति से भाषा बोझिल बन गई है। 'वह' शब्द का अनावश्यक रूप से बहुशः प्रयोग हुआ है :

- *"करुणाई वह/छलक आई है।" (पृ. १२८)*
- *"अरुणाई वह/झलक आई है।" (पृ. १२८)*
- *"चरणाई वह/पुलक आई है।" (पृ. १२९)*

इन सभी उदाहरणों में 'वह' शब्द अनावश्यक है। निम्नलिखित वाक्यों में रेखांकित पदों का प्रयोग अनावश्यक है :

- *"...मानव-खून/ खूब उबलने लगता है।" (पृ. १३१)*
- *"भृकुटियाँ टेढ़ी तन गईं।" (पृ. १३४)*
- *"आँख की पुतलियाँ/लाल-लाल तेजाबी बन गईं।" (पृ. १३४)*

निम्न उद्धरणों में रेखांकित पद पुनरुक्त हुए हैं :

- *"...गाँठ-ग्रन्थि...(पृ. ६४); "परम आर्त पीड़ा है" (पृ. १२४);*
- *"अन्तःकरण—मन पर।"(पृ. १२५); "हलकी रक्तरंजिता लाल क्यों है ?" (पृ. १२७)*
- *"रुद्रता विकृति है विकार।" (पृ. १३५)*

निष्प्रयोजन पुनरुक्ति नवीन अर्थ की प्रतिपादक न होने से नीरसता उत्पन्न करती है। इसलिए उसे काव्य-दोष माना गया है। काव्य का प्रत्येक शब्द नवीन अर्थ का वाहक होना चाहिए।

कहीं पूरा वाक्य ही पुनरावृत्त हुआ है :

"कुम्भ के रूप में ढलती है/कुम्भाकार धरती है।" (पृ. १६४)

यहाँ द्वितीय वाक्य (कुम्भ का आकार धारण करती है) प्रथम की पुनरावृत्ति है।

क्वचित् मात्र हास्य के लिए अप्रासंगिक वाक्य भी जोड़ दिए गए हैं :

- *"इसने कुम्भ को सुन्दर रूप दे/घोटम-घोट किया है*
  कुम्भ का गला न घोट दिया !" (पृ.१६५)
- *"इसीलिए तो धरती/सर्व-सहा कहलाती है/सर्व-स्वाहा नहीं।" (पृ. १९०)*

दोनों उदाहरणों में अन्तिम वाक्य असम्बद्ध हैं।

व्यंजकता का घात : शब्दों की पुनरुक्ति से अनेक जगह व्यंजकता भंग हो गई है :

- *"उत्तुंग-तम गगन चूमते/तरह-तरह के तरुवर।" (पृ. ४२३)*
- *"कठिनतम पाषाण।" (पृ. १५९)*

'गगन चूमते' शब्द से 'उत्तुंगतम' की तथा 'पाषाण' शब्द से 'कठिनतम' की व्यंजना अपने आप हो जाती है। इन शब्दों के प्रयोग से उक्त शब्दों का अर्थ खुल जाने से व्यंजकता भंग हो गई है और काव्यत्व समाप्त हो गया है।

कहीं मुहावरों और लाक्षणिक प्रयोगों के अर्थस्पष्टीकरण द्वारा भी काव्य का प्राणभूत व्यंजकत्व नौ-दो-ग्यारह हो गया है :

"बिना गरजे/किसी पर बरसता भी नहीं–
यानी/मायाचार से दूर रहता है सिंह।" (पृ. १६९)

यहाँ प्रथम वाक्य में प्रयुक्त मुहावरा दूसरे वाक्य में अर्थ खोल दिए जाने से व्यंजकत्व खोकर निष्प्राण हो गया है :

"जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है/वहाँ निश्चित ही/हिंसा छलती है।
अर्थ यह हुआ कि/ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है।" (पृ. ६४)

यहाँ 'हिंसा छलती है' इस लाक्षणिक प्रयोग का सौन्दर्य अर्थ को वाच्य बना देने से विलीन हो गया है।

इसी प्रकार 'कर पर कर दो', 'मर हम मरहम बनें' तथा 'मैं दो गला' वाक्य यद्यपि प्रहेलिकावत् हैं तथापि इनका अर्थ न खोला जाता तो व्यंजकता सुरक्षित रहती और काव्यत्व का कुछ आभास होता। किन्तु अर्थ खोल दिए जाने से व्यंजकता कूच कर गई है और विवेचन ने टीकाग्रन्थ का रूप ले लिया है।

कर्णकटु अनुप्रास : कुछ स्थलों पर अनुप्रास कर्णकटु हो गया है :

- *"पर-कामिनी, वह जननी हो,/पर-धन कंचन की गिट्टी भी*
  मिट्टी हो सज्जन की दृष्टि में!/हाय रे!/समग्र संसार-सृष्टि में
  अब शिष्टता कहाँ है वह?/अवशिष्टता दुष्टता की रही मात्र!" (पृ. २१२)
- *"सुत-सन्तान की सुसुप्त शक्ति को/सचेत और/शत-प्रतिशत सशक्त-*
  साकार करना होता है सत् संस्कारों से/सन्तों से यही श्रुति सुनी है।"
  (पृ. १४८)

यहाँ सर्वत्र परुष वर्णों की अति आवृत्ति कानों को खटकती है। आवृत्ति सायास प्रतीत होती है, अनायास नहीं। इसी कारण कंचन के टुकड़े के लिए 'गिट्टी' शब्द का प्रयोग अनौचित्य दोष का जनक हो गया है।

अप्रस्तुत-अनौचित्य : एक-दो जगह अप्रस्तुत विधान अनौचित्यपूर्ण है :

"माँ की गहन-गोद में शिशु-सा
राहु के गाल में समाहित हुआ भास्कर।" (पृ. २३८)

सूर्य को ग्रसने वाले राहु के काल-सम गाल को माँ की मृदु गोद का अप्रस्तुत विधान (उपमान) अत्यन्त अनुचित है।

"बोधि की चिड़िया वह/फुर्र क्यों न कर जायेगी?
क्रोध की बुढ़िया वह/गुर्र क्यों न कर जायेगी?" (पृ. १२)

क्रोध के लिए बुढ़िया शब्द के प्रयोग से क्रोध भी बूढ़ा-सा बलहीन और अकिंचित्कर प्रतीत होने लगता है। 'क्रोध का विषधर भी फन क्यों न उठाएगा?' कहा जाता तो क्रोध की करालता तुरन्त मन में कौंध जाती। इसके अतिरिक्त बुढ़िया कभी गुर्राती नहीं है, बड़बड़ाती है। केवल वर्ण-साम्य के लिए ऐसे प्रयोग काव्यत्व के विघातक हैं।

"निशा का अवसान हो रहा है/उषा की अब शान हो रही है।" (पृ. १)

यहाँ 'उषा का अब गान हो रहा है' यह प्रयोग प्रसंगानुकूल तथा काव्यात्मक होता।

निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत कृति एक गम्भीर विधागत अनौचित्य से ग्रस्त है। साध्यसमादि सम्बन्ध के अभाव में तथा अर्थ विशेष की व्यंजना के प्रयोजन बिना तिर्यंचों और जड़ पदार्थों पर जैनाचार्यों और जैन तत्त्वज्ञानियों के व्यक्तित्व का आरोप सम्पूर्ण कथन को असंगत बना देता है। "मुख्याभावे सति निमित्ते प्रयोजने चोपचारः प्रवर्तते"– इस न्यायशास्त्रीय एवं काव्यशास्त्रीय नियम का यहाँ ध्यान नहीं रखा गया।

इस अनौचित्यपूर्ण विधा के ढाँचे में तत्त्वमीमांसा और धर्मदेशना को प्रतिपाद्य बनाया गया है जो प्रायः अभिधात्मक है। अतः प्रस्तुत कृति प्रधानतया एक शास्त्र है। वर्णविपर्यय, वर्णव्यत्यय (शब्दभंग) एवं स्वकल्पित निरुक्तियों के द्वारा विचित्र अर्थ प्रतिपादित किए जाने से इसमें प्रहेलिकात्मकता भी है जिसे काव्य नहीं कहा जा सकता। भाषा काफ़ी हद तक अस्वाभाविक एवं कृत्रिम है। इससे भावसम्प्रेषण में बाधा उत्पन्न हुई है। अनुप्रासातिरेक ने भी काव्यत्व को हानि पहुँचाई है।

फिर भी कृति में काव्य के अनेक सुन्दर उदाहरण हैं जो विभिन्न काव्यगुणों से मण्डित हैं। वे अपनी रमणीयता और प्रभावोत्पादकता के कारण मर्म को छूते हैं और मन को आह्लादित करते हैं। इतने मात्र से कृति मूल्यवान् हो गई है।

□

'मूकमाटी' : सरस शैली में लिखित दार्शनिक महाकाव्य

डॉ. रमानाथ त्रिपाठी

'मूकमाटी' एक ऐसा दार्शनिक महाकाव्य है जो सरस शैली में लिखा गया है। रचयिता आचार्य विद्यासागर में सर्जन की क्षमता है। उन्होंने माटी जैसी अकिंचन वस्तु को भव्यता प्रदान की है। उन्होंने युगानुरूप शैली में अपना कथ्य प्रस्तुत किया है। कठिनाई यह है कि यह युग महाकाव्य का नहीं है, अब इसका स्थान उपन्यास ने ले लिया है। इसके अतिरिक्त माटी, कुमुदनी, चाँद-तारे, सुगन्ध आदि जैसे पात्रों के आधार पर लिखित लगभग ५०० पृष्ठों के इस महाग्रन्थ को पढ़ने का साहस क्या पाठक में है ? तथापि, यदि कोई इसे पढ़ लेगा तो उसे आध्यात्मिक दृष्टि अवश्य मिलेगी। एक सन्त-कवि से ऐसे ही महाकाव्य की अपेक्षा की जा सकती है। निःसन्देह यह अपने ढंग का अनुपम ग्रन्थ है।

□



पृष्ठ 903
और सुनो !----
अब से कब तक ?

दार्शनिक विचार बीजों का पल्लवन : 'मूकमाटी' महाकाव्य

डॉ. विश्वनाथ भट्टाचार्य

आचार्य विद्यासागर रचित 'मूकमाटी' एक सुबृहत् महाकाव्य है। चार खण्डों में, प्रवहमान स्वच्छन्द शैली में, सर्वस्व-त्यागी जैन मुनि ने इस महाकाव्य की रचना की है। कवि का साधक चरित्र इस महाकाव्य के रसास्वादन में विशेष महत्त्व रखता है। सार्थक काव्य यद्यपि कवि की अपनी सीमाओं से बँधा नहीं रहता, फिर भी कवि की विश्वदृष्टि काव्य का मूलस्रोत होती है। इसी दृष्टि से इस महाकाव्य के विवेचन में कवि के साधक चरित्र का ध्यान रखना आवश्यक है।

मूक को मुखर बनाने की शक्ति एकमात्र कवि को है और कदाचित् परमेश्वर को। कवि यह कार्य स्वेच्छा से करता है और परमेश्वर को साधना की अपेक्षा रहती है। यही कारण है कि भारत की मान्यता है कि "अपारे काव्य-संसारे कविरेकः प्रजापतिः" – समग्र काव्य संसार का नियन्त्रण कवि की कल्पनाशक्ति का विलास है।

निर्ग्रन्थ हो कर आत्मसाक्षात्कार के परमानन्द में रमने की उत्कट अभिलाषा जिस साधक को हो, वह यदि कवि हो जाए तो कैसा काव्य लिखेगा ? इसी प्रश्न का एक उत्तर 'मूकमाटी' है। सब कुछ छोड़ कर ही सर्वस्व की प्राप्ति सम्भव है। इस आपात-विरोधी परम सत्य को कवि वास्तविकता में प्रतिष्ठित करने की शक्ति रखता है। जो जैसा है उसे वैसा ही रखकर उसमें कवि नया प्राण फूँकता है, नए धरातल पर उसकी निगूढ़ यथार्थता को उजागर करता है और जो अब तक अज्ञात था, दबा था, मूक था, उसे मुखर बना देता है।

'मूकमाटी' में कवि ने समग्र विश्व-प्रपंच को एक शृंखलित रूपक के माध्यम से दिखाया है। कवि का उद्देश्य रससृष्टि नहीं है। वह तो महाकवि अश्वघोष की भाँति कह सकता है : "इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः।" रति से विरति और विरति से समग्र को आत्मीय बनाने की ओर कवि अग्रसर हैं।

माटी से कुम्भकार कुम्भ बनाता है। आग में तप कर वह विश्व को निर्मल जल पिला कर धन्य करता है और मृत्कुम्भ के सामने स्वर्ण आदि से बना महामूल्य कुम्भ व्यर्थ है – मोटे तौर पर यही काव्य का मूलभूत रूपक है। 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' और 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'–कवि ने चार खण्डों के ये अत्यन्त सार्थक शीर्षक दिए हैं। वर्ण-लाभ से जिस गति का प्रारम्भ होता है उसकी परम परिसमाप्ति राख में है। सभी पदार्थ प्रतीकात्मक होने से वर्ण केवल रंग ही नहीं है और राख भी सामान्य राख नहीं, अपितु वासनाओं को अग्निसात् कर परिणामतः निर्मल 'चाँदी-सी राख' है, यह सहृदयों को कहने की जरूरत नहीं है। वस्तुतः कवि के रूप में इतनी विस्तृत, बहुमुखी रूपककल्पना का पूर्णांग निर्वाह कवि की असाधारण कवित्वसिद्धि का प्रमाण है।

कुम्भ के प्रतीक के द्वारा मानव जीवन का चित्रण बारहवीं शती के फारसी कवि और गणितज्ञ उमर खय्याम ने भी अपनी रुबाइयों में किया है, पर दृष्टिभेद के कारण फारसी कवि ने कुम्भ को निष्प्राण तथा भाग्यताड़ित असहाय वस्तु के रूप में देखा है जब कि तपस्वी कवि ने उसे माटी से लेकर प्राणप्रद, जलदान के पुण्य से परम प्राप्ति के मार्ग पर प्रतिष्ठित कर दिया है। दार्शनिक विचार-बीजों का कवित्व की भूमि में यह पल्लवन काव्य का महाकाव्यत्व और कवि की क्रान्तदर्शिता को सुस्पष्ट रूप में सूचित करता है।

कवि विद्यासागर की भाषाशैली विशेष रूप से प्रशंसनीय है। शब्दों के प्रयोग में वे निष्णात ही नहीं अपितु चौंका देने वाली कुशलता का प्रदर्शन करते हैं।

"अपराधी नहीं बनो/अपरा 'धी' बनो,/'पराधी' नहीं
पराधीन नहीं/परन्तु/अपराधीन बनो !" (पृ. ४७७)

संस्कृत भाषा का गम्भीर ज्ञान के बिना ऐसे प्रयोग सम्भव नहीं हैं। और ऐसा प्रयोग मात्र एक बार नहीं काव्य के आद्योपान्त सर्वत्र बलात् हमारी दृष्टि आकृष्ट करते हैं। निःसंशय, इस काव्य में रचयिता द्वारा हिन्दी भाषा के क्षेत्र में अनेक नवीन शब्दप्रयोग का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

साधकज्ञानी के रूप में मनुष्य का आकलन बाहर से सम्भव नहीं है, वह साधक के सर्वस्व-त्याग की निश्छलता से सिद्ध होता है। परन्तु कवि के रूप में आचार्य विद्यासागर हमारे सादर श्रद्धा के पात्र हैं, जिन्होंने मानव जीवन की सफलता के मार्ग में मृत्कुम्भ से मंगलमय जलसिंचन किया है। हमारी यह श्रद्धा और भी गहरी हो जाती है जब हम देखते हैं कि कितने अनायास गम्भीरतम दार्शनिक सिद्धान्तों को कवि ने समावेशित किया है। ज्ञान की पूर्णता कवि वाणी में अनायास विलसित हुई है। ज्ञानी तथा कवि दोनों रूपों में आचार्य विद्यासागर स्तुत्य हैं।

□

'मूकमाटी' : धर्म, दर्शन और अध्यात्म का सार

डॉ. हरि नारायण दीक्षित

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज प्रणीत 'मूकमाटी' विशिष्ट एवं अद्भुत रूपक महाकाव्य न केवल विषय वस्तु एवं प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से सहृदय पाठकों को चमत्कृत करने में सक्षम है, अपितु समसामयिक सन्दर्भों की पृष्ठभूमि में धर्म, दर्शन तथा अध्यात्म के सार को प्रस्तुत करके कवि की मौलिक दृष्टि का भी प्रमाण देता है। मूक, निरीह किन्तु ध्रुव सत्ता सम्पन्न मिट्टी को महाकाव्य का विषय बनाकर आचार्यश्री ने एक नई दृष्टि से मानव मूल्यों को स्थापित किया है। इस रचना के लिए आचार्यश्री साधुवाद के पात्र हैं।

मनोरम काव्य शैली में निबद्ध, कथा-कहानी की रोचकता से सम्पन्न इस महाकाव्य में धर्म, दर्शन जैसे दुरूह विषयों को रुचिकर प्रसंगों द्वारा सरलता से ग्राह्य बनाया गया है; प्रधानतः शान्त रस का निरूपण किया गया है; प्रकृति के विविध रूपों को प्रस्तुत किया गया है तथा सम्प्रेषणीय भाषा-शैली में विविध छन्दों और अलंकारों की छटा से निखरे हुए इस महाकाव्य को सहज ग्राह्य, भावाभिव्यक्ति में समर्थ भाषा में प्रस्तुत किया गया है। यही नहीं, भारतीय संस्कृति के मूल मन्त्र—सबके सुख, कल्याण की कामना—को प्रस्तुत महाकाव्य में अभिव्यक्त किया गया है।

□



पृष्ठ ३७०
लो, दीपक की लौ लौ....
...समग्रता से साक्षात्कार!

'मूकमाटी' महाकाव्य : एक कालजयी रचना

पद्मश्री रामनारायण उपाध्याय

जैन दर्शन के महान् चिन्तक, विचारक, तपस्वी आचार्य विद्यासागरजी महाराज मुक्त चिन्तन करने वाले मुक्त पुरुष हैं। ऐसे मुक्त पुरुष द्वारा 'माटी' जैसी तुच्छ वस्तु के माध्यम से महाकाव्य की रचना करना एक दुर्लभ कार्य है।

जिसने माटी की महिमा को पहचाना, माटी के नए-नए रूपों के दर्शन किए, माटी की तपस्या, साधना को समझा, जिसने माटी की उर्वरता, जीवन्तता, रूप, रस तथा गन्ध का आस्वादन किया, जिसने उसकी व्यथा को वाणी प्रदान की, वही तो सच्चा सन्त, सच्चा साहित्यकार या सच्चा कवि है।

हमारा शरीर स्वयं माटी का घट है। जीवन की भट्टी में तपकर ही वह पूर्ण कुम्भ का आकार ग्रहण करता है।

मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है। इसमें उसे होता, समिधा, आहुति और पूर्णाहुति की भूमिका निभानी होती है। इसमें आदमी पहले जंगल से लकड़ियाँ लाकर उनकी समिधा बना आहुति देकर अग्नि प्रज्वलित करता है, फिर अपने पवित्र कर्मों की निष्काम आहुतियाँ देकर घर-परिवार का मांगल्य न्योतता है। और अन्त में स्वयं समिधा बनकर यज्ञ में अपनी पूर्णाहुति देकर उसे सम्पूर्णता प्रदान करता है। आज कौन है जो बेज़बान की ओर से बोलता है यानी झाड़ की तरफ से बोलता है, पहाड़ की तरफ से बोलता है, फूल और फसलों की तरफ से बोलता है, मूकमाटी की तरफ से बोलता है ? जो इनकी तरफ से बोलता है वही सच्चा सन्त है, ऋषि है, कवि और नई सृष्टि का रचयिता है।

आचार्यजी ने एक उपन्यास की तरह माटी और कुम्भकार का रिश्ता सँजोया है। कुम्भकार पहले माटी से कंकरों को अलग कर मनुष्य की कमज़ोरियों को हटा उसे शुद्ध, मृदु, मुलायम रूप देकर फिर उसे कर्म के चक्के पर चढ़ाकर एक सम्पूर्ण कुम्भ, कलश का निर्माण करता है। लेकिन जब तक संघर्ष की आग में तपकर मनुष्य खरा नहीं उतरता, तब तक उसका जीवन स्वर्ण कलश की तरह चमक नहीं पाता। अतएव कुम्भकार उसे जीवन की अग्नि में तपाकर परिपक्वता प्रदान करता है। ऐसी तपस्या से निर्मित घट ही जीवन के जल से अमृत की तरह भरकर छलकता आया है।

हमारा सम्पूर्ण जीवन माटी की व्यथा कथा है। कहते हैं माटी ही नित्य नए-नए रूप धरते आई है। फूल से पूछा–"तुम्हें सौन्दर्य एवं सुगन्ध कहाँ से मिली ?" बोला–"माटी से पूछो। उसी ने मुझे रूप, रस, सुगन्ध प्रदान की।" मनुष्य से पूछा–"तुम्हें चारित्रिक सुगन्ध कहाँ से मिली ?" बोला–"माटी से पूछो। उसकी मौन तपस्या ने मुझे आचरण के माध्यम से बोलने की चारित्रिक सुगन्ध प्रदान की।"

सोचता हूँ :

"देखा है फूल/नहीं देखी गन्ध/जिया हूँ उसे।"

मूकमाटी के माध्यम से फसलें गातीं हैं, गुनगुनाती हैं, झरने संगीत का स्वर सुनाते हैं और वायु में प्राणों का स्पन्दन सुना जा सकता है।

कहते हैं पहले शून्य था। शून्य में से आकाश जन्मा, आकाश से वायु और वायु से अग्नि उत्पन्न हुई। अग्नि की गरमी से जल बना और जल में से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी पर वृक्ष, वनस्पति, अन्न उत्पन्न हुआ और उससे मनुष्य का जन्म हुआ। आदमी माटी से जनमा, माटी में पला और माटी में विलीन हो गया। यही मूकमाटी की व्यथा-कथा है।

आचार्यजी ने मूकमाटी के माध्यम से कुम्भ से ब्रह्माण्ड तक की कथा सँजोई है।

'मूकमाटी' आचार्य विद्यासागरजी का एक अप्रतिम महाकाव्य है। आचार्यजी ने सब कुछ अपने पर सह कर, सर्वस्व का त्याग कर माटी जैसी तुच्छ, मौन वस्तु को माध्यम बनाकर, उसके दर्द और व्यथा को वाणी प्रदान की है। बिना व्यथा के महाकाव्य की रचना नहीं की जा सकती। व्याध के बाण से बिंधे क्रौंच की चीख और सीता के निष्कासन की करुण कथा में से ही वाल्मीकि ने 'रामायण' जैसे महाकाव्य की रचना की।

जिस माटी के घड़े में ठण्डा जल पिलाने की क्षमता है, उसे कितना सह कर, आग में तप कर यह गुण मिला है! पहले उसे कुम्हार ने कुदाली से खोदा, फिर उसके कंकरों को साफ़ कर, पानी में सानकर, पाँवों से कुचलकर, चाक पर चढ़ाकर उसे 'घट' यानी घड़े का रूप दिया। फिर उसने अवे की 'आग' में तपने पर ही पूर्णता प्राप्त की। मनुष्य को जीवन शक्ति प्रदान करने के लिए, अन्न के उत्पादन के लिए खेत की मूकमाटी को कितना सहना पड़ा है। पहले उसे हल की नोक से चीर कर उसमें बीज बोया गया, फिर बीज अंकुरित होकर पौधा बना, फिर पल्लवित होकर फसल बना और उससे अन्न की प्राप्ति हुई।

हमारे यहाँ ब्रह्मा को ही घट-घट का निर्माता 'प्रजापति' कहा गया है। मनुष्य का शरीर भी तो माटी का घट है। परमेश्वर ने उसमें प्राणों का संचार किया। यह सम्पूर्ण पृथ्वी एक विशाल घट है। लेकिन सब कुछ अपने पर सह कर भी वह मूक है। माटी कभी कुछ बोलती नहीं। आचार्यश्री ने उसी मूकमाटी की व्यथा को वाणी प्रदान की है। इस तरह माटी की कथा, साहित्यकार की व्यथा सम्पूर्ण पृथ्वी की व्यथा-कथा है। उसे सुन्दर रूपक के माध्यम से, भावना पूर्ण शब्दों में महाकाव्य में बाँधना एक दुष्कर कार्य है। इसीलिए आचार्य विद्यासागर जी का 'मूकमाटी' महाकाव्य एक कालजयी रचना है। आपकी इस कालजयी रचना के लिए आने वाली पीढ़ियाँ शताब्दियों तक आपकी ऋणी रहेंगी।

□



पृष्ठ ८३
अधोमुखी जीवन
ऊर्ध्वमुखी हो/.... अर्घ पा
जाते हैं, यहाँ पर।

'मूकमाटी' : आचरण की शुचिता का महाकाव्य

डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र

आचार्य श्री विद्यासागरजी कवि होकर भी कवि-समाज से ऊपर हैं, जैसे चन्दन वृक्ष होकर भी तरु-समाज से ऊपर है, क्योंकि वह अपने शीतलता के गुण को कभी नहीं छोड़ता। तुलसीदासजी ने कहा है : "सन्त हृदय नवनीत समाना।" आचार्यश्री ने अपने हृदय के नवनीत को 'मूकमाटी' नामक काव्य कृति में संचित किया है, जिसके सेवन (अध्ययन-मनन) से विकारयुक्त हृदय शुद्ध स्वर्ण बन सकते हैं और भौतिकता के पंक में फँसी सृष्टि अपना कायाकल्प कर सकती है। हिन्दी के तीन अमर महाकाव्यों 'पदमावत', 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' की उज्ज्वल परम्परा में एक महाकाव्य और आ जुड़ा है और वह है 'मूकमाटी'। 'रामचरितमानस' में रामभक्ति की महिमा के वर्णन के साथ ही साथ गोस्वामीजी ने मर्यादा-रक्षण और आचार-विचार की संगति पर जोर दिया है। धर्म को व्यापक आयाम प्रदान किया गया है। व्यक्ति-धर्म से प्रारम्भ करके विश्वधर्म की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचा गया है। 'पदमावत' प्रेम की पीर के माध्यम से ईश्वर को पाने की साधना का अन्योक्तिपरक महाकाव्य है। 'कामायनी' हृदय और बुद्धि, इच्छा, क्रिया और ज्ञान, भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास है। 'मूकमाटी' इस परम्परा में एक नई कड़ी जोड़ती है। वह आध्यात्मिकता की व्याख्या करती है। आध्यात्मिकता की बातें तो बहुत की जाती हैं, लेकिन आध्यात्मिकता क्या है, इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर 'मूकमाटी' में है। आचार्यश्री इस सफलता के लिए साधुवाद के पात्र हैं।

आध्यात्मिकता क्या है ? आचरण की शुचिता। दलित द्राक्षा-सा स्वयं को परहित के लिए निचोड़ देना। आचरण की शुचिता के बिना कोई भी सन्त, महात्मा और भगवान् नहीं हो सकता। इस बात को श्री विद्यासागरजी ने माटी, शिल्पी, सेठ, कुम्भ तथा कनक-कलश आदि को लेकर खड़ी की गई सूक्ष्म-सी कथा के माध्यम से कहा है :

- *"रास बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?/रा···स···स···रा*
  आशीष के हाथ उठाती-सी/माटी की मुद्रा/उदार समुद्रा।" (पृ. ५७)
- *"मन्त्र न ही अच्छा होता है/ना ही बुरा/अच्छा, बुरा तो*
  अपना मन होता है/स्थिर मन ही वह/महामन्त्र होता है
  और/अस्थिर मन ही/पापतन्त्र स्वच्छन्द होता है,
  एक सुख का सोपान है/एक दुःख का सो पान है।" (पृ. १०८-१०९)

जितेन्द्रिय, संयमी, निरभिमानी, यश-कीर्ति के प्रति उदासीन, परोपकारी सन्त ही आध्यात्मिक कहा जा सकता है। समाज यदि उसका अनुकरण करे तो अपने रोगों से मुक्त हो सकता है। छोटे से छोटे प्रसंग को भी इस महाकवि ने गहन एवं उपादेय वचनों से चित्रित किया है। उदाहरणतः शिल्पी बालटी रस्सी में बाँधकर कुएँ में डालना चाहता है, माटी को भिगाने के लिए जल प्राप्त करने के लिए। रस्सी में गाँठ पड़ जाती है। वह गाँठ को प्रयत्नपूर्वक खोल डालता है। रस्सी रसना से पूछती है कि गाँठ से आपके स्वामी को क्या बाधा थी ? रसना उत्तर देती है कि मेरे स्वामी अहिंसा-प्रिय हैं। यदि गाँठ खोले बिना जल भरी बालटी खींची जाती तो गाँठ गिर्री पर गिरती, रस्सी गिर्री में फँसती और परिणाम स्वरूप :

"बालटी का बहुत कुछ जल/उछलकर पुनः/कूप में जा गिरेगा

उस जल में रहते अनेक जलचर जीव/लगी चोट के कारण/अकाल में ही मरेंगे,
इस दोष के स्वामी/मेरे स्वामी कैसे बन सकते हैं ? " (पृ. ६५)

बालटी कुएँ में उतरी तो आत्म-तत्त्व की ज्ञाता संकल्पिता मछली को वह किसी अवतारी पुरुष की तरह लगी। अन्य मछलियाँ भोजन की आशा में उसकी ओर दौड़ीं और उसे रिक्त पा निराश हो गईं। संकल्पिता मछली को उस बालटी पर 'धम्मो दयाविसुद्धो' तथा 'धम्मं सरणं गच्छामि' जैसे सूत्र अंकित दीख पड़े। वह मछली उसमें प्रवेश कर मानो मोक्ष पा जाती है। अन्य मछलियाँ उसकी जय जयकार करती हैं। बालटी में प्रविष्ट वह मछली ऊर्ध्व संचरण करती है– हठयोगी की तरह। मछली के रूप में सिद्ध पुरुष की दशा का कितना मनोज्ञ चित्रांकन है :

"तैर नहीं रही मछली।/भूल-सी गई है तैरना वह,
स्पन्दन-हीन मतिवाली हुई है/स्वभाव का दर्शन हुआ, कि
क्रिया का अभाव हुआ-सा/लगता है अब···!
अमन्द स्थितिवाली होती है वह !" (पृ. ७८)

'मूकमाटी' के महाकाव्यत्व के बारे में सन्देह किए जाने की सम्भावना है, क्योंकि किसी विधा के परम्परागत स्थूल लक्षणों के आधार पर उस विधा की नूतन कृति को परखने की गलत परम्परा हमने डाल रखी है। विधा की परम्परागत रूढ़ियों को तोड़ने वाली कृति का सम्पूर्ण ढाँचा नया होता है। वह एक इमारत के समान दूसरी इमारत बनाने की क्रिया नहीं है। उसमें रचनाकार का सम्पूर्ण व्यक्तित्व, उसका परिवेश, उसका युग रूपायित होता है। 'मानस' की अनुकृति 'साकेत' नहीं है, 'साकेत' की अनुकृति 'कामायनी' नहीं है और 'कामायनी' की अनुकृति 'मूकमाटी' नहीं है। लक्षण-ग्रन्थ कुछ भी कहें, महाकाव्य का फलक बहुत व्यापक होता है, उसमें कवि का अपना जीवन-बिम्ब होता है, अपनी दृष्टि होती है। सम्पूर्ण विराट् जीवन और सृष्टि के सम्बन्ध में उसमें गहन चिन्तन होता है। युग के समक्ष उपस्थित संकट से निगाहें न चुराकर महाकाव्य उससे टकराता है। 'मूकमाटी' इस निकष पर खरी उतरती है। आतंकवाद आज की ज्वलन्त समस्या है। भारत ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व उसकी गुंजलक में फँसा हुआ है। 'मूकमाटी' का रचनाकार भी इस ओर पूरा ध्यान देता है :

"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह,/ये आँखें अब/आतंकवाद को देख नहीं सकतीं,
ये कान अब/आतंक का नाम सुन नहीं सकते।" (पृ. ४४१)

आतंकवाद क्रोध पर आधारित है। क्रोध करनेवाला अन्यों को ही नहीं, स्वयं को भी हानि पहुँचाता है :

"जिसे सर्प काटता है/वह मर भी सकता है/और नहीं भी,
उसे जहर चढ़ भी सकता है/और नहीं भी,/किन्तु
काटने के बाद सर्प वह/मूर्च्छित अवश्य होता है।" (पृ. ४१६)

एक जमाना था कि 'साम्यवाद' और 'समाजवाद' को ढोल बजा बजा कर चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में जन-मानस पर प्रतिष्ठित किया जाता था। 'समाजवाद' की दुरंगी नीति का मुलम्मा निकल चुका है और 'साम्यवाद' की भव्य इमारत घर-घराकर गिर रही है। आचार्यश्री ने समाजवाद का रामनामी दुपट्टा ओढ़नेवालों की रंगे सियारवाली

छवि पर से परदा उठा दिया है :

"स्वागत मेरा हो/मनमोहक विलासितायें/मुझे मिलें अच्छी वस्तुएँ–
ऐसी तामसता भरी धारणा है तुम्हारी,/फिर भला बता दो हमें,
आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी ?
सबसे आगे मैं/समाज बाद में !" (पृ. ४६०-४६१)

महाकवि विद्यासागर के अनुसार आचरण की शुचिता वाले परोपकारी लोगों का जीवन ही समाजवाद है :

"समाज का अर्थ होता है समूह/और/समूह यानी
सम–समीचीन ऊह–विचार है/जो सदाचार की नींव है।
कुल मिला कर अर्थ यह हुआ कि/प्रचार-प्रसार से दूर
प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है।
समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से/समाजवादी नहीं बनोगे।" (पृ. ४६१)

पूर्व ने स्वयं को हीन और पश्चिम को श्रेष्ठ मानकर पश्चिमी-सभ्यता को सिर पर बिठा रखा है। वहाँ का घटिया और सड़ा-गला साहित्य हम परिणाम की चिन्ता किए बिना गले के नीचे उतारे जा रहे हैं। पश्चिम की चमक-दमक ने हमारी दृष्टि पर परदा डाल दिया है। हम पूर्व और पश्चिम का अन्तर ही भूल गए हैं। 'मूकमाटी' के रचयिता ने 'ही' और 'भी' के द्वारा इस अन्तर को स्पष्ट किया है :

" 'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को/'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है/'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है,
'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।
रावण था 'ही' का उपासक/राम के भीतर 'भी' बैठा था।
यही कारण कि/राम उपास्य हुए, हैं, रहेंगे आगे भी।" (पृ. १७३)

'साम्यवाद' की असफलता के बाद एक लोकतन्त्र का ही रास्ता बच रहा है लेकिन उसे भी दूषित करने का प्रयास पूरे ज़ोर-शोर से जारी है। 'भी' की तलस्पर्शी दृष्टि लोकतन्त्र की रीढ़ है। आचार्यश्री इस वसुधा पर 'भी' को प्रतिष्ठित होते हुए देखना चाहते हैं :

" 'भी' के आस-पास/बढ़ती-सी भीड़ लगती अवश्य,
किन्तु भीड़ नहीं,/'भी' लोकतन्त्र की रीढ़ है।
लोक में लोकतन्त्र का नीड़/तब तक सुरक्षित रहेगा
जब तक 'भी' श्वास लेता रहेगा।/'भी' से स्वच्छन्दता-मदान्धता मिटती है
स्वतन्त्रता के स्वप्न साकार होते हैं,/सद्विचार सदाचार के बीज
'भी' में हैं, 'ही' में नहीं।/प्रभु से प्रार्थना है, कि/'ही' से हीन हो जगत् यह
अभी हो या कभी भी हो/'भी' से भेंट सभी की हो।" (पृ. १७३)

कहा जा सकता है कि इस कृति का नायक भव्य और उदात्त गुणों से सम्पन्न नहीं है। माटी को नायक बनाने

का तुक क्या है ! 'माटी' की महत्ता को कम लेखनेवालों के लिए ही शायद किसी ने लिख रखा है :

"माटी कहे कुंभार से, तू का रौंदे मोय।
इक दिन ऐसा आयगा, मैं रौंदूँगी तोय ॥"

माटी हेय और तुच्छ नहीं है। माटी से ही सब उपजता है और अन्ततः सब उसी में समा जाते हैं। जायसी के 'पदमावत' महाकाव्य के अन्त में रानी पद्मिनी और राजपूत रानियों के सती हो जाने के बाद सुलतान वहाँ पहुँचता है और एक मुट्ठी राख उठाकर नीचे छोड़ देता है। कवि ने बताया है कि जीवन की इतिश्री इसी प्रकार होती है। कहा भी गया है : "क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा । पंच तत्त्व यह रचित सरीरा।" पंच तत्त्वों से रचित यह शरीर रूपी कुम्भ महत् है, भव्य है और उदात्त है। इसकी पवित्रता को बनाए रखने की बात हर महाकवि दुहराता आया है। 'मूकमाटी' का नायक माटी का पुतला यह मनुष्य है जो अपनी साधना से सम्पूर्ण चराचर के लिए उपयोगी बन जाता है। ४८८ पृष्ठों की यह बृहदाकार काव्यकृति चार खण्डों में विभाजित है। हलके कथासूत्र के सहारे जीवन के मर्म में प्रवेश कर जीवन के विराट् सत्यों का उद्घाटन किया गया है। इतना व्यापक फलक जिस काव्यकृति का हो और इतनी तलस्पर्शी मानव कल्याणकारी दृष्टि जिसमें हो, उसे महाकाव्य नहीं कहेंगे तो और क्या कहेंगे। परम्परा की लकीर पीटने वालों की निराशा सत्य का कण्ठावरोध तो नहीं कर सकती। 'मूकमाटी' को दलित का प्रतीक मान कर उसे 'दलित साहित्य' से जोड़ने की कोई अर्थवत्ता मैं नहीं मानता।

कहनेवाले तो यह भी कह सकते हैं कि आचार्य विद्यासागर वैरागी सन्त हैं, उनका काव्य-सृजन से क्या नाता ? नाता बताने के पूर्व मैं यह स्मरण दिला दूँ कि तुलसी, जायसी, कबीर, सूर, मीरा क्या थे और फिर भी उनका काव्य-सृजन से नाता कैसे था ! आचार्यश्री की निरीक्षण शक्ति बहुत तीव्र है और देखी हुई हर मुद्रा, हर भाव, हर भंगिमा को ज्यों का त्यों उरेह देने की अद्भुत काव्य-क्षमता आप में है। इस सम्बन्ध में एक ही उदाहरण पर्याप्त है :

"उसके दोनों कन्धों से उतरती हुई/दोनों बाहुओं में लिपटती हुई,
फिर दायें वाली बायीं ओर/बायीं वाली दायीं ओर जा
कटि-भाग को कसती हुई/नीले उत्तरीय की दोनों छोर
नीचे लटक रही हैं।" (पृ. ३३६)

आवश्यक होने पर आचार्यश्री उपमानों की झड़ी-सी लगा देते हैं। उपमानों का चयन कवि की निरीक्षण शक्ति और जीवनानुभव पर निर्भर करता है :

"कृष्ण-पक्ष के चन्द्रमा की-सी/दशा है सेठ की
शान्त-रस से विरहित कविता-सम/पंछी की चहक से वंचित प्रभात-सम
शीतल चन्द्रिका से रहित रात-सम/और/बिन्दी से विकल
अबला के भाल-सम/सब कुछ नीरव-निरीह लग रहा है।
लो,/ढलान में ढुलकते-ढुलकते/पाषाण-खण्ड की भाँति
घर आ पहुँचता है सेठ···!" (पृ. ३५१-३५२)

प्राचीन काल से ही कवियों की बहुज्ञता भी चर्चा का विषय रही है। कवि कोरा भावधारा में डूबने-उतराने वाला भावनाशील जीव ही नहीं होता, जीवन का व्यापक अनुभव तथा प्रचुर ज्ञान-भण्डार भी उसके पास होता है, वह

बहुपठित, ज्ञानी एवं पण्डित भी होता है। बहुज्ञता के पीछे यही विचारधारा निहित है। तुलसीदास, केशवदास, बिहारी, रत्नाकर इत्यादि की बहुज्ञता के बारे में पर्याप्त लेखन हुआ है। 'मूकमाटी' के रचयिता भी इस क्षेत्र में किसी से पीछे नहीं हैं। विद्यासागर नाम सही ढंग से 'मूकमाटी' में सार्थक हुआ है। आचार्यश्री ने प्राय: सभी महत्त्वपूर्ण विषयों में अपनी गहरी पैठ का परिचय दिया है।

प्रारम्भ साहित्य और व्युत्पत्ति शास्त्र से ही किया जाय। 'जो सहित है, वही साहित्य है।' मानव जीवन को क्षुद्र, हेय और निराशायुक्त बनाने वाला साहित्य कभी वांछनीय नहीं हो सकता :

"हित से जो युक्त-समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव-सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!" (पृ. १११)

शब्दों की व्युत्पत्ति पर तो आचार्यश्री का असाधारण अधिकार है। कहीं-कहीं शब्दों के विलोम प्रयोग से भी वे गहरी अर्थवत्ता उत्पन्न करते हैं, जैसे 'राख-खरा', 'राही-हीरा', 'रसना-नासर', 'धरती-तीरध', 'धरणी-नीरध' इत्यादि। व्युत्पत्ति-शास्त्र के आधार पर 'नियति' और 'पुरुषार्थ' के अर्थ निम्नलिखित ढंग से निकाले गए हैं :

" 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन-स्थिरता है
अपने में लीन होना ही नियति है/निश्चय से यही यति है,/और
'पुरुष' यानी आत्मा-परमात्मा है/'अर्थ' यानी प्राप्तव्य-प्रयोजन है
आत्मा को छोड़कर/सब पदार्थों को विस्मृत करना ही/सही पुरुषार्थ है।"
(पृ. ३४९)

'कुम्भकार' की नूतन व्याख्या देखिए :

" 'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य-/यहाँ पर जो
भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

'मूकमाटी' के कथ्य को गणित एवं संख्या-शास्त्र के माध्यम से भी व्यक्त किया गया है। कुम्भकार ने कुम्भ के कर्ण-स्थान पर ९९ और ९ इन दो संख्याओं को अंकित किया है। प्रथम क्षार-संसार की द्योतक है और द्वितीय क्षीर-सार की। एक से मोह का विस्तार मिलता है, दूसरी से मोक्ष का द्वार खुलता है। ९९ को दो आदि संख्याओं से गुणित करने पर भले ही संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाए परन्तु लब्ध संख्या को परस्पर मिलाने से ९ की संख्या ही शेष रहती है, यथा :

"९९x२=१९८, १+९+८=१८, १+८=९
९९x३=२९७, २+९+७=१८, १+८=९
९९x४=३९६, ३+९+६=१८, १+८=९ ।" (पृ. १६६)

इसी प्रकार ९ की संख्या को दो आदि संख्या से गुणित करने पर संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती हुई भी परस्पर मिलाने पर ज्यों की त्यों ९ की संख्या ही शेष रहती है, यथा :

"९x२=१८, १+८=९
९x३=२७, २+७=९
९x४=३६, ३+६=९।" (पृ. १६७)

कुम्भ के कण्ठ पर ६३ की संख्या अंकित है। ६३ प्रतीक है सज्जनता का अर्थात् एक दूसरे के सुख-दुःख में भाग लेना। इसका विलोम ३६ दुर्जनता का प्रतीक है।

संगीत और विभिन्न वाद्यों से उठनेवाली ध्वनियों की जानकारी आचार्यश्री को है। मृदंग हाथ की गदिया और मध्यमा के संघर्ष से बजाया जाता है। उससे निकलने वाली ध्वनि से महाकवि ने अनासक्ति का भाव व्यंजित कर दिया है :

"धा···धिन्···धिन्···धा···/धा···धिन्···धिन्···धा···
चेतन-भिन्ना चेतन-भिन्ना,
ता···तिन···तिन···ता···/ता···तिन···तिन···ता
का तन···चिन्ता, का तन···चिन्ता ?" (पृ. ३०६)

'सा-रे-ग-म-प-ध-नि' के सम्बन्ध में भी यही बात दिखाई देती है :

"सा···रे ग···म यानी/सभी प्रकार के दुःख
प···ध यानी ! पद–स्वभाव/और/नि यानी नहीं,
दुःख आत्मा का स्वभाव–धर्म नहीं हो सकता।" (पृ. ३०५)

'मूकमाटी' के द्वितीय खण्ड में साहित्य में प्रयुक्त विभिन्न रसों की चर्चा है और मानव के लिए उनकी उपयोगिता-अनुपयोगिता पर विचार भी व्यक्त किए गए हैं। वीर रस के सेवन से मानव-रक्त में उबाल आता है। जीवन में उद्रेक-उद्दण्डता का अतिरेक होता है :

"पर पर अधिकार चलाने की भूख/इसी का परिणाम है।
बबूल के ठूँठ की भाँति/मान का मूल कड़ा होता है।" (पृ. १३१)

वीर रस की हँसी उड़ाते हुए हास्य रस अपनी महत्ता घोषित करते हुए कहता है कि हास्य से मनुष्य की उम्र बढ़ती है। शिल्पी ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा है :

"हँसन-शील/प्रायः उतावला होता है/कार्याकार्य का विवेक
गम्भीरता धीरता कहाँ उसमें ?/बालक-सम बावला होता है वह।" (पृ.१३३-१३४)

रौद्र रस कराल-काला, लाल-लाल तेज़ाबी आँखों वाला, लम्बी फड़कती खतरनाक नाक वाला है। शिल्पी के द्वारा उसके सम्बन्ध में टिप्पणी की गई है :

"आमद कम खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का
कूबत कम गुस्सा ज्यादा/लक्षण है पिट जाने का।" (पृ. १३५)

शृंगार के सम्बन्ध में कवि की उक्ति है कि अन्तरात्मा में निहित शृंगार ही वास्तविक और उपयोगी है।

किसलय के गीत के माध्यम से प्रकृति इसी आन्तरिक शृंगार के रस में छक कर लीन है। बीभत्स रस तो स्वयं शृंगार को नकार देता है।

सब रसों की मूल जननी प्रकृति करुणा से युक्त है। वह सदैव करुणा की महत्ता उद्घोषित करती रहती है :

"सदय बनो !/अदय पर दया करो/अभय बनो !
सभय पर किया करो अभय की/अमृत-मय वृष्टि
सदा सदा सदाशय दृष्टि/रे जिया, समष्टि जिया करो !" (पृ.१४९)

करुणा भाव और शान्त रस का अन्तर बड़ी खूबी के साथ स्पष्ट किया गया है :

"उछलती हुई उपयोग की परिणति वह/करुणा है/नहर की भाँति !
और/उजली-सी उपयोग की परिणति वह/शान्त रस है/नदी की भाँति !
नहर खेत में जाती है/दाह को मिटाकर/सुख पाती है, और
नदी सागर को जाती है/राह को मिटाकर/सुख पाती है।" (पृ. १५५-१५६)

वात्सल्य को महासत्ता माँ के गोल-गोल कपोल तल पर उद्भूत माना गया है। प्रकृति वात्सल्य के द्वारा ही सृष्टि को परिचालित करती है। शान्त रस की परिभाषा सर्वाधिक सटीक एवं 'मूकमाटी' के मूल प्रतिपाद्य से एकदम जुड़ी हुई है :

"सब रसों का अन्त होना ही—/शान्त-रस है।/यूँ गुनगुनाता रहता
सन्तों का भी अन्तःप्रान्त वह।/···धन्य !" (पृ. १६०)

इस लेख के कलेवर के विस्तार-भय से हम इतना ही कहकर इस प्रकरण को समाप्त करेंगे कि इसमें मन्त्र-विद्या, बीजाक्षरों के चमत्कार, आयुर्वेद के प्रयोग तथा विज्ञान जन्य नूतन आविष्कार इत्यादि विभिन्न क्षेत्रों की गहन जानकारी का परिचय मिलता है। जीवन की व्यापकता एवं विशालता को समेटने एवं उसके ज़ख्मों पर मरहम रखने के लिए महाकवि में बहुज्ञता का होना आवश्यक है, क्योंकि महाकवि केवल गीति-काव्य नहीं रचता, केवल मुक्तक नहीं रचता, अपितु वह मानव मुक्ति के धवल मार्ग को सूर्य रश्मियों जैसी अपनी दूरदृष्टि से आलोकित करना चाहता है। 'मूकमाटी'कार इस निष्कर्ष पर खरे उतरते हैं।

'मूकमाटी' का अभिव्यक्ति पक्ष सबल ही नहीं, प्राणवान् है। भाषा पर आचार्यश्री का असाधारण अधिकार है। वे अपनी बात प्रभावशाली ढंग से चित्रोपम शैली में देने की कला में निष्णात हैं। व्युत्पत्ति और विलोम के उदाहरणों में कवि के भाषा-कौशल के धनी होने का जीवन्त प्रमाण मिलता है। माटी को नायक बनाकर लिखी गई यह कृति मूक नहीं है किन्तु गम्भीर और गहन अवश्य है। भौतिक रसों की खोज में भटकते भ्रमर-वृत्ति वाले हृदयों को शायद यह नीरस लगे। 'मूकमाटी' वह 'पाकेट बुक' नहीं है जिसे पढ़ने के बाद कोई पाकेट में रखना नहीं चाहता। यह वह कृति-रत्न है जिसे पूज्य मानकर हृदय के समीप रखा जाता है और ज्ञानकोष के रूप में मार्गदर्शन हेतु सदैव उलटा-पुलटा जाता है, पढ़ा जाता है, चिन्तन-मनन किया जाता है। विज्ञान के विनाशकारी युग में मुनि विद्यासागर जैसे भगीरथ द्वारा लाई गई 'मूकमाटी' जैसी ज्ञान-गंगा परमावश्यक है। इसके द्वारा भाषा, समाज, देश और विश्व के विनाश को रोका जा सकता है।

□

'मूकमाटी' : आधुनिक काव्य जगत् की अनुपम उपलब्धि

डॉ. विमलेश कुमार श्रीवास्तव

आचार्य श्री विद्यासागरजी की महनीय कृति 'मूकमाटी' आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों की परम्परा में युगीन अपेक्षाओं के अनुरूप उच्च विभूतियों से सम्पन्न एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। प्रायः कहा जाता है कि कोई यदि उच्च कविता करना चाहता है तो उसे उच्च विषय का चयन करना चाहिए। परन्तु 'मूकमाटी' को महाकाव्य का विषय बनाया जाएगा, यह सामान्य धारणाओं के प्रतिकूल, किन्तु युगीन मान्यताओं के अनुकूल है। 'मूकमाटी' का शीर्षक देखकर इसकी कथा का अनुमान करना सहज नहीं है। आज का युग उपेक्षित मनुष्यता के उत्थान का युग है और 'माटी' को, वह भी 'मूकमाटी' को महाकाव्य की गरिमा देना तो और भी महनीय है।

आचार्यों ने महाकाव्य की गरिमा बनाए रखने के लिए अनेक प्रतिमानों की सृष्टि की है किन्तु ये प्रतिमान तो लक्ष्य ग्रन्थों के गुणों का सन्धान करके ही बनाए गए हैं। अतः कुछ वैसे भी काव्य होते हैं जो प्रतिमानों की सिद्ध परिपाटी पर नहीं चलते अपितु नए प्रतिमानों के जनक बनने का श्रेय प्राप्त करते हैं। यदि 'मूकमाटी' को उस कोटि में ही निबद्ध किया जाय तो कोई अतिरंजना नहीं होगी। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' की तरह सूक्ष्म से सूक्ष्म और विराट् से विराट् को अपने में समाहित करनेवाला यह ग्रन्थ आत्म तत्त्व की उसी महत् विभूति से अलंकृत है।

मनुष्य और प्रकृति का साहचर्य अनादि काल से चलता आया है और जब तक दोनों हैं तब तक यह सम्बन्ध विच्छिन्न होने का कोई प्रश्न नहीं है। मिट्टी तो धरातल है जिस पर मनुष्य की सम्भावनाएँ, सभ्यताएँ और जीवन का वैभव खड़ा है। उसका अस्तित्व मिट्टी के साथ जुड़ा है। निसर्ग का सारा कर्म और व्यापार इसी धरा पर सम्पादित होता है। ऐसी धरती, जो सबको धारण कर सके, मिट्टी का पुंज है। वस्तुओं के नाम चाहे जो हों वे अपने मूलरूप में मिट्टी हैं। इस सत्य की सतह पर खड़े होने वाले मानव को प्रकृति के साथ निरन्तर सम्पर्क में रखने का उपक्रम मिट्टी करती है। आकाश के नीचे जो घटित होता है वह धरती से कुछ छिपा नहीं है। इस व्यापक तथ्य का उद्घाटन करतीं 'मूकमाटी' की ये पंक्तियाँ :

"लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी/प्रभाकर के कर-छुवन से
बचना चाहती है वह;/अपनी पराग को–/सराग-मुद्रा को–
पाँखुरियों की ओट देती है।/लो !···इधर···!/अध-खुली कमलिनी
डूबते चाँद की/चाँदनी को भी नहीं देखती/आँखें खोल कर।
ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना/सब के वश की बात नहीं,
और···वह भी ···/स्त्री-पर्याय में–/अनहोनी-सी···घटना !" (पृ. २)

धरती से आकाश तक की व्याप्ति को धरातल पर उतारने का प्रयास करने वाले कवि को कुछ ही पंक्तियाँ कहनी पड़ी हैं किन्तु, विराट् के साथ उदात्त अपनी गरिमा में आ बैठा है।

खण्ड एक 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' के शीर्षक से घोषित है। अनमेल तत्त्वों का उपस्थापन साधना की बाधा है। जब तक उपासना के क्षेत्र में साधु अपने प्रयत्न से चोर को साधु की मुद्रा में नहीं ला देता है, उसे अत्यन्त सावधानी रखनी पड़ती है। यद्यपि इसमें सम्भावनाएँ अत्यन्त प्रबल हैं कि साधु की संगति से चोर साधुत्व यदि प्राप्त नहीं भी करे, साधुत्व के समीप तो आ ही जाता है। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि साधुत्व की कोमल खराद पर दुर्जन का भोथरा लोह शाणित नहीं होता। ऐसी अवस्था में शाण के बिगड़ने का भय रहता है। अतः ऐसी अनमेल स्थिति से छुटकारा ही

साधुत्व की राह में मार्गदर्शक है। कंकरों से युक्त मिट्टी घड़े के निर्माण की योग्यता तो रखती ही नहीं, फिर भी, कभी महीन होकर यदि वह घड़े की दीवारों में स्थान पा भी गई तो तपस्या की आँच में तपने की शक्ति नहीं रहने के कारण वह अवाँ में पकने के समय घड़े का ही व्यक्तित्व बिगाड़ देने का उपक्रम करती है। इसीलिए अपेक्षा इस बात की है कि व्यक्तित्व के विरोधी तत्त्वों से छुटकारा पाया जाय :

"तुम में कहाँ है वह/जल-धारण करने की क्षमता ?/जलाशय में रह कर भी
युगों-युगों तक/नहीं बन सकते/जलाशय तुम !/मैं तुम्हें
हृदय-शून्य तो नहीं कहूँगा/परन्तु/पाषाण -हृदय अवश्य है तुम्हारा,
दूसरों का दुःख-दर्द/देखकर भी /नहीं आ सकता कभी
जिसे पसीना/है ऐसा तुम्हारा/···सीना !" (पृ. ५०)

शिल्पी का कौशल भी महत्त्वपूर्ण है। इसी कौशल के कारण मिट्टी के विजातीय तत्त्वों का पता लगता है। जो घट निर्माण के अयोग्य हैं, वे मिट्टी में मिले हुए होकर भी मिट्टी की महत्ता प्राप्त नहीं कर सकते। अतः उनसे संकर-दोष का प्रक्षालन आवश्यक है। इस संकर-दोष से उबरना सिद्धि का सोपान है, वर्ण का लाभ - प्राप्ति है।

अन्वेषण का महत्त्व निर्विकल्प रूप से है। अन्वेषणकर्ता किसी-न-किसी राह से चलकर राही की संज्ञा अवश्य प्राप्त करता है और 'राही' में साधना की जो लौ प्रदीप्त है, उसे विलोम रूप से एक दिन 'हीरा' अवश्य बना देगी। यह राह की साधना, साधना में आए कष्ट का सहना ही है जो अत्यन्त श्यामवर्ण काले पत्थर को विच्छित्तियों से भरा आकर्षक, लुभावन, महार्घ हीरा बना देता है। मिट्टी ने भी कंकरों से यही कहा है :

"संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है,
स्वयं राही शब्द ही/विलोम-रूप से कह रहा है —/रा···ही···ही···रा
और/इतना कठोर बनना होगा/कि /तन और मन को/तप की आग में
तपा-तपा कर/जला-जला कर/राख करना होगा/यतना घोर करना होगा
तभी कहीं चेतन—आत्मा/खरा उतरेगा।" (पृ. ५६-५७)

घट के भीतर योगों की खोज करनेवाली कवि-दृष्टि असीम समझे जाने वाले तत्त्वों को ससीम बना देती है। जो काल का चरण-निक्षेप है वह घट के भीतर मन्थन के रूप में सतत चलता रहता है। इस दृष्टि-भेद के फलक पर, विचार के इस कगार पर युगों का योग वाणी और आन्तरिक चिन्तन से मिल जाता है :

"सत्-युग हो या कलियुग/बाहरी नहीं/भीतरी घटना है वह
सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा !/और
असत्-विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ/सत् को असत् मानने वाली दृष्टि
स्वयं कलियुग है बेटा !" (पृ. ८३)

महाकाव्य का दूसरा खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' निर्माण की दूसरी प्रक्रिया से प्रारम्भ होता है। मात्रानुकूलता और आनुपातिक योग ही जीवन की साधना को गन्तव्य तक ले जाते हैं।

कुम्भकार और मिट्टी की वार्त्ता में जिस सहजता से प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध उजागर किया गया है, वह महाकाव्य में व्याप्त उस दृष्टि का परिचायक है जिसमें अत्यन्त पटुता के साथ लघुता से महत् की निष्पत्ति का आयोजन

है। कुम्भकार मिट्टी को उत्तर देता है :

"स्वभाव से ही/प्रेम है हमारा/और/स्वभाव में ही/क्षेम है हमारा।
पुरुष प्रकृति से/यदि दूर होगा/निश्चित ही वह/विकृति का पूर होगा
पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।" (पृ. ९३)

असावधान जीव अपने पतन का मार्ग स्वयं बनाता है, क्षत होने की सारी बाधाओं को मानो स्वयं आमन्त्रण देता है। जब स्वयं का यह अपराध स्वीकृति की शाण पर चढ़ता है तो आत्मा की विकास यात्रा प्रारम्भ होती है। मिट्टी बनाने की प्रक्रिया में कुम्भकार की कुदाली एक काँटे के माथे पर जा लगती है और उसके माथे से रक्तधारा निकल पड़ती है। काँटा लघु चेतन प्राणी का प्रतीक बनकर बदले की प्रबल भावना में लिप्त होता है। इस प्रसंग पर कवि ने कई दृष्टान्तों के माध्यम से बदले की भावना को वह प्रचण्ड अनल बतलाने का उपक्रम किया है जिसमें काया ही नहीं, प्राण तत्त्व तक झुलसने लगते हैं। इसी अवसर पर पुरावृत्त का सहारा लेते हुए कवि ने बाली और दशानन के माध्यम से बदले की भावना को अधम बतलाया है।

इसी क्रम में भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य सभ्यता का तात्त्विक अन्तर बतलाते हुए कवि ने फूलों का ईश्वर के चरणों में चढ़ने का रहस्य उद्घाटित किया है :

"पश्चिमी सभ्यता/आक्रमण की निषेधिका नहीं है/अपितु !
आक्रमण-शीला गरीयसी है/जिसकी आँखों में/विनाश की लीला विभीषिका
घूरती रहती है सदा सदोदिता/और/महामना जिस ओर
अभिनिष्क्रमण कर गये/सब कुछ तज कर, वन गये
नग्न, अपने में मग्न बन गये/उसी ओर···/उन्हीं की अनुक्रम-निर्देशिका
भारतीय संस्कृति है/सुख-शान्ति की प्रवेशिका है।
शूलों की अर्चा होती है,/इसलिए/फूलों की चर्चा होती है।
फूल अर्चना की सामग्री अवश्य हैं/ईश के चरणों में समर्पित होते वह
परन्तु/फूलों को छूते नहीं भगवान्/शूल-धारी होकर भी।
काम को जलाया है प्रभु ने/तभी ···तो···/शरण-हीन हुए फूल
शरण की आस ले/प्रभु-चरणों में आते वह।" (पृ. १०२-१०३)

दूसरे खण्ड में ही शब्द-बोध और शोध की सरिता में पाठकों को सन्तरण कराता हुआ कवि रचना-प्रक्रिया पर भी अपने विचार प्रकट कर देता है। रचना अतीत का पुनरवलोकन और सृष्टि की पुनस्सृष्टि है। इस क्रम में निरपेक्षता का जितनी दूर तक निर्वाह किया जाय, रचना उतनी ही महनीय होती है। भोक्ता और स्रष्टा का यह अन्तराल कृति को अधिक विश्वसनीयता और दीर्घजीवन प्रदान करता है। कवि का कथन है :

"प्रवचन-काल में प्रवचनकार,/लेखन-काल में लेखक
दोनों लौट जाते हैं अतीत में।/उस समय प्रतीति में
न रस रहता है/न ही नीरसता की बात,
केवल कोरा टकराव रहता है/लगाव रहित अतीत से, बस !" (पृ. ११३)

सृष्टि की पुनस्सृष्टि में जिन तत्त्वों से निरन्तर संघर्ष होता है, उस संघर्ष की प्रकृति का परीक्षण स्रष्टा के अतिरिक्त कौन कर सकता है ? इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि रचना किसी एकल सम्भूति की समग्रता का पुनः दर्शन नहीं है, वह सम्भूति के समाहार से श्रेष्ठता का चयन है। इस क्रम में कवि-लेखक को सम्भूति के माध्यम से असम्भूतियों के प्रादर्श की कल्पक भावना करनी पड़ती है और इस भाव यात्रा की भयानक-मनोरम घाटियों का रोष-तोष छनकर रूपाकार ग्रहण करता है।

द्वितीय खण्ड में ही रसों का पक्व विश्लेषण श्रमणदृष्टि का परिचायक है। इससे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि कवि ने कथाहीनता को कथात्मक कलेवर प्रदान कर अवसरों का पूरा उपयोग किया है और अपनी युगानुकूल विकृतियों के निराकरण का श्रमसाध्य श्रमण-प्रयास किया है। हास्य से शृंगार तक का निवारण और शान्त की शाश्वत प्रतिष्ठा का प्रयास मध्यकालीन महाकाव्यात्मक निष्पत्तियों के परिपार्श्व में उत्कीर्ण होने पर भी महार्घ है, क्योंकि महत् का पुनः-पुनः उद्घाटन प्रादर्श की स्थिति रक्षा के लिए अपेक्षित ही नहीं, आवश्यक है। आधुनिक मनुष्य की विकलता के अनेक कारणों में एक स्पष्ट कारण यह भी है कि उसने अर्थ को ही काम्य बना डाला है। आधुनिक मानव रूपी शब्द ने उपसर्ग और प्रत्यय का त्यागकर संसार-महाकाव्य में अपने को अधम अर्थ तक ही सीमित कर लिया है, फलतः उसका सन्तुलन बिगड़ गया है। धर्म को उसने सम्प्रदाय की संज्ञा दे डाली है और मोक्ष का चर्म चक्षुओं से दर्शन सम्भव नहीं, इसलिए काम और अर्थ की निम्नगा में भयानक नक्रों की मुँदी आँखों के समक्ष वह अपनी समझ से रंगारंग आयोजन करता तो अवश्य है किन्तु नक्रों की यह आँख कब तक मुँदी रह सकती है ? परमाणुओं का यह विकट संयोग कब तक उसे सुरक्षित रख सकता है ? भारतीय संस्कृति ने जिन आश्रमों की परिकल्पना को यथार्थ के धरातल पर उतार कर काया और माया का जो आनुपातिक विधान किया था, वह मनुष्यता की उच्चभूमि थी। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का यह आनुपातिक विचलन आधुनिक मनुष्य के ज्ञान-गर्व की खोखली प्रतिष्ठा का परिचायक है।

काल गरुड़ की यह यात्रा मानों पंखविहीन है। धर्म और मोक्ष के उपसर्ग-प्रत्यय से विहीन आधुनिक मनुष्य कालप्रवाह में उसी तरह पड़ा हुआ है जैसे कोई पक्षी पक्षविहीन होने पर भी आकाशगमन का दम्भ भरता हो। अर्थ की इस भयानक आसक्ति, किन्तु निरुद्देश्यता पर कवि का आक्षेप कितना प्रासंगिक है :

> *"तुला कभी तुलती नहीं है/सो··· अतुलनीय रही है/परमार्थ तुलता नहीं कभी*
> *अर्थ की तुला में/अर्थ को तुला बनाना/अर्थशास्त्र का अर्थ ही नहीं जानना है*
> *और/सभी अनर्थों के गर्त में/युग को ढकेलना है।*
> *अर्थशास्त्री को क्या ज्ञात है यह अर्थ ?" (पृ. १४२)*

तपस्या के उत्कर्ष पर काया के प्रति मोह की उपेक्षा कर मनुष्य ने अहिंसा को प्रहार की सीमा से आगे बढ़ाकर वाक्संयम के क्षेत्र में जिस 'भी' का सन्धान किया, वह आत्मसत्ता और परसत्ता का सार्थवाह है। हम भी हैं, तुम भी हो, तुम्हारा विचार तुम्हारे दृष्टिकोण से अच्छा हो सकता है, किन्तु मेरा मन यह स्वीकार करता है। अतः व्यर्थ का विवाद क्यों ? वाक्-संयम का यह अनेकान्त दर्शन मनुष्य की सांस्कृतिक उत्कृष्टता का अद्भुत निदर्शन है। परन्तु संसार में 'भी' का भीषण अकाल है और 'ही' का विपुल साम्राज्य है। 'ही' एकांगी दृष्टि है, एकात्म की अहंकार-सूचक ध्वनि। दम्भ की इस विकृति ने मनुष्यता को भयानक दलदल में दाब रखा है। कुम्भ के मुख पर 'ही' और 'भी' के बीजाक्षरों का उदय कराकर कवि ने अक्षर-साधना की प्रपत्ति द्वारा भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियों का विभेद-स्थापन करते हुए राम और रावण की विजय-पराजय का रहस्य खोलना चाहा है :

" 'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को
'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है
'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है,
'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।
रावण था 'ही' का उपासक/राम के भीतर 'भी' बैठा था।
यही कारण कि/राम उपास्य हुए, हैं, रहेंगे आगे भी।" (पृ. १७३)

इतना ही नहीं, इस 'पर बोध' को लोकतन्त्र की रीढ़ बताकर कवि ने प्राचीनता को नवीनता के परिपार्श्व में रखकर आधुनिकता की अपनी व्याख्या की है और लोकतन्त्र को तन्त्रों में वरेण्य बतलाया है :

"लोक में लोकतन्त्र का नीड़/तब तक सुरक्षित रहेगा
जब तक 'भी' श्वास लेता रहेगा।/'भी' से स्वच्छन्दता-मदान्धता मिटती है
स्वतन्त्रता के स्वप्न साकार होते हैं,/सद्विचार सदाचार के बीज
'भी' में हैं, 'ही' में नहीं।" (पृ. १७३)

तृतीय खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' है जिसमें पुण्य के धरातल पर उपजने वाली श्रेयस्कर उपलब्धि का वर्णन है। इस खण्ड में स्त्री के पर्याय का कवि-निरुक्त नवीनता की सम्मोहक व्याख्या में सचेष्ट दिखाई पड़ता है। नारी, महिला, अबला, कुमारी, स्त्री, सुता, दुहिता, माता का निरुक्त देखने लायक है। इसमें 'स्त्री' का विवेचन यों है :

" 'स्' यानी सम-शील संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं
धर्म, अर्थ, काम—पुरुषार्थों में/पुरुष को कुशल-संयत बनाती है
सो··· 'स्त्री' कहलाती है।" (पृ. २०५)

और 'सुता' शब्द की व्याख्या :

"ओ, सुख चाहनेवालो ! सुनो,/'सुता' शब्द स्वयं सुना रहा है :
'सु' यानी सुहावनी अच्छाइयाँ/और/'ता' प्रत्यय वह
भाव-धर्म, सार के अर्थ में होता है/यानी,/सुख-सुविधाओं का स्रोत··· सो—
'सुता' कहलाती है/यह कहती हैं श्रुत-सूक्तियाँ !" (पृ. २०५)

साधना की सिद्धि पर मेघ से मुक्ताओं की वर्षा होती है। राजा के अनुचर उसे बोरियों में भरने का उपक्रम करते हैं किन्तु, आकाश में ध्वनि गूँजती है : 'अनर्थ··· पाप।' अन्ततः कुम्भकार ही मुक्ताओं को राजा के पास जमा करा देता है। कथा के इस अंश पर प्रतीकात्मकता का सन्धान उचित ही है। पात्रता तो होनी ही चाहिए। जो अपात्र हैं, उन्हें सिद्धियों की प्राप्ति नहीं होती। मुक्ताओं की वर्षा का सम्बन्ध मन की उन्मुक्तता से भी है। बन्धनविहीन स्थिति के लिए ही तो तप का विधान है। अतः इस मुक्तता पर दूसरे का अधिकार कैसा ? फिर भी, मुक्त तो कामनारहित है, अतः मुक्ताओं की उज्ज्वलता उसे बाँध नहीं पाती। इसलिए वह उन मुक्ताओं पर अपना अधिकार भी नहीं समझता। इसी वज़न पर राजा के पास मुक्ताओं का सम्मुचय जमा करा दिया जाता है।

चतुर्थ खण्ड में आहार दान की प्रक्रिया से सम्बद्ध अनेकानेक पक्ष स्थान पा गए हैं। आहार दान की प्रसन्नता, साधु की दृष्टि और धर्मोपदेश आदि का वर्णन है। मिट्टी के घड़े की इस महत्ता पर स्वर्ण कलश विक्षुब्ध होकर आतंकवाद की आड़ लेता है। गृहस्थ के घर पर उसका आक्रमण तो होता है किन्तु गृहस्थ की साधुता की आँच के समक्ष आतंक का स्वर्ण रूप बदल जाता है, उसका हृदय परिवर्तन हो जाता है। काश ! आज यदि आतंक का राजनैतिक आवेष्टन अपने हृदय की विशालता का परिचय देता। आधुनिकता की नब्ज़ पहचानकर सिद्ध कवि ने सामाजिक विसंगति का कारण ढूँढते हुए जिस हृदय परिवर्तन का सन्देश दिया है, परम्परागत होकर भी दूसरे समाधान के अभाव में यह अपेक्षित है।

इस काव्य का कथा-पक्ष विरल होकर भी जैसे औदात्य से सप्राण है, उसी प्रकार शब्द-साधना भी अनेक नई सिद्धियों से शोभित है। शब्दों के खण्ड-धातुओं से जिन माणिक्य मालाओं को चमकाने का प्रयास किया गया है, वह अब तक के साहित्य में विरल ही है। साधु लेखनी प्रवचन के पथ पर काव्य की हरियाली का साक्षात्कार कराती है।

इस विवेचित तथ्य के आधार पर यह कहने में संकोच नहीं है कि 'मूकमाटी' आधुनिक काव्य जगत् की एक अनुपम उपलब्धि है। आचार्य श्री विद्यासागर के तप:पूत व्यक्तित्व ने काव्य की यात्रा में कुछ ऐसे पड़ाव स्थलों का निर्माण किया है, जहाँ बुद्धि थोड़ी देर विराम पाती है और हृदय अपने लिए कुछ पाकर प्रसन्न होता है।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि इस महाकाव्य के द्वारा हिन्दी में विचार काव्य की उस परम्परा को बल मिला है जो श्री सुमित्रानन्दन पन्त के उत्तरवर्ती काव्य में पाई जाती है। उत्तम काव्य प्रणयन के लिए आचार्यश्री को मेरी प्रणति।



पृष्ठ ३३३-३३४

पराग-प्यासा भ्रमर-दल वह
..... भ्रामरी-वृत्ति करती जाती
सन्तों की !

नई शैली और नए भावबोध का महाकाव्य : 'मूकमाटी'

देवर्षि कलानाथ शास्त्री

मुनि श्री आचार्य विद्यासागर विरचित 'मूकमाटी' महाकाव्य हिन्दी में उन इने-गिने महाकाव्यों की परम्परा में एक बहुत महत्त्वपूर्ण कड़ी जोड़ता है जो इस युग में नई शैली और नए भाव बोध के साथ लिखे जा रहे हैं। मुक्त शैली में लिखा हुआ यह महाकाव्य रचयिता के गहन चिन्तन और जीवन के प्रति दार्शनिक अन्तर्दृष्टि का परिचायक है। विभिन्न विषयों पर कवि की भावनाओं का मुक्त चिन्तन के रूप में गुम्फन करने वाला यह महाकाव्य यद्यपि चार खण्डों में विभाजित है तथापि किसी कथा सूत्र के बन्धन में बँधा हुआ नहीं है। मूकमाटी को प्रतीक बनाकर कवि ने विभिन्न भावनाओं को बड़ी सटीक अभिव्यक्ति दी है। धरती को माता और माटी को बेटी मानने का प्रतीक वेदकाल से चला आ रहा है। प्रकृति और पुरुष का युग्म भी प्राचीन प्रतीक है। कुम्भकार को निर्माता के रूप में देखना भी भारतीय संस्कृति की परम्परा में है। इस परम्परा को अनूठे ढंग से अभिव्यक्त करते हुए कवि ने माटी और कुम्भकार पर जो प्रसंग दिए हैं वे बहुत सटीक बन पड़े हैं। माटी की हृदय पीड़ा जहाँ गधे की पीठ पर उभरे घावों को देखकर अभिव्यक्त होती है, वह भी अनूठी अभिव्यक्ति है :

"इस छिलन में/इस जलन में/निमित्त कारण 'मैं ही हूँ'।" (पृ. ३६)

कवि ने न केवल संस्कृत की सूक्तियों को उचित स्थान पर उद्धृत किया है बल्कि लोक मान्यताओं और कहावतों को भी सही ढंग से प्रयुक्त किया है। हीरा, राख जैसे विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से माटी के न जाने कितने विवर्तों से ब्रह्माण्ड भरा हुआ है, किन्तु हम उन पर कभी नहीं सोचते। कवि ने भाँति-भाँति के माध्यमों से चिन्तन किया है। कभी वर्णमाला के माध्यम से, कभी 'भू-सत्तायाम्' जैसी धातुओं के माध्यम से, कभी दार्शनिक सिद्धान्तों के माध्यम से और कभी सीधे-सीधे मनस्तात्त्विक चिन्तन सरणि के माध्यम से कोमल, गहन, गूढ़ और उदात्त भावनाओं को स्वर दिए हैं। आधुनिक पाठकों को इसमें पर्यावरण का सन्देश भी मिलेगा, दार्शनिकों को संसार के बारे में अन्तर्दृष्टि मिलेगी तथा काव्य रसिकों को प्रांजल भाषा में उज्ज्वल अभिव्यक्ति मिलेगी। हिन्दी जगत् को यह काव्य देने के लिए आचार्य विद्यासागरजी वन्दन के अधिकारी हैं।

□



'मूकमाटी' : एक सन्तकवि की अनूठी काव्य-यात्रा

प्रो. (डॉ.) देवव्रत जोशी

हिन्दी साहित्य कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, दादू, नानक आदि की महत्त्वपूर्ण काव्य रचनाओं से समृद्ध हुआ है। जात-पाँत इन सन्तकवियों ने कभी नहीं स्वीकारी और ''हरि को भजै सो हरि का होई'' इनका घोषित वाक्य रहा।

कविता और अध्यात्म का संगम हिन्दी के प्राचीन काव्य का अद्‌भुत गुण रहा। धीरे-धीरे रीतिकालीन 'नख-शिखवाद' और फिर छायावाद-जातिवाद-प्रयोगवाद तक तो अध्यात्म–व्यावहारिक अध्यात्म–यूँ कहें लोकमंगल से सम्पृक्त वाणी के अभाव में हिन्दी कविता चाहे कितनी ही शब्दार्थ-सम्पन्नता को प्राप्त हो गई हो, पौराणिक सन्दर्भों में वर्तमान को देखने तथा भविष्य को निर्धारित कर सकने की क्षमता उसमें नहीं रही।

यद्यपि निराला की 'तुलसीदास' (खण्ड काव्य) और 'राम की शक्ति-पूजा,' धर्मवीर भारती का 'अन्धायुग,' नरेश मेहता की काव्यकृति 'संशय की एक रात' आदि रचनाओं में ऐतिहासिक और मायथालॉजिकल (Mythological) तत्त्वों की प्रचुरता है, किन्तु श्री अरविन्द की 'सावित्री,' माइकेल मधुसूदन दत्त की 'मेघनाद वध' जैसी कालजयी कृतियों का हिन्दी, भारतीय भाषाओं में अभाव ही रहा।

यह आश्चर्यजनक और साथ ही विस्मयकारक सत्य है कि आज के विशृंखलित मानव मूल्यों वाले समाज में, जहाँ हिंसा, मारकाट, बलात्कार, आगज़नी और परस्पर अविश्वास का बोलबाला है, एक जैन सन्त ने 'मूकमाटी' काव्य की रचना करके हमें सुखद परिवर्तन का संकेत दिया है। वास्तव में 'मूकमाटी' महाकाव्य का सृजन आधुनिक भारतीय साहित्य की उल्लेखनीय उपलब्धि है।

महाकाव्य

यह निश्चित ही एक महाकाव्य है। प्राकृतिक परिदृश्य, स्वाभाविक रूप से आए अलंकार और बिम्ब-प्रतीक-योजना, विराट् कल्पना, लगभग नायक-नायिकाहीन इस महाकाव्य में जो कल्पनाशीलता और उदात्त भाव अन्तर्निहित हैं, वे एक श्रेष्ठ काव्य की कोटि में इसे रखते हैं। महाकाव्य की रूढ़, पारिभाषिक परम्पराओं को नकारती और ध्वस्त करती 'मूकमाटी' अपने लिए मानों स्वयं ही नए प्रतिमान निर्मित करती है।

यों, काव्य के नायक 'गुरु' हैं, किन्तु स्वयं गुरु के लिए अन्तिम नायक हैं अरिहन्त देव।

माटी को नए रूप, नए परिदृश्य में प्रस्तुत करने की मौलिकता

'मूकमाटी' को सन्तकवि ने चार खण्डों में विभाजित किया है– खण्ड १. 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ;' खण्ड २.'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं;' खण्ड ३. 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन;' खण्ड ४. 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।'

वस्तुतः मिट्टी की महिमा तो अधिकांश कवि, लेखकों-रचनाकारों ने गाई है, तो फिर आचार्य विद्यासागर ने ऐसे पिटे-पिटाए विषय पर खण्डकाव्य या महाकाव्य की रचना क्यों की ? यह प्रश्न मुझसे कइयों ने पूछा। प्रश्न तीखा है किन्तु विचारपूर्वक सोचें तो कवि का अभिप्रेत मात्र माटी की महिमा का वर्णन करना ही नहीं है। मिट्टी मूक है, अतः उसकी अन्तर्वेदना भी मार्मिक है। दूसरा कारण, जैन दर्शन का अनुसरण/अनुकरण करते हुए भी कवि का चिन्तन सार्वभौम, सार्वकालिक और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की अभीप्सा से पूरित है।

अब तक हिन्दी आलोचकों की दृष्टि या तो शुद्ध हिन्दुवादी रही है या तथाकथित वामपंथी और प्रगतिशील।

जैन परम्परा के कवियों/आचार्यों ने रामायण या महाभारत की विषय-वस्तु पर रचना की है पर वे अमूल्यांकित, अवहेलित और उपेक्षित ही रहे हैं। यह हिन्दी आलोचना का दुर्भाग्यपूर्ण एकान्तवाद है।

प्रस्तुत कृति की मैं रूढ़, प्राध्यापकीय रीति से समीक्षा नहीं कर रहा हूँ, न जैन रचनाकारों के प्रति अतिरिक्त आदर व्यक्त करके उन्हें तुलसी, कबीर से श्रेष्ठ ठहराना मेरा उद्देश्य है। मेरा मन्तव्य यह है कि 'मूकमाटी' जैसी अलौकिक, कालजयी कविता मूल्यांकन के अभाव में काल-सागर में विलुप्त न हो जाय, क्योंकि हिन्दुवाद या छद्म प्रगतिशीलता दोनों ही काव्यालोचन के सही प्रतिमान नहीं बन सकते।

साहित्य 'सहित' की भावना से अनुप्राणित होता है। आचार्य विद्यासागर के काव्य में घोषित रूप से कहीं भी इस 'सहित' या 'लोकमंगल' को नारा बनाकर नहीं उछाला है। वे मूलतः अन्तर्मुखी कवि हैं, किन्तु उनका काव्य 'अन्तर्मुख' से उद्भूत व्यापक सृष्टि में व्याप्त मोह, अवसाद, लोभ, आतंक आदि को समाप्त करके व्यक्ति के सुधार को महत्त्व देकर समाज में क्रान्ति लाना चाहता है।

माटी, कुम्भ, कुम्भकार आदि प्रतीक रूप में ही हैं। यह प्रतीकात्मकता ही इसे काव्य बनाती है। यहाँ हमें इस बात से कोई लेना-देना नहीं है कि "जैन-दर्शन, नास्तिक दर्शनों को सही दिशा-बोध देने वाला एक आस्तिक-दर्शन है।" यद्यपि यह कथन सौ प्रतिशत सत्य है। किन्तु 'मूकमाटी' की समीक्षा चूँकि मैं स्वतन्त्र बुद्धि से कर रहा हूँ, अतः मेरा मन्तव्य यहाँ एक श्रेष्ठ काव्य के गुणों/सीमाओं को उजागर करना ही है।

'सावित्री' महाकाव्य की तरह ही 'मूकमाटी' में कोई ठोस कथा-आधार खोजना लहरों पर तैरने के समान होगा। हम यहाँ 'मूकमाटी' के चार खण्डों में व्याप्त कविता-सूत्रों को पकड़ कर, उनकी गुणवत्ता पर विचार करेंगे। क्योंकि कविता सिर्फ कविता होती है और सच्ची कविता सीधे हृदय को आन्दोलित करती है, तथा विचार करने के लिए हमें विवश करती है। निम्न कविता-पंक्तियाँ विशुद्ध काव्य हैं :

- *"सरिता-तट की माटी/अपना हृदय खोलती है*
  माँ धरती के सम्मुख !" (पृ. ४)
- *"तुम स्वर्ण हो/उबलते हो झट से,/माटी स्वर्ण नहीं है*
  पर/स्वर्ण को उगलती अवश्य,/तुम माटी के उगाल हो !/आज तक,
  न सुना,न देखा/और न ही पढ़ा, कि/स्वर्ण में बोया गया बीज
  अंकुरित होकर/फूला-फला, लहलहाया हो/पौधा बनकर।" (पृ. ३६४-३६५)
- *"काठियावाड़ के युवा घोड़ों की पूँछ-सी/ऊपर की ओर उठी*
  मानातिरेक से तनी/जिनकी काली-काली मूँछें हैं।" (पृ. ४२८)

जिस तरह "एक अखण्ड ज्ञान सीतावर" (तुलसी) और "तेरी आँखों के सिवा दुनिया में रक्खा क्या है" (फैज़) या "हम हुए, तुम हुए कि मीर हुए" (मीर) जैसी काव्य पंक्तियाँ अत्यन्त सहज, सीधी, सार्थक हैं और ज्ञानाडम्बर और अलंकारों के बिना भी अपना सम्यक् प्रभाव छोड़ने में कामयाब होती हैं उसी तरह आचार्य विद्यासागर की 'मूकमाटी' में कई ऐसी पंक्तियाँ हैं, जो कवि को सिर्फ कवि प्रमाणित करती हैं—न मुनि, न सन्त, न आचार्य। यही वह ऊँचाई है, कवि की ऊँचाई, जहाँ से संसार, सम्प्रदाय, धर्म, राजनीति, महत्त्वाकांक्षाएँ– सब बौनी दिखाई देती हैं।

माना कि कवि उपदेशक नहीं होता, किन्तु वह कोरा द्रष्टा, स्रष्टा या प्रवक्ता मात्र भी नहीं होता। वह अपनी फक्कड़, मस्तीभरी धुन में Intution (स्वयंप्रज्ञा) के आधार पर जो कुछ लिख जाता है, वह निर्झर से झरती हुई धरा के

समान प्रफुल्ल, प्रसन्न काव्य बनकर लोक में रस की तरंगें बहा देती हैं।

"संहार की बात मत करो,/संघर्ष करते जाओ !
हार की बात मत करो,/उत्कर्ष करते जाओ।" (पृ. ४३२)

यह पंक्ति इतिवृत्तात्मक है, उपदेशात्मक है, अतः कविता की श्रेणी में नहीं आती किन्तु काव्य-पंक्ति कहलाने का श्रेय इस तरह की अभिव्यक्तियों को तो है ही :

"आग की नदी को भी पार करना है तुम्हें,/वह भी बिना नौका !/हाँ ! हाँ !!
अपने ही बाहुओं से तैर कर,/तीर मिलता नहीं बिना तैरे।" (पृ. २६७)

यहाँ उपदेश की छाया ज़रूर है, लेकिन यह सत्य है कि कविता या तो चरम मिथ्या (कल्पना) है या चरम यथार्थ की अभिव्यक्ति। इसलिए "तीर मिलता नहीं बिना तैरे" जैसी सपाट दिखने वाली काव्यपंक्ति भी फैज़ अहमद फैज़ की प्रसिद्ध काव्य-पंक्ति "तेरी आँखों के सिवा दुनिया में रक्खा क्या है !" के सहजपन की टक्कर लेने की क्षमता रखती है।

मूकमाटी की प्रासंगिकता

किसी भी लेखन की प्रासंगिकता क्या है ? तुलसी, प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ का लेखन देश और काल को अतिक्रमित करता है, किन्तु वह तत्काल यथार्थ और तत्कालीन समाज की संस्कृति, राजनीतिक परिदृश्य की उपज ही तो है। इसी सन्दर्भ में 'मूकमाटी' में व्यक्त कवि की प्रासंगिक दृष्टि या दर्शन पर विचार करना तर्कसंगत और समीचीन होगा।

आज आतंकवाद की लपटें देश-विदेश में उठ रही हैं। यह सर्वग्रासी, मानव-मूल्य-हन्ता आतंकवाद सबके मनों में भय, अविश्वास और सन्देह तथा जीवन और जगत् के प्रति वितृष्णा का भाव उत्पन्न कर रहा है। 'मूकमाटी' में आज का यह कठोर यथार्थ और उसके उच्छेदन का स्वर हमें प्राप्त है :

"कुम्भ का कहना हुआ :/नहीं···नहीं···नहीं···
लौटना नहीं !/अभी नहीं···कभी भी नहीं··· /क्योंकि अभी
आतंकवाद गया नहीं,/उससे संघर्ष करना है अभी।" (पृ. ४४१)

और इसलिए :

"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह,/ये आँखें अब/आतंकवाद को देख नहीं सकतीं,
ये कान अब/आतंक का नाम सुन नहीं सकते,
वह जीवन भी कृत-संकल्पित है कि/उसका रहे या इसका
यहाँ अस्तित्व एक का रहेगा।" (पृ.४४१)

आतंकवाद के खिलाफ कवि का यह जिजीविषापूर्ण, संकल्प-साहस-भरा वक्तव्य सिर्फ वक्तव्य नहीं है। जलती हुई धरती पर इस तरह एक अनासक्त, वीतराग सन्तकवि के ऐसे कविता-वाक्य निश्चय ही आतंकवाद, कायरतावाद और अलगाववाद के विरुद्ध युद्धघोष ही हैं—सार्थक और समय की पुकार के उत्तर स्वरूप।

स्वर्ण कलश और मिट्टी के कुम्भ की तुलना दिलचस्प है और अन्ततः मिट्टी का कुम्भ ही जीवन के अधिक

निकट, अधिक उपादेय है। स्वर्ण कलश को सम्बोधित कवि का कथन कितना सटीक है :

"परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम,/पूँजीवाद के अभेद्य
दुर्गम किला हो तुम/और/अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला !
हे स्वर्ण-कलश !/एक बार तो मेरा कहना मानो,
कृतज्ञ बनो इस जीवन में,/माँ माटी को अमाप मान दो !" (पृ. ३६६)

एक सनातन श्रद्धा और अश्रद्धा के पात्र 'ईश्वर' (परम पुरुष) के सम्बन्ध में कवि का अपना मौलिक विचार, मौलिक दृष्टि है जो आन्दोलित करती है, जिसे हम अनसुना नहीं कर सकते, चाहे उस 'स्थापना' से हम सहमत भले ही न हों :

"पुरुष और प्रकृति के संघर्ष से/स्वर-नश्वर प्रकृति के संघर्ष से/उभरते हैं स्वर !
पर, परम पुरुष से नहीं।/दुःस्वर हो या सुस्वर/सारे स्वर नश्वर हैं।
भले ही अविनश्वर हों/ईश्वर परमेश्वर ये
परन्तु,/उनके स्वर तो नश्वर ही हैं !" (पृ. १४३)

साथ ही कवि का मानसिक अन्तर्द्वन्द्व इन शब्दों में भी प्रकट होता है :

"बिलखती इस लेखनी को/विश्व लखता तो है
इसे भरसक परखता भी है/ईश्वर पर विश्वास भी रखता है
और/ईश्वर का इस पर गहरा असर भी है
पर, इतनी ही कसर है कि/वह असर सर तक ही रहा है,
अन्यथा/सर के बल पर क्यों चल रहा है,/आज का मानव ?" (पृ. १५१)

क्या इन पंक्तियों में महाकवि अकबर इलाहाबादी का अप्रत्यक्ष या प्रच्छन्न प्रभाव नहीं है। अकबर कहते हैं :

"इश्क को दिल में जगह दे अकबर
इल्म से शायरी नहीं आती।"

'इश्क' से उनका तात्पर्य निश्चय ही ईश्वर के पर्याय से है।

यह कविवर विद्यासागरजी का अन्तर्द्वन्द्व ही है जो एक ओर तो परम पुरुष या परमेश्वर के स्वर को नश्वर समझता है, दूसरी ओर "कसर यह है कि (उसका) असर सर तक ही रहा है" (यानी दिल तक ईश्वर का प्रभाव अपेक्षित है। अस्तु) प्रकृति, परमेश्वर की पहेली को छोड़कर कवि के अन्य कथ्य की ओर दृष्टिपात भी कर लें :

"सीप स्वयं धरती का अंश है।/स्वयं धरती ने सीप को प्रशिक्षित कर
सागर में प्रेषित किया है।/जल को जड़त्व से मुक्त कर/मुक्ता-फल बनाना,
पतन के गर्त से निकाल कर/उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।" (पृ. १९३)

उनकी कुछ काव्य पंक्तियाँ तो सूक्तियों की तरह हैं :

- *"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं।" (पृ. १९२)*
- *"नियम-संयम के सम्मुख/असंयम ही नहीं, यम भी*
  अपने घुटने टेक देता है।" (पृ. २६९)
- *"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है*
  स्व-पर दोषों को जलाना/परम-धर्म माना है सन्तों ने।" (पृ. २७७)
- *"परीक्षक बनने से पूर्व/परीक्षा में पास होना अनिवार्य है,*
  अन्यथा/उपहास का पात्र बनेगा वह।" (पृ. ३०३)

किन्तु सूक्तियाँ कविता नहीं होतीं। फिर लौटें कविता की ओर। मुझे इस ग्रन्थ को पढ़ते हुए कई बार कविता की कौंध इसके कुछ पृष्ठों में दिखाई दी। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

- *"किन शब्दों में अग्नि से निवेदन करूँ,/क्या वह मुझे सुन सकेगी ?*
  क्या उस पर पड़ सकेगा/इस हृदय का प्रकाश-प्रभाव ?
  क्या ज्वलन जल बन सकेगा,/इसकी प्यास बुझ सकेगी ?
  कहीं वह मुझ पर कुपित हुई तो···?/यूँ सोचता हुआ शंकित शिल्पी
  एक बार और जलाता है अग्नि।" (पृ. २७५)
- *"दूरज होकर भी/स्वयं रजविहीन सूरज ही/सहस्रों करों को फैलाकर*
  सुकोमल किरणांगुलियों से/नीरज की बन्द पाँखुरियों-सी
  शिल्पी की पलकों को सहलाता है।" (पृ. २६५)
- *"वज्राघात से आहत हो/मेघों के मुख से 'आह' ध्वनि निकली,*
  जिसे सुनते ही/सौर-मण्डल बहरा हो गया।" (पृ. २४७)

'मूकमाटी' में मौलिक विचारशीलता

आलोच्य काव्यग्रन्थ में निरी कल्पना की उड़ान नहीं है। मौलिक विचारों की उद्भावना भी इस अद्भुत काव्य में हमें प्राप्त होती है :

- *"क्रोध का पराभव होना सहज नहीं।" (पृ. २५२)*
- *"वैसे,/स्वर्ण का मूल्य है/रजत का मूल्य है*
  कण हो या मन हो/प्रति पदार्थ का मूल्य होता ही है,
  परन्तु,/धन का अपने आप में मूल्य/कुछ भी नहीं है।" (पृ. ३०७-३०८)
- *"प्रायः सब की चोटियाँ/अधोमुखी हुआ करती हैं,*
  परन्तु/श्रीफल ऊर्ध्वमुखी है।" (पृ. ३११)

□ *"नील नीर की झील/नाली - नदियाँ ये*
अनन्त-सलिला भी/अन्तःसलिला हुई हैं,
...जल से विहीन हो/दीनता का अनुभव करती है नदी।" (पृ. १७८)

इस विचारशीलता में भी कविता अन्तःसलिला की भाँति प्रवहमान है। यही कवि की विशेषता है।

काव्य-कौतुक

यद्यपि काव्य चमत्कार और कुतूहल का जनक आज के युग में नहीं रहा, न ही उसकी कोई प्रयोजनीयता है, फिर भी इनसे विशाल ग्रन्थ काव्य-कौतुक जन-रंजन करता है, तो कवि उसके लिए दोषी नहीं। यह प्रयास प्रशंसनीय है। विशेषतः शब्द-कौतुक दर्शनीय है :

"न···दी···दी···न
जल से विहीन...।" (पृ. १७८)

मृदंग के स्वर में कविता मृदंगमयी हो उठती है :

"धा···धिन्···धिन्···धा···
धा···धिन्···धिन्···धा···
चेतन-भिन्ना, चेतन-भिन्ना,
ता···तिन···तिन···ता···
ता···तिन···तिन···ता···
का···तन···चिन्ता, का तन···चिन्ता ?" (पृ. ३०६)

हम इस तरह के शब्द-विन्यास को उपेक्षित नहीं कर सकते, क्योंकि महाकवि निराला ने भी इस तरह की कविताएँ लिखी हैं :

"ताक कमसिन वारि
कमसिन वारि ताक
वारि कमसिन ताक...।"

अद्भुत नाटकीयता, अतिशयता और प्रसंगों के पूर्वापर सम्बन्धों का बिखराव यद्यपि किसी भी समीक्षक के लिए असुविधाजनक हो सकते हैं, किन्तु काव्य को प्रासंगिक बनाने की दृष्टि से इनकी परिकल्पना साहसिक, सार्थक और आधुनिक परिदृश्य के अनुकूल है।

वह महाकाव्य, एक लम्बी, खुरदरी किन्तु विचार-वेष्टित कविता-संगुम्फन है और एक आलोचक ने ठीक ही कहा है कि 'मूकमाटी' में कविता का अन्तरंग स्वरूप प्रतिबिम्बित है। साहित्य के आधारभूत सिद्धान्तों का दिग्दर्शन भी इसमें है।

तुलसीदास ने लिखा है : "कीरति भणिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई।" उसी प्रकार साहित्य की उपादेयता/प्रयोजनीयता भी वही होनी चाहिए जो गंगा के समान सबको शीतल और पवित्र करे, अन्यथा

कलावादियों की आत्मरति और आत्ममुग्धता साहित्य को हाथीदाँत की मीनारों में क़ैद कर देगी।

वीतराग और साधु होने के उपरान्त भी जिस तरह तुलसी, कबीर, सूर आदि ने जन और उसके जीवन के संघर्षों/घातों-प्रत्याघातों से अपने को सम्पृक्त रखा था, अपने साहित्य में उनकी अस्मिता और अस्तित्व को अक्षुण्ण रखा था, प्रकारान्तर से आचार्य विद्यासागर भी साहित्य और उसके शिल्प को जन से पराङ्मुख नहीं करते (पृ. १११)।

'मूकमाटी' : समग्र आकलन

सैकड़ों पृष्ठ लिख दिए जाएँ और समीक्षा/शोध को उद्धरण-बोझिल बना दिया जाय, यह उद्देश्य इस आलोचक का नहीं है। कलेवर की स्थूलता नहीं, कम से कम शब्दों में कृति की कमनीयता, उसकी समग्रता को प्राध्यापकीय और रूढ काव्य/आलोचना शास्त्र से परे हटकर प्रस्तुत किया जाय, यही मेरा उद्देश्य है।

ऊपर के पृष्ठों में मैंने 'मूकमाटी' को हिन्दी साहित्य ही नहीं, भारतीय साहित्य के गौरव काव्यग्रन्थों में से एक कहा है। ग्रन्थ का सम्यक् मूल्यांकन करने पर यह कथन स्वतः सिद्ध हो जाता है।

१. 'मूकमाटी' शीर्षक पुराना और घिसा-पिटा लगता है, किन्तु मूक होते हुए भी माटी का अन्तर्द्वन्द्व, हाहाकार और उसकी कुम्भ के रूप में सामाजिक उपयोगिता सर्वहारा की अपनी अभिव्यक्ति है। बिना वामपंथी चोला धारण किए कवि ने यह सहजता पूर्वक निरूपित किया है।

२. कवि का काव्य कौशल श्लाघनीय है। मुक्तछन्द में महाकाव्य की संरचना आज भी एक कठिन और दुःसाध्य कार्य है। धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, कुंवरनारायण आदि ने क्रमशः 'अन्धा युग,' 'संशय की एक रात, 'नचिकेता' जैसे लघु खण्डकाव्य ही रचे। शायद मुक्त छन्द में यह हिन्दी का पहला सफल महाकाव्य है।

३. साहित्य की शुद्धता, शुद्ध कविता के प्रतिमान जैसी साहित्यिक पेचीदगियों में भटकाना इस लघु शोध/समीक्षा का उद्देश्य नहीं। यदि कवि अपनी पूरी ईमानदारी और सामाजिक सरोकारों से सम्पृक्त होकर ऐसा कुछ सृजन करता है जो एक साथ पौराणिक, काल्पनिक, यथार्थ और प्रसांगिकता का युगानुकूल रसायन है, तो उसके कर्तव्य का उसने निर्वाह किया है। हमें हर्ष है कि हम उस रचनाकार के समकालीन हैं, जिसने अपनी लेखनी से मूकमाटी की व्यथा को उकेरा है।

४. धरती माँ है, कुम्भ और कुम्भकार उसके पुत्र हैं। स्वर्ण और सारी आर्थिक एषणाएँ कवि ने मिट्टी और मनुपुत्र से श्रेष्ठ नहीं जानी हैं।

५. मनुष्य अपने राग-विराग, हर्ष-विमर्ष और सारी कमज़ोरियों के बावजूद भौतिकता की जड़ता को अतिक्रमित करके समता, बन्धुता और विश्व मानवता के आदर्श को प्राप्त कर सकता है। यह दिव्य सम्भावना इस महाकाव्य में है, इसीलिए मैंने एकाधिक बार दुहराया है कि तुलसी, सूर, कबीर, रवीन्द्रनाथ और श्री अरविन्द की काव्यकृतियों के समकक्ष यह महाकाव्य सम्प्रदायातीत ही नहीं, कालातीत है, अतः कालजयी है। □



पृष्ठ ४५२-४५३
जब आग की नदी को
पार कर आगे हम.....
... और को बोध करे सो धरती
और का धक्का सहे सो धरती!

'मूकमाटी' : एक प्रतीकात्मक दार्शनिक काव्य

प्रो. (डॉ.) सुदर्शन लाल जैन

सन्त शिरोमणि पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर की अन्तरात्मा से नि:सृत 'मूकमाटी' एक प्रतीकात्मक दार्शनिक काव्य है। आध्यात्मिक चिन्तन में लवलीन साधक ही इस अमृत रस का स्वाद जान सकता है। पद दलित 'मूकमाटी', जो कर्मबद्ध आत्मा का प्रतिनिधित्व करती है, वह सम्यक् दर्शन (वर्ण लाभ), सम्यक् ज्ञान (बोध), सम्यक् चारित्र (शोध) और सम्यक् तप(अग्नि परीक्षा) के माध्यम से सर्वोपरि, सर्वपूज्य, शुद्ध दशा को प्राप्त करती है। इसमें प्रसंगानुसार जैन दर्शन के प्राय: सभी सिद्धान्तों का समावेश मिलता है। जैसे–द्रव्य परिभाषा, कर्म सिद्धान्त, लेश्या, मुक्तात्मा, रत्नत्रय, उपादान-निमित्त कारण की व्यवस्था, गुण जीव से पृथक् नहीं, पानी छान कर उपयोग करना, तप, मुक्त जीव का संसार में पुनरागमन निषेध आदि । इस काव्य की इस सन्दर्भ में यह विशेषता है कि दार्शनिक सिद्धान्तों को बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है, जिससे पाठक बोझिल नहीं होता। मूकमाटी के माध्यम से कविवर आचार्य ने कर्मबद्ध आत्मा की मुक्ति की ओर बढ़ती हुई विशुद्धतर और विशुद्धतम दशा का चित्रण प्रतीकात्मक काव्य के माध्यम से किया है। अंकों का चमत्कार तथा प्रचलित शब्दों की अर्थान्तर प्रतिध्वनियाँ सर्वत्र व्याप्त हैं। लोक जीवन के सन्दर्भ में आतंकवाद, समाजवाद, पूँजीवाद आदि का भी सम्यक् समावेश किया गया है। काव्य के अलंकारों में अनुप्रास आदि शब्दालंकारों और उपमा आदि अर्थालंकारों का प्रयोग प्रसंगानुकूल है। काव्य रस विचार की दृष्टि से इसमें शान्त रस का प्राधान्य है। प्रस्तुत काव्य को निम्नलिखित चार खण्डों में विभक्त किया गया है तथा प्रत्येक खण्ड में क्रमश: ८८, ९९, ७९ तथा २२० पृष्ठ हैं।

१. संकर नहीं : वर्ण-लाभ (सम्यग्दर्शन)

मिट्टी की कंकर आदि से मिश्रित अवस्था उसकी संकर अवस्था है। विजातीय कंकरों (कर्मों) से पृथक् स्व-स्वरूप का भान ही वर्ण लाभ है। राग-द्वेषजन्य कर्म सम्बन्ध के कारण आत्मा अपने संकर रूप को प्राप्त है। जब उसे यह भान हो जाता है कि कर्म आत्मा से पृथक् हैं तो यह उसका वर्ण लाभ या सम्यग्दर्शन है।

२. शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं (सम्यग्ज्ञान)

वर्ण या शब्द की सार्थकता उसके बोध (ज्ञान) में है। केवल शब्दबोध या वर्णबोध से व्यक्ति पण्डित तो बन सकता है, शोधक नहीं। बोध (सम्यग्ज्ञान) की सार्थकता तभी है, जब शोध (सम्यक् चारित्र) हो। शब्द के अर्थ को समझना बोध है और बोध को आचरण या अनुभूति में उतारना शोध है। शोध के बिना बोध में आकुलता और बोध सहित शोध में निराकुलता है तथा निराकुलता में महक है।

३. पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन (सम्यक् चारित्र)

शोध की दिशा बढ़ने पर लोकोपकारी कार्यों के सम्पादन से पुण्य का पालन होता है और पापों का प्रक्षालन होता है। पुण्य स्वरूप प्राप्त मुक्ताराशि का कुम्भकार द्वारा राजा को समर्पण यह द्योतित करता है कि पुण्य फल की कामना नहीं करना चाहिए, मुक्ति तभी सम्भव है।

४. अग्नि की परीक्षा : चाँदी सी-राख (सम्यक् तप)

जिस प्रकार मिट्टी के घट को जब तक आग में नहीं पकाया जाता है, तब तक उसमें न तो जलधारण आदि सम्भव है और न उसमें मंगल कलश का रूप प्रकट होता है। आग में तपाने पर ही उसमें जलधारण आदि सम्भव है। उसी प्रकार बिना तप रूपी अग्नि में तपे जीव सिद्ध नहीं होता। तप रूपी अग्नि में तप्त हो कर शुद्ध हुआ जीव लोकान्त में

स्थित होकर सिद्धावस्था को प्राप्त होता है। इस प्रक्रिया में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसका प्रतिनिधित्व कथंचित् कुम्भकार के रूप में काव्य में दर्शित है। २२० पृष्ठों में काव्य का यह चतुर्थ खण्ड पूरे काव्य का क़रीब-क़रीब आधा हिस्सा है। पूरे काव्य की पृष्ठ संख्या ४८८ है।

यह 'मूकमाटी' महाकाव्य है या नहीं, इसका जब हम ग्रन्थ-विस्तार की दृष्टि से विचार करते हैं तो इसे महाकाव्य कह सकते हैं। परन्तु महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों की दृष्टि से इसे महाकाव्य नहीं कहा जा सकता है। महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणानुसार महाकाव्य में निम्न लक्षणों का होना आवश्यक है :

(१) विषय वस्तु सर्गों में विभक्त होना चाहिए। सर्गों की संख्या आठ से अधिक होना चाहिए। सर्ग न तो बहुत छोटे हों और न बहुत बड़े। सामान्य रूप से सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग प्रचलित हो, परन्तु सर्गान्त में छन्द परिवर्तन का नियम है। सर्ग के अन्त में भावी कथा का संकेत हो।

(२) नायक कोई देवता या उच्च वंशोत्पन्न धीरोदात्त गुणों से युक्त कोई क्षत्रिय हो। एक ही वंश में उत्पन्न कई राजा भी नायक हो सकते हैं। वर्तमान काव्यों में नायक कोई भी हो सकता है।

(३) शृंगार, वीर वा शान्त—इन तीन रसों में कोई एक मुख्य तथा अन्य रस अंग रूप से हों।

(४) उद्देश्य रूप चतुर्विध पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) में से कोई एक हो।

(५) कथानक इतिहास प्रसिद्ध हो या सज्जनाश्रित हो।

(६) सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, दिन, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र आदि विषयों का सांगोपांग वर्णन हो।

(७) नाटच सन्धियों से युक्त हो।

(८) प्रारम्भ में मंगल, सज्जन प्रशंसा एवं दुर्जन निन्दा आदि हो।

(९) महाकाव्य का नामकरण नायक के नाम, वर्ण्यविषय या किसी अन्य आधार पर हो।

(१०) कथावस्तु आंगिक (एक घटना प्रधान) न होकर समग्र (जीवन का चित्रण करती) हो।

महाकाव्य की ये सभी विशेषताएँ सभी महाकाव्यों में घटित नहीं होतीं। यद्यपि ये अनिवार्य लक्षण न होकर सामान्य लक्षण हैं, तथापि प्रथम नियम और अन्तिम नियम रूप कथावस्तु समग्र हो, आंशिक नहीं तथा आठ सर्गों का होना सभी महाकाव्यों में पाया जाता है। अन्य नियम सामान्य रूप से ही पाए जाते हैं।

इस दृष्टि से देखने पर 'मूकमाटी' को महाकाव्य नहीं कहा जा सकता है। जिन महाकाव्यों में शृंगार आदि रसों तथा लौकिक जीवन की घटनाओं का चित्रण रहता है, वह भी इस रूप में नहीं है। 'मूकमाटी' के चार खण्डों को यदि विषयानुसार आठ सर्गों में विभक्त कर दिया गया होता तो महाकाव्य कहा जा सकता था।

शास्त्रीय परिभाषानुसार यह महाकाव्य है या नहीं, यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि कविवर का चित्-चमत्कार, जो महाकाव्य की आत्मा है। इस काव्य के कुछ अवलोकनीय स्थल हैं :

(१) गुरु हित-मित-प्रिय प्रवचन दे सकते हैं, वचन नहीं :

"हित-मित-मिष्ट वचनों में/प्रवचन देना उसे,/किन्तु
कभी किसी को/भूलकर स्वप्न में भी/वचन नहीं देना।" (पृ. ४८६)

(२) कला शब्द का अभिनव अर्थ :

"कला शब्द स्वयं कह रहा कि/'क' यानी आत्मा—सुख है

'ला' यानी लाना–देता है/कोई भी कला हो
कला मात्र से जीवन में/सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है।" (पृ. ३९६)

(३) हिंसा-अहिंसा, प्रशंसा-नृशंसा, धीरता और कायरता क्या है ? :

"हिंसा की हिंसा करना ही/अहिंसा की पूजा है···प्रशंसा,/और
हिंसक की हिंसा या पूजा/नियम से/अहिंसा की हत्या है···नृशंसा।
धी-रता ही वृत्ति वह/धरती की धीरता है/और
काय-रता ही वृत्ति वह/जलधि की कायरता है।" (पृ. २३३)

(४) सत् का स्वरूप :

" 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्'
...व्यावहारिक भाषा में/सूत्र का भावानुवाद प्रस्तुत है :
आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन–उत्पाद है
जाना यानी मरण–व्यय है/लगा हुआ है यानी स्थिर–ध्रौव्य है/और
है यानी चिर–सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

(५) आत्मा और जड़ कभी एक नहीं होते :

"अरे कंकरो !/माटी से मिलन तो हुआ/पर
माटी में मिले नहीं तुम !/माटी से छुवन तो हुआ/पर
माटी में घुले नहीं तुम !/इतना ही नहीं,/चलती चक्की में डालकर
तुम्हें पीसने पर भी/अपने गुण-धर्म/भूलते नहीं तुम !
भले ही/चूरण बनते, रेतिल; /माटी नहीं बनते तुम !" (पृ. ४९)

□



पृ. ४३४
~~अपढ़ों के मुख से~~
~~पढ़ों की, पढ़वालों की~~
~~परिणति-पद्धति सुन कर~~
~~परिवर स्तंभित हुआ।~~

'मूकमाटी': मंगल-यात्रा का काव्य

डॉ. (कु.) गिरिजा रानी मिश्रा

रचना एक कला है और कला साधना। साधक अनवरत लगन, अध्यवसाय, परिश्रम, निष्ठा तथा समर्पणभाव से साधना करके अपनी कला को सँवारता है। कला रसमय होकर कलाकार की साधना को अमरत्व प्रदान करती है। यह रचनाकार के लक्ष्य को गौरवान्वित करती है। रचनाकार अपनी कला के माध्यम से मानव संस्कृति का जयघोष करता है। इसमें सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के स्वर निनादित होते हैं–यही प्राणिमात्र के कल्याणस्रोत हैं। कला, रचना एवं साधना युगों-युगों तक जीवन का सन्देश प्रदान करती हैं। रचनाकार काल, देश की सीमा से विमुक्त हो जाता है और उसका कीर्तिध्वज सदैव लहराता रहता है।

जीवन एक प्रवहमान सरिता है। उसमें जीवन के अनुभव जल बिन्दुओं के सदृश होते हैं–जल का सातत्य उसकी गतिशीलता का द्योतक है, उसी प्रकार अनुभवों की निरन्तरता जीवन का प्रतीक है। जल बिन्दु अपनी आर्द्रता से तन-मन को उल्लसित करते हैं। वैसे ही अनुभव खण्ड भी जीवन को अभिनव रस प्रदान करते हैं। जीवन रस है। रस का तात्पर्य आनन्द से है। आनन्द जीवन का लक्ष्य है। परम शान्ति, सुखोपलब्धि तथा आनन्दानुभूति भारतीय जीवन दर्शन का मूल स्वर है। मानव इसकी प्राप्ति हेतु अनवरत, अथक परिश्रम करता है। जिस प्रकार सरिता महासागर में लीन होकर अपने अस्तित्व को विराटत्व से सम्पृक्त करती है, उसी प्रकार मानव अपने जीवन को सच्चिदानन्द से बाँधकर अपने को 'मुक्त' मानता है। यह उसकी अनुपम उपलब्धि होती है। यही उसके जीवन का लक्ष्य होता है।

आचार्य विद्यासागर की काव्य कृति 'मूकमाटी' इस दृष्टि से विशिष्ट है, क्योंकि इसमें रचनाकार ने अपनी अनवरत साधना से जीवन की कलात्मकता को भारतीय संस्कृति के अनुरूप अभिव्यक्त किया है। जीवन के दर्शन को सहज, सरस, प्रभावशाली एवं बोधगम्य ढंग से प्रस्तुत करने का एक सफल प्रयास किया गया है। सर्वथा अभिनव विषय को, जो जीवन रचना का एक मूलतत्त्व है, रूपक के आधार पर दार्शनिक स्वर प्रदान किया गया है। रचनाकार का लक्ष्य इस कृति में कुछ भी रहा हो किन्तु इतना स्पष्ट है कि यह जीवन जो माटी का है, कर्म रूपी अग्नि से तपा कर ही उसे कीर्तिशेष बनाया जा सकता है। यह कर्म गुरु कृपा से सम्भव है अन्यथा अज्ञान में आकण्ठ डूबा प्राणी जीवन को माटी ही कर डालता है। 'माटी' जीवन है, शक्ति एवं ऊर्जा है, रस है और प्राणप्रदाता है। माटी माँ है, जिसके क्रोड में जन्म लेकर प्राणी बड़ा होकर कर्म करता है। माटी ही कर्मभूमि है। कर्म जिनसे मानव अपने जीवन को व्यवस्थित करता है। परिस्थितियाँ उसको कर्मतन्तु से बाँधती हैं। गुरु कृपा से ही उसके अक्षमतन्तु विनष्ट होते हैं, ज्ञान चक्षु खुलते हैं और शुभत्व से भरकर वह 'माटी की मौनता' को आनन्द के स्वर से भरता है। जीवन को अमरत्व की ओर ले जाने का सफल उपक्रम–सत्यान्वेषण जो अखण्ड आनन्द से मण्डित है वह 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' में क्रम पूर्ण होता है। यही जीवन की सार्थकता है। 'मूकमाटी' का दर्शन यही है।

'मूकमाटी' का सन्देश मानव कल्याण से सम्पृक्त है। धर्म, दर्शन, कर्म, संस्कृति एवं अध्यात्म का पावन पंचामृत इस कालजयी कृति में उपलब्ध है। मानव अपने जीवन को सार्थक बनाने के निमित्त इन्हीं तत्त्वों को आत्मसात् करता है। जीवनरूपी घट को रसमय बनाने में इन्हीं तत्त्वों की अविस्मरणीय भूमिका होती है। कविप्रवर ने इस कृति में 'माटी' के माध्यम से जीवनसार की महत्ता प्रतिपादित की है। कृति अपने वर्ण्य-विषय के अभिनव विधान के कारण 'मील का पत्थर' सिद्ध हुई है। शिल्प-सौष्ठव की दृष्टि से भी इसमें नवीनता है। यह अवश्य है कि काव्य-शिल्प के निर्धारित मानक भले इसमें विद्यमान नहीं हैं किन्तु एक उच्चकोटि की रचना में इसकी चिन्ता अपेक्षित नहीं होती। वर्ण्य-विषय का 'कैनवास' अति सुविस्तृत, तर्क सम्मत, रोचक तथा गम्भीरता से युक्त है। कथा प्रवाह में कहीं भी

शैथिल्य दृष्टिगोचर नहीं होता, यह इसकी अन्यतम उपलब्धि है। 'मूकमाटी' का वस्तु पक्ष सबल एवं प्रभावशाली है। अपनी गम्भीरता, नवीनता, सहजता, रसमयता एवं चिन्तन के विस्तृत धरातल के कारण यह कृति बरबस सभी को अपनी ओर आकृष्ट करती है। अध्यात्म, दर्शन तथा सांस्कृतिक आधारभूमि पर अवस्थित होने के कारण सामान्य सहृदयों को कठिनाई की अनुभूति हो सकती है किन्तु उसमें रस-सागर निरन्तर हिल्लोलित हो रहा है। सुधीजन इस आनन्द में निमग्न होकर अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्तकर सन्तुष्ट होते हैं। 'अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग' की उक्ति अक्षरशः सार्थक सिद्ध होती है। इस कृति का रचयिता एक साधक है, सन्त है, साधना की उदात्त भावभूमि पर अनवरत विचरण करने वाला है, अतः उसके उद्‌गार असाधारण एवं ज्ञान गरिमा से युक्त हैं। कवित्व एवं आत्म संगीत का समन्वय मानव मात्र को मुक्ति-पथ पर ले जाने का हेतु बनता है। इस कृति की सर्वोत्कृष्टता इसी से प्रमाणित होती है।

'मूकमाटी' में 'माटी' का सुविस्तृत रूपक बाँधा गया है। माटी अकिंचन, पद-दलित, उपेक्षित और सर्वसुलभ होने के कारण महत्त्वहीन-सी है। रज—जिसका प्रत्येक कण अपनी अस्मिता का परिचय प्रतिक्षण मानव को प्रदान करता है कि उसके शरीर निर्माण में उसकी भी विशिष्ट भागीदारी है, उसी माटी से उत्पन्न है। मानव इस ओर से निश्चिन्त-सा लगता है, क्योंकि माटी को वह अनुपयोगी मान बैठा है। आधुनिक चकाचौंध के वातावरण में 'माटी' की चर्चा करके वह अपने को 'दकियानूसी' अथवा 'परम्परावादी' नहीं सिद्ध करना चाहता, वह तो 'चाँद-सितारों' की कोमल कल्पनाओं में ही खोकर अपने व्यक्तित्व को सार्थक बनाना चाहता है। यह उसका भ्रम एवं अहंकारी दृष्टिकोण है। यही उसके कष्टों एवं विनाश का मूल है। कविप्रवर ने 'माटी' को कंकरीली-पथरीली स्थितियों से युक्त बताकर भी उसकी महिमा को उजागर किया है, क्योंकि कुम्हार इसी माटी को अपने श्रम से चिकनी, मुलायम और सुन्दर बनाता है। उस पर उसका किया गया श्रम व्यर्थ नहीं जाता। सुन्दर घट का निर्माण कुम्हार की लगन, निष्ठा और समर्पित भावना का प्रतीक है। कर्म और धर्म दोनों के सामंजस्य से व्यक्ति अनेक दुर्लभ वस्तुओं को सुलभ कर सकता है। उसका लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए। कुम्हार अपने कर्म-धर्म से ही अनपढ़, कंकरीली-पथरीली और चट्टान जैसी मिट्टी से मोहक घड़े का निर्माण करता है। यह घड़ा मंगल का प्रतीक है। घड़े में 'स्वस्तिक' का चिह्न हमारी सांस्कृतिक क्रियाशीलता एवं मानवीयता का प्रतीक है। 'मूकमाटी' की माटी की यही वेदना है—तिरस्कार, उपेक्षा, पददलन। इसके पश्चात् भी कवि द्वारा मुक्ति-सम्भावना से सम्पृक्त करने का प्रयास, उसकी अमरवाणी है। इसमें किंचित् भी अतिरंजना नहीं है कि माटी की उपेक्षा जीवन को विनाश पथ पर ले जाती है। माटी की ऊर्जा एवं उसकी शक्ति को चुनौती नहीं दी जा सकती। वह अजेय एवं कालातीत है।

प्रकृति के विस्तृत आँगन में माटी की पर्वत की उत्तुंग चोटियों से लेकर महासागर की अतल गहराई तक उपस्थिति है। माटी सर्वशक्तिमान् है। लगता है सागर से पर्वत तक माटी का अखण्ड साम्राज्य है। वह अपनी अस्मिता को दिग्दिगन्त तक फैलाए हुए जगती में हो रहे कार्यों की मूक साक्षी है। इस धरित्री पर जो कुछ सुन्दर, आकर्षक, प्रिय और उत्तम है, वह माटी के कारण ही है। इसके बावजूद माटी की उपेक्षा और तिरस्कार है। सन्तवाणी ने इस माटी की महिमा का गायन और उसकी ऊर्जस्विता का प्रतिपादन इस विशिष्ट काव्य कृति में किया है। माटी और कुम्भकार के पारस्परिक सम्बन्धों की ओर इंगन इस बात का प्रतीक है कि मिट्टी की परख मात्र कुम्भकार को ही है। कुम्भकार रचयिता है, निर्माता है और स्रष्टा है। माटी रचना का आधार है, स्पन्दन का स्रोत है और रसमयता का अक्षय भण्डार है। सौन्दर्य, शृंगार एवं मधुरिमा की त्रिवेणी है। यह त्रिवेणी जिसका दरस, परस या पान सांसारिक माया-मोह से मुक्त करता है। अमृत तत्त्व से भरपूर माटी का स्पर्श जीवन को परम शान्ति, सुख एवं मोक्ष प्रदान करने में समर्थ है। धन्य है 'माटी' और उसकी महिमा।

'मूकमाटी' महाकाव्य की परिधि को स्पर्श करता है। महाकाव्यात्मकता और उसका वैशिष्ट्य सर्वत्र विद्यमान है। रचनाकार ने इस कृति को चार सर्गों (खण्डों) में विभाजित किया है– प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; द्वितीय खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; तीसरा खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन'; चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'। वैसे महाकाव्य की प्रचलित परम्परा के अनुसार इसमें खण्डों की संख्या कम है किन्तु आधुनिक रचना प्रवृत्तियों के आधार पर इसे महाकाव्य की श्रेणी में रखना समीचीन होगा। प्रकृति-चित्रण, धरती की विस्तृत हरीतिमा, नयनाभिराम, मोहक दृश्यावलियाँ आदि जीवन की धारा को गहनता से प्रभावित करती हैं। कथा सूत्र 'माटी' के आसपास केन्द्रित है। माटी और उसका रचयिता ही इसकी कथा को गति प्रदान करते हैं। रचनाकार ने एक रूपक तैयार करके अपने कथानक को अति विस्तार प्रदान किया है। माटी रूपी घट को कुम्भकार रूपी गुरु अपने कर्मरूपी हाथों से निर्मित करता है। कंकर-पत्थर रूपी अज्ञान को हटाकर सुन्दरता रूपी ज्ञानप्रकाश से भरता है। यह घट मंगलकारी है, शुभत्व तथा पवित्रता से युक्त है। इस घट के प्रति सहज ही श्रद्धा जागृत होती है। यह मंगल-भावना मुक्ति प्रदाता है।

प्रथम खण्ड में माटी की व्यथा का सहज ही उद्घाटन कितना सजीव एवं मार्मिक है :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से/'''अधम पापियों से
पद-दलिता हूँ माँ !/सुख-मुक्ता हूँ/दुःख-युक्ता हूँ
तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ !" (पृ. ४)

यह माटी का आत्म कथन है। इसमें जहाँ एक ओर मानवीकरण का आरोप है वहीं पर नाटकीयता का स्वर भी प्राप्त होता है। जिस प्रकार कोई पात्र रंगमंच पर अवतरित होकर स्वयं अपना परिचय देता है तो वह कितना जाना-पहचाना और जीवन्त प्रतीत होता है। उसका लगाव अतिशीघ्र अन्यों से होता है, उसी प्रकार माटी का परिचय असाधारण रूप से सभी को प्रभावित करता है। मात्र परिचय से ही नहीं, माटी की वेदना भी अन्तस् को द्रवित करती है :

"यातनायें पीड़ायें ये !/कितनी तरह की वेदनायें /कितनी और'''आगे
कब तक'''पता नहीं/इनका छोर है या नहीं !
श्वास-श्वास पर/नासिका बन्द कर/आर्त-घुली घूँट/बस
पीती ही आ रही हूँ/और/इस घटना से कहीं/दूसरे दुःखित न हों
मुख पर घूँघट लाती हूँ/घुटन छुपाती-छुपाती/'''घूँट/पीती ही जा रही हूँ,
केवल कहने को/जीती ही आ रही हूँ।" (पृ. ४-५)

माटी की इस पीड़ा, वेदना और दुःखानुभूति में उसकी निरीहता एवं उपेक्षिता का भाव सन्निहित है किन्तु वास्तव में उसकी विनम्रता सराहनीय है। वह अपनी अदम्य इच्छा शक्ति को पराजित नहीं होने देती वरन् अपनी जिजीविषा को जागृत किए रहती है। संघर्ष एवं गतिशीलता उसकी प्रकृति में है। जिस प्रकार दृढ़ निश्चयी शिष्य अपनी लगनशीलता एवं दृढ़ निश्चय से गुरु की कृपा प्राप्त कर ज्ञान प्राप्त करता है, सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित, पाप-पुण्य में भेद करके अपने कर्तव्य पथ पर चलकर लक्ष्य प्राप्त करता है, उसी प्रकार यह माटी भी प्रकृति के परिवेश में रहते हुए भी अपनी अस्मिता तथा गतिशीलता के प्रति सतत जागरूक है। उसकी दृढ़ इच्छा शक्ति से प्रभावित होकर धरती माँ उसकी प्रशंसा करती है :

"तूने जो/अपने आपको/पतित जाना है/लघु-तम माना है/यह अपूर्व घटना
इसलिए है कि/तूने/निश्चित-रूप से/प्रभु को,/गुरु-तम को/पहचाना है !
तेरी दूर-दृष्टि में/पावन-पूत का बिम्ब/बिम्बित हुआ अवश्य !" (पृ. ९)

गुरु की पहचान होने पर सहज ही कल्याण पथ प्रशस्त होता है। गुरु की कृपा प्राप्त करना सहज, सरल नहीं है। उसके लिए साधना और कर्म करना होता है। माटी भी अपने कुम्भकार-गुरु की कृपा प्राप्ति हेतु प्रतिक्षण व्यग्र है। इसके लिए आशा, उत्साह और साहस का अभाव नहीं होना चाहिए :

"कभी-कभी/गति या प्रगति के अभाव में/आशा के पद ठण्डे पड़ते हैं,
धृति, साहस, उत्साह भी/आह भरते हैं,/मन खिन्न होता है/किन्तु
यह सब आस्थावान् पुरुष को/अभिशाप नहीं है,/वरन्
वरदान ही सिद्ध होते हैं/जो यमी, दमी/हरदम उद्यमी है।" (पृ. १३)

माटी का संकल्प ही उसे घट में परिवर्तित कर मंगल भावना से सम्पृक्त करता है। माटी गुरु कृपा से स्वर्ण में बदल जाती है। अनिश्चय, शंका, सन्देहों से मुक्त होकर माटी अपने लक्ष्य को अनायास ही प्राप्त करती है। श्रेष्ठता का मानक ही जीवन को उत्कृष्टता प्रदान करता है।

"अविकल्पी है वह/दृढ़-संकल्पी मानव/अर्थहीन जल्पन
अत्यल्प भी जिसे/रुचता नहीं कभी !" (पृ. २७)

शिल्पी अपनी तूलिका में जो रंग भरता है, वस्तु की स्थिति-परिस्थिति को देख कर और परख कर ही निर्णय करता है। माटी का संकल्प ही उसे शिल्पी के कुशल हाथों में पहुँचाता है। उसका विवेक और दृढ़ निश्चय इस दृष्टि से श्लाघ्य एवं प्रशंसनीय है। शिल्पी के हाथों माटी अपना भविष्य मंगलमय मानती है। उसके वर्ण संकरत्व को शिल्पी ही सँभालता है, कूट-छानकर उसे सौन्दर्य मण्डित कर उपयोगी भी बनाता है। माटी के प्रति उसका ममत्व भी कम नहीं है, तभी तो :

"आज माटी को/बस फुलाना है/पात्र से, परन्तु अनुपात से/जल मिलाकर
उसे घुलाना है।/आज माटी को/बस फुलाना है।" (पृ. ५७-५८)

माटी अपनी अकिंचनता पर दु:खी तो है किन्तु धरती माँ के आशीष एवं कुम्भकार के स्नेह पर उसे पूर्ण विश्वास भी है। उसकी यात्रा को ये ही सार्थकता प्रदान करेंगे :

"मोक्ष की यात्रा/···सफल हो/मोह की मात्रा/···विफल हो
धर्म की विजय हो/कर्म का विलय हो/जय हो, जय हो
जय-जय-जय हो !" (पृ. ७६-७७)

इस जययात्रा में कल्याण की भावना समाहित है। इसके प्रति शुभ संकेत है :

"इस शुभ यात्रा का/एक ही प्रयोजन है,/साम्य-समता ही/मेरा भोजन हो
सदोदिता सदोल्लसा/मेरी भावना हो,/दानव-तन धर/मानव-मन पर
हिंसा का प्रभाव ना हो,/दिवि में, भू में/भूगर्भों में/जिया-धर्म की

दया-धर्म की/प्रभावना हो···!" (पृ. ७७-७८)

उपनिषद् में भी जययात्रा के सम्बन्ध में उल्लिखित है : "चरैवेति चरैवेति चरन् वै मधु विन्दति" 'चलना ही ज़िन्दगी है-रुकना मौत है', 'यात्रा कभी निष्फल नहीं होती', वह सफलता तथा आनन्द का आधार है तथा जीवन एवं गतिशीलता का प्रतीक है। वर्ण संकरत्व दोष गतिशीलता से ही दूर हो सकता है, मूल रूप की प्राप्ति तभी सम्भव है। माटी इस रूप की प्राप्ति हेतु सतत गतिशील है।

इस कृति का द्वितीय खण्ड है—'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं।' इसमें दर्शन एवं अध्यात्म की चर्चा गम्भीरता के साथ हुई है। शब्द चेतना का प्रतीक है। ध्वनि या आवाज़ से ही श्रवण शक्ति संचरित है। श्रवण, चिन्तन, मनन आदि बोध को पुष्ट करते हैं। बोध अर्थात् जानकारी (ज्ञान) के अभाव में जिज्ञासा कहाँ ? जिज्ञासा ही शोध, अन्वेषण, तलाश या खोज की प्रवृत्ति को पैनी करती है। इस प्रकार शब्द की यात्रा खोज के बिन्दुओं तक अनवरत रूप से चलती रहती है। यह खोज अविराम है। इसमें भाव, विभाव तथा रसानुभूति की गहन तीव्रता विद्यमान है। अनुसन्धित्सु मौन रहकर अखण्ड आनन्द की सहज अनुभूति करता है। यह उद्गार बिलकुल सत्य है :

"ज्ञानी के पदों में जा/अज्ञानी ने जहाँ/नव-ज्ञान पाया है।
अस्थिर को स्थिरता मिली/अचिर को चिरता मिली/नव-नूतन परिवर्तन!"(पृ.८९)

यह शब्द-बोध का ही कमाल है कि 'चेतना' का नर्तन प्रारम्भ होता है जो 'समग्रता' को प्रभावित करता है :

"तन में चेतन का/चिरन्तन नर्तन है यह/वह कौन-सी आँखें हैं
किस की, कहाँ हैं/जिन्हें सम्भव है/इस नर्तन का दर्शन यह!" (पृ. ९०)

भारतीय संस्कृति के पुरोधा महाकवि जयशंकर प्रसाद ने भी अपनी कालजयी कृति 'कामायनी' में 'चेतनता' को पूर्ण शक्ति सम्पन्न सिद्ध किया है। "चेतनता एक विलसती/आनन्द अखण्ड घना था।" चेतना आनन्द का मूल है। आत्मा इसी आनन्द की प्राप्ति हेतु परमात्मा की ओर टकटकी बाँधे देखती है। माटी भी अपनी मुक्ति हेतु चेतना के रथ पर आरूढ़ होना चाहती है। माटी और कुम्भकार का सम्बन्ध प्रकृति और पुरुष का है। एक के अभाव में दूसरे की स्थिति नगण्य, व्यर्थ एवं शून्य है। परस्पर प्रेम और आकर्षण इसका रहस्य है। इसकी अभिव्यक्ति रचनाकार ने की है :

"स्वभाव से ही/प्रेम है हमारा/और/स्वभाव में ही/क्षेम है हमारा।
पुरुष प्रकृति से/यदि दूर होगा/निश्चित ही वह/विकृति का पूर होगा
पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।/और/अन्यत्र रमना ही
भ्रमना है/मोह है, संसार है···।" (पृ. ९३)

यह जगत् असार है। इसकी महत्ता तभी है जब बोध से सम्पन्न होकर शोध करने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो। बोध-शोध का यह क्रम ही फलाफल को उत्पन्न करता है। स्थिति के अनुसार उसका भोग भी मिलता है :

"बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो
शोध कहलाता है।/बोध में आकुलता पलती है/शोध में निराकुलता फलती है,
फूल से नहीं, फल से/तृप्ति का अनुभव होता है,/फूल का रक्षण हो/और
फल का भक्षण हो; /हाँ! हाँ!!/फूल में भले ही गन्ध हो
पर, रस कहाँ उसमें!/फल तो रस से भरा होता ही है,/साथ-साथ

सुरभि से सुरभित भी··!" (पृ. १०७)

रचना पुष्प की भाँति है। वह 'समग्रता' को सुरभित करती है। मंगल घट की पवित्रता को बढ़ाती है। ज्ञान ज्योति प्रकाशित करती है। शूल को भी फूल बनाने की अप्रतिम शक्ति उसमें निहित है। माटी खोदने में भी एक सुगन्ध है, वह सुगन्ध अन्तस् को देदीप्यमान करता है। साहित्य एवं कला का 'शब्द' वहीं से जन्मता है। शिल्पी शब्द को व्यापक बनाकर उसके अर्थ-गाम्भीर्य को व्यक्त करता है :

"शिल्पी के शिल्पक साँचे में/साहित्य शब्द ढलता-सा !
"हित से जो युक्त—समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव—सम्पादन हो
सही साहित्य वही है।" (पृ. ११०-१११)

साहित्य अपनी कलात्मकता में अनुपम है। शब्द-बोध उसकी सहज प्रक्रिया है। माटी की मौनता भी कलात्मक ढंग से बोध कराती है। यह उसकी अपनी 'निजता' है । निजता अपने महत्त्व को सदैव प्रतिष्ठित करती है। माटी की महिमा भी प्रतिष्ठित है :

"माटी की वह मति/मन्दमुखी हो मौन में समाती है,
म्लान बना शिल्पी का मन भी/नमन करता है मौन को,
पदों को आज्ञा देने में/पूर्णतः असमर्थ रहा।" (पृ. ११६)

माटी का रूप, रस, गन्ध, सौन्दर्य सभी बोध एवं शोध के कारण ही विराटत्व से जुड़ा है।

'मूकमाटी' का तृतीय खण्ड ' पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' है । इसमें पुण्य की महिमा का गायन है। कर्म से ही पुण्य की प्राप्ति होती है। शुभत्व एवं मंगलत्व का साम्राज्य स्थापित होता है। माटी का मंगल घट पुण्य की वर्षा करके समग्र धरित्री की प्यास बुझाकर हरीतिमा का विस्तार करता है। पुण्य, वृक्ष, पक्षी, पशु, पर्वत, घाटियाँ, नदियाँ, झरने आदि सभी हर्षोल्लास से भरकर अपनी प्रसन्नता का परिचय प्रदान करते हैं। कुम्भकार का प्रांगण मंगलभाव से भर उठता है। यह वर्षा मुक्तायुक्त है। कहीं भी विषाद, पीड़ा, नैराश्य एवं अवसाद के मेघ दृष्टिगोचर नहीं होते। माटी की सोंधी महक जीवन को नव संचार से भरती है। यह समाचार जब दिग्दिगन्त में फैलता है तो राजा की स्वामीभक्त मण्डली प्रसन्न होती है और उसे मुक्ता-राशि को बटोरने का लोभ जागृत होता है। वे जैसे ही मुक्ता-राशि को समेटने में प्रवृत्त होते हैं,'अनर्थ-अनर्थ' की गर्जना ध्वनित होती है। पापाचारियों के हृदय डोल उठते हैं। पुण्य-लाभ कल्मषगताचारियों को कहाँ ? राजा और उनकी मण्डली हतप्रभ हो उठती है। अन्त में कुम्भकार विचार करके वह असीम मुक्तारशि राजा के हवाले कर देता है। कुम्भकार का कथन है :

"आप प्रजापति हैं, दयानिधान !/हम प्रजा हैं दया-पात्र,
आप पालक हैं, हम बालक !/यह आप की ही निधि है
हमें आप की ही सन्निधि है/एक शरण !" (पृ. २१६)

चिन्तन, बोध और शोध क्षमाशीलता में अभिवृद्धि करते हैं। नवीनता और पुण्य के प्रति चेतना समर्पित होती है। 'समग्रता' और विराटत्व ही सुखकर प्रतीत होता है। लोभ-स्वार्थ की कुत्सा क्षीण हो जाती है। औदार्य, क्षमा, पुण्य

का महासागर लहराने लगता है। जीवन की व्याख्या नवीनता से अनुस्यूत होने लगती है :

"नये चरण - संचरण/नये करण - संस्करण/नया राग, नयी पराग
नया जाग, नहीं भाग/नये हाव तो नयी तृषा/नये भाव तो नयी कृपा
नयी खुशी तो नयी हँसी/नयी-नयी यह गरीयसी।" (पृ. २६३)

चतुर्थ एवं अन्तिम खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' शीर्षक से है। इसमें रचनाकार ने यह स्पष्ट किया है कि जब कुम्भकार अपनी शिल्पकला के माध्यम से घट निर्मित कर लेता है तो उसे पक्व रूप देने का प्रयास करता है। अवाँ में लकड़ियाँ प्रज्वलित की जाती हैं। घट अपनी सम्पूर्णता को प्राप्त करने को तत्पर है। उसकी अग्नि परीक्षा होती है। माटी अपने उच्चतम स्वरूप को प्राप्तकर गौरवान्वित है। यह स्वरूप उसे गुरु तुल्य शिल्पी से प्राप्त हुआ है। माँ धरित्री का अशेष आशीष भी उसके साथ है। लकड़ी अपनी सम्पूर्ण ऊष्मा एवं ऊर्जा के साथ घट को परिपक्वता देने के लिए जल रही है, राख बन रही है, अस्तित्व को अनस्तित्व से मिला रही है :

"लड़खड़ाती लकड़ी की रसना/रुकती-रुकती फिर कहती है—
"निर्बल-जनों को सताने से नहीं,/बल-संबल दे बचाने से ही
बलवानों का बल सार्थक होता है।" (पृ. २७२)

अवाँ को पुष्ट करके घट को उसी में रखा गया है :

"अवा के मुख पर दबा-दबा कर/रवादार राख और माटी
ऐसी बिछाई गई, कि/बाहरी हवा की आवाज़ तक
अवा के अन्दर जा नहीं सकती अब···!" (पृ. २७३)

लकड़ी जलने को तत्पर है। रचनाकार ने गम्भीर वाणी में असत् वृत्तियों को जलाने का रूपक तैयार किया है :

"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है/स्व-पर दोषों को जलाना
परम-धर्म माना है सन्तों ने।/दोष अजीव हैं,/नैमित्तिक हैं,
बाहर से आगत हैं कथंचित्;/गुण जीवगत हैं,/गुण का स्वागत है।" (पृ. २७७)

गुण वन्दनीय, ग्राह्य एवं शुभ हैं। माटी का घट स्वर्ण-कलश के लिए ईर्ष्या का हेतु है। यह मानवीय प्रवृत्ति है। साधारण व्यक्ति श्रम, निष्ठा, अध्यवसाय से प्रगति करता है तो स्वयम्भू शक्ति को सुहाता नहीं है। वही स्थिति 'स्वर्ण-कलश' की है। आतंक दल इसे अपवित्र एवं ध्वस्त करने को तत्पर है। नगर सेठ के पास मंगल घट गुरु के पद-प्रक्षालनार्थ प्रस्तुत है। अपनी श्रद्धा से पद धोकर पुण्य लाभ करे। माया-मोह ग्रस्त सेठ अनमना है। आतंक दल को वह कुछ नहीं कहता। उसकी यह चुप्पी उसके भीरु स्वभाव का द्योतक है। मनीषी रचनाकार ने आधुनिक सन्दर्भों में इस कथावस्तु का विस्तार किया है। आज आतंक दल, सेठ, स्वर्ण मुद्रा तथा गुरु की स्थिति समाज में स्पष्ट है। यह विचारणीय विषय है। यह भी सत्य है कि गुरु तो मात्र 'राह दिखाने वाला' है। उद्धार तो स्वयं के प्रयास से होता है। ज्ञान, विवेक, पुण्य, सत्य धर्म, न्याय का पालन तो 'अपने' से सम्भव है।

माटी का कुम्भ सर्वोत्कृष्ट आसन पर विराजमान है। उसमें किसी भी प्रकार का अहंकार नहीं है वरन् गौरवान्वित है :

"सबसे आगे कुम्भ है/मान-दम्भ से मुक्त,/नव-नव व्यक्तियों की

दो पंक्तियाँ कुम्भ के पीछे हैं/जो/परस्पर एक-दूसरे के
आश्रित हो चल रही हैं/एक माँ की सन्तान-सी/तन निरे हैं
···एक जान-सी।" (पृ. ४७८)

चतुर्थ खण्ड कथा विस्तार से सम्पन्न है। रचनाकार की दार्शनिक चेतना मुखर हुई है। सन्त की निर्मल भावना अपनी पूर्णता पर व्यक्त हुई है। क्षुद्रता की उपेक्षा, निर्बलता का उपहास, स्व की रक्षा, आत्मविश्वास और पुण्यात्मा का शुभत्व, मंगल कामना का विस्तार, गुरु महिमा और आत्मोत्थान आदि बिन्दुओं का गम्भीर, विस्तृत विवेचन किया गया है। भारतीय संस्कृति के मूल स्वर का प्रतिपादन भी इसी क्रम में हुआ है :

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ॥"

मनीषी रचनाकार ने विश्वास एवं आस्था को जीवन की सर्वोत्कृष्ट निधि मानी है :

"विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंजिल पर!/और/महा-मौन में/डूबते हुए सन्त···
और माहौल को/अनिमेष निहारती-सी/···मूकमाटी।" (पृ. ४८८)

'मूकमाटी' काव्यकृति अपनी शिल्पगत विशेषताओं में भी अनुपम है। रस, गुण, अलंकार, छन्द तथा शब्द-सामर्थ्य प्रभावशाली है। कहीं पर कोई रचना-आग्रह नहीं है। आधुनिक परिवेश में सरल, प्रचलित और सार्थक शब्दों का प्रयोग किया गया है। भक्ति रस, शान्त रस के मेघ सर्वत्र बरसे हैं जिनमें सहृदय स्नान कर मंगल घट से पूजा-उपासना करने में तत्पर है। शृंगार को रूपक के माध्यम से रखकर जीवन के सौन्दर्य को उभारा गया है। कहीं भी अतिरंजना नहीं है। छन्द-प्रयोग सर्वथा नवीन है, प्रभावी, प्रवाहपूर्ण, आडम्बर या दुराग्रह से सर्वथा मुक्त है। यह सन्त की निर्मलता एवं हृदय की विनम्रता का प्रतीक है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, पुनरुक्ति अलंकारों के साथ अनुप्रास और यमक का प्रयोग भी प्रशंसनीय है। यदा-कदा भावाभिव्यक्ति में बल से पड़ते हैं, किन्तु यह स्वाभाविक रूप से हुआ है, यथा–"परस्पर और एक दूसरे" शब्द का प्रयोग - अभिव्यक्ति को गति ही प्रदान करता है। प्रकृति का कोमल चित्रांकन परिवेश के विस्तार को आकर्षक बनाता है। माटी, नदी, पर्वत, आकाश, पुष्प, वृक्ष, मधु एवं सरिता आदि का प्रयोग जहाँ एक ओर महाकाव्य की गरिमा को ऊर्जस्वित करता है वहीं रूपक प्रयोग को नवीनता प्रदान करता है। नाटकीयता मानवीकरण, औदार्य, संकलन-त्रय की भूमिका आदि काव्य-सौन्दर्य में अभिवृद्धि करते हैं। 'मूकमाटी' महाकाव्य अपनी गरिमा में बेजोड़ तथा मानवीय अनुभूतियों का दार्शनिक-सांस्कृतिक धरातल पर प्रामाणिक दस्तावेज़ है। □



पृष्ठ ३५६-३६७
कला शब्दस्वयं
कहरहा कि
------ एक ही
मत है, बस–

'मूकमाटी' के प्रणेता

प्रो. (डॉ.) आर. डी. मिश्र

कवि निराला इस शताब्दी के एक क्रान्ति चेता कवि हैं – एक ऐसे चिन्तन अनुभूति के पुंज, जिनमें अतीत की सम्पूर्ण थाती के साथ वर्तमान जीवन्त होकर हमें शक्ति, सामर्थ्य और विवेक देता है। उनमें एक ऐसी दृष्टि ऊष्मा है जो हमें अतीत में निहारने का कौशल देती है और वर्तमान को आत्मविश्वास की प्रतीति। यही तारतम्य हमारी राष्ट्रीय अस्मिता है, जो आज बिखर रही है। यही हमारी परम्परा है जो भविष्य के प्रति उन्मुख होने का बल देती है। जब यह अन्विति बिखरती है तब कोई युग चेता उभरकर आता है–युग में क्रान्ति का उद्घोष और अन्याय के प्रतिकार का शंखनाद करता हुआ। यह हमारी संस्कृति की विलक्षणता है जिसने हजारों वर्षों के अर्जन को ध्वस्त होने से बचा लिया है।

सत्य, अहिंसा और करुणा की मानवीय चेतना ही इस महती संस्कृति का प्राण है। बुद्ध और महावीर से लेकर गाँधी और फिर आज तक इसी अवधारणा और जीवन दर्शन को हमने आत्मसात् किया और आपदा-विपदा के अन्धकार से संघर्ष करते हुए आलोक किरण को उद्भासित किया है। तुलसी इस चेतना के अन्यतम प्रतीक थे। उनकी प्रासंगिकता भी इसी अर्जन में है कि अकबर के शासन में संस्कृति चेतना के विघटन और आस्थाओं के खण्डन के विरुद्ध उन्होंने 'मानस' की रचना की एक परिपक्व मानसिकता और प्रौढ़ विचारणा की अदम्य अभिव्यक्ति के रूप में, जो आज भी शाश्वत है हमें स्पन्दन और प्रेरणा शक्ति देने के लिए। इन्हीं संस्कृति चेता तुलसी का एक आकलन, कवि निराला ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'तुलसीदास' में किया है जिसमें तुलसी के युग चेता व्यक्तित्व की मीमांसा तो है ही, साथ ही इसमें निराला की क्रान्ति चेतना और युग चेता व्यक्तित्व की प्रखरता के दर्शन भी होते हैं। उन्होंने सौ छन्दों की इस लम्बी कविता में एक अनूठे छन्द का प्रयोग कर शिल्प को भी नवीनता प्रदान की है।

वह किसी भी संवेद्य व्यक्ति को चैतन्य प्रदान कर उसे युग तत्त्व को समझने का विवेक भी दे सकती है। एक बानगी देखिए तुलसी की युगचेतना, सृजन और शिल्प के विनियोग की सार्थक अभिव्यक्ति, जिसमें युग चेता परिभाषित हो गया है, और वह सारी चेतना उभर कर आ गई है जिसमें युग चेता का निर्माण होता है, उसकी अकुलाहट, उसका उद्वेलन उसे सन्नद्ध करता है अन्याय का प्रतिकार और अन्यायी का विरोध करने के लिए। उसकी समग्र अस्मिता उसे निर्भीक बनाती है और वह समर्पित हो जाता है एक पुनर्जागरण के अलख और क्रान्ति के उन्मेष के लिए। यही शक्ति युग स्वर बनकर गूँजती रहती है – शाश्वत, निरन्तर। निराला का यही आकलन है – कवि का, कवि की वाणी की प्रतीति बनकर :

"देश-काल के शर से बिंध कर
यह जागा कवि अशेष-छविधर
इनका स्वर भर भारती मुखर होएँगी;
निश्चेतन, निज तन मिला विकल,
छलका शत-शत कल्मष के छल
बहती जो, वे रागिनी सकल सोएँगी।"

ऐसी ही आशा, अपेक्षा होती है युग पुरुष से, युग मानवता को।

तपस्वी विद्यासागरजी को जब-जब पढ़ता, सुनता और गुनता हूँ तब-तब निराला के तुलसीदास की न जाने कितनी पंक्तियाँ आचार्यश्री की प्रखरता में ध्वनित होने लगती हैं, जो उन्होंने युग चेता के तपस्वी और मनस्वी रूप में संयोजित की हैं। वे सन्त हैं, मुनि हैं, ऋषि और युग परिव्राजक के साथ ही क्रान्ति चेता युगपुरुष भी हैं। किन्तु इन सब के ऊपर वे कवि हैं, केवल कवि। मेरा सोच है कि उनके बहुआयामी व्यक्तित्व का स्रोत ही कवि है, उनका उद्गम ही उनकी संवेदनशीलता है। उनकी मानवता के प्रति वही करुणा जो कभी महावीर स्वामी, बुद्ध, शंकर से होकर अनेक रूपों में व्यंजित होती हुई तुलसी और फिर गाँधी में समाहित थी। उनका कवि हृदय अन्याय का प्रतिकार करने की व्यास वाणी बनकर गीता का उन्मेष कराता है। उनकी सत्य की प्रतीति वाल्मीकि के राम को उनमें साकार कर युग सत्य की अभिव्यक्ति कराती है। वे ऋषियों की समस्त चेतना वाणी लेकर मूर्तिमन्त हुए हैं इस सदी में।

उनकी अनुपम कृति 'मूकमाटी' की अन्तरंगता को पहचानने के पूर्व मैंने उनकी व्यक्ति चेतना की उस अस्मिता को तलाश करने की चेष्टा की, जो उनमें अनुगुंजित होकर युग स्पन्दन बनी है। इसी भटकन में मुझे सान्निध्य मिला उनके तीन तरुण शिष्यों का—मुनि समतासागर, मुनि प्रमाणसागर और ऐलक निश्चयसागर का। उनके प्रति किसी अज्ञात प्रेरणा से आकृष्ट हुआ। इस आपाधापी के युग में भी उनकी अपने तपोनिष्ठ गुरु के प्रति गहन निष्ठा और निःस्वार्थ समर्पण भावना को देखकर और उन्हीं में प्रतिबिम्बित देखता रहा उस पावन तपस्वी की क्रान्तिचेतना को और इन तरुण सन्तों में पहचानता रहा उनका तेजोमय स्वरूप और करता रहा भारत की संस्कृति के पावन रूप का दर्शन उस तपोनिष्ठ के जीवन्त मूर्तिमन्त में।

सन्त दूरदर्शी होता है। वह वर्तमान में स्थिर रहकर सुदूर भविष्य में झाँकने का अद्भुत कौशल जानता है और यही विधि कौशल वह अपनी युग पीढ़ी को देता है तथा उसे वर्तमान में रहने वाले केवल 'वर्तमान जीवी' होने से बचा लेता है। आचार्यप्रवर का पूरा अर्जन आज यही युग चेतना देता हुआ उन्हें गतिवान् बनाए है। उनका सम्पूर्ण तेज ही उनका परिव्राजन है। मानवता के प्रति उनकी समर्पित भावना ही उनकी निष्ठा है। उनकी गति ही प्राण चेतना है और यही तपस्या की सिद्धि गन्तव्य है, उस तापस का। प्रकृति और पुरुष के साहचर्य की अनुभूति शक्ति ही उनका अनुष्ठान है, युग सत्य की खोज का। जगत् कल्याण के प्रति अकुलाहट ही उनका आत्मान्वेषण है। अपरिग्रह का सन्देश देने वाले सन्त का यही परिग्रह है। हृदय कोष में करुणा की अक्षय निधि है।

इसी संवेद्य ध्वनि ने इस युग चेता सन्त को माटी के मौन में भी ध्वनि की अनुभूति और स्वर का एहसास कराया है। माटी के मौन स्पन्दन में भी उसने प्राणिमात्र के क्रन्दन के साथ मानवता के अभिनन्दन की गूँज सुनी और यही समन्विति ही उसकी काव्य चेतना की कमनीयता है। यह कृति साहित्य की विधा है, कवित्व है, महाकाव्य की आकृति है अथवा एक लम्बी काव्यानुभूति—यह तो हम सब समीक्षकों के मापदण्ड के विधान और परख के शिकंजे हैं। इन सब शिल्प, कलेवर और परिभाषा के निकष के परे वह एक सन्त की संवेद्य दृष्टि की अनुपम अभिव्यक्ति है। एक तपस्वी की तपस्या की समूची पूँजी, काव्यनिधि है। आचार्यश्री का कवि रूप ही उनकी वह व्यंजना है जो प्राणि मात्र के प्रति सम्पूर्ण संवेदना से व्यक्त हुई है, शब्दों के बोल और माटी के मौन में। वे तपस्वी, सन्त, साधक और ऋषि कुछ भी हों, उनका मूलरूप कवि का ही है जो हृदय से निःसृत हुआ है, चेतनाओं की अनेक मुखी धाराओं में। उस मानसरोवर में कवित्व का अथाह सागर समाया है जिसमें कवि-मनीषी आचार्यश्री स्वयं अवगाहन करते हैं और हम सबको, प्राणिमात्र को स्फूर्त करते हुए सन्देश देते हैं कि जीवन की सार्थकता डूबने में नहीं, डुबकियाँ लगाने में हैं, कमल के पत्र की भाँति जल बिन्दु रहित, निर्लिप्त। वीतरागता की इससे सहज परिभाषा और क्या हो सकती है, जो संन्यास की प्रतीति है। संसार सागर में डुबकियाँ लगाते रहो और अपना प्रक्षालन करते हुए परिष्कृति करो। कवि रहीम ने इसी को अलग शैली-प्रतीकों में

व्यक्त किया और अपने को प्रासंगिक बना लिया है। शाश्वत ध्वनि है उनकी ये :

"रहिमन या तन सूप है लीजे जगत पछोर।
हलुकन के उड़ु जान दे गरुए राख बटोर॥"

कितना सहज और सुलझा हुआ जीवन दर्शन है। पूरी चेतना का आकलन और मनस्विता का निचोड़ है।

आचार्यश्री की व्यक्तिचेतना के यही बिन्दु हैं, जो विस्तीर्ण होकर उनके व्यावहारिक जीवन के वृत्त बनकर काया में समाहित हैं। उन्होंने भारतीय अस्मिता की परम्परा को पुनर्जीवित करके प्राणों की नई संवेदना फूँककर उसे निष्प्राण होने से बचाया है। यही भारत भूमि की सांस्कृतिक प्रखरता है जो हजारों वर्षों की तपस्या के प्रतिफलन में व्याप्त है और हमारी चेतना को अनुप्राणित करने की सामर्थ्य रखती है किन्तु जब किसी कारण से वह नेपथ्य में चली जाती है तब विद्यासागर जैसे मनीषी केवल ज्ञान के सागर ही नहीं बल्कि अनुभूति के आकाश बनकर अवतरित होते हैं और देश के मन:प्राण को एक नया चैतन्य दे जाते हैं। माटी में प्राण फूँककर उसके मौन को मुखर कर देते हैं।

माटी के स्पन्दन में शब्द मुखर हो गए हैं। माटी पर केन्द्रित यह चार खण्डों का काव्य ग्रन्थ महाकाव्य की पारम्परिक परिभाषा में भले ही न आए किन्तु अपने में जिस औदात्त्य को समेटे है उसमें पूरा जीवन समा गया है। इसमें समाहित हो गई हैं जीवन की विविधताएँ और मानवता का वैपुल्य—परिभाषा के वृत्त से हटकर। इसकी व्यंजनाएँ एक विलक्षण रूप में समग्रता को महाकाव्य के परिभाषा वृत्त में आबद्ध कर लेती हैं और हमें महसूस होने लगती है—नए काव्यशास्त्र की आवश्यकता, जीवन की नव्यतम परिणति में। हमारे प्रतिमानों की धूमिलता और उपमाओं की पारम्परिक दृष्टि वैशिष्ट्य के साथ ही निष्प्राण-सी पड़ी मानवीय संवेदनाओं को एक सर्वथा चैतन्य परिणति दी है 'मूकमाटी' के शिल्पी ने। इसमें सन्त के सन्तत्व को कवि के कवित्व की वाणी मिल गई है। सारी उपमाओं को एक नई चमक प्राप्त हो गई है। छन्दों की मुक्ति, किन्तु लय के माधुर्य से सराबोर।

आचार्यप्रवर तपोवन में नहीं हैं किन्तु तपोवन की उस परम्परा को युगानुकूल ढाल कर आज पुनः प्रतिष्ठा दे रहे हैं जो गुरुकुल में पनपी थी किन्तु आज विलीन-सी हो गई है। गुरु का गुरुत्व, सन्त का सन्तत्व और ऋषि की मन्त्र ऋचा ही आज तरुणाई को दिशा दे सकती है। यह पावन वाणी और निश्छल, सात्त्विक अनुभूति ही उनमें शक्तिपात करा सकती है और आत्मावलोकन का मार्ग सुझा सकती है—भीतर झाँकने की विधि। दरअसल हमारी संस्कृति की परिभाषा ही है कि भीतर से बाहर आकर और बाहर को पुनः आत्मसात् कर बाहर व भीतर के सामंजस्य से जो कुछ अर्जित होता है वही तपोनिष्ठा हमारी संस्कृति है। केवल बाहर भागना एक खालीपन है, शून्य में भटकना जैसा। व्यापक जीवन चेतना से जो परिपाक तैयार होता है, वही संस्कृति है। यही सन्देश है, आचार्यश्री का अपनी विलक्षण कृति 'मूकमाटी' में। किन्तु विडम्बना यह है कि हम उस शब्द ध्वनि को नहीं पहचान पाते और न उस स्पन्दन को अपने में ध्वनित करने का प्रयास ही करते हैं जो शब्द-शब्द में अनुगुंजित है। हम केवल उसकी मीमांसा, औचित्य निरूपण, परिभाषा की परख में उलझ जाते हैं। उनके कवित्व को व्यक्ति चेतना और युगबोध के परिप्रेक्ष्य में समझने की चेष्टा ही 'मूकमाटी' का कैलासी स्वर है—शिवत्व की अनुभूति। किन्तु क्या करे अभागा मनुष्य, जो अपने से बेपहचान, दूसरे को पहचानने का प्रयत्न करता है—असफल, निष्फल।

इस महाग्रन्थ में अवगाहन करना "जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ" की उक्ति को सार्थक करना है तथा मुनिश्री की तपस्वी व्यक्ति चेतना से उद्भूत जीवन चेतना और युग संवेदना को पहचानना है। कैसे मिट्टी की गहराई में बैठकर उस के स्वर को भाँपा है आचार्यप्रवर ने ! निरन्तर परिव्राजन, विचरण और उसी में चिन्तन, मनन ने उनकी

सम्पूर्णता में एक अद्भुत दीप्ति आवेष्टित कर दी है। इसी से उद्भूत, वह आलोक किरण जो हम, आप, सबको अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाती है। वे धरती के कण-कण की पहचान अपनी पदचाप से करते गतिमान् हैं और चरणों में जो प्रतीति होती है माटी की, वह उनकी कवित्व की अनुभूति बनकर युग चेतना की उद्भावना करती है। वे धरती की माटी की सोंधी गन्ध में अपनी तपोनिष्ठा से जो स्वर सुनते हैं, वह उन्हें जगाते हैं, और मन को प्रबुद्ध कर मानव की उस अस्मिता के समीप ले जाते हैं जो युगबोध का चैतन्य कहलाता है।

'मूकमाटी' की यही भूमि है, कवित्व का धरातल। यदि वह महाकाव्य है तो उसका कथानक क्या है, वह क्या आख्यान है, क्या प्रबन्ध है– इन सब प्रश्नों और मीमांसा से परे, हमें इस महाकाव्य में इस महादेश की महती संस्कृति के उस स्वरूप को खोजना पड़ेगा जो युग-युग से इस देश में ऋषि-मुनियों की चेतना और तप की सिद्धि रही है। इस महाकाव्य में माटी के मौन में एक कथानक स्वयमेव गुँथता जाता है और पात्र माटी के सम्पर्क में उद्भासित होकर कथानक के चरम पर पहुँच कर एक निष्पत्ति करा देते हैं किन्तु इस सबका दर्शन करने के लिए चर्मचक्षु के भीतर ज्ञान-विवेक की दृष्टि और अन्तर्मन की अमलिनता अपेक्षित होगी। नगर-नगर और डगर-डगर का भ्रमण करने वाले इस प्रखर सन्त ने अपने परिव्राजन के दौरान मानवीय सभ्यता, प्रगति और विकास की गति में विकृतियाँ देखीं, मानवता के आवरण के भीतर झाँक कर देखा उस अमानुषिकता को, जो सांस्कृतिक क्षरण का कारण बनी है। भारत कितना पावन था, कितनी करुणा, दया, प्रेम, सहिष्णुता की परिपूर्णता थी और अब क्या हो गया है मेरे देश को, महामानवों की इस माटी को ? कहाँ तो प्राणिमात्र के प्रति दया, ममत्व की भावना और उसे संरक्षण का आश्वासन। और कहाँ यह निर्दयता ?

ऋषि वाल्मीकि तड़पते क्रौंच और बिलखती क्रौंची को देख कर उद्वेलित हुए थे, उद्विग्न हो जाते हैं, उनका ऋषि सत्य उद्भूत होता है, युग वाणी बन कर। विश्वामित्र भरतभूमि की दुर्दशा देख कर ही पहुँचे थे, दशरथ के पास। "दशरथ ! तुम मुझे राम दे दो, मैं तुम्हारा आर्यावर्त बचा लूँगा।" अत्याचार और अन्याय का प्रतिकार करने के लिए हमारा सन्त ही सदैव सामने आया है। यह हमारी परम्परा, इतिहास है। आज फिर वही वध की विकृति और हत्या की नृशंसता सामने है। हमारे सांस्कृतिक जीवन की मूल चेतना सत्य, अहिंसा और करुणा की प्रतीति थी। उनकी अवहेलना और हमारे पोषित संस्कारों की अवमानना होते देखकर सन्त आकुल होता है, उसकी संवेदनशीलता उसे उद्वेलित करती है। उसकी आँखें सुदूर भविष्य में झाँकती हैं, आने वाली शताब्दी में अपनी पैनी अन्तर्दृष्टि से वह देखता है। यदि ऐसा ही होता रहा तो भारत माँ की माटी निष्पन्द हो जाएगी। उसकी ममत्व की सोंधी गन्ध ही विलीन हो जाएगी। सारी सम्पदा और तप का अर्जन ही ध्वस्त हो जाएगा। उसकी व्याकुलता एक समर्थ प्रक्रिया के रूप में फूटती है, क्रान्ति वाणी का उद्घोष– "मांस निर्यात बन्द करो"– "करो या मरो" का प्रतीक/पर्याय बनकर युग ध्वनि का रूप धारण कर।

ऐसा सन्त जब युग पटल पर आता है तब क्रान्ति होती है–सुनियोजित, सुविचारित। और निर्भीकता की यह ध्वनि जागरण की चेतना बन कर युग-युगान्तर तक गूँजती है। इस स्वर को पहचानने की सामर्थ्य और विवेक ही सन्त, तपस्वी की मेधा-वाणी देती है और उसका अवतरण बन जाता है युग सत्य। कभी कबीर ने भी इसी प्रकार आक्रोश में ललकारा था :

"कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ।
जो घर फूँके आपना चले हमारे साथ॥"

यह वास्तविक घर नहीं। भौतिक सम्पत्ति नहीं। कबीर के स्वर की यही पहचान है। अपने भीतर जो घरौंदे बने

हैं–सत्ता के, सम्पत्ति के, महत्त्वाकांक्षाओं के, पद की लोलुपता के तथा जिन्हें आज हम, आप, सब राजनीति के घिनौने वात्याचक्र में देख रहे हैं, उन्हें फूँकना है यज्ञ में, वह भी बलि देकर नहीं बल्कि उस पावन अग्नि में अपनी कामनाओं, लिप्साओं और अमानुषिकता का स्वाहा करके। कबीर इन्हीं घरों को फूँकने की चेतना दे रहे हैं, यही इन शब्दों की सार्थकता है, जिन्हें आत्मसात् करके भीतर लौटना है, कबीर के शब्दों के साथ।

उसी तरह माटी के मौन में भी आचार्यश्री की मुखरता को सुनना है, आत्मसात् करना है 'अनहद नाद' की तरह। कल्पना में भी यथार्थ की खोजपूर्ण चिन्तना को पहचानना है। वे भी कबीर की भाँति अपने साथ चलने का उद्घोष कर रहे हैं। परिव्राजक के रूप में नहीं बल्कि संस्कृति की चेतना से चैतन्य होकर, मानवीय कल्याण की ऊष्मा प्रदान करने के लिए, युग चेता बन कर तथा मानवता को गति देकर, गन्तव्य की अनुभूति प्रवणता प्रदान कर। यही आचार्यश्री की समूची पूँजी है, जो मानवता को अर्पित है, तपसिद्धि बन कर। ऐसे ही निराला ने तुलसी को देखा था। उनकी ये पंक्तियाँ कितनी सटीक हैं आचार्यप्रवर पर भी, मानों उन्हीं के लिए रची गई हैं :

"इस जग के मग के मुक्त-प्राण
गाओ–विहंग !–सद्ध्वनित गान,
त्यागोज्जीवित, वह ऊर्ध्व ध्यान, धारा-स्तव।"

वह गान क्या है, यह तुलसी ने अपने युग में पहचाना था। निराला ने उस अनुगूँज को सुना था। 'मूकमाटी' का ध्वनि सन्देश क्या है, इसे हमें पहचानना है, उसमें डुबकियाँ लगाकर। उस मुखरता को सहेजकर, सँजोकर, समोकर।

□



'मूकमाटी' : मानव चेतना के विकास की गाथा

डॉ. शरेशचन्द्र चुलकीमठ

'मूकमाटी' आचार्य विद्यासागरजी द्वारा प्रणीत दार्शनिक महाकाव्य है। यह जैन धर्म के सम्यक् दर्शन का महाकाव्यात्मक आख्यान है। कई दृष्टियों से यह एक उल्लेखनीय मौलिक सृष्टि है। इसमें अध्यात्म दर्शन है और जीवन दर्शन भी; तत्त्व चिन्तन है और काव्य मीमांसा भी; अलौकिकता का विश्लेषण भी और लौकिकता की चर्चा भी, तथा मानवीय आदर्शों का बोध भी है और लोक व्यवहार का ज्ञान भी। इसे दर्शन काव्य कहा जा सकता है जो काव्य दर्शन से सर्वथा रिक्त नहीं है। यह आमधारणा रही है कि महाकाव्यों का युग लद गया है और यह समझा जाता रहा है कि आधुनिक परिवेश महाकाव्य के विस्तृत फलक को वहन करने में असमर्थ है। किन्तु फिर भी चन्द कवियों, चिन्तकों तथा दार्शनिकों ने यह प्रमाणित किया है कि आज भी महाकाव्य अपनी गरिमा को बनाए रखते हुए युगीन भावबोध और चिन्तनधारा के साथ सनातन दर्शन को अभिव्यक्ति देने में सक्षम रहा है। उन प्रतिभाशाली चिन्तनशील स्रष्टाओं में आचार्य विद्यासागरजी का विशिष्ट महत्त्व रहा है। एक अन्य कारण से भी यह काव्य महत्त्वपूर्ण है। सन्त काव्य परम्परा की धारा मध्ययुग में अपने चरम उज्ज्वल रूप में प्रवाहित हुई थी तथा युग परिवर्तन के परिणाम स्वरूप सहसा लुप्त हो गई थी, किन्तु प्रस्तुत काव्य ने यह सिद्ध कर दिया है कि वह धारा बिलकुल खत्म नहीं हुई है और वह तो अनन्त काल से काल प्रवाहों की तह में गुप्तगामिनी की तरह गतिशील रही है तथा आधुनिक काल में युगानुरूप नव रूप धारण कर नवीन गति और लय के साथ फूट पड़ी है। श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैन का कथन सही है : "आचार्य श्री विद्यासागर की कृति 'मूकमाटी' मात्र कवि-कर्म नहीं है, यह एक दार्शनिक सन्त की आत्मा का संगीत है—सन्त जो साधना के जीवन्त प्रतिरूप हैं और साधना जो आत्म-विशुद्धि की मंज़िलों पर सावधानी से पग धरती हुई, लोकमंगल को साधती है।"

प्राचीन जैनधर्म की सनातन परम्परा को आधार बनाकर लिखा गया यह काव्य सृजन और चिन्तन की दृष्टि से कई स्तरों पर परम्परा को तोड़ता भी है। महाकाव्य के केन्द्र में एक महान् व्यक्तित्व होता है और महान् कथावस्तु को लेकर काव्य की रचना की जाती है। किन्तु, प्रस्तुत काव्य में तुच्छ समझी जाने वाली माटी है और वह भी मूकमाटी उसी की विकास गाथा काव्य का प्रतिपाद्य है। आचार्यजी ने लघु की प्रतिष्ठापना द्वारा एक दृष्टि से परम्परा को तोड़ा है। मूकमाटी कुम्भकार के अद्भुत अमृतमय संस्पर्श से सार्थक रूप धारण करती है, किन्तु रूप धारण ही उसका अन्तिम लक्ष्य नहीं है। रूप धारण करना, फिर अरूप में विलीन हो जाना—इसी प्रक्रिया में ही वह चरितार्थ होती है। यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि दैवी कृपा या चमत्कार से माटी का उद्धार नहीं होता। स्वयं तपने पर ही उसका रूप निखर आता है। कुम्भकार उसके लिए आवश्यक साधन उपलब्ध कराकर अनुकूल वातावरण की सृष्टि करता है और सही दिशानिर्देश करता है। माटी को ही निरन्तर कठोर साधना करनी पड़ती है। अग्नि परीक्षा के बाद ही तो चन्दन का सुखद स्पर्श प्राप्त होता है। हर एक को साधना के कठोर पथ पर चलना होगा तभी वह सम्यक् दर्शन प्राप्त करेगा। इस दर्शन को आचार्यजी ने महाकाव्य के विस्तृत फलक पर अंकित किया है।

इस महाकाव्य को चार खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड का शीर्षक है—'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; द्वितीय का—'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; तृतीय का—'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' और चतुर्थ का —'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।' ये शीर्षक ही साधना पथ के चार महत्त्वपूर्ण सोपानों को संकेतित करते हैं। पहले माटी वर्ण-संकर से मुक्त होकर वर्ण-लाभ कर लेती है। यहाँ वर्ण रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। प्रकृति के सहज रूप धारण करने की प्रक्रिया के फलस्वरूप माटी विशुद्ध रूप धारण कर लेती है। इस तरह अनन्त साधना पथ का आरम्भ बिन्दु है यह अवस्था और यह वह प्रस्थान बिन्दु भी है जहाँ से वह ऊर्ध्व चेतनावस्था की ओर अग्रसर होती है। वर्णलाभ और वर्ण-संकर के अन्तर को बड़े ही मार्मिक ढंग से बताया गया है :

"नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।
और/क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है।" (पृ. ४९)

माटी अभिशाप से मुक्ति पाकर वरदान का वरण करती है। दूसरे खण्ड में कुम्भकार द्वारा मिट्टी को कुम्भ के रूप में ढालने की विभिन्न प्रक्रियाओं का वर्णन है। यहाँ सन्तकवि की काव्य चेतना के विविध आयाम उजागर हुए हैं, दार्शनिक चिन्तन और अध्यात्म बोध के साथ रसानुभूति, सौन्दर्य प्रज्ञा, अभिव्यंजना कौशल का मनोहारी रूप देखने को मिलता है। बोध का शोध के रूप में परिणत हो जाने को ही शब्द की सार्थकता बताई गई है। मतलब अर्थबोध क्रिया में, आचरण में परिणत होकर कर्म से सम्पृक्त हो जाता है। बोध से शोध की ओर का यह संक्रमण एक मौलिक उद्भावना है। आचार्यजी ने सबल तर्क के साथ क्रिया के, आचरण के तथा कर्म के महत्त्व को स्थापित किया है। तीसरे खण्ड में अपने विकास क्रम में माटी किस तरह अनुपम उपलब्धियों को प्राप्त करती है, इसका अंकन किया गया है। उसका सुनिश्चित लक्ष्य रहा है– *"निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर/वेद से अवेद की ओर/बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए"* (पृ.२६७)। चौथे खण्ड में कुम्भ बने माटी के अवा में तपकर सम्पूर्ण रूप से शुद्धता प्राप्त करने तथा एतत् द्वारा पूर्णता की अवस्था तक पहुँचने की कथा बड़े ही रोचक ढंग से बताई गई है। तपे जाने की प्रक्रिया का अग्नि परीक्षा से गुज़रे बिना साधना पूरी नहीं होगी और कुम्भकार की कल्पना साकार नहीं होगी। पका, तपा कुम्भ तभी तो तैयार होगा। इस खण्ड में इतने कथा सन्दर्भ हैं और कथा विवृत्ति के इतने स्तर तथा आयाम हैं कि उन सबका विश्लेषण यहाँ सम्भव नहीं है। माटी कुम्भ के रूप में ढलकर ऐसी अवस्था प्राप्त करती है जिसमें उसे शाश्वत अधिवास प्राप्त होता है। कवि कहता है :

"…बन्धन-रूप क्षतन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है/जिसे
प्राप्त होने के बाद,/यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है…!" (पृ. ४८६-४८७)

इस प्रकार माटी की इस कथा के माध्यम से मिट्टी के पुतले मानव के भौतिक, मानसिक, आत्मिक, चेतनात्मक तथा आध्यात्मिक विकास गाथा अंकित की गई है। इसका आधारभूत धरातल जैन दर्शन रहा है। यहाँ दार्शनिकता मात्र चिन्तन के धरातल पर ही नहीं अपितु अनुभूति और सामाजिक बोध के स्तर पर भी अभिव्यक्त हुई है। मुझे इस काव्य में निहित अध्यात्म चिन्तन से बढ़कर लोक व्यवहार की बातें, सामाजिक दायित्व का बोध तथा युगीन चेतना अधिक आकर्षित कर सकी है। एक मच्छर द्वारा मानवोचित आचरण तथा सामाजिक दायित्व का बोध कराते हुए आचार्यजी कहते हैं :

"…खेद है कि/लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी
प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।/प्रायः अनुचित रूप से/सेवकों से सेवा लेते/और
वेतन का वितरण भी अनुचित ही।/ये अपने को बताते/मनु की सन्तान!
महामना मानव!/देने का नाम सुनते ही/इनके उदार हाथों में
पक्षाघात के लक्षण दिखने लगते हैं,/फिर भी, एकाध बूँद के रूप में
जो कुछ दिया जाता/या देना पड़ता/वह दुर्भावना के साथ ही।" (पृ.३८६-३८७)

आधुनिकता से अनुप्राणित आज के कवियों के द्वारा वर्तमान जीवन की विवृत्तियों, विद्रूपताओं और विसंगतियों पर किए गए व्यंग्य की तरह आचार्यजी का यह काव्य समकालीन समाज व्यवस्था की शल्यचिकित्सा करता-सा प्रतीत होता है। शोषणशील व्यवस्था के ऐसे चित्रण अध्यात्म चिन्तन को यथार्थता का ठोस धरातल प्रस्तुत करते हैं। ऐसी

पंक्तियाँ दर्शन पक्ष को कमज़ोर नहीं बल्कि उसे और भी पुष्ट एवं ग्राह्य बनाती हैं। एक जगह पर आचार्यजी गणतन्त्र के खोखलेपन को निरूपित करते हुए कहते हैं :

> *"कभी-कभी हम बनाई जातीं/कड़ी से और कड़ी छड़ी*
> *अपराधियों की पिटाई के लिए।/प्रायः अपराधी-जन बच जाते*
> *निरपराध ही पिट जाते,/और उन्हें/पीटते-पीटते टूटतीं हम।*
> *इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें?/यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है/या*
> *मनमाना 'तन्त्र' है!" (पृ. २७१)*

ये पंक्तियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि दर्शन एवं अध्यात्म चेतना से अनुप्राणित आचार्यजी के भीतर एक यथार्थचेता कवि विद्यमान रहा है। जैन दर्शन में अपरिग्रह को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। वह तो उसका आधारभूत तत्त्व रहा है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि मार्क्सवादी सिद्धान्त, जो कि विशुद्ध भौतिकतावादी वैज्ञानिक चिन्तन है, में 'अपरिग्रह' को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। अपरिग्रह के त्याग का परिणाम शोषण है। भले ही शोषण को मिटाने के मार्ग अलग-अलग क्यों न हों, किन्तु शोषण के मूल के सम्बन्ध में जो बुनियादी बात कही गई है, वह एक सी है। हाँ, उसकी अवधारणाएँ बिलकुल विपरीत हैं। कहने का मतलब यह है कि प्रस्तुत काव्य दार्शनिक चिन्तन को प्रतिपादित करने वाला होने पर भी इसमें सामाजिक जीवन के भौतिक पक्ष का उद्घाटन भी किया गया है तथा इसमें समाज चिन्तन के ऐसे बिन्दु निहित हैं जो यथार्थ जीवन से जुड़े हुए हैं। इस काव्य में उपादान से बढ़कर निमित्त का महत्त्व रहा है, क्योंकि मिट्टी के लोंदे का कुम्भ का सार्थक रूप धारण करने में निमित्त का यानी बाह्य उपकरणों की क्रियाशीलता अनिवार्य बताई गई है। अलौकिक आभा से मण्डित ईश्वरीय सत्ता के प्रति अधिक उत्सुक श्रद्धालु हृदय की भाव विदग्धता से बढ़कर कर्मलीन आस्थावान् आत्मा का निष्काम समर्पित आचरण मुझे अधिक मूल्यवान् लगता है। लक्ष्य तो महान् है, अलौकिक है किन्तु साधन कम पावनमय और आलोकपूर्ण नहीं हैं। अतः अचेतन की पुकार महान् सिद्धि को प्राप्त करने की है तो चेतन का आग्रह साधन को सार्थक दिशा की ओर ले जाने में।

इस महाकाव्य में आचार्य विद्यासागर की अद्भुत काव्यकला के दर्शन मिलते हैं। शब्दों के अर्थों की तहें झाँकनेवाली उनकी अर्थभेदी दृष्टि से साधारण-सा शब्द भी विलक्षण अर्थगौरव प्राप्त कर अभिभूत हो उठा है। उन्होंने शब्दों को नया संस्कार दिया है। एक सिद्ध कवि ही ऐसा कर सकता है। मुक्त छन्द में रचित यह काव्य कहीं भी काव्यशास्त्रीय बन्धनों में जकड़ा हुआ नहीं है। महाकाव्य की विधा को आचार्यजी ने मुक्तावस्था का वरदान प्रदान किया है। इस काव्य का एक विशेष उल्लेखनीय विलक्षण गुण यह है कि इसे कहीं से भी पढ़ा जा सकता है। अर्थ परम्परा खण्डित नहीं होती है। आचार्यजी ने महाकाव्य को एक नया मुहावरा दिया है। इसमें निहित बिम्ब विधान, प्रतीक योजना, शब्द प्रयोग, चिन्तन पद्धति कबीर की याद दिलाती है। काव्य में युक्त आप्त वचन, सूत्र वाक्य, वक्तव्य आदि कवि के चिन्तन की सफाई और अभिव्यक्ति की सादगी को प्रकट करते हैं। रस परिपाक, वाक् वैचित्र्य, वाणी की विदग्धता, रमणीक अभिव्यंजना, अनुप्रास की घटा, अलंकारों का सौन्दर्य आदि शृंगार कवियों की याद दिलाते हैं (काव्य के भौतिक पक्ष की दृष्टि से) किन्तु वाग्विलास इसमें नहीं के बराबर है। यह कलात्मक संयम जो है, वह आचार्यजी के व्यक्तित्व के कारण है। विशुद्ध काव्य प्रेमियों के लिए भी यह अत्यन्त सरस काव्य सिद्ध होगा। इस प्रकार यह काव्य दर्शन से बोझिल नहीं है, चिन्तन से आक्रान्त नहीं है और न ही तत्त्व मीमांसा से आतंकित है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'मूकमाटी' आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक वैशिष्ट्यपूर्ण काव्य कृति है।

[दि जर्नल ऑफ दि कर्नाटक यूनिवर्सिटी (XXXIV-1990-91), कर्नाटक यूनिवर्सिटी, धारवाड़, कर्नाटक]

□

'मूकमाटी' : भोग से योग की ओर प्रस्थान का एक अनुपम महाकाव्य

प्रो. (डॉ.) फूलचन्द जैन 'प्रेमी'

जैन संस्कृति और धर्म-दर्शन की अजस्र-धारा भारत में आदिकाल से ही समृद्ध रूप में प्रवाहित है। कभी व्रात्य, कभी आर्हत् तो कभी श्रमण आदि विभिन्न रूपों में इस संस्कृति ने सम्पूर्ण जनमानस को लोकमंगल की भावना से सदैव ओतप्रोत किया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन व्रतों पर आधारित नैतिक मूल्यों वाली प्राक्-वैदिककालीन 'व्रात्य संस्कृति' ने भारत की विभिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं साहित्यिक परम्पराओं को मात्र गहराई से प्रभावित ही नहीं किया अपितु सच्चे अर्थों में भारतीयता का स्वरूप भी प्रदान किया है। जैनाचार्यों ने भारत की प्रायः सभी प्राचीन भाषाओं में साहित्य की सभी विधाओं पर विशाल साहित्य-सृजन करके भारतीय वाङ्मय की श्रीवृद्धि की है। इसी परम्परा में दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रणीत 'मूकमाटी' नामक महनीय काव्यग्रन्थ भोग से योग की ओर प्रस्थान का एक अनुपम महाकाव्य है।

जैन साहित्य के इतिहास में बीसवीं शती इसलिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सार्थक सिद्ध हुई, क्योंकि एक ओर जहाँ विशाल प्राचीन आगम तथा आगमेतर साहित्य को आधुनिक युग के अनुरूप सम्पादन, अनुवाद, विवेचन, समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन तथा अनुसन्धान का महत् कार्य जितने विशाल स्तर पर हुआ, वहीं विभिन्न भाषाओं में साहित्य का नव-सृजन भी कम मात्रा में नहीं हुआ। इस प्रकार के साहित्य से राष्ट्रभाषा हिन्दी के विशाल भण्डार की समृद्धि में चार चाँद तो अवश्य ही लगे हैं। मूलतः अहिन्दी भाषी (कन्नड़ भाषी) होकर भी आचार्य श्री विद्यासागरजी द्वारा प्रणीत 'नर्मदा का नरम कंकर', 'तोता क्यों रोता ?', 'डूबो मत, लगाओ डुबकी', 'चेतना के गहराव में' एवं 'मूकमाटी' जैसी श्रेष्ठ काव्यकृतियाँ, अनेक प्राकृत-अपभ्रंश तथा संस्कृत ग्रन्थों के पद्यानुवाद के साथ ही आपकी अनेक गद्य कृतियाँ भी लोकप्रिय हो चुकी हैं। इनकी रचनाएँ इनके श्रेष्ठ चिन्तन-मनन, गहन तात्त्विक ज्ञान एवं संयम की परिचायक हैं। इतने विशाल श्रमण संघ के अनुशास्ता तथा विविध उत्तरदायित्वों के बीच होकर भी अपने रचना-धर्मिता रूप मौलिक स्वरूप से वे निरन्तर अन्दर से जुड़े रहते हैं। हजारों श्रावक-भक्तों से घिरे रह कर भी वे निर्लिप्त भाव से अपने साहित्य प्रणयन में लगे रहते हैं। मुझे स्वयं अनेक वर्षों से वर्ष में दो-तीन बार उनके सान्निध्य से लाभान्वित होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। कई रचनाओं को उनके श्रीमुख से भी उनके रचना काल में सुना है, साथ ही रचना के समय के अनुभव भी। उनसे ही सुना गया उनका यह अनुभव अब तक याद है कि दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र नैनागिरिजी (छतरपुर, म.प्र.) में जब किसी काव्य की रचना के समय एक स्थल पर शब्द योजना की संगति बैठ नहीं पा रही थी और रात्रि में उसी का चिन्तन करते हुए योग निद्रा में लीन हुए, तब स्वप्न में ही उसकी शब्द योजना सुसंगत हो गई। प्रातः जागकर उन्होंने सबसे पहले उसे पूरा किया। 'मूकमाटी' भी लीक से हटकर नवीन सर्जना का एक चुनौती पूर्ण वह महाकाव्य है जिससे काव्य सृजन के अनेक नए आयाम उद्घाटित होते हैं।

सामान्यतया हिन्दी के कुछ आधुनिक काव्य पढ़कर तो लगता है कि लेखक अपनी बुद्धि को कष्ट देने में भी कंजूसी कर रहा है। क्योंकि साहित्य में बौद्धिक ऊर्जा होना आवश्यक है, अन्यथा ज्यों-ज्यों बौद्धिक ऊर्जा कम होती जाती है, उसका स्तर भी गिरता जाता है। आचार्यश्री के इस काव्य में आत्मोदय की बौद्धिक ऊर्जा है और इसमें है एक आध्यात्मिक एवं दार्शनिक प्रयत्न से गम्भीर और ऊर्जित हो उठने वाली वाणी। इसीलिए उनका यह काव्य 'शिक्षा' नहीं अपितु वह आत्म दर्शन है, जो रचना के रास्तों से जाता है। आचार्यश्री ने 'मानस-तरंग' शीर्षक से अपने आद्य वक्तव्य

में स्वयं लिखा है : "...यह वह सृजन है जिसका सात्त्विक सान्निध्य पाकर रागातिरेक से भरपूर शृंगार-रस के जीवन में भी वैराग्य का उभार आता है, जिसमें लौकिक अलंकार अलौकिक अलंकारों से अलंकृत हुए हैं; ...जिसने शुद्ध-सात्त्विक भावों से सम्बन्धित जीवन को धर्म कहा है; जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है···और जिसका नामकरण हुआ है 'मूकमाटी'।"

'मूकमाटी' मात्र एक काव्य ही नहीं है अपितु उस समग्र आध्यात्मिक संस्कृति के उत्कर्ष का वह महाकाव्य है, जिसने इस विधा के बँधे-बँधाए लक्षणों, परिभाषाओं और परम्पराओं में पूर्णतः न बँधकर भी रचनाधर्मिता के निर्वाह में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। साथ ही अपनी आगमिक परम्पराओं के विस्मृत मूलभूत तत्त्वों को सहेज कर प्रतीकात्मक रूप में 'मूकमाटी' को आधार बनाकर समग्रता के साथ प्रस्तुत किया है। इसीलिए कवि की वाणी मुखरित हुई कह उठती है :

"माटी की शालीनता/कुछ देशना देती-सी···!
महासत्ता-माँ की गवेषणा/समीचीना एषणा
और/संकीर्ण-सत्ता की विरेचना/अवश्य करनी है तुम्हें !
अर्थ यह हुआ—/लघुता का त्यजन ही
गुरुता का यजन ही/शुभ का सृजन है।" (पृ. ५१)

'मूकमाटी' के माध्यम से कवि ने श्रम, संयम और तपःसाधना की आध्यात्मिक त्रिवेणी के रूप में श्रमण-संस्कृति की अमर गाथा प्रस्तुत करते हुए कहा है :

"कंकरों की प्रार्थना सुनकर/माटी की मुस्कान मुखरित हुई :
संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है,
स्वयं राही शब्द ही/विलोम-रूप से कह रहा है—
रा···ही ही···रा/और/इतना कठोर बनना होगा/कि
तन और मन को/तप की आग में/तपा-तपा कर
जला-जला कर/राख करना होगा/यंतना घोर करना होगा
तभी कहीं चेतन—आत्मा/खरा उतरेगा।" (पृ. ५६-५७)

'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' नामक द्वितीय खण्ड में कवि ने जहाँ काव्य रसों को सार्थक रूप में परिभाषित करते हुए प्रस्तुत किया है, वहीं कवि ने अपनी सरस्वती-सम लेखनी के द्वारा शीत, वसन्तादि ऋतुओं का विवेचन अपने विवेच्य विषय के माध्यम से बड़े ही सहज तथा मनोज्ञ भाव से किया है। तीव्र शीतकाल की रात में भी एक मात्र सूत का सस्ता चादर तन पर डाल कर शिल्पी कुम्भकार रात्रि को व्यतीत कर रहा है। तभी माटी करुणावश शिल्पी से कह उठती है :

"काया तो काया है/जड़ की छाया-माया है/लगती है जाया-सी···
सो···/कम से कम एक कम्बल तो···/काया पर ले लो ना !" (पृ. ९२)

माटी के इस कथन पर शिल्पी कुम्भकार का पुरुषार्थपूर्ण सहज आत्मबल जाग उठता है और वह माटी से

कहता है :

"कम बलवाले ही/कम्बल वाले होते हैं/और
काम के दास होते हैं।/हम बलवाले हैं/राम के दास होते हैं
और/राम के पास सोते हैं।/कम्बल का सम्बल
आवश्यक नहीं हमें/सस्ती सूती-चादर का ही/आदर करते हम !" (पृ. ९२)

ऋतुओं के माध्यम से प्रकृति का प्रभावक अंकन भी एक हेतु है, क्योंकि साहित्य जगत् की इतिवृत्तात्मकता से कवि किसी विराम-विश्राम-स्थल की खोज किसी न किसी रूप में करता अवश्य है। इस काव्य के योगी कवि भी एक ओर जहाँ आत्मरमण, आत्मलीनता के क्षणों में अनन्त चतुष्टय जैसी अपूर्व आनन्दानुभूति प्राप्त करते हैं, वहीं उद्यत होते बाह्य जगत् में अनादिकाल से मानव की सहचरी प्रकृति के नाना दृश्य कवि के हृदय को आत्मविभोर किए बिना कैसे रह सकते हैं। प्रकृति के इन दृश्यों की सम्पूर्ण सौम्यता, विशालता, गम्भीरता, शीतलता और कोमलता आदि गुण मूक रूप से निरन्तर सहृदयता एवं प्रेरणा प्रदान करते हैं और कवि की मनोभावनाएँ समस्त प्रकृति को समेटकर लेखनी द्वारा प्रवाहित हो उठती हैं।

वस्तुतः मनुष्य की चित्तवृत्ति सदा एक सी नहीं रहती। वह कभी सांसारिक क्षणिक सुख में अपने को लीन मान लेता है, तो कभी सर्वाधिक सुखी मनुष्यों में अपनी गणना करता है किन्तु थोड़े ही समय बाद दुःख के काले बादल चारों ओर छाए नज़र आने लगते हैं। सुख और दुःख, संयोग-वियोग ये जीवन के दो मुख्य पहलू हैं। फिर भी मानव जीवन की यथार्थता समझे बिना मोह के वशीभूत हो परस्पर घात-प्रतिघात और न मालूम क्या-क्या करता है? कवि ने कहा भी है :

"मोह-भूत के वशीभूत हुए/कभी किसी तरह भी
किसी के वश में नहीं आते ये,/दुराशयी हैं, दुष्ट रहे हैं
दुराचार से पुष्ट रहे हैं,/दूसरों को दुःख देकर
तुष्ट होते हैं, तृप्त होते हैं,/दूसरों को देखते ही
रुष्ट होते हैं, तप्त होते हैं,/प्रतिशोध की वृत्ति इन की
सहजा - जन्मजा है/वैर-विरोध की ग्रन्थि इन की
खुलती नहीं झट से।/निर्दोषों में दोष लगाते हैं
सन्तोषों में रोष जगाते हैं/वन्द्यों की भी निन्दा करते हैं
शुभ कर्मों को अन्धे करते हैं।" (पृ. २२९)

अनेक स्थलों पर गहरी व्यंग्योक्तियाँ भी पठनीय हैं :

- *"अरे सुनो !/कोष के श्रमण बहुत बार मिले हैं*
  होश के श्रमण होते विरले ही,/और/उस समता से क्या प्रयोजन
  जिसमें इतनी भी क्षमता नहीं है/जो समय पर,
  भयभीत को अभय दे सके,/श्रय-रीत को आश्रय दे सके।" (पृ. ३६१)

❑ *"एक के प्रति राग करना ही/दूसरों के प्रति द्वेष सिद्ध करता है,*
जो रागी है और द्वेषी भी,/सन्त हो नहीं सकता वह/और
नाम-धारी सन्त की उपासना से/संसार का अन्त हो नहीं सकता,
सही सन्त का उपहास और होगा"।" (पृ. ३६३)

'मूकमाटी' प्रत्येक के लिए सहज काव्य नहीं अपितु अति गम्भीर है। कवि शब्द शिल्पी बनकर अनगिनत शब्दों को इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि पाठक आश्चर्य में पड़ जाता है कि इतने साधारण शब्द उलट-पलट कर या सीधे ही कितने असाधारण रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। 'साहित्य' शब्द को देखिए :

"शिल्पी के शिल्पक-साँचे में/साहित्य शब्द ढलता-सा !
हित से जो युक्त—समन्वित होता है/वह सहित माना है
और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है ।" (पृ. ११०-१११)

प्रस्तुत महाकाव्य में जैन परम्परा के उन अनेक पारिभाषिक शब्दों का भी सुसंगत प्रयोग किया है जिनका प्रयोग आधुनिक काव्य में कठिन या प्रचलन के बाहर का मानकर प्रायः समाप्त-सा हो रहा था। इसीलिए इस महाकाव्य की गहन-गम्भीरता को समझने के लिए उन शब्दों और उनकी परिभाषाओं से भी परिचित होना आवश्यक है।

इस तरह यह आत्मोदय का अनुपम महाकाव्य है, साथ ही योग की दिशा में प्रस्थान का उत्तम महाकाव्य भी है, जिसमें जितनी डुबकी लगाएँगे उतने ही तलस्पर्शी ज्ञान से आलोकित होते रहेंगे। युगों-युगों तक चिर-नवीन बनकर यह अमर महाकाव्य मनीषियों के अध्ययन, चिन्तन-मनन और गवेषणा का केन्द्रबिन्दु बनकर साहित्य जगत् को गौरवान्वित करेगा, इसी मंगल कामना के साथ मूकमाटी के यशस्वी गायक पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी को कोटिशः नमोस्तु।

❑



स्वच्छन्द यथार्थ के साथ बौद्धिक लाक्षणिकता का समन्वय : 'मूकमाटी'

डॉ. केदार नाथ पाण्डेय

"लम्बी, गगन चूमती व्याख्या से/मूल का मूल्य कम होता है
सही मूल्यांकन गुम होता है।/मात्रानुकूल भले ही
दुग्ध में जल मिला लो/दुग्ध का माधुर्य कम होता है अवश्य!
जल का चातुर्य जम जाता है रसना पर!" (पृ. १०९)

'उत्तर मीमांसा' से अर्थात् ज्ञानकाण्ड से नयनोन्मीलन करने वाले आचार्यप्रवर विद्यासागर की 'मूकमाटी' ऐसी माटी की कथा नहीं है जिसे पुस्तक के आवरण पृष्ठ पर निरीह,पददलित, व्यथित वस्तु कहा गया है। यह एक आक्षेप-पदाक्षेप-प्रतिक्षेप की वस्तु नहीं। 'मूकमाटी' की माटी की सत्ता का सही चित्र उन लोचनों में अंकित हो नहीं हो सकते जिनमें विचारों की ऐसी वल्लरियाँ होती हैं जो किसी शैली विशेष में क्रोध और विरोध के साथ प्रतिक्रिया, प्रगति एवं दुःखवाद को जन्म देती हैं।

जो पुरुष समस्त कर्मों को प्रकृति के आश्रित देखता है और आत्मा को अकर्ता समझता है, वही देखता है।

"प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥" (गीता, १३/२९)

और वही इस माटी को भी देखता है। कणाद मुनि प्रवर्तित वैशेषिक (पदार्थों के भेदों का बोधक) दर्शन के अनुसार पदार्थ उसे कहते हैं जो प्रतीति से सिद्ध हो। उनके अनुसार द्रव्य नौ हैं–"पृथिव्यपस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि" (१.१.५)– अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।

पृथिवी के कारण निरवयव सूक्ष्म परमाणु हैं। ये परमाणु नित्य हैं। उनका कार्य रूप स्थूल भूमि है। भूमि अनित्य है। पृथिवी में चार गुणों का समावेश है– गन्ध, रूप, रस एवं स्पर्श। पृथिवी की रचना के कारण नित्य सूक्ष्म परमाणु के कार्य रूप स्थूल भूमि ही महाज्ञानी विद्यासागर की 'मूकमाटी' का दर्शन है। साधक कवि ने गहराई एवं चतुराई से षड्दर्शन समन्वय के प्रयास अपनी अति आधुनिक शैली में किए हैं। इस प्रयास में उनके भव्य व्यक्तित्व एवं सुघर कला-कृतित्व का रंग भी मुखर हो गया है। श्रमहारा के सबल-सैन्य बल से जोती, बोई जाने वाली माटी के अतिरिक्त भी इस धरा-वसुन्धरा के वक्ष-कक्ष में पलती माटी के असंख्य रूप हैं। कवि ने काव्य प्रसंगों के कर से केवल उन्हीं रूपों को शब्दों के रंग से भरा है जिनका प्रयोजन 'मूकमाटी' की कथा की गतिशीलता के लिए है।

सामान्य जन के मानस का स्पर्श करने के लिए कवि ने सहृदयता पूर्वक सरिता तट की माटी को "सुख-*मुक्ता/दुःख-युक्ता*" कहा है। तिरस्कृत, परित्यक्ता के साथ "*विपरीता है इसकी भाग्य रेखा*" (पृ. ४) भी कहा है। कवि का दर्शन इसी 'विपरीता' के साथ है। तिरस्कृत-परित्यक्ता कह कर कवि ने चतुराई से उस जन-समुदाय की ओर सहानुभूति की दृष्टि से देखा है जो कर्मों के आधार पर इनसे जुड़े हुए हैं। भारत के गौरवशाली अतीत के स्वर्णमुकुट और राजमुकुट प्रार्थना करते थे–"कर्दमेन प्रजाभूता मयि सम्भव कर्दम"– कर्दम-कीचड़ से समस्त प्रजा सम्पदा की सृष्टि हुई है, अतः मुझे कीचड़ बना दो। अविलम्ब माटी के उभरे, पुष्ट, दृष्टभाल पर कवि की दृष्टि जाती है। उसे विश्वास के चरण विजय-ध्वज लिए आगे बढ़ते दिखाई पड़ते हैं– "*अविकल्पी है वह/दृढ़-संकल्पी मानव/...इस शिल्प के कारण/चोरी के दोष से वह/सदा मुक्त रहता है।/...इसने/अपनी संस्कृति को/विकृत नहीं बनाया*" (पृ. २७)।

'मूकमाटी' के प्रारम्भ में ही एक संकेत संयोजित है। लगता है कि नीलिमा-नीरवता, निशा-उषा के पार्थिव सम्पर्क के पीछे छिप कर कोई प्रेरणा-पत्र लिखकर कवि के तन-मन को छू लेता है और उसकी निर्भया मुक्त-कुन्तला कला 'मूकमाटी' के प्रथम तोरण का निर्माण करती है। इस ग्रन्थ में भावों की विशालता, साधक की मार्मिकता, कर्मयोगी के तत्त्व विधान में संयोजित सेवा-शिल्प के साथ गुम्फित निष्ठा आदि के साथ कवि की आत्ममुखी अनुभूति स्वयं व्यंजित हुई है। गूढ़ विषयों की व्यंजना भी गूढ़ता के रंग में नहीं की गई है। इसमें लक्षित-अलक्षित प्रेरणा के चित्र हैं। स्फुट-अस्फुट भावों के चित्र हैं। भावादर्शों के बन्धन के चित्र हैं। सूक्ष्म भावों, विचारों, कल्पनाओं, तर्कों को भी चरित्र का प्रकाश देकर प्रस्तुत किया गया है। मानव लोक की नाना वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों के द्वन्द्व का सूक्ष्म एवं सफल विश्लेषण भी किया गया है। उपस्थित विषय का तर्क-संगत खण्डन के साथ उसके अनुकूल अनुशीलन एवं मण्डन भी प्रस्तुत किया गया है। कवि के मूल तर्क की परम्परा संगत एवं स्वाभाविक है।

महाकवि विद्यासागर पूर्ववर्ती साहित्यकारों तथा उनके विचार तन्त्र और साहित्य सम्पदा से पूर्ण परिचित हैं। उनके विचार तन्त्र की विशालता आदि काल के सिद्धों-सन्तों के सन्निधि से होती हुई भक्ति काल, रीति काल और आधुनिक काल तक फैली हुई है। हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास की झलक अपनी दृष्टि में रख कर ग्रन्थ का विधान नियोजित है।

एक बात यहाँ आकर्षक जान पड़ती है कि भारतीय वाङ्मय की किसी भी परम्परा को कवि ने पितृधन के रूप में नहीं स्वीकार किया है, प्रत्युत् सब कुछ प्रत्यक्षतः अपना बनाकर प्रस्तुत किया है। दृढ़ विश्वासों एवं संस्कारों को रूढ़िगत प्राचीर से बाहर लाकर प्रस्तुत किया है। सिद्ध साहित्य के मानदण्डों एवं विश्वासों को वर्तमान परिवेश में देखा है। आदिकाल का अपर अभिधान वीर गाथाओं का अभिधान है। इसमें कल्पना बाहुल्य है। 'मूकमाटी' में कल्पना का कम, भावना और चेतना को विशेष स्थान दिया गया है। भक्ति-काल की पृष्ठभूमि विस्तृत, तत्कालीन राजनीति से प्रभावित है। उस काल के कवियों ने परिस्थितियों में परिवर्तन लाने के लिए तथा आत्मकल्याण की भावना से अपने आराध्य देवता के साथ काव्य देवता का शृंगार किया। आचार्य विद्यासागर ने वर्तमान दम घुटाने वाली, दुर्गन्धमय, खूनी, विद्वेषभरी, अभावभरी, शोषणोन्मुख परिस्थितियों में परिवर्तन लाने के लिए जन-समाज-कल्याण को ध्यान में रख कर इस ग्रन्थ में परोक्ष आन्दोलन का संकेत किया है। कवि ने बौद्धों में प्रच्छन्न बौद्ध, जैनों में प्रच्छन्न जैन, सन्तों में प्रच्छन्न सन्त, कवियों में प्रच्छन्न कवि और सुधारकों में प्रच्छन्न सुधारक बन कर भक्त कवियों की तरह नहीं, मुक्त कवियों की तरह आँखें खोल कर क़लम चलाई है। ग्रन्थ में कहीं भी कोई ऐसा प्रसंग नहीं है जो साम्प्रदायिकता के रंग के मोह में फँसा हो। ''हस्तिना पीड्यमानोऽपि न गच्छेत् जैनमन्दिरम्'' के भीतर छिपी साम्प्रदायिकता की छाया से भी कवि दूर है। कवि वाद के विवाद से भी मुक्त है। कहीं कोई कुण्ठा नहीं।

इसमें कबीर की तरह अभिव्यक्ति में अनुभूति पक्ष की प्रधानता है। दर्शन से प्रभावित होते हुए भी दार्शनिक शुष्कता नहीं है। काव्य की सरसता के साथ अलंकारों का अनायास प्रवेश हो गया है। ग्रन्थ में कहीं भी विचारात्मक और आचारात्मक आस्था का विरोध नहीं है। भावों की सबल व्यंजना में लोक पक्ष एवं भारतीय संस्कृति का मुखर समर्थन परिव्यंजित हुआ है :

"पश्चिमी सभ्यता/आक्रमण की निषेधिका नहीं है/अपितु !
आक्रमण-शीला गरीयसी है/जिसकी आँखों में
विनाश की लीला विभीषिका/घूरती रहती है सदा सदोदिता
और/महामना जिस ओर/अभिनिष्क्रमण कर गये

सब कुछ तज कर, वन गये/नग्न, अपने में मग्न बन गये
उसी ओर···/उन्हीं की अनुक्रम-निर्देशिका
भारतीय संस्कृति है/सुख-शान्ति की प्रवेशिका है।" (पृ. १०२-१०३)

कबीर की तरह धार्मिक रूढ़ियों और आडम्बरों का खण्डन भी अपने ढंग से किया गया है। कहीं-कहीं कवि ने कबीर की तरह की गूढ़ उद्भावनाएँ भी सरल ढंग से की हैं :

"अरे पातको, ठहरो !/पाप का फल पाना है तुम्हें
धर्म का चोला पहन कर/अधर्म का धन छुपाने वालो !" (पृ. ४२६)

कबीर ने लिखा है :

"का जटा भसम लेपन किये कहा गुफा में बास।
मन जीत्या जग जीतिए जो विषया रहै उदास॥"

शब्द चयन एवं प्रयोग में भी कबीर के व्यक्तित्व की तरह कवि का व्यक्तित्व है। खड़ी बोली के वाङ्मय में ऐसे शब्द विधान कम दिखाई पड़ते हैं। शब्दों के प्रयोग में कवि को अधिकार प्राप्त है, देखिए :

"मूल-गम्य नहीं हुआ/चूल-रम्य नहीं लगा इसे/बड़ी भूल बन पड़ी इससे।
प्रतिकूल पद बढ़ गये/बहुत दूर···पीछे···।" (पृ. १०८)

कबीर साहित्य की अभिव्यक्तियों में से एक अभिव्यक्ति की (संक्षिप्तता के लिए) तुलना करने से पता चलता है कि आचार्य विद्यासागरजी की विषय निष्ठा भी कबीर जैसी ही है :

"कबीर गोरख गोब्यंदौ, मन ही औषढ़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोइ॥" (कबीर)

x x x

"स्थिर मन ही वह/महामन्त्र होता है/और
अस्थिर मन ही/पापतन्त्र स्वच्छन्द होता है,
एक सुख का सोपान है/एक दुःख का सो पान है।" (पृ. १०९)

भक्ति-काल के प्रमुख कवियों एवं सन्तों ने मानव जीवन को दुःख मुक्त करने के लिए जिन् विषयों का सम्पादन किया है; उनमें कई प्रसंग ऐसे हैं जिन्हें 'मूकमाटी' में कवि ने अपने और परिस्थिति के अनुकूल ढंग से चित्रित किया है।

भक्ति-काल के कवियों का अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् दोनों की सीमा विस्तृत थी। बहिर्जगत् की अर्जित अनुभूति ही कल्पनाओं का इन्द्रधनुष बनाने में सहायक होती है। कवि के भीतर आने वाली कल्पना का उद्गार बहिर्जगत् की अनुभूति की सीमा के भीतर ही रहती है। सुख-प्रेम-सत्यता-कल्याणकारिता आदि की अनुभूतियाँ कवि की अन्तर्जगत् सम्पदा हैं। इनकी अभिव्यक्ति के लिए बाहर विस्तृत जगत् से जुड़े शब्दों का ही सहारा लेना पड़ता है। जो मूर्त बनकर मिट जाता है वही शब्दों का इतिहास बन जाता है। कालिदास के वर्ण्य विषय की विविधता और तुलसीदास के दृष्ट दृश्यों की और अधिक विशालता (आचार्यों ने बताया है कि तुलसीदास वर्णित दृश्य संख्या में अधिक हैं) बहिर्जगत् के सूक्ष्म निरीक्षण की आवश्यकता प्रतिपादित करते हैं। तुलसीदास की तरह आचार्य विद्यासागर ने भी

अपने काव्य को लोकोपकारी मंगल घट की तरह सजाया है। रति का प्रसंग इस अंग की स्पष्टता के लिए पर्याप्त है :

"क्षण सुख लागि जनम सतकोटी।
x x x
काम अछत सुख सपनेउ नाहीं॥"(तुलसी)
x x x
"विनाश के क्रम तब जुटते हैं/जब रति साथ देती है
जो मान में प्रमुख होती है/उत्थान-पतन का यही आमुख है।" (पृ. १६४)

कुम्भ के चित्रों का मूल्यांकन और उसके कर्ण स्थान पर अंकित ९९ और ९ की संख्याओं की अनुप्रशंसा के सम्बन्ध में 'मूकमाटी' का यह अंश इस प्रकार है :

"एक क्षार संसार की द्योतक है/एक क्षौर-सार की।
एक से मोह का विस्तार मिलता है,/एक से मोक्ष का द्वार खुलता है
...९९ वह/विघन-माया छलना है,/क्षय-स्वभाव वाली है
...और ९ की संख्या यह/सघन छाया है/पलना है, जीवन जिसमें पलता है
अक्षय स्वभाव वाली है/अजर-अमर अविनाशी/आत्म-तत्त्व की उद्बोधिनी है
...संसार ९९ का चक्कर है/...९९ हेय हो और/ध्येय हो ९
नव-जीवन का स्रोत!" (पृ. १६६-१६७)

तुलसीदास ने इसके गूढ़ रहस्य को एक दोहे में आबद्ध करके हमारे लिए एक मंगलोद्घाटक उपदेश के साथ प्रस्तुत किया है :

"तुलसी राम सनेह करु, त्यागि सकल उपचार।
जैसे घटत न अंक नौ, नौ के लिखत पहार॥"

'दोहावली' का यह दोहा यह संकेत करता है कि प्रत्येक दिशा और दशा में ९ का निजत्व कम नहीं होता। यह ९ जब ९० तक पहुँचता है तो राम के स्नेही का कल्मष शून्य हो जाता है अर्थात् उसमें आसुरी शक्ति शेष नहीं रह जाती। वह दैवी शक्ति सम्पन्न हो जाता है।

वर्णक शैली, कवि का व्यक्तित्ववाद और नीति सूक्तियों का उद्घाटन एवं व्याख्या की दृष्टि से इस ग्रन्थ को रीति काल की परिपार्श्विकता का स्पर्शक ग्रन्थ कहा जा सकता है, किन्तु ऐसा कहने में कुछ दु:साहस की व्यवस्था प्रधान हो जाएगी।

आधुनिक काल में पद्य रचना बहुत हुई है। आधुनिक हिन्दी की प्रवृत्तियों की दृष्टिभंगी लेकर कविता को तीन युगों में विभाजित किया जा सकता है– (१) पूर्व छायावाद युग (२) छायावाद युग (३) उत्तर छायावाद युग। इस विभाजन में छायावाद को आधार माना गया है। छायावादी युग में भारतेन्दु एवं महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग की प्रतिक्रिया ने विस्तार पाया है।

नवीनता की उद्भावना एवं प्राचीनता के संरक्षण की दृष्टि से 'मूकमाटी' को भारतेन्दु काल या कविता के उस सन्धि काल से जोड़ा जा सकता है। यह बात भाव और कला दोनों दृष्टिगों से कही जा सकती है। 'मूकमाटी' के

प्राय: सभी संग मानव प्रकृति और मानव समाज से जुड़े हैं।

द्विवेदी युग की कुछ प्रवृत्तियाँ भी इसमें यत्र-तत्र प्रतिबिम्बित हैं। देशभक्ति, धार्मिकता का रस भर कर कविता में नवीनता का विधान, समाज-कल्याण, मराठी की इतिवृत्तात्मक शैली का प्रयोग, सांस्कृतिक अतीत को जगाने की भावना, बुद्धि की तर्क शक्ति का विकास, कुछ नवीन तथा साधारण विषयों को काव्योचित स्थान, भाषा संस्कार, पौराणिक आख्यानों एवं पहचानों की स्थापना, ऐतिहासिकता से बँधे चरित्र की ओर संकेत, वर्तमान समस्याओं एवं हलचलों की व्याख्या, रीतिकालीन शृंगार भावना का परित्याग और नैतिकता की स्थापना की दृष्टि से यह द्विवेदी युग के निकट की रचना समझी जाएगी।

आधुनिक काल में छायावाद की प्रमुखता स्वीकृत है। द्विवेदी युग का भाषा-शैथिल्य इस काल में कम होता गया। इतिवृत्तात्मकता भी नहीं फूली-फली। प्रकृति में मानवीकरण और दार्शनिक अनुभूति को विशेष स्थान मिला। स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह भी मुखर हुआ। प्रेम और सौन्दर्य की भावना भी मौन तपस्विनी की तरह साधना करने लगी। सर्वात्मवाद को प्रश्रय मिला। व्यक्तिवाद के साथ स्वतन्त्रता का पक्ष भी सबल हुआ। मानवतावाद और आदर्शवाद पर युग, लाक्षणिकता और प्रतीकात्मकता का प्रभाव पड़ा। इन विशेषताओं की कसौटी पर 'मूकमाटी' का रचना तन्त्र कहीं सुलझा तो कहीं उलझा दिखाई पड़ता है।

प्रगतिवादी दृष्टिकोण का आधार मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक विकासवाद, मूल्य वृद्धि के सिद्धान्त और मूल सभ्यता के विकास क्रम का पल्लवन है। मार्क्स के मतावलम्बी मानते हैं कि विश्व की अर्थव्यवस्था और सभ्यता दो वर्गों में विभक्त है– एक, शोषक वर्ग और दूसरा, शोषित वर्ग। शोषित वर्ग का शोषक वर्ग के प्रति रोष-विद्रोह ही प्रगतिवाद है। साम्यवाद की विचार धारा का आधार भी यही है। श्रमिक ही साम्यवाद का दृष्टि बिन्दु है। 'मूकमाटी' के प्रारम्भ से अन्त तक प्रकारान्तर से श्रम-श्रमहारा के साथ श्रम की साध्यता और आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है। श्रम के विविध रूपों का खुल कर चित्रण किया गया है। ग्रन्थ के मूल चरण यथार्थ की मिट्टी पर टिके हैं। साम्यवादी विचारधारा कवि की भावना के निकट रचना करती दिखलाई पड़ती है। कवि का साम्यवाद मानवतावादी दृष्टि रखता है। राजनीतिक उथल-पुथल पर उसकी आस्था नहीं। प्रगतिवाद में परिष्कृति और परिमार्जन की आवश्कता अनुभूत हुई। नलिन विलोचन शर्मा की उद्भावना से यह कार्य सामने आया। लक्ष्मीकान्त वर्मा एवं जगदीश गुप्त ने इसे नई कविता के अंगों से जोड़ा। इसके मूल प्रवर्तक अज्ञेयजी ने इसमें नए सत्यों और नवीन यथार्थताओं का जीवित बोध कराया। उसमें साधारणीकरण की शक्ति भरी जिससे कविता सहृदयता के साथ सम्बद्ध हो जाय।

'मूकमाटी' नए, प्रबुद्ध, विवेकी व्यक्तियों को लक्ष्य के सम्मुख रखकर लिखी गई है। इसका आस्वादन करने की क्षमता उनमें है जो नए कवि के समान सोचने की शक्ति रखते हैं और जिनकी बौद्धिक और मानसिक चेतना भावुकता पर आधारित है। इसमें मानव वृत्तियों और प्रवृत्तियों को नए ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। इसके शब्द, इसके शब्द-बन्ध और इसके स्वर पाठकों पर नया प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इसकी कविताओं में स्वच्छन्द यथार्थ के साथ बौद्धिक लाक्षणिकता का समन्वय किया गया है। हाँ, इस पुस्तक में अहंनिष्ठा, व्यक्तिवाद, नग्न यथार्थ, निराशावाद, उपमानों की नवीनता, व्याकरणसिद्ध रूपों की अवहेलना आदि कहीं नहीं है। इस दृष्टि से इसे प्रयोगवादी परिधि में नहीं रखा जा सकता। हाँ, प्रयोगवादी धारा से निकली 'बिम्बवादी' धारा के कुछ प्रवृत्यात्मक लक्षणों की झलक कहीं-कहीं मिल जाती है।

'मूकमाटी' का उद्देश्य 'प्रिय प्रवास' के उद्देश्य जैसा ही है। पात्रों की विभिन्नता और वर्ण्य विषय की विलगता होने पर भी दोनों में एक जैसी महान् उद्देश्य की प्रेरणा दिखाई पड़ती है। 'प्रिय प्रवास' में लोकाराधन और लोक मंगल की

स्थापना के लिए श्रीकृष्ण के लौकिक मानवी चरित्र में सेवा, प्रेम, परोपकार की पूर्ण अभिव्यक्ति दिखलाई है। श्रीकृष्ण एवं राधा में संचित परम्परागत चरित्रों के स्थान पर क्रान्तिदर्शी मानव चरित्र का अंकन किया है। इन दो महान् चरित्रों द्वारा उन्नत-बलिष्ठ-कर्मनिष्ठ मानवी आदर्श चरित्र की स्थापना की गई है। 'मूकमाटी' में कवि ने भी माटी, पृथिवी और कुम्भकार के आत्मप्रकाश में ऐसे ही लोकोपकारी विचारों की वर्षा की है। इनके वर्णन में कवि की रसोपलब्धि इस बात का दावा करती है कि कवि लेखनी की दृष्टि माया-छाया लोक पर नहीं है, अपितु कर्मलोक पर है। ये तीनों और कई अन्य चरित्र भी जीवन बोध को कल्याणप्रवणता की ओर ले कर चल रहे हैं।

मूकमाटी के मुख से निकली 'मंगल कामना की पंक्तियाँ' किस प्रकार कवि के उद्देश्य की ओर बढ़ रही हैं, देखिए :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय
छा जावे सुख-छाँव,/सबके सब टलें—/अमंगल-भाव,
सब की जीवन लता/हरित-भरित विहँसित हो
गुण के फूल विलसित हों/नाशा की आशा मिटे
आमूल महक उठे/···बस।"(पृ. ४७८)

कार्य की दिशा एवं दृष्टि से दोनों उद्देश्य में एकरूपता है।

नायकत्व की दृष्टि से और अभिधात्मक सामान्य अर्थ की दृष्टि से राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' और 'मूकमाटी' के मूल एक जैसी मिट्टी पर खड़े हैं। 'साकेत' में सम्पूर्ण कथा का नेतृत्व और अभीष्ट फल की प्राप्ति उर्मिला के हाथ में है। अभिनव मान्यता नारी के नेतृत्व का समर्थन करती है। आधुनिक काल में इस परिवर्तन की एक शक्तिशाली धारा प्रवाहित हुई है। 'यशोधरा', 'कामायनी', 'नूरजहाँ', 'वैदेही वनवास' तथा और कई ग्रन्थों की सम्पूर्ण भूमि में नेतृत्व-ध्वज नारी के हाथों में दिखाई पड़ता है।

आचार्य विद्यासागर ने अपने ग्रन्थ 'मूकमाटी' में इसे ही नायकत्व-दण्ड अर्पित किया है। *"और···इधर··· नीचे/निरी नीरवता छाई"* (पृ. १) से *'अनिमेष निहारती-सी/···मूकमाटी'* (पृ. ४८८) तक यानी रचना के प्रारम्भ से विराम तक मूक माटी है। 'मूकमाटी' में वह नेतृत्व के संचालक-सूत्र अपने हाथों में रखती है। अनुमान के आधार पर कहने का कुछ सहारा बटोरकर यह कहना, उचित होगा या नहीं, यह मैं नहीं जानता कि आचार्य विद्यासागर ने जिनसेनाचार्य तथा विक्रमाचार्य के जैन पुराणों का, भाष्यकार पतंजलि और बौद्ध धर्म के 'दिव्यावदान' का साहित्य अवश्य पढ़ा होगा। उनके 'साकेत' वर्णन पर भी उनकी दृष्टि पड़ी होगी। अन्त में महाकाव्य 'साकेत' भी आया होगा। इस महाकाव्य की नायिका उर्मिला को मर्यादित-अपेक्षित स्थान पर देख कर इन्हें प्रसन्नता हुई होगी। लगता है, इसी हेतु 'मूकमाटी' को महाकवि ने नायकत्व प्रदान किया है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'आधुनिक साहित्य' के पृष्ठ ४४-४५ पर उर्मिला और भरत दोनों का नायकत्व स्वीकार किया है। इस मनीषी के समान आलोचक की दृष्टि धारण करने की क्षमता मुझ में नहीं है। मैं नहीं कह सकता कि 'मूकमाटी' में नायकत्व मूकमाटी और कुम्भकार दोनों के हाथ में है। मूकमाटी ही पाठकों की सहृदयता एवं सहानुभूति-सहिष्णुता के निकट है।

'साकेत' के अष्टम सर्ग में सीता के मनोभावों की व्यंजना मिलती है। सीता माँ धरती की बेटी है। उसमें सहनशीलता, कर्मशीलता, प्रकृति-सन्निधिशीलता, परदुःखकातरता, सेवावृत्ति और जन्मभूमि-कर्मभूमि-संस्कृति के प्रति अनुराग आदि विशेषताएँ व्यंजित हैं। 'मूकमाटी' में भी ये गुण हैं और उसमें 'वास्तविक जीवन' तथा 'सात्त्विक जीवन' भी है। सीता में भी ये गुण हैं। 'द्वापर' में गुप्तजी ने कृष्ण पर लगे लांछन (परकीया) को प्रक्षालित करने का

सफल प्रयत्न किया है। कृष्ण सम्बन्धी प्रेम वर्णन को वासना मुक्त करके 'द्वापर' में चित्रित किया है। 'मूकमाटी' में भी कृष्ण के आए प्रसंगों को विद्यासागरी प्रतिभा ने वासना मुक्त कर्मयोगी के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

'कामायनी' छायावादी धारा की सुन्दरतम रचना है। 'प्रसाद' के कवि-जीवन के अणु-अणु के मन्थन से निकाली गई है। छायावादी कवि की आँखें विश्व के कण-कण में सौन्दर्य की व्याप्ति के दर्शन करती हैं। उसकी कलम पौराणिक तथ्य-कथ्य की सहचरी होती है। वह जड़ यान्त्रिकता की छाया में घिर आई प्रकृति-शक्ति को सहानुभूति की आँखों से देखती है। उसके विरोध में आवाज़ उठाती है। यान्त्रिकता के तेज-तुन्द रुख को बदलने के लिए व्याकुल हो जाती है। उसे प्रकृति की गोद चेतना से पूर्ण दिखाई पड़ती है। उसे उसके हाव-भाव में सर्वात्मवाद और सर्वचेतनावाद की प्रकाशित डोलती आभा दिखाई पड़ती है। छायावाद झण्डा ऊँचा करके नारी की गरिमा के गीत गाता है। वह काव्य-कथा के नायकत्व का ध्वज-दण्ड नारी के हाथों में रखता है। वह मन की गहराई में छिपी वृत्तियों का स्पष्ट विश्लेषण-चित्र उपस्थित करता है। वह प्रकृति को अन्तर्मुखी देखता है। वह प्रतीक-विधान का सम्बल लेकर आन्तरिक साम्य की ओर अधिक प्रलुब्ध होता है। अपनी कोमल कल्पनाओं को कोमल पद-वितान के नीचे रखता और सजाता है।

छायावाद की उक्त आविष्कृत विशिष्टताओं के सुन्दर दृष्टान्त 'कामायनी' के पृष्ठ-पल्लवों पर शृंगार करते दिखाई पड़ते हैं। 'मूकमाटी' में इन विशेषताओं की लहरें कथा के मूल प्रवाह पर उठती-गिरती कहीं-कहीं दिखाई पड़ती हैं। कुछ संकेतों का संकेत करना यहाँ समीचीन जान पड़ता है। एक बात अवश्य ही इसे छायावादी धारा से अलग करती है। वह है कवि का 'अंगातीत' साधना-'संगीत':

"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,
और···इधर···नीचे/निरी नीरवता छाई।" (पृ. १)

सौन्दर्य-व्याप्ति :

"लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी/प्रभाकर के कर-छुवन से
बचना चाहती है वह;/अपनी पराग को—/सराग-मुद्रा को—
पाँखुरियों की ओट देती है।" (पृ. २)

पौराणिक तथ्य-कथ्य :

- *"रावण था 'ही' का उपासक/राम के भीतर 'भी' बैठा था।*
  यही कारण कि/राम उपास्य हुए, हैं, रहेंगे आगे भी।" (पृ. १७३)
- *"प्रभु से प्रार्थना है, कि/'ही' से हीन हो जगत् यह*
  अभी हो या कभी भी हो/'भी' से भेंट सभी की हो।" (पृ. १७३)
- *"आज इन्द्र का पुरुषार्थ/सीमा छू रहा है,*
  ...छिदे जा रहे, भिदे जा रहे,/विद्रूप-विदीर्ण हो रहे हैं
  बादल-दलों के बदन सब।
  ...थोड़े से ही शेष हैं जल-कण।/...क्रोध से भरी बिजली कौंधने लगी
  ...तभी इन्द्र ने आवेश में आ कर/अमोघ अस्त्र वज्र निकाल कर
  बादलों पर फेंक दिया।/वज्राघात से आहत हो
  मेघों के मुख से 'आह' ध्वनि निकली,/जिसे सुनते ही
  सौर-मण्डल बहरा हो गया।/...सागर से पुनः सूचना मिलती है

...जहाँ देखो वहाँ ओले/सौर-मण्डल भर गया !
...ऊपर अणु की शक्ति काम कर रही है/तो इधर···नीचे
मनु की शक्ति विद्यमान !" (पृ. २४६-२४९)

- *"ये अपने को बताते/मनु की सन्तान !" (पृ. ३८७)*
- *"प्रलय के दिनों में/जल की ही नहीं,*
अग्नि की वर्षा भी/तेरे ऊपर हुई कई बार !" (पृ. ३७३)

जड़ यान्त्रिकता एवं उसका विरोध :

"ऊपर यन्त्र है, घुमड़ रहा है/नीचे मन्त्र है, गुनगुना रहा है
एक मारक है/एक तारक;/एक विज्ञान है/जिसकी आजीविका तर्कणा है,
एक आस्था है/जिसे आजीविका की चिन्ता नहीं,/एक अधर में लटका है
उसे आधार नहीं पैर टिकाने,/एक को धरती की शरण मिली है
यही कारण है,.../...ऊपरवाले का दिमाग चढ़ सकता है
तब वह/विनाश का,/पतन का ही पाठ पढ़ सकता है।" (पृ. २४६)

सर्वचेतनावाद–साम्यभाव :

- *"बड़ी कृपा होगी,/बड़ा उपकार होगा,/सब में साम्य हो, स्वामिन्!" (पृ.३७२)*
- *"दूसरों से प्रभावित होना/और/दूसरों को प्रभावित करना,*
इन दोनों के ऊपर/समता की छाया तक नहीं पड़ती।" (पृ. ३७७)
- *"आज-जैसा प्रभात/विगत में नहीं मिला*
और/प्रभात आज का/काली रात्रि की पीठ पर
हलकी लाल स्याही से/कुछ लिखता-सा है, कि
यह अन्तिम रात है/और/यह आदिम प्रभात;
यह अन्तिम गात है/और/यह आदिम विराट् !" (पृ. १९)

सम्पूर्ण विश्व विषमताग्रस्त-त्रस्त है। समरसता का अभाव है। कटुता, तुच्छता, घृणा, विद्वेष, प्रतिशोध और संहार की वृत्तियों से मानव समाज आवृत है। प्रसाद ने इनका नग्न नृत्य अपनी दृष्टि-कल्पना से देखा था। उनकी श्रद्धा अपने पुत्र को सन्देश देती है :

"सब की समरसता का कर प्रचार,/मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार !"

'मूकमाटी' के स्रष्टा ने धरती के आँचल पर फैले गहरे अन्धकार से साक्षात्कार किया है। उनकी 'अग्नि-परीक्षा' में इसकी गहरी 'शोकाकुल मुद्रा' 'पाप की पालड़ी' में बैठ 'अनर्थ का फल-रस' चख रही है :

- *"इधर धरती का दिल/दहल उठा, हिल उठा है,*
अधर धरती के काँप उठे हैं/धृति नाम की वस्तु वह/दिखती नहीं कहीं भी।
चाहे रति की हो या मति की/किसी की भी मति काम नहीं करती।" (पृ. २६९)

□ *"समग्र संसार ही/दुःख से भरपूर है,/यहाँ सुख है, पर वैषयिक*
और वह भी क्षणिक !/यह···तो···अनुभूत हुआ हमें,
परन्तु/अक्षय सुख पर/विश्वास हो नहीं रहा है।" (पृ. ४८५)

महाकवि ने अनुभव किया है कि वर्तमान युग में सबसे अधिक विश्वास की आवश्यकता है। तर्क ने इसे बेदखल कर दिया है। मानव मन से विश्वास निकल रहा है पर कवि के मन से विश्वास का निसर्ग नहीं हो सकता। उसमें 'नीराग' साधु की वाणी गूँज रही है।

पुनः सन्त ने कहा :

"इस पर भी यदि/तुम्हें/श्रमण-साधना के विषय में
और/अक्षय सुख-सम्बन्ध में/विश्वास नहीं हो रहा हो/तो···फिर अब
अन्तिम कुछ कहता हूँ/कि,/क्षेत्र की नहीं,/आचरण की दृष्टि से
मैं जहाँ पर हूँ/वहाँ आकर देखो मुझे,/तुम्हें होगी मेरी
सही-सही पहचान/क्योंकि/ऊपर से नीचे देखने से/चक्कर आता है
और/नीचे से ऊपर का अनुमान/लगभग गलत निकलता है।
इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ ! हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंज़िल पर।" (पृ. ४८७-४८८)

कवि 'अविनश्वर सुख' और 'अक्षय सुख' की ओर विश्वास व्यक्त करता है। यह उसकी अनुभूत सौन्दर्य की आत्मा है। यही उसका अनन्त-ज्ञान है। उसका असीम के प्रति विश्वास है।

विश्व कवि रवीन्द्र ने भी अपनी पुस्तक 'Creative Unity' के प्रथम निबन्ध 'The Poet's Religion' में शेली (Shelley) की अग्रलिखित पंक्तियों में व्यक्त विश्वास की ओर सापेक्ष व्याख्या के साथ हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, विश्वास की ओर :

"Never joy illumed my brow
Unlinked with hope that thou wouldst free
This world from its dark slavery;
That thou,– 0 awful loveliness,–
Wouldst give whate'er these words cannot express."

This was his faith in The Infinite. It led his aspiration towards the region of freedom and perfection which was beyond the immediate and above the successful. This faith in God, this faith in the reality of the ideal of perfection, has built up all that is great in the human world. ...when it awakens not, then our faith in money, in material power, takes its place; it fights and destroys, and in a brilliant fireworks of star-memicry suddenly exhausts itself and dies in ashes and smoke.

और आगे भी...

"Men of faith have always called us to wake up to great expectations, and the

prudent have always laughed at them and said that these did not belong to reality, but the poet in man knows that reality is a creation, and human reality has to be called forth from its obscure depth by man's faith which is creative."

हिन्दी के प्रसिद्ध महाकवि एवं जन-मन की आस्था के नायक सन्तशिरोमणि तुलसीदास ने इस विश्वास को ही 'रामचरितमानस' में 'राम'का गुण-ग्राम प्रस्तुत करने के पूर्व श्रद्धा और विश्वास के स्वरूप श्री पार्वतीजी और श्री शंकरजी की वन्दना की है :

"भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥" (बालकाण्ड, २)

तुलसी ने अपने एक पूज्यपात्र काकभुशुण्डि के मुख से कलिमहिमा-वर्णन के सन्दर्भ में खुली उद्घोषणा कराते हुए अपना मत प्रतिपादित किया है :

"कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥" (उत्तरकाण्ड, दो. १०३ क)

रवि बाबू ने अपने विचारों में यह व्यक्त किया है कि पूर्ण सत्ता या असीम सत्ता के प्रति विश्वास सुसुप्त रहता है तो द्रव्य या भौतिक सुखों की ओर विश्वास होता है। उनके होने या पाने या रखने में विश्वास होता है। परिणाम संघर्ष और विनाश होता है। अन्त में चिता की राख हाथ लगती है।

महाकवि तुलसी ने इस असीम के प्रति अपने प्रगाढ़ विश्वास को इस प्रकार व्यक्त किया है :

"कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम ॥" (उत्तरकाण्ड, दो. १३० ख)

आचार्य विद्यासागर के तन के भीतर के 'मृदु-मुस्काते सन्त' का कथ्य और सत्य है :

"दूसरी बात यह है कि/बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का
आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।/इसी की शुद्ध-दशा में
अविनश्वर सुख होता है।" (पृ. ४८६)

काजी नजरुल इस्लाम ने ऐसा ही अटूट विश्वास व्यक्त किया है :

"ध्वंस देखे भय केनो तोर ? प्रलय नूतन सृजन वेदन ?
आसछे नवीन-जीवन-हारा असुन्दरे करते छेदन !
x x x
भेंगे आबार गढ़ते जाने से चिर-सुन्दर
तोरा सब जय ध्वनि करो !
तोरा सब जय ध्वनि करो !!"

'मूकमाटी 'के भीतर के कवि ने शैली-चातुर्य से यह बताया है कि सन्त्रासवादी विप्लवी आन्दोलन नूतनता का

प्रतीक या जनक नहीं है। यह स्वयं कोई नवीनताबोधक आन्दोलन नहीं। यह स्थगित आस्था की विकृति है। सन्त्रासवादी विप्लवकारी शक्तियों के हाथ में सन्त्रासवाद से जुड़ी समस्याओं का समाधान नहीं है। वे सहयोग एवं विश्वास के पथ पर चलकर समस्याओं का समाधान पा सकते हैं।

आतंकवाद के दमनशील कुचक्र की धमकियों से ही समाज थरथरा रहा है। किसी भी प्रकार इसकी सत्ता स्थायित्व नहीं पा सकती। अतः कवि ने इस आन्दोलन- क्रूर आन्दोलन की परिणति दिखाते हुए कहा है :

"जो/कुम्भकार का संसर्ग किया
सो/सृजनशील जीवन का/आदिम सर्ग हुआ।
...जो/अहं का उत्सर्ग किया/सो
सृजनशील जीवन का/द्वितीय सर्ग हुआ।
...उत्साह साहस के साथ/जो/सहन उपसर्ग किया,
सो/सृजनशील जीवन का/तृतीय सर्ग हुआ।
...पराश्रित-अनुस्वार, यानी/बिन्दु-मात्र वर्ण-जीवन को
तुमने ऊर्ध्वगामी ऊर्ध्वमुखी/जो/स्वाश्रित विसर्ग किया,
सो/सृजनशील जीवन का/अन्तिम सर्ग हुआ।
...निसर्ग से ही/सृज्-धातु की भाँति
भिन्न-भिन्न उपसर्ग पा/तुमने स्वयं को
जो/निसर्ग किया,/सो/सृजनशील जीवन का
वर्गातीत अपवर्ग हुआ।" (पृ. ४८२-४८३)

कवि के भीतर के चित्त ने वर्तमान संकट से जन-जीवन-मानस को मुक्ति दिलाने की आकांक्षा से ही 'मूकमाटी' के कथ्य-सत्य का उद्घाटन-विश्वास व्यक्त किया है।

□



'मूकमाटी': संवेदना की साधना

डॉ. तालकेश्वर सिंह

लोक मंगल की कामना से अभिभूत सन्त मन ने माटी की मूक वेदना में संवेदना और साधना का अमृत घोल दिया है। सन्तों में साधना की परिपक्वता भी होती है तथा प्रेम की भावमयी तरंगें भी मानस सरोवर में कल्लोल करती हैं। कल्लोल के कारण प्रेम जल बाहर छलक पड़ता है और संग पाने वाले जड़-चेतनों पर वही सुधा के रूप में बरस जाता है। सन्त-कृपा की दृष्टि सीमा में आते ही जीव तृप्ति का अनुभव करता है। पर अतृप्ति ऐसी बढ़ती है कि वह पुनः पुनः सन्त दर्शन के लिए विकल हो जाता है। सन्त अनासक्ति के क्षणों में जीते हैं। वीतराग और कामना रहित होते हैं। सेवा उनका धर्म है। और, वह भी निष्काम सेवा; सकामता तो साधना की आग में कब की जल चुकी होती है। इसीलिए सन्त साधना के ताप का जीव को अनुभव होने नहीं देते और प्रेम झारी से उसका अभिसिंचन करते हैं। प्रतिष्ठित प्रज्ञ सन्त माटी की मूकता में वाणी की शक्ति का अभिनिवेश करता है। कवि और सन्त की क्रमशः रचनाशक्ति और विवेकदृष्टि पा कर 'मूकमाटी' संवेदना की मर्मकथा बन गई है। सामाजिक, राष्ट्रीय, ऐतिहासिक, धार्मिक और वैचारिक अन्तर्विरोधों को भुलाकर मानव प्रेम की संदेशवाहिनी बन गई है। पूर्वाग्रह मनुष्य को अलगाव के विजन वन में ठेलता है। अतएव मनुष्य को परमसत्ता की ओर से जो दायित्व सौंपा गया है, उसके निर्वाह के लिए, सही ढंग से सम्पादन के लिए कुछ करना होगा।

भारतीय वाङ्मय में 'मूकमाटी' एक विशिष्ट देन है। हिन्दी की महत्त्वपूर्ण कृति है। काव्य मनुष्य का सार्वत्रिक स्वत्व है। वह अपने को व्यक्त करना चाहता है। विचार एवं भावाभिव्यक्ति के माध्यम से हजारों के अन्तर्मन में उतरता है। आत्माभिव्यक्ति के द्वारा आत्मान्वेषण के बिन्दुओं को पकड़ता है। स्व से असंग होकर विश्वबोध से जुड़ता है। विश्व साहित्य के व्यापक फलक पर अपनी रचना के मिष एक अमिट लकीर खींचना चाहता है। सन्तवाणी से एक साहित्यिक दिक् का निर्माण होता है जिसमें विश्व के कवि और लेखक एक दूसरे से संलाप करते हैं। दूरी मिटती है और एक नई पहचान बनती है। साहित्य वह भूमि है जिस पर कला का सम्पूर्ण विभावन उभरता है। राष्ट्रीय साहित्य की अन्विति को सन्त एक नया आयाम देता है। मनुष्य के ज्ञान से अज्ञान का तम फट जाता है। सार्वत्रिक मानव मूल्य की अभिव्यक्ति तथा विश्वजनीन कलात्मक प्रक्रिया में सहभागिता के आधार पर रचना का मूल्यांकन होना चाहिए।

मनुष्य का जातीय इतिहास और भूगोल विकास की दृष्टि से भिन्न होता है। कला के भावन का कोई एक आधार बनाना कठिन है। पर मानव दृष्टि के आधार पर उनकी परख हो सकती है। माटी की अन्तर्व्यथा 'मूकमाटी' में करुणा की कोमल रागिनी बन गई है।

प्रकृति से रूबरू होकर कवि का रचना-मन उसका रमणीय चित्र खींच रहा है। इस रमणीयता में एक दर्द है। दर्द के मर्म में ऊषा का आलोक फैल रहा है। निशा का अन्धकार अब धीरे-धीरे रिस रहा है। प्राची के अधर पर मधुर मुस्कान की रेखाएँ खेल रही हैं। प्रकृति के प्रांगण में मन्द, मधुर तथा शीतल पवन अर्थात् त्रिविध बयार का बहाव जारी है। जीवन के बहाव से प्रकृति के इस बहाव का अद्भुत मेल है :

"मन्द-मन्द/सुगन्ध पवन/बह रहा है;/बहना ही जीवन है
बहता-बहता/कह रहा है :/लो !/यह सन्धि-काल है ना !
महक उठी सुगन्धि है/ओर-छोर तक, चारों ओर।" (पृ. २-३)

बाहर की सुगन्ध से तेज़ भीतर की सुगन्ध होती है, जो गुरु कृपा से अन्तर में बहती है।

माटी को 'मूकमाटी' में स्त्रियोचित चरित्र प्रदान कर काव्य की नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मूक भाषा में अपनी मूक वेदना माटी कहती है। यहाँ साधना का बल नहीं, अन्तर्व्यथा की शक्ति है। नारी के गुणों से संवलित माटी कहती है :

"और, संकोच-शीला/लाजवती लावण्यवती—/सरिता-तट की माटी
अपना हृदय खोलती है/माँ धरती के सम्मुख !/"स्वयं पतिता हूँ
और पातिता हूँ औरों से,/···अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !"(पृ. ४)

निष्ठुर पद दलन को मिट्टी बर्दाश्त करती है। पृथ्वी सब कुछ अपने ऊपर धारण करती है। उसके धीरज की परीक्षा सम्भव नहीं है। मिट्टी उसी की पुत्री है। अपनी पीड़ा को, मूक व्यथा को किसी से प्रकट नहीं करती। किन्तु जिस ममता और धैर्यशीलता की कोख से उत्पन्न है, उससे अपनी पीड़ा की कहानी कहती है। पीड़ा के मूक को संकेत में नहीं, स्पष्ट भाषायी आकार देती है। निवेदन के स्वर में बोलती है :

"कुछ उपाय करो माँ !/खुद अपाय हरो माँ !
और सुनो,/विलम्ब मत करो/पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ !" (पृ. ५)

वस्तुतः यह जो माटी की पीड़ा है वही धरा की पीड़ा है और जो धरा की पीर है वही माटी की पीर है। माटी की पीर और पीर की माटी की व्यंजना से सन्त मन जन-जन को एक सन्देश देना चाहता है। सहिष्णुता माटी की पीड़ा-व्यंजना में साकार हो गई है। काव्य भाषा को एक प्रतीक मिल गया है। दृग-बिन्दु झर रहे हैं। मिट्टी और धरा में कोई पार्थक्य नहीं है। दोनों में कोई रिक्त नहीं है। यदि अलगाव, अभाव या रिक्त है भी तो वह क्रमशः अन्विति, भाव तथा पूर्ति में पर्यवसित हो रहा है।

जैन दर्शन के अनुकूल सत्ता की शाश्वतता को धरा मुखरित करती है। पंचभूतों में पृथ्वी का गुण गन्ध है। पृथ्वी की गन्ध ही फूलों में सुगन्ध बनती है। और प्रकार की गन्धों में पृथ्वी तन्मात्रा के रूप में विद्यमान रहती है। बादल बरसते हैं अर्थात् जल तत्त्व मेघों के अन्तर से बरसकर परिवर्तन की विभिन्न प्रक्रियाओं से गुज़रता है। धूल में मिलकर दलदल में बदल जाता है, नीम की जड़ों में गिर कटुता अंगीकार करता है तथा सागरीय जल से सम्पृक्त होकर लवणयुक्त बन जाता है। सीपी में मोती बनता है। सन्त के भीतर का उपदेशक यह बतलाता है कि संगति के अनुकूल निर्माण कार्य सम्पन्न होता है।

आस्था सबसे बड़ी चीज़ होती है। आस्था, विश्वास और श्रद्धा के अभाव में साधना पथ सुलभ नहीं हो सकता। साधना-पथी आस्था से शुरू करता है तथा विश्वास की प्रक्रिया से गुज़रता हुआ श्रद्धा के बिन्दु तक पहुँचता है। श्रद्धा और विश्वास के अभाव में आस्था खुरदुरी प्रतीत होती है। जैन साधु ने स्पष्ट शब्दों में साधना-वीथी का निरूपण किया है। किन्तु काव्य के लिए साधना और दर्शन अपने मूल रूप में उपयोगी नहीं बन पाते। सहज संवेद्य और सम्प्रेष्य होने के लिए मानवीय संवेदना से उनका आर्द्र होना अनिवार्य है। संवेदना से शून्य दर्शन और साधन काव्यभूमि से छिटक जाते हैं।

सत्य तक पहुँचने के लिए असत्य की पहचान अपेक्षित है। विद्या से परिचित होने के लिए अविद्या को जानना ज़रूरी है। इसलिए सत्य-असत्य और विद्या-अविद्या से परिचय अनिवार्य है। 'ईशावास्योपनिषद्' का एक मन्त्र है :

"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥" (११)

विद्या और अविद्या को साथ-साथ जो यथार्थतः जानता है, मृत्यु को पार करके ज्ञानानुष्ठान से अमृत प्राप्त कर लेता है। परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम से उसका सीधा सम्बन्ध जुड़ जाता है। सम्बन्ध जुड़ता है और प्रेम की लहर उत्पन्न होती है। पाताल के थाल में सर्वोच्च की आरती सजती है। आचार्यप्रवर विद्यासागर का उद्घोष है कि साधना और साधन के साथ अन्वित होने से सम्भावना बन सकती है। वे साधना के अनुभव से कहते हैं :

"साधना के साँचे में/स्वयं को ढालना होगा सहर्ष !" (पृ. १०)

वस्तुतः जीवन साधना में ढलता है तथा साधना जीवन में घुसती है। आस्था से साधना पथ सहज बनता है। आस्था मूल है जिस पर साधना विटप टिका होता है। मूल का कम्पन शिखर को भी स्पन्दित करता है। आस्था की मज़बूती निर्मल संस्कारों पर निर्भर करती है। संस्कारों के स्वस्थ होने में समय लगता है। किन्तु गुरु की कृपा-कोर से संस्कार तत्काल निर्मल हो जाते हैं। विषमता एवं प्रतिकार भावना से बचाव अपेक्षित है। सन्त सेवा जीवन का ध्येय होना चाहिए। साधना यात्रा का प्रारम्भ समर्पण से होता है।

युगबोध को भी 'मूकमाटी' में अभिव्यक्ति मिली है। कुदाली की मार मिट्टी पर पड़ रही है। मृदुता में कुदाली की लौह-धार धँसती है। दया और निष्ठुरता का यह संघर्ष है। पीड़ित और पीड़क एवं शोषित और शोषक का खेल बराबर चला है। बोरी में बन्द होकर भी मिट्टी नवविवाहिता बधू की तरह घूँघट की ओट से झाँकती है। युग की पीड़ा बोरी से झाँक रही है। रचना-मानस से एक ध्वनि निकलती है :

"अमीरों की नहीं/गरीबों की बात है;
कोठी की नहीं/कुटिया की बात है।" (पृ. ३२)

प्यार का पीड़ा और व्रण की पीड़ा में अन्तर होता है। राग और विराग के छोर अलग-अलग हैं। अतिरेक दुःख का कारण होता है। दुःख के अन्त से सुख का रेखांकन होता है। जीवन विज्ञान में दया से सरसता आती है। दया से स्व-बोध उजागर होता है। ऐसा स्व जिसमें स्व का अर्थ स्वार्थ नहीं होता, परार्थ होता है। वासना मोह के कीचड़ में डालती है और दया से मुक्ति-मार्ग प्रशस्त होता है। वासना में जलन है तथा दया में शीतलता और मृदुता। वासना अजगर है और दया जीवन प्रसाधन है, जीवन का शृंगार है। दया सन्त धर्म का उपकरण है। करुणा और दया देश तथा काल की सीमा से ऊपर हैं। सन्तों के संग मानस रोग दूर होते हैं। तत्त्वतः इस काव्य में 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' को सांवेदनिक धरातल मिल गया है। सूक्ति में संवेदना का योग घटित हो गया है। सन्त जीवन निर्वाह नहीं करते हैं, अपितु अपने सम्पर्क में आने वाले का पुनर्निर्माण करते हैं। पुनर्निर्माण से अधिक यह नव निर्माण होता है। सन्त परम्परा का इतिहास इसका साक्षी है। सत्संग में तो और भी कुछ हो जाता है—आत्मनिर्माण। वासना के कंकरों के फेंकने के बाद ही सत्संग मिलता है। आर्ष वाणी है :

"ऋषि - सन्तों का/सदुपदेश - सदादेश/हमें यही मिला कि
पापी से नहीं/पाप से,/पंकज से नहीं/पंक से/घृणा करो।
अयि आर्य !/नर से/नारायण बनो/समयोचित कर कार्य।" (पृ. ५०-५१)

पापी अपवित्र नहीं करता वरन् पाप धूमिल करता है। पंकज से पंकिल होने का भय नहीं है। वह पराग देता

है, मकरन्द के रूप में उतरता है। नर में नारायण की प्रतिष्ठा कवि की प्रतिज्ञा है। लघुता त्याज्य है और गुरुता स्वीकार्य। त्याज्य और स्वीकार्य की नाड़ी पढ़ लेने के बाद ही शुभ का सृजन सम्भव है।

सत्य और अहिंसा सन्तों का चरित्र होता है। मन की गाँठ हिंसा का गवाक्ष खोलती है। ग्रन्थिहीन दशा अहिंसा की भूमि प्रशस्त करती है। अहिंसा प्रेम से शून्य नहीं होती। वह भी प्रेम ही है, पर भिन्न प्रकार का प्रेम है। युग से एक प्रश्न है :

"क्या इस समय मानवता/पूर्णतः मरी है ?
क्या यहाँ पर दानवता/आ उभरी है···?" (पृ. ८१)

मानवता में प्रेम और विश्वास होता है। दानवता से दानवता शून्य होती है। व्यक्ति से समाज की ओर दृष्टि का गमन अनिवार्य है। व्यष्टि में समष्टि की धार का बहाव तथा समष्टि में व्यष्टि का अन्तर्गमन श्रेयस्कर है। प्रेम और क्षेम सन्तों का स्वभाव है। भारतीय संस्कृति में स्व और पर की सुख-शांति का सुन्दर और कोमल राग है।

'मूकमाटी' में रसों के उल्लेख हैं। काव्य या शास्त्रों की दृष्टि से भिन्न ढंग का रस बोध यहाँ है। विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव से आस्वाद के क्षण यहाँ नहीं जुड़ते हैं। वीर रस की स्थिति देखिए :

"इसके सेवन से/उद्रेक-उद्दण्डता का अतिरेक/जीवन में उदित होता है,
पर पर/अधिकार चलाने की/भूख इसी का परिणाम है।" (पृ. १३१)

रस की परिणति से अधिक यह वीर-भाव है। हास्य रस की कुछ ऐसी ही स्थिति है। पर एक विशेषता है कि रसों को एक सजीव आकार मिल गया है। जैसे :

"रहस-रसातल में उबलता/कराल-काला रौद्र रस।" (पृ. १३४)

रौद्र रस का स्थायीभाव क्रोध है, वर्ण रक्त और देवता रुद्र है। शृंगार में कोमलता है। माधुर्य है। संन्यासी मन शृंगार के रग-रग में शृंगार देखता है। करुण और शान्त रसों की चर्चा भी हुई है। वात्सल्य और करुणा में एक जीवन का त्राण है और दूसरा प्राण।

अर्थ से परमार्थ नहीं तुल सकता। हाँ, परमार्थ से अर्थ की नई भूमि बन सकती है। परमार्थ से योग होने पर स्व (धन) से वियुक्ति होती है। और, सब रसों का अन्त शान्त में होता है :

"सब रसों का अन्त होना ही—/शान्त-रस है।" (पृ. १६०)

नए ढंग से रस-विभावन की प्रस्तुति हुई है। और, शान्त का रस-राजत्व घोषित किया है।

कतिपय वर्णों और शब्दों को दर्शन का नव्य अर्थ मिल गया है। भाषा-प्रवाह में कोई टूट नहीं आने पाई है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का अर्थ खोला गया है। जल और मिट्टी में अन्तर है। वसुन्धरा को धरा तक समेट रखने में जल का विशेष योगदान है। धरा के रत्न को लूटकर वह रत्नाकर बना है। मोती सागर में उपजता है : "जल ही मुक्ता का रूप धारण करता है" (पृ. १९२)। किन्तु जिस सीपी में मोती का आकार पाता है वह धरा की अंशभूता है। पृथ्वी जड़ता तोड़ती है और मोती की निर्माण-प्रक्रिया में सहायिका बनती है :

"जल को जड़त्व से मुक्त कर/मुक्ता-फल बनाना,
पतन के गर्त से निकाल कर/उत्तुंग-उत्थान पर धरना,

धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।" (पृ. १९३)

माटी मानवीकृत रूप में प्रस्तुत की गई है। वह स्थूल तत्त्व मात्र नहीं है, अपितु उसकी रगों में संवेदना का रुधिर बह रहा है। यद्यपि वह मौन है, पर संन्यासी की कलम से मूक को भाषा मिल गई है। अनबोल में बोल भर गया है।

नारी, अबला और कुमारी नई अर्थ छवियाँ उद्घाटित हुई हैं। नारी भावना को एक नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है :

"धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों से/गृहस्थ जीवन शोभा पाता है।
इन पुरुषार्थों के समय/प्रायः पुरुष ही/पाप का पात्र होता है,
वह पाप, पुण्य में परिवर्तित हो/इसी हेतु स्त्रियाँ/प्रयत्न-शीला रहतीं हैं सदा।
पुरुष की वासना संयत हो,/और/पुरुष की उपासना संगत हो,
यानी काम पुरुषार्थ निर्दोष हो/बस, इसी प्रयोजनवश/वह गर्भ धारण करती है।
संग्रह-वृत्ति और अपव्यय-रोग से/पुरुष को बचाती है सदा,
अर्जित-अर्थ का समुचित वितरण करके।" (पृ. २०४)

दान, पूजा, सेवा उसकी नियति होती है। वह देवी, माँ, सहचरी, प्राण है। सुता और दुहिता है। मातृरूप में वह सबकी जननी है।

श्रमरहित और अनीतिपूर्ण धन-संग्रह वर्जित है। परिश्रम को भूख की ज्वाला में जलना होता है। बैठे-ठाले नवनीत का स्वाद लेते हैं। सामाजिक वैषम्य और विशेषतः आर्थिक असन्तुलन पर साधक मन का विकट प्रहार है :

"परिश्रम के बिना तुम/नवनीत का गोला निगलो भले ही,
कभी पचेगा नहीं वह/प्रत्युत, जीवन को खतरा है!" (पृ. २१२)

विघटनकारी तत्त्वों से भी रचनाकार सजग है। युग की पीड़ा रचना में बोल उठी है। आतंकवाद के आतंक से व्यक्ति त्रस्त है :

"मान को टीस पहुँचने से ही,/आतंकवाद का अवतार होता है।
अति-पोषण या अतिशोषण का भी/यही परिणाम होता है,
तब/जीवन का लक्ष्य बनता है, शोध नहीं/बदले का भाव···प्रतिशोध!"
(पृ. ४१८)

प्रतिशोध की ज्वाला में लोग जल रहे हैं। वस्तुतः जीवन-लक्ष्य से च्युत हो गए हैं। न्याय की वेदी पर अन्याय का ताण्डव चल रहा है। भक्षण में सभी लगे हैं। संहार की प्रवृत्ति पर एक ठहराव लगाना आवश्यक है। जादू-टोना आदि कृषि-संस्कृति की कतिपय स्थितियों को स्थान मिला है।

'मूकमाटी' युग सत्य का चित्रण है। भाषा में सम्प्रेषण शक्ति है। सन्त के मौन में युग का स्वर भर गया है। यही इसकी प्रासंगिकता है।

□

आधुनिक हिन्दी काव्य साहित्य की अद्‌भुत कृति : 'मूकमाटी'

दर्शन लाड़

आचार्य विद्यासागर का कवि रूप आधुनिक हिन्दी साहित्य के लिए आज एक स्पृहणीय वस्तु बन चुका है। आचार्यश्री ने अध्यात्म को कविता से कुछ इस तरह जोड़ा है कि भाषा में एक नई आभा प्रकट हो रही है, और उस आभा का एक ज्वलन्त उदाहरण है आचार्यश्री का नूतन काव्य 'मूकमाटी'।

यह स्वाभाविक ही था कि अपने भीतर आत्मिक रूप से प्रकट होती ज्ञान-सरिता के उद्वेलन को व्यक्त करने के लिए, आचार्यश्री में छुपे कवि को अभिव्यक्ति का कोई माध्यम बार-बार चाहिए और उसी अभिव्यक्ति के प्रतीक हैं उनके 'नर्मदा का नरम कंकर,' 'तोता क्यों रोता,' 'डूबो मत,लगाओ डुबकी' काव्य और 'मूकमाटी' जैसा महाकाव्य।

परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, 'मूकमाटी' आचार्यश्री के पिछले काव्यों से बहुत कुछ भिन्न है। 'मूकमाटी' में प्रतीकों की ऐसी अद्‌भुत काव्य कथाएँ हैं जिनका उदाहरण हमें आधुनिक हिन्दी काव्य साहित्य में मिलना दुर्लभ है।

'मूकमाटी' की कथा मूल रूप से मिट्टी की कथा है जो धरती माँ की बेटी है और माँ की ही तरह त्याग और सहनशक्ति का प्रतिरूप है। त्याग, विराग और तप की आधार भूमि लेकर यह प्रतीक-भावनात्मक कथा आगे बढ़ती है।

नर्म-कोमल माटी को उस कुम्भकार की प्रतीक्षा है जो उसके वर्तमान रूप को एक नया आकार देगा, कुम्भ के रूप में। 'कुम्भ' रूप माटी का वह मंगल कलश, जो संसार के दुःखी प्राणियों के लिए दुःखों से मुक्ति का साधन बनता है और अनेक व्यथा-बाधाओं को पार करके दूसरों को भी भव बाधा से पार करा सकता है।

माटी, इसी उदात्त उद्देश्य को हृदय में रखकर कुम्हार के आगमन की प्रतीक्षा करती है। कुम्हार आता है, कुदाली से कोमलांगी माटी को खोदकर निकालता और बोरी में भर कर अपने उपाश्रम ले जाता है, एक गदहे की पीठ पर लादकर। परन्तु गदहे की पीठ पर लदी, बोरी में भरी माटी को अपने कारण गदहे को होने वाले कष्टों का अनुभव होता है :

"...गदहे की पीठ पर।/खुरदरी बोरी की रगड़ से/पीठ छिल रही है उसकी और/माटी के भीतर जा/और भीतर उतरती-सी/पीर मिल रही है।"

(पृ. ३४-३५)

और इसी पीर में खोने के बाद :

"बोरी में से माटी/क्षण-क्षण/छन-छन कर/छिलन के छेदों में जा मृदुतम मरहम/बनी जा रही है,/करुणा रस में/सनी जा रही है। इतना ही नहीं,/उस स्थान में/बोरी की रूखी स्पर्शा भी घनी मृदुता में/डूबी जा रही है।" (पृ. ३५-३६)

माटी इन्हीं विचारों-भावनाओं में डूबी अनुकम्पा के उस उत्कर्ष पर जा पहुँचती है :

"दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है। परन्तु/पर पर दया करना/बहिर्दृष्टि-सा···मोह-मूढ़ता-सा··· स्व-परिचय से वंचित-सा···/अध्यात्म से दूर···/प्रायः लगता है ऐसी एकान्त धारणा से/अध्यात्म की विराधना होती है।" (पृ. ३७)

यहाँ कवि यह सिद्ध कर देता है कि दया के बिना अध्यात्म कोरा है, कार्यकारी नहीं । और फिर माटी कुम्हार के उपाश्रम, उसकी कार्यशाला पर पहुँचती है।

कुम्हार मृदु माटी से कठोर कंकरों को अलग करता है, चालनी से छान कर। जब कंकर कुम्हार से प्रश्न करते हैं कि उन्हें अलग क्यों किया जा रहा है, हमारा माँ माटी से वियोगीकरण किस कारण हो रहा है ? तो कुम्हार क्षमा-याचना-सी करता है :

"संकर-दोष का/वारण करना था मुझे
सो/कंकर-कोष का/वारण किया।" (पृ.४६)

कंकरों को फिर भी शिकायत बनी रहती है। वे किसी भी स्थिति में माँ माटी का साथ छोड़ना नहीं चाहते। उनके समाधान के लिए कुम्हार को उन्हें और तरह से समझाना होता है। वे फिर भी नहीं मानते तो अन्त में माटी को ही उन्हें समझाना पड़ता है :

"संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है,
स्वयं राही शब्द ही/विलोम-रूप से कह रहा है—
रा···ही···ही···रा।" (पृ. ५६-५७)

माटी का यह उपदेश कंकरों को स्वीकार होता है और वे संयम की राह पर चलने का संकल्प करते हैं।

अब माटी के कुम्भ बनने की क्रिया प्रारम्भ होती है। पहले माटी को जल देकर फुलाना है। जल के लिए कुम्भकार कूप के पास जाता है। बालटी को कूप में भेजने के लिए उलझी रस्सी को सुलझाने का यत्न करता है और इस यत्न में वह थक-हार-सा जाता है। तब वह दन्त-पंक्ति का उपयोग करता है उस उलझी रस्सी की गाँठ खोलने के लिए, परन्तु तब भी सफलता नहीं मिलती।

"फिर भी ! इस पर भी !!/गाँठ का सुलना तो दूर,/वह हिलती तक नहीं
प्रत्युत,/शूलों के मूल ही/लगभग हिलने को हैं/और/शूलों की चूलिकाएँ
टूटने—भंग होने को हैं।" (पृ. ६१)

तब रसना काम आती है। वह अपनी प्रताड़ना और लार से रस्सी के अस्तित्व को हिला देती है और दाँत वह गाँठ खोल देते हैं। संसार-यात्रा की उलझनों और कठिनाइयों की सहज क्रियाओं को प्रतीकात्मक माध्यम से कवि ने यहाँ प्रस्तुत किया और प्रतीकात्मक रूप से ही मार्ग दिखाया है :

"हमारी उपास्य-देवता/अहिंसा है/और/जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है
वहाँ निश्चित ही/हिंसा छलती है।/अर्थ यह हुआ कि
ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है/और/निर्ग्रन्थ-दशा में ही
अहिंसा पलती है,/पल-पल पनपती,/···बल पाती है।" (पृ. ६४)

कुम्भकार का अगला कर्म है उस कूप से जल निकालना, जिसमें एक मछली बाहर आने के लिए छटपटा रही है। यह प्रतीकात्मक छटपटाहट है बन्धनयुक्त आत्मा के बन्धन से मुक्त होने की :

"नश्वर प्राणों की/आस भाग चली/ईश्वर प्राणों की

प्यास जाग चली/मछली के घट में !" (पृ. ६८)

फिर कुम्भकार सावधानी पूर्वक बालटी कूप में छोड़ता है ताकि वहाँ के नाना जलचर जीवों का घात टाल सके। बालटी के पानी के करीब आते ही उस दृढ़ निश्चयी मछली को छोड़ कर सभी मछलियाँ भाग जाती हैं इधर-उधर। फिर उस मछली की अन्य मछलियों से धर्म चर्चा शुरू हो जाती है और दूसरी मछली के मुँह से ये शब्द निकलते हैं :

"कहाँ तक कहें अब !/धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है
शास्त्र शस्त्र बन जाता है/अवसर पाकर।/और
प्रभु-स्तुति में तत्पर/सुरीली बाँसुरी भी/बाँस बन पीट सकती है
प्रभु-पथ पर चलनेवालों को।/समय की बलिहारी है !" (पृ. ७३)

जहाँ तनिक भी अवसर मिलता है कवि सम-सामयिक समाज पर, उसके दोषों पर मीठी चुटकी लेने से अपने आपको नहीं रोक पाता। और फिर बाहर आने को उत्सुक मछली कूप के जल से बालटी के पानी में कूद कर बालटी के साथ ऊपर आ जाती है बाहर, धूप में। बाहर आकर मछली सुख-झरी रूप के नन्दन वन को देखती है।

कुम्भकार साफ़ सुथरे खादी के दोहरे वस्त्र से पानी छानने लगता है कि उसकी दृष्टि पानी से उछलती और माटी के पावन चरणों में गिरती मछली की ओर जाती है। मछली की आँखों से हर्षाश्रु झर रहे हैं।

मछली और माटी माँ का वार्तालाप शुरू होता है। समय परिवर्तन के साथ-साथ धन की बढ़ती लालसा के बारे में वह कुछ कहती है और फिर मछली, माँ माटी से आग्रह करती है कि वह भी कुछ कहे। माटी कहती है :

"समझने का प्रयास करो, बेटा !/सत्-युग हो या कलियुग/बाहरी नहीं
भीतरी घटना है वह/सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा !
और/असत्-विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ
सत् को असत् माननेवाली दृष्टि/स्वयं कलियुग है, बेटा !" (पृ. ८३)

यह युगों की बिलकुल ही नूतन परिभाषा अध्यात्म का सन्देश सुनाती हुई अन्तरतम में प्रवेश करती है। उसके बाद अन्य अनेक उपदेशों से माटी मछली को कृतार्थ करती है और कुम्भकार से निवेदन करती है :

"इस भव्यात्मा को/कूप में पहुँचा दो/सुरक्षा के साथ अविलम्ब !
अन्यथा/इस का अवसान होगा/दोष के भागी तुम बनोगे
असहनीय दुःख जिसका/फलदान होगा !" (पृ. ८८)

कुम्भकार माटी के आदेश का पालन करता है और वस्त्र में जो अन्य जलीय जन्तु शेष बचे थे, उनके साथ मछली को भी बालटी में शुद्ध जल डाल कर कूप में सुरक्षित पहुँचा देता है। कूप में 'दयाविसुद्धो धम्मो' की पावन ध्वनि गूँज उठती है।

यहीं पर 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' नामक पहला खण्ड समाप्त होता है।

दूसरा खण्ड प्रारम्भ होता है शिल्पी के माटी में निर्मल जल मिलाने से। शिल्पी जल मिली माटी को कुछ समय के लिए रख देता है। वह शिशिर ऋतु की ठण्डी रात है जिसे शिल्पी एक पतली-सी सूती चादर से खुशी-खुशी काट देना चाहता है। यह स्थिति माटी के मन में प्रश्न खड़े करती है और वह कुम्भकार से अनुरोध करती है :

"काया तो काया है/जड़ की छाया-माया है/लगती है जाया-सी···
सो···/कम से कम एक कम्बल तो···/काया पर ले लो ना !" (पृ. ९२)

इसी के साथ माटी और कुम्भकार के बीच प्रकृति और पुरुष की दार्शनिक चर्चा प्रारम्भ होती है। कुम्भकार कहता है :

"पुरुष प्रकृति से/यदि दूर होगा/निश्चित ही वह/विकृति का पूर होगा
पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।" (पृ. ९३)

इस एक ही सूत्र से माटी के सारे ही प्रश्नों का समाधान हो जाता है। जल से सम्मिलन के बाद माटी का फूलना स्वाभाविक है। इसी फूली हुई मिट्टी से उस मंगलमय कुम्भ का निर्माण होगा। अचानक माटी की दृष्टि उस क्षत-विक्षत काँटे पर पड़ती है जो माटी की खुदाई के समय कुदाली के प्रहार से अपना तन खण्डित कर बैठा था। वह परख लेती है काँटे के मन में उठते बदले का भाव ! और माटी का सम्बोधन शुरू होता है काँटे के प्रति :

"बदले का भाव वह दल-दल है/कि जिसमें/बड़े-बड़े बैल ही क्या,
बल-शाली गज-दल तक/बुरी तरह फँस जाते हैं/और
गल-कपोल तक/पूरी तरह धँस जाते हैं।" (पृ. ९७)

शूल को तब अपनी भूल का एहसास होता है और वह अपने बारे में, उसको स्पर्शित करनेवाले फूलों, लताओं एवं ललाम चामवालों के प्रति बहुत कुछ कह जाता है। उसकी हर उक्ति सत्य को नए ही रूप में प्रस्तुत करती है :

"दम सुख है, सुख का स्रोत/मद दुःख है, सुख की मौत !/तथापि
यह कैसी विडम्बना है,/कि/सब के मुख से फूलों की ही/प्रशंसा होती है,
और/शूलों की हिंसा !/क्या यह/सत्य पर आक्रमण नहीं है ?" (पृ. १०२)

इस शूल के मुख से उद्घाटित सत्य माटी को अभिभूत कर जाता है। इस चर्चा को कुम्भकार भी सुन रहा था। वह काँटे से अपनी भूल के प्रति क्षमा माँगता है। काँटे की सनातन चेतना इससे प्रभावित होती है :

"अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है/और/सब को छोड़कर
अपने आप में भावित होना/ही/मोक्ष का धाम है।" (पृ. १०९)

उसके बाद लेखनी और साहित्य, वक्ता और श्रोता तथा नीर-क्षीर विवेक पर गम्भीर चर्चा होती है, जिसका शब्द-शब्द मननीय है। अब बारी आती है माटी को रौंदने की, वह भी हाथ से नहीं, पैरों से। पैरों से माटी को रौंदे बिना वह कुम्भ के निर्माण का उपादान नहीं बन सकती। इस रौंदने की क्रिया से कुम्भकार प्रसन्न नहीं है, यह उसकी विवशता है। वह झिझकता है। इस अवसर पर माटी भी मौन है और कुम्भकार भी मौन। तब ही यह मौन मुखर हो उठता है :

"ओ माँ माटी !/शिल्पी के विषय में तेरी भी
आस्था अस्थिर-सी लग रही है।" (पृ. ११९)

और :

"आस्था के बिना आचरण में/आनन्द आता नहीं, आ सकता नहीं।
फिर,/आस्थावाली सक्रियता ही/निष्ठा कहलाती है,
यह बात भी ज्ञात रहे !" (पृ. १२०)

मौन का यह सम्भाषण कितना मार्मिक है। परन्तु माटी को यह बात चुभ-सी जाती है। वह मौन को अपने मृदु ढंग से प्रताड़ित करना चाहती है। पर शिल्पी की नीली आँखें नीलिमा छिड़काती उसे शान्त कर देती हैं। तत्पश्चात् शिल्पी के अन्तर में तन और चेतन का द्वन्द्व शुरू होता है और कई नए आध्यात्मिक सत्यों का उद्घाटन होता है।

फिर कुम्भकार के पद माटी को रौंदने लगते हैं कर्तव्यवश :

"शिल्पी के पदों ने अनुभव किया/असम्भव को सम्भव किया—सम लगा,
लगा यह मृदुता का परस/पार पर परख रहा है
परम-पुरुष को कहीं/जो परस की पकड़ से परे है।" (पृ. १२७)

इस क्रिया के चलते माटी शिल्पकार से कुछ कहती है, उसे उत्साहित, प्रोत्साहित करती है।

"रौंदन-क्रिया और गति पकड़ती है/माटी की गहराई में
डूबते हैं शिल्पी के पद आजानु !/पुरुष की पुष्ट पिंडरियों से
लिपटती हुई प्रकृति, माटी/सुगन्ध की प्यासी बनी
चन्दन तरु-लिपटी नागिन-सी···!" (पृ. १३०)

और अनजाने ही शिल्पी के अस्तित्व में से वीर रस फूट पड़ता है। वह वीर्य शिल्पी से बातें करता है। वीरत्व और शिल्पी में बहस छिड़ती है, वीरत्व के ही बारे में। माटी हँसकर उनमें बीच-बचाव करती है। तभी हास्य रस छलक कर अपनी बात करता है और उसे माटी चुप करा देती है।

अचानक शिल्पी की मति बिगड़ने लगती है और महासत्ता का महाभयानक रूप उसे दिखाई देता है। उस महा भयंकर दृश्य को देखकर शिल्पी की मति दहल जाती है। शिल्पी का अपनापन लौट आता है और वह उसे समझा कर शान्त करता है।

यहाँ पाठक अनुभव करता है कि कवि ऐसी कोई स्थिति, ऐसा कोई भाव, ऐसा कोई शब्द अभिव्यक्त करने से नहीं चूकता जो एक नए अर्थ के उद्घाटन में उसका साथ देता हो। यहाँ मौन भी बोलता है, मति भी, हास्य, वीर और विस्मय रस भी। यहाँ शिल्पी का यह सम्बोधन कितना महत्त्वपूर्ण है :

"एक बात और—/तन मिलता है तन-धारी को/सुरूप या कुरूप,
सुरूप वाला रूप में और निखार/कुरूप वाला रूप में सुधार
लाने का प्रयास करता है/आभरण-आभूषण शृंगारों से।
परन्तु/जिसे रूप की प्यास नहीं है,/अरूप की आस लगी हो
उसे क्या प्रयोजन जड़ शृंगारों से !" (पृ. १३९)

तब शृंगार भी अपने बचाव में कुछ बोल पड़ता है और शिल्पी से नया सम्बोधन पाता है। शृंगार फिर स्वर की बात करता है और शिल्पी कहता है :

"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है/और
प्रीति उसे मानता हूँ/जो अंगातीत होती है
मेरा संगी संगीत है/सप्त-स्वरों से अतीत···!" (पृ. १४४-१४५)

एक आध्यात्मिक सन्त के सिवा भला ये शब्द और किसकी लेखनी से निकल सकते हैं ?

स्वर की नश्वरता और सारहीनता सिद्ध हुई तो करुणा उभर आई। वह परस्पर लड़ते इन सबको शान्त करने का प्रयत्न करती है और फिर अपने स्वभावानुसार छलक पड़ती है। तब शिल्पी सोचता है करुणा और शान्त रस के बारे में :

"उछलती हुई उपयोग की परिणति वह/करुणा है/नहर की भाँति !/और
उजली-सी उपयोग की परिणति वह/शान्त रस है/नदी की भाँति !
नहर खेत में जाती है/दाह को मिटाकर/सुख पाती है, और
नदी सागर को जाती है/राह को मिटाकर/सुख पाती है।" (पृ. १५५-१५६)

फिर वात्सल्य रस और शान्त रस की तुलना अपने आप होने लगती है। रौंदन क्रिया पूरी होती है। चक्र घुमाकर शिल्पी माटी का लोंदा उस पर रखता है और लोंदा चक्रवत् घूमने लगता है। इस तरह घूमते हुए माटी के मन में संसार-चक्र के बारे में कुछ प्रश्न उठते हैं। शिल्पी समझाता है :

"चक्र अनेक-विध हुआ करते हैं/संसार का चक्र वह है जो
राग-रोष आदि वैभाविक/अध्यवसान का कारण है;
चक्री का चक्र वह है जो/भौतिक-जीवन के/अवसान का कारण है,
परन्तु/कुलाल-चक्र यह, वह सान है/जिस पर जीवन चढ़कर
अनुपम पहलुओं से निखर आता है,/पावन जीवन की अब शान का कारण है।"
(पृ. १६१-१६२)

तभी शिल्पी के उपयोग में कुम्भ का आकार उभरता है। प्रासंगिक प्राकृत होता है, ज्ञान ज्ञेयाकार होता है और ध्यान ध्येयाकार। शिल्पी कुम्भ को घृत से भरे घट जैसा आकार देकर धरती पर उतारता है।

दो-तीन दिन के अवकाश से कुम्भ का गीलापन मिट जाता है। शिल्पी प्रसन्न होकर कुम्भ को हाथ में उठा लेता है और फिर हाथ में सोट लेकर कुम्भ की खोट पर चोट करता है।

उसके बाद कुछ तत्त्वोद्घाटक संख्याओं का अंकन, विचित्र चित्रों का चित्रण तथा कविताओं का सृजन कुम्भ पर होने लगता है। यहाँ नौ की संख्या का रहस्य भी उद्घाटित होता है :

"संसार ९९ का चक्कर है/यह कहावत चरितार्थ होती है
इसीलिए/भविक मुमुक्षुओं की दृष्टि में/९९ हेय हो और
ध्येय हो ९/नव-जीवन का स्रोत !" (पृ. १६७)

फिर कुम्भ पर सिंह और श्वान का चित्रण होता है, दो विपरीत प्रकृति वाले प्राणियों का, जिनका विस्तृत वर्णन कवि की लेखनी करती है। फिर 'ही' और 'भी' ये दो अक्षर भी कुम्भ पर लिखे जाते हैं और 'एकान्तवाद' और 'अनेकान्तवाद' की चर्चा स्वाभाविक रूप से उद्भूत होती है।

कुम्भ में जल का अंश शेष है अभी, उसे सुखाने के लिए तपी हुई खुली धरती पर रखता है कुम्भकार।

"बिना तप के जलत्व का, अज्ञान का,/विलय हो नहीं सकता
और/बिना तप के जलत्व का, वर्षा का,/उदय हो नहीं सकता
तप के अभाव में ही/तपता रहता है अन्तर्मन यह

अनन्त संकल्प-विकल्पों से/कल्प-कालों से।" (पृ. १७६)

इस तरह एक महान् सत्य का उद्घाटन होता है। इसी भाव भूमि पर तपन और वसन्त की चर्चा विस्तार से होती है और 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' शीर्षक वाला दूसरा खण्ड समाप्त होता है।

तीसरे खण्ड का शीर्षक है 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन।' तीसरे खण्ड के प्रारम्भ में कवि प्रलय, समुद्र, चन्द्रमा और सूर्य को अपनी अलौकिक दृष्टि से नए अर्थ देता है और अर्थ के अनर्थ की ओर इंगित करता है। और जल तत्त्व और धरती के सम्बन्धों की दार्शनिक परिभाषा भी देता है :

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

इधर कुम्भकार को किसी विशेष कारणवश, तीन-चार दिनों के लिए माटी के बदले रूप कुम्भ को छोड़ कर बाहर जाना पड़ा। परन्तु वह तन अपने साथ ले गया था, मन तो माटी में ही था।

इसी बीच कथा में एक नया मोड़ आया। कुम्भ के सूख जाने और दृढ़ हो जाने पर सागर चिन्तित था। एक ईर्ष्या-सी उसमें पैदा हो गई। उसने अपने अनुचर बादलों को कुम्भ को फिर से पानी से भिगोकर नष्ट करने के लिए भेजा। तीन बदलियाँ चल पड़ीं कुम्भकार के उपाश्रम की ओर, तरह-तरह वे वर्णों की साड़ियाँ-सी पहने। पहले उन्होंने सूर्य को ढकने की कोशिश की परन्तु सफल नहीं हुईं। उन्हें सूर्य की प्रताड़ना सुननी पड़ी कि नारी होकर तुम प्रलय मचाने क्यों निकली हो ? नारी तो माँ होती है वह तो पालन करना जानती है, संहार नहीं।

- *"इनकी आँखें हैं करुणा की कारिका/शत्रुता छू नहीं सकती इन्हें*
  मिलन-सारी मित्रता/मुफ्त मिलती रहती इनसे।/यही कारण है कि
  इनका सार्थक नाम है 'नारी'/यानी —/'न अरि' नारी···
  अथवा/ये आरी नहीं हैं/सो···नारी···।" (पृ. २०२)
- *"जो/मह यानी मंगलमय माहौल,*
  महोत्सव जीवन में लाती है/महिला कहलाती वह।" (पृ. २०२)

नारी के बारे में यह उदात्त अभिव्यक्ति कवि के आचार्य रूप को और भी पूज्य बना देती है।

सूर्य की ये बातें बदलियों के मन को बदल गईं। उन्हें अपने पति सागर का पक्ष अन्यायपूर्ण प्रतीत हुआ और उनकी आँखों से कुछ अश्रु जलकणों के रूप में धरती पर आ गिरे। वे थे मेघ-मुक्ताओं के रूप में। कुम्भकार के आँगन में मोतियों की वर्षा होने लगी।

इस आश्चर्यजनक घटना का समाचार राजा तक पहुँचा। राजा ने अपने अनुचरों को बोरियाँ लेकर भेजा कुम्भकार के आँगन से मोती बटोरने के लिए। तभी गगन-ध्वनि होती है जो उन्हें चेतावनी देती है कि बिना परिश्रम, बिना पुरुषार्थ के धन की लालसा करना पाप है। परन्तु अनुचर नहीं मानते और ज्यों ही मोती बटोरने के लिए आगे बढ़ते हैं, मोतियों को छूते ही उन्हें बिच्छू के डंक की वेदना होती है और उनके शरीर नीले पड़ जाते हैं। तभी कुम्भकार का आगमन होता है। राजा के अनुचरों की दुर्दशा देख कर उसे बहुत दुःख होता है। वह प्रभु से प्रार्थना करता है ओंकार ध्वनि के साथ।

कुम्भकार ओंकार मन्त्र से अभिमन्त्रित जल उन विष-पीड़ित व्यक्तियों पर छिड़कता है। उनकी चेतना लौटती है और वे डरकर मोतियों से दूर जा खड़े होते हैं। कुम्भकार राजा से क्षमा-याचना करता है और स्वयं अपने हाथों से मोती

बटोरकर राजा को समर्पित करता है। कुम्भ अब चुप नहीं रह पाता, वह राजा को खरी-खरी सुनाता है।

"कलि-काल की वैषयिक छाँव में/प्रायः यही सीखा है इस विश्व ने
वैश्ववृत्ति के परिवेश में—/वेश्यावृत्ति की वैयावृत्य···!" (पृ. २१७)

कुम्भ द्वारा राजा की यह प्रताड़ना कुम्भकार को नहीं रुची। उसने 'छोटे मुँह-बड़ी बात' कहने के लिए कुम्भ को आड़े हाथों लिया :

"लघु होकर गुरुजनों को/भूलकर भी प्रवचन देना/महा अज्ञान है दुःख-मुधा,
परन्तु,/गुरुओं से गुण ग्रहण करना/यानी/शिव-पथ पर चलेंगे हम,
यूँ उन्हें वचन देना/महा वरदान है सुख-सुधा।" (पृ. २१८-२१९)

यह सुनकर राजा का उबाल शान्त होता है। वह कुम्भकार से मुक्ता-उपहार लेकर प्रयाण करता है और मुक्ताओं की दुर्लभ निधि से राजकोष और समृद्ध होता है।

उधर कुम्भ को नष्ट करने के बदले कुम्भकार के आँगन में मोतियों की वर्षा करके लौटती हुई बदलियों को देखकर सागर बहुत क्षुब्ध हुआ। उसने मन ही मन स्त्रियों के स्वभाव के बारे में बहुत कुछ कह डाला। सागर का यह उद्वेलन सुनकर सूर्य ने समुद्र में छुपे बड़वानल को सागर को जला डालने की आज्ञा दी। सागर ने बड़वानल से अनुरोध किया कि वह अनुचित कार्य न करे। परन्तु फिर भी सागर चुप नहीं बैठा। उसने प्रलय करने की ठानी। प्रलय मचाने के लिए उसने तीन रंग के बादलों का आह्वान किया— काले, गहरे नीले और कापोत—कबूतर के रंग वाले। ये तीन रंग प्रतीक हैं तीन अशुभ लेश्याओं के, जिनके वश में होकर संसारी प्राणी कुकृत्य करते रहते हैं।

सागर के भेजे तीनों वर्ण के बादल सूर्य से जा मिले, और उसकी प्रताड़ना करने लगे :

"अरे खर प्रभाकर, सुन!/भले ही गगनमणि कहलाता है तू,
सौर-मण्डल देवता-ग्रह—/ग्रह-गणों में अग्र
तुझमें व्यग्रता की सीमा दिखती है/अरे उग्रशिरोमणि!
तेरा विग्रह···यानी—/देह-धारण करना वृथा है।" (पृ. २३१)

प्रभाकर सूर्य भी बादलों को फटकारता है और दोनों ओर से नोंक-झोंक चलती रहती है।

सूर्य पर कोई प्रभाव न होते देख सागर ने अपने मित्र राहु को याद किया सूर्य को ग्रहण लगाने के लिए। सागर ने राहु को अपनी रत्न-राशि का लालच दिया और राहु मान गया।

"सागर-पक्ष का समर्थन हुआ/राहु राजी हुआ, राशि स्वीकृत हुई
सो···दुर्बलता मिटी/सागर का पक्ष सबल हुआ।/जब
राहु का घर भर गया/अनुद्यम-प्राप्त अमाप निधि से।
तब/राहु का सर भर गया/विष-विषम पाप-निधि से।" (पृ. २३६)

राहु के बहाने आज की आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों पर कैसा करारा व्यंग्य है यह।

ग्रहणकाल आ गया। दिन का प्रकाश अवरुद्ध हुआ। भास्कर राहु के गाल में समा गया, चारों ओर भय का वातावरण छा गया। पक्षी डरकर अपने नीड़ों में जा छुपे। इस दृश्य को चित्रित करने में कवि की लेखनी चमत्कृत-सी हुई।

"काक-कोकिल-कपोतों में/चील-चिड़िया-चातक-चित में
बाघ-भेड़-बाज-बकों में/सारंग-कुरंग-सिंह-अंग में
खग-खरगोशों-खरों-खलों में/ललित-ललाम-लजील लताओं में
पर्वत-परमोन्नत शिखरों में/प्रौढ़ पादपों औ' पौधों में
पल्लव-पातों, फल-फूलों में/विरह-वेदना का उन्मेष
देखा नहीं जाता निमेष भी।" (पृ. २४०)

सूर्य को राहु से ग्रसित देखकर बादलों के दल के दल उमड़ पड़े प्रलयकारिणी वर्षा की भूमिका के रूप में।

धरती पर यह अनर्थ होते देख इन्द्र अपना इन्द्र-धनुष लेकर गोपनीय रूप से प्रकट हुआ। उसने तीव्र बाण चलाकर बादलों के दलों को बिखेर दिया। बादलों ने क्रोधित होकर बिजली कड़कड़ाई तो इन्द्र ने अपना अमोघ अस्त्र वज्र बादलों पर फेंका। मेघों के मुँह से 'आह' की ध्वनि निकली। बादल चीखते हुए भागने लगे। बादलों की आह सुनकर सागर का रोष बढ़ा। उसने बादलों को उपलवृष्टि– ओलों की बरसात करने का आदेश दिया और फिर लघु-गुरु, अणु-महा, तरह-तरह के कोणों वाले बड़े-बड़े ओले बरसने लगे। ओलों से सौर-मण्डल भर गया। इस स्थान पर कवि का चिन्तन अणु, सौर और भूमण्डल की शक्तियों की ओर मुड़ता है और 'स्टार-वार' तक चला जाता है।

लेकिन कुम्भरूपिणी माटी पर इस भयानक उपल-वृष्टि का कोई प्रभाव नहीं होता।

"इस प्रतिकूलता में भी/भूखे भू-कणों का साहस अद्भुत है,
त्याग-तपस्या अनूठी!/जन्म-भूमि की लाज/माँ-पृथिवी की प्रतिष्ठा
दृढ़ निष्ठा के बिना/टिक नहीं सकती।" (पृ. २५२)

इस अवसर पर काँटे भी वाचाल हो उठते हैं और आए संकट को ललकारते हैं। तभी फूल और पवन भी शिल्पी के पक्ष का समर्थन करते हुए बादलों को प्रताड़ित करते हैं। पवन प्रबल वेग से बादलों को बिखरा देते हैं और धूप फिर निखर आती है। वातावरण पुनः आनन्द और मंगलमय हो जाता है। सूर्य, किरण रूपी अपने सहस्रों करों को फैला कर शिल्पी की पलकों को सहलाता है। स्वस्थ कुम्भकार से कुम्भ कहता है :

"परीषह-उपसर्ग के बिना कभी/स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि
न हुई, न होगी/त्रैकालिक सत्य है यह!" (पृ. २६६)

इसके बाद परम उत्साहित कुम्भकार कुम्भ को आग की नदी पार करने का आह्वान करता है, जिसके लिए कुम्भ पूर्णतः प्रस्तुत है। तीसरा खण्ड यहीं समाप्त होता है।

'मूकमाटी' का चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' शीर्षक से प्रकट होता है। यह खण्ड घटना-चक्रों से भरपूर है तथा तीव्र गति से चरम तक पहुँचता है।

अवा यानी भट्ठी में लकड़ियाँ सजाई जाती हैं। इन लकड़ियों में बबूल की लकड़ी भी है जो कुम्भकार से अपनी आत्म-वेदना कहती है कुछ दार्शनिकता के साथ, और फिर कुम्भ को अग्नि परीक्षा के लिए जलाने को तैयार हो जाती है।

अग्नि प्रकट होती है और कहती है–'मैं दूसरों की परीक्षा लेती हूँ परन्तु मेरी परीक्षा कौन लेगा?'

"अपनी कसौटी पर अपने को कसना/बहुत सरल है,...पर

सही-सही निर्णय लेना बहुत कठिन है,/क्योंकि,
अपनी आँखों की लाली/अपने को नहीं दिखती है।" (पृ. २७६)

कुम्भ अग्नि से अनुरोध करता है कि तुम्हारे सद्गुणों से सभी प्रभावित हैं क्योंकि शिष्टों पर अनुग्रह करना सहज प्राप्त शक्ति का सदुपयोग है, धर्म है। और अग्नि अपना धर्म प्रकट करती है, अवा ज़ोरों से जल उठता है। कुम्भ के सारे अस्तित्व में धुआँ समा जाता है :

"उदर में धूम को पूर कर/कुम्भ ने कुम्भक प्राणायाम किया
जो ध्यान की सिद्धि में साधकतम है/नीरोग योग-तरु का मूल है।" (पृ. २७९)

लकड़ियाँ अग्नि को जन्म देकर अग्नि में लीन हुईं। कुम्भ भी इस अग्नि परीक्षा से पार उतरकर धन्य हो उठता है :

"परिणाम-परिधि से/अभिराम-अवधि से/अब यह
बचना चाहता है, प्रभो !/रूप-सरस से/गन्ध-परस से परे
अपनी रचना चाहता है, विभो !/संग-रहित हो
जंग-रहित हो/शुद्ध लौह अब/ध्यान-दाह में बस
पचना चाहता है, प्रभो !" (पृ. २८५)

इसके बाद अग्नि और कुम्भ में ध्यान और दर्शन पर चर्चा होती है। अग्नि कहती है :

"दर्शन का स्रोत मस्तक है,/स्वस्तिक से अंकित हृदय से
अध्यात्म का झरना झरता है।/दर्शन के बिना अध्यात्म-जीवन
चल सकता है, चलता ही है/पर, हाँ !
बिना अध्यात्म, दर्शन का दर्शन नहीं।" (पृ.२८८)

इस एक सूत्र में आचार्यश्री के कवि ने अनगिनत चिन्तन-चर्चाओं का सार भर दिया है। कुम्भकार इन चर्चाओं को स्वप्न में देखता-सुनता है। परन्तु ऐसे स्वप्न आना सबके भाग्य में कहाँ ? यहाँ 'स्वप्न' का अपनी तरह से विश्लेषण करता है कवि :

" 'स्व' यानी अपना/'प्' यानी पालन-संरक्षण/और
'न' यानी नहीं,/जो निज-भाव का रक्षण नहीं कर सकता
वह औरों को क्या सहयोग देगा ?" (पृ. २९५)

और फिर स्वप्न-जगत् से कुम्भकार सत्य-जगत् में आता है।

अग्नि परीक्षा से परीक्षित कुम्भ सकुशल बाहर आता है। परीक्षित कुम्भ को देख कर कुम्भकार के हर्ष का पार नहीं। वह इस कुम्भ के साथी अनेक कुम्भों को भी अवा से बाहर निकालता है। कुम्भ के हृदय में तभी अतिथि-सत्कार का भाव जागता है। उस पूत-पवित्र अतिथि पात्र की तरह-तरह की कल्पनाएँ करता है कुम्भ :

"मानापमान समान जिन्हें,/योग में निश्चल मेरु-सम,
उपयोग में निश्छल धेनु-सम/लोकैषणा से परे हों/मात्र शुद्ध-तत्त्व की

गवेषणा में परे हों;/छिद्रान्वेषी नहीं/गुण-ग्राही हों।" (पृ. ३००)

ठीक उसी समय नगर सेठ ने भी एक सपना देखा कि वह अपने प्रांगण में ऐसे ही भिक्षार्थी महासन्त का स्वागत कर रहा है।

जागते ही उसने ऐसे अतिथि के स्वागत के लिए अपने एक सेवक को कुम्भकार के पास भेज दिया। यह सन्देश सेवक से सुनकर हर्षित होकर कुम्भकार ने कहा :

"दम साधक हुआ हमारा/श्रम सार्थक हुआ हमारा
और/हम सार्थक हुए।" (पृ. ३०२)

सेवक बजा कर कुम्भ की परीक्षा करता है। कुम्भ में से सात स्वर निकलते हैं जिनका भाव था :

"सा···रे ग···म यानी/सभी प्रकार के दुःख/प···ध यानी ! पद–स्वभाव
और/नि यानी नहीं,/दुःख आत्मा का स्वभाव–धर्म नहीं हो सकता,
मोह-कर्म से प्रभावित आत्मा का/विभाव-परिणमन मात्र है वह।" (पृ. ३०५)

कैसा अद्भुत विश्लेषण है स्वर-संगीत का। सेवक जब कुम्भ का मूल्य देने लगता है तो कुम्भकार यह कह कर कि 'आज दान का दिन है,' अतः कुछ भी लेने से इनकार कर देता है। कुम्भ कुम्भकार–अपने जन्मदाता के घर से विदा होता है एक नए उल्लास के साथ। यहाँ से कथा एक नया मोड़ लेती है।

नगर सेठ प्रसन्न होकर सेवक से वह कुम्भ लेता है और उसे शीतल जल से धोकर दाएँ हाथ की अनामिका से स्वयं का प्रतीक स्वस्तिक मलयाचल के चन्दन से अंकित करता है और धर्म परम्परानुसार उसे अन्य चिह्नों से चिह्नित करता है। फिर कुम्भ के मुख पर तांबूल पत्र रखकर, उस पर श्रीफल रखकर उसे पूर्ण 'मंगल कलश' का रूप देता है। यहाँ श्रीफल और पत्तों के बीच काठिन्य और मृदुता पर बातें होती हैं। फिर वह कुम्भ अष्ट पहलूवाली चन्दन की चौकी पर मानो अतिथि-प्रतीक्षा के लिए रख दिया जाता है।

नित्य नियम के अनुसार सेठ अपने महाप्रासाद के पंचम खण्ड पर स्थापित चैत्यालय में प्रभु की रजत प्रतिमा की वन्दना और अभिषेक-प्रक्षालन करता है, फिर अष्ट मंगल द्रव्यों से उनकी पूजा करता है।

अपने-अपने प्रांगण में अतिथि की प्रतीक्षा के लिए नगर के नर-नारी आ खड़े होते हैं। नगर सेठ भी मंगल कुम्भ लेकर खड़ा हो जाता है। अतिथि का आगमन होता है। दाताओं के मुख से जय-जयकार ध्वनि निकल पड़ती है।

परन्तु वे वीतराग निर्ग्रन्थ अतिथि उन्हें देखते हुए आगे निकल जाते हैं। दानदाताओं में उदासी छा जाती है। सेठ भी इसी आशंका से उदास होने को है कि कुम्भ उसे सचेत करता है। नगर सेठ का भाग्य उसके साथ था। अतिथि उसके सामने आकर रुक गए। अभ्यागत का स्वागत प्रारम्भ हुआ, नवधा-भक्तिपूर्वक। यहाँ कवि ने आहार-दान का विस्तृत और सुन्दर विवेचन अपनी गतिशील लेखनी से किया है।

अतिथि तथा आहार का वर्णन करते-करते कवि आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' के सर्वविशुद्ध अधिकार के मर्म तक पहुँच जाता है :

"...मधुर, अम्ल, कषाय आदिक/जो भी रस हों शुभ या अशुभ–
कभी नहीं कहते, कि/हमें चख लो तुम।/लघु-गुरु स्निग्ध-रूक्ष
शीत-उष्ण मृदु-कठोर/जो भी स्पर्श हो, शुभ या अशुभ–

कभी कहते नहीं कि/हमें छू लो, तुम।/सुरभि या दुरभि
जो भी गन्ध हो, शुभ या अशुभ—/कभी कहते नहीं, कि
हमें सूँघ लो, तुम।/...परस-रस-गन्ध/रूप और शब्द
ये जड़ के धर्म हैं/जड़ के कर्म···।" (पृ. ३२९-३३०)

जैन सिद्धान्त में फलित भेद-विज्ञान का विश्लेषण इन पंक्तियों में स्पष्ट दिखाई देता है।

और फिर, अतिथि की अंजुलि खुलती है, आहार-दान प्रारम्भ होता है। अतिथि की विशेषताओं का विस्तृत विवरण अगली पंक्तियों में है। सेठ का पूरा परिवार अतिथि को दिए गए आहार दान से प्रसन्न हो उठता है।

इधर वहाँ उपस्थित अन्य जड़ वस्तुओं की भाव-भंगिमा का सूक्ष्म चित्रण कवि ने किया है। वे हैं— सेठ का उत्तरीय, अँगूठियाँ, कुण्डल। कुण्डल और कपोलों में भी चर्चा होने लगती है। आहार पूर्ण होता है। सेठ निष्परिग्रह अतिथि से उपदेश के दो शब्द कहने का अनुरोध करता है। अतिथि कुछ ही शब्दों में सिद्धान्त का निचोड़ प्रस्तुत कर देते हैं :

"बाहर यह/जो कुछ भी दिख रहा है/सो···मैं···नहीं···हूँ/और वह
मेरा भी नहीं है।/ये आँखें/मुझे देख नहीं सकतीं/मुझ में
देखने की शक्ति है/उसी का मैं सृष्टा/था···हूँ···रहूँगा,
बाहर यह/जो कुछ भी दिख रहा है/सो···मैं···नहीं···हूँ।" (पृ. ३४५)

अतिथि उपवन की ओर विदा होते हैं। उनका कमण्डलु लेकर सेठ उनके पीछे-पीछे छाया की तरह जाता है नसियाजी में। अतिथि गुरु से विदा लेते समय वियोग का तीव्र भाव सेठ के मन में उठता है और वह उनके पुण्यप्रद पूज्य पदों में लोटने लगता है, फूट-फूटकर रोते हुए।

वह अपने मन की व्यथा गुरु से कहता है। यह व्यथा आज के हर उस व्यक्ति की व्यथा है, जिसे समय का सत्य जब तब पीड़ित करता रहता है :

"क्या पूरा का पूरा आशावादी बनूँ ?/या सब कुछ नियति पर छोड़ दूँ ?
छोड़ दूँ पुरुषार्थ को ?/हे परम-पुरुष ! बताओ क्या करूँ ?
काल की कसौटी पर/अपने को कसूँ ?/गति-प्रगति-आगति
नति-उन्नति-परिणति/इन सबका नियन्ता/काल को मानूँ क्या ?
प्रति पदार्थ स्वतन्त्र हैं।/कर्ता स्वतन्त्र होता है—/यह सिद्धान्त सदोष है क्या ?
'होने' रूप क्रिया के साथ-साथ/'करने' रूप क्रिया भी तो···
कोष में है ना !" (पृ. ३४७-३४८)

धर्म-सिद्धान्त-कर्ता-कर्म और पुरुषार्थ के विषय में ये तीखे प्रश्न आचार्यश्री की कवि-लेखनी से मार्मिक रूप से प्रकट होते हैं और उनके उत्तर भी। श्रीगुरु वात्सल्य भाव से उत्तर देते हैं :

" 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन—स्थिरता है
अपने में लीन होना ही नियति है/निश्चय से यही यति है,/और
'पुरुष' यानी आत्मा—परमात्मा है/'अर्थ' यानी प्राप्तव्य—प्रयोजन है
आत्मा को छोड़कर/सब पदार्थों को विस्मृत करना ही

सही पुरुषार्थ है।" (पृ. ३४९)

और सेठ श्रीगुरु से विदा लेता है। वियोग की तीव्र भावना अब भी उसका साथ नहीं छोड़ती। सेठ घर लौटता है। सारा परिवार हर्ष में डूबा है परन्तु सेठ के मुख पर अब भी विरह की उदासी है।

उसकी उदासी देखकर मंगल कुम्भ उसे तरह-तरह से समझाता है, नई सारपूर्ण बातें सुनाता है। कुम्भ की बातों से प्रभावित होकर सेठ आदेश देता है—'प्रभु-पूजन को छोड़कर इस पक्ष में अतिथि के समान माटी के पात्रों का उपयोग होगा।' यह घोषणा सुनकर स्वर्ण से लेकर पीतल तक के धातु पात्रों में ईर्ष्या और द्वेष की आग जल उठी। वे सोचते हैं कि माटी के कुम्भ को इतना आदर-सम्मान और हम बहुमूल्य पात्रों का इतना अनादर! सेठ यह आक्रोश सुनता है और कुछ सिद्धान्त-सुभाषित सुनाकर उन्हें शान्त कराने का प्रयत्न करता है। परन्तु वे मूल्यवान् धातुपात्र अपने अभिमान और ईर्ष्या को नहीं छोड़ते। प्रतीकात्मक रूप में कवि अपनी लेखनी से यहाँ धन-वैभव के अहंकार और अकिंचनता के क्षमाभाव का सूक्ष्म विवेचन करता है :

"आज तक/न सुना, न देखा/और न ही पढ़ा, कि
स्वर्ण में बोया गया बीज/अंकुरित होकर/फूला-फला, लहलहाया हो
पौधा बनकर।/हे स्वर्ण-कलश!/दुखी-दरिद्र जीवन को देखकर
जो द्रवीभूत होता है/वही द्रव्य अनमोल माना है।
दया से दरिद्र द्रव्य किस काम का?/माटी स्वयं भीगती है दया से
और/औरों को भी भिगोती है।/माटी में बोया गया बीज
समुचित अनिल-सलिल पा/पोषक तत्त्वों से पुष्ट-पूरित
सहस्र गुणित हो फलता है।" (पृ. ३६५)

और फिर यह प्रतारणा भी :

"परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम,/पूँजीवाद के अभेद्य
दुर्गम किला हो तुम/और/अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला!" (पृ. ३६६)

कवि मशाल और दीपक की तुलना करता है। स्वर्ण को मशाल तथा माटी को दीपक की उपमा देता है। इस कठोर वार्तालाप से कुम्भ को आन्तरिक वेदना होती है क्योंकि वह बहस उसी के निमित्त से हुई थी। वह अपने आपको धिक्कारता है। अचानक स्फटिक की झारी बोल पड़ती है, कुम्भ को ताने सुनाते हुए। कुम्भ उसका समाधान करने का प्रयत्न करता है। यहाँ जितनी भी वस्तुएँ मौजूद हैं, सभी मुखर हो उठती हैं अपनी-अपनी बात कहने के लिए। सभी का एक उद्देश्य था, माटी के पात्र कुम्भ का उपहास करना।

उस रात निद्रा की गोद में पूरा परिवार सो गया परन्तु सेठ को चैन नहीं था। उसे तेज़ ज्वर चढ़ आया था। एक मच्छर और एक खटमल सेठ का रक्त चूसने के लिए आ पहुँचे। उनकी बातों से सेठ का मनोरंजन हुआ। परन्तु प्रातः होते-होते सेठ के ज्वर ने भीषण रूप धारण कर लिया। सारा परिवार चिन्तित हो उठा। तरह-तरह के चिकित्सक उपचार के लिए बुलाए गए। सभी ने एक मत से निर्णय दिया कि सेठ जी को 'दाह रोग' हुआ है। इन्हें चिन्ता छोड़कर शान्त हो जाना चाहिए। परिवार ने चिकित्सकों से अनुरोध किया कि वे सेठ की अधिक से अधिक अच्छी चिकित्सा करें, धन की परवाह न करें।

यहाँ कवि धन पर, अर्थ पर एक मृदु कटाक्ष करता है :

"सकल कलाओं का प्रयोजन बना है/केवल/अर्थ का आकलन-संकलन।
आजीविका से, छी···छी···/जौभिका-सी गन्ध आ रही है,
नासा अभ्यस्त हो चुकी है/और/इस विषय में, खेद है—
आँखें कुछ कहती नहीं।/किस शब्द का क्या अर्थ है,
यह कोई अर्थ नहीं रखता अब!" (पृ. ३९६)

कई तरह के उपचार बताए जाते हैं, किए जाते हैं। आचार्य-कवि अपनी ओर से एक महान् उपचार बताते हैं- 'श, स, ष' इन तीन बीजाक्षरों के उच्चारण के साथ पूरी शक्ति लगाकर, श्वास को भीतर ग्रहण करना और उसे नासिका से निकालना ओंकार ध्वनि के रूप में (पृ. ३९८)।

यह भीतरी उपचार बताकर अन्ततः उपचार का बाहरी आयाम बताया जाता है एक नई शब्द-शक्ति के साथ :

"भूत की माँ भू है,/भविष्य की माँ भी भू।/भाव की माँ भू है,
प्रभाव की माँ भी भू।/भावना की माँ भू है,/सम्भावना की माँ भी भू।
भवानी की माँ भू है,/भूधर की माँ भू है,/भूचर की माँ भी भू।
भूख की माँ भू है,/भूमिका की माँ भी भू।/भव की माँ भू है,
वैभव की माँ भी भू,/और/स्वयम्भू की माँ भी भू।/तीन काल में
तीन भुवन में/सब की भूमिका भू।/भू के सिवा कुछ दिखता नहीं
भू···भू···भू···भू···/यत्र-तत्र-सर्वत्र···भू।
'भू सत्तायां' कहा है ना/कोषकारों ने युग के अथ में!" (पृ. ३९९)

इस तरह भू की बेटी माटी से सेठ की चिकित्सा प्रारम्भ हुई। छनी हुई काली माटी में नपा-तुला शीतल जल मिला कर एक लोंदा बनाकर सेठ के सिर पर टोप की तरह रखा गया। तत्काल वह गीली मिट्टी सेठ के मस्तक में व्याप्त गर्मी को सोखने लगी। सेठ की चेतना लौटने लगी, मुँह से ओंकार ध्वनि निकलने लगी, चेहरे पर मुस्कान छा गई।

यहाँ कवि परा-वाक्, मूलोद्गमा, ऊर्ध्वानना पवन की चर्चा करते हैं जो पश्यन्ती के रूप में उभरती है, हृदय-मध्य में मध्यमा कहलाती है और वही वैखरी के रूप में अन्तर्जगत् से बहिर्जगत् की ओर यात्रा प्रारम्भ करती है।

माटी के उपचार से सेठ ठीक होने लगते हैं। गीली मिट्टी की गोलियाँ-सी आँखों और नाभि पर रखी जाती हैं। कुम्भ के परामर्श पर धीरे-धीरे सेठ जी बिलकुल स्वस्थ हो जाते हैं। इस अहिंसापरक चिकित्सा पद्धति का उपकार मानते हुए सेठ सभी चिकित्सकों को धन देकर विदा करते हैं।

माटी के प्रभाव से रोगी सेठ के ठीक होने से स्वर्ण कलश उदास हो जाता है। स्वर्ण-रजत जैसे मूल्यवान् पात्रों में हड़कम्प-सा मच जाता है। कुम्भ यह देखकर आश्चर्य प्रकट करता है। और फिर स्वर्ण आदि मूल्यवान् वस्तुओं की ओर से सेठ के विरुद्ध षड्यन्त्र प्रारम्भ होता है। कवि-कथाकार समसामयिक वातावरण के अनुरूप कथा को यहाँ प्रतीकात्मक एक नया मोड़ देते हैं।

स्वर्ण कलश आतंकवाद को बुलावा भेजता है, सेठ के परिवार और उनके प्रिय माटी के कुम्भ को नष्ट करके अपने बैर का बदला लेने के लिए। सेठ के घर में स्वर्ण कलश की घोर गर्जना सुनाई दी :

"एक को भी नहीं छोड़ूँ,/तुम्हारे ऊपर दया की वर्षा/सम्भव नहीं अब,

प्रलय-काल का दर्शन/तुम्हें करना है अभी।" (पृ. ४२१)

सेठ के परिवार में आतंक छा जाता है और पूरा परिवार उस घर से भाग निकलता है, पीछे के रास्ते से। कुम्भ ने यही परामर्श दिया था, क्योंकि सेठ पर हमला होने पर आस-पास की निरपराध जनता भी आतंकवाद का शिकार हो सकती थी।

यहाँ से कथा गति पकड़ती है। अपने मार्गदर्शक कुम्भ को हाथ में लिए सेठ परिवार, वन की ओर प्रयाण करता है। वन में वंश वृक्षों की पंक्ति कुम्भ को प्रणाम करके अपनी वंश-मुक्ता उसके चरणों में उड़ेलती है। कुम्भ के ही प्रभाव के कारण और भी बहुत से चमत्कार होते हैं। जैसे ही सेठ परिवार कुछ आगे बढ़ता है तो उस आतंकवादी दल की ललकार सुनाई देती है, जो इसका पीछा कर रहा था। आतंक का साक्षात् रूप उसे उस दल के रूप दिखाई देता है। सभी वनचरों में इस ललकार से हलचल मच जाती है।

और तभी गजों का समूह और नाग-नागिन सेठ परिवार की रक्षा के लिए सन्नद्ध हुए, कुम्भ के प्रभाव के कारण। आतंकवादी दल चारों ओर से घिर जाता है, अतः झाड़ियों में छुप जाता है। उसके बाद वे अवसर पाकर सात नींबू मन्त्रित करके शून्य आकाश में उछाल देते हैं जिसके प्रभाव से वन में प्रलयकारी वर्षा होने लगती है। पेड़ उखड़ जाते हैं, पशु-पक्षी भयभीत होकर मौन हो जाते हैं। इस बीच गुणग्राही हाथियों का समूह सेठ-परिवार तथा कुम्भ की रक्षा करता रहता है।

वर्षा थमती है। सेठ-परिवार नदी तट पर आ खड़ा होता है। कुम्भ उन्हें उफनती नदी पार करने का परामर्श देता है, क्योंकि आतंकवाद उन पर कभी भी हमला कर सकता है। कुम्भ कहता है :

"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह,/ये आँखें अब/आतंकवाद को देख नहीं सकतीं,
ये कान अब/आतंक का नाम सुन नहीं सकते।" (पृ. ४४१)

और कुम्भ आह्वान करता है :

"ऊँकार के उच्च उच्चारण के साथ/कूद जाओ धार में।" (पृ. ४४२)

सेठ कुम्भ को अपनी कटि में बाँध कर धार में कूद पड़ा, परिवार ने भी उसका अनुसरण किया। जल की तीव्र धारा से संघर्ष करते हुए वे सब आगे बढ़े। जल के बीच छोटी-बड़ी मछलियाँ, मांसभक्षी महामगरमच्छ उभर-उभर कर उन्हें छूने लगे। उफनती नदी भी इन लोगों का यह दुस्साहस देखकर भड़क उठी। धरती के इन मित्रों को वह धिक्कारने-सी लगी :

"धरती के आराधक धूर्तो,/कहाँ जाओगे अब ?
जाओ, धरती में जा छुप जाओ···
उससे भी···नीचे !/पातको, पाताल में जाओ !" (पृ. ४४७)

सेठ नदी की प्रतारणा से क्रुद्ध नहीं होता बल्कि उसे समझाता है कि उसका स्वयं का आधार भी तो धरती ही है। धरती न होती तो वह कहाँ बहती ? इस पर नदी और कुपित हुई, लाल-लाल हो गई। वह एक विशाल भँवर की ओर संकेत करती है, जिसमें सब जाकर डूब रहे हैं, तुम्हें भी उसी भँवर में डूबना होगा।

कुम्भ से अब रहा नहीं जाता। वह नदी को खरी-खरी सुनाता है और अन्त में कहता है :

"अरी निम्नगे निम्न-अधे !/इस गागर में सागर को भी
धारण करने की क्षमता है/धरणी के अंश जो रहे हम !
कुम्भ की अर्थ-क्रिया/जल-धारण ही तो है/और···सुनो !
स्वयं धरणी शब्द ही/विलोम-रूप से कह रहा है कि
ध···र···णी नी···र···ध/नीर को धारण करे···सो···धरणी
नीर का पालन करे सो···धरणी !" (पृ. ४५३)

धरणी की यह नई व्याख्या सुन कर नदी चुप हो जाती है। यह सुनकर नदी का एक महामत्स्य प्रसन्न होकर एक मुक्तामणि कुम्भ को भेंट करता है। इस मुक्तामणि को जो पा जाता है वह अगाध जल में भी अबाध पथ पा जाता है (पृ. ४५४)।

सेठ परिवार उस भँवर से बच कर आगे बढ़ता है। नदी अपनी भूल स्वीकार करके क्षमा माँगती है। ये लोग गन्तव्य की ओर पहुँचने को ही होते हैं कि अचानक आतंक की पुनरावृत्ति होती है। आतंकवादी दल नदी से प्रार्थना करता है कि इस सेठ परिवार को डुबो दे। नदी उनकी बात नहीं सुनती तो आतंकवादी दल एक नाव लेकर सेठ परिवार के पीछे लपकता है और आगे बढ़ कर मार्ग रोक लेता है। फिर उन पर अँधाधुन्ध पत्थरों की वर्षा करने लगता है। परिवार जनों के रक्त से नदी की धारा लाल हो जाती है।

पत्थरों की वर्षा जारी रहती है। सेठ कुम्भ को अपने पेट के नीचे लिए दु:सह कर्मफल शान्त भाव से सहता रहता है। आतंकवाद अपने को पराजित-सा अनुभव करता है और एक बड़ा-सा जाल सेठ परिवार पर फेंकता है। तभी चमत्कार की तरह पवन प्रलय का रूप लेता है और उस जाल को उड़ा देता है। आतंकवादी दल की नाव चक्कर खाकर डूबने लगती है। वे सब मूर्च्छित हो जाते हैं। तब कुम्भ के संकेत पर पवन का वेग थमता है। आतंकवादियों की नाव फिर स्थिर होने लगती है और वे लोग पुन: सेठ परिवार को ललकारने लगते हैं। सेठ सहित परिवार जन अब धीरज नहीं रख पाते और आतंकवाद के सामने आत्मसमर्पण की बात सोचने लगते हैं कि नदी उन्हें रोक देती है :

"उतावली मत करो !/सत्य का आत्म-समर्पण
और वह भी/असत्य के सामने ?/...असत्य की दृष्टि में
सत्य असत्य हो सकता है/और/असत्य सत्य हो सकता है,
परन्तु/सत्य को भी नहीं रहा क्या/सत्यासत्य का विवेक ?
सत्य को भी अपने ऊपर/विश्वास नहीं रहा ?" (पृ. ४६९-४७०)

आतंकवाद की नाव को नदी फिर नचाने लगी। नाव की दशा देखकर आतंकवादियों ने मन्त्र-शक्ति का प्रयोग करके देवताओं को बुलाया। देवताओं ने उनकी कुछ भी सहायता करने में असमर्थता व्यक्त की। उन्होंने समझाया-बुझाया, परन्तु आतंकवाद कहाँ मानने वाला था ? तभी एक भयानक घटना घटी। नाव की करधनी डूबने लगी और आतंकवादी दल हाहाकार कर सेठ से क्षमायाचना करने लगा, बचाने की दुहाई देने लगा :

"क्षमा करो, क्षमा करो/क्षमा के हे अवतार !/हमसे बड़ी भूल हुई,
पुनरावृत्ति नहीं होगी/हम पर विश्वास हो !" (पृ. ४७४)

सेठ का हृदय दया से छलक उठा, उसी तरह जिस तरह माँ का हृदय सन्तान के लिए छलक उठता है। सेठ के मुँह से प्रेममयी वाणी निकलती है :

"अपराधी नहीं बनो/अपरा 'धी' बनो,/'पराधी' नहीं
पराधीन नहीं/परन्तु/अपराधीन बनो !" (पृ. ४७७)

आतंकवादियों की नाव डूब गई, पर आतंकवादी बचा लिए गए। आतंकवाद का अन्त और अनन्तवाद का श्रीगणेश हुआ।

प्रभात की गुलाबी किरणों की आभा में सेठ परिवार भूतपूर्व आतंकवादियों के साथ सकुशल दूसरे किनारे पर पहुँचा, पूरा वातावरण धर्मानुराग से भर उठा।

सेठ परिवार छने जल से कुम्भ को भर कर उसी स्थान की ओर बढ़ा जहाँ माटी लेने के लिए वही कुम्भकार फिर आया था। कुम्भ ने सेठ परिवार सहित कुम्भकार का अभिवादन किया। पुरानी स्मृतियाँ ताज़ा हुईं। और माँ धरती कुम्भ से कहती है :

"माँ सत्ता को प्रसन्नता है, बेटा/तुम्हारी उन्नति देख कर
मान-हारिणी प्रणति देखकर।" (पृ. ४८२)

फिर माँ कहती है : 'तुमने कुम्भकार का संपर्क पाकर सृजन-शील जीवन अपनाया, अहं का उत्सर्ग किया, अग्नि-परीक्षा दी, उपसर्ग सहन किया। फिर ऊर्ध्वगामी होकर स्वयं को विसर्ग करके वर्गातीत अपवर्ग को पाया।' सबने आदरभाव से कुम्भकार को देखा। कुम्भकार ने कहा : 'यह सब ऋषि-सन्तों की कृपा है, मैं तो उनका सेवक मात्र हूँ।' अचानक सब का ध्यान उस वृक्ष के नीचे जाता है जहाँ एक वीतराग साधु विराजित थे। सभी वहाँ जाकर उन की प्रदक्षिणा करके, उनके चरण धोते हैं और पादोदक सिर पर लगाते हैं। गुरुदेव अभय-मुद्रा में उन्हें आशीर्वाद देते हैं।

क्षमार्थी आतंकवादी गुरुदेव से कहते हैं : 'हमें अविनश्वर सुख के बारे में बताइए, क्योंकि यह समग्र संसार दुःख से भरपूर है। हमारी 'भावना पूरी हो' कृपा करके ऐसा वचन हमें दीजिए।'

सन्त ने मृदु मुस्कान के साथ कहा : 'मेरे गुरुदेव ने मुझसे कहा है कि यदि कोई भव्य भोला-भाला, भूला-भटका अपने हित की भावना से, विनीत भाव से भरा कुछ दिशाबोध चाहता हो तो···' :

"हित-मित-मिष्ट वचनों में/प्रवचन देना उसे,/किन्तु
कभी किसी को/भूलकर स्वप्न में भी/वचन नहीं देना।" (पृ. ४८६)

और इसी सन्दर्भ में वे मोक्ष का पथ बताते हुए कहते हैं :

"क्षेत्र की नहीं,/आचरण की दृष्टि से/मैं जहाँ पर हूँ/वहाँ आकर देखो मुझे,
तुम्हें होगी मेरी/सही-सही पहचान/क्योंकि/ऊपर से नीचे देखने से
चक्कर आता है/और/नीचे से ऊपर का अनुमान/लगभग गलत निकलता है।
इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंजिल पर !" (पृ. ४८७-४८८)

यह रहस्य उजागर करके सन्त महा मौन में डूब जाते हैं और मूकमाटी माहौल को अनिमेष निहारती रह जाती है। इस तरह 'मूकमाटी' की कथा के साथ चतुर्थ खण्ड समाप्त होता है।

यह था 'मूकमाटी' पर एक अनुशीलन, कथा के विवरण के साथ। अब यदि हम 'मूकमाटी' की कथा पर

पुनः एक बार दृष्टिपात करें तो पाएँगे कि सारी कथा प्रतीकात्मक है। हर वस्तु का एक अपना कथ्य है, श्रेय है और उपयोग भी। कभी कवि के रूप में आचार्य और कभी आचार्य के रूप में कवि मुखर होते हैं और अपनी बात को अभिव्यक्त करते हैं। जगह-जगह नीतिगत सम्बोधन, धर्म-अध्यात्म और दर्शन की अभिव्यक्तियों के साथ प्रकट होते हैं और अपने शब्द-विन्यासों से पाठक को चकित और अभिभूत करते हैं। सच कहें तो आचार्य के कवि में कवि नागार्जुन का अक्खड़पना, कवि त्रिलोचन का पैनापन, कवि जगदीश गुप्त की सादगी और राष्ट्रकवि दिनकर की तेजस्विता एक साथ समाहित है।

परन्तु आचार्यश्री के प्रति पूर्ण विनय भाव के साथ यहाँ यह कहना भी मुझे आवश्यक प्रतीत होता है कि साहित्यिकों और काव्य के मर्म तक पहुँचने वाले विद्वानों के अतिरिक्त साधारण पठन-पाठन में रुचि रखने वाला एक बड़ा जन-समुदाय आचार्यश्री की इस अनूठी कृति की भावभूमि को प्राप्त करने में अपने को असफल पाएगा, इसकी गूढ़ रहस्यमय प्रस्तुति के कारण।

यही बात अनुभव करके मैंने 'मूकमाटी' की कथा वस्तु को इतने विस्तार के साथ एक अनुशीलन के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया है ताकि जन-साधारण इस महान् कृति का उसके सही परिप्रेक्ष्य में रसास्वादन कर सके। हो सकता है कई विद्वान् मेरे इस कथन से असहमत हों परन्तु उनसे मेरा अनुरोध है कि इस विषय में वे तनिक गहराई से सोचें।

एक बात और, आचार्यश्री का कवि, शब्दों को कठपुतलियों की तरह नचाता है, उन्हें तरह-तरह की नई भावभंगिमाएँ देता है, पाठकों को चमत्कृत करता है, विलोम रूप से नए-नए अर्थ निकाल कर। चमत्कृत करने की यह कला विरले ही कवि पा सकते हैं परन्तु यदि यह कला निरन्तर बार-बार प्रयुक्त न की जाए तो शायद उन शब्द-चमत्कारों की चमक बढ़ जाएगी।

आचार्य कवि श्री विद्यासागर अपनी कई अनुपम काव्य-कृतियाँ जिज्ञासुजनों और साहित्य प्रेमियों को अब तक प्रदान कर चुके हैं। स्वाभाविक ही यह भावना मन में उठती है कि क्या वे कुछ अनुपम जैन पुराकथाओं को अपने काव्य का उपादान नहीं बनाएँगे ? यदि ऐसा हुआ तो यह निश्चित है आचार्यश्री का कवि आम साहित्य प्रेमियों के अतिरिक्त उनके चरणों में भक्ति रखने वाले असंख्य जैन धर्मानुयायियों को कई परम आह्लादकारी कृतियों से उपकृत करेगा।

□



धर्म और लोकजीवन के समन्वय का अद्‌भुत महाकाव्य : 'मूकमाटी'

डॉ. शम्भू नाथ पाण्डेय

'मूकमाटी' जैन सन्त कवि आचार्य मुनि विद्यासागर की अति महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें धर्म, दर्शन तथा अध्यात्म के तत्त्वों को तो समेटा ही गया है, साथ ही लोक जीवन की सम्पृक्तता को सार्थक अभिव्यक्ति देकर इसे आधुनिक जीवन-काव्य बना दिया गया है। काव्य-निर्माण में जैन सन्त कवियों की महती भूमिका रही है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ट, परवर्ती हिन्दी आदि कोई भी ऐसी भाषा नहीं जिसमें जैन कवियों की लब्धप्रतिष्ठ रचनाएँ न मिलती हों। जैन सन्तकवियों ने सदैव इस बात का ध्यान रखा कि रचनाओं के माध्यम से जीवन को उदात्त बनाया जाय। इसलिए धर्म-दर्शन उनके काव्य के प्रेरक तत्त्वों में रहा है। एक समय हिन्दी आलोचकों में इस बात पर मत वैभिन्य रहा कि कितनी दूर तक इन ग्रन्थों को काव्य-रचना माना जाय। हिन्दी साहित्य के यशस्वी आलोचक, इतिहासकार आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास,' (प्रथम संस्करण, पृ. ४) के वक्तव्य में कहा था कि "अपभ्रंश की पुस्तकों में कई तो जैनों के धर्मतत्त्व निरूपण सम्बन्धी हैं जो साहित्य - कोटि में नहीं आतीं।" पर आचार्य डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ('हिन्दी साहित्य का आदिकाल', पृष्ठ ११) इस बद्धमूल दृष्टि को स्वस्थ भावना का परिचायक नहीं मानते। उन्होंने शुक्लजी के इस कथन का पुरजोर खण्डन और अपने मत का प्रतिपादन करते हुए कहा : "इधर जैन-अपभ्रंश चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है, वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय के मुहर लगाने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है।...धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्य कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जाएगा और जायसी का पदमावत साहित्य सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा" आचार्य द्विवेदी का यह मत हिन्दी जगत् में काफी स्वस्थकर माना गया। जैन ग्रन्थों के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ता ही गया। आकर्षण का कारण भी था क्योंकि जैन सन्त कवि काव्य के मर्म को भलीभाँति जानते हैं। इसलिए वे निरा उपदेश नहीं देते, दर्शन के वाग्जाल में नहीं उलझाते, धर्म का संकीर्ण रूप प्रदर्शित नहीं करते या पाठक को कोमल भावों से वंचित नहीं करते। उनकी दृष्टि उदात्त है। लक्ष्य ऊँचे हैं। भाव गहरे हैं। जीवन के प्रतिपक्ष स्वस्थकर हैं। वैराग्य का आग्रह है पर राग को जला या भस्मीभूत कर नहीं। राग के उदात्तीकरण (sublimation) पर विशेष बल दिया गया है। जीवन और जगत् की उन्मुक्त पर सात्त्विक अभिव्यक्ति को कुशलता से उकेरा गया है।

जैन काव्यधारा की इन्हीं विशिष्ट उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए प्राकृत-अपभ्रंश के अनुसन्धित्सु विद्वान् डॉ. रामसिंह तोमर ('प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव', पृष्ठ ६९) ने लिखा है : "विक्रम की आठवीं शती से लेकर सोलहवीं शती तक जैन कवियों द्वारा निर्मित अपभ्रंश साहित्य की अविच्छिन्न धारा मिलती है। इस सुदीर्घ काल में जो प्रचुर साहित्य रचा गया होगा उसका केवल एक अंश इस समय प्रकाश में आया है। धर्म और साहित्य का अद्‌भुत सफल मिश्रण जैन कवियों ने किया है। जिस समय जैन कवि काव्य रस की ओर झुकता है तो उसकी कृति सरस काव्य का रूप धारण कर लेती है और जब धर्मोपदेश का प्रसंग आता है तो वह पद्यबद्ध धर्म उपदेशात्मक कृति बन जाती है। इस उपदेश प्रधान साहित्य में भी भारतीय जीवन के एक विशेष पक्ष के दर्शन होते हैं, और इस दृष्टि से वह महत्त्वपूर्ण है।"

जैन सन्त कवियों ने प्रायः सभी प्रकार के काव्य-रूपों में रचनाएँ की हैं। चरित, पुराण, महापुराण, कहा (कथा) सन्धि, कुलक, चउपई, आराधना, रास, चाँचर, फागु, स्तुति, स्तोत्र आदि विविध काव्य-रूपों से यह साहित्य धारा सम्पन्न है। प्राचीन-अर्वाचीन काव्य-धारा के सुप्रसिद्ध एवं सुधी समीक्षक डॉ. नामवर सिंह ने इसका ऐसा मूल्यांकन

किया है जिससे इन ग्रन्थों की विश्वजनीन महत्ता स्पष्ट हो जाती है। उनके अनुसार : "इस काव्यधारा में जैन मुनियों के चिन्तन का चिन्तामणि है। यदि यह साहित्य नाना शलाकापुरुषों के उदात्त जीवन चरित से सम्पन्न है, तो सामान्य वणिक्पुत्रों के दुख-सुख की कहानी से भी परिपूर्ण है (भविसयत्त कहा)। तीर्थंकरों की भावोच्छ्वसित स्तुतियों, अनुभव भरी सूक्तियों, रहस्यमयी अनुभूतियों, वैभव-विलास की झाँकियों आदि के साथ ही उन्मुक्त वन्य जीवन की शौर्य स्नेहसिक्त गाथाओं के विविध चित्रों से अपभ्रंश साहित्य की विशाल चित्रशाला सुशोभित है।" ('हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग', पृ. १८३)। कोई भी पाठक जब इस धारा के साहित्य से परिचित होना चाहता है तो उसे उन कवियों की मणिमाला मिलती है जिसमें अमर कवियों की मणियाँ गुँथी हुई हैं। इनमें स्वयम्भू, पुष्पदन्त, धनपाल, जोइंदु (योगीन्द्र), रामसिंह, हरिभद्र, देवसेन, कनकामर, हेमचन्द्र, सोमप्रभ, जिनपद्म, जिनप्रभ, जिनदत्त, विनयचन्द्र, राजशेखर, शालिभद्र, रइधू आदि यशस्वी प्रतिभाएँ प्रसिद्ध हैं।

आचार्य मुनि विद्यासागर की अनुपम काव्य कृति 'मूकमाटी' को देखकर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त साहित्य धारा अभी अक्षुण्ण है। एक प्रकार से देखा जाय तो यह एक विशिष्ट रचना है। जैन अपभ्रंश काव्यों के सम्बन्ध में प्रायः यह मान्यता है कि इसमें जैन धर्मावलम्बी तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों आदि शलाकापुरुषों के जन्म-जन्मान्तर की ही जीवन-गाथा गाई गई है। सामान्य जन-जीवन की गाथाएँ कम ही परिलक्षित होती हैं। पर ऐसी बात नहीं है। जैन मुनियों की जितनी रचनाएँ उपलब्ध हैं, उनसे कहीं अधिक अन्धकार में अभी वेष्टनों में बन्द हैं। अभी उनको प्रकाश में आना है। पर जो प्रकाश में हैं उनमें कुछ ऐसी कृतियाँ और अभिव्यक्तियाँ हैं जिनमें सामान्य जन-जीवन की धड़कनें मार्मिकता के साथ अभिव्यक्त हैं। ऐसी कृतियों में कवि धनपाल की 'भविसयत्त कहा' (भविष्यदत्त कथा) सिरमौर है। इसमें किसी राजा या राजकुमार की कथा न होकर एक ऐसे सामान्य वणिक्पुत्र की कथा है जो अपने सौतेले भाई के द्वारा बार-बार छला जाता है। कष्ट और वेदना के सागर में डुबोया जाता है। उसके जीवन की त्रासदी बड़ी ही मार्मिक और बेधक है। स्वयं उसी के अनुसार :

"उप्पण्णउं चिरु वणिवरहं गोत्ति परिवड्ढिउ मामहं सालि पुत्ति।
वाणिज्जें गउ सव्वायरेण वंचिउ सावत्तिं भायरेण॥" (१४/२०)

और अकेले तिलकद्वीप में छोड़ दिए जाने पर व्याकुल हो अपने जीवन की निरर्थकता पर जो सोचता है, वह पंक्तियाँ हताशा से नहीं करुणा से ओतप्रोत हैं :

"ण जत्ता ण वित्तं ण मित्तं ण गेहं, ण धम्मं ण कम्मं ण जीयं ण देहं।
ण पुत्तं कलत्तं, ण इट्ठं पि दिट्ठं, गयं गयउरे दूरदेसे पइट्ठं॥" (३/२६)

सामान्य वणिक्पुत्र की यह आत्माभिव्यक्ति हमें व्यापक जीवन के सन्दर्भ से जोड़ती है। इस परिप्रेक्ष्य में 'भविसयत्त कहा' जन जीवन से जुड़ी एक महत्त्वपूर्ण रचना है।

इसी प्रकार जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरि द्वारा अपने 'सिद्ध हेमशब्दानुशासन' में संकलित एक दोहे में एक गरीब किसान की ऐसी व्यथा कथा चित्रित है जो अपने अभावों से ऐसा जूझ रहा है कि उसे हल चलाने के लिए एक जोड़ी बैल भी मयस्सर नहीं। जुए में एक तरफ उसका बैल है तो दूसरी ओर वह स्वयं। बैल इतना स्वामी भक्त है कि उसे अपने स्वामी की पीड़ा अखरने लगती है। वह अपने स्वामी के गुरुतर भार को देखकर बिसूरने लगता है। और सोचने लगता है कि मुझे ही दो खण्ड करके दोनों ओर क्यों नहीं जोत दिया जाता जिससे स्वामी का भार हलका हो जाय। इसकी वेदना प्रेमचन्द की सुप्रसिद्ध कहानी 'पूस की रात' के हल्कू और जबरा कुत्ते की वेदना से कहीं ज्यादा सार्थक एवं संवेदनशील

है।

इसी क्षीयमाण पर व्यापक सामाजिक सन्दर्भों से जुड़ने वाली काव्य-परम्परा में आचार्य विद्यासागरजी ने 'मूकमाटी' महाकाव्य की रचना कर एक सशक्त कड़ी जोड़ने का सफल प्रयास किया है। इसकी मूल विषयवस्तु मूक माटी की त्रासदिक संवेदना है। यह युग-युग की सताई, निरीह, पद दलित और पीड़ित तथा व्यथित है। मूक माटी प्रतीक है धरती के उस जीवन का जो युगों-युगों से सर्वहारा है, भूखा-प्यासा, बेजुबान है, सर्वहारा है, और शोषित है। यह प्रतीक है उस आत्मा का, जो इस दुनिया में आकर अपना रास्ता भूल गई है, दर-दर भटक रही है, मारी-मारी फिर रही है, बन्धनयुक्त हो गई है, जीवन का मूल्य और महत्ता खो बैठी है। आज जरूरत है उसे उठाने की। ओज वाणी देने की। उसे बन्धनमुक्त करने की, जिससे वह सार्थक जीवन पा सके, विशुद्धता की ओर बढ़ सके। अपना मोक्ष पा सके। अब प्रश्न यह है कि समाज का कौन सा विचार, कौन सा दर्शन, कौन सी पद्धति, कौन से लोग शिल्पी कुम्भकार बनेंगे जो मूकमाटी अर्थ च पीड़ित जन-जीवन की महत्ता को पहचानेंगे ? उसकी कुप्रवृत्तियों को कूट-छानकर दूर करेंगे। उसके वर्ण-संकर कंकर रूपी अवरोधों को हटाएँगे। उसको ऐसी प्रगतिशील विचारधारा रूपी चाक पर चढ़कर ऐसे मंगल घट का स्वरूप देंगे जो सब कुछ सहकर, रच-पककर अपना मांगलिक–सार्थक आकार ग्रहण कर सके। सन्त कवि का लक्ष्य है जन जीवन का जागरण, मूक-बद्धमूल आत्मा की जागृति, विशुद्धि और सार्थकता।

इस प्रकार धर्म की ज्योति में लोक जीवन की निर्मिति, सार्थकता और मुक्ति इस काव्यग्रन्थ का अभीष्ट है। लोक और धर्म का समन्वय इसकी विशेषता है। उदाहरणस्वरूप जीवन की सार्थकता चलने में है, बहने में है एवं गतिशील बनने में है–'चरैवेति चरैवेति।' सूर्य, चन्द्र, पवन, सरिता का जीवन ऐसा ही है। कवि के शब्दों में :

"मन्द-मन्द/सुगन्ध पवन/बह रहा है;/बहना ही जीवन है।" (पृ. २)

जीवन की सार्थकता के लिए सत्संगति की महिमा सर्वत्र गाई गई है– 'बिनु सतसंग विवेक न होई।' कवि भी कहता है :

"जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है/मति जैसी, अग्रिम गति
मिलती जाती···मिलती जाती···।" (पृ. ८)

फिर इसे लेकर प्रयत्न करना है। आगे बढ़ना है। निर्भय बनना है। आलस्य छोड़ना है। कवि कहता है :

"आयास से डरना नहीं/आलस्य करना नहीं ।" (पृ. ११)

जीवन में साधना-स्खलित होना नहीं, क्योंकि साधना, गति या प्रगति के भाव के अभाव में कोई भी आशा फलवती नहीं होती। जीवन सार्थक नहीं बनता। कवि की उद्‌बोधन भरी उक्तियाँ हैं :

"कभी-कभी/गति या प्रगति के अभाव में/आशा के पद ठण्डे पड़ते हैं,
धृति, साहस, उत्साह भी/आह भरते हैं,/मन खिन्न होता है/किन्तु
यह सब आस्थावान् पुरुष को/अभिशाप नहीं है,/वरन्/वरदान ही सिद्ध होते हैं
जो यमी, दमी/हरदम उद्यमी है।" (पृ. १३)

और लगातार प्रयास, प्रयत्न पर प्रयत्न तथा सती-सन्तजनों के निर्देश तथा उनकी आज्ञा पालन से ही कार्य की सिद्धि होती है। कवि के शब्दों में :

"समुचित मन्थन हो/नवनीत का लाभ अवश्य होता है।
... संघर्षमय जीवन का उपसंहार/...टालने में नहीं/सती-सन्तों की
आज्ञा पालने में ही/'पूत का लक्षण पालने में'/यह सूक्ति
चरितार्थ होती है, बेटा !" (पृ. १४)

व्यक्ति या समाज के बदलाव या निर्माण की प्रक्रिया में उत्प्रेरक, उद्‌बोधक शक्तियों का बड़ा हाथ होता है। धर्म, कर्म, ईश्वर, गुरु, दीपक, चन्द्र एवं सूर्य आदि ऐसे ही तत्त्व हैं। इनसे मिली प्रेरणाओं से जीवन का निर्माण होता है। भाग्य बनता है। ये तत्त्व कुम्भकार की भूमिका निभाते हैं, क्योंकि कवि के शब्दों में :

"यहाँ पर जो/भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।
...शिल्पी का नाम/कुम्भकार हुआ है।" (पृ. २८)

सन्त-कवि अपने काव्य 'मूकमाटी' में गरीबों के दुःख-दर्द के प्रति अधिक संवेदनशील है :

"अमीरों की नहीं/गरीबों की बात है;/कोठी की नहीं/कुटिया की बात है
जो वर्षा-काल में/थोड़ी-सी वर्षा में/टप-टप करती है/और
उस टपकाव से/धरती में छेद पड़ते हैं,/फिर''' तो'''/इस जीवन-भर
रोना ही रोना हुआ है/दीन-हीन इन आँखों से/धाराप्रवाह'''/अश्रु-धारा बह
इन गालों पर पड़ी है।" (पृ. ३२-३३)

जीवन में उदात्त भावनाओं का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। उनसे जीवन सार्थक बनता है। वह मोक्ष का द्वार खोलता है। कवि के शब्दों में :

"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है—
एक जीवन को बुरी तरह/जलाती है'''/भयंकर है, अंगार है !
एक जीवन को पूरी तरह/जिलाती है'''/शुभंकर है, शृंगार है।" (पृ. ३८)

और :

"करुणा की कर्णिका से/अविरल झरती है/समता की सौरभ-सुगन्ध।" (पृ. ३९)

कवि के शिल्प की कसौटी है- मृदु माटी से- छोटी-छोटी जातियों से प्रेम करना, उन्हें ऊँचा उठाना :

"मृदु माटी से/लघु जाति से/मेरा यह शिल्प/निखरता है/और
खर-काठी से/गुरु जाति से/वह अविलम्ब/बिखरता है।" (पृ. ४५)

संयम और तपस्या धर्म की सीढ़ियाँ हैं। इनके बिना कोई भी उपलब्धि सम्भव नहीं। कवि इनकी महत्ता को खूब पहचानता है। मिट्टी अपनी संयमित अवस्थिति से ही सर्वसहा बनकर दूसरों को भी उसी राह चलने के लिए प्रेरित करती है। उसी के शब्दों में :

"संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है,
स्वयं राही शब्द ही/विलोम-रूप से कह रहा है—/रा'''ही'''ही'''रा

और/इतना कठोर बनना होगा/कि/तन और मन को/तप की आग में
तपा-तपा कर/जला-जला कर/राख करना होगा
यतना घोर करना होगा/तभी कहीं चेतन–आत्मा/खरा उतरेगा।
खरा शब्द भी स्वयं/विलोम-रूप से कह रहा है–/राख बने बिना
खरा-दर्शन कहाँ ?/रा···ख···ख···रा।" (पृ. ५६)

'अहिंसा' धर्म तो जीवन का सार है। यह सामाजिक जीवन का सर्वाधिक स्वस्थ दार्शनिक पक्ष है। किसी के प्रति भी दुर्भावना न रखना ही अहिंसा है। अहिंसा जैन धर्म और साहित्य की विजय पताका है। इसकी साधना का अर्थ है–अपने भीतर से हर प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों को निकाल बाहर करना। सब प्राणियों के प्रति प्रेम रखना इसका ऊँचा आदर्श है। जहाँ अहिंसा नहीं, वहाँ शान्ति कदापि स्थापित नहीं हो सकती। सन्त कवि इस धर्मतत्त्व को इतना जीवन्त मानता है कि इसे उपास्य देवता के रूप में सम्बोधित करता है। कवि के शब्दों में :

"हमारी उपास्य-देवता/अहिंसा है/और/जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है
वहाँ निश्चित ही/हिंसा छलती है।/अर्थ यह हुआ कि
ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है/और/निर्ग्रन्थ-दशा में ही
अहिंसा पलती है,/पल-पल पनपती,/···बल पाती है।" (पृ. ६४)

कवि की दृष्टि बड़ी ही पैनी है। वह जानता है कि अहिंसा से ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उच्च भाव मन में बनता है। पर ऐसे धनलोभी लोगों के लिए, जिन्हें धन ही कुटुम्ब बन गया है, करारा व्यंग्य कसता है :

" "वसुधैव कुटुम्बकम्"/इसका आधुनिकीकरण हुआ है
वसु यानी धन-द्रव्य/धा यानी धारण करना/आज/धन ही कुटुम्ब बन गया है
धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

कवि के अनुसार साहित्य का उद्देश्य सार्थक जीवन का निर्माण है। साहित्य सामाजिक हित की भावना लिए हुए है। आज के साहित्य-चिन्तकों की मान्यता है कि बिना सामाजिक हित के कोई भी साहित्य सही मायने में साहित्य नहीं कहला सकता। 'मूकमाटी' के सर्जक की भी ऐसी ही मान्यता है। इस सम्बन्ध में कतिपय पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

"हित से जो युक्त–समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव–सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!
इसे, यूँ भी कहा जा सकता है/कि/शान्ति का श्वास लेता
सार्थक जीवन ही/सृष्टा है शाश्वत साहित्य का।
इस साहित्य को/आँखें भी पढ़ सकती हैं/कान भी सुन सकते हैं
इस की सेवा हाथ भी कर सकते हैं/यह साहित्य जीवन्त है ना!" (पृ. १११)

कवि की यही साहित्यिक चेतना जब वेतनभोगी नौकरशाहों, सुविधाभोगी राजनीतिज्ञों और जन-जीवन से कटे बुद्धिजीवियों की ओर जाती है तो वह सिहर उठता है और पुकार कर कहता है कि बिना त्याग, मरण-वरण और धर्म का ध्वज फहराए धरती सानन्द, सुखमय जीवन व्यतीत नहीं कर सकती। कवि के शब्दों में :

"चेतन वाले वतन की ओर/कम ध्यान दे पाते हैं/और
चेतन वाले तन की ओर/कब ध्यान दे पाते हैं ?/इसीलिए तो···
राजा का मरण वह/रण में हुआ करता है/प्रजा का रक्षण करते हुए,/और
महाराज का मरण वह/वन में हुआ करता है/ध्वजा का रक्षण करते हुए
जिस ध्वजा की छाँव में/सारी धरती जीवित है
सानन्द सुखमय श्वास स्वीकारती हुई !" (पृ. १२३)

जीवन को स्वस्थकर बनाने के लिए कवि द्वारा प्रयुक्त अनुभवजन्य सूक्तियाँ उसके लोकजीवन से सम्पृक्त होने की सूचक हैं। उदाहरणार्थ :

"आधा भोजन कीजिए/दुगुणा पानी पीव।
तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव !" (पृ. १३३)

इसी प्रकार :

"आमद कम खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का
कूबत कम गुस्सा ज्यादा/लक्षण है पिट जाने का।" (पृ. १३५)

आज का जीवन विज्ञान प्रेरित हो गया है। सर्वत्र अस्त्रों-शस्त्रों की होड़ लगी है। शीत युद्ध की सरगर्मी सर्वत्र व्याप्त है। परमाणु बमों से पृथ्वी के मिट जाने का खतरा सिर पर मण्डरा रहा है। अनेक प्रकार की स्वार्थपरक, भेदपरक, साम्प्रदायिक, आतंकवादी एवं विध्वंसक गतिविधियाँ चल रही हैं। ऐसी भयावह स्थिति में कवि की निम्न उत्प्रेरक पंक्तियाँ जीवन, जो रण बना हुआ है, उसमें अमृत रस घोलने का काम करती हैं :

"सदय बनो !/अदय पर दया करो/अभय बनो !/सभय पर किया करो
अभय की अमृत-मय वृष्टि/सदा सदा सदाशय दृष्टि
रे जिया, समष्टि जिया करो !/जीवन को मत रण बनाओ
प्रकृति माँ का ऋण चुकाओ !/अपना ही न अंकन हो/पर का भी मूल्यांकन हो,
पर, इस बात पर भी ध्यान रहे/पर की कभी न वांछन हो
पर पर कभी न लांछन हो !/जीवन को मत रण बनाओ
प्रकृति माँ का न मन दुखाओ !" (पृ. १४९)

गीतमय शैली में सृजित सन्त कवि की ये मार्मिक पंक्तियाँ बरबस श्री जयशंकर प्रसादजी की 'कामायनी' की इन पंक्तियों की ओर ध्यान आकर्षित कर देती हैं :

"तुमुल कोलाहल कलह में/मैं हृदय की बात रे मन !
विकल होकर नित्य चंचल/खोजती जब नींद के पल

चेतना थक-सी रही तब/मैं मलय की बात रे मन।"

'मूकमाटी' का सर्जक जीवन-संघर्षों से अपरिचित नहीं है। अपितु वह भलीभाँति जानता है कि संघर्ष ही जीवन है। जीवन का 'होना' कभी मिट नहीं सकता। पर उसे आश्चर्य इस बात का है कि मनुष्य इस जीवन को सही ढंग से क्यों नहीं जीता ? वह उलटी रीति और जोंक की गति से क्यों चलता है ? सर के बल भागने की चेष्टा क्यों कर रहा है ? वह भी तब, जबकि मनुष्य के पास शलाका पुरुषों, महान् विभूतियों द्वारा प्रदर्शित पावन पथ है। कवि के शब्दों में :

- *"होने का मिटना सम्भव नहीं है, बेटा !/होना ही संघर्ष-समर का मीत है*
  होना ही हर्ष का अमर गीत है।" (पृ. १५०)
- *"सर के बल पर क्यों चल रहा है,/ आज का मानव ?*
  इस के चरण अचल को चुके हैं माँ !/आदिम ब्रह्मा आदिम तीर्थंकर
  आदिनाथ से प्रदर्शित पथ का/आज अभाव नहीं है माँ !/परन्तु,
  उस पावन पथ पर/दूब उग आई है खूब !/वर्षा के कारण नहीं,
  चारित्र से दूर रह कर/केवल कथनी में करुणा रस घोल
  धर्मामृत-वर्षा करने वालों की/भीड़ के कारण !" (पृ. १५१-१५२)

कवि की दृष्टि में, उदात्त मूल्यों को बिना अपनाए जीवन में समरसता लाना असम्भव है। 'मूकमाटी' के पात्र, चाहे मूकमाटी हो या कुम्भकार शिल्पी अथवा मंगल घट, सभी की अभिव्यक्तियों में उदात्त भावों और पावन मानव मूल्यों की छाया देखी जा सकती है। साक्षी कवि की :

- *"सर्व-सहा होना ही/सर्वस्व को पाना है जीवन में*
  सन्तों का पथ यही गाता है।" (पृ. १९०)
- *"जीवन का मुण्डन न हो/सुख-शान्ति का मण्डन हो,/इन की मूर्च्छा दूर हो*
  बाहरी भी, भीतरी भी/इन में ऊर्जा का पूर हो।" (पृ. २१४)
- *"अब घन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो।" (पृ. ४६७)*

और माटी, पानी एवं हवा को स्वस्थ बनाने की चेष्टा करना, मात्र वातावरण की शुद्धि नहीं, अपितु स्वस्थ समाज का निर्माण है :

"माटी, पानी और हवा/सौ रोगों की एक दवा।" (पृ. ३९९)

कवि की यह सूक्ति यह सिद्ध करती है कि समाज में फैली अराजकता, अत्याचार, भ्रष्टाचार, शोषण और विभिन्न प्रकार के उन्मादी रोगों का शमन, चित्त की शुद्धि, सचेतन प्रयास, वातावरण के निर्मलीकरण, जीव और आत्मा के उदात्तीकरण से ही सम्भव हो सकता है। इस प्रकार 'मूकमाटी' धरती को स्वर्ग बनाने अथवा स्वर्ग को धरती पर लाने की चेष्टा करने वाला अद्भुत महाकाव्य है। महावाराह की तरह इस मूकमाटी रूपी पृथ्वी का उद्धार, लोक जीवन का परिष्कार, बाह्य एवं आभ्यन्तरिक वातावरण की परिशुद्धि एवं सानन्द तथा सार्थक जीवन की कल्पना इसके महत् उद्देश्य हैं। अथवा, यह पावन उद्देश्य से पूरित वह महाकाव्य है जिसमें भाषा की परिपक्वता है, शैली की रोचकता है और धर्म तथा लोक जीवन के समन्वय का सार्थक प्रयास है।

□

शाश्वत सत्य की काव्यात्मक अभिव्यक्ति : 'मूकमाटी'

डॉ. एच. एन. मिश्र

भारतीय संस्कृति अनवरत रूप से चली आ रही दो भिन्न परम्पराओं– वैदिक परम्परा एवं श्रमण परम्परा का मिश्रित रूप है। कतिपय भिन्नताओं के होते हुए भी इन परम्पराओं का अन्तिम लक्ष्य एक ही है–इस संसार-चक्र से मुक्ति। सांसारिक दु:खों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए दोनों परम्पराओं में मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास किया गया है। भौतिकता से छुटकारा पाकर इस जीवन को दिव्य बनाना ही हमारा परम धर्म है। अत: जब कोई विचारक मनु के इस वाक्य 'नास्तिको वेदनिन्दक:' का अक्षरश: अनुसरण करके जैन धर्म को नास्तिक कहता है तो वह अपने विचारों में संकीर्णता का परिचय देता है। दृष्टि में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद, आचरण में अहिंसा एवं व्यवहार में अपरिग्रह का जो उपदेश देता हो, उसे नास्तिक कहना वैचारिक दिवालियापन का ही परिणाम कहा जा सकता है। जैन - धर्म द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को न स्वीकार करने के कारण भी कुछ विचारक इसे नास्तिक दर्शन की संज्ञा देते हैं। प्रश्न यह है कि ईश्वर के अस्तित्व को क्यों स्वीकार किया जाय ? विश्व की वैचारिक परम्पराओं का सूक्ष्म अवलोकन हमें इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि ईश्वर के अस्तित्व को विचारकों ने मुख्य रूप से दो ही उद्देश्यों के लिए स्वीकार किया है– विश्व की रचना एवं मनुष्य के भले-बुरे कर्मों का फल देकर उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करना। जैन विचारकों के अनुसार यदि ईश्वर को इस विश्व का रचनाकार मान लिया जाता है तो वह उन्हीं दोषों का भागीदार होगा जो मनुष्य पर आरोपित किए जाते हैं। इस अशुभ से युक्त विश्व की रचना करने वाला शुभ रूप किस प्रकार माना जाय ?

जैन विचारकों ने मनुष्य को जो आत्मनिर्भरता एवं आत्मसम्मान की रक्षा सिखलाई वह अन्य दर्शन पद्धतियों में देखने को नहीं मिलती। अपने जीवन को सुधारने एवं मुक्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को न ईश्वर की कृपा की आवश्यकता है, न उसका बेटा बनने की और न उसका बंदा बनकर एक नौकर की भाँति उसकी सेवा करना आवश्यक है। यद्यपि महात्मा बुद्ध ने यह कहा था कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी मुक्ति स्वयं प्राप्त करनी है किन्तु उनके अनुयायियों ने उन्हें बोधिसत्व के रूप में स्थापित करके, उसके द्वारा ही समस्त प्राणियों की मुक्ति की कामना की, क्योंकि उनकी मान्यता है कि बोधिसत्व अपने को तब तक मुक्त नहीं समझता जब तक संसार के सभी प्राणियों को मुक्ति नहीं मिल जाती। अत: महात्मा बुद्ध ने जिस मनुष्य को 'अप्पदीवो भव' की सलाह दी थी, उसी को उनके अनुयायियों ने परमुखापेक्षी बना डाला। जैन-धर्म प्रवर्तकों–तीर्थंकरों ने मनुष्य को कभी भी यह नहीं कहा कि वे उसको मुक्ति दिलवाएँगे। उन्होंने हमारे सामने उदाहरण प्रस्तुत करके हमें आत्मसम्मान के साथ जीना सिखलाया। मनुष्य स्वयं ही अपना भाग्य विधाता है। वह अपने प्रयासों के फलस्वरूप ही सांसारिक दु:खों से छूटेगा। वह स्वयं सक्षम है उस लक्ष्य को प्राप्त करने में जो उसके जीवन का चरम आदर्श है। अपने प्रयासों को सफल बनाने में उसे 'ईश्वरप्रणिधानम्' की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य ईश्वर का दास नहीं है। वह अपने में निहित शक्तियों का विकास करके स्वयं ईश्वर का दर्जा प्राप्त कर सकता है। यह है मनुष्य के आत्मसम्मान की कहानी, जिसे जैन मुनि कहते ही नहीं हैं, वरन् स्वयं जीते भी हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन, केवल दर्शन नहीं है, वह जीवन दर्शन है।

प्रस्तुत कृति 'मूकमाटी' में आचार्य विद्यासागरजी ने मानव जीवन के प्रति जैन चिन्तन को केवल अभिव्यक्ति ही नहीं दी है वरन् इस मानववादी चिन्तन में निहित सत्यों की व्याख्या मौलिक ढंग से करने का प्रयास किया है। आचार्य जी ने इस मौलिकता को शब्दजाल में न फँसाकर सरल एवं हृदयग्राही ढंग से प्रस्तुत किया है। चार खण्डों में विभाजित एवं ४८८ पृष्ठों में समाहित यह महाकाव्य रचनाकार की अद्‌भुत कल्पना एवं सृजनशीलता का परिणाम है। जैन -

चिन्तन के मूलभूत सिद्धान्तों से परिचित व्यक्ति जब इस काव्य-कृति का अध्ययन करता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह उन सभी सत्यों का साक्षात्कार कर रहा है जो तीर्थंकरों की अनुपम देन है। जैसा कि हम सभी जानते हैं कि जैन चिन्तन शुद्ध तर्क पर आधारित सूक्ष्म सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन ही नहीं है वरन् यह मानव जीवन के शोधन की प्रक्रिया को भी प्रस्तुत करता है। जीवन की इस शोधन प्रक्रिया को आचार्यजी ने माटी के रूपक से भली-भाँति प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के विकारों से युक्त माटी मंगल घट को उत्पन्न नहीं कर सकती, उसी प्रकार कर्म पुद्गल से लिप्त जीव मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। माटी को मंगल घट के रूप में लाने के लिए उसे साफ़ किया जाता है, उसमें मिले हुए कंकरों को दूर किया जाता है, उसका इस हद तक शोधन किया जाता है कि वह साफ़ एवं निर्मल होकर अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेती है और तभी वह मंगल घट को जन्म देने में समर्थ होती है। इसी प्रकार आस्रव के कारण बन्धन में पड़ा जीव जब संवर एवं निर्जरा के द्वारा आत्मा में लिपटे कर्म पुद्गलों को दूर करता है, तभी जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है। इस अवस्था को ही जैन विचारकों ने मोक्ष अथवा कैवल्य की संज्ञा दी है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस महाकाव्य में आचार्यजी ने कर्म पुद्गल से लिप्त आत्मा के शोधन की प्रक्रिया की विभिन्न मंज़िलों को सफलतापूर्वक दर्शाया है।

मैं साहित्य का विद्यार्थी नहीं रहा। इसीलिए इस महाकाव्य की साहित्यिक विशेषताओं के सम्बन्ध में कुछ कहना अनधिकार चेष्टा होगी, किन्तु मैं यह जानता हूँ कि जो साहित्य जीवन दर्शन को प्रतिपादित नहीं करता, वह सही साहित्य नहीं है, क्योंकि वह अस्थायी होता है। इस कालक्रम में वही साहित्य टिकता है जो किसी जीवन दर्शन का प्रणेता हो। तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' इसीलिए टिक सकी, क्योंकि उसमें एक प्रकार का जीवन दर्शन प्रतिपादित है। सही साहित्य वही है, जिसे केवल पढ़ा और समझा ही न जाय वरन् उसे जिया भी जाय। यह निर्विवाद है कि आज भी भारतीय समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति मिल जाएँगे जो 'रामचरितमानस' को जीने का प्रयास करते हैं। मुझे यह कहने में गर्व का अनुभव हो रहा है कि आचार्य विद्यासागरजी का यह महाकाव्य एक जीवन दर्शन देने का प्रयास है। यह जिया जा सकता है। इस प्रकार की साहित्य रचना के लिए मानव समाज सदैव उनका ऋणी रहेगा। आचार्यजी की साहित्य सम्बन्धी अवधारणा भी यही है। उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ उनके साहित्य सम्बन्धी मन्तव्य को स्पष्ट करती हैं :

"हित से जो युक्त—समन्वित होता है/वह सहित माना है
और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव—सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!" (पृ. १११)

मेरी मान्यता है कि सच्चा साहित्यकार एवं सच्चा दार्शनिक त्रिकालदर्शी होता है। वह किसी एक काल और एक देश का नहीं होता है। उसकी दृष्टि अनन्त से जुड़ी होती है। एक वैज्ञानिक एवं एक साहित्यकार में भेद यही है कि साहित्यकार की दृष्टि अनन्त से जुड़ी रहती है जबकि वैज्ञानिक केवल सान्त से जुड़ा होता है। इसीलिए साहित्यकार की रचना अनूठी होती है, उसकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती, उसका सृजन कोई अन्य नहीं कर सकता, जबकि वैज्ञानिक की खोज किसी व्यक्ति विशेष से जुड़ी नहीं होती। उदाहरण के लिए यदि कालीदास न होता तो 'मेघदूत' न लिखा जाता और यदि शेक्सपियर न होता तो 'हेमलेट' की रचना सम्भव नहीं होती, किन्तु यदि न्यूटन एवं आइंसटीन न भी होते तब भी गुरुत्वाकर्षण एवं सापेक्षता के सिद्धान्तों की खोज होती, तब न होती तो दस वर्ष बाद सम्भव अवश्य होती।

निस्सन्देह आचार्यजी एक सच्चे साहित्यकार हैं। वे दार्शनिक भी हैं। अतः साहित्यकार एवं दार्शनिक की यह मिश्रित दृष्टि त्रिकालदर्शी तो है ही, साथ ही इसमें भारतीय संस्कृति की सही झलक मिलती है। उपर्युक्त दोनों दृष्टियों के मिश्रण से ही यह अनुपम कृति सम्भव हो सकी है, ऐसा मेरा विश्वास है। यहाँ पर कतिपय विद्वान् यह प्रश्न उठा सकते हैं कि आचार्यजी ने तो एक महाकाव्य प्रस्तुत किया है, कोई दर्शन पद्धति नहीं। इस सम्बन्ध में मेरा विनम्र निवेदन है, और जैसा कि ऊपर कहा भी है, साहित्यकार एवं दार्शनिक की दृष्टि समान होती है, भेद केवल अभिव्यक्ति में होता है। शाश्वत सत्यों की व्याख्या एवं अभिव्यक्ति तो देश एवं काल के साथ भी भिन्न-भिन्न होती है। आचार्यजी ने उन शाश्वत सत्यों की अभिव्यक्ति काव्यात्मक भाषा में की है जिसके आधार पर इस समस्त समाज की भीति निर्मित हुई है और जिनमें मानव कल्याण निहित है।

मेरे विचार से यह ग्रन्थ 'मूकमाटी' केवल साहित्य का ही ग्रन्थ नहीं है। इसमें आज के पीड़ित जनमानस के लिए एक गहरा सन्देश दिया गया है। वर्ण-लाभ अर्थात् अपने सही रूप को प्राप्त करना ही मानव जीवन का लक्ष्य है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में संकर-दोष अर्थात् विकृति आ गई है, उसे दूर करना होगा। आचार्यजी की अभिलाषा है कि सभी जन विकृतियों को दूर कर वर्ण-लाभ करें। इस कृति के द्वारा आचार्यजी कह रहे हैं कि अपने आपको सुधारो, भोग से हटकर योग को अपनाओ। इसी में तुम्हारा कल्याण है, अन्यथा सर्वनाश। यह श्रमण परम्परा को नवजीवन प्रदान करने का अद्भुत प्रयास है।

जहाँ तक इस महाकाव्य की भाषा का सम्बन्ध है, मैं यह कह सकता हूँ कि इसकी भाषा सरल एवं भावों से भरी हुई है। यह हमारे बोलचाल की भाषा है। स्थान-स्थान पर लोक प्रचलित मुहावरों एवं कहावतों का प्रयोग भावों की अभिव्यक्ति को सर्वग्राही बनाता है। देखिए इसका उदाहरण :

"और सुनो ! / यह सूक्ति सुनी नहीं क्या !
'आमद कम खर्चा ज्यादा / लक्षण है मिट जाने का
कूबत कम गुस्सा ज्यादा / लक्षण है पिट जाने का'।" (पृ.१३५)

सारांश में कहा जा सकता है कि 'मूकमाटी' एक काव्य कृति ही नहीं है, इसमें एक जीवन दर्शन है। विकृतियों से भरे समाज में यह ग्रन्थ विद्वज्जन एवं सामान्य मनुष्य दोनों के लिए लाभकारी है।

□



पृष्ठ ३०९
फिर बायें हाथ में कुम्भ
लेकर,---- प्रायः रस्सी
पर टिकता है।

माटी और जीवन यथार्थ से जुड़ी कविताओं का महाकाव्य : 'मूकमाटी'

डॉ. हौसिला प्रसाद सिंह

आज के अनास्थावादी युग में धर्म-दर्शन और अध्यात्म की विचार सरणि को जहाँ एक ओर मानव समाज और जीवन ने पूरी तरह से नकार दिया है वहाँ विश्व की सामान्य जनता को पुनः नए सिरे से इस ओर आकृष्ट करके उसकी यथार्थता का परिज्ञान कराना एक युगान्तकारी घटना है। आचार्य श्री विद्यासागरजी का महाकाव्य 'मूकमाटी' इसी युगान्तकारी घटना का प्रतिरूप है, जिसमें उन्होंने इस घटना को माटी और शिल्पी की सांगरूपकता द्वारा अभिव्यंजित किया है। यह घटना आज के समकालीन व्यक्ति-चरित्रों के भीतर परत-दर-परत रूप में छिपी हुई कुण्ठित और जर्जरित चेतनाओं, विचारों, संवेदनाओं और मूल्यों की यथार्थता को जिस रूप में सम्प्रेषित करती है, वह सराहनीय अवश्य है। आज के मनुष्य का जीवन व्यस्तताओं का पुंज बना हुआ है। उसके पास रचना के लिए समय नहीं है। यदि इस व्यस्त जीवन में से मनुष्य कुछ समय निकाल भी लेता है तो उसका उपयोग वह किन सन्दर्भों-अर्थों के लिए करता है, यह एक विचारणीय बिन्दु है। इस समय का उपयोग यदि व्यक्ति लोककल्याण के लिए करता है तो उससे श्रेयस्कर व्यक्ति कोई नहीं हो सकता। आचार्यजी एक ऐसे ही लोककल्याणी व्यक्ति और मुनि हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन लोककल्याण की भावना से अभिभूत है। लोककल्याणी व्यक्ति वह होता है जिसे सामान्यजन की विशेष चिन्ता रहती है। आचार्यजी इसी के प्रतिरूप हैं। उनका 'मूकमाटी' एक महाकाव्य है। इसमें कुल चार खण्ड हैं जो माटी रूपी जीव के जीवन के चार प्रस्थानों की कथा कह डालते हैं। वे उस जीव की कथा को महत्त्व नहीं देते हैं जिनके पास अपार धनराशि है। वे उस जीव की कथा को सामने रखते हैं जिसे लोग 'सामान्यजन' कहते हैं। इस सामान्यजन को आज भी उच्चवर्गीय लोक अकिंचन, तुच्छ, पद दलित और अस्पृश्य मानते हैं। यही पद दलित और सर्वहारावर्ग इस 'मूकमाटी' की प्रमुख पात्र है। आज की विकासात्मक स्थिति में भी यह वर्ग उतना ही शोषित है जितना इसके पूर्व समय में था। प्रश्न उठता है कि क्या अब भी उसको मुक्ति मिल सकती है ? रचनाकार इसका समाधान खोजता है। वर्ण, वर्ग, जाति, सम्प्रदाय, धर्म, भाषा, प्रान्त और देश के भेद हमने बनाए हैं। यह जीव संसारी मनुष्यों की विकृतिप्रधान चेतना की उपज है। माटी इसी चेतना की प्रतीक है।

'मूकमाटी' एक पुनर्जागरण चेतना से युक्त महाकाव्य है जो अपने विस्तृत फलक के भीतर उन मानवीय चेतनाओं को संगुम्फित किए हुए है जिसकी डोर पकड़कर सामान्यजन अपनी मुक्तिकामी चेतना को आज भी निरन्तर विकसित कर सकता है। यहाँ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रचनाकार जिस सामान्यजन को अपनी रचनाधर्मिता का अंग बनाना चाहता है उसका जुड़ाव इसी माटी और माटी से जुड़ी धरती या लोक से है। वह माटी की मुक्तिकामना को सामान्यजन की मुक्तिकामना से जोड़कर देखता है। वह माटी की विवशता, दुःखमयता और दयनीयता को सामान्यजन की विवशता, दुःखमयता और दयनीयता मानता है। उसके लिए जो माटी की छटपटाहट और पीड़ा है वही सामान्यजन की पीड़ा लगने लगती है। इस पीड़ा की प्राप्ति जागरण के अभाव में ही होती है। रचनाकार सामान्यजन की इस पीड़ा से क्षुब्ध होता है और उसका उपाय ढूँढ़ता है और निष्कर्ष निकालता है कि धर्म, दर्शन और अध्यात्म ही वह वस्तु है जो सामान्यजन में विवेक उत्पन्न कर सकता है। यही विवेक सामान्यजन की मुक्ति का उपाय बन सकता है बशर्ते उसका जुड़ाव और लगाव धर्म, दर्शन और अध्यात्म से हो। एक बात और है कि रचनाकार का मुख्य सरोकार केवल धर्म-दर्शन और अध्यात्म की महत्ता का प्रतिपादन करना ही नहीं है वरन् उसके माध्यम से व्यक्ति-चरित्र की उन न्यूनताओं की ओर संकेतित भी करना है जिसके कारण आज भी सामान्यजन या दलितजन परतन्त्रता की मुक्तिकामी चेतना से स्वयं को

नहीं जोड़ पा रहा है। वह परतन्त्रता की चेतना को विस्तारित करने वाली साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी, पूँजीवादी और उपभोक्तावादी देशों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक काली करतूतों की पोल खोलने में नहीं हिचकिचाता, क्योंकि इन्हीं करतूतों की जानकारी से सामान्यजन में जागृति आ सकती है, ऐसा उसका विश्वास है।

'मूकमाटी' एक प्रासंगिक महाकाव्य है। इसका जुड़ाव मानवीय चेतना से है। यह महाकाव्य परम्परागत परिभाषा के चौखटे में भले ही फिट न हो, पर उदात्त वस्तुमयता और काव्यमयता की सांगरूपकता, व्यक्ति जीवन की अनुभूतिमयता, मुक्तछन्द की प्रवाहमयता, चेतना की अन्तरंगता तथा आधुनिक जीवन सन्दर्भों की यथार्थता को जिन विभिन्न समकालीन परिदृश्यों और परिवेशों में आकलित किया गया है, वह महाकाव्य की गरिमा और गौरव को अनचाहे में ही बढ़ाता है। रचनाकार इस महाकाव्य के आरम्भिक सूत्रों को जिन विभिन्न प्राकृतिक दृश्य-विधानों के माध्यम से उकेरता है, उनमें केवल प्राकृतिक परिदृश्य ही नहीं है; उनमें छिपा है एक वेदना का मानवीय संसार, जिसे वह माटी की सांगरूपकता द्वारा अभिव्यक्त करता है। माटी व्यक्ति, मानव, जीव तथा प्राणी का प्रतीक है। माटी धरती से अलग नहीं है, वह उसी का अंश मात्र है। धरती उसकी माँ है और वह है उसकी बेटी। शिल्पकार उसका पिता है। जीव संसार में आते ही अपने उत्तम गुणों को क्योंकर विस्मृत कर देता है, इसका गोस्वामी तुलसीदास उत्तर देते हैं : *''विविध कर्म गुन काल स्वभाऊ। ये चातक मन बुझउ न काऊ।''* स्पष्ट है कि जीव अपने आपको सांसारिक कर्मों में इतना उलझा लेता है कि वह अपनी गुणधर्मिता को भी भूल जाता है। गुणधर्मिता के विस्मरण से ही उसमें अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। यही विकार माटी के विकार भी बन जाते हैं। माटी विविध पहाड़ों, पठारों और मैदानों के आतप-ताप को सहते हुए नदियों के द्वारा संगृहीत की जाती है जिससे उसमें वर्णसंकरता आ जाती है। यही वर्णसंकरता उसकी विकृति का प्रमुख कारण है। जीव की भी यही गति है। संसार के मायावी प्रभाव से उसमें भी विकृति और वर्णसंकरता आ जाती है। दुःख, करुणा या वेदना इसी विकृति और वर्णसंकरता की देन है।

शिल्पी यानी कुम्भकार जैसे माटी की विकृतता और वर्णसंकरता को समाप्त कर उसे मंगलमय घट में रूपान्तरित कर देता है वैसे ही समाज में अनेक साधु, सन्त, मुनि और ऋषि विद्यमान हैं जो सांसारिक जीवों को अपने सार्थक उपदेशों से उन्हें सत्कर्मों की राह पर लाकर परिष्कृत और संस्कारित कर सकते हैं। लोकमंगल चेतना का विकास सत्कर्मों के अभाव में असम्भव है। धर्म, दर्शन और अध्यात्म जीवों को सत्कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। कर्म ही प्रमुख सरोकार है जिससे सुख और शान्ति प्राप्त की जा सकती है। यह विश्व कर्म की ही परिणति है। कर्म के दो भेद हैं—अच्छा (सत्कर्म) और बुरा (कुकर्म)। कुकर्म करके ही यह माटी रूपी जीव काम, क्रोध, मद, लोभ, गर्व इत्यादि में फँस जाता है और सुकर्म (सत्कर्म) करके वह इन सभी से छुटकारा प्राप्त करता है। इन पाँच शत्रुओं से छुटकारा पाने पर ही उसकी दृष्टि लोककल्याणकारी हो उठती है। इसीलिए माटी रूपी जीव अपनी माँ धरती से, जो उसकी पथ-प्रदर्शिका भी है, पद, पथ और पाथेय की माँग करती है :

''सरिता-तट की माटी/अपना हृदय खोलती है/माँ धरती के सम्मुख !
...पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ !'' (पृ. ४-५)

यही माटी जीव भी है, नायिका भी है, प्रेमिका भी है, नारी भी है, प्रकृति भी है और कुम्भकार रचयिता है, नायक भी है, प्रेमी भी है, नर भी है, पुरुष भी है। तभी तो वह माटी की वर्णसंकरता और विकृतियों को नष्ट कर मंगलमयी कुम्भ को गढ़ता है और कुम्भकार कहलाता है :

''वह एक कुशल शिल्पी है !/उसका शिल्प/कण-कण के रूप में

बिखरी माटी को/नाना रूप प्रदान करता है
... शिल्पी का नाम/कुम्भकार हुआ है।" (पृ. २७-२८)

'मूकमाटी' आधुनिक भावबोध से सम्बन्धित एक राष्ट्रीय चेतना का काव्य है। आधुनिक युग के मानव-समाज और जीवन में अनास्था का भाव एक संक्रामक रोग बनकर फैला है। यह रोग मनुष्य मात्र को जड़ीभूत बनाए हुए है। उसमें सोचने और समझने का माद्दा नहीं रह गया है कि क्या करणीय है और क्या अकरणीय। आज का मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, गर्व, ममत्व, मद, ईर्ष्या-द्वेष, संघर्ष को अपनाकर जी रहा है। ये सभी भाव अनचाहे में ही मनुष्य से अनैतिक और असात्त्विक कार्य कराते रहते हैं। युद्ध और नरसंहार इसी की परिणति है। दुःख और वेदना इसी की देन है। आतंकवाद और हिंसा की उपज भी इन्हीं कारणों से हुई है। अशान्ति और विचलन इसी की देन है। इन सभी अमानवीय भावनाओं और चेतनाओं से मनुष्य जाति या विश्व की विविध जातियों को यदि उबरना है तो उन्हें इन प्रवृत्तियों से अपना नाता तोड़ना पड़ेगा। पर नाता तोड़ना इतना सरल नहीं है। इसे कार्य रूप में परिणत करना होगा। सात्त्विक और नैतिक कर्मों की जिम्मेवारी लेनी होगी तभी इससे बचा जा सकता है। यह तभी सम्भव है जब विश्व के सारे लोग शिल्पी के प्रति आस्थावान् हों, क्योंकि : *"आस्था के बिना रास्ता नहीं" (पृ. १०)*-आस्था ही इसका स्थायी हल है जो इस महाकाव्य की मूल मनोभूमि है। अनास्था ही विश्व की सभी पीड़ाओं, दुःखों, कष्टों, विपदाओं, विपरीत कर्मों, यातनाओं, नरसंहारों, युद्धों की जननी है। वर्णसंकरता और विकृतियों की उपज के मूलभूत कारण भी यही हैं। इसलिए यदि देश, जाति, राष्ट्र और विश्व तथा मानवता को बचाना है तो प्रत्येक व्यक्ति को आस्थावान् होना पड़ेगा। यही इस कृति का मूल सन्देश है।

यह महाकाव्य एक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पीठिका को अपने दीर्घ कलेवर में सँजोए हुए है। यह महाकाव्य केवल 'माटी के इतिहास' का ही प्रस्तुतीकरण नहीं करता वरन् वह मानव के जीवन दर्शन के इतिहास को भी यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है। यह जीवन दर्शन रचनाकार द्वारा थोपा हुआ नहीं है वरन् प्रसंगगत परिवेशों से उपजा हुआ दर्शन है। यह जीवन दर्शन के आस्थावादी स्वरूप का आकलन करता है। यह अनास्थावादी दर्शन का विरोधी है। उसके इस आस्तिक दर्शन में मानव के सात्त्विक जीवन का इतिहास छिपा हुआ है। वास्तविक जीवन इसी का नाम है। आज के युग में साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी और उच्चवर्गीय तथा पूँजीवादी लोगों ने अनास्था और नास्तिकता का जो वातावरण पैदा किया है, वह मानव विकास के लिए घातक सिद्ध हुआ है। आज जो मानव विकास की यात्रा में अवरोध आए हैं वे सब इन्हीं वर्गों द्वारा उत्पन्न किए गए हैं। इन सभी ने गरीबों का जीना हराम कर दिया है जबकि विश्व में इनकी संख्या कम है। रचनाकार कहता है कि मेरी कृति अमीरों-पूँजीपतियों की धरोहर नहीं है, वह गरीबों की सम्पत्ति है जिसमें अभी भी आस्था के बीज मौजूद हैं। वह घोषणा करता है : *"अमीरों की नहीं/गरीबों की बात है;/कोठी की नहीं/कुटिया की बात है" (पृ. ३२)*। यह रचनाकार की क्रान्तिकारी अवधारणा है जिसे ध्यान में रखकर ही इस कृति का मूल्यांकन किया जा सकता है। रचनाकार की दृष्टि में माटी की वेदना सामान्यजन की वेदना है। शोषित या गरीब ये ही हैं। छोटी मछली के समान वेदना से छटपटाना इनकी नियति है। आज के मानव समाज और जीवन की विडम्बना यही है कि बड़ी मछली छोटी मछली को साबूत निगल जाती है। छोटी मछली को आज के मानव समाज और जीवन में जीने का अधिकार नहीं है। बड़ी मछली पर्याय है उन पूँजीपतियों, आभिजात्य और उच्चवर्गीय लोगों की, जो सामान्यजन को शोषण चक्र का शिकार बनाते हैं। छोटी मछली पर्याय है शोषित, दलित, सर्वहारा वर्ग की, जो सामान्यजन के रूप में निरन्तर शोषित होते रहते हैं। रचनाकार कहता है : *"छोटी को बड़ी मछली/साबूत निगलती है यहाँ" (पृ. ७१)*। कहना न होगा कि उच्चवर्गीय लोग ही मानव समाज और जीवन को ईर्ष्या-द्वेष, शत्रुता, हिंसा, आतंकवाद, घृणा,

वैमनस्य, भेद भाव से आपूरित कर इस विश्व को विरूप करना चाहते हैं।

'मूकमाटी' के रचनाकार की दृष्टि प्रगतिशील भी है। उसकी यह प्रगतिशील विचारधारा समाजवादी विचारधारा जैसी है। वह यह मानता है कि समाज इस समय व्यक्तिवादी अवधारणा को अपनाकर विकसित हो रहा है जिससे समाज में जाति, वर्ग, सम्प्रदाय, भाषा, देश जैसी अनेक भेदात्मक स्थितियों का उदय हो जाता है। अब जातियाँ केवल दो ही हैं—बड़ी जाति और छोटी जाति। बड़ी जाति पर्याय है पूँजीपतियों का और छोटी जाति पर्याय है सामान्यजन का। पूँजीपतियों का औज़ार है पूँजी अर्थात् धन। इन पूँजीपतियों के उद्भव की कहानी बहुत-कुछ धन एकत्रित करने की कहानी से जुड़ी हुई है। यह धन या पूँजी ही संसार के सारे वैनमस्य, द्वेष, शत्रुता की जननी है। इसने संसार के सारे धर्मों को विकृति कर रखा है। समाज के विकृति होने पर व्यक्ति भी विकृति हो जाता है। इसी विकृति की प्रधानता से जब युग भी परिचालित होने लगता है तो उसे 'कलियुग' कहते हैं। कलियुग इसी वैमनस्य, द्वेष, घृणा, हिंसा, शत्रुता का लेखा-जोखा है। यह सत् को असत् मानने की दृष्टि विकसित करता है। कलिकाल (मृत्यु) के समान है इसीलिए वह क्रूर है। इसी असत् दृष्टि ने पूरे विश्व से 'धम्मं सरणं गच्छामि,' 'धम्मो दया-विसुद्धो' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' आदि की भावना को तहस-नहस कर दिया है। अब व्यक्तियों की दृष्टियों में अन्तर आ गया है। इस अन्तर का कारण कलियुग का प्रकोप है : *"'वसुधैव कुटुम्बकम्"/इसका आधुनिकीकरण हुआ है/वसु यानी धन-द्रव्य/धा यानी धारण करना/आज/धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का" (पृ. ८२)*। स्पष्ट है कि आज के मानवीय सम्बन्धों का मूल आधार धन ही है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, मानव-मानव, देश-विदेश, जन-जन के रिश्तों में जो बदलाव आया है उसका उत्स धन ही है। इसके असमान वितरण ने देश-विदेश में तहलका मचा रखा है। सारे भेद-भाव की जड़ यही है। व्यक्तिवादी विचारधारा के विकास में इसी का हाथ है। इसी ने व्याधियों, आधियों, आपदाओं, हिंसाओं, युद्धों को जन्म दिया है। विश्व समाज को बाँटने वाला भी यही है। संकर-दोष और असत् को विस्तार देने वाला भी यही है। रचनाकार इन कलियुग की विकृतियों से बचने का आह्वान करता है। प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर इन सारी विकृतियों से, जिसकी जड़ धन है, कैसे बचा जा सकता है ? इस पर विचार करते हुए रचनाकार सात्त्विक कर्मों की बात करता है। वह कहता है : *"शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं।"* साहित्य शब्द-साधना है। वह अनुभव कराने में मदद करता है। व्यक्ति उसका अनुभव तभी कर सकता है जब उसका मन विकृति न हो यानी सात्त्विक हो। सात्त्विक मन ही साहित्य के अनुभूत और अनुप्रेरित अनुभूतियों को कर्म रूप में परिणति कराते हैं। साहित्य इसी अर्थ में सार्थक है। साहित्य ही वह ज्ञान-राशि है जो मनुष्य में विवेक जगाता है तथा व्यक्ति, समाज और जीवन की वास्तविकताओं से जीव को परिचित कराता है।

'मूकमाटी' एक साहित्यिक कृति है। उनमें साहित्य की सभी विशेषताएँ उपलब्ध हैं। साहित्यकार एक शिल्पी है जिसके साँचे में साहित्य ढलता है। साहित्य क्या है ? इसको परिभाषित करते हुए रचनाकार कहता है :

"हित से जो युक्त—समन्वित होता है/वह सहित माना है
और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है।" (पृ. १११)

तुलसी की पंक्ति : "सुरसरि सम सब कर हित होई" की तरह ही रचनाकार का भी यह मन्तव्य है कि साहित्य को लोककल्याणकारी भावना से युक्त होना चाहिए। इस अर्थ में रचनाकार की साहित्य की परिभाषा लोककल्याण से आपूरित है। साहित्य से ही सुख का समुद्भव और सम्पादन होता है। सचमुच साहित्य ही मानव जीवन का एक ऐसा जीता-जागता इतिहास है जो अतीत के साथ वर्तमान को भी अपने गर्भ में छिपाए रहता है। वे साहित्य को एक

प्रयोजनीय वस्तु मानते हैं। साहित्य का काम है मनुष्य को, व्यक्ति मनुष्य को नहीं, बल्कि समष्टि मनुष्य को, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त कराना। साहित्य ऐसी मानवीय संस्कृति का निर्माता होता है जिसमें समष्टि मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति-चेतना की प्रधानता रहती है। साहित्य मनुष्य को छोटे प्रयोजनों में बाँधने के बदले उसे प्रयोजनातीत सत्य की ओर उन्मुख करता है। साहित्य उनके लिए भौतिक प्रयत्नों से भिन्न एक सांस्कृतिक वस्तु है, क्योंकि प्रयोजन जहाँ समाप्त होते हैं वहीं से साहित्य की शुरूआत होती है। रचनाकार की दृष्टि में साहित्य का प्रयोजन मनुष्य को संकीर्णता और मोह, लोभ, ममत्व से उठाकर उदार, विवेकी और सहानुभूतिमय बनाना है। उसका स्थूल प्रयोजनों से कुछ लेना-देना नहीं है। वह प्रकाश का रूपान्तर है। काव्य और साहित्य में रचनाकार अन्तर नहीं मानता है। उसका भी वही प्रयोजन और काम है जो साहित्य का। कविता में रस का होना अनिवार्य होता है क्योंकि बिना उसके कविता पाठकों पर गहरा प्रभाव नहीं डाल सकती। काव्य केवल कौशल ही नहीं है, वह अनुभूतिमय संयोजन भी है। अनुभूति की सान्द्रता ही रस है। रचनाकार ने कविता की रसमयता को मनुष्य जीवन की रसमयता से जोड़ दिया है। काव्य के नव रस हों या ग्यारह, सभी का जुड़ाव मनुष्य के जीवन की ऐतिहासिक गाथा से है। साहित्य भी माटी के मंगल घट तक बनने की पूरी यात्रा तय करता है। काव्य की दृष्टि से इस कृति में जिन विविध अलंकारों का प्रयोग किया गया है उनके सन्दर्भ नितान्त नए और मोहक हैं। इस कृति में शब्द की अनेक अर्थ-छवियों को उभारने का जो प्रयत्न किया गया है उसका श्रेय रचनाकार को है। रचनाकार की अर्थान्वेषिणी दृष्टि शब्द-ध्वनियों की बारीकी को परत-दर-परत उकेरती है जिससे शब्द के मर्म सहज ही उद्घाटित हो जाते हैं। मुहावरे और लोकोक्ति के प्रयोग से अर्थ में चार चाँद लग गए हैं। भाषा-शैली की प्रौढ़ता इस कृति की ऐसी विशेषता है जो रचना को पाठक से जोड़ती है। इस प्रकार 'मूकमाटी' एक साहित्यिक और आध्यात्मिक कृति है जो विश्व के मानवों को जीने का रहस्य बतलाती है।

□



पृष्ठ २२६
इस युग के दो मानव
----- शिव के समान
खरा उतरा है!

अध्यात्म-विद्या का सागर : 'मूकमाटी' महाकाव्य

डॉ. विमल कुमार जैन

अध्यात्म-विद्या-सागर सन्त कवि आचार्य विद्यासागर की काव्यकृति 'मूकमाटी' एक ऐसा रूपक महाकाव्य है जिसके प्रबन्ध कथानक में अध्यात्म इतनी चारुता से सम्पृक्त है तथा जिसका निर्वहण आद्यन्त इतनी कुशलता से हुआ है कि कहीं भी विशृंखलता का आभास तक नहीं होता। इससे महाकवि की पारदर्शी दूरदृष्टि का परिचय मिलता है।

इसमें महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण उपलब्ध होते हैं, पर एकदम पारम्परिक न होकर, अपनी नवीनता के साथ। तदनुसार यह काव्य सर्गबद्ध है। रूपक होने के कारण इसका नायक कुम्भकार रूप गुरु तथा माटी रूप मुमुक्ष आत्मा नायिका है। नायक धीरोदात्त रूप में ही निरूपित है, क्योंकि आत्मा के उत्थान की प्रक्रिया में वह कहीं भी धैर्य नहीं खोता तथा सभी के प्रति उदात्त वृत्ति रखता है। नायिका भी तदनुकूला है। इसमें शान्त रस की प्रधानता है और शृंगार आदि रसों का प्रसंगानुकूल अंकन है। इसका उच्च उद्देश्य संसार-सागर में निमग्न आत्मा का उद्धार करना है। इसमें स्थान स्थान पर खलों की निन्दा और सन्तों की प्रशंसा भी है। इनके अतिरिक्त प्रकृति का चित्रण, सूर्य, चन्द्र, रजनी, दिवा, प्रातः, सन्ध्या, ऋतु, सागर तथा रण, मुनि, मित्र और पुनर्जन्म आदि का बड़ा ही विशद चित्रण है, जिसका निर्देश हम प्रसंगवश आगे करेंगे। इन लक्षणों तथा रूपक-निर्वहण की पुष्टि के लिए हम इसके कथानक पर एक विहंगम दृष्टि डालते हैं।

प्रथम खण्ड : रजनी का अन्तिम प्रहर है, सरिता तमसावृत धरातल पर बही जा रही है। कुछ क्षण पश्चात् सूर्य की रक्तिम आभा उस पर विचित्र चित्र बनाती है। इसी समय प्रभूत काल से धरागर्भ में सुप्त किन्तु उद्बुद्ध माटी धरती से कहती है– 'माँ ! मैं जन्म-जन्मान्तर से पतिता, पददलिता हूँ, इस पर्याय से मुक्ति चाहती हूँ।' धरती ने कहा– 'बेटा ! सत्ता शाश्वत है, प्रतिसत्ता में उत्थान-पतन की असंख्य सम्भावनाएँ रहती हैं। छोटा-सा वट बीज विशाल वृक्ष बन जाता है। इस प्रकार सत्ता ही भास्वत होती है। रहस्य की इस गन्ध का अनुपान आस्था की नासिका से होता है। अतः सर्वप्रथम आस्था— सम्यग्दर्शन की प्राप्ति परमावश्यक है।' 'जैसी गति, वैसी ही मति' इस उक्ति के अनुसार साधक के बोध अर्थात् सम्यग्ज्ञान के निमित्त आस्था मूल कारण है। इससे साधक के मन में स्वरातीत अनहदनाद का सरगम ध्वनित होता है।

साधक अपने को लघुतम जानता हुआ गुरुतम प्रभु को पहचानता है। असत्य के तथ्य की सही पहचान ही सत्य का अवधान है। आस्थाहीन का बोध पलायित हो जाता है और कषायें गुरनि लगती हैं। अतः आस्था की दृढ़ता के लिए प्रतिकार, अतिचार, अनुकूलता की प्रतीक्षा और राग-द्वेष का त्याग अनिवार्य है। आस्थावान् यदि दमी, यमी और उद्यमी हो तो उसके आशा, धृति और उत्साह आदि गुण उद्गत हो जाते हैं तथा आत्म-विकास के लिए संघर्षमय जीवन भी हर्षमय हो जाता है।'

धरती के इस उद्बोधन से माटी को कुछ अन्तःप्रकाश-सा भासित हुआ। वह बोली– 'प्रकृति और पुरुष के सम्मिलन, विकृति और कलुष के संकुलन से आत्मा में सूक्ष्म कर्मों का बोध होता है तथा कर्मों का संश्लेषण और आत्मा से स्व-पर कारणवश विश्लेषण रूप ये दोनों ही कार्य आत्मा में ममता तथा समता रूप परिणति पर ही होते हैं। यही आस्था है।'

धरती बोली– 'बेटा ! तू मेरे भाव तक पहुँच गई। तेरा उद्धार समीप ही है। कुम्भकार (गुरु) आएगा और यदि

तू समर्पणशीला हो गई तो वही तेरा उद्धार करेगा।' तदनन्तर रात– मिथ्यान्धकार–में मिट्टी का चिन्तन चलता रहा कि उपयोग– सत्-ज्ञान और सत्-दर्शन से विषाद में उल्लास, उद्वेग में असंग प्रकाश, कषायों में मूर्च्छा और दोषों में ह्रास हो जाता है। साधक पथिक अहिंसा आदि व्रतों को पालने लगता है। आचारों के साम्य से साधक में सम्प्रेषणीयता आ जाती है और सम्प्रेषण से तत्त्वों–सात तत्त्वों–का ज्ञान सम्पुष्ट होता है।

कुम्भकार (गुरु) आता है। वह स्थितप्रज्ञ, अविकल्पी, हितमितभाषी तथा उदासीन है और कु=धरती (धरती के मनुष्यों) का भ=भाग्य+कार=भाग्य विधाता है। उसने ओंकार को नमस्कार किया, अहंकार का वमन किया और पुनः कुदाली– कुशाग्र बुद्धि–से माटी के ऊपर की परत (अज्ञान की परत) हटाई और माटी के गालों पर घाव देखकर उसका कारण पूछा। मिट्टी ने खोदने वालों की निर्दयता और अपनी उदारता बताई। शिल्पी ने समझाते हुए कहा कि अति के बिना इति से साक्षात्कार नहीं होता और इति के बिना अथ का दर्शन सम्भव नहीं। तात्पर्य यह है कि अति ही पीड़ा की इति है और यह इति ही सुख का अथ है।

कुम्भकार ने मिट्टी को गदहे पर लादा। गदहे की पीठ पर रखी खुरदरी बोरी की रगड़ से उसकी पीठ छिल रही थी तो मिट्टी ने उसमें सनकर मानो मलहम लगाकर उसे सुख दिया। यह दयार्द्रता स्व-दया का स्मरण कराती है। दया का विलोम 'याद' भी इसी सत्य की ओर इंगित करता है। जैसे वासना का विलास मोह है, वैसे ही दया का विकास मोक्ष है। अतः वासना हेय है और दया उपादेय है। माटी की दया-भावना को देख गदहा सोचने लगा कि क्या ही अच्छा होता कि मैं भी सार्थक नाम हो जाऊँ – गद=दुख, हा= नाशक, अर्थात् पर-दुखहारी बनूँ। इस विचार में 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' की ध्वनि गूँज रही है। कुम्भकार (गुरु) का उपाश्रम (धर्मस्थल) योगशाला है, जहाँ साधक को प्रशिक्षण मिलता है। उपाश्रम आकर उसने मिट्टी को उतारा और चालनी (विवेक) से छान कर कंकड़ों (विभावों) को पृथक् किया। इस पर कंकड़ों को आपत्ति हुई। कुम्भकार ने कहा– 'मृदुता और ऋजुता मेरे शिल्प को निखारती है, तुम कठोर हो और वर्ण-संकरताजनक हो, अतः मैंने तुमको माटी से अलग किया है। जैसे क्षीर में नीर मिल कर क्षीर बन जाता है परन्तु उसी क्षीर में आक का क्षीर रूप विष मिल जाए तो क्षीर भी फटकर विष बन जाता है। तुम माटी में तो मिले, पर माटी न बने। हिमखण्ड पानी में तैरता ही रहता है। यह मान का द्योतक है। जल तरल है, ऋजु है, अतः बीज को अंकुरित करता है पर हिम उसे जला देता है। हिम की डली मुँह में डालने से प्यास और भड़कती है। राही को यदि हीरा बनना है तो मान छोड़ कर विलोम रूप से चले अर्थात् मान से नमा=नम्र बने। तप की आग में राख होकर ही जीव खरा बनता है।

कुम्भकार (गुरु) मिट्टी को गीला करने के लिए कुएँ से जल लेने को रस्सी की ग्रन्थियाँ खोलता है। उसके दाँत हिल जाते हैं, मसूड़े छिल जाते हैं अर्थात् कठिनाइयाँ आती हैं। ठीक भी है, ग्रन्थियों में हिंसा पनपती है, अतएव गुरु निर्ग्रन्थ होते हैं। यदि रस्सी (गुरु भावना) में ग्रन्थि रहीं तो गिरीं पर सन्तुलन बिगड़ने की भाँति गुरु की क्रिया में भी सन्तुलन बिगड़ जायगा। कुम्भकार की छाया कुएँ में एक मछली (एक सन्त्रस्त भव्य आत्मा) पर पड़ी, उसकी मूर्च्छा ऊर्ध्वमुखी हुई और वह बोली–'मेरा उद्धार करो!' कुम्भकार ने रस्सी से बालटी बाँधी और पानी के साथ वह भी बालटी के माध्यम से ऊपर आ जाती है। वहाँ कूप में मछली ने देखा था कि बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं। अस्त्र अस्त्र को काटता है, कृपाण में कृपा नहीं होती। यहाँ मछली के मिष कुम्भकार बड़ी ही मनोहर उद्भावनाएँ करता है कि आधुनिक युग में मानवता दानवता के रूप में तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना 'वसु एव कुटुम्बकम्' में बदल गई है, इत्यादि।

मिट्टी ने मछली को समझाया कि बेटा ! यही तो कलियुग की पहचान है। सत् को असत् मानना ही कलियुग है और सत् को सत् मानना सत्-युग है। कलियुग की दृष्टि व्यष्टि पर रहती है और सत्-युग की समष्टि पर। कलि शव है, सत् शिव है। व्याधि से आधि और आधि से उपाधि भयंकर है, अतः उपाधि इष्ट नहीं, समाधि ही इष्ट है। यह सुनकर मछली समाधि अर्थात् सल्लेखना ग्रहण करना चाहती है। धरती के कहने पर कुम्भकार उसे पुनः जल में उतार देता है।

द्वितीय खण्ड : शीत काल की रात है, शिल्पी (कुम्भकार) मिट्टी सानने में व्यस्त है पर शरीर पर केवल एक चादर है। मिट्टी ने कहा–'आप एक कम्बल तो ले लो।' शिल्पी ने उत्तर दिया कि यह तो कम बल वालों का कार्य है। मैं तो शीतशील हूँ और ऋतु भी शीतशीला है। स्वभाव में रहना ही मेरा कर्म है–'वस्तुस्वभावो धर्मः'। पुरुष का प्रकृति में रमना ही मोक्ष है।

मिट्टी मौन हो गई। प्रातः हुआ और कुम्भकार मिट्टी को गूँधने लगा तो कुदाली से क्षत-विक्षत हुआ एक काँटा बदला लेने को उद्यत हो गया। तभी मिट्टी ने उसे उद्बोधित किया कि बदले में आग होती है, जो तन-चेतन को जला देती है। यह सुनकर वहीं खड़ा हुआ गुलाब का पौधा बोला–काँटे को बुरा न कहो। कभी फूल शूल बन जाते हैं और कभी शूल फूल। इन काँटों से ही मैं सुरक्षित हूँ।

तत्पश्चात् शिल्पी ने जैसे ही मिट्टी के लोंदे को चक्र पर रखकर उसे घुमाया तो मिट्टी ने संसार का स्वरूप समझाते हुए कहा–'संसरतीति संसारः'– संसार संसरणशील है, अतः मैं चार गतियों और चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण करती आ रही हूँ। मिट्टी से घड़ा बना और उसे चाक से उतारा। उस पर अनेक अंक तथा चित्र अंकित किए, यथा–९९, ६३, ३६, सिंह-श्वान, कच्छप-खरगोश, ही-भी आदि। इनसे क्रमशः संसार चक्र, सामंजस्य, वैमनस्य, स्वतन्त्र-परतन्त्र, अप्रमाद-प्रमाद और एकान्तवाद (दुराग्रह) तथा अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) का बोध दिया। कुम्भ पर ये वाक्य भी लिखे हुए हैं– 'कर पर कर दो', 'मर हम मरहम बनें', 'मैं दो गला' अर्थात् मैं दो गला हूँ अथवा मैं को गला दो।

अब शिशिर में ही वसन्त का अन्त होता है और निदाघ पदार्पण करता है। यहाँ निदाघ और वसन्तान्त का क्रमशः बड़ा ही मनोज्ञ और उद्दाम वर्णन है। ऐसा लगता है कि कवि की लेखनी ने स्वयं सरस्वती बनकर पत्रों पर ऋतुओं को उतार दिया है।

तृतीय खण्ड : वर्षा ऋतु आ गई है। जल, धरा का वैभव लूट कर सागर में ले गया है, जिसने उसका संग्रह कर लिया है। संग्रह ही परिग्रह है और परिग्रह मूर्च्छा है। सूर्य से जड़धी–जलधि का यह अन्याय देखा न गया और उसने उसके जल को जलाकर वाष्प बनाना प्रारम्भ किया। इस विग्रह में चन्द्र ने जलतत्त्व का पक्ष लिया और जलधि में ज्वार ला दिया। धरती ने कृतघ्न समुद्र को क्षमा कर उसे मोती दिए। इससे चन्द्र और भी क्रुद्ध हुआ और समुद्र को प्रेरित कर तीन बदलियों को भिजवाया। यहाँ पर बदलियों का बड़ा ही मनोरम चित्रण है। वास्तव में कवि ने बदलियों के मिष नारी के विविध रूपों का निरूपण किया है। 'नारी' नारी इसलिए है कि उसका कोई शत्रु नहीं है और न वह किसी की शत्रु है। मंगलमय होने से वह 'महिला' है। पुरुष में अव-ज्ञानज्योति या अब-वर्तमान में लाती है, अतः 'अबला' है या इसलिए 'अबला' है कि वह बला नहीं है। धर्म, अर्थ और काम– इन पुरुषार्थों में पुरुष का साथ देने से वह 'स्त्री' है। प्रमातृ होने से 'माता' है तथा उसमें सुन्दर भाव रहने से 'सुता' है।

बदलियों ने अपने उज्ज्वल पक्ष को पहचाना और समुद्र का साथ न देकर मोती बरसाए। कुम्भकार कहीं बाहर गया हुआ था। मुक्ता-वर्षा का समाचार सुनकर राजा सदल-बल आ गया, उसने मोतियों को बोरियों में भरने का आदेश दिया। बादलों को यह बुरा लगा, वे गरजने लगे। एक ध्वनि आई : 'अनर्थ,अनर्थ' अर्थ की उपलब्धि स्वयं श्रम करके करो। सज्जन पर-द्रव्य को मिट्टी समझते हैं–'परद्रव्येषु लोष्ठवत्।' मोतियों (मोतियों के लोभ) ने बिच्छू बनकर

सबको डस लिया। इसी समय कुम्भकार आ गया। उसने राजा से क्षमा माँगी। अपक्व कुम्भ ने राजा से व्यंग्य में कहा– जलती अगरबत्ती को छूने से जल गए न, लक्ष्मण-रेखा लाँघने वाला दण्डित होता ही है। कुम्भकार ने उसे मौन का संकेत कर, मोती भरी बोरियाँ राजा को देकर विदा किया।

जब बदलियाँ लौटने लगीं तो सागर ने स्त्री रूप होने से उन्हें 'चला' कह डाला। प्रभाकर को यह उक्ति बुरी लगी और उसने बड़वाग्नि प्रज्वलित कर सागर को जलाना प्रारम्भ किया। सागर ने इसकी उपेक्षा कर तीन बादल भेजे- कृष्ण, नील और पीत रूप। ये तीन लेश्याएँ हैं। उन्होंने प्रभाकर को आच्छन्न कर दिया। भास्कर ने प्रखर करों से उन्हें प्रभावित करना प्रारम्भ किया। इस पर सागर ने राहु को भड़का कर उसका ग्रहण करा दिया। प्रकृति विकल हो गई तो कण-कण ने माँ धरती से निस्तार की प्रार्थना की। धरती ने कणों को प्रहार की आज्ञा दी, कण प्रभंजन बन गए। भू-कण सघन होकर भी अघ से अनघ रहे, अतः घन (बादल) भागने लगे। कण पीछे और घन आगे। सागर ने पुनः और घन भेजे। प्रच्छन्न रूप से इन्द्र ने धनुष तानकर घनों का तन चीर दिया और विद्युत् उत्पन्न कर वज्राघात किया, जिससे बादल रोने लगे पर जल-कणों की मार मारते रहे। कुम्भकार स्थितप्रज्ञ हो यह सब कुछ देखता रहा परन्तु गुलाब ने सखा पवन का आह्वान किया। वह आकर बादलों पर टूट पड़ा और उन्हें समुद्र पर ही धकेल दिया। इससे समुद्र पर ही ओले पड़ने लगे। इससे समुद्र शान्त हो गया।

आकाश धुल-सा गया, सूर्य निकल आया और नवालोक हुआ। पर शिल्पी (गुरु) अनासक्त रहा। यह देख अपरिपक्व कुम्भ ने कहा- 'ठीक है, परीषह और उपसर्ग के बिना स्वर्ग-अपवर्ग की उपलब्धि कभी नहीं हुई।' कुम्भकार अपरिपक्व कुम्भ की यह बात सुनकर समझ गया कि साधक ठीक मार्ग पर चल रहा है और कुम्भ से बोला– 'तुम्हें अब अग्निधार पर चलना है।' इस पर कुम्भ ने कहा–'साधक की अन्तरदृष्टि में जल और अनल का भेद लुप्त हो
जाता है तथा उसकी साधना-यात्रा भेद से अभेद की ओर बढ़ती ही रहती है।'

चतुर्थ खण्ड: कुम्भकार ने अवा बनाया और बबूल आदि की लकड़ियाँ चुनीं। अवा जलने लगा। निरपराध कुम्भ को जलाने में लकड़ियों ने अन्यमनस्कता दिखाई तो कुम्भकार ने कहा कि इसको तपाकर इसके उद्धार में मेरी सहायता करो। लकड़ियों ने सहयोग दिया और धूम निकला। कुम्भ ने कुम्भक प्राणायाम लगाया जो योगतरु का मूल है। उधर तपन और धूम से विकल कुम्भ को अग्नि ने ध्यान का स्वरूप समझाया तथा दर्शन और अध्यात्म का अन्तर बताते हुए कहा कि दर्शन का स्रोत मस्तिष्क है, अध्यात्म का हृदय; दर्शन सविकल्प है और अध्यात्म निर्विकल्प ज्ञान।

कुम्भकार सो गया था। प्रातः जब उसने अवा की राख हटाई तो कुम्भ को पका देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, क्योंकि उसकी साधना सफल हुई। उधर कुम्भ भी स्वयं को मुक्त हुआ जान कर प्रसन्न हुआ और सोचने लगा कि मेरा पात्रदान किसी त्यागी को होना चाहिए। यहाँ पर साधु के मूलगुणों का बड़ा ही दार्शनिक किन्तु मनोरम भाषा में प्रतिपादन हुआ है।

रात में एक सेठ को स्वप्न आया कि वह मंगल कलश ले एक साधु का स्वागत कर रहा है। प्रातः होते ही उसने कलश लाने के निमित्त सेवक को भेजा। सेवक कुम्भकार के समीप पहुँचा और उससे घट की याचना की। कुम्भकार से घट लेकर सेवक ने कंकड़ से घट को बजाया तो 'सा रे ग म प ध नि' की ध्वनि निकली। मानों कह रहा था- सारे गम, पध–पद अर्थात् स्वभाव, न–नहीं हैं अर्थात् दुःख मेरा स्वभाव नहीं है। सेवक घट को ले आया। सेठ ने उस पर स्वस्तिक चित्र बनाया और मांगलिक पदार्थों से उसे सजा कर साधु की प्रतीक्षा करने लगा। जैसे ही साधु आए, उसने 'नमोऽस्तु-नमोऽस्तु-नमोऽस्तु, अत्र-अत्र-अत्र, तिष्ठ-तिष्ठ-तिष्ठ' कह कर अभिवादन किया और आहार की विधि के साथ

आहार दिया। साधु ने भी कायोत्सर्ग करके पाणिपात्र में आहार लिया। आहारोपरान्त सेठ की प्रार्थना पर साधु ने सभी को उपदेश दिया कि यह दृश्यमान जगत् मैं नहीं हूँ, अतः स्व में लीन हो पुरुषार्थ करना चाहिए– पुरुष=परमात्मा+अर्थ=प्राप्तव्य है। यह कहकर साधु चले गए। सन्त संगति से वंचित सेठ अत्यन्त खिन्न हो गया।

सेठ को विषण्ण देखकर कुम्भ ने उसे साधुओं की महिमा बताकर आश्वस्त किया। सेठ को कुम्भ में साधुता के दर्शन हुए। इससे स्वर्ण कलश को ईर्ष्या हुई कि इतने मूल्यवान् कलशों के रहते हुए मिट्टी के घट का इतना सम्मान ! तब मिट्टी के कलश ने उसे ताड़ते हुए कहा–'तुम अपने को सवर्ण समझते हो पर तुम्हारी संगति से तो दुर्गति का मार्ग खुलता है। माँ माटी को मान दो, यह तुम्हारी भी माँ है।' स्व-पर का भेदज्ञान ही सद्ज्ञान है और स्व में रमण करना ही सत्-ज्ञान का फल है। विषयों में रसिकता और भोगों की दासता संसार-बन्धन के कारण हैं। ऋषि भी माटी की शरण लेते हैं, इसी पर शयन करते हैं। इस प्रसंग में वहीं पर विद्यमान झारी, चम्मच, घृत, केसर आदि का नोंकझोंक पूर्ण वार्त्तालाप बड़ा ही मनोरंजक है। सभी ने मिट्टी के घट का उपहास किया।

रात को सोते समय खून का प्यासा एक मच्छर आया। उसने सेठ की प्रदक्षिणा की, कान में मानों मन्त्र भी जपा, तब भी कृपण ने कृपा न की। यह देखकर पलंग में विद्यमान मत्कुण ने कहा–'सखे ! चौंको नहीं, ये बड़े लोग हैं। ये स्वयं के लिए ही संग्रह करते हैं पर हमको रक्त की एक बूँद भी दान नहीं करते।' कुछ देर दोनों में बहुत ही रोचक किन्तु सारगर्भित सम्भाषण हुआ। सेठ उसे सुनकर प्रसन्न हुआ और अपने को प्रशिक्षित-सा अनुभूत करने लगा। परन्तु रात में नींद न आने से दाह ज्वर हो गया।

प्रातःकाल वैद्य बुलाए गए। सब ने परामर्श करके कहा–दाह ज्वर है। उन्होंने औषधियों से उपचार किए पर असफल रहे। 'श-स-ष' इन बीजाक्षरों से भी उपचार किया अर्थात् इनको श्वास से भीतर ग्रहण कराकर नासिका से ओंकार ध्वनि के रूप में बाहर बार-बार निकलवाया, अन्त में भू की शरण ली। भू की पुत्री माटी का टोप बनाकर सिर पर रखा, जिससे सेठ की संज्ञा वापिस आने लगी। उसके शरीर में योगिगम्या, मूलोद्गमा, ऊर्ध्वानना, पश्यन्ती के रूप में नाभि की परिक्रमा करती हुई ओंकार ध्वनि निरक्षरा रूप में उठी, जिसने मध्यमा को जाग्रत कर हृदय मध्य को स्पन्दित किया, पुनः तालु-कण्ठ-रसना का आश्रय ले वही मध्यमा वाणी वैखरी बन कर मुख से निकली।

मिट्टी के उपचार से सेठ नीरोग हो गया और उसने पारिश्रमिक देकर वैद्यों को विदा किया। माटी का यह सम्मान देखकर स्वर्णकलश में प्रतिशोध की भावना पुनः जगी। वह सोचने लगा कि कैसा कलियुग है जो झिलमिलाती मणिमालाओं, मंजुल मुक्तामणियों, उदार हीरक हारों, शुक-चोंचों को लजाते गूँगे से मूँगों तथा नयनाभिराम नीलम के नगों को छोड़ कर मिट्टी के लेप से उपचार होता है, स्वर्ण-रजतादि के पात्रों को त्यागकर इस्पात के बर्तनों का क्रय होता है, उससे हथकड़ी और बेड़ियाँ बनती हैं और चन्दन, घृत एवं कपूर को तिरस्कृत कर कर्दम का लेप किया जाता है। लोग संग्रह कर धनाढ्य बनते हैं और समाजवादी कहलाते हैं। उसमें यह सोचकर अहं जगा और उसने आतंकवाद का आश्रय लिया। यह देख कुम्भ ने सेठ को सचेत किया और पीछे के द्वार से सपरिवार भाग जाने का संकेत दिया।

सेठ वन-उपवन की हरित वृक्षावलियों से जाता, सिंह पीड़ित गजयूथों को अभय देता हुआ आगे बढ़ रहा था कि आतंकवादियों ने आक्रमण बोल दिया। गजों तथा नागों ने उन्हें बचाया और आतंकवादी भय से भाग गए। सहसा घनी घटाएँ छा गईं, प्रचण्ड पवन प्रवहित हुआ, वृक्ष शीर्षासन करने लगे, मूसलाधार वर्षा होने लगी और सब जलमग्न हो गया। परन्तु कुछ समय पश्चात् सब शान्त हो गया और सबने सोचा लौट चलें परन्तु कुम्भ ने कहा–'नहीं, अभी आतंकवाद शेष है, नदी को पार करना है। मेरे गले में रस्सी बाँधो और एक-दूसरे को पकड़ लो, मैं तुम्हें पार ले जाऊँगा।' ऐसा ही हुआ, वे नदी में कूद पड़े। मत्स्य, मकर, कच्छप, सर्पादि ने उन्हें खाना चाहा किन्तु उनके मैत्रीपूर्ण

भावों से जलचरों के भाव बदल गए। तब नदी ने उन्हें भँवर में फँसाना चाहा पर कुम्भ का यह उपदेश सुन कर कि 'अरी पापिष्ठे ! तू भी तो धरती का आश्रय लेकर बह रही है।' नदी को ज्ञान हुआ और वह शान्त हो गई।

आतंकवाद निराश नहीं हुआ, उसने पत्थर बरसाए और ललकार कर कहा कि तुम समाजवादी हो, किन्तु समाजवाद कहने मात्र से समाजवादी नहीं हो जाते। उसने जाल में फँसाना चाहा। देवों का आह्वान हुआ। अन्त में आतंकवाद परास्त हुआ। सबका उद्धार हुआ। सेठ सपरिवार नदी से बाहर आया। वह हाथों में कुम्भ ले उसी स्थान पर आया जहाँ से कुम्भकार ने मिट्टी खोदी थी। धरती ने पुत्र का अभ्युदय देखकर प्रसन्नता प्रकट की और कहा–'पुत्र ! तुमने मेरी आज्ञा मानकर कुम्भकार का संसर्ग किया, यह तुम्हारा सृजनशील जीवन का आदिम सर्ग हुआ। उसके चरणों में समर्पित भाव से जो अहं का उत्सर्ग किया, वह द्वितीय सर्ग हुआ। पुनः बड़ी कठोर परीक्षाएँ दीं, यह तृतीय सर्ग हुआ और तुमने जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाया, यह जीवन का अन्तिम सर्ग हुआ तथा तुमने अपने को निसर्ग किया, यह जीवन का वर्गातीत अपवर्ग हुआ।

यह सुनकर कुम्भ नत-मस्तक हो गया। इसी समय सभी ने एक पादप तले वीतराग साधु को देखा, वे वहाँ गए, प्रणाम किया और पावन कलश जल से पादाभिषेक किया। सभी ने उपदेश की कामना व्यक्त की। साधु ने कहा : 'जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है और वह मोक्ष बन्धन के कारणभूत तन-मन-वचन का आमूल मिट जाना ही है। इसके पश्चात् जीव पुनः संसार में नहीं आता, जैसे मन्थन के पश्चात् निकला मक्खन फिर दूध में एकरूप नहीं होता।' यह कहकर सन्त महामौन में लीन हो गए। सबने देखा कि मूकमाटी इस घटना को अनिमेष निहार रही है।

रूपक का निर्वहण : एक पदार्थ में पर-पदार्थ का रूप देखना या मानना रूपक है। शब्द, वाक्य या वाक्यावलि में रूपक का निर्वाह सहज होता है, परन्तु समूचे प्रबन्ध काव्य में इसका निभाया जाना दुष्कर होता है। वह तब और भी दुष्कर होता है जब कि कथानक बृहत् हो और उस पर भी तब और भी अधिक कठिन होता है जब कथानक में आद्यन्त रूपक हो और वह भी अध्यात्मपरक, जैसा कि उपर्युक्त कथानक से ज्ञात होता है।

'मूकमाटी' ऐसा ही एक अध्यात्मपूर्ण रूपक महाकाव्य है, जिसमें माटी के मंगल कलश रूप में चरम विकास की कथा वर्णित है। कथा का प्रारम्भ सरिता तट पर निशावसान तथा उषागमन के समय युग-युगों से पतिता माटी में उद्धारार्थ ज्ञानोद्भास से होता है। सरिता संसार का प्रतीक है। माटी रूप आत्मा अनादिकाल से कर्मपुद्गलों से आबद्ध है। निशा अज्ञान और उषा ज्ञान के प्रतीक हैं। जब भव्यात्मा में अज्ञान का अभाव होता है और ज्ञान की किरणें प्रकाश फैलाने लगती हैं तो उसमें मुक्ति की कामना जागृत होती है। माटी रूप आत्मा में यही भाव जगा है।

वह धरती माँ से अपनी पर्याय से मुक्ति का साधन पूछती है। यहाँ धरती अन्तश्चेतना है, जो माटी रूप आत्मा को समझाती हुई प्रतिसत्ता के प्रतिकूल शाश्वत सत्ता को उद्भासित- ज्ञानोद्बुद्ध- करने के लिए कहती है और इसके लिए सर्वप्रथम आस्था अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपदेश देती है। इसके पश्चात् ही ज्ञान सम्यक् होता है। इससे साधक के मन में स्वरातीत अनहदनाद गूँजता है अर्थात् आत्मा स्वरूप को पहचानती है। यही सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मुक्ति का साधन बतलाती है। आचार्य उमास्वामी 'मोक्ष-शास्त्र' में लिखते हैं : "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।"

इस प्रसंग में धरती रूपी अन्तश्चेतना का उद्बोधन बड़ा ही तत्त्वगर्भित है। साधक को गुरुतम के ज्ञान के लिए लघुतम बनना होता है। सत्यावधान रूप आस्था अर्थात् सम्यग्दर्शन के अभाव में बोध लुप्त हो जाता है और कषायें– क्रोध, मान, माया और लोभ- भड़कने लगती हैं, अतः आस्था की दृढ़ता के लिए अतिचार, अनाचार, राग-द्वेष एवं कषायों का त्याग कर तथा दमी-यमी बनकर उत्साह के साथ सत्पथ पर चलना होता है, तभी आत्मविकास सम्भव है।

धरती रूप अन्तश्चेतना के सम्बोधन से माटी रूप आत्मा को प्रकृति और पुरुष के सम्मिलन, विकृति और

कलुष के संकुलन, कर्मों के संश्लेषण और स्व-पर कारणों से विश्लेषण का रूप स्पष्ट हो जाता है। यह तभी होता है जब आत्मा ममता तथा समता में परिणत हो जाती है।

जब आत्मा के भावों में यह परिणति आती है, तभी वह गुरु की शरण में आती है। इस कथानक में गुरु कुम्भकार है। वह स्थितप्रज्ञ, अविकल्पी, हितमितभाषी तथा उदासीन है, मान को मार चुका है। वह माटी रूप आत्मा की ऊपरी परत हटाता है अर्थात् अज्ञान की प्रथम परत दूर करता है। कुम्भकार मिट्टी को साधना मार्ग रूप गदहे पर लाद कर अपनी योगशाला रूप धर्मस्थली में लाया, उसे विवेक रूप चालनी से छाना तथा कंकड़ रूप विभावों—राग-द्वेष-मोहादि- को पृथक् किया। इस प्रकार मिट्टी रूप आत्मा को शुद्ध करके कूप अर्थात् आत्म गहराई से जल निकालने के लिए कुम्भकार रूप गुरु ने ज्यों ही उलझन रूप रस्सी की ग्रन्थियों को खोला तो उसको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसके लिए प्रथम स्वयं निर्ग्रन्थ-सम स्थिति ग्रहण करनी पड़ी। उसने कूप रूप स्वीय अन्तरात्मा से जलरूप अनुकम्पा को उद्भावित किया। इस प्रक्रिया में उसने मछली रूप एक अन्य भव्यात्मा को जल में रहकर समाधि रूप सल्लेखना का सार समझाया।

प्रातः हुआ और कुम्भकार ने मिट्टी को साना कि कुदाली से विक्षतांग काँटा प्रतिशोध के लिए उद्यत हुआ। मिट्टी ने उसे समझाया। यहाँ काँटा अहंकार का प्रतीक है और मिट्टी की बोधनवृत्ति विनय की। इस स्थिति तक मिट्टी रूप साधक में इतना आत्म-विकास हो गया है कि कुम्भकार रूप गुरु के द्वारा साधना को कठोर करने पर वह गुरु के समक्ष संसार का स्वरूप निरूपित करता है। यहाँ पर शिशिर, वसन्तान्त और निदाघ ऋतुओं के वर्णन के मिष साधना काल के विविध परीषह आयामों का अंकन किया गया है। तदनन्तर वर्षा ऋतु का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है, किन्तु अध्यात्म पक्ष में जलधि,चन्द्र, बदली, बादल, राहु रूप विभावों तथा उत्पातों और सूर्य, धरती, बड़वाग्नि, इन्द्रधनुष तथा पवन रूप भावों तथा सदाचार वृत्तियों का द्वन्द्व-युद्ध रहस्यात्मक होता हुआ भी अत्यन्त रुचिकर है। यह सब अनासक्त गुरु और साधक के ऊपर परीषह और उपसर्गों का निरूपण है। अब माटी रूप आत्मा कुम्भ रूप प्रबुद्धावस्था में पहुँच चुकी है, अतः वह उदासीन गुरु कुम्भकार से कहता है : 'मान्यवर ! परीषह-उपसर्गों के बिना स्वर्ग-अपवर्ग की उपलब्धि नहीं होती।' इससे गुरु समझ गया कि शिष्य में ज्ञान वृद्धि पर है, अतः उसने उसे अग्निधार अर्थात् तपोमार्ग पर चलने के लिए सचेत किया।

कुम्भकार रूप गुरु ने कुम्भ रूप ज्ञानोन्नत आत्मा को तपने के लिए अवा बनाया और उसमें लकड़ियाँ चिन दीं। यहाँ अवा कर्मास्रव को रोकने तथा बन्ध को खोलने के लिए संवर एवं निर्जरा का वलय है। अवा में प्रज्वलित अग्नि तप है—'तपसा निर्जरा च' अर्थात् तप से निर्जरा भी होती है। कुम्भ भी अग्नि से तपता है, तभी मांगलिक और मूल्यवान् बनता है। कुम्भकार रूप गुरु जब अवा को खोलता है तो कुम्भ रूप प्रबद्ध आत्मा को परिपक्व देखकर प्रसन्न होता है। उधर जीवात्मा को भी ज्ञान परिपक्व हो जाने पर आनन्द का अनुभव हुआ और उसने कामना की कि मैं किसी साधु के पादाभिषेक का कारण बनूँ।

कुम्भ रूप जीवात्मा को साधन मिलता है। यहाँ पर सेठ रूप श्रावक द्वारा कुम्भकार से उसे ग्रहण करने, साधु का सेठ के घर आहारार्थ आने,विधिपूर्वक आहार करने, उनके चले जाने, कुम्भ का सम्मान होने, स्वर्णकलश आदि में पुनः ईर्ष्या जगने और आतंकवादियों को भड़काकर उनसे आक्रमण कराने, सेठ के पलायन करने, पुनः नदी में अनेक उपसर्गों के आने तथा अन्त में नदी पार होकर वीतरागी के चरणों का कलश-जल से अभिषेक करने तक की कथा पूर्वानुसार भाव-विभावों के घात-प्रतिघात और उपसर्ग एवं परीषहों के उत्पात की कथा है। यही स्थिति है जब माटी रूप परिष्कृत आत्मा पक्व कुम्भ रूप महान् ज्ञानी के रूप को प्राप्त कर लेती है और पुनः वीतरागी के चरणों में समर्पित

होकर मुक्त हो जाती है।

इस रूपक में समाजवाद और आतंकवाद का वर्णन आधुनिक प्रभाव को व्यक्त करता है। जैनदर्शन के अनुसार मुक्ति का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। सम्यग्दर्शन से तात्पर्य जीवादि तत्त्वों के सम्यक् श्रद्धान से है। तदनन्तर ही परोक्ष और प्रत्यक्ष ज्ञानों में समीचीनता आती है और तभी आत्मा स्व-पर का भेद जानकर आत्म-गुणों में रमण करता है।

इस प्रकार समूचे काव्य में रूपक इस प्रकार ग्रथित है कि जिस प्रकार मुक्तामाला में सूत्र। कथा का विस्तार अन्तिम खण्ड में कुछ लम्बायमान्-सा भासित होता है, परन्तु वह भासना मात्र है, वास्तव में नहीं, क्योंकि कथा में कवि आत्म-विकास की प्रक्रिया में भाव-विभावों में आने वाले सभी पक्षों को समाहित करना चाहता है और वह ऐसी शैली में, जिसमें न प्रवाह मन्द पड़े और न अप्रासंगिकता आए। वास्तव में समस्त काव्य में कथा के माध्यम से मुमुक्षु आत्मा के विकास की चौदह स्थितियों का अंकन है, जिन्हें जैन दर्शन में 'गुणस्थान' कहते हैं।

सम्यक् श्रद्धान के साथ ही सम्यक् दृष्टि का उद्भव होता है, जिससे मिथ्या भावों की तीन स्थितियाँ— १-पूर्ण मिथ्यात्व, २-सम्यक् दृष्टि संस्कार समन्वित मिथ्यात्व (सासादन) तथा ३- मिथ्याभाव मिश्रित सम्यग्भाव (सम्यग्मिथ्यात्व)की झलक- नष्ट हो जाती हैं और आत्मा अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ को समाप्त कर हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह रूप पापों से विरत होने की भावना करने लगती है। यह चौथी स्थिति है अविरत-सम्यग्दृष्टि। पुनः अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोधादि कषायों का उदय विनाश कर पाँचवी स्थिति (संयमासंयम) को ग्रहण करती है और वह उपर्युक्त पापों से अल्प रूप में विरत होकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह व्रतों का एकदेश रूप में पालन करने लगती है। यह श्रावक की स्थिति है।

छठी श्रेणी (प्रमत्तविरत) से अट्ठाईस मूलगुणों से युक्त साधु-चर्या आरम्भ होती है जो प्रत्याख्यानावरणीय कषायों का उदय-समाप्त करने से उपलब्ध होती है। इसमें वह अहिंसा आदि पाँच व्रतों का पूर्णतः पालन तो करता है परन्तु प्रमाद की स्थिति रहती है। सातवीं श्रेणी (अप्रमत्त विरत) में संज्वलन क्रोध आदि न्यून हो जाते हैं, जिससे उसमें प्रमाद का अभाव हो जाता है, समन्वय और सामंजस्य की भावना उद्गत हो जाती है, जिससे सभी मित्रवत् दृष्टिगोचर होते हैं, कोई शत्रु नहीं। आठवें (अपूर्वकरण) में पहुँचते ही भाषा विगलित हो जाती है, जिससे ऋजुता आ जाती है, छल-कपट और दम्भ के भाव पलायित हो जाते हैं। अग्रिम दो स्थितियाँ (अनिवृत्तिकरण तथा सूक्ष्म सांपराय) ये दो ऐसी स्थितियाँ हैं, जिनमें संज्वलन कषायें आदि क्रमशः उपशमित या क्षपित होती जाती हैं। ग्यारहवीं स्थिति वाला (उपशान्त मोह) पुनः नीचे की स्थितियों की ओर मुड़ता है परन्तु बारहवीं वाला (क्षीण मोह) कषायों के पूर्णतः नष्ट हो जाने से वीतरागी हो जाता है और पुनः घातक कर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय को नष्ट कर अट्ठारह दोषों से रहित अरिहन्त पद की तेरहवीं स्थिति (सयोगकेवली) को प्राप्त कर लेता है। अन्त में अन्तिम शुक्लध्यान में लीन चौदहवीं स्थिति (अयोगकेवली दशा) में आयुकर्म के साथ नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों का विनाश कर संसार से मुक्त हो जाता है।

इस आत्मविकास की प्रक्रिया में संवर और निर्जरा के साधनों का उपयोग करना पड़ता है अर्थात् पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह भावनाएँ, बाईस परीषहों पर विजय, पाँच चारित्र और तप आदि के द्वारा शुभाशुभ कर्मों का आना रोक कर आत्मप्रदेशों से बँधे हुए पूर्व कर्मों का विनाश करना पड़ता है, तभी आत्मा कर्मों से मुक्त हो 'मुक्त' कहलाती है।

इस कथा में माटी रूप आत्मा के पूर्ण विकास में जैन अध्यात्म की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया रमी हुई है। इस विकास में अनेक बाधाएँ आती हैं तथा परीषह और उपसर्गों को सहना पड़ता है। वह सब कुछ प्रथम माटी रूप और पुनः कुम्भ

रूप जीवात्मा के साथ तथा उसके उद्धारक कुम्भकार रूप गुरु के साथ घटित हुआ है। परन्तु अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म को पालन करते हुए उन्होंने उन पर विजय प्राप्त की है।

कवि ने काव्य में स्थान-स्थान पर विभिन्न पात्रों के माध्यम से उपर्युक्त अध्यात्म विषयों को इतनी आलंकारिक कलित शब्दावलि में अंकित किया है कि काव्य सौष्ठव के मिश्रण से वे रुचिकर और सुपाच्य हो गए हैं। वास्तव में अध्यात्मयोगी सन्तकवि की मानों यह अपनी ही गाथा है, तभी काव्य का प्रवाह वक्र या खण्डित न हो, सहज और अजस्र बहा है।

काव्य सौन्दर्य : अनेक आचार्यों ने काव्य की विभिन्न परिभाषाएँ की हैं, यथा—रसमय वाक्य काव्य होता है, ध्वनिवत् वाक्य काव्य होता है या ऐसे शब्दार्थ काव्य होते हैं, जो दोषमुक्त हों, गुणयुक्त हों तथा प्रायः सालंकार हों, इत्यादि। इस काव्य में गुणवत्ता भी है, निर्दोषता भी; रसवत्ता भी है और अलंकार भी। व्यंजना सौन्दर्य तो समस्त काव्य में स्वयं ही मुखर है। इस काव्य सौन्दर्य का हम अत्यन्त संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हैं, क्योंकि इस विशाल काव्य में इतने उदाहरण विद्यमान हैं कि यदि विस्तार से लिखा जाय तो वह स्वयं एक ग्रन्थ बन जायगा।

इसमें प्रसाद गुण तो सर्वत्र ही व्याप्त है। माधुर्य और ओज की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उल्लिखित हैं। निम्न पंक्तियों में माधुर्य की मुखरता द्रष्टव्य है :

"प्रकृति के साथ/मलिन मन, कलिल तन/बात करता वात है ।
कल-कोमल-कायाली/लता-लतिकायें ये,
शिशिर-छुवन से पीली पड़ती-सी/पूरी जल-जात हैं।" (पृ. ९०)

राहु-स्वीकृति हेतु सागर से निर्यात रत्नों की छटा और उनके वर्णन में मृदुलता और मधुरता निसर्गतः साकार हो गई हैं :

"ऐसी हँसती धवलिम हँसियाँ/मनहर हीरक मौलिक-मणियाँ
मुक्ता-मूँगा-माणिक-छवियाँ/पुखराजों की पीलिम पटियाँ
राजाओं में राग उभरता/नीलम के नग रजतिम छड़ियाँ।" (पृ. २३६)

इसी प्रकार अनेक स्थानों पर वीर, भयानक और बीभत्स प्रसंगों में ओज का अंकन भी उद्दाम रूप में बिखरा पड़ा है। गड़गड़ाते बादलों के नभमण्डल में आगमन का एक दृश्य दर्शनीय है :

"कठोर कर्कश कर्ण-कटु/शब्दों की मार सुन/दशों-दिशायें बधिर हो गईं,
नभ-मण्डल निस्तेज हुआ/फैले बादल-दलों में डूब-सा गया
अवगाह-प्रदाता अवगाहित-सा हो गया !" (पृ. २३२)

गुणों के साथ-साथ काव्य में अदोषता भी सौन्दर्य की हेतु होती है। इस काव्य में मुक्त छन्द का व्यवहार हुआ है किन्तु आधुनिक काव्य के विपरीत इसमें कहीं भी स्वर, ताल और लय का अभाव नहीं है। सर्वत्र काव्य गुणों की सम्प्रेषणीयता विद्यमान है। छन्द में गति है, प्रवाह है और है मसृणता। सभी रसों, ऋतुओं और प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन तथा यहाँ तक कि कथानक में अध्यात्म के संश्लेषण में दोष दृष्टिगोचर नहीं होते। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि छन्दोबद्ध काव्य में अनेक दोष स्वयं ही सिर उभारने लगते हैं, जैसे- शब्दालंकार के दोष, छन्दो-भंग के दोष आदि। परन्तु यह मुक्त-छन्द महाकाव्य होने के कारण इन दोषों से मुक्त है। व्याकरण दोष इसलिए नहीं है क्योंकि कवि

का भाषा पर ऐसा अधिकार है जैसा कि चतुर वैद्य का नाड़ी पर या कुशल खिलाड़ी का अनाड़ी पर। हाँ, एक स्थान पर चन्द्र को धरती से दूर और भानु को निकट कहा है, जो वैज्ञानिक खोजों के प्रतिकूल है। सम्भवतः यह जैनागमों के अनुसार वर्णित है।

विस्तार भय से हम यहाँ रसों के उदाहरण नहीं दे रहे हैं। उपर्युक्त पद्यों से शृंगार, वीर और भयानक रसों का कुछ आभास हमें मिल रहा है। सभी रसों के चित्रण-दर्शन हेतु द्वितीय खण्ड पठनीय है। हाँ, कवि की ज्ञानगरिमा, शब्दों की पकड़, व्यंजना शक्ति तथा सहज अभिव्यक्तीकरण की क्षमता और रमणीयता प्रदर्शित करने के लिए एक प्रसंग की कतिपय पंक्तियों को उद्धृत करने का लोभ हम संवृत नहीं कर सकते।

ग्रीष्म की तपन से पदार्थों के विनाश का प्रसंग है :

- *"नील नीर की झील/नाली - नदियाँ ये/अनन्त सलिला भी*
  अन्तःसलिला हो/अन्त-सलिला हुई हैं।" (पृ. १७८)
- *"हरिता हरी वह किससे ?/हरि की हरिता फिर/किस काम की रही ?*
  लचकती लतिका की मृदुता/पक्व फलों की मधुता/किधर गई सब ये ?"
  (पृ. १७९)
- *"वह राग कहाँ, पराग कहाँ/चेतना की वह जाग कहाँ ?*
  वह महक नहीं, वह चहक नहीं,/वह ग्राह्य नहीं, वह गहक नहीं,
  वह 'वि' कहाँ, वह कवि कहाँ,/मंजु-किरणधर वह रवि कहाँ ?
  वह अंग कहाँ, वह रंग कहाँ/अनंग का वह व्यंग कहाँ ?
  वह हाव नहीं, वह भाव नहीं,/चेतना की छवि-छाँव नहीं,
  यहाँ चल रही है केवल/तपन···तपन···तपन···!" (पृ. १७९-१८०)

कवि ने इस समस्त काव्य में शब्दों का गुम्फन मणि-कांचन-खचन की भाँति किया है। अनेक रेखाचित्र, तैलचित्र और भित्तिचित्र स्वयं ही उभर कर स्वच्छ निष्कलंक परिधान में खड़े से दृष्टिगोचर होते हैं। अनेक स्थलों पर तो ऐसे मनोहारी प्रसंग और शब्दों के साथ ऐसी अठखेलियाँ हैं कि मन करता है कि कवि का हाथ चूम लिया जाय, मस्तक इसलिए नहीं क्योंकि वह सन्त होने से पूज्यपाद हैं। अनुलोमार्थ शब्दों का व्यवहार तो निष्णात कवि कुशलतापूर्वक करता ही है, किन्तु यहाँ तो शब्दों के विलोमार्थ भी इतने सटीक हैं कि हृदय हिल्लोलित हो जाता है, यथा—दया-याद, [illegible] आदि।

प्रतीत नहीं होते, जैसे 'णमोकार मन्त्र', 'खम्मामि खमंतु मे', 'धम्मं सरणं गच्छामि', 'धम्मो दयाविसुद्धो' आदि। आधुनिक काल पर व्यंग्य कसते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाक्य को 'वसु एव कुटुम्बकम्' कहा गया है।

लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग अलंकृत भाषा में सहज ही होता है। इस काव्य में भी इनका व्यवहार अत्यन्त मनोहारी रूप में हुआ है। मुख पर ताला पड़ना, नाड़ी ढीली पड़ना, बेल कड़वी और नीम चढ़ी, भीति बिना प्रीति नहीं, क्षीर-नीर-विवेक, गागर में सागर, बिन माँगे मोती मिलें-माँगे मिले न भीख, तलवार के अभाव में म्यान का मूल्य ही क्या एवं पूत का लक्षण पालने में--आदि अनेक लोकोक्ति एवं मुहावरों ने इस काव्य में चार चाँद लगा दिए हैं।

समूचे काव्य में अलंकार तो इतने भरे पड़े हैं कि लगता है मानों मुक्ता-मणि-माणिक्य आदि रत्नजटित स्वर्ण-रजत के अलंकारों से सुसज्जित कोई सर्वाङ्ग सुन्दर पुरुष ही अपने कान्त कलेवर की छटा छिटका रहा है। स्थान-स्थान पर प्रसंगवश पात्रों के माध्यम से धर्म के अंगों, जीवनादर्शों तथा नीति वाक्यों को व्याख्यायित किया गया है और यह सब कवि के हृदय से सहज प्रस्फुटित-सा जान पड़ता है। इसमें ज्योतिष, हठयोग तथा गणित को भी यथास्थान इस प्रकार समाविष्ट किया है कि वे भी अङ्गावयव से ही प्रतीत होते हैं।

□



भारतीय संस्कृति एवं साहित्य का विश्वकोश : 'मूकमाटी' महाकाव्य

डॉ. उमेश प्रसाद सिंह 'शास्त्री'

'मूकमाटी' महाकाव्य को आद्योपान्त पढ़ने के बाद समीक्षात्मक दृष्टि से कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इसके चार खण्ड हैं– प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; द्वितीय खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; तृतीय खण्ड 'पुण्य का पालन: पाप-प्रक्षालन' एवं चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।' माटी जैसी अकिंचन, पद-दलित और तुच्छ वस्तु को महाकाव्य का विषय बनाने की कल्पना ही नितान्त विलक्षण है। 'मूकमाटी' के 'प्रस्तवन' लेखक श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के अनुसार : "माटी की तुच्छता में चरम भव्यता के दर्शन करके उसकी विशुद्धता के उपक्रम को मुक्ति की मंगल-यात्रा के रूपक में ढालना कविता को अध्यात्म के साथ अ-भेद की स्थिति में पहुँचाना है।" इस परिप्रेक्ष्य में यह कहना भी समीचीन प्रतीत होता है : " 'मूकमाटी' मात्र कवि-कर्म नहीं है, यह एक दार्शनिक सन्त की आत्मा का संगीत है।" आचार्यश्री ने तप:-साधना से अर्जित जीवन दर्शन के अनुभूतिपरक सन्देश को रचा-पचा कर सबके हृदय में सम्प्रेषित कर देने का सफल प्रयास किया है।

'मूकमाटी' को महाकाव्य की दृष्टि से देखने पर ऐसा कहना उचित है कि यह एक काव्य है, महाकाव्य नहीं। महाकाव्य के जो लक्षण शास्त्रों में निर्धारित हैं, वे सभी लक्षण इसमें पूर्णरूपेण घटित नहीं होते। महाकाव्य के निर्धारित लक्षण के अनुसार इसमें आठ सर्ग नहीं हैं। इसमें कुल चार खण्ड ही विन्यस्त हैं। इसमें एक आद्योपान्त चलने वाली कथा नहीं है। इसमें शृंगार, वीर या करुणा से इतर रस का परिपाक हुआ है। इसके नायक या नायिका धीरोदात्त चरित्र के नहीं हैं, इत्यादि। हाँ, इसे खण्डकाव्य की श्रेणी में अवश्य परिगणित किया जा सकता है। मेघदूत भी एक खण्डकाव्य है जिसमें कविपुंगव कालिदास ने न केवल अपनी काव्य प्रतिभा का अपितु अपनी सारी अनुभूतियों एवं प्रवृत्तियों का कलात्मक ढंग से सुन्दर संयोजन किया है और एक कालजयी कृति की रचना कर दी है। मेघदूत को केवल एक काव्य कहना मात्र उसके एक पक्ष को देखना है। इसे तो विश्वकोश कहना चाहिए क्योंकि इसमें विविध शास्त्रपरक, यथा–भूगोल, इतिहास, समाजशास्त्र, पदार्थ विज्ञान, जीवन विज्ञान एवं सबसे बढ़कर नीतिज्ञान का चतुर स्थापन हुआ है। यही कारण है कि किसी प्रौढ़ समीक्षक ने कहा था– 'माघे मेघे गतं वय:' अर्थात् संस्कृत के प्रसिद्ध महाकवि माघ एवं प्रसिद्ध काव्यकृति मेघदूत को ठीक से पढ़ने में मनुष्य की उम्र ही बीत जा सकती है। यह इसकी अगाधता, आध्यात्मिकता एवं शास्त्रज्ञता का ही संकेत है। अगर समकालीन काव्य 'उर्वशी' को ध्यानगत किया जाए तो 'उर्वशी' में दिनकरजी ने भारतीय उपाख्यान के आधार पर 'उर्वशी' के माध्यम से भारतीय संस्कृति को उजागर किया है। कविश्रेष्ठ दिनकर ने मानव समाज को कुछ सन्देश प्रेषित किए हैं। इस सन्दर्भ में 'उर्वशी' 'मूकमाटी' से साम्य रखती है। जिस रूप से 'उर्वशी' को महाकाव्य की श्रेणी में रखा जाता है, उस रूप से 'मूकमाटी' को भी महाकाव्य के नाम से अभिहित किया जा सकता है।

जो हो, महाकवि आचार्य श्री विद्यासागरजी द्वारा रचित 'मूकमाटी' एक कालजयी रचना है जिसमें प्रतीक रूप में आध्यात्मिक, शाश्वत सन्देश भरे पड़े हैं। इस परिप्रेक्ष्य में यह भी एक विश्वकोश ही है जिसमें अनेक शास्त्रों एवं उपाख्यानों के सन्देश संश्लिष्ट होकर पिरोए गए हैं। यह महाकवि विद्यासागरजी की उपलब्धि है एवं सारस्वत सफलता भी। आलोच्य पुस्तक 'मूकमाटी' में विन्यस्त 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' शाश्वत प्रकृति का उपशीर्षक है जिसके अधोलिखित अंश उल्लेखनीय हैं :

- *"शिष्टों का उत्पादन–पालन हो/दुष्टों का उत्पातन–गालन हो,*

संपदा की सफलता वह/सदुपयोगिता में है ना !" (पृ. २३५)

- *"अपने हों या पराये,/भूखे-प्यासे बच्चों को देख*
  माँ के हृदय में दूध रुक नहीं सकता।" (पृ. २०१)
- *"नया मंगल तो नया सूरज/नया जंगल तो नयी भू-रज*
  नयी मिति तो नयी मति/नयी चिति तो नयी यति
  नयी दशा तो नयी दिशा/नहीं मृषा तो नयी यशा।" (पृ. २६३)

सत्कर्मों का चुनाव ही जीवन की सार्थकता के मार्ग में मील का पत्थर है। 'मूकमाटी' पढ़ने पर इसकी अनुभूति स्वत: स्फूर्त हो जाती है। इसी समय भारतीय मनीषा के उस शाश्वत सन्देश का स्मरण हो जाता है जो किसी मनीषी के द्वारा अभिहित हुआ था :

"धनानि जीवितं चैव, परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
सन्निमित्ते वरं त्यागो, विनाशे नियते सति॥"

अर्थात् भौतिक धन और शरीर रूपी धन दोनों नश्वर हैं। अत: सत्कार्यों में इसे संलग्न क्यों नहीं करके इसकी सार्थकता स्थापित करें। 'माटी' अपने को लोक मंगल में ही समर्पित कर देने में अपनी सफलता एवं सार्थकता समझती है। नि:सन्देह साधक आचार्य श्री विद्यासागरजी कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा के धनी हैं जिनकी तूलिका से ऐसे शाश्वत साहित्य का सृजन सम्भव हो सका है जो सत्य, शिव और मंगलदायक है। नि:सन्देह 'मूकमाटी' कवि की साधना का अन्यतम निदर्शन है। 'मूकमाटी' काव्योत्कर्षों की दृष्टि से विशिष्ट एवं महनीय है। आचार्यश्री ने 'रसो वै स:' का प्रतिपादन तल्लीनता से किया है।

संक्षेपत: एवं सारांशत: 'मूकमाटी' में गवेषणा केन्द्रित प्रस्तुति द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के नीतिपरक तथ्यों का सतर्क उपस्थापन हुआ है। इसमें पाण्डित्य के प्रकर्ष के साथ विवेचनपटुता का भी श्लाघ्य समन्वय है। सच है कृति की सार्थकता यह है कि वह नई दिशाओं की ओर संकेत करे। इस दृष्टि से मैं विवेच्य पुस्तक का स्वागत करता हूँ और सारस्वत उपलब्धि के लिए आचार्यश्री को नमन भी। यह विद्वत्समाज में पूर्णरूपेण समादृत होगी, ऐसा विश्वास है। □



पृ. 313

~~तो, पूजन कार्य से निवृत्त हो~~
~~हमने आया सेठ प्रांगण में~~
~~और वह भी~~
~~माटी का मंगल कुम्भ ले खड़ा होगा।~~

सन्त काव्य-परम्परा की अद्वितीय प्रस्तुति : 'मूकमाटी'

डॉ. नागेश्वर सिंह

भारतीय साहित्य के अन्तर्गत सन्तकाव्य की एक सुदीर्घ और अविच्छिन्न परम्परा रही है। अपनी रचनाओं के माध्यम से सन्त-मनीषियों ने सांसारिक परिदृश्यों के अवलोकन के पश्चात् अपनी हृदयगत भावनाओं का अभिव्यंजन किया है। संसार और सांसारिक वस्तुओं के प्रति सन्तों का दृष्टिकोण सामान्य मानव से भिन्न प्रकार का और बिल्कुल ही अलग-थलग है। उन्होंने जीवन और जगत् की निस्सारता तथा उसके भ्रमयुक्त चक्रों को अच्छी तरह से जाना है, परखा है। बाहर से यह संसार जितना सम्मोहक दीख पड़ता है, उसका अन्तर्मन का घट उतना ही रीता और नीरसता की प्रतीति करानेवाला है। अपनी ज्ञान गरिमा के कारण सन्त सामाजिक परिवेश के मध्य संपूज्य और आदरणीय हैं। सांसारिक माया-मोह के पाश को तोड़कर जीवन को नए मार्ग पर ले जाने की अपरिमित शक्तियाँ उनमें निहित हैं। उनके द्वारा निर्देशित पन्थों से जगत् कल्याण सम्भव है। अज्ञानी संसार को वे ज्ञानी बनाने में समर्थ हैं। आध्यात्मिक जगत् में अभिगमन करने के पश्चात् ही संसार के समग्र दुःखों और क्लेशों से मुक्त हुआ जा सकता है।

सन्त काव्य-परम्परा की अद्वितीय प्रस्तुति 'मूकमाटी' महाकाव्य आचार्य कवि सन्तशिरोमणि सिद्धयोगी श्री विद्यासागरजी की एक अनूठी काव्य कृति है। इस महाकाव्य में आचार्य कवि ने माटी (मिट्टी) जैसी दबी-कुचली और निरन्तर पैरों तले रौंदी जाती हुई निरीह-तुच्छ वस्तु को अपने काव्य का वर्ण्य विषय बनाया है। कवि की सारी मनोभावनाएँ इसी बिन्दु पर व्यक्त हो जाती हैं, जहाँ उसने माटी की तुच्छता को चरम भव्यता प्रदान करने का सार्थक प्रयास किया है। आचार्य विद्यासागरजी मात्र कवि ही नहीं, एक तपे-तपाए सन्त भी हैं। कवि की अदम्य साधना की अभिव्यक्ति उक्त महाकाव्य में दृष्टिगत होती है।

संस्कृत के आचार्यों और विद्वानों ने महाकाव्य की परिभाषा निश्चित करते हुए लिखा है कि महाकाव्य के लिए कम-से-कम आठ सर्गों अथवा खण्डों का होना आवश्यक है। परन्तु, प्रस्तुत ग्रन्थ उक्त परिभाषा की परख पर खरा नहीं उतरता, क्योंकि यह मात्र चार खण्डों में ही विभक्त है। फिर भी, यह पाँच सौ पृष्ठों का एक महनीय काव्य ग्रन्थ है, जो परिमाण की दृष्टि से महाकाव्य का स्पर्श करता है। परन्तु, इसमें एक अभाव खटकता है, वह यह कि काव्य ग्रन्थ की आरम्भिक पंक्तियों के माध्यम से ईश वन्दना या गुरु वन्दना की प्रस्तुति नहीं है। हालाँकि ग्रन्थ के प्रथम पृष्ठ पर अंकित पंक्तियाँ प्राकृतिक दृश्य की उपस्थिति में अपनी सामर्थ्य की अभिव्यक्ति करती हैं :

"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,
और···इधर···नीचे/निरी नीरवता छाई।" (पृ. १)

इसके बाद की पंक्तियाँ भी प्राकृतिक दृश्य के सौन्दर्य को उकेरने में पूरी तरह से समर्थ दीख पड़ती हैं।

जैनाचार्यों द्वारा जैन साहित्य की प्रस्तुति अधिकांशतः संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में हुई है। हिन्दी में भी यह परम्परा जीवित है। उसी परम्परा के अन्तर्गत 'मूकमाटी' महाकाव्य का प्रणयन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ अध्यात्मवादी और दार्शनिक चेतना से समन्वित है। इसमें माटी जैसी अकिंचन, निरीह, पद दलित वस्तु महाकाव्य की विषय वस्तु बनाकर उसकी करुण वेदना को मुखर अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है। इसमें धर्म, दर्शन और अध्यात्म के दुरूह शब्दों को मुक्त छन्दों के माध्यम से सुबोध, सुगम बनाने का श्लाघ्य प्रयत्न किया गया है। प्रस्तुत महाकाव्य रूपक काव्य का अनूठा उदाहरण है। इसी विशिष्टता के कारण ऐसी प्रतीति होती है कि माटी आत्मा की प्रतीक है। माटी जैसी

तुच्छ वस्तु युग-युग से भवभ्रमित होकर अपने उद्धार का मार्ग खोज रही है। किन्तु सम्यक् ज्ञानाभाव के कारण वह भटकन की नियति को भोगने को अभिशप्त है। संसार का प्रत्येक प्राणी सुख-शान्ति की खोज में दिग्भ्रमित है। सम्पूर्ण मानव जाति आतंकवाद के साए में घुट-घुटकर जी रही है। उसे इस घुटन से मुक्ति के लिए अहिंसा का मार्ग अपनाना होगा, तभी आतंकवाद का अन्त और अनन्तवाद का श्रीगणेश होगा।

'मूकमाटी' किसी वर्ग, जाति, सम्प्रदाय, धर्म, संस्कृति एवं समाज को उजागर करने वाला महाकाव्य नहीं है, अपितु सम्पूर्ण मानव जाति को उत्कर्ष के शिखर पर पहुँचाने वाला महाकाव्य है।

मूक माटी महाकाव्य की नायिका है जिसे अनन्तकाल से कुम्भकार की प्रतीक्षा है, क्योंकि वह उसे मंगल घट का स्वरूप प्रदान करेगा। माटी की वेदना को उसी के श्रीमुख से आचार्यवर ने अभिव्यंजित करवाया है :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
...अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !" (पृ. ५)

आगे कविवर ने माटी की अव्यक्त पीड़ा को अनुभूत करते हुए उसकी पीड़ा–वेदना को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए पुनः कहलवाया है:

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की/च्युति कब होगी ?
बता दो, माँ...इसे !/...कुछ उपाय करो माँ !/खुद अपाय हरो माँ !
और सुनो,/विलम्ब मत करो/पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ !" (पृ. ५)

उपर्युक्त पंक्तियों से पूर्व की बीस-तीस पंक्तियों में आचार्यवर ने माटी की वेदना-व्यथा की इतनी तीव्र, प्रगाढ़ एवं मार्मिक अभिव्यक्ति प्रदान की है कि यह एक करुण गाथा-सी प्रतीत होती है। माँ-बेटी वार्तालाप को कवि ने नदी की धारा सदृश अचानक नया मोड़ देते हुए अपनी दार्शनिकता का अभिव्यंजन किया है। इस काव्य ग्रन्थ में कवि के द्वारा प्रतिपादित प्रत्येक तथ्य, तत्त्व दर्शन की सार्थकता से सम्पृक्त है।

महाकाव्य के लिए नायक-नायिका का होना भी आवश्यक माना गया है। इसमें प्राकृतिक परिवेश तो है, वर्णन कौतूहलता भी है, परन्तु एक प्रश्न जो बहुत देर तक स्पष्ट नहीं हो पाता है, वह है–इस महाकाव्य का नायक कौन है ? सीधे तौर पर इस समस्या का समाधान नहीं हो पाता है। माटी तो नायिका रूप में अपनी सार्थकता सिद्ध कर पाने में समर्थ हो जाती है परन्तु नायक का स्वरूप देर तक स्पष्ट नहीं हो पाता। कुम्भकार को नायक माना जा सकता है। परन्तु नायक-नायिका के मध्य घटित होने वाले रोमांस का अभाव खटकता है। यहाँ रोमांस की स्थिति विद्यमान नहीं है। और यदि है भी तो माटी रूपी नायिका को कुम्भकार के द्वारा परिष्कृत, परिशोधित होने के लिए युग-युग तक इंतजार करना पड़ा है कि कब कुम्भकार उसके समक्ष उपस्थित होकर उसे इस संक्रमण की दशा से उबारते हुए सुन्दर घट के रूप में परिवर्तित करेगा ?

माटी की मूक वेदना, उसकी करुण पुकार एक साधक-सहृदय कवि ही श्रवण कर सकता है, साधारण कवि हृदय नहीं। कवि ने माटी की महान् महिमा को उद्घाटित किया है। उपर्युक्त आलोक में यह नामकरण अपने आप में अनुपम और अनूठा है। प्रस्तुत काव्य में सामयिक स्थिति, राजनीति, समाज और धर्म का यथार्थ चित्रण हुआ है। इस रूप में यह ग्रन्थ तत्कालीन समाज, राजनीति और धर्म का दर्पण बन गया है।

प्रस्तुत महाकाव्य माटी की उस प्राथमिक दशा के परिशोधन की प्रक्रिया को अभिव्यक्ति प्रदान करता है जहाँ

माटी पिण्ड रूप में कंकर-कणों से मिश्रितावस्था में है। कुम्भकार की कल्पना में माटी का मंगल घट अवतरित हुआ है। वह माटी को सुन्दर घड़े का रूप प्रदान कर उसे सार्थकता प्रदान करना चाहता है। इस सार्थकता के निमित्त माटी को परिशोधित करने की आवश्यकता है। माटी को परिशोधित किए जाने और उससे कंकरों को अलग किए जाने पर उसे व्यथा होती है। शिल्पी के मुख से आचार्यवर ने कहलवाया है कि माटी के संकरदोष को दूर करने के लिए ही कंकर-कोष को अलग किया जा रहा है। यद्यपि दोनों में समानता है। इस कथन के समर्थन में कवि ने नीर-क्षीर के मिलन का उदाहरण प्रस्तुत किया है:

"नीर की जाति न्यारी है/क्षीर की जाति न्यारी,
"'क्षीर में नीर मिलाते ही/नीर क्षीर बन जाता है।
"'गाय का क्षीर भी धवल है/आक का क्षीर भी धवल है
दोनों ऊपर से विमल हैं/परन्तु/परस्पर उन्हें मिलाते ही
विकार उत्पन्न होता है—/क्षीर फट जाता है/पीर बन जाता है वह!
नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।
और/क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है।" (पृ. ४८-४९)

इस प्रकार शिल्पी कंकरों को समझाता है कि माटी से तुम्हारा मिलन अवश्य हुआ है, किन्तु उसने तुम्हें आत्मसात् नहीं किया। जल के सम्पर्क से तुम भीगते तो हो, पर फूलते नहीं। तुम हृदयशून्य हो, दूसरों के दुःख-दर्द देखकर भी तुम्हें पसीना नहीं आता। तुम तो पाषाण हृदय हो। अतः तुम्हारा माटी से विलगाव आवश्यक है। कंकरों की इस दशा-दिशा पर माटी को दया आती है और वह कंकरों को संयम के मार्ग पर चलने की सलाह देती हुई कहती है :

"राही बनना ही तो/हीरा बनना है।" (पृ. ५७)

पुनः माटी कहती है :

"खरा शब्द भी स्वयं/"'विलोमरूप से कह रहा है—
राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ?" (पृ. ५७)

द्वितीय खण्ड का आरम्भ कुम्भकार के द्वारा मिट्टी में मात्रानुकूल जल के मिलाने से होता है:

"लो, अब शिल्पी/कुंकुम-सम मृदु माटी में
मात्रानुकूल मिलाता है/छना निर्मल-जल।
नूतन प्राण फूँक रहा है/माटी के जीवन में।" (पृ. ८९)

माटी के फूलने के पश्चात् माटी को खोदने की प्रक्रिया में कुम्भकार की कुदाली एक काँटे के माथे पर जा लगती है। उसका सिर फट जाता है। वह बदला लेने की सोचता है। कुम्भकार को अपनी असावधानी पर पश्चात्ताप होता है। तत्क्षण वह *"खम्मामि, खमंतु मे—/क्षमा करता हूँ सबको,/क्षमा चाहता हूँ सबसे"(पृ. १०५)* कहकर क्षमा-याचना करता है।

तत्पश्चात्, कुम्भकार पूरे मनोयोग से कुम्भों का निर्माण करता है और उन्हें सूखने हेतु धूप में रख देता है।

कवि ने बताया है कि वसन्त के वैभव का वर्णन करते हुए उसके विदा होने की प्रक्रिया का विशद वर्णन किया है और कहा है :

"जिसने जनन को पाया है/उसे मरण को पाना है
यह अकाट्य नियम है !" (पृ. १८१)

यहाँ कविवर ने भूलोक के चिर-परिचित नियम नश्वरता का उद्घोष वसन्त की विदाई के माध्यम से किया है। इसी द्वितीय खण्ड में सन्त कवि ने विभिन्न साहित्यिक बोधों का दर्शन कराया है। महाकवि ने नव रसों की विवेचना, संगीत की अन्तरंग प्रकृति का प्रतिपादन बड़े ही सहज एवं स्वाभाविक रूप में किया है। नव रसों में शृंगार की नितान्त मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। ऋतुओं के वर्णन में काव्य का चमत्कार पाठकों को आकर्षित करता है। तत्त्व दर्शन से तो पूरा-का-पूरा खण्ड भरा पड़ा है।

तीसरे खण्ड 'पुण्य का पालन: पाप-प्रक्षालन' का आरम्भ जल-प्रलय के संकेत से होता है। जल वसुधा को शीतलता प्रदान करने का लोभ देकर उसके वैभव को बहा-बहाकर ले जाता है। इस प्रक्रिया के द्वारा वह अपना रत्नाकर नाम सार्थक करता है। यह उसके (जल) जड़बुद्धि होने की प्रतीति है। पर धरती ने सारी विपदाओं को सहकर असीम धैर्य और क्षमाशीलता का ही परिचय दिया है। इसकी पुष्टि आचार्यवर ने *"सर्व-सहा होना ही/सर्वस्व को पाना है जीवन में" (पृ. १९०)* कहकर की है। पृथ्वी के साथ हो रहे अन्याय को सूर्यदेव सहन नहीं कर पाते। उनकी सहनशक्ति उनका साथ छोड़ देती है तो वे अपनी प्रखर किरणों को ताप से जल को सुखाते हैं, परन्तु जल पुन: वाष्प बनकर बादल में परिवर्तित होता है और बार-बार बहाकर धरती को सताता है। इतने के बावजूद सूर्यदेव अपना कर्म तल्लीनता-पूर्वक निष्पादित करते हैं, परन्तु चन्द्रमा अपने पथ से विचलित हो जाता है। इसी कारण उसे कलंक का भागी भी बनना पड़ता है।

धरती की कीर्ति का उत्कर्ष देखकर सागर जल-भुन जाता है और पुन: वह अपनी क्षुद्रबुद्धि को प्रयुक्त करना चाहता है। धरती के प्रति सागर का यह वैर, वैमनस्यता भरा भाव प्रभाकर भी सहन नहीं कर पाता। सागर बड़वानल का भयानक रूप धरता है और प्रभाकर पर 'कथनी और करनी में बड़ा अन्तर है' कहकर व्यंग्य करता है। यहाँ कवि ने सागर को शुभ कार्यों में विघ्नकर्ता के रूप में चित्रित किया है। प्रभाकर को ग्रसने के लिए सागर राहु को निमन्त्रण देता है। राहु सूर्य को ग्रस लेता है, पृथ्वी पर दिन में भी अन्धकार छा जाता है और सारी सृष्टि आकुल-व्याकुल हो जाती है। तब इन्द्र सागर के अत्याचारों से पृथ्वीवासियों को मुक्ति दिलाने की ठानते हैं। यहाँ भी जमकर सागर और इन्द्र की सेनाओं के बीच युद्ध होता है। इसे सन्त कवि ने वर्तमान विश्व की स्थिति (विश्वयुद्ध की सम्भावनाओं) का पर्याय बताते हुए कहा है :

"ऊपर अणु की शक्ति काम कर रही है
तो इधर"नीचे/मनु की शक्ति विद्यमान !" (पृ.२४९)

इन पंक्तियों में कविवर ने विज्ञान और धर्म, विज्ञान और आस्था का मौलिक और सर्वोत्कृष्ट वर्णन किया है। आचार्यवर ने बुद्धिवादी मानव के दिमाग के स्थिर रहने पर शंका व्यक्त की है कि पता नहीं यह कब सरक जाए और कौन-सा विनाशकारी क़दम उठा ले। वर्तमान विश्व में प्रक्षेपास्त्रों की होड़ के बीच सारी मानव जाति दुश्चिन्ताओं से घुली जा रही है। इस प्रकार का विशद चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है।

आचार्यवर ने इस खण्ड में अपनी लेखनी के माध्यम से सम्पूर्ण मानव जाति का आह्वान किया है :

"निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर
वेद से अवेद की ओर/बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए।" (पृ. २६७)

मानवों को कविवर ने यह भी उपदेश देने का सार्थक प्रयत्न किया है कि जीवन यात्रा में पल-पल पर बाधाएँ, विपदाएँ उसका मार्ग रोकने को प्रस्तुत रहती हैं, परन्तु क्या कभी दृढ़ संकल्पवाला पथिक इन बाधाओं से घबराता है ? वह तो इन सभी बाधाओं को हँसते हुए धैर्य के साथ पार करता है। कवि की ये बातें हर प्राणी को उसके लक्ष्य तक पहुँचाने हेतु असीम प्रेरणा प्रदान करती हुई प्रतीत होती हैं।

चौथे खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में आचार्य ने बताया है कि कुम्भकार ने कुम्भ को रूपायित कर दिया है और अवे में तपाकर उसे पूर्णता प्रदान करने की तैयारी भी कर रहा है। इस पूरी प्रक्रिया को कविवर ने बड़े ही सहज ढंग से काव्यबद्ध किया है। इस खण्ड का काव्यफलक इतना विस्तृत है कि यह स्वयं में एक खण्डकाव्य प्रतीत होता है। सन्त कवि का सम्पूर्ण काव्य कौशल इसी खण्ड में प्रस्फुटित हुआ है। प्रत्येक कथा इस प्रकार एक-दूसरे से सम्पृक्त है कि कहीं भी टूटन का आभास तक नहीं होता।

कई प्रकार की प्रक्रियाओं के बीच बबूल की लकड़ी अपनी व्यथा करती हुई कहती है। उसकी इस व्यथा-कथा के माध्यम से वर्तमान भारतीय शासन व्यवस्था पर व्यंग्य की अभिव्यक्ति हुई है :

"कभी-कभी हम बनाई जातीं/कड़ी से और कड़ी छड़ी
अपराधियों की पिटाई के लिए।/प्रायः अपराधी-जन बच जाते
निरपराध ही पिट जाते,/और उन्हें/पीटते-पीटते टूटतीं हम।
इसे हम 'गणतन्त्र' कैसे कहें ?/यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है
या/मनमाना 'तन्त्र' है।" (पृ. २७१)

अवे में लकड़ियाँ जलती-बुझती हैं। बार-बार कुम्भकार उन्हें प्रज्वलित करता है। अपक्व कुम्भ अग्नि से कहता है :

"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है
स्व-पर दोषों को जलाना/परम-धर्म माना है सन्तों ने।" (पृ. २७७)

तत्पश्चात्, पूर्णरूप से पके कुम्भ को कुम्भकार बाहर निकालता है। इस कुम्भ को वह श्रद्धालु नगर सेठ के सेवक के हाथों देता है कि इसमें भरे जल से अतिथि की उसकी तृषा तृप्त हो, उसका पाद-प्रक्षालन हो। सेवक ले जाने से पूर्व इसे सात बार बजाता है और उससे सात स्वर ध्वनित होते हैं।

माटी से निर्मित कुम्भ के सत्कार और उसे दिए जा रहे महत्त्व के कारण सेठ के घर का स्वर्ण-कलश विक्षुब्ध हो जाता है, अपनी उपेक्षा देखकर। अपने अपमान का बदला लेने के लिए वह आतंकवादी दल को आमन्त्रित करता है जो सेठ के परिवार को तबाह करे, बर्बाद करे। स्वर्ण कलश के क्या कारनामे हैं, किन-किन विपत्तियों से सेठ का परिवार जूझता है, वह अपने परिवार की रक्षा स्वयं और सहयोगी प्राकृतिक शक्तियों की सहायता से करता है, किस प्रकार आतंकवादियों का हृदय परिवर्तन होता है—इन सबका विवरण इतना रोचक है कि यह कथा औपन्यासिक जान पड़ती है। कविवर ने स्वर्ण-कलश का चित्रण आतंकवादी के रूप में प्रस्तुत किया है। आतंकवाद वर्तमान समय में पूरे विश्व

की समस्या है। विशेषत: भारत के प्रत्येक भाग में आतंकवाद-अलगाववाद का ही वातावरण व्याप्त है। आचार्य ने इस विकट समस्या का समाधान भी जैन दर्शन के मुख्य सिद्धान्त 'अहिंसा परमो धर्म:' के तहत सुझाया है। इस समाधान की प्रस्तुति लक्षणात्मक और व्यंजनात्मक पद्धति से कवि ने की है।

कवि ने स्वावलम्बी होने की सलाह एक अप्रतिम उदाहरण के माध्यम से आज के मानव को दी है। देश में व्याप्त आतंकवाद के कारण आज मानव जीवन चारों ओर से किस प्रकार भयाक्रान्त है और वह किस घुटन में जीने को विवश है, इसकी प्रस्तुति आचार्यवर ने अप्रतिम रूप में की है। साथ ही कवि ने भोजनभट्ट और आत्मज्ञानहीन साधुओं पर भी अपनी कृति के माध्यम से करारी चोट की है। उन्होंने बताया है कि ढोंगी, कपटी, धूर्त लोग साधुवेश धारण कर समाज को सदैव ठगते रहे हैं। इस प्रसंग की प्रस्तुति इतने यथार्थ ढंग से होने के पीछे कवि का स्वयं साधक साधु होना प्रतीत होता है, इसीलिए उन्होंने सच्चे साधु के स्वरूप का उद्घाटन भी किया है। आचार्यवर ने प्रस्तुत ग्रन्थ में कलिकाल के प्रभावों का भी विशद वर्णन किया है।

भारतीय गणतन्त्रीय व्यवस्था पर करारी चोट करते हुए आचार्यवर ने बतलाया है कि वर्तमान गणतन्त्रीय न्याय व्यवस्था कलुषित हो गई है। रिश्वतखोरी और अर्थलिप्सा के कारण अपराधवृत्ति बलवती और सशक्त हो गई है। कारावास अपराधियों के लिए प्रशिक्षण केन्द्र भर बनकर रह गया है। उनकी हिंसक मनोवृत्ति वहाँ अत्यधिक प्रशिक्षित होती है।

इस प्रकार की विषम अवस्था में सम्पूर्ण जगत् को शान्ति की आवश्यकता है। लेकिन सर्वत्र आतंकवादी प्रवृत्तियाँ सक्रिय हैं। इनकी सक्रियता से शान्ति व्यवस्था अनजानी वस्तु बनकर रह गई है। कविवर ने बताया है कि बहिर्जगत् के साथ-साथ मानव का अन्तर्जगत् भी भोग-विलास के विकारों से आतंकित है। जब तक हमारे भीतर सद्वृत्तियाँ जागृत नहीं होतीं, सुख-शान्ति की खोज अधूरी रहेगी। आचार्य ने मानव जाति को जीवन में उत्पन्न विसंगतियों से मुक्ति पाने के लिए संकल्प लेने की आवश्यकता जताई है, क्योंकि संकल्प शक्ति के समक्ष ही असत् को घुटना टेकने के लिए अन्ततः विवश होना पड़ता है।

'मूकमाटी' महाकाव्य का कथा-फलक इतना विस्तृत होने के बावजूद बोझिल नहीं है, कौतूहलता सर्वत्र विद्यमान है। अध्यात्म, धर्म, दर्शन एवं सिद्धान्त जैसे कठिन विषयों का प्रतिपादन भी आचार्य ने इतने आकर्षक तरीके से किया है कि सरसता सर्वत्र परिलक्षित होती है। मूकमाटी को सार्थकता प्रदान करने का स्तुत्य कार्य कोई सिद्ध पुरुष ही कर सकता है।

महाकाव्य की अनिवार्यता रस निरूपण की भी है। नव रसों में से एक की प्रधानता का होना आवश्यक माना गया है। प्रस्तुत कृति का प्रधान रस 'शान्त रस' प्रतीत होता है। कृतिकार स्वयं शान्त रस के अनुपम और विशिष्ट उदाहरण हैं। किसी महापुरुष के दर्शन, तत्त्वज्ञान और वैराग्य आदि से ही इस रस की उद्भावना होती है। शान्त रस के साथ-साथ शृंगार, करुण, हास्य, वीर, वात्सल्य आदि की योजना भी आचार्य ने उत्कृष्ट रूप में की है। शान्त रस के बाद अगर किसी दूसरे रस की प्रधानता परिलक्षित होती है तो वह है—वात्सल्य रस। माँ-बेटी के संवाद वात्सल्य रस के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। अनेक प्रकार की विपत्तियों के आगमन तथा उनके शमनयुक्त प्रसंगों में वात्सल्य और करुणा का सागर लहराता है। 'मूकमाटी' में पाठक जितना ही डूबता है, उतना ही वह काव्य के लौकिक एवं अलौकिक आनन्द की प्राप्ति करता है, उसे सन्तोष की प्राप्ति होती है। महाकवि ने वात्सल्य रस के निरूपण में अपनी क्षमता का भरपूर दिग्दर्शन कराया है :

"अपने हों या पराये,/भूखे-प्यासे बच्चों को देख

माँ के हृदय में दूध रुक नहीं सकता/बाहर आता ही है उमड़ कर,
इसी अवसर की प्रतीक्षा रहती है/उस दूध को।" (पृ. २०१)

प्रकृति चित्रण भी इस महाकाव्य में समुचित रूप में हुआ है। इसका प्रारम्भ ही प्रकृति चित्रण से हुआ है। प्रकृति-चित्रण में महाकवि ने आलम्बन, उद्दीपन, आलंकारिक वातावरण, मानवीकरण, संवेदनात्मक, उपदेशात्मक, रहस्यात्मक आदि रूपों को विशेष प्रधानता दी है। प्राकृतिक उपादानों में कुमुदिनी, चाँदनी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, सौरभ, पवन, सागर, सरिता तट आदि का चित्रण है। प्रकृति चित्रण के तहत ऋतुओं का वर्णन भी यथेष्ट रूप में हुआ है। ऋतु वर्णन में ग्रीष्म, वर्षा और शीत की प्रमुखता है।

'मूकमाटी' महाकाव्य की भाषा खड़ी बोली हिन्दी है। इसकी भाषा में ओज, प्रसाद एवं माधुर्य गुण की प्रधानता है। भावाभिव्यंजना में भाषा पूर्ण समर्थ जान पड़ती है। गहन विषयों का भी प्रस्तुतीकरण जिस सुगमता से हुआ है, वह अपने आप में एक मिसाल है। इसकी भाषा में लाक्षणिकता और व्यंजनात्मकता की प्रमुखता दृष्टिगोचर होती है। इसके अतिरिक्त ध्वन्यात्मकता, चित्रात्मकता, नाटकीयता पूर्ण भाषा का भी उपयोग कविवर ने बखूबी किया है। भाषा सौन्दर्य को और प्रभावशाली बनाने में मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों एवं सूक्तियों का भी प्रचुर योग है। आचार्य की भाषा प्रांजल, सरस, भावानुकूल एवं प्रवाहपूर्णता से युक्त है। भाषा में तत्सम, अर्द्ध तत्सम, तद्भव, देशज एवं विदेशज शब्दों का भी धड़ल्ले से प्रयोग हुआ है।

छन्द विधान की दृष्टि से यह महाकाव्य मुक्तक छन्द में निर्मित हुआ है। जहाँ-तहाँ तुकान्त एवं अतुकान्त छन्द योजना दिखाई देती है वहाँ सामान्यतः भाव, भाषा, प्रसंग और शैली के अनुरूप ही छन्द योजना की गई है। सममात्रिक, अर्द्ध सममात्रिक एवं विषम मात्रिक छन्दों का विशेष प्रयोग हुआ है। 'मूकमाटी' काव्य में सन्त कवि ने संस्कृतनिष्ठ शैली का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में किया है। प्रस्तुत काव्य का भाव एवं कलापक्ष दोनों ही समृद्ध प्रतीत होता है।

अलंकारों की योजना भी यथेष्ट रूप में की गई है। आचार्य ने उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक, रूपक, श्लेष आदि अलंकारों का प्रयोग अपने महाकाव्य में आवश्यकतानुसार किया है, जिससे काव्य के सौन्दर्य में वृद्धि हुई है।

भारतीय संस्कृति के मूलमन्त्र 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते...' की चरितार्थता कवि ने 'मूकमाटी' महाकाव्य में प्रस्तुत की है। हिन्दी कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से उपेक्षित पात्रों के उद्धार का प्रयत्न किया है किन्तु उनका प्रणयन सजीव पात्रों को आधार बनाकर किया गया है, माटी जैसी निर्जीव वस्तु को लेकर नहीं।

जैन धर्म में नारी के प्रति नकारात्मक धारणा 'संसार में विषबेल नारी, तज गए योगीश्वरा' प्रचलित है। इसी का प्रभाव मध्यकालीन सन्त कवियों और तुलसी के पदों में भी दीख पड़ता है। परन्तु, आचार्य विद्यासागरजी ने नारी के सम्बन्ध में एक नई अवधारणा का प्रतिपादन किया है जो समसामयिक, वैज्ञानिक एवं सुसंगत प्रतीत होती है। आचार्यवर के शब्दों में नारी की महत्ता इस प्रकार स्पष्ट होती है:

"इनकी आखें हैं करुणा की कारिका/शत्रुता छू नहीं सकती इन्हें
मिलन-सारी मित्रता/मुफ्त मिलती रहती इनसे।/यही कारण है कि
इनका सार्थक नाम है 'नारी'/यानी– 'न अरि' नारी.../अथवा
ये आरी नहीं हैं/सो...नारी...।" (पृ.२०२)

प्रस्तुत महाकाव्य में जीव, जगत्, माया, मोह, आत्मा, परमात्मा और मोक्ष सम्बन्धी विचारों को बड़ी ही

सहजता से प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ में अध्यात्म, संस्कृति और परम्परागत मान्यताओं की आदर्श रूप में स्थापना की गई है। यद्यपि 'मूकमाटी' आध्यात्मिक महाकाव्य प्रतीत होता है तथापि इसमें संस्कृति, युग-चेतना, युग-बोध, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, लोकतान्त्रिक, समाजवाद एवं आतंकवाद आदि समस्याओं का अद्भुत संयोजन हुआ है। अध्यात्म को आचार्य ने स्वस्थ ज्ञान के रूप में निर्देशित किया है।

संस्कृति का प्रस्तुतीकरण भी 'मूकमाटी' में आदर्श रूप में हुआ है। भारतीय संस्कृति की त्यागात्मक प्रवृत्ति की प्रशंसा के साथ-साथ पाश्चात्य संस्कृति में अनुस्यूत अर्थ की प्रधानता की निन्दा की गई है।

सम्पूर्णता में देखा जाए तो 'मूकमाटी' में भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों का निरूपण हुआ है। 'मानव को मानव से जोड़ने' का तथा 'आशा ही जीवन है' के सिद्धान्त के आधार पर मानवतावाद की स्थापना का स्तुत्य प्रयास किया गया है।

श्रम के महत्त्व की स्थापना कवि ने 'श्रम करे' सो श्रमण'(पृ. ३६२) कहकर की है। ऐसी श्रमण संस्कृति – मानव संस्कृति से युग को संस्कारित करने की दृष्टि है इस महाकाव्य की। संस्कृति की स्थापना कवि ने इन भावों में कहकर की है और इस दृष्टिकोण से यह महाकाव्य एक विशिष्ट उपलब्धि जान पड़ती है।

"कृति रहे, संस्कृति रहे/आगामी असीम काल तक
जागृत···जीवित···अजित।" (पृ. २४५)

'मूकमाटी' विश्व जीवन को प्रेरणा प्रदान करनेवाला मानवतावादी सन्देश प्रसारित करता है। यही सन्देश सम्पूर्ण मानव जाति की धरोहर है। इस महाकाव्य में आचार्यवर के द्वारा मानवतावाद की स्थापना और चिन्तन-मनन व्यापक है। आचार्य का दृष्टिकोण एक दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक का दृष्टिकोण प्रतीत होता है। आचार्यवर ने मनुष्य की वेदना को व्यापक रूप में मुखरित किया है। उनकी दृष्टि में मानवता की विजय ही मानव संस्कृति की विजय है।

समग्र विवेचन के पश्चात् यदि यह कहा जाय कि गणितीय ढंग से भले ही 'मूकमाटी' को महाकाव्यों के अन्तर्गत सम्मिलित न किया जाय, परन्तु अन्य सभी दृष्टिकोणों से यह महाकाव्य की गरिमा का पूर्णतया परिपालन करता है। मात्र सर्गबद्ध होना, नायक का उच्च कुलोत्पन्न अथवा क्षत्रिय होना या ऐसे ही अन्य नियम-परिनियम, विधि-विधान महाकाव्य की महत्ता को घटानेवाले होते हैं। महाकाव्य का उद्देश्य 'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः' अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति है और नहीं तो कम-से-कम एक की तो प्राप्ति होनी ही चाहिए। इसकी प्राप्ति इस महाकाव्य में पददलिता, उपेक्षिता माटी को होती है। साथ ही, प्रस्तुत महाकाव्य मन पर एक उदात्त प्रभाव छोड़ता है जो महाकाव्य का सर्वमान्य गुण कहा जाता है। युग-युग तक जीने की क्षमता इस कृति में विद्यमान है और यह समाज और राष्ट्र के लिए नई, स्वस्थ दिशा प्रदान करने में भी पूर्णतया समर्थ और सक्षम है। □



'मूकमाटी' की एक झलक

डॉ. रमापति राय शर्मा

भारतीय साहित्य के अवलोकन से विदित होता है कि भारतीय जनमानस में स्थायी रूप से स्थान पाने वाले काव्य ग्रन्थों के प्रणेता मूलतः सन्त अथवा भक्त कवि हैं, जैसे कबीर, सूर, तुलसी आदि। प्रस्तुत काव्य 'मूकमाटी' के प्रणेता भी प्रथम, भारतीय दर्शन के मर्मज्ञ होने के साथ ही सन्त हैं और तब कवि। सन्त, संसार से विरक्त होकर भी रहता है संसार ही में। उसे सांसारिकता का सब कुछ ज्ञात है किन्तु वह उनके पाश से मुक्त है। इस मुक्तावस्था में ही उसे आनन्द या परमानन्द के सत्यस्वरूप का अनुभव होता है जो एक नैसर्गिक, अलौकिक आनन्द में मग्न कर देता है। सन्त की वृत्ति परोपकारी होती है। वह व्यष्टिगत आनन्द को समष्टिगत बनाना चाहता है। लोकोपकार की इस भावना से ही उसने तुच्छ, नगण्य 'माटी' को काव्य का आधार बनाया। जैसे माता-पिता बच्चे को ज्ञानी गुरु को सौंपकर निश्चिन्त हो जाते हैं तथा गुरु भी उसे लक्ष्य तक पहुँचाने का अपना नैतिक दायित्व मानता है। तब वह उसे प्यार और ताड़ना के माध्यम से, यथा अवसर जैसी भी स्थिति हो, उसे निरन्तर अग्रसर करता हुआ गन्तव्य तक पहुँचाकर ही सन्तुष्ट होता है, वैसे ही माँ धरती ने 'माटी' को कुम्भकार को सौंप दिया। शिल्पी ज्ञानी गुरु के रूप में माटी को शनैः-शनैः संस्कार द्वारा निर्दिष्ट सोपानों से उसे सुसंस्कृत करता हुआ अन्तिम सोपान तक पहुँचा देता है। काव्य-प्रणेता का सन्तत्व रूप प्रधान है। अतएव उसने उसी राह पर मूकमाटी का, कुम्भकार से प्रथम खण्ड में संसर्ग कराया, दूसरे खण्ड में समर्पण। तीसरे खण्ड में खरा परीक्षण और तब हर खण्डों की निर्दिष्ट कसौटी पर कसता और खरा उतारता हुआ, चौथे खण्ड में ऊर्ध्वगामी, ऊर्ध्वमुखी बनाकर 'माटी' को शुभ मंगल-कलश के रूप में प्रस्तुत कर देता है, जिसकी नाना विधि से पूजा होती है तथा जो शुभ और कल्याण का प्रतीक बन आज भी सर्वत्र सर्वमान्य है।

वैदिक दर्शन के अनुसार सृष्टिकर्ता भी कुम्भकार स्वरूप ही है। वह सजीव कुम्भ का सृजन करता है और यह मिट्टी के नाना आकार-प्रकार के नित्य उपयोगी निर्जीव पात्रों का। किन्तु धन्य है यह शिल्पी, जिसके निर्जीव कलश को मंगल का प्रतीक मानकर मंगल कलश के रूप में सजीव उसकी पूजा करते हैं। अक्षत, दधि, रोरी और मिष्ठान, हल्दी से टीक कर उसे पवित्रतम रूप देकर उस पर श्रद्धाभाव अर्पित करते हैं। कुम्भकार का महत्त्व कवि जायसी ने तत्कालीन राजा शेरशाह सूरी से अपने संवाद में बतलाया है। पात्र को छोटा-बड़ा, सुन्दर या कुरूप बनाना कुम्भकार के हाथ में है और साथ ही उसकी इच्छा पर निर्भर है। शेरशाह राजा था, सशक्त होने के साथ ही सुन्दर भी था। कवि जायसी की बढ़ती ख्याति को सुनकर उससे मिलने की इच्छा हुई। राजा के सम्मुख कवि का साक्षात्कार होते ही, राजा ने हँस दिया। कवि तो कवि है। कहा भी गया है कि 'जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि।' जायसी तुरन्त ताड़ गए कि राजा मेरी कुरूपता पर हँसा है, उन्होंने छूटते ही कहा : "मोहि का हँससि कि कोहरहि" अर्थात् मुझ पर क्या हँसते हैं, उस कुम्हार पर ही हँसिए जिसने मुझे इतना काला, कुरूप और कूबड़ वाला बना दिया है और आपको राजा होने के साथ ही भव्य रूप भी दिया है। कवि की प्रत्युत्पन्न मति पर राजा स्तम्भित हो गया और मानना पड़ा कि कवि बौद्धिक पक्ष से कितना सूक्ष्म और सक्षम होता है।

खण्ड-एक 'संकर नहीं : वर्ण- लाभ' : संकर शब्द का शाब्दिक अर्थ है दो चीजों का आपस में मिलना। यानी वह जिसकी उत्पत्ति भिन्न वर्ण या जाति के पिता और माता से हुई हो। किन्तु यहाँ वर्ण का तात्पर्य चाल-चलन और आचरण से है - रंग, रूप और अंग से नहीं। जिसने किसी को अपनाया है उसके अनुसार, अपनाए जाने वाले को अपने गुण-धर्म, रूप-स्वरूप को परिवर्तित करना होगा, अन्यथा वर्ण-दोष का वरण करना होगा। मिट्टी के साथ कंकर का मिलन,

अपने गुण-धर्म और स्वरूप को परिवर्तित न कर सका। वर्ण संकर दोष बना रहा।

"संकर-दोष का/वारण करना था मुझे/सो/कंकर-कोष का/वारण किया
...वर्ण का आशय/न रंग से है/न ही अंग से/वरन्/चाल-चरण, ढंग से है।
यानी!/जिसे अपनाया है/उसे/जिसने अपनाया है/उसके अनुरूप
अपने गुण-धर्म –/'''रूप-स्वरूप को/परिवर्तित करना होगा/वरना
वर्ण-संकर-दोष को/वरना होगा!
...नीर की जाति न्यारी है/क्षीर की जाति न्यारी,/दोनों के/परस-रस-रंग भी
परस्पर निरे-निरे हैं/और/यह सर्व-विदित है,/फिर भी
यथा-विधि,/यथा-निधि/क्षीर में नीर मिलाते ही/नीर क्षीर बन जाता है
और सुनो!/केवल वर्ण-रंग की अपेक्षा/गाय का क्षीर भी धवल है
आक का क्षीर भी धवल है/दोनों ऊपर से विमल हैं/परन्तु/परस्पर उन्हें मिलाते ही
विकार उत्पन्न होता है–/क्षीर फट जाता है पीर बन जाता है/वह!
नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है, वरदान है/और
क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है।" (पृ. ४६-४९)

'माटी' से निर्मित सुन्दर कलश या अन्य आकर्षक माटी के पात्रों को देखकर काव्य रचयिता अत्यधिक प्रभावित होता है। उसकी दृष्टि, निर्माण को लेकर बड़ी गहराई में प्रवेश करती है। इसकी उत्पत्ति, संगति और स्थान सब पर चतुर्दिक् बहुकोणीय दृष्टिपात करते-करते, कवि की विचारधारा क्रमशः दार्शनिक होने लगती है। दर्शनधारा में निमग्न हो जाने पर कवि का व्यक्तित्व विस्मृत हो जाता है और वह गहराई में पैठता है, 'माटी' के दार्शनिक स्वरूप पर। 'माटी' का सहज स्वरूप क्या है? उसका निर्माण कैसे हुआ? अपने मूल रूप में प्रथम कितनी विसंगतियों में वह थी? उसका संसर्ग कुम्भकार से कैसे हुआ और किसके माध्यम से हुआ तथा किस हेतु हुआ? अपने लक्ष्य तक पहुँचने में कितना शोध करना पड़ा। सहज ढंग से माटी में कितनी ही चीजें सड़-गलकर माटी में मिलकर वैसी ही हो जाती हैं। वैसा ही उनका संस्कार स्वभाव बन जाता है। किन्तु उसी माटी में कुछ ऐसे पदार्थ मिलते हैं जो माटी से भिन्न अपना संस्कार व स्वरूप बनाए रहते हैं। ऐसे ही अनमेल-बेमेल का मिलन संकर कहा जाता है। जहाँ भिन्न गुण और संस्कार के होते हुए भी मिलने के पश्चात् सम्यक् एकीकरण हो जाता है, वहाँ एक-दूसरे के प्रति त्याग और रक्षा की भावना उमड़ती है, जैसे नीर-क्षीर मिलन में :

"इस अर्पण में कुछ और नहीं/केवल उत्सर्ग छलकता है;
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ/इतना ही सरल झलकता है।" – प्रसाद

ऐसा ही मिलन या विलय 'वर्ण-लाभ' है। वरदान है। जहाँ मिलन के पश्चात् भी दो पदार्थों का संस्कार स्वरूप और गुण-रूप अलग-अलग बना ही रह जाय, वहाँ एक को दूसरे से अलग कर देने में ही उन दोनों का कल्याण है। जैसे कंकर को माटी से छान, फटक कर कुम्भकार ने अलग कर दिया। इसमें अलग होने के भाव से कंकर में यदि रोष उत्पन्न होता है तो उस पर ध्यान नहीं देना है क्योंकि वर्णसंकरता में विश्वसनीयता नहीं रहती। इसी से उसे अभिशाप कहा गया है।

काव्य प्रणेता ने 'मूकमाटी' के माध्यम से योग्य, होनहार एवं आस्थावान् शिष्य को ज्ञानी गुरु के स्तर तक पहुँचाने का संकेत किया है। जहाँ पर वह साधना की उत्तरोत्तर कसौटी पर उसकी बौद्धिक क्षमता के माध्यम से उसे

मंगल कलश की भाँति लोकमंगल की भावना से पूरित करके समाज को लौटाएगा। कबीर और तुलसी की तरह जो अपने को सबसे बुरा, छोटा और खोटा मानेगा, वही ऊपर उठेगा :

- *"बुरा जो देखन मैं गया, ...मुझ से बुरा न कोय।" – कबीर*
- *"राम सो बड़ो है कौन मो सो कौन छोटो।*
  राम सो खरो है कौन मुझ से कौन खोटो॥" – तुलसी

माटी ने अपने को सबसे पतित जाना। यह भावना ही पावन है। जिसमें अपने सही रूप की पहचान है, उसमें पतन का यह बोध ही उत्थान का द्योतक है।

"तूने जो/अपने आपको/पतित जाना है/लघु-तम माना है/यह अपूर्व घटना
इसलिए है कि/तूने/निश्चित-रूप से/प्रभु को,/गुरु-तम को
पहचाना है !.../...पतन पाताल का अनुभव ही/उत्थान-ऊँचाई की
आरती उतारना है।" (पृ. ९-१०)

लघुता का अनुभव करने वाला शिष्य ही महानता तक पहुँचता है। जो माटी के समान साधना के कष्टों को अंगीकार करने वाला है वही गुरु ज्ञान-ग्रहण का सच्चा पात्र बन सकता है। ऐसे ही पूत भावों से भरे साधक, ज्ञानी गुरु के आशीर्वाद से एक दिन गोविन्द का भी साक्षात्कार कर लेते हैं, जैसे माटी के मंगल कलश को अन्तिम खण्ड के अन्त में पादप के नीचे सक्षम ज्ञानी गुरु का नाटकीय ढंग से साक्षात्कार हुआ।

"गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपकी, जिन गोविन्द दियो बताय॥"

गुरु की महिमा सर्वोपरि है। सच्चे गुरु की महानता, गोविन्द से भी बढ़कर मानी गई है क्योंकि गोविन्द तक पहुँचाने वाला वही है। गुरु की महानता स्वीकार करने में ही शिष्य की आभ्यन्तर ऊँचाई लक्षित होती है।

अध्यात्म की राह में ज्ञान के माध्यम से गुरु शिष्य में प्रवेश कर जाता है। इसीलिए माँ धरती की सीख पर शिष्य 'माटी' को अब रात्रि भी प्रभात-सी लगती है। दुःख भी सुख-सा लगता है। वस्तुतः सुख-दुःख का अनुभव भावना पर निर्भर करता है :

"माटी को रा'''त्रि भी/प्रभात-सी लगती है :
दुःख की वेदना में/जब न्यूनता आती है
दुःख भी सुख-सा लगता है।/और यह/भावना का फल है।" (पृ. १८)

जयशंकर प्रसादजी ने भी सुख-दुःख को भावना जनित ही माना है। उन्हीं के शब्दों में :

"मानव जीवन वेदी पर/परिणय है विरह-मिलन का
सुख-दुःख दोनों नाचेंगे/है खेल आँख का मन का।"

इस काव्य की नायिका और नायक के रूप में 'माटी' और 'कुम्भकार' ही हैं। जब नायक से मिलने की लालसा और उत्सुकता नायिका में होती है तब प्रतीक्षा की कठिन घड़ी भी सुखानुभूति का अनुभव कराती है। मार्ग के रोड़े भी

सरल हो जाते हैं। ये लक्षण 'माटी' के भीतर साहस और पुलक से लक्षित हो रहे हैं। माटी को शिल्पी से प्रेम है, अतः उसे शीत से बचने के लिए कम्बल ओढ़ने का सुझाव देती है। यह भी सत्य है कि प्रिय प्रेमी की रक्षा, सुरक्षा के लिए अधिक चिन्तित रहता है। तभी तो 'माटी' को शिल्पी के प्रति इतना ध्यान है कि उसे ठण्डक न लगने पाए। उसके कष्ट को अपना कष्ट मानती है। यही प्रेमी में प्रिय के अनुरक्त हो जाने का सही प्रमाण है। अत्यधिक प्रेम के कारण ही प्रेमी को कम बलवाला मानकर कम्बल ओढ़ने को कहती है और अपने को सबल मानकर शीत-गरम को सह लेने की अभ्यासी मानती है। स्नेह तो स्नेह ही है। इसी प्रकार माँ भी अपने वात्सल्य स्नेहवश ही सुरक्षा की दृष्टि से अपने बलवान् बेटे को भी दुर्बल ही मानती है और उसकी सुरक्षा के लिए चिन्तित रहती है।

एक स्थान पर कुम्हार द्वारा कुदाली से माटी पर किए गए प्रहार के माध्यम से कवि ने शासन सत्ता की समय-समय पर की गई निष्ठुरता, लाठी चार्ज आदि पर संकेत किया है :

"माटी के माथे पर/मार पड़ रही है/क्रूर - कठोर कुदाली से
खोदी जा रही है माटी।/माटी की मृदुता में/खोई जा रही है कुदाली!
क्या माटी की दया ने/कुदाली की अदया बुलाई है?
क्या अदया और दया के बीच/घनिष्ट मित्रता है?/यदि नहीं है···तो
माटी के मुख से/रुदन की आवाज़ क्यों नहीं आई?/और
माटी के मुख पर/क्रुधन की साज़ क्यों नहीं छाई?
क्या यह/राजसत्ता का राज़ तो नहीं है?" (पृ. २९-३०)

इससे यही प्रतीत होता है कि काव्य प्रणेता का ध्यान समय की पुकार के अनुसार चारों तरफ जा रहा है। विचारों में कूप मण्डूकता नहीं, व्यापकता है। साहित्य जो जनहित के साथ चलता है, उसी ओर कवि का ध्यान है। समाज के सजग प्रहरी के रूप में कविकर्म का निर्भय होकर पालन किया जा रहा है। 'माटी' तुच्छ, नाचीज़, हेय पदार्थ को लेकर कवि की विचारधारा कहाँ जा रही है, यह विशेष रूप से विवेचनीय है। दृष्टि सूक्ष्म होने के नाते कई भाव आभ्यन्तर रूप से समानान्तर चल रहे हैं।

कवि की बौद्धिक चेतना मंगल कलश के निर्माण को लेकर मंगलमयी हो रही है। कविवर जयशंकर प्रसाद ने ऐसी ही व्यापक पूत भावना के जागरण को चेतना का उज्ज्वल वरदान कहा है :

"उज्ज्वल वरदान चेतना का/सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के/सपने सब जगते रहते हैं।"

कवि की दृष्टि में चेतना का उज्ज्वल वरदान ही सौन्दर्य है, न कि शारीरिक और मांसल सौन्दर्य, जो क्षण-भंगुर होता है। काव्य प्रणेताओं को अमरत्व प्राप्त होता है, इन्हीं मंगलमयी व्यापक पूत भावनाओं के सृजनकर्ता होने के कारण।

कवि नर से नारायण बनने का आह्वान कर रहा है। शिल्पी कुम्भकार की कार्यशाला योगशाला है, जहाँ माटी के पात्र के समान मानवता रूपी पात्र का भी गढ़न हो रहा है। माटी, पात्र माध्यम हैं। विचार कितना स्पष्ट है कि माटी के समान जिसने प्रथम अपने को पतित और लघु होने का अनुभव किया, वही उस अभाव की पूर्ति हेतु प्रयत्न करेगा, और सच्चे गुरु की शरण लेगा। साधनागत कष्टों को स्वीकार कर, गुरु निर्देश के माध्यम से आभ्यन्तर के सुप्त प्रकाश को जागृत करेगा, जो जीवन का परम लक्ष्य है। मानव यात्रा में अधोमुखी निरन्तर ऊर्ध्वमुखी होने का प्रयत्न करता आया है :

"अधोमुखी जीवन/ऊर्ध्वमुखी हो/उन्नत बनता है;
हारा हुआ भी/बेसहारा जीवन/सहारा देनेवाला बनता है।" (पृ. ४३)

आज के समाज की स्वार्थपरायण वृत्ति को देख, कवि दुःखी है और शिल्पी की बालटी में पानी के साथ आई कुएँ की मछली के माध्यम से वह कहता है कि बाहर चल, नहीं तो अपनी ही जाति, सहधर्मी बड़ी मछलियाँ कल निगल जाएँगी। जघन्य स्वार्थ, जाति बन्धन, धर्म बन्धन को तोड़ चुका है। निर्ममता, कठोरता, क्रूरता का भाव मानव मन में तीव्रता से स्थान ग्रहण करता जा रहा है :

"निश्चित ही आज या कल/काल के गाल में कवलित होंगे हम!
क्या पता नहीं तुझको!/छोटी को बड़ी मछली/साबुत निगलती हैं यहाँ
और/सहधर्मी सजाति में ही/वैर वैमनस्क भाव/परस्पर देखे जाते हैं!
श्वान, श्वान को देख कर ही/नाखूनों से धरती को खोदता हुआ
गुर्राता है बुरी तरह।" (पृ. ७१)

दया, जो धर्म का मूल है, उसका आज कितना उपहास हो रहा है। उसके हास्यास्पद स्वरूप का एक चित्र देखिए :

"अब तो ···/अस्त्रों, शस्त्रों, वस्त्रों/और कृपाणों पर भी/'दया-धर्म का मूल है'
लिखा मिलता है।/किन्तु,/कृपाण कृपालु नहीं हैं/वे स्वयं कहते हैं
हम हैं कृपाण/हम में कृपा न!" (पृ. ७३)

निर्दय मानव पर एक और कड़े चाबुक का प्रहार। यहाँ 'माटी' दया के प्रतीक स्वरूप प्रस्तुत की गई है। वह नाना प्रकार की यन्त्रणाओं, वेदनाओं की भुक्तभोगी है, अतः शिल्पी से निवेदन करती है कि बालटी में ऊपर आई मछली को तुरन्त कूप में सुरक्षित लौटा दीजिए, क्योंकि देर होने पर जल के वियोग में वह प्राणों की आहुति दे देगी :

"माटी संकेत करती है शिल्पी को/कि/इस भव्यात्मा को/कूप में पहुँचा दो
सुरक्षा के साथ अविलम्ब!/अन्यथा/इस का अवसान होगा।" (पृ. ८८)

शीर्षक से ही काव्य के खण्ड बँधे नहीं हैं। शीर्षक का आशय तो कभी स्पष्ट हो गया, किन्तु भावों की शाखा-प्रशाखा, अपने में कितनी महत्त्वपूर्ण है। साथ ही रोचक और चित्ताकर्षक, भाव-भाषा-शैली का कभी सरल, तो कभी व्यंग्यात्मक प्रयोग अपना एक अलग स्थान रखता है। इसकी विविध विधि वर्णन कला और दार्शनिक भावों का यत्र-तत्र उद्गार पाठक को सरपट नहीं चलने देता, रुक-रुक कर सावधान करता चलता है और पाठक मग्न हो हर पड़ाव पर आह्लाद का अनुभव करता चलता है। उसे श्रम का आभास नहीं होने पाता, ऊबना तो अलग बात है। खण्ड एक 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' का भावांश उक्त भूमिका में निहित है।

खण्ड-दो : 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'— 'माटी' पर विचार प्रसंगवश ही सही, जगत् की जागतिकता से पूर्णरूपेण सम्बद्ध है। प्रकृति-पुरुष मिलन सहज स्वाभाविक है, दोनों की प्रकृति के अनुकूल है और दोनों का धर्म है। पुरुष का अन्यत्र रमना जीवन को भ्रामक बनाना है। हल्का होकर निस्तेज निस्सत्त्व हो जाना है और अशान्ति को आमन्त्रित करना है। सृष्टि के जीवों के प्रति भौतिकता से विरक्त सन्त की लेखनी सदाशयता से कितनी परिपूर्ण है कि

जगत् के जीव भटकें नहीं, बल्कि शास्त्रों द्वारा निर्मित, निर्दिष्ट पथ पर चलते रहें।

"स्वभाव से ही/प्रेम है हमारा/और/स्वभाव में ही/क्षेम है हमारा।
पुरुष प्रकृति से/यदि दूर होगा/निश्चित ही वह/विकृति का पूर होगा
पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।
और/अन्यत्र रमना ही/भ्रमना है/मोह है, संसार है···।" (पृ. ९३)

आहत कण्टक छलिया मन के माध्यम से शिल्पी को कष्ट देने का निर्णय लेता है। 'माटी' के माध्यम से सन्त का उपदेश अनुकरणीय है :

"बदले का भाव वह दल-दल है/कि जिसमें/बड़े-बड़े बैल ही क्या,
बल-शाली गज-दल तक/बुरी तरह फँस जाते हैं/और/गल-कपोल तक
पूरी तरह धँस जाते हैं।/बदले का भाव वह अनल है/जो
जलाता है तन को भी, चेतन को भी भव-भव तक !/बदले का भाव वह राहु है
जिसके/सुदीर्घ विकराल गाल में/छोटा-सा कवल बन/चेतनरूप भास्वत भानु भी
अपने अस्तित्व को खो देता है/और सुनो !/बाली से बदला लेना
ठान लिया था दशानन ने/फिर क्या मिला फल ?/तन का बल मथित हुआ
मन का बल व्यथित हुआ/और/यश का बल पतित हुआ
यही हुआ न !/त्राहि मां ! त्राहि मां !! त्राहि मां !!!/यों चिल्लाता हुआ
राक्षस की ध्वनि में रो पड़ा/तभी उसका नाम/रावण पड़ा।" (पृ. ९७-९८)

उक्त उपदेश कितने सटीक और जीवनोपयोगी हैं। बदला लेने की भावना में अंधा होकर एक-दूसरे को दुनियाँ से उठा देने का जघन्य अपराध कर डालता है, यह सोच कर कि परिणाम चाहे जो होगा, देखा जाएगा। देखा क्या जाएगा, पापयुक्त दुर्बुद्ध, परिवार का परिवार और समाज का समाज तथा साम्प्रदायिक दृष्टि से देखा जाए तो किन्हीं दो सम्प्रदायों में जब बदले की भावना की आग लोगों के मन में सुलगने लगती है तब अनगिनत संख्या में लोग मृत्यु के हवाले होने लगते हैं। उस जोश-खरोश में, सर्वनाश का प्रलय-सा उपस्थित करने वाले भगवान् शंकर का ताण्डव नृत्य उपस्थित हो जाता है और विनाश लीला के पश्चात् रोते-बिलखते, हाय-हाय करते, मुख छिपाए, पश्चाताप की अग्नि में जलते-झुलसते जीवन लीला समाप्त कर देते हैं। यह है बदले की भावना का स्थायी परिणाम।

शीर्षक के अनुसार वर्णों के मेल से बना 'शब्द' मात्र उच्चारण है। उच्चारण से ही शब्द के अन्तर्गत छिपा भाव या अर्थ प्रकट होने लगता है। सही-सही उच्चारण शब्दार्थ को व्यक्त कर देता है। अर्थ या भाव समझ लेने पर ही वास्तविक 'बोध' होता है। बोध का तात्पर्य सन्तुष्टि से है अर्थात् पाठक या श्रोता सन्तुष्ट हो जाता है। शब्द के उच्चारण के माध्यम से अर्थ बोध हो जाना ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि अर्थ-बोध मात्र मस्तिष्कपरक होता है, उसकी सीमा वहीं तक है। हाँ, जब अर्थ पर विचार-विनियम होता है तब उसके गुण-दोष पर अलग-अलग दूरगामी परिणाम को सोचा जाता है, तब गहन मन्थन के पश्चात् अर्थ के आभ्यन्तर से निकले नवनीत को समाजोपयोगी समझ कर तथा हर दृष्टि से सबके लिए हितकर मानकर स्वीकार कर लिया जाता है। सही शब्द-बोध के पश्चात् शब्द-शोध है। शोध शब्द स्वयं कह रहा है कि शब्दार्थ को शोध के पश्चात् ग्रहण करो। शोध की एक अपनी अलग प्रक्रिया होती है। जैसे शोध के पश्चात् ही वैद्य पुटपाक तैयार करता है वैसे ही शब्दार्थ को भी गुण-दोषरूपी खरी कसौटी पर चढ़ाने के पश्चात् खरा उतरने पर ही

स्वीकार किया जाता है। गुण-दोष की कसौटी स्थान, समय, वातावरण, देश, काल, परम्परा और सनातन संस्कृति आदि को विचारते हुए बनती है। सबको देखते हुए जो भाव या अर्थ निकले वही शोध है। उदाहरण स्वरूप :

"परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥" (तुलसीदास)

उक्त वाक्य अपने शब्दार्थ से शोधित है। शोध के पश्चात् ही इसका सर्वमान्य अर्थ निर्दिष्ट हुआ है। यहाँ देखना यह है कि शब्द 'परहित' का क्षेत्र कितना है। इस परिधि में प्राणिमात्र आ जाते हैं। 'पर' के क्षेत्र में अपने परिचित और अपने ही समुदाय-वर्ग और जाति-धर्म और देश के ही नहीं, अपितु अपना विरोधी और शत्रु भी इसी क्षेत्र में है। यह क्षेत्र जीवमात्र तक विस्तृत होने के कारण समूची सृष्टि को समेट लेता है, तभी तो भारतीय संस्कृति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भाव को मान्यता देती है। शब्द 'परहित' जिसमें शत्रुओं, विरोधियों और अन्य देश व धर्म मतावलम्बियों का हित सम्मिलित है उसको कैसे, क्या किया जाय ? इस प्रकार का उद्वेग मन में उठेगा। दूसरी ओर 'परहित' शब्द की शोधित सर्वमान्य मान्यता भी सुनिश्चित कर दी गई है। इसमें लेश मात्र भी परिवर्तन असम्भाव्य है। तब मन मारकर शान्त चित्त-मन-बुद्धि से विनम्रता और शिष्टता के साथ शोधार्थ के अनुसार चलना ही है, वैसा ही आचरण और क्रिया करनी ही है। इसी से आचार्यजी ने शोध-भाव को नमन किया और नमन करने का संकेत किया :

"पुण्य-निधि का प्रतिनिधि बना/बोध-भाव का आगमन हो रहा है,
और/अनुभूति का प्रतिनिधि बना/शोध-भाव को नमन हो रहा है
सहज-अनायास ! यहाँ !!/...बोध में आकुलता पलती है
शोध में निराकुलता फलती है।" (पृ. १०६-१०७)

सन्तवेश और बात है एवं सन्तत्व को प्राप्त होना और। इस काव्य के प्रणेता आचार्यजी सन्तत्व को प्राप्त हैं। देह से ही नहीं, मन-वचन-कर्म और स्वभाव से सहज सन्त हैं। तभी तो तत्त्व-दर्शन अनायास ही यत्र-तत्र प्रसंगवश या यों ही सर्वत्र पग-पग पर उद्धृत मिलता है। लोग कहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास बार-बार राम के ब्रह्मत्व प्रदर्शन को चेतावनी रूप में लाए हैं, ऐसा क्यों है ? क्या एक बार का कहना पर्याप्त नहीं होगा कि राम परमब्रह्म हैं। गोस्वामी तुलसीजी की दृष्टि से एक-दो बार का कहना पर्याप्त नहीं था। क्योंकि राम परमब्रह्म होकर भी नर लीला हेतु अवतरित हुए हैं। राजा के लड़के राजकुमार रूप में हैं। काव्य के प्रवाह में पाठक अथवा श्रोता उन्हें कहीं साधारण राजकुमार ही न मान लें, क्योंकि इस वेश से ज्ञानी को भी भ्रम हो जाता है। देखिए, बार-बार चेतावनी देने पर भी जगत्-माता 'सीता', पक्षिराज गरुण और परम ज्ञानी रावण को भी भ्रम हो गया है, औरों की तो बात ही क्या है। इसी प्रकार सहज सन्त स्वभाव वाले आचार्यजी भी परोपकारार्थ, लोकहित में, भ्रमितों को दिशानिर्देश हेतु दर्शन तत्त्वों को चेतावनी के रूप में चित्रित करते चलते हैं। लगता है अपने लोकोपकारी अनुभवजन्य भावों को, सनातन सिद्ध, दर्शन तत्त्वों को, तथा जनहित में अन्यान्य भावों को आपने परम हितकर मानकर जन-जन तक पहुँचाने के लिए प्रतीकात्मक रूप से 'मूकमाटी' काव्य के पात्रों के माध्यम से अपने भावों को व्यक्त करने का साधन बनाया है, क्योंकि इस काव्य के नायक-नायिका और अन्य सभी पात्रों ने अपने-अपने क्रियाकलापों से जिस प्रकार क्षमा, सहनशीलता और वैर आदि भाव अशान्त-अधोगति का विनाशकारी परिणाम तो शिष्टता, विनम्रता का शान्त-ऊर्ध्वगामी पथ प्रस्तुत किया है। उसमें हमें क्या ग्रहण करना चाहिए, तथा हमारे जीवन का क्या लक्ष्य है, इस दृष्टि से देखने और विचार करने के लिए हम पर छोड़ दिया है। जबकि प्रच्छन्न रूप से दर्शन तत्त्व विवेचन ही पूरे काव्य में यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरा पड़ा है, जिसको आवश्यकता हो, खोज ले और जीवन में अपनाकर धन्य हो जाय। दर्शन तत्त्व के कुछ नमूने :

- *"आस्था के बिना आचरण में/आनन्द आता नहीं, आ सकता नहीं।*
  फिर,/आस्थावाली सक्रियता ही/निष्ठा कहलाती है।" (पृ. १२०)
- *"आँखों की पकड़ में आशा आ सकती है/परन्तु*
  आस्था का दर्शन आस्था से ही सम्भव है/न आँखों से, न आशा से।" (पृ. १२१)
- *"ज्ञान का पदार्थ की ओर/ढुलक जाना ही/परम आर्त पीड़ा है,/और*
  ज्ञान में पदार्थों का/झलक आना ही—/परमार्थ क्रीड़ा है।" (पृ. १२४)
- *"पुरुष की पिटाई प्रकृति ने की,/प्रकारान्तर से चेतन भी*
  उसकी चपेट में आया।/गुणी के ऊपर चोट करने पर
  गुणों पर प्रभाव पड़ता ही है।" (पृ. १२५)
- *"तन शासित ही हो/किसी का भी वह शासक-नियन्ता न हो,/भोग्य होने से!*
  और/सर्वे-सर्वा शासक हो पुरुष/गुणों का समूह गुणी, संवेदक
  भोक्ता होने से!" (पृ. १२५-१२६)

प्रकृति चित्रण को कहना क्या! अपनी कोमलकान्त पदावली के लिए प्रसिद्ध प्रकृति के चतुर चितेरे कविवर सुमित्रानन्दन पन्त भी मात खा जा रहे हैं इस सन्त कवि की अद्भुत मेधा के समक्ष। प्रस्तुत है प्रकृति चित्रण, शिल्पी के कोमल स्पर्श का अनुभव 'माटी' द्वारा :

- *"मखमल मार्दव का मान/मरमिटा-सा लगा।/आम्र-मंजुल-मंजरी*
  कोमलतम कोंपलों की मसृणता/भूल चुकी अपनी अस्मिता यहाँ पर,
  अपने उपहास को सहन नहीं करती/लज्जा के घूँघट में छुपी जा रही है,/और
  कुछ-कुछ कोपवती हो आई है,/अन्यथा/उसकी बाहरी-पतली त्वचा
  हलकी रक्तरंजिता लाल क्यों है?/माटी की मृदुता, मोम की माँ
  चुप रह न सकी।" (पृ. १२७)
- *"लचकती लतिका की मृदुता/पक्व फलों की मधुता/किधर गई सब ये?*
  वह मन्द सुगन्ध पवन का बहाव,/हलका-सा झोंका वह
  फल-दल दोलायन कहाँ?/फूलों की मुस्कान,
  पल-पल पत्रों की करतल-तालियाँ/श्रुति-मधुर श्राव्य मधूपजीवी
  अलि-दल गुंजन कहाँ?/शीत-लता की छुवन छुपी
  पीत-लता की पलित छवि भी/पल भर भी पली नहीं
  जली, चली गई कहाँ, पता न चला।" (पृ. १७९)

अनुप्रास की छटा समूचे काव्य पर लहरा रही है। कहावत का एक नमूना :

"एक कहावत कह डाली/कहकहाहट के साथ—
'आधा भोजन कीजिए/दुगुणा पानी पीव।
तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव'!" (पृ. १३३)

कभी-कभी तत्त्व दर्शन और प्रासंगिक प्रकरण इतना रमा देता है कि कुम्भ और कुम्भकार की साधना-यात्रा विस्मृत-सी हो जाती है, क्योंकि प्रसंगवश आने वाले प्रकरण बड़े ही रोचक और शिक्षाप्रद हैं। तो हम क्यों न कहें कि चाहे मूल कथाक्रम से, चाहे प्रासंगिक चर्चाओं से और चाहे तत्त्व निरूपण तथा तत्त्व दर्शन दृष्टि से, हर विधि और हर ढंग से सन्त कवि आचार्यजी ने अक्षर-अक्षर और शब्द-शब्द में भर दिया है, जो लौकिक जीवन की उपयोगिता के साथ ही पारलौकिक जीवन के सुधार के प्रति सचेत और सावधान करता रहता है।

९-९९ का चक्कर, ६३-३६ और ३६३ का सूक्ष्म विवरण कितना तर्कसंगत और सटीक है, जो कवि के व्यावहारिक जीवन के साथ ही गणित शास्त्र पर अधिकार का द्योतक है। यह प्रखर तार्किक होने के साथ प्रबल निष्ठावान्-आस्थावान् की क्षमता, कलाकार की अद्भुत शक्ति का परिचायक है। आस्था विश्वास का मूल है जो सन्तोष और आनन्द का शाश्वत स्रोत है। तर्क, तर्क से कटता है। आस्था, आस्था से जुड़ती है। एक से विरोध उत्पन्न होता है तो दूसरे से सहयोग और स्नेह।

कहावत :

"आमद कम खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का
कूबत कम गुस्सा ज्यादा/लक्षण है पिट जाने का।" (पृ. १३५)

निर्गुण-सगुण की झलक :

"तन मिलता है तन-धारी को/सुरूप या कुरूप,/सुरूप वाला रूप में और निखार
कुरूप वाला रूप में सुधार/लाने का प्रयास करता है
आभरण-आभूषणों शृंगारों से।/परन्तु/जिसे रूप की प्यास नहीं है,
अरूप की आस लगी हो/उसे क्या प्रयोजन जड़ शृंगारों से!" (पृ. १३९)

संक्षिप्त रूप में सन्त द्वारा न्यायमूर्ति के समान रस का निर्णय :

"करुणा-रस उसे माना है, जो/कठिनतम पाषाण को भी/मोम बना देता है,
वात्सल्य का बाना है/जघनतम नादान को भी/सोम बना देता है।
किन्तु, यह लौकिक/चमत्कार की बात हुई,/शान्त-रस का क्या कहें,
संयम-रत धीमान को ही/'ओम्' बना देता है।
...सब रसों का अन्त होना ही—/शान्त-रस है।" (पृ. १५९-१६०)

भावात्मक दृष्टि से करुण और शान्त रस की विवेचना :

"इस करुणा का स्वाद/किन शब्दों में कहूँ!/गर यकीन हो
नमकीन आँसुओं का/स्वाद है वह!/इसीलिए/करुणा रस में
शान्त-रस का अन्तर्भाव मानना/बड़ी भूल है।
उछलती हुई उपयोग की परिणति वह/करुणा है/नहर की भाँति!
और/उजली-सी उपयोग की परिणति वह/शान्त रस है/नदी की भाँति!
नहर खेत में जाती है/दाह को मिटाकर/सुख पाती है, और
नदी सागर को जाती है/राह को मिटाकर/सुख पाती है।

...करुणा तरल है, बहती है/पर से प्रभावित होती झट-सी।
शान्त-रस किसी बहाव में/बहता नहीं कभी/जमाना पलटने पर भी
जमा रहता है अपने स्थान पर।'' (पृ. १५५-१५७)

विवेचना कितनी सूक्ष्म और पैनी है। एक नहर-सी है एवं दूसरी नदी-सी। एक खेत में जाती है तो दूसरी सागर में। एक तात्कालिक दाह को मिटाकर सुख जाती है तो दूसरी राह को मिटाकर अर्थात् लीक छोड़कर नवीन पथ का निर्माण कर सुख का अनुभव करती है। करुणा तरल है, पर-हित में दूसरे की पीड़ा से द्रवणशील हो जाती है जबकि शान्त रस पर बाह्य प्रभाव स्पर्श तक नहीं कर पाता। युग-प्रभाव बदलने पर भी उसमें बदलाव नहीं आता। वह अपने स्थान पर सुदृढ़ और स्थिर-अविचल बना रहता है।

काव्य में प्रसंगानुसार आनन्द की हर्षातिरेक अवस्था ही रस के नाम से जानी जाती है। और नौ रसों में करुण तथा शान्त रस का विवेचन एवं कितने सटीक उदाहरणों से दिया गया है। नहर और नदी से बच्चा-बच्चा परिचित है। किन्तु भावातिरेक बोधक रसों के नाम पर इतनी पैनी और सूक्ष्म दृष्टि दौड़ाते हुए उनके आभ्यन्तर गुणों से साम्य रखने वाले प्रकृति नदी-नाले-नहर से तुलना करके पाठक को संश्लिष्ट रूप से भावों का चित्रण करके सहज रूप में बोधगम्य करा देना अद्भुत काव्य क्षमता का परिचायक है। ऐसा लगता है कि नित्य की देखी जाने वाली तथा साधारण-सी लगने वाली वस्तुओं में भी जो गुण-रूप अदृश्य रूप में निहित है उसे बाह्य चक्षु से नहीं देखा जा सकता। उसके लिए ज्ञान चक्षु या दिव्य दृष्टि की आवश्यकता होती है जो साधना के धनी तथा सिद्ध सन्तों को ही सुलभ होती है। जिसमें प्रतिभा है वही सक्षम होता है। कहावत है : ''जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि।''

इसी प्रकार सिंह और श्वान का उदाहरण देखते ही बनता है। सिंह स्वाभिमानी और सहज ही स्वतन्त्रता प्रिय स्वभाव का प्रतीक है जबकि श्वान दास प्रकृति का, लोलुप एवं स्वार्थी प्रकृति का है। सिंह कभी भी बिना गर्जना किए अर्थात् बिना सावधान और सचेत किए कभी किसी पर आक्रमण नहीं करता, और चुपके से पीछे से आक्रमण करना उसके स्वभाव के विपरीत है। वह मर्यादा, शान, सम्मान और गौरव का प्रतीक है। शक्ति में अतुलनीय तो है ही। उसके क्षेत्र में अन्य जीवों को कोई दूसरा सता नहीं सकता। श्वान स्वामी के टुकड़े पर निर्भर करता है। इसीलिए पीछे-पीछे विनीत भाव से दुम हिलाता चलता है। कभी-कभी अनावश्यक भी भूँकता है। श्वान स्वतन्त्रता का मूल्य नहीं समझता। जंजीर से बाँधा, घुमाया जाता है। अपनी जाति को ही देखकर गुर्राता है। भूख मिटाने के लिए अखाद्य वस्तुओं को भी खाता है, जो घृणित और त्याज्य हैं। कुछ न मिलने पर अपनी सन्तान को ही खा जाता है। जबकि सिंह अपनी जाति वालों से मिलकर रहता है। पिंजड़े में कभी बन्द हो जाने पर भी पूँछ ऊपर कर स्वतन्त्र रूप से रहता है। सिंह विवेकी होता है। अपने मारने वाले पर ही वार करता है और निश्चित करता है। श्वान मारक पर वार न कर मारने वाले साधन रूप ईंट-पत्थर आदि को ही पकड़ता है।

इसी प्रकार 'ही' और 'भी' अक्षर को लेकर विवेचना की गई है। 'ही' अहंकार का द्योतक है और 'भी' अनेक का, समुदाय का बोधक है। देखिए :

'' 'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को/'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है,
'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है,
'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।

रावण था 'ही' का उपासक/राम के भीतर 'भी' बैठा था।/यही कारण कि
राम उपास्य हुए, हैं, रहेंगे आगे भी।/'भी' के आस-पास
बढ़ती-सी भीड़ लगती अवश्य,/किन्तु भीड़ नहीं,/'भी' लोकतन्त्र की रीढ़ है।
...सद्विचार सदाचार के बीज/'भी' में हैं, 'ही' में नहीं।" (पृ. १७३)

खण्ड-तीन : 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' : 'माटी' को मुख्य आधारशिला मानकर काव्य का इतना आकर्षक महल खड़ा करना, जो एक पथ प्रदर्शक रूप में समाज के सामने नवीन ज्योति पुंज-सा अडिग खड़ा है, साधुवाद की अपेक्षा करता है। वह कवि की बार-बार सृजन दृष्टि की ओर आकर्षित करता है। इस तथ्य पर कि माटी के उपरिल रूप को तो सभी देखते हैं, किन्तु उसके संस्कार की गहराई तक प्रविष्ट करना अद्भुत क्षमता एवं दर्शन मिश्रित शोधक दृष्टि का कार्य है। फिर उस पूत विचार के द्वारा कभी तर्क तो कभी आस्था द्वारा इस निष्कर्ष तक पहुँचने का लक्ष्य परिलक्षित हुआ है कि वह समाज के हर वर्ण एवं वर्ग को संवेदनशील चेतावनी देता हुआ समाजोपयोगी है। आधुनिक परिवेश में समाज के मनोभावों को प्रकारान्तर से अत्यन्त सुस्पष्ट कर दिया है। यह काव्य प्रांजल भाषा का पुंज है। सूक्तियों, मुहावरों और कहावतों का इसमें सुन्दर, सटीक प्रयोग हुआ है। इनके सफल प्रयोग से काव्य की प्राणवत्ता बढ़ी है। जैसे :

- *"बायें हिरण/दायें जाय—/लंका जीत/राम घर आय।" (पृ. २५)*
- *"जब सुई से काम चल सकता है/तलवार का प्रहार क्यों?" (पृ. २५७)*

इस तीसरे खण्ड में पापकर्म का प्रतीक सागर और पुण्य की प्रतीक धरती है। सागर प्रलय के माध्यम से शीतलता का लोभ देकर उसे लूटता रहता है। धरती के वैभव को बहा-बहाकर अपने भीतर इकट्ठा कर रत्नाकर कहलाता है। जल तो जड़ होता ही है, अतः अपनी जड़ता का क्यों न परिचय दे ? जबकि अपने प्रति दुर्व्यवहार होने पर भी धरती कभी प्रतिकार की भावना मन में नहीं लाती है। इसीलिए इसकी सहनशीलता प्रसिद्ध है। धरती का-सा ही सन्तों का भी स्वभाव होता है। उनकी मान्यता है कि सहनशक्ति के बल पर सर्वस्व पाया जा सकता है :

"जब कभी धरा पर प्रलय हुआ/यह श्रेय जाता है केवल जल को
धरती को शीतलता का लोभ दे/इसे लूटा है,/...और
वह जल रत्नाकर बना है—/बहा-बहा कर/धरती के वैभव को ले गया है
...पर-सम्पदा हरण कर संग्रह करना/...यह अति निम्न-कोटि का कर्म है
...जलधि ने जड़-घी का,/बुद्धि-हीनता का, परिचय दिया है
अपने नाम को सार्थक बनाया है।/अपने साथ दुर्व्यवहार होने पर भी
प्रतिकार नहीं करने का/संकल्प लिया है धरती ने,
इसीलिए तो धरती/सर्व-सहा कहलाती है/सर्व-स्वाहा नहीं ···
और/सर्व-सहा होना ही/सर्वस्व को पाना है जीवन में
सन्तों का पथ यही गाता है।" (पृ. १८९-१९०)

सन्तों के लिए धरती का-सा सर्वसहा होने का स्वभाव होना तो ठीक है, किन्तु गृहस्थ आश्रम जो रीढ़ है, उसके लिए सर्वसहा की वृत्ति कायरता, पलायनवादिता की बोधक होकर अन्यथा रूप समझी जाती है। देखिए, इसी

जलधि की जड़ता पर मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम को बाण छोड़ना ही पड़ा। समुद्र की जड़ता ने ऐसा करने के लिए उन्हें विवश कर दिया था। अन्त में समुद्र विनयपूर्वक श्री राम के समक्ष प्रस्तुत होता है और उनकी इच्छानुसार कार्य करने को सहर्ष तैयार हो जाता है। 'रामचरित मानस' के 'सुन्दर काण्ड' में गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं :

- *"विनय न मानत जलधि जड़, गये तीन दिन बीति।*
  बोले राम सकोप तब, भय बिन होंहिं न प्रीति॥"
- *"अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा...।*
  संधानेउ प्रभ बिसिख कराला, उठी उदधि उर अंतर ज्वाला।"
- *"सभय सिन्धु गहि पद प्रभु केरे/छमहु नाथ सब अवगुन मेरे।"*

इस प्रकार सर्व-सहा होने का स्वभाव सन्त स्वभाव के लिए ही उपयुक्त है। उस स्तर तक जाने पर गृहस्थ की मर्यादा और उसका सम्मान तड़प उठेगा।

इस खण्ड में कवि ने प्रभाकर द्वारा स्त्री जाति के भीरु स्वभाव एवं उसकी विवशता तथा कुछ परुष पुरुष द्वारा किए गए अत्याचारों का संकेत किया है। यह स्त्री समाज के सुधार की भावना है जो कवि की बहुमुखी दृष्टि की द्योतक है। यह जाति कितनी दयालु होती है। यह दया, कारणवश नहीं, अपितु सहज-स्वाभाविक है :

"स्त्री-जाति की कई विशेषताएँ हैं/जो आदर्श रूप हैं पुरुष के सम्मुख।
प्रतिपल परतन्त्र हो कर भी/पाप की पालड़ी भारी नहीं पड़ती/पल-भर भी!
इनमें, पाप-भीरुता पलती रहती है/अन्यथा,/स्त्रियों का नाम 'भीरु' क्यों पड़ा?
प्रायः पुरुषों से बाध्य हो कर ही/कुपथ पर चलना पड़ता है स्त्रियों को/परन्तु,
कुपथ-सुपथ की परख करने में/प्रतिष्ठा पाई है स्त्री-समाज ने।...
इनका सार्थक नाम है 'नारी'/यानी—/'न अरि' नारी···/अथवा
ये आरी नहीं हैं/सो···नारी···।
जो/मह यानी मंगलमय माहौल,/महोत्सव जीवन में लाती है
'महिला' कहलाती वह।/...पुरुष को रास्ता बताती है/सही-सही गन्तव्य का—
...अबला के अभाव में/सबल पुरुष भी निर्बल बनता है
समस्त संसार ही, फिर,/समस्या-समूह सिद्ध होता है,
...धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों से/गृहस्थ जीवन शोभा पाता है
...पुरुष की वासना संयत हो,/और/पुरुष की उपासना संगत हो,
बस, इसी प्रयोजनवश/वह गर्भ धारण करती है।
संग्रह-वृत्ति और अपव्यय-रोग से/पुरुष को बचाती है सदा,
अर्जित-अर्थ का समुचित वितरण करके।/दान-पूजा-सेवा आदिक
सत्कर्मों को, गृहस्थ धर्मों को/सहयोग दे, पुरुष से करा कर
धर्म-परम्परा की रक्षा करती है।" (पृ. २०१-२०५)

नारी, महिला, अबला, स्त्री, सुता, दुहिता आदि शब्दों पर शोधपरक खोज आकर्षक है। नारी पक्ष इतना उज्ज्वल चित्रित है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। कुम्भकार द्वारा मुक्त हस्त से मुक्ता का दान, पुण्य वृत्ति का द्योतक है, क्योंकि

पुण्य पालन में पाप-प्रक्षालन होगा ही। इस प्रकार तीसरे खण्ड का शीर्षक चरितार्थ हो जाता है।

कुछ स्थल अपने में इतने आकर्षक हैं कि हठात् पाठक को रोक लेते हैं। जैसे निम्न पंक्तियों में संगीत का-सा आनन्द छिपा है, जो कवि के शब्द चयन और उसके उचितानुचित प्रयोग के सहज अधिकार का द्योतक है :

"दान-कर्म में लीना/दया-धर्म-प्रवीणा/वीणा-विनीता-सी बनी···!
राग-रंग-त्यागिनी/विराग-संग-भाविनी
सरला-तरला मराली-सी बनी···!" (पृ. २०८)

शब्द-शिल्प का एक और नमूना :

- *"उपरिल देहिलता झिलमिलाई/निचली स्नेहिलता से मिल आई।" (पृ. २०९)*
- *"छल का दिल छिल गया/सब कुछ निश्छल हो गया।" (पृ. २१०)*

कुम्भकार का चित्रण परिश्रम का द्योतक है। कुम्भकार कठिन परिश्रम का प्रतीक-सा है। उसके कठिन परिश्रम के फलस्वरूप आँगन में मोतियों की वर्षा होती है। वह भी उसकी अनुपस्थिति में। लोलुप राजा मुक्ता को बोरियों में भरवाने लगता है। यह उसकी अनधिकार चेष्टा है। तभी तो आकाशवाणी होती है :

"गगन में गुरु गम्भीर गर्जना :/अनर्थ···अनर्थ···अनर्थ !
पाप···पाप···पाप···!/क्या कर रहे आप···?/परिश्रम करो
पसीना बहाओ/बाहुबल मिला है तुम्हें/करो पुरुषार्थ सही
पुरुष की पहचान करो सही,/परिश्रम के बिना तुम
नवनीत का गोला निगलो भले ही,/कभी पचेगा नहीं वह
प्रत्युत, जीवन को खतरा है !/पर-कामिनी, वह जननी हो,
पर-धन कंचन की गिट्टी भी/मिट्टी हो, सज्जन की दृष्टि में !/हाय रे !
समग्र संसार-सृष्टि में/अब शिष्टता कहाँ है वह ?
अवशिष्टता दुष्टता की रही मात्र !" (पृ. २११-२१२)

उक्त कथन के पीछे प्रच्छन्न रूप से सत्ता मद में चूर, अधिकारियों की लोलुपता, बर्बरता, निष्ठुरता, व्यभिचारिता एवं अमानुषीय दुष्कर्मता का चित्रण है। इसे गोस्वामी तुलसीदास ने भी कलियुग के माध्यम से दर्शाया है।

कुम्भकार परिश्रम का प्रतीक तो था ही, साथ ही सन्त कवि ने उसे विरक्ति का भी प्रतीक सिद्ध कर दिया। जिस प्रकार 'तथागत' को खाँसते हुए दुर्बल, वृद्ध और इस सुन्दर शरीर के शव रूप को देखकर संसार से विरक्ति हो गई, वैसे कुम्भकार को अपने मंगलमय आँगन में घोर भौतिकवादी वृत्ति का दंगल देखकर उसके अन्तस्तल में विस्मय, विषाद और विरति की भावना जग गई। अपने आँगन में अनायास, अकारण विशाल जन-समूह को देखकर उसे विस्मय हुआ। राज मण्डली को मूर्च्छित और राजा को कीलित-स्तम्भित देख विस्मय और 'स्त्री' और 'श्री' के पाश में फँसे भयावह दुःख से आजीवन दुखी देखकर विरक्ति का भाव जगा। प्रकारान्तर से कवि ने अनुभूत सत्य को सिद्ध कर दिया कि सदाशय वाला परिश्रमी ही भौतिकता के आकर्षण को तिनका-सा त्यागकर विराग के माध्यम से मानव जीवन के चरम लक्ष्य 'मोक्ष' तक को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि उसका चित्त सहज ही सरल और दयालु होता है। कुम्भकार कितना विनयशील है कि उस राजा से उल्टे क्षमा-याचना करता है, जो दस्युवृत्ति से प्रेरित उसके आँगन से मोतियों का ढेर लूट

रहा था। वह मुक्ता राशि को स्वयं अपने हाथों से बोरियों में भर कर राजा को सौंपता है। राजा के मुख से निकल पड़ा :

"सत्य-धर्म की जय हो !/सत्य-धर्म की जय हो !!" (पृ. २१६)

अपक्व कुम्भ भी राजा को अत्यधिक अर्थलोलुप देख भर्त्सना करता है। कुम्भ के व्यंग्यात्मक वचनों से राजा का सिर लज्जा, रोष और चिन्ता से झुक गया। राजा की व्यथा देख कुम्भकार ने कुम्भ को संकेत से वर्जित किया और कहा लघु होकर भूलकर भी गुरुजनों को प्रवचन नहीं देना चाहिए। उनसे गुण ग्रहण करना चाहिए, जो शिवत्व का सूचक होता है। कुम्भकार की सुलझी बातों से राजा का क्रोध, जो कुम्भ के प्रति था, शान्त हो गया :

"कुम्भ को समझाते कुम्भकार की बातों से/राजा की मति का उफान–
उद्दीपन उतरता-सा गया,/अस्त-व्यस्त-सी स्थिति/अब पूरी
स्वस्थ-शान्त हुई देख।" (पृ. २१९-२२०)

बोरियों में भरी मोतियाँ राजा की लोलुपता का उपहास-सी करती कहती हैं :

"हे राजन !/पदानुकूल है, स्वीकार करो इसे।" (पृ. २२०)

इस प्रकार कुम्भकार की दानवीरता से धरती की कीर्ति और धवलित हो रही है, जिसे देख सागर ईर्ष्या करता है और बदलियों को भेजता है। वह कहता है कि वर्षा के प्रवाह में कुम्भ को मिट्टी रूप में बदलकर बहा ले जाओ ताकि वह अस्तित्वहीन हो जाए। किन्तु बदली सागर नहीं थी। वह सागर के वाष्प रूप से परिवर्तित होकर बदली के रूप में थी। वह प्रशिक्षित होकर मीठे जल की वर्षा करने वाली थी। उसने मुक्ता की वर्षा कर धरती के यश को और बढ़ा दिया, जिससे सागर की इच्छा के विपरीत धरती का गौरव और ही बढ़ा। तब सागर और क्षुब्ध हुआ और धरती पर क्रोध उतारने के साथ ही समस्त स्त्री जाति की कटु आलोचना करने लगा। उसे निन्दनीय सिद्ध करने का प्रवचन दिया। सागर की धरती के प्रति अकारण क्षुब्धता प्रभाकर को सहन न हो सकी और उसने सागर के तल में निवास करने वाले तेज तत्त्व के प्रतीक बड़वानल को उद्‌बुद्ध किया, जो भयंकर रूप में खौलने लगा। और उसने खारे सागर को क्षण भर में पी डालने की ललकार भरी चुनौती दी। सागर व्यंग्य कसता हुआ, वचन चातुरी रूपी बाणों का सटीक सन्धान करता है। यह माना कि सागर एक कुशल कूटनीतिज्ञ है, जैसे आचार्य केशव की 'रामचन्द्रिका' में अंगद-रावण संवाद में सटीक, तर्कयुक्त, वाग्वैदग्ध्य पूर्ण प्रत्युत्पन्न मति का करिश्मा देखते ही बनता है, वैसे ही सागर समर्थक बादल सूर्य को सटीक तर्कों से समझाता है :

"अरे खर प्रभाकर, सुन !/भले ही गगनमणि कहलाता है तू,
सौर-मण्डल देवता-ग्रह–/ग्रह-गणों में अग्र
तुझमें व्यग्रता की सीमा दिखती है/अरे उग्रशिरोमणि !
तेरा विग्रह ···यानी–/देह-धारण करना वृथा है।/कारण,
कहाँ है तेरे पास विश्राम-गृह ?/तभी ···तो/दिन भर दीन-हीन-सा
दर-दर भटकता रहता है !/फिर भी/क्या समझ कर साहस करता है
सागर के साथ विग्रह-संघर्ष हेतु ?/अरे, अब तो
सागर का पक्ष ग्रहण कर ले,/कर ले अनुग्रह अपने पर,/और,

सुख-शान्ति-यश का संग्रह कर !/अवसर है,/अवसर से काम ले
अब, सर से काम ले !/अब···तो···छोड़ दे उलटी धुन।" (पृ. २३१)

प्रभाकर को नानाविध समझाने के उपरान्त न मानने की स्थिति में उसे ग्रहण लगने की धमकी देता है और कहता है राहु के ग्रस लेने पर तुम निष्प्रभ, निस्तेज होकर, कितने दीन-हीन और बिचारा बनोगे, उस स्थिति को सोच लो। इस भयावह धमकी से यद्यपि दसों दिशाएँ भयभीत हो जाती हैं किन्तु तब भी सूर्यदेव अपने स्थान पर अडिग हैं। अविचलित हैं। निर्भय होकर कहते हैं–'अरे ठगो ! खण्डित जीवन जीने वाले ! पाखण्डी ! रहस्य की बात समझने में अभी तुम्हें समय लगेगा। मानता हूँ कि भय का अवसर भयभीत करता है। मैं भी भयभीत हो सकता हूँ किन्तु इससे क्या न्याय पक्ष छोड़ा जाता है ? कभी नहीं। अरे विकट परिस्थिति में अन्धा ही नहीं, आँख वाला भी भयभीत होता है परम सघन अन्धकार से। जीवन में जटिल और विकट परिस्थितियाँ आती हैं, फिर भी न्यायोचित मार्ग पर चलना ही उत्तम होता है।' बादल को सम्बोधित कर कहते हैं :

"हिंसा की हिंसा करना ही/अहिंसा की पूजा है···प्रशंसा,
और/हिंसक की हिंसा या/पूजा/नियम से/अहिंसा की हत्या है···नृशंसा।
धी-रता ही वृत्ति वह/धरती की धीरता है/और
काय-रता ही वृत्ति वह/जलधि की कायरता है।" (पृ. २३३)

प्रभाकर द्वारा जम कर मही की मूर्धन्यता की सराहना और जलधि की जघन्यता की निन्दा की जाती है। बादलों को भस्म करने हेतु कटिबद्ध प्रभाकर को देखकर सागर राहु को याद करता है और निवेदन करते हुए कहता है कि प्रभाकर पृथ्वी से प्रभावित है, उसकी सेवा में निरत है। राहु की प्रशंसा का पुल बाँधते हुए उसे मृगराज और विषधर नाग की उपमा देकर प्रभाकर की मृग और मेण्ढक से तुलना करता है। राहु को, मनचाही-मुँह माँगी अपार धनराशि उत्कोच रूप में भेंट स्वरूप देने के लिए प्रलोभन देता है। असंख्य अनगिनत, हीरक-मोती-मूँगा की राशि पाकर राहु ने अपना घर भर दिया किन्तु यह राशि अनुद्यम से प्राप्त है। इस विष-विषम पाप निधि से राहु का मस्तिष्क विकृत हो गया, वह काला पड़ गया। सुकृत क्षीण हो गया। पापमूर्ति-सा स्पर्श्यहीन हो गया। कहावत है गुरुवेल (गुरुच) तो कड़वी ही होती है, उसे नीम का सहारा मिल गया तो फिर क्या पूछना ! उसकी कड़वाहट में चार चाँद लग गया। राहु का सागर से मेल हो गया - विचारों की समानता से। दोनों ही पर-पीड़ा में आनन्द लेने वाले हैं। दिन-रात दोनों प्रलय ही देखते हैं। ऐसा कुसंस्कार है उनका। अन्त में राहु सूर्य को सम्पूर्ण निगल गया। चारों तरफ हाहाकार मचा। दिशाओं की दशा बदल गई, उदासी छा गई। चेतन-अचेतन, जड़-जंगम - सभी प्रकाश के अभाव में प्रभाकर के विरह में व्यथित हैं, विकल हैं। पक्षी दल का संकल्प देखिए–जब तक सूर्यग्रहण का संकट नहीं टलता, तब तक उनके भोजन-पान त्याज्य है, आहार-विहार त्याज्य है, धरती सूर्य-कष्ट से तड़प रही है। उसकी वेदना असीम है। क्यों न असीम हो, क्योंकि धरती को अकारण सागर द्वारा पीड़ित करने की बात सूर्य को सह्य न हो सकी थी, और उसने अपने प्रखर तेज-प्रताप से सागर को विचलित कर दिया। तभी तो सागर कुपित हुआ है। बदली और बादल के माध्यम से जब सूर्य को पराभूत न कर सका तब अकोर के माध्यम से राहु को पटाया और ग्रहण द्वारा सूर्य को विकल किया। उसकी इस निम्नस्तरीय भावना से प्राणिमात्र दुःखी हुए। बादलों के अत्याचार से देवराज इन्द्र भी कुपित हुए और गुप्त रूप से कार्य करने लगे :

"इस अवसर पर इन्द्र भी/अवतरित हुआ, अमरों का ईश।
...महापुरुष प्रकाश में नहीं आते/आना भी नहीं चाहते,

प्रकाश-प्रदान में ही/उन्हें रस आता है।" (पृ. २४४-२४५)

इन्द्र का पौरुष जागा है। वे कान तक धनुष तानकर निरन्तर छोड़ रहे हैं।

"छिदे जा रहे, भिदे जा रहे,/विदूप-विदीर्ण हो रहे हैं
बादल-दलों के बदन सब।" (पृ. २४६)

सागर फिर जल भरे बादलों को भेजता है जो बिजली का उत्पादन कर सबकी आँखें बन्द कर रहा है। सदा अपलक रहने वाले इन्द्र की आँखें भी बार-बार पलकें मारने लगीं। तभी इन्द्र ने आवेश में आकर अमोघ अस्त्र – वज्र निकाल कर बादलों पर फेंक दिया। वज्राघात से आहत बादल आह कर उठे। मेघों का रोना अपशकुन सिद्ध हुआ सागर के लिए :

"सागर ने फिर से प्रेषित किये/जल-भरे लबालब बादल-दल,
...बादलों ने बिजली का उत्पादन किया,/क्रोध से भरी बिजली कौंधने लगी
सब की आँखें ऐसी बन्द हो गईं/...इन्द्र की आँखें भी
बार-बार पलक मारने लगीं।/तभी इन्द्र ने आवेश में आ कर
अमोघ अस्त्र वज्र निकाल कर/बादलों पर फेंक दिया।
...आग-उगलती बिजली की आँखों में/भूरि-भूरि धूलि-कण
घुस-घुस कर/दुःसह दुःख देने लगे।" (पृ. २४६-२४७)

तब सागर ने पुनः बादलों को सूचित किया कि इन्द्र के अमोघ अस्त्र–वज्र के जबाब में रामबाण से काम लो। ईंट का जबाब पत्थर से दो। ओला और पत्थर की वर्षा करो। ओले और भू-कणों के टक्कर में ओलों को पराजय का मुख देखना पड़ा :

"जहाँ तक हार-जीत की बात है–/भू-कणों की जीत हो चुकी है
और/बादलों-ओलों के गले में/हार का हार लटक रहा है
...भूखे भू-कणों का साहस अद्भुत है,/त्याग-तपस्या अनूठी !
जन्म-भूमि की लाज/माँ-पृथिवी की प्रतिष्ठा/दृढ़ निष्ठा के बिना
टिक नहीं सकती,/रुक नहीं सकती यहाँ।" (पृ. २५२)

यहाँ भू-कणों से तात्पर्य भू-कणों से निर्मित जीव अर्थात् शिल्पी, जो माँ पृथ्वी की प्रतिष्ठा और गौरवशाली यश को उन्नत देखने के लिए कितना श्रम, कष्ट और असह्य वेदना सह कर भी मौन, शान्त बना रहता है। उसकी वेदनाजन्य विकलता वह स्वयं जाने या माँ (धरती) जाने। यह ठीक ही कहा गया है कि "दुखिया का दुःख दुखिया जाने या दुखिया की माय।" वह किसी बात की माँग नहीं करता। इसका यह मतलब नहीं कि उसे अभाव नहीं है, पीड़ा नहीं है, है; किन्तु सहनशक्ति मातृपक्ष धरती से मिली है। इसलिए वह व्यक्त नहीं करता। निरन्तर कई दिन शिल्पी को न देखकर उसकी प्रेम भरी मन्द-मुस्कान, लाड़-प्यार की बात, गात पर कोमल कर-पल्लवों का सहलाव, शीतल सलिल का स्नेहिल सिंचन स्मृति का विषय बनकर झलक आया। दूर प्राँगण में योग-भक्ति में निमग्न शिल्पी दिखाई दिया। गुलाब का पौधा स्वामी के संकट को देखकर, वह संकट पर ही बरस पड़ा और कहता है :

"अरे संकट !/हृदय-शून्य छली कहीं का !/कंटक बन मत बिछ जा !
निरीह-निर्दोष-निश्छल/नीराग पथिकों के पथ पर !" (पृ. २५६)

यह है गुलाब की स्वामि-भक्ति का आदर्श रूप। इसी प्रकार, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' कृत 'राम की शक्ति-पूजा' में पवन सुत हनुमान ने जब यह जाना कि रावण के पक्ष में भगवती महामाया के होने से राम रणक्षेत्र में विफल हो रहे हैं, और वह पूरे आकाश में व्याप्त है, तब ज्ञानियों में अग्रगण्य हनुमान ने स्वत: निर्णय ले लिया महामाया को निगल जाने का। और इतनी तीव्रगति से आकाश में महामाया को ढूँढने लगे कि उनके बलवती वेग की सनसनाहट और हरहराहट से कैलास पर समाधिस्थ शंकर का ध्यान टूट गया और सारा रहस्य भी ज्ञात हो गया। तब शंकरजी ने ही महामाया को संकेत किया कि आज अपने बचने का उपाय सोच लो, अन्यथा प्रभु श्री राम की भक्ति हनुमान् के रूप में साकार हो गई है, और वह आज तुम्हें निगल सकता है और मैं कुछ नहीं कर सकता। तब महामाया ने माता अंजनी का रूप धर लिया और अपने को इस रूप में बचाते हुए माँ अंजनी रूप में हनुमान को डाँट-फटकार कर राम की सेवा में तुरन्त वापिस भेजा। यह भक्ति भावना अपने उस चरमोत्कर्ष रूप में है जिस आदर्श तक पहुँचना असम्भव-सा है।

खण्ड चार : 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' : इस खण्ड में बड़ा ही मार्मिक, हृदयद्रावक, संवेदनशील चित्र प्रस्तुत है, जिसमें पूरे काव्य का सार तत्त्व निहित है। माँ धरती, बेटी 'माटी' की आज्ञाकारिता पर परम सन्तुष्ट है।

एक छोटे से परिवार में, जहाँ माँ और बेटी ही हो, नाज़ और लाड़-प्यार से पली बेटी को सयानी होने पर माँ, जिस तरह अपने कलेजे के टुकड़े को वधू रूप में वर को सौंप देती है, अब यह 'वर' पर निर्भर है कि वह उसके साथ क्या सलूक करेगा ? उसे प्यार और सुख मिलेगा अथवा ताड़ना या दु:ख या दोनों ही। क्या जाने क्या होगा, भाग्य-विधाता जाने। इसी तरह धरती ने माटी को कुम्भकार को सौंप दिया। यह जोड़ा अद्‌भुत है। इसे आजीवन साधना की कसौटी पर चलना पड़ा। मार्ग कण्टकाकीर्ण रहा। किन्तु यह सब तो बाहर से देखने वाले को था। लोग उनकी दीन-दयनीय स्थिति पर तरस खाते थे। जबकि उन दोनों ही का जीवन भीतर से सन्तुष्ट था। दोनों को एक-दूसरे से स्नेह था, प्रेम था। दोनों एक-दूसरे के लिए सर्वस्व थे। दोनों में अगाध, असीम प्रेम था। दोनों प्रेम के धनी थे। एक-दूसरे को पाकर धन्य थे। माना कि उन्हें बाहर से कष्ट था, किन्तु भीतर से उनमें उत्साह भरा था। उन दोनों ने कभी भी मन में कष्ट का अनुभव नहीं किया। उत्साह और उमंग में निरन्तर स्फूर्तिमय बने रहे। प्यार और विश्वास का सम्बल जिसे मिला है उसे और क्या चाहिए ? सच्चे प्यार में कितना त्याग और बल होता है कि सब कुछ लुटाकर भी भगवान् भूतनाथ की तरह सम्पन्न बने रहते हैं। आँगन में भरे मोतियों के भण्डार को लुटा दिया। किसको ? राजा को, जिससे सब लोग पाते हैं। ऐसे ऐश्वर्यशालियों को देकर, और विनयपूर्वक देकर उन्हें निहाल कर देते हैं। इस महान् उत्सर्ग में रंच मात्र भी गर्व या अहं की भावना नहीं है। यह है इस प्रेमी युगल का कारनामा। इनके परस्पर सहयोग से कल्याण का सुखमय वातावरण जो सृजित हुआ उसे देखकर माँ 'धरती' विह्वल है। वह प्रसन्नता से उत्फुल्ल और आनन्दित है। उसकी विह्वलता उमंग में छलक पड़ी है :

"फूली-फूली धरती कहती है—/माँ सत्ता की प्रसन्नता है, बेटा
तुम्हारी उन्नति देख कर/मान-हारिणी प्रणति देखकर।" (पृ. ४८२)

यहाँ 'माँ सत्ता' सम्बोधन से तात्पर्य अलक्ष्य, सर्व समर्थ, अदृश्य शक्ति से है, जो सर्वत्र व्याप्त है और जो सबका सब कुछ देख रही है। वही है प्रसन्न आज तुम्हारे क्रियाकलापों पर। तुम धन्य हो बेटे ! तुम्हारे कृति पर देव-शक्ति प्रसन्न है। (यहाँ प्यार वश माँ धरती ने बेटी—माटी को बेटा सम्बोधित किया है जैसा कि स्नेहाधिक्य में अक्सर लोग कर देते हैं)।

यहाँ काव्य रचयिता ने स्वयं पूरे काव्य कथन को अति संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया है और निदान रूप में निष्कर्ष भी दे दिया है। शब्द 'सृजनशील जीवन' की अपनी उपयोगिता है। सृजनशील जीवन ही जीवन का सार्थक रूप माना गया है। सृजन निर्माण–उत्पत्ति का बोधक है, भले ही कृति स्थूल हो या सूक्ष्म, भावात्मक हो या रचनात्मक, बिना सृजन के मानव जीवन निरर्थक-निस्सार माना जाता है। सृजन भी स्वार्थ-परमार्थ दोनों प्रकार का होता है। एक निरा स्वार्थी होता है जो सृजनकर्ता के लिए ही प्रयोग में आता है और दूसरा परमार्थपरक होता है जो शुद्ध समाज के कल्याण और उनकी सुख-सुविधा के लिए होता है। स्थूल में विद्यालय, धर्मशाला, मन्दिर, चिकित्सालय आदि आते हैं और सूक्ष्म में काव्य ग्रन्थ हैं, जो नाना पुराण, निगमागम और काव्य के विविध रूप एवं साहित्य तथा अन्य विधाओं के शास्त्र, जिनमें ज्ञान-विज्ञान-कला निहित है, के रूप में है, जिनसे नित्य लोग लाभ उठा रहे हैं और उठाते रहेंगे। माँ धरती ने माटी से प्रथम खण्ड में कुम्भकार का संसर्ग कराया। यहीं से माटी का कुम्भकार के साथ साहचर्य शुरू होता है। काव्य के चार खण्डों में उसकी साधनावस्था की चार दशाएँ हैं जो अनवरत, निरन्तर अग्रसर होती रही हैं। दूसरे खण्ड में कुम्भकार के प्रति समर्पण भाव के साथ ही अहम् भाव का भी उत्सर्ग करा दिया है। तीसरे खण्ड में समर्पण के पश्चात् समर्पित माटी की खरी-से-खरी अनगिनत परीक्षाएँ होती हैं, जिसमें अग्नि परीक्षा भी देनी पड़ी है, जिसको माटी ने बड़े साहस और उत्साह के साथ उसको सहन किया है। चौथे खण्ड में बिन्दु मात्र वर्ण जीवन को ऊर्ध्वगामी–ऊर्ध्वमुखी बनाया है। माटी एक कण से उठकर कुम्भ के रूप में सृजित हुई। बिन्दु मात्र वर्ण जीवन को यही लाभ हुआ।

जीवन में अर्पण की भावना हो तो किसी महान् के चरणों में समर्पित होने पर जीवन को ऊर्ध्वगामी और ऊर्ध्वमुखी बनाया जा सकता है। हाँ, वह चरण चाहिए जो समर्पित की लाज को निभा सकें। उसे ऊपर उठा सकें। महान् तो कभी अपने को महान् न मानते हैं, न कहते हैं। देखिए स्वयं कुम्भकार को कि जिसकी महानता को स्वीकार कर कुम्भ सहित सबने उसे कृतज्ञता की दृष्टि से देखा यानी उसका हृदय से आभार और अनुग्रह स्वीकार किया। जबकि कुम्भकार में तनिक भी महानता का भाव लक्षित नहीं होता है। वह बड़ी ही विनम्रता और शिष्टता के साथ तुरन्त कह उठता है–यह सब तो ऋषियों और सन्तों की कृपा है। मैं तो एक तुच्छ सेवक मात्र हूँ। यह प्रसंग स्मृति दिलाता है उन महान् पराक्रमी पवन सुत हनुमान का, जो जगत्-माता सीताजी का दर्शन करके लंका दहन के पश्चात् राम के समक्ष उपस्थित होकर कहते हैं :

"प्रभु की कृपा भयउ सब काजू। जनम हमार सफल भा आजू॥" तुलसीदास, मानस

प्रचण्ड पराक्रमी रावण प्रशासित लंका को जलाकर हनुमान सकुशल लौट आने में अपना तनिक भी पराक्रम न मानकर प्रभु कृपा को ही श्रेय देते हैं।

अन्त में, सहसा तरु-तले, साधु-दर्शन कर सभी उधर ही आकर्षित होते हैं। सादर अभिवादन कर उनकी प्रदक्षिणा करते हैं। पूज्य-पाद के कमलवन्त चरणों का पादाभिषेक होता है। चरणोदक लिया जाता है और सभी गुरु कृपा की प्रतीक्षा में बैठ जाते हैं। फिर साधु कुछ ही पलों में मुदित मुद्रा में उपस्थित समुदाय को प्रसाद बाँटने लगे। और आशीर्वादार्थ अभय का हाथ साधु ने ऊपर उठाया, जिससे भाव व्यंजित हो रहा था : "शाश्वत सुख का लाभ हो।"

"कुछ ही दूरी पर/पादप के नीचे/पाषाण-फलक पर आसीन
नीराम साधु की ओर/सबका ध्यान आकृष्ट करता है/··· कि तुरन्त
सादर आकर प्रदक्षिणा के साथ/सबने प्रणाम किया
पूज्य-पाद के पद-पंकजों में।/पादाभिषेक हुआ,/पादोदक सर पर लगाया।
फिर,/चातक की भाँति/गुरु-कृपा की प्रतीक्षा में सब।/कुछेक पल रीतते कि

गुरुदेव का मुदित-मुख/प्रसाद बाँटने लगा,/अभय का हाथ ऊपर उठा,
जिसमें भाव भरा है—/'शाश्वत सुख का लाभ हो'।" (पृ. ४८४)

फिर आतंकवाद साधु से याचना करता है कि हमें भी संसार के दुःख से विरक्त कर सुख-शान्ति की ओर लौटने का आशीर्वाद दीजिए और वचन दीजिए कि "तुम्हारी भावना पूरी हो।" साधु ने मुस्कुराते हुए कहा कि ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि मैंने स्वयं अपने गुरु को वचन दिया है कि जीवन में भूलकर भी किसी को वचन नहीं दूँगा। हाँ, कोई अपने हितार्थ विनीत भाव से दिशा-बोध चाहता हो तो उसके कल्याण के लिए उसे अनुकूल लगने वाली मधुर वाणी में प्रवचन देना अर्थात् उसके मन के उलझाव को विशद व्याख्या द्वारा शंका-समाधान कर, समझा कर बोध करा देना, यही पर्याप्त होगा।

मोक्ष के विषय में साधु का मत है कि साधना की चरम सीमा पर बन्धन रूप तन-मन-वाणी का मिट जाना ही मोक्ष है। इसी शुद्ध दशा में परमानन्द की प्राप्ति होती है और तब आवागमन से मुक्ति हो जाती है। इसी को दूधजन्य घी के प्रमाण से समझाया है कि दूध अपने उत्तरोत्तर विकास क्रम से अन्त में जब घी बन जाता है तब फिर लौट कर दूध नहीं बन सकता। वैसे ही मोक्ष प्राप्त जीव पुनर्जन्म नहीं लेता। इसी प्रकार आचरण-संहिता पर बल देते हुए अन्तिम उपदेश के रूप में सन्त साधु ने कहा कि जहाँ पर मैं आसीन हूँ, वहाँ आकर देखो मुझे। क्योंकि ऊपर से नीचे देखने में चक्कर आता है और नीचे से ऊपर देखने में अनुमान लगभग गलत निकलता है। इसलिए मेरे कथित शब्दों पर विश्वास करो। विश्वास से तुम्हें अनुभूतिजन्य दिशा मिलेगी, और अवश्य मिलेगी। धैर्य से शान्त चित्त अग्रसर होते चलो। मार्ग में नहीं साधना के निर्दिष्ट स्थान पर विमल प्रकाश की अनुभूति होगी। वहीं ज्ञान का प्रकाश होगा, जिसे प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य होता है :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है/जिसे/प्राप्त होने के बाद,
यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है ?/तुम ही बताओ !
दुग्ध का विकास होता है/फिर अन्त में/घृत का विलास होता है,/किन्तु
घृत का दुग्ध के रूप में/लौट आना सम्भव है क्या ?
...क्षेत्र की नहीं, आचरण की दृष्टि से/मैं जहाँ पर हूँ/वहाँ आकर देखो मुझे,
तुम्हें होगी मेरी/सही-सही पहचान/क्योंकि/ऊपर से नीचे देखने से
चक्कर आता है/और/नीचे से ऊपर का अनुमान/लगभग गलत निकलता है।
इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंज़िल पर !" (पृ. ४८७-४८८)

महाभारत के बर्बरीक की तरह सारे क्रिया-कलाप और प्रकरण को 'मूकमाटी' साक्षी रूप में देखती रही। साधु के प्रवचन-मिस प्रबोधन के पश्चात् सारा वातावरण महामौन में विलीन हो गया। माटी अन्त तक देखती-स्तम्भित रही। सन्त कवि ने भी साधु-दर्शन कराकर विश्वास के उपदेश पर वाणी को विराम दिया।

यह चतुर्थ खण्ड पिछले तीन खण्डों की अपेक्षा अधिक बड़ा है और अपने आप में इसका अलग अस्तित्व हो सकता है। इसकी एक अद्भुत विशेषता यह है कि यहाँ पूजा-उपासना के उपकरण सजीव वार्तालाप में तल्लीन हो जाते हैं। इनके वार्तालाप के माध्यम से मानवीय भावों और गुण-दोष का अभिव्यक्तीकरण होता है। काव्य को आधुनिक

परिवेश से सम्बद्ध करने के लिए ये संवाद सार्थक और उपयुक्त-से लगते हैं।

स्वर्ण कलश की उपेक्षा कर मिट्टी के कलश को मंगल घट के रूप में वरीयता और मान्यता देना उसके अपमान का कारण हो गया। बदला लेने की भावना बढ़ती क्रोधाग्नि से प्रज्वलित हो उठी। स्वर्ण कलश ने आतंकवादी दल के सहयोग से सेठ के परिवार को नाना प्रकार की उलझनों, यातनाओं और भयावह स्थितियों के घेरे में डालकर हर प्रकार से उसे विवश कर दिया। परिवार की और अपनी रक्षा के लिए सेठ को प्राकृतिक शक्तियों और गजदल तथा नाग-नागनियों से सहयोग लेना पड़ा। किसी प्रकार वह अपने परिवार की प्राण रक्षा कर पाता है। अपने आप में यह एक गम्भीर त्रासद दृश्य है जो धीर-गम्भीर प्रवृत्ति वाले को भी व्यथित और कँपा देने वाला है। सेठ ने इस प्रकार इस विवशता में क्षमा भाव को उद्‌बुद्ध किया कि जिसका प्रभाव क्रूर आतंकवादियों पर पड़ा और उनका क्रूर हृदय पसीजा और सेठ परिवार को प्राण दान मिला।

क्षमाशील महान् होता है और यह मानवता का महान् गुण है किन्तु इसका उद्‌बोधन स्वतः आत्म-प्रेरणा से होना चाहिए, न कि बन्दूक और कट्टे की नोक पर डरा-धमका कर, विवश कर, क्षमादान कराया जाय। अरे ! जो हमारे परिवार के प्राणों का भूखा है, उसे हम क्षमा करेंगे ? कदापि नहीं ! किसी मूल्य पर नहीं। हम निरीह, बिचारा और दयनीय स्थिति में भयभीत हैं। घिरे हैं। मृत्यु के हवाले हो सकते हैं। यदि बच गए तो उस परम पिता की कृपा मानेंगे। उसी आतंक की स्थिति में हमसे बल प्रयोग पर क्षमा कराया जा सकता है। किन्तु क्या यह हमारा क्षमा करना स्वयं का होगा ? नहीं ! नहीं !! हमने कहाँ क्षमा किया ? हमसे तो बल पूर्वक क्षमा कराया गया। इस क्षमा को यदि यथार्थ रूप में क्षमा मान लिया जाय तो यह भूल होगी। बन्धन में पड़कर विवशता में जो क्षमा किया गया वह तो प्रायश्चित हुआ और जघन्य प्रायश्चित, जिसे भुगतना ही पड़ेगा। महाराज युधिष्ठिर ने महारानी द्रौपदी द्वारा अपने द्वार पर किए गए राजा दुर्योधन के अपमान को प्रायश्चित कहा था, जिसे चीर-हरण और महाभारत संग्राम के रूप में भुगतना पड़ा, जिसके फलस्वरूप भारत भूमि रक्तरंजित हुई और देश वीरविहीन हो गया।

आतंकवाद यही चाहता है और इसका अन्तिम निदान यही है भी। इसको जैसे-तैसे टाल जाना, समझौता करना कायरता और पलायनवादिता है। भले ही राजनीति की भाषा में कूटनीति और चतुराई माना जाय। आग सुलगेगी तो जलेगी ही। धधकती ज्वाला जल के फुहारों से नहीं बुझ सकती।

स्वर्णकलश और आतंकवाद का प्रकरण सेठ परिवार के साथ आज की वर्तमान परिस्थिति और सन्दर्भ में सटीक एवं नितान्त उपयुक्त चित्रित हुआ है। इसका समाधान राजसत्ता और आधुनिक समाज व्यवस्था के अनुरूप दिया गया है, जो राहत के रूप में है। कुछ समय बीतने पर लोग भूल जाएँगे ही। बस इसी निमित्त से जैसे-तैसे आई विपत्ति को टालने का समाधान है, जो उचित नहीं है। दूसरी बात यह भी तो है कि जब स्थायी समाधान ढूँढ़ने की युक्ति का प्रयास किया जाएगा तो उपयुक्त समाधान के ढूँढ़ निकालने तक, या पहले ही सत्ता ही बदल जाएगी। सारे प्रयास और श्रम पर पानी फिर जाएगा। ऐसा भी तो नहीं है कि सत्ता में आने वाले इतने प्रयत्न से प्राप्त समाधान से लाभ उठाएँ। हर सत्ताधारी अपनी अलग पद्धति और प्रणाली को चलाकर नवीन ख्याति चाहता है। जहाँ ऐसा नहीं है और जिस हद तक नहीं है, वहाँ उसी हद तक सफलता भी है। प्रसिद्ध दार्शनिक 'राना डे' ने कहा था : "कोरी पटरी पर लिखना शुरू न कीजिए अर्थात् जहाँ तक लिखा गया है उसके आगे बढ़िए। सबको मिटा कर फिर से लिखना शुरू नहीं करना चाहिए।"

आतंकवाद सेठ से क्षमादान ले ही लेता है। वह पाषाण-फलक पर आसीन साधु से भी कहता है :

"यहाँ सुख है, पर वैषयिक/और वह भी क्षणिक !

यह···तो···अनुभूत हुआ हमें,/...'तुम्हारी भावना पूरी हो'
ऐसे वचन दो हमें,/बड़ी कृपा होगी हम पर।" (पृ. ४८५)

साधु ने सही दिशा दी कि आत्मा का उद्धार तो अपने ही पुरुषार्थ से हो सकता है। 'शाश्वत सुख' वचनों से बताया नहीं जा सकता, वह तो निजी साधना से प्राप्त आत्मोपलब्धि है। 'वचन' नहीं, मात्र प्रवचन दिया जाता है। विश्वास करो, साधना से मंज़िल पर विश्वास की अनुभूति होगी।

यहाँ कहना यह है कि आतंकवाद अपनी उसी मस्ती में महान् योगी, विरागी साधु से भी कहता है कि– "तुम्हारी भावना पूरी हो /ऐसे वचन दो हमें।" पर साधु तो साधु है, उसे आतंक से क्या आतंकित होना है। उसको पुरुषार्थ से आत्मोपलब्धि का सीधा रास्ता बतला दिया।

संक्षेप में, मंगल घट की सार्थकता गुरु के पाद-प्रक्षालन में है, जो सेठ की श्रद्धा के आधार हैं। अपक्व रूप में कुम्भ अग्नि से प्रार्थना करता है कि मेरे दोषों को जला दें। दोष-मुक्त होना ही सही जीवन है और तुम्हें किसी के दोष-हरण से परमार्थ ही मिलेगा। अग्नि परीक्षा के पश्चात् कुम्भ की भावना कितनी सात्त्विक हो जाती है कि उसे पक्व रूप प्राप्त हो जाने पर उसमें जलधारण की क्षमता आ जाएगी, जिससे गुरुजनों का पाद-प्रक्षालन हो सके या किसी प्यासे की प्यास बुझ सके, और इन सेवा के अवसरों से जीवन धन्य हो जाएगा।

चौथे खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' का शीर्षक भी चरितार्थ हो जाता है। इस अग्नि परीक्षा के पश्चात् घट में भी यह सात्त्विकता व्याप्त दीखती है, क्योंकि अपने में जलधारण करने की क्षमता पाकर पर वह सेवा हेतु ही आतुर और लालायित है।

ग्रन्थारम्भ से पूर्व प्रारम्भ में ही 'प्रस्तवन' और 'मानस-तरंग' शीर्षक के अन्तर्गत 'मूकमाटी' महाकाव्य के रचना का हेतु और उसमें समाहित श्रमण संस्कृति के पोषक जैन दर्शन पर सूत्रवत् प्रकाश डाला गया है जिससे काव्य में जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्त बीज रूप में उद्घाटित हुए हैं। वस्तुतः जैन दर्शन ने बड़ी आस्था के साथ ईश्वर को परम श्रद्धेय-पूज्य रूप में स्वीकारा है, सृष्टिकर्ता के रूप में नहीं। जैन दर्शन के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और महेश को सृष्टिकर्ता, पोषक और संहारक रूप में मानना ही नास्तिकता है। इस धर्म की यह भी मान्यता है कि 'रागातिरेक से भरपूर शृंगार रस के जीवन में भी वैराग्य का उभार आता है। शुद्ध चेतना ही उपास्य देवता है, जो सुसुप्त चेतना शक्ति को जागृत करने की प्रेरणा है। इसमें वर्ण-जाति-कुल आदि व्यवस्था विधान को भी स्वीकार किया गया है। सम्भवतः इसीलिए संकर-दोष से बचने के साथ ही वर्ण-लाभ को जीवन की सफलता माना गया है। वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवन्त, सशक्त और सबल बनाने हेतु ही इसके द्वारा सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट कुरीतियों और दोषों का निवारण करना है, और इसके साथ ही शुभ संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर सहज भाव से मोड़ना है।' उपर्युक्त मंगलमयी संकल्पों की पूर्ति हेतु ही इस काव्य का सृजन और नामकरण हुआ है।

यह कृति अधिक परिमाण में काव्य है या अध्यात्म, कहना कठिन है। लेकिन निश्चय ही यह आधुनिक जीवन का अभिनव शास्त्र है, जिसे हम अध्यात्ममय अथवा अध्यात्मबोधक काव्य कह सकते हैं। जैसा कि 'मानस-तरंग' से विदित है कि रागातिरेक से भरपूर शृंगार रस के जीवन में वैराग्य का उभार आता है। उसकी पुष्टि में ही पुरुष-प्रकृति के सहज आकर्षण का चित्रण कवि ने कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है :

- *"प्रकृति से विपरीत चलना/साधना की रीत नहीं है।*
  बिना प्रीति, विरति का पलना/साधना की जीत नहीं।"(पृ. ३९१)

- *"पुरुष होता है भोक्ता/और/भोग्या होती प्रकृति।*
  जब भोक्ता रस का स्वाद लेता है,/लाड़-प्यार से/लार का सिंचन कर
  रस को और सरस बनाती है/रसना के मिष प्रकृति भी।" (पृ. ३९१-३९२)
- *"पुरुष योगी होने पर भी/प्रकृति होती सहयोगिनी उसकी,*
  साधना की शिखा तक/साथ देती रहती वह।" (पृ. ३९२)
- *"पुरुष में जो कुछ भी/क्रियायें-प्रतिक्रियायें होती हैं*
  चलन-स्फुरण-स्पन्दन,/उनका सबका अभिव्यक्तीकरण,
  पुरुष के जीवन का ज्ञापन/प्रकृति पर ही आधारित है।
  प्रकृति यानी नारी/नाड़ी के विलय में
  पुरुष का जीवन ही समाप्त···!" (पृ. ३९२-३९३)
- *"पुरुष वासना का दास हो/वासना की तृप्ति-हेतु*
  परिक्लान्त पथिक की भाँति/प्रकृति की छाँव में
  आँखें बन्द कर लेता है,/और/यह अनिवार्य होता है
  पुरुष के लिए तब···!" (पृ. ३९३)
- *"रक्ता-आसक्ता-सी लगती है/पुरुष में प्रकृति···तब !" (पृ. ३९३)*
- *"पुरुष और प्रकृति/इन दोनों के खेल का नाम ही*
  संसार है, यह कहना/मूढ़ता है, मोह की महिमा मात्र !
  खेल खेलने वाला तो पुरुष है/और/प्रकृति खिलौना मात्र !
  स्वयं को खिलौना बनाना/कोई खेल नहीं है,
  विशेष खिलाड़ी की बात है यह !" (पृ. ३९४)
- *" 'प्रकृति का प्रेम पाये बिना/पुरुष का पुरुषार्थ फलता नहीं '*
  ...पुरुष की सेवा के लिए/सदा तत्परा मिलती जो/दासी-सी
  छाया ललित छवि छाया की ललित छवि-सी···!" (पृ. ३९५)

यह है पुरुष और प्रकृति का सहज स्वाभाविक चित्रण। संन्यास आश्रम राग-शृंगार और भोग से विरक्ति का ही आश्रम है। ध्यान-मग्न होने में राग-शृंगार बाधक माने गए हैं। जहाँ ये बाधक नहीं हैं वह स्थिति अध्यात्म साधना में सिद्ध योगियों की है। इस स्तर पर पहुँचने वाले योगी नहीं के बराबर हैं। जैसे योगीराज महाराज जनक और ऋषि वेद व्यास आदि ही कुछ नियम के अपवाद स्वरूप हैं। हाँ, माधुर्य भाव की साधना में राग-शृंगार का स्थान है। इसी प्रकार ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है, जैन दर्शन की इस मान्यता से सनातन हिन्दू धर्म सहमत नहीं है। किन्तु इसके क्या, यहाँ हमें जैन दर्शन और सनातन दर्शन की तुलना और समीक्षा नहीं करनी है।

जन्म के बाद आचरण के अनुरूप उच्च-नीच रूप को स्वीकार करने की पद्धति अति उत्तम है। 'वर्ण-संकर नहीं, वर्ण-लाभ' शीर्षक इसी आशय से सम्बद्ध है। जन्म के पश्चात् चलन-आचरण की कसौटी विवेक संगत और वैज्ञानिक है। यज्ञोपवीत संस्कार की मान्यता इसी आशय की है। जन्म मात्र से ही जाति बोध नहीं होता है। जन्म से सभी समान हैं। इसके पश्चात् के सुसंस्कारों के प्रभाव से अन्तर होता जाता है। महर्षि विश्वामित्र को राजर्षि से ब्रह्मर्षि की पदवी मिलना इसी सुसंस्कार की मान्यता का द्योतक है।

'माटी' जैसी पतित, दलित, तुच्छ, हेय, नाचीज़ को मंगल कलश तक के रूप में पहुँचाना सदाशयता और सद्भावना की उत्तुंग ऊँचाई की माप है। ग्रन्थ, जिसकी मूल धारणा पतित-पावन की है, निःसन्देह अनुकरणीय और स्तुत्य है। काव्य का स्तुतीकरण प्रकारान्तर से इसके प्रणेता आचार्य तपस्वी सन्त कवि विद्यासागर का स्तुतीकरण है, जो अपनी सदाशयता और आचरण से यश और श्रेय के प्रमाणित अधिकारी हैं।

'मूकमाटी' महाकाव्य जो अनगिनत पूत भावनाओं का संग्रह एवं भण्डार है, कुछ बिन्दुओं को छोड़ हिन्दू मात्र को चाहे, वह किसी मत का हो, उसे अपनी ओर आकर्षित करने और विचारमग्न तथा भावमग्न कर देने की स्थिति तक ला देने में पूर्णतया सक्षम है। ये गुण काव्य की बहुमुखी सफलता के द्योतक हैं।

□

'मूकमाटी': दार्शनिक विचार एवं तीव्र अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति

डॉ. आर.सी. शुक्ल

आचार्य श्री विद्यासागरजी के काव्य ग्रन्थ का अध्ययन कर चुका हूँ। इसकी भाषा जितनी सरल है, भाव एवं विचार उतने ही गहन और गम्भीर हैं। जैन दर्शन के मूल तत्त्वों को पूर्णतः आत्मसात् कर अपनी समस्त अनुभूतियों एवं चिन्तन को उनसे एकाकार कर जीवन जीने वाले आचार्यश्री के ग्रन्थ की तुलना केवल दाँते की 'डिवाइन कॉमेडी' से ही की जा सकती है। संसार में ऐसे महाकाव्य बहुत कम हैं जिनमें दार्शनिक विचारों को सहज और तीव्र अनुभूतियों के रूप में व्यक्त करने हेतु सुचित्रित एवं सर्वग्राह्य रूपक का रूप दिया गया है। काव्य शैली तो नितान्त मौलिक ही है। स्पष्ट है कि इस रचना को समझने एवं विश्लेषण करने के लिए अतिविशिष्ट प्रतिभा अपेक्षित है।

□



पृष्ठ ७०.
पर के प्रति----
भगवान् से प्रार्थना
करता है कि

'मूकमाटी' : मिथक के काव्य में रूपान्तरण की प्रक्रिया

डॉ. शशि मुदीराज

कविता की संरचना द्वन्द्वात्मक होती है—वह कालबद्ध है और कालातीत भी। यह कवि की क्षमता पर निर्भर है कि वह कविता को देश और काल के सीमित फलक पर रचकर उसे तात्कालिक यथार्थ का औसत आकलन बना दे, या उसकी असीम सम्भावनाओं का सन्दोहन कर उसे देशातीत और कालातीत बना दे। निश्चय ही इसके लिए महान् कवि-प्रतिभा की अपेक्षा होती है। महान् प्रतिभा कविता के माध्यम से मानव जीवन के शाश्वत मूल्यों का सन्धान करती है। इसी प्रक्रिया में महाकाव्य की रचना होती है। यूं तो संस्कृत और हिन्दी के महाकाव्यों की एक लम्बी सूची हमारे पास है, लेकिन यह ध्यातव्य है कि महाकाव्य के सारे लक्षण होने मात्र से या सारी शास्त्रीय शर्तों को पूरा करने मात्र से कोई काव्य महाकाव्य नहीं बन जाता। महाकाव्य से मेरा तात्पर्य है महान्-काव्य—ऐसा काव्य जिसमें परम्परा की रीढ़ हो किन्तु प्रयोग के नवीन रक्त का प्राण संचार हो, जिस में जातीय विश्वासों और मूल्यों का आधार हो किन्तु उनकी तार्किक और तात्कालिक व्याख्या हो, महान्-काव्य अर्थात् एक ऐसा विराट् फलक जिसमें मानव जीवन के चिरन्तन मूल्यों की प्रतिष्ठा हो किन्तु उसके परिवर्तनशील समसामयिक समस्याओं के परिदृश्य की संगति में हो, ऐसा ही महाकाव्य हमारे विश्वास, गर्व, चिन्तन, विचार और तर्क का पात्र बन सकता है। आचार्य श्री विद्यासागर की कृति 'मूकमाटी' संस्कृत और हिन्दी ही नहीं, समस्त भारतीय भाषाओं में उपलब्ध महाकाव्यों की परम्परा में एक समृद्ध, सार्थक और सम्भावनापूर्ण योग है, इतना ही नहीं, इस रचना में परम्परा और प्रयोग, मिथक और यथार्थ तथा शाश्वत और समसामयिक जीवन मूल्यों और प्रसंगों का ऐसा समन्वय है कि इसके विविध पक्षों पर एक अन्तहीन चर्चा छेड़ी जा सकती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि कविता में देश और काल को अतिक्रमित करने की शक्ति होती है। यह शक्ति आती है मिथक के प्रयोग से। मिथक किसी समाज, सभ्यता और जाति के धार्मिक विश्वासों, ऐतिहासिक परम्पराओं और वैश्विक मीमांसाओं का एक संगुम्फन होता है। किसी सभ्यता में जन्मे मिथक वस्तुतः एक सावयविक पूर्ण (Organic whole) की रचना करते हैं, इसमें भूत, वर्तमान और भविष्य का अन्तर नहीं होता। मिथक एक ऐसे ब्रह्माण्ड की रचना करता है जिसमें मानवीय, प्राकृतिक और अति प्राकृतिक तत्त्व एक व्यापक किन्तु सूक्ष्मता से विशिष्टीकृत क्रीड़ा में भाग लेते हैं। यह क्रीड़ा विनिमय और रूपान्तरण की क्रीड़ा होती है। मिथकीय विचार ईश्वर और मनुष्य को एक-दूसरे के विरोध में खड़ा नहीं करता। यह दैवी को मानवीय और मानवीय को दैवी में रूपान्तरित करता है। यह ऐसे क्रम की रचना करता है, जिसमें उच्चतर स्तर पर दैवी तत्त्व मनुष्य का प्रतिरूप होता है और इसी क्रम में पशु और वनस्पति जगत् निम्नस्तर पर मानवीय जगत् का प्रतिरूप होता है। इस प्रकार मिथक मनुष्य और शेष प्रकृति में किसी प्रकार का अलगाव नहीं रहने देता और उन्हें एक सावयविक पूर्णता में विन्यस्त करता है। इस प्रकार मिथक की संरचना एक साथ बन्द भी होती है और खुली भी, और इसकी प्रकृति इतिहास-निरपेक्ष होती है। कविता का गर्भाशय यही मिथक है इसीलिए महत् काव्य बार-बार इसकी ओर उन्मुख होते हैं। मिथक का काव्य में रूपान्तरण और काव्य की शर्तों पर रूपान्तरण— यही सूत्र है जिसके द्वारा 'मूकमाटी' की काव्यगत महत्ता के विवेचन का एक प्रयास किया जा सकता है।

'मूकमाटी' में कविश्री आचार्य विद्यासागर ने हमारे जातीय मिथक का ऐसा ही सन्धान किया है। किसी काव्य को महाकाव्य बनाने का रहस्य केवल उसके शास्त्रबद्ध वस्तुविधान और रूपनिर्माण में निहित नहीं है। किसी काव्य के

महाकाव्य बनने की एक स्वत:स्फूर्त, जटिल और अनेकायामी प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया के तीन चरण या तत्त्व विचारणीय होते हैं—पहला महाकाव्य की रचना में अभिप्रेरित और स्वयंचालित कवि का अभिप्राय, उद्देश्य और दृष्टि; दूसरा उसका वस्तुविधान, और तीसरा रूपविधान। ये तीनों तत्त्व एक दूसरे से समन्वित एक विकासशील प्रक्रिया के अंग हैं, इसीलिए अध्ययन की सुविधार्थ इनका पृथक्-पृथक् विवेचन करते हुए भी इनकी समग्र अन्विति का ध्यान रखा जाना आवश्यक है। इनमें सर्वाधिक प्रमुख है कवि की दृष्टि और अभिप्राय, जिसे लेकर वह काव्य की रचना करता है। कवि का अभिप्राय ही काव्य का उद्देश्य होता है। कवि का अभिप्राय उसकी दृष्टि से नि:सृत होता है और उसकी दृष्टि उसके जीवन दर्शन का चरम फल होती है। कवि का जीवन दर्शन उसके संस्कारों, विश्वासों, मूल्यों और मान्यताओं का संकुल रूप होता है जिसे वह परम्परा व जातीय स्मृति से प्राप्त करता है तथा स्वानुभव से अर्जित करता है। अपने इस जीवन-दर्शन को, अपने विश्वासों और श्रम सिंचित मूल्यों को विराट् फलक व शाश्वत अन्विति देने के लिए कवि मिथक का आश्रय लेता है। उसके रचना कर्म की विशदता व महत्ता इस बात में निहित है कि वह कौन से मिथक का चयन करता है, आस्था और विश्वास की किस भूमि से उस मिथक को काव्य की सर्जन प्रक्रिया में ढालता है और परिणति में उसकी रचना सम्पूर्ण जाति व सभ्यता की धरोहर किस सीमा तक बन पाती है।

'मूकमाटी' में कवि ने भारतीय दर्शन व संस्कृति की गहन सम्पदा से एक मिथक का चयन किया है। यह मिथक चिर पुरातन है और चिर नवीन भी। यह मिथक नहीं, वास्तव में एक प्रतीक है, किन्तु कवि की गहरी जीवन-दृष्टि, अनुभव की प्रामाणिकता और अभिव्यक्ति की निश्छलता इस बहुप्रयुक्त सामान्य से प्रतीक को मिथक की ऊँचाई तक लाकर एक परिपूर्ण दार्शनिक—काव्यमय मिथक में रूपान्तरित कर देती है। यह प्रतीक है - कुम्भ का। भारतीय दर्शन में कुम्भ प्रतीक है नश्वरता का। 'घट' शब्द का उपयोग 'कुम्भ' और शरीर के श्लेषार्थ में सन्तों ने बहुत किया है। 'कुम्भ' बनता है मिट्टी से, मिट्टी पंचतत्त्वों में से एक है, मिट्टी नश्वरता का प्रतीक है और मानव शरीर की अन्तिम परिणति भी मिट्टी ही है। भारतीय दर्शन और काव्य परम्परा के इस अत्यन्त प्रिय प्रतीक 'माटी' को केन्द्रस्थ कर कवि ने 'मूकमाटी' की रचना की है। माटी को साधना की सुदीर्घ प्रक्रिया को ढालकर उसे 'संकरता' और अनगढ़ता के दोषों से मुक्त कर कुम्भ के रूप में आकृति-प्रकृति से युक्त कर और कल्याण के मार्ग में उसे समर्पित कर कवि ने माटी को 'प्रतीक' स्तर से उठाकर 'मिथक' का देशकालातीत संयोजन और अर्थ प्रदान किया है। इसमें सूत्रधार है कुम्भकार, पग-पग पर आनुषंगिक कथाओं, व्याख्याओं और संवादों के द्वारा कवि ने दर्शन के गूढ़ तत्त्वों को काव्य के तल पर रसमय और आज के सन्दर्भ में अर्थवान् बनाकर प्रस्तुत किया है। इस काव्य में मिथक प्रयोग की विशेषता यह है कि इसमें चिरन्तन सत्य के साथ समसामयिक तथ्यों का भी निर्दशन किया गया है।

काव्य का आरम्भ होता है सरिता तट की माटी द्वारा धरती माँ के सम्मुख किए गए इस निवेदन से :

- *"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,*
  ···अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !" (पृ. ४)
- *"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की/च्युति कब होगी ?*
  बता दो, माँ···इसे !" (पृ. ५)

निवेदन और आकुल प्रश्न का उत्तर देती है धरती :

"साधना के साँचे में/स्वयं को ढालना होगा सहर्ष !
पर्वत की तलहटी से भी/हम देखते हैं कि/उत्तुंग शिखर का,

दर्शन होता है,/परन्तु/चरणों का प्रयोग किये बिना
शिखर का स्पर्शन/सम्भव नहीं है !" (पृ. १०)

और फिर माटी की इस साधना को आरम्भ करता है कुम्भकार। माटी से कुम्भ के रूप में ढलने की कई स्थितियाँ हैं। बहुत कठिन, प्राणान्तक संघर्ष है लेकिन इससे गुज़रे बिना माटी की मुक्ति सम्भव नहीं। इस साधना की पहली स्थिति है माटी के कुदाली से खोदे जाने की, दूसरी स्थिति माटी के शोधन की। माटी संकर दोष से युक्त है, उसमें कंकर मिले हुए हैं, कंकरों में जलधारण की क्षमता नहीं। साधना में ढलने के लिए आवश्यक लचीलापन और तरलता जल ही से मिलकर आ सकती है, इसलिए शिल्पी उसे जल में सानता है, फिर पैरों से रौंदता है। तदनन्तर माटी का लोंदा चक्र पर चढ़ाकर कुम्भ के रूप में ढाला जाता है। कुम्भ पर शिल्पी कुछ सार्थक चिह्न अंकित करता है। इसके बाद कुम्भ की सबसे कठिन परीक्षा आती है और वह है आँवे में तपने की अग्नि परीक्षा। इसके बाद कुम्भ का सांसारिक जीवनानुभव आरम्भ होता है। सन्त पुरुष के स्वागत में स्वर्णकलश की तुलना में माटी के ही कुम्भ को प्रधानता दी जाती है। इतना ही नहीं, काव्य के अन्तिम प्रसंग में सेठ रोगी हो जाता है और एक से एक अनुभवी चिकित्सकों से भी उसका निदान नहीं हो पाता, तब, माटी का लेप ही उसका कष्टहरण करता है। इस प्रसंग में लगभग चार पृष्ठों में चले प्रवाहपूर्ण मनन में कवि ने साधना की आध्यात्मिक गति बताई है। अन्त में चिकित्सक सेठ को माटी के प्रयोग से रोगमुक्त कर उसे स्पष्ट शब्दों में बताते हैं :

"यह सब चमत्कार/माटी के कुम्भ का ही है
उसी का सहकार भी,/हम तो थे निमित्त-मात्र उपचारक ···।" (पृ. ४०९)

अन्त में कुम्भ सहित सेठ का परिवार और अन्यजन सरिता के उस तट पर आते हैं जहाँ धरती ने माटी को जीवन का बोध और मुक्ति की दिशा दी थी। माटी को उसकी साधना की सफलता पर धरती साधुवाद देती है :

"निसर्ग से ही/सृज्-धातु की भाँति/भिन्न-भिन्न उपसर्ग पा
तुमने स्वयं को/जो/निसर्ग किया,/सो/सृजनशील जीवन का
वर्गातीत अपवर्ग हुआ।" (पृ. ४८३)

साधना की यह सफलता और मोक्ष की यह दिशा केवल माटी को नहीं मिली है, बल्कि सम्पूर्ण मानव समाज सन्त के मुख से इस अमृत का पान करता है :

"क्षेत्र की नहीं,/आचरण की दृष्टि से/मैं जहाँ पर हूँ
वहाँ आकर देखो मुझे,/तुम्हें होगी मेरी/सही-सही पहचान/क्योंकि
ऊपर से नीचे देखने से/चक्कर आता है/और/नीचे से ऊपर का अनुमान
लगभग गलत निकलता है।/इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,
हाँ, हाँ !!/विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी
मगर/मार्ग नहीं, मंजिल पर !" (पृ. ४८७)

अत: माटी के माध्यम से मनुष्यता की मुक्ति की यह महागाथा एक उदात्त बिन्दु पर आकर जैसे विराम लेती है। जैसा कि पहले संकेतित किया जा चुका है कि यह महाकाव्य बहुआयामी है, इसलिए इसमें प्रयुक्त मिथक भी बहुप्रयोजनयुक्त है। इस काव्य में दर्शन और अध्यात्म के गूढ़ तत्त्व काव्य की सरस रागात्मकता में उसी प्रकार ढले हैं

जिस प्रकार इस रचना में मिट्टी जल की तरलता में मिलकर कुम्भ की रचना के योग्य बनती है। कवि का अभिप्राय केवल दार्शनिक तथ्यों का निरूपण करना नहीं है, बल्कि दर्शन को जीवन दर्शन में रूपान्तरित करना है। दर्शन जब मानवीय समस्याओं और चिन्ताओं से जुड़कर उसके समाधान हेतु दृष्टि देता है तब वह जीवन दर्शन बन जाता है। वह दर्शन से दृष्टि बन जाता है। यह दर्शन की जीवनोन्मुख और सामाजिक प्रस्तावना है। आज ही नहीं, भारतीय इतिहास के हर युग में दर्शन तभी सार्थक हुआ है जब वह एकान्त साधना और चिन्तन के शिखर से उतरकर कर्म जीवन की कठोर संकुल धरती पर आया है और मनुष्य के लिए उपयोगी बना है। जैन साधक आचार्य श्री विद्यासागर ने 'मूकमाटी' का सृजन इसी उद्देश्य से किया है कि इसके माध्यम से "सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल" किया जा सके, और "भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण संस्कृति को जीवित" रखा जा सके ('मानस तरंग', भूमिका, पृ. XXIV)। लेकिन यह 'वीतराग श्रमण संस्कृति' कर्म पर आधारित है, अकर्मण्यता पर नहीं। जैन दर्शन का मूल यही कर्म सिद्धान्त है, जिसके अनुसार कर्म के संस्कार क्षण-क्षण स्रवित होते रहते हैं, जिनका प्रभाव जीव पर क्षण-क्षण पड़ता जा रहा है। अतएव साधक कर्म से क्षरित होने वाले संस्कार से अलिप्त रहने का उद्योग करता है। लेकिन, आत्मा को पूर्वार्जित संस्कार भी घेरे हुए हैं, इनसे छूटने के लिए भी साधना करनी है। इस प्रकार जैन दर्शन में वर्णित रूपक के अनुसार जीवन नौका में छेद हैं, जिनसे पानी भरता जा रहा है। वही 'आस्रव' है। छेदों को बन्द करना ही 'संवर' की साधना है, और नाव में पहले से जो पानी भरा हुआ है, उसे उलीचना 'निर्जरा' है। 'संवर' और 'निर्जरा' के द्वारा जिसने अपने को संस्कारों अथवा आस्रवों से मुक्त कर लिया, वही 'मोक्ष' प्राप्त करता है। इस साधना को दार्शनिक या साधक की दुरूह, ऐकान्तिक प्रक्रिया से उठाकर कवि मनुष्य जीवन के दैनन्दिन प्रसंगों में ले आता है और उसे जीवनोन्मुख रूप प्रदान करता है। कर्म करते हुए उसके मोहलिप्त आसंगों से कटना, एक महत् उद्देश्य की ओर अकम्प निष्ठा से बढ़ते रहना ही कैवल्य की साधना है। इस काव्य में इसीलिए अनेक ऐसे छोटे-छोटे प्रसंग आए हैं जहाँ कवि व्यावहारिक जीवन के प्रसंग निरूपित करता चलता है। जैसे माटी को ढोने वाले गधे को भी नया सन्दर्भ दिया गया है :

"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/गद का अर्थ है रोग
हा का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस,
और कुछ वांछा नहीं/गद-हा···गदहा···!" (पृ. ४०)

इसी प्रकार जल में आई मछली की कामना :

"यही मेरी कामना है/कि/आगामी छोरहीन काल में
बस इस घट में/काम ना रहे !" (पृ. ७७)

इसी प्रकार रस्सी में पड़ी गाँठ को खोलने में शिल्पी का श्रम सोद्देश्य है, क्योंकि :

"जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है/वहाँ निश्चित ही/हिंसा छलती है।
अर्थ यह हुआ कि/ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है
और/निर्ग्रन्थ-दशा में ही/अहिंसा पलती है।" (पृ. ६४)

ऐसे अनेक प्रसंग हैं जैसे स्वर्णकलश का अहंकार, उसका निवारण, आवे में रखी जाने वाली बबूल की लकड़ी

की व्यथा, बदली और मेघ के प्रकारों की अलग-अलग व्याख्या आदि। कवि ने साहित्य और उसके नव रसों की व्याख्या के लिए भी समुचित अवकाश निकाला है। लगभग ३२ पृष्ठों में चलती यह व्याख्या (पृ. १२९-१६०) कहीं पर भी आरोपित नहीं लगती। शिल्पी कुम्भ पर जो चिह्न अंकित करता है उनकी भी दार्शनिक-व्यावहारिक व्याख्या की गई है (पृ. १६६-१७६)। सबसे अधिक उल्लेखनीय है कवि का लोकज्ञान। इस काव्य में शताधिक ऐसे स्थल हैं जहाँ कवि ने समसामयिक समस्याओं पर टिप्पणी की है, जैसे :

" 'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।
...'भी' के आस-पास/बढ़ती-सी भीड़ लगती अवश्य,
किन्तु भीड़ नहीं,/'भी' लोकतन्त्र की रीढ़ है।" (पृ. १७३)

इसी प्रकार स्वर्णकलश को कहा गया है :

"परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम,/पूँजीवाद के अभेद्य
दुर्गम किला हो तुम/और/अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला!" (पृ. ३६६)

यहाँ तक कि विज्ञान का अतिचार, आतंकवाद जैसे अधुनातन प्रसंग भी इस काव्य में उठाए और सोद्देश्य निरूपित किए गए हैं।

भाषा पर कवि का अधिकार असीम है। भाषा उसके संकेत पर इठलाती, थिरकती, भ्रू-निक्षेप करती, गरजती-बरसती व अनेक खेल दिखाती है। यहाँ विशेष उल्लेखनीय है शब्दों को तोड़कर अक्षर-अक्षर की नई अर्थवत्ता खोजने और व्याख्या करने की उनकी क्षमता, जो एक ही साथ दर्शन और काव्यभाषा पर कवि की प्रचण्ड सत्ता को सूचित करती है।

संक्षेप में 'मूकमाटी' क्षुद्र, पद दलिता, पतिता माटी के साधना के उच्चतम शिखर पर चढ़कर सिद्ध हो जाने की ही महागाथा नहीं, बल्कि, मनुष्य की सतत साधना और अनवरत संघर्ष की कथा है। इस काव्य में दर्शन, काव्य और जीवन दर्शन की त्रिवेणी छलछला रही है। यह काव्य महाकाव्य नहीं, महान् काव्य है जिसमें मिथक काव्य में ढलकर आधुनिक और शाश्वत मानवीय मूल्यों का जीवन्त आलेख बन गया है।

□



'मूकमाटी' : हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों को नया मोड़ और प्रतीकार्थ देने वाला महाकाव्य

डॉ. नरेन्द्र भानावत

आचार्य श्री विद्यासागर प्रबुद्ध चिन्तक, अध्यात्मप्रवण साधक, कवि और ओजस्वी वक्ता हैं। 'मूकमाटी' धर्म-दर्शन एवं अध्यात्म को आधुनिक भाव-भाषा-बोध व मुक्त छन्द में व्याख्यायित करने वाला रूपकात्मक महाकाव्य है। माटी जैसी तुच्छ, नगण्य और उपेक्षित वस्तु को महाकाव्य का विषय बनाकर प्रज्ञाशील कवि ने अपनी मनोरम कल्पना से जड़ता को चिन्मयता से अभिमण्डित किया है। सूक्ष्म कथा के धागे से सम्पूर्ण मानवीय चेतना, आध्यात्मिक ऊर्जा और जीवन के चरम लक्ष्य को सूक्ष्म संकेतों, प्रतीकों और नानाविध अर्थ छवियों से कौशल पूर्वक बाँधा है।

यह महाकाव्य चार खण्डों में विभक्त है, जिनके शीर्षक बड़े व्यंजनापूर्ण हैं। प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' में माटी की शोधन-प्रक्रिया का, द्वितीय खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में पारम्परिक रसों की मौलिक व्याख्या के साथ माटी की चेतना की महत्ता का, तृतीय खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' में माटी का कुम्भ रूप में आकार ग्रहण करने के आलोड़न-विलोड़न का और चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में अवा में तप कर मंगल घट बनने, साधु के पाद-प्रक्षालन की पात्रता अर्जित करने व स्वर्ण कलश की तुलना में अपने वैशिष्ट्य को उभारने की गाथा वर्णित है। प्रकारान्तर से इस काव्य में साधना की वह प्रक्रिया वर्णित है, जिसमें कर्मबद्ध आत्मा संवर-निर्जरा के पथ से गुज़रती हुई शुद्ध, बुद्ध, मुक्त बनती है। माटी, उसका शिल्पी कुम्भकार, निर्ग्रन्थ साधु, उपासक नगर सेठ, आतंकवाद, उसके ख़िलाफ़ लड़ने वाले आत्मिक मूल्य क्षमा, प्रेम, करुणा, दया, परोपकार, प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध आदि का ऐसा मनोरम, मौलिक एवं तात्त्विक प्रतीकात्मक संगुम्फन किया गया है इस कृति में कि वह मूक होकर भी सम्पूर्ण मानवीय चेतना को मुखरित करने में सक्षम है।

शब्द चयन में कवि सजग और दक्ष है। शब्दों की वाक् व्युत्पत्ति की पकड़ अर्थ में नया चमत्कार भर देती है। कुम्भ, गदहा, रस्सी, धरती, वसुधा, स्त्री, कम्बल, संसार जैसे शब्दों की परतों को खोलकर कवि नया अर्थ देता है, जो आरोपित नहीं, स्वतः स्फूर्त लगता है। विलोम गति से शब्दों के अर्थ को पकड़ कर कवि पाठकों को अभिभूत-चमत्कृत कर देता है। लोकभूमि से उठा हुआ यह काव्य मूकमाटी में ऊर्ध्वगामी चेतना के चन्दन की सुवास बिखेरता चलता है। हिन्दी के आधुनिक महाकाव्यों की परम्परा को नया मोड़ और प्रतीकार्थ देता है यह महाकाव्य।

[सम्पादक- 'जिन वाणी' (मासिक), जयपुर-राजस्थान, मार्च, १९९०]



पृष्ठ ७१
उसे
नूतन जीवन-वर्धन---
--- काल है, गायन में
कवलित होने दूँ।

'मूकमाटी' : एक अद्वितीय रचना

डॉ.(मिस) पी. सी. साल्वे

आचार्य श्री विद्यासागर मुनिजी द्वारा रचित 'मूकमाटी' महाकाव्य का मैंने समस्त दृष्टिकोण से अध्ययन किया है। साथ ही मेरे लिए यह एक सुखद अनुभव है कि 'मूकमाटी' जैसे आध्यात्मिक महाकाव्य की समीक्षा करने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है।

कहना न होगा कि 'मूकमाटी' महाकाव्य का सृजन स्वयं में एक ऐसी कृति है, जो पूर्णत: दार्शनिकता की पक्षधर है। आज का युग ऐसा है जो अनायास ही भौतिकता की विभीषिका का ताण्डव नृत्य मानव समाज में प्रसारित करने में होड़ लगा रहा है। यह महाकाव्य भौतिक लिप्सा में लिप्त समाज के लिए एक स्वच्छ, सरल तथा प्राकृतिक निदान प्रस्तुत करता है। केवल आवश्यकता है इसे एकाग्रचित्त से अध्ययन करने की।

मुनिवर विद्यासागरजी ने अपनी कृति को चार खण्डों में विभाजित किया है। प्रत्येक खण्ड मानव जीवन के समग्र पहलुओं पर प्रकाश डालता है। महाकाव्य जैन दर्शन पर आधारित होते हुए भी विश्व के प्रत्येक जन के लिए साधना के माध्यम से वर्तमान जीवन को सार्थक बनाने का प्रयास करता है। जीवन की सार्थकता भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों जीवन को सुखद बनाने के प्रयास में है। यह तब ही सम्भव होता है जब हम सामान्य जीवन को असामान्य रूप से जीते हैं और यही तथ्य 'मूकमाटी' हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। आज के युग, सभ्यता एवं मूल्यों की माँग है कि व्यक्ति को महान् कहलाने और बनने के लिए असाधारण प्रतिभा की आवश्यकता है, विलक्षण बुद्धि एवं कुटिल चतुराई एक अनिवार्य शर्त है। 'मूकमाटी' जैसे आध्यात्मिक महाकाव्य में इसके लिए कोई स्थान नहीं है। इस काव्य के पात्रों को ही लीजिए–क्या हमने कभी अपनी बुद्धि को निर्जीव पदार्थों एवं उपादानों में आध्यात्मिकता के बीजों को खोजने का प्रयास किया है ? हम तो हमारे जैसे मानव को भी अक्सर पदार्थ के रूप में देखते हैं। लघु व पतित कहे जाने वाले ही अनेक बार हमें दर्शन का पाठ पढ़ा जाते हैं। जीवन की प्रत्येक स्थिति में समभाव बनाए रखना यही साधना का पथ है, यही सफल एवं सिद्ध जीवन की कुंजी है।

महाकाव्य के स्रष्टा ने विभिन्न मूक पात्रों के माध्यम से उक्त तथ्यों को समाज तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया है। कवि ने उन पात्रों का उपयोग किया है, जिनकी ओर समाज का ध्यान कभी नहीं जाता। वस्तु को मूल्यहीन बतलाने के लिए उसकी तुलना हम माटी से करते हैं। वस्तु के मूल्यों में जब एकदम गिरावट आती है, तो हम कहते हैं मिट्टी के भाव बिक रही है। अतिभौतिकवादी का दृष्टिकोण ही ऐसा बन जाता है। महाराजश्री ने इसी मिट्टी को चरणों तले से उठाकर हिमगिरि के धवल-श्वेत निर्विकार शिखर तक पहुँचा कर विश्व मंगलकारी घोषित कर दिया है। ऐसी दृष्टि केवल एक सच्चे समाजसेवी, तपस्वी में ही पाई जाती है। कवि ने प्रत्येक मूक पात्र एवं काव्यमयी पंक्तियों के माध्यम से तुच्छ समझी जाने वाली वस्तु में आध्यात्मिकता के दर्शन कराए हैं। शब्दों एवं वर्णों में निहित अर्थों का जो सटीक एवं भावात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, उससे कवि के गहन आध्यात्मिक चिन्तन का परिचय मिलता है। इस विश्लेषण से पाठक स्वयं अनुभव करने लगता है कि कवि के द्वारा प्रयुक्त हर एक शब्द आध्यात्मिक महत्त्व रखता है। शब्दों को किसी भी रूप में क्यों न रखें, वे सभी दर्शन की शिक्षा देते हैं।

भागदौड़ एवं रंगरेलियों के इस युग में किसके पास इतना समय है कि वे शब्दों की शल्यक्रिया कर उनमें आध्यात्मिक एवं साधना पक्ष के मूल्यों को खोजें ? किन्तु इसके लिए समाज में एक विशेष वर्ग है जो इस शोध कार्य में निरन्तर लगा रहता है। वह वर्ग साधु-सन्त, त्यागी-तपस्वी तथा ऋषि-मुनियों का है और इसका जीवित स्वरूप

'मूकमाटी' महाकाव्य में देखने को मिलता है। ये साधक अपने उपदेश, प्रवचन एवं 'मूकमाटी' जैसी रचनाओं द्वारा समाज के जीवन को प्रभावित करते रहते हैं। प्रस्तुत रचना के अध्ययन से यह आभास नहीं होता कि इसके रचयिता एक तपे हुए, वीतरागी एवं श्रमणों के मुनिवर हैं। उनके भौतिक विषयों की पकड़ को देखकर मैंने ऐसा कहा है। आध्यात्मिक पक्ष तो कवि-तपस्वी का जिया हुआ यथार्थ है, जिसका समन्वय लौकिक पक्ष के साथ कर कवि ने उसे उदात्त व भोग्य बना दिया है।

आधुनिक युग के प्रत्येक क्षेत्र एवं जीवन के विभिन्न आयामों पर मुनिश्री की पकड़ एवं ज्ञान के भण्डार पर ऐसा अधिकार है मानो वे साक्षात् उसे जी रहे हैं। सामान्यतः साधना मार्ग के तपस्वी वर्ग को विश्व की मायावी गतिविधियों से कोई मतलब नहीं होता तथा जन-साधारण भी उनसे यही अपेक्षा करती है। उनका काम अनासक्त जीवनयापन कर निराकार की स्तुति-वन्दन कर उसके ध्यान में लीन रह समाज के एवं स्वयं के आत्म-कल्याण हेतु साधनारत रहना है। उनकी दुनियाँ आत्मा एवं परमात्मा तक सीमित हो जाती है अर्थात् उनका अस्तित्व संसार में होता है, पर वे संसार के नहीं होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि एक वीतरागी संन्यासी, जिसने आध्यात्मिक साधना में स्वयं को स्वेच्छा से समर्पित कर दिया है, उसे सांसारिक प्रपंचों से दूर रहना चाहिए। मानव समाज में क्या घटित हो रहा है ? क्या होना चाहिए ? कैसे होना चाहिए ? तथा क्यों होना चाहिए ? – इन सब प्रश्नों के उत्तर वह समाज का एक गतिशील अंग बन कर नहीं दे सकता था। आश्रम या मठ की सीमा के भीतर ही त्याग, संयम, प्रार्थना एवं पूजा-अर्चना के माध्यम से ही समाज का कल्याणकारी अंग माना जाता था। किन्तु आज कोई भी व्यक्ति समाज से तटस्थ रह कर उसका भागीदार नहीं बन सकता।

परिवर्तन ही सृष्टि का विधान है। जहाँ परिवर्तन नहीं, वहाँ गतिशीलता एवं प्रगति नहीं हो सकती। आध्यात्मिक महाकाव्य 'मूकमाटी' के कवि ने निःसन्देह अपनी साधना की अन्तर्दृष्टि से इस सत्य का अनुभव किया है तथा समाज तक इसे पहुँचाने हेतु उन्हें मानो दैवी आदेश प्राप्त हुआ है, जिसे उन्होंने काव्य की भाषा में प्रेषित किया है। आज हर सामाजिक प्राणी की समाज के प्रति और मानवता के प्रति अपने उत्तरदायित्व को सकारात्मक रूप में निभाने की माँग बलवती होती जा रही है। अतः इस महाकाव्य के कवि ने अपनी कृति में इस उत्तरदायित्व का पूर्णतः पालन किया है। आज का समाज कल के घिसे-पिटे मूल्यों एवं मान्यताओं पर ही टिका नहीं रह सकता। हम आज हर क्षेत्र में प्रवेश करते त्वरित परिवर्तन को देख सकते हैं। ये परिवर्तन मनुष्य को अपनी आरम्भिक आस्था से बहुत दूर ले जाकर उसे विकासशील और प्रगतिशील समाज के लिए बाधक बतलाते हैं। यहीं पर आध्यात्मिक साधक उपस्थित होकर समाज के आध्यात्मिक कल्याण हेतु अपनी अहम भूमिका निभाता है, जिसका ज्वलन्त उदाहरण है 'मूकमाटी'।

प्रथम खण्ड का दूसरा प्रमुख बिन्दु है 'संघर्ष'। संघर्ष ही जीवन है। इस सत्य को हम नकार नहीं सकते। संघर्षों के समक्ष घुटने टेकना और हाथ जोड़ना जीवन के सत्य से दूर भागना है। जीवन के अन्तिम क्षण तक, लक्ष्य की प्राप्ति हेतु संघर्षरत रहना शाश्वत जीवन की माँग है। जिस पर भी सफलता की उपलब्धि हो या न हो, इसके लिए हम जवाबदेह नहीं हैं। संघर्षरत यथार्थ जीवन की चुनौतियों को स्वीकार करते हुए, सहर्ष विफलताओं का आलिंगन करना, मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करना है। आध्यात्मिक साधना एवं जैन दर्शन पर आधारित होने से 'मूकमाटी' जैसी अद्वितीय रचना पर विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत करने में मैं स्वयं को अक्षम अनुभव कर रही हूँ, अतः उन्हीं बिन्दुओं पर मैंने समीक्षा करने का प्रयास किया है, जिनसे मैं विशेष रूप से प्रभावित हुई हूँ।

मनन एवं अध्ययनशील तपस्वी कवि ने आधुनिकता को आध्यात्मिक धरातल पर रख मानवता का मूल्यांकन किया है। संसार से दूर रहकर भी कवि उसकी प्रत्येक गतिविधि से परिचित है। आधुनिक विश्व की आधुनिकता को

गतिशील रखने एवं उसके मूल में जो है, उन सब को आधुनिक तकनीकि भाषा एवं शब्दावलियों सहित इस काव्य में देखा जा सकता है। इससे समाज के प्रति कवि की जागरूकता सहज ही देखी जा सकती है। 'परिवर्तन ही प्रकृति का नियम है' – इस सिद्धान्त के साथ तालमेल बैठाता हुआ कवि पाठकों को आध्यात्मिक जीवन व दर्शन के स्रोतों की ओर ले जाने में सफल योगदान दे रहे हैं।

संघर्षरत जीवन की अनिवार्यता एवं उससे नि:सृत होने वाली शाश्वत जीवन की सार्थकता को कवि ने उन दो पात्रों में प्राण फूँककर स्पष्ट किया है जो मानव को अपनी सतत गतिशीलता द्वारा यह बतलाती है कि संघर्ष एवं श्रम, जो दीर्घकालीन होते हैं, वे अखण्ड जीवन ज्योति में परिवर्तित हो जाते हैं। वे मूक पात्र हैं–सरिता तट की 'माटी' और 'धरती'–जो हमारे समक्ष 'विश्व माता' के रूप में आती है।

संघर्ष रूपी भँवरों में फँसकर टूट जाना एक सत्य है, किन्तु जब टूटते या डूबते हुए को सम्बल प्राप्त होता है, तब संघर्षों की चुनौतियों का सामना करना आसान हो जाता है। सरिता तट पर थपेड़ों के बीच गिरती-पड़ती एवं चोटें खाती मिट्टी धरती माँ से कहती है :

"और सुनो,/विलम्ब मत करो/पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ !"(पृ.५)

निराशा में आशा की किरण संघर्षमय जीवन के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन कर उसे जीने योग्य बना देती है। हर उपलब्धि का अपना निर्धारित समय होता है। तप:श्री ने इस हेतु धैर्य एवं दीर्घ प्रतीक्षा का आह्वान करती हुई, माँ धरती से खसखस के सूक्ष्म दाने का उदाहरण उद्धृत किया है :

"समुचित क्षेत्र में उसका वपन हो/समयोचित खाद, हवा, जल
उसे मिलें/अंकुरित हो, कुछ ही दिनों में/विशाल काय धारण कर
वट के रूप में अवतार लेता है,/यही इसकी महत्ता है।" (पृ. ७)

इस खण्ड का दूसरा प्रमुख बिन्दु है संगति का प्रभाव। ज्ञान के मुक्तामणि, तरुण, बालब्रह्मचारीजी ने स्वयं के स्वभावानुकूल स्फटिक सदृश्य पारदर्शी जल का काव्यमयी एवं हृदयंगम भाषा द्वारा यह स्पष्ट किया है कि विभिन्न पदार्थों एवं व्यक्तियों के निकट सम्पर्क में आने से व्यक्ति उसी रूप में ढल जाता है। अतएव संगति के चयन में जीवन के प्रति दूरगामी दृष्टिकोण तथा उसके परिणामों का आकलन कर लेना चाहिए। पुरुषार्थ को निखारने, ढालने और उसे देवत्व तक अग्रसर करने में संगति का प्रभाव एक वरदान सिद्ध होता है।

यह विश्व जो क्षणभंगुर कहलाता है, सुख-दु:ख दोनों का समन्वित रूप है तथा जिसके आध्यात्मिक चक्षु अपने पुरुषार्थ के प्रति सतत अवलोकन का अभ्यस्त हो गया है, वही व्यक्ति निर्लिप्त होकर क्षणभंगुर कहलाने वाले विश्व के माध्यम से अपने पुरुषार्थ तथा श्रम के बल पर ही अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। प्रणम्य आचार्यजी की कृति 'मूकमाटी' हमारे सामने इसी दर्शन को स्पष्ट कर रही है कि मनुष्य कभी परजीवी नहीं हो सकता। वह रिद्धि-सिद्धि को प्राप्त करने में सक्षम है। मनुष्य के लिए नित्य ही एक आदर्श की आवश्यकता रही है। इसी से उन्होंने संगति की उपादेयता पर धरती माँ से कहलवाया है :

"जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है/मति जैसी, अग्रिम गति
मिलती जाती···मिलती जाती···/और यही हुआ है
युगों-युगों से/भवों-भवों से !" (पृ. ८)

पुरुषार्थ-साधना-निमग्न कवि ने स्वानुभूति से यह सिद्ध किया है कि संगति के सही चयन का मार्ग कौन-सा है। सदियों से ही उचित-अनुचित के चयन-त्याग का सर्वश्रेष्ठ मार्ग साधना कर्ममार्ग को ही अंगीकार किया गया है। इसके निर्वाहनार्थ लौकिक जीवन की अपेक्षा अलौकिक जीवन मार्ग अधिक उपयुक्त पाया गया है। किन्तु यथार्थ के धरातल पर ही साधना की उपलब्धि को अध्यात्म-कवि ने दोनों में ऐक्य के समागम से ही कथनी एवं करनी में साम्य की अनिवार्यता, तदनुसार उनके सम्प्रेषण और फिर निखार की निश्चितता का उद्घाटन किया है। इसे कवि की ही वाणी में :

"सरकन-शीला सरिता-सी/लक्ष्य की ओर बढ़ना ही
सम्प्रेषण का सही स्वरूप है।" (पृ. २२)

मानव कल्याण में सतत संघर्षरत सन्त-कवि ने अध्यात्म साधना की सफलता को पूर्णतः लौकिक जीवन के संघर्ष में ही बतलाया है। अन्तर व्यक्तिगत आस्था पर निर्भर करता है। गृहस्थाश्रम भी सिद्ध जीवन की ओर अग्रसर करता है। मौलिक साधक की परीक्षा इसी जीवन में होती है जहाँ वह 'खरा' साबित होने हेतु पल-पल 'राख' में परिवर्तित होता रहता है। यह शब्द विश्लेषण ज्ञान-मनीषी के चिन्तन से प्रस्फुटित हुआ है। इन सबके अतिरिक्त संन्यासी-जीवन को ही श्रेष्ठतर निरूपित किया गया है। इस महाकाव्य में हम इसी की महिमा देखते हैं जो लघुतम से महत्तम की ओर ले जाता है। संसार में लघु एवं मूक कहलाने वाले पात्रों के माध्यम से योगी रचनाकार कहते हैं :

"...जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर/रास्ता स्वयं शास्ता होकर
सम्बोधित करता साधक को/साथी बन साथ देता है।
आस्था के तारों पर ही/साधना की अंगुलियाँ/चलती हैं साधक की,
सार्थक जीवन में तब/स्वरातीत सरगम झरती है!/ समझी बात, बेटा?" (पृ.९)

धरती माँ द्वारा दिया गया यह साधनात्मक प्रवचन दोनों मार्गों के साधकों के अनुरूप है। 'स्व' को विस्मृत कर जब साधक पार्श्व में रहकर अपनी भूमिका के प्रति सजग व सतर्क रहता है, वहीं से उसके पुरुषार्थ को अभिव्यक्ति प्राप्त होने लगती है। लघुता से गुरुता का सूत्रपात यहीं से होता है। महाकाव्य का प्रथम खण्ड का अध्यात्मवाद निष्क्रिय आस्था को स्थान नहीं देता किन्तु इसे साकार करना इसका परम ध्येय है। इसके आवश्यक तत्त्व हैं—आत्मानुभूति एवं सम्प्रेषण। इनकी उपलब्धि साधना के ढाँचे में ढलती है। आत्मानुभूति के साथ ही उसे आत्मसात् करना अनिवार्य शर्त है। इसके अभाव में उसका कोई महत्त्व नहीं है। साधना की चुनौतियाँ आसान नहीं हैं। सब के वश की बात नहीं है। इस में त्याग, तपस्या, चिन्तन-मनन, एकाग्रचित्त एवं कर्म के प्रति सम्पूर्ण आत्मसमर्पण होता है।

साधना के मार्ग में आने वाले व्यवधान कुछ कम नहीं हैं। सर्वप्रथम हमारी प्रकृति एवं मायावी संसार के प्रलोभन हमसे संलग्न रहना चाहते हैं किन्तु सतत प्रयास तथा श्रम द्वारा समस्त चुनौतियाँ स्वीकार्य हो जाती हैं। आध्यात्मिक काव्य के रचनाकार ने जैन दर्शन के अनुरूप किसी भी पुरुषार्थयुक्त कर्म को आरम्भ करने का कोई अवसर या मुहूर्त को नहीं माना है। यदि कोई अनुकूलता की प्रतीक्षा में रहता है तो उसके पुरुषार्थ को यह एक चुनौती होती है। स्वयं में आस्थावान् व्यक्ति के लिए हर प्रस्तुत अवसर ही कर्मठता का प्रेरणास्रोत है। इसी सत्य को आस्था के अक्षय-आगार

महाराजश्री ने कहा है :

"कभी-कभी/गति या प्रगति के अभाव में/आशा के पद ठण्डे पड़ते हैं,
धृति, साहस, उत्साह भी/आह भरते हैं,/मन खिन्न होता है
किन्तु/यह सब आस्थावान् पुरुष को/अभिशाप नहीं है,
वरन्/वरदान ही सिद्ध होते हैं/जो यमी, दमी/हरदम उद्यमी है।" (पृ. १३)

जैन दर्शन स्वयं एक विलक्षण दर्शन है, जिसकी अपनी मौलिकता है, तथा इसी से उसकी अपनी एक अलग अस्मिता है। अपने पुरुषार्थ के बल पर व्यक्ति स्वयं का भाग्य निर्माता है। कर्मयोग और श्रमरूपी दो अहिंसात्मक अस्त्रों से वह सब कुछ करने में सक्षम है। पुरुषार्थ एवं आस्था के सोपानों की नींव पर वह स्वयं भगवान् है। ईश्वर भगवान् के अस्तित्व को जैन दर्शन स्वीकार करता है, किन्तु विश्व संचालक के रूप में वह उसे स्वीकार्य नहीं है। अतएव 'मूकमाटी' महाकाव्य मनुष्य के कर्म, श्रम, आस्था एवं पुरुषार्थ का क्रमवार विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अन्य धर्म के दर्शन इन तत्त्वों को स्वीकारते तो हैं, यदि कहीं भिन्नता है तो वह है 'भाग्यवाद' अर्थात् सृष्टि के स्रष्टा द्वारा पूर्व नियोजित रूपरेखा के अनुरूप मनुष्य की गतिविधियाँ संचालित होती हैं, इसीलिए कहा कहा गया है – 'होनी को कोई टाल नहीं सकता।'

व्यष्टि एवं समष्टि के आध्यात्मिक शोधन हेतु व्यक्ति को मौन साधक बन कर प्रताड़ना, अवहेलना, उपेक्षा, पीड़ा आदि को अपने भीतर समा लेना होता है। जैसे कवि ने माटी एवं कुम्भकार के उदाहरण द्वारा प्रस्तुत कलश के सुन्दर आकृति में ढलने के पूर्व माटी में निहित बाधक अंशों को उसमें से अलग करने की जो प्रक्रिया अपनाई जाती है, यह स्वयं में कवि की अपनी सूझबूझ की उपज है, जो कि आध्यात्मिक साधना की पावन धरती की ऊँचाई पर माटी को आसीन करता है। आध्यात्मिक कल्पना के धनी धर्मवीर साधक ने माटी की शोधन क्रिया के दौरान उसके पीड़ायुक्त इतिहास को क्रमशः व्यक्त किया है। अशुद्ध के शुद्धीकरण हेतु जड़ व चेतन जगत् के अपने नियम होते हैं। माटी को शुद्धीकरण हेतु शिल्पी कुम्भकार पर आश्रित होना पड़ता है, तब ही उसे कुम्भाकार प्राप्त होता है, जिसका प्रयोग हमारे पावन एवं आध्यात्मिक कार्यक्रमों एवं समारोहों पर किया जाता है। समाज में उपेक्षित वर्ग के आध्यात्मिक एवं भौतिक उत्थान हेतु इस महाकाव्य के माध्यम से कवि की अपनी अनमोल देन है। यदि समाज इसे साकार रूप दे तो आज विश्व में व्याप्त अशान्ति, अनास्था, द्वेष, ईर्ष्या, स्वार्थपरता एवं घृणा समाप्त हो सकती है, जो मानवता के मार्ग में बाधक है। इस कृति का मूल भी यही है।

माटी एवं शिल्पकार का रूपक बाँध कर जो आध्यात्मिक सन्देश प्रेषित किया गया है, उसमें निहित कवि के भावों की परिपक्वता, भाषा की सुगमता, शैली की ओजस्विता, चिन्तन एवं संयम की दीप्ति ने पुनः हमें यह सोचने पर विवश कर दिया है कि हम क्या हैं ? कहाँ से आए हैं ? हम क्यों आए हैं ? और क्या है हमारा गन्तव्य ? मन, वचन व कर्म की शुद्धता तथा समरूपता ही साधक-कवि का समाज को सन्देश है, यही मानव को अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाता है। सात्त्विक एवं तामसिक गुणों का संश्लेषण-विश्लेषण करते हुए, 'स्व' एवं 'पर' की व्याख्या प्रस्तुत कर उनका परस्पर साम्य और वैषम्य को बड़ी बखूबी से अंकित किया गया है। साथ ही विलास-वासना की युगलबन्दी कर उससे 'मोहपाश' को जन्म दिया। इसी के विपक्ष में 'दया' और 'विकास' से 'मोक्ष' का मार्ग प्रशस्त किया है। 'संवेदन धर्म' और 'करुणा' को पीयूषागार निरूपित किया है। इस तरह हम देखते हैं कि दर्शन एवं आध्यात्मिक महाकाव्य की प्रत्येक पंक्ति आध्यात्मिक तृष्णा को तृप्त करती हुई, सुधी पाठकों को उस लोक में प्रवेश कराती है, जहाँ वह इस विराट् विश्व को एक ऐसे परिवार के रूप में पाता है, जो कि एक ही प्रकाश पिण्ड के विभिन्न ज्योति वलयों से व्याप्त है। यदि

कुछ दर्शनीय है तो वह है भिन्न ज्योति वलयों का स्वयं में सन्तोष तथा पूर्णता की अलौकिक अनुभूति। यहाँ है केवल प्रेम-स्तवन, पूजा-अर्चना, यशोगान की तानें। समय व काल के बन्धनों से मुक्त मानव स्वतन्त्र स्वरों में प्रेमसागर की मधुरिमा-गरिमा और शान्ति के आलापगान में ही विभोर हो जाता है ।

इस खण्ड की इतिश्री सन्त-कवि ने समस्त जीवों के प्रति दयाभाव का व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत कर सब का जीवन-अधिकार सम्बल प्रदान कर उसे दृढ़ बना दिया है। प्रथम खण्ड की मूल सामग्री 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' को साधनारत कवि ने यथार्थ जीवन के वर्ण व्यवस्था की विकृतियों एवं विसंगतियों को उद्घाटित करते हुए व्यक्ति में व्याप्त बुराइयों का निष्कासन कर उसकी पौरुषेय शक्ति के उपयोग पर प्रकाश डाला है। व्यक्ति के स्वभाव व कर्मों का मूल्य है, न कि जातिगत विभाव का। 'माटी' एवं 'धरती माँ' का परस्पर पावन वार्तालाप गुरु-शिष्य की प्राचीन भारतीय परम्परा की गौरव गरिमा का आह्लादकारी स्मरण को जीवन्त कर देती है, जो आज के युग में भौतिकवाद के समक्ष कल का अर्थात् अतीत का आदर्श मात्र रह गया है। समय-समय पर इतिहासकार, साहित्यकार एवं समाजसेवी जैसे वर्ग प्राचीन गुरु-शिष्य के आदर्श सम्बन्धों पर लेख प्रस्तुत करते हैं, भाषण देते हैं, प्रतियोगिताओं का आयोजन कर उन्हें ग्रन्थों में सुरक्षित रखते तथा पुरातत्व विभाग की शोभा-वर्धन करते हैं, जिसका कि यथार्थ जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। इसी कटु सत्य को रचनाकार ने समाज के सामने 'मूकमाटी' के आदर्श द्वारा प्रस्तुत किया है।

आकर्षण अनुकरण के लिए बाध्य करता है, किन्तु जिसके पास जो है वही तो अन्यों को देगा। साधना की भट्टी में तपकर जिसने जो खरापन प्राप्त किया है उस पर कीच, कंकड़, तिनका, पत्थर, लोहे की कठोरता एवं शुष्कता का प्रभाव कभी नहीं पड़ता। आधुनिकता ने मानव को मानवता से कितना दूर किया है और करता ही जा रहा है, इसका यथार्थ एवं विश्वसनीय चित्रण प्रस्तुत कर कवि ने मानवता का सन्देश दिया है। यही आज के विश्व समाज का आर्तनाद है, जिसे भक्त कवि ने अनुभूत किया है। प्रस्तुत खण्ड का अन्तिम किन्तु अत्यावश्यक बिन्दु है 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना, जो भारतीय संस्कृति का केन्द्र बिन्दु है। इसका उल्लेख हमारे धर्मग्रन्थों में किया गया है तथा इसे साकार करने में हमारे ऋषि-मुनि, तपस्वी एवं संन्यासी वर्ग सदियों से प्रयासरत है। वह हर जीवधारी के प्रति मन, वचन एवं कर्म से अहिंसा, सत्य तथा प्यार का सन्देश प्रसारित करता आ रहा है। किन्तु भोग-लिप्सा में लिप्त आज के प्रगतिशील एवं अत्यन्त सभ्य कहलाने वाले समाज के गले से सत्य उतरते नहीं। अन्त में दयावीर कवि ने आहत मर्म से हमारी पावन एवं तपोभूमि पर से प्राचीन आदर्शों की निष्ठुरता से हत्या होती देख चिन्ता एवं खेद व्यक्त किया है।

दो शब्दों के सारगर्भित वाक्यांश का जो विश्लेषण प्रबुद्ध मुनिश्री ने किया है, उसे हम जीवन के हर क्षेत्र में पाते हैं, किन्तु मदहोशी से मानव जीवन सत्य से कोसों दूर भटक गया है। प्रस्तुत महाकाव्य भूले-भटके को सही मार्ग पर अवश्य लाएगा। कवि को भय है कि कहीं कलियुग मानव संवेदनाओं को भस्म न कर दे, अतः गुरुरूपी धरती माँ द्वारा हमारे हृदय में स्थित पौरुष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए वे कहते हैं :

"सत्-युग हो या कलियुग/बाहरी नहीं/भीतरी घटना है वह
सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा !" (पृ. ८३)

मनुष्य में आध्यात्मिक जागृति का आरम्भ ही मानवता का आरम्भ है। इसके लिए इस खण्ड में साधनामार्ग के विभिन्न रूपों द्वारा सन्त-शिरोमणि कवि ने अत्यन्त सफलतापूर्वक वीतरागी जीवन की आवश्यकता पर प्रकाश डाला है।

द्वितीय खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' का आरम्भ 'प्रेम' एवं 'नम्रता' की नींव पर हुआ है, जो कि 'मोक्ष' प्राप्ति की आधारशिला है। किन्तु यहाँ एक बात थोड़ी असंगत-सी प्रतीत हुई। पाश्चात्य जगत् की

गतिविधियों को आक्रामक की उपाधि दिए जाने से सन्त-कवि के प्रति मन में जो श्रद्धा है, उसे ठेस पहुँची है। मेरा विश्वास है कि एक तपस्वी-सन्त कवि के लिए न कोई विदेशी-स्वदेशी तथा न ही पाश्चात्य एवं प्राच्य है। उनके लिए तो सारा विश्व 'वसुधैव कुटुम्बकम्' है, जिस पर प्रथम खण्ड में प्रकाश डाला है सन्तजी ने। जब मानव हृदय में 'अपना' या 'पराए' के भाव रहते हैं, तब संकीर्णता, सम्प्रदायवाद आदि विघटनकारी तत्त्वों का आरम्भ होता है। भारतीय संस्कृति में वैराग्य के महत्त्व एवं अनिवार्यता पर कवि ने तुलनात्मक शैली में अपने विचारों के मन्थन द्वारा यह स्पष्ट किया है कि एक ओर तो भौतिक चकाचौंध साधना के मार्ग में व्यवधान उपस्थित करती है, वहीं दूसरी ओर माया-मोह, नाते-रिश्ते, विलास-वैभव, ऐश-ऐश्वर्य इन सबको तजकर आध्यात्मिक एवं अविनाशी सम्पदा को सम्पन्न करने हेतु अनासक्ति के जीवन को वरण करना ही वास्तविक एवं अनादि सुख तथा शान्ति के जीवन में प्रवेश करना है अर्थात् ईश्वर के सान्निध्य में वास करना है।

सृष्टि तो स्वयं कल्याणकारी है। मानव मन ही उसे सत्-असत् तथा भले-बुरे के वर्ग में रखता है। मन की अस्थिरता एवं चंचलता ही भावों को साकार करती है। महामना कवि ने 'साहित्य' शब्द की व्याख्या अपनी मौलिक सूझ-बूझ के साथ प्रस्तुत कर मोक्ष हेतु उसकी भूमिका को स्पष्ट कर, आज के साहित्य में आध्यात्मिक मूल्यों के अभाव की ओर सुधी पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। साथ ही साहित्यकारों को उनके आध्यात्मिक उत्तरदायित्व के प्रति सजग किया है। मनुष्य के छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े कर्त्तव्य के मूल में जीवन की सार्थकता निहित होती है। महामहिम कवि ने इस खण्ड में भाषा की मौलिकता द्वारा भावों की अभिव्यक्ति तीनों शैलियों—व्यंजना, लक्षणा तथा अभिधा का भरपूर प्रयोग किया है। इससे विद्वान् सन्त कवि के साहित्य एवं व्याकरण के गहन अध्ययन व ज्ञान का आभास पाठकों को जीवन के लक्ष्य पर सोचने को विवश कर देता है। मानव शिशु में संस्कारों का उचित पल्लवन करना प्रत्येक माता का धर्म-कर्म होता है। इसे कविवर ने 'धरती माँ' का उदाहरण देते हुए प्रस्तुत किया है, जो कि व्यष्टि को समष्टि के लिए जीने का सन्देश देती है। किन्तु आज के परिप्रेक्ष्य में व्यक्तिवाद के बढ़ते चरण समष्टि के लिए जीने के सिद्धान्त को विस्मृत करती दिखाई दे रही है, जिसे कवि ने पुनः जाग्रत करने का सन्देश दिया है।

इस खण्ड में दूसरी प्रमुख बात यह है कि आज के युग में हर व्यक्ति यह चाहता है कि दूसरे उसके इशारों पर चलते रहें। वह दूसरों को यह शिक्षा या उपदेश देता है कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं। विडम्बना यह है कि वह स्वयं अपने उपदेशों तथा शिक्षा के प्रतिकूल आचरण करता है। बस यहीं से 'अहम्' का आरम्भ होता है तथा विकृत अहम् हर बुराई का मूल है। सन्त कवि ने ठीक ही कहा है कि ऐसों की संख्या बहुत अधिक है। कविश्री ने मानव संवेगों के मूल में जो परस्पर आदान-प्रदान का सुख है, उसे साधना के मार्ग में बाधक निरूपित किया है, कारण कि इससे भौतिक सुख और सन्तुष्टि का जो अनुभव किया जाता है वह अपना फल इस संसार में ही प्राप्त कर लेता है तथा इसमें पुण्य का कहीं स्थान नहीं होता। मानव जीवन की अन्तिम यात्रा, जो कि संसार में उसके जन्म लेते ही प्रारम्भ हो जाती है, पुण्य ही तो इस यात्रा का अन्तिम लक्ष्य है, जिसे आज का भौतिकवादी, शिक्षित वर्ग विस्मृत करता जा रहा है। संवेदनाओं की जो व्याख्या प्रस्तुत की गई है, उससे सन्त के रस, अलंकार आदि के सम्बन्ध में अपार ज्ञान की झलक सामने आती है।

भक्ति रस के यथार्थ आनन्द की अनुभूति हेतु मन की एकाग्रता, स्थिरता एवं एकान्त को अनिवार्य बतलाते हुए साधनारत मुनिजी ने शान्त रस की सही अर्थों में व्याख्या प्रस्तुत कर उसे भक्ति का मूल बतलाया है, जिसे सामान्य कवि इस दिशा में नहीं सोच सकता। चेतन को सुरक्षित रखने हेतु जीवन के हर क्षण व पल को 'परम केन्द्र' यथार्थ प्रभु के चरणों में समर्पित करने के सिद्धान्त को कविश्री ने 'केन्द्र' तथा 'परिधि' के अन्तर को स्पष्ट किया है। 'केन्द्र' सुख की निधि है और 'परिधि' को भ्रमण की संज्ञा दी है। शाश्वत जीवन में प्रवेश हेतु सांसारिक विघ्न-बाधा, प्रलोभन, माया

एवं मोह को 'चक्करदार पथ' कह कर कवि ने यह स्पष्ट किया है कि स्वर्ग की ओर जाने वाला मार्ग सैकरा एवं कँटीला है। यदि व्यक्ति इसे समझ लेता है तो सहर्ष संघर्षों व मुसीबतों का सामना समभाव से करता है, क्योंकि यह मार्ग उसे मुक्ति दिलाता है। संख्याओं के माध्यम से कवि ने 'हेय' एवं 'ध्येय' को उजागर किया है, अर्थात् हर पंक्ति एवं शब्द में 'मोक्षदायी' एवं 'पापमय' बिन्दुओं को हमारे समक्ष उद्घाटित कर हमें अपने हर कर्म को आध्यात्मिक दृष्टि से देखने की प्रेरणा दी गई है।

जैन दर्शन के अनुरूप मर्मज्ञ कवि ने 'ही' तथा 'भी' बीजाक्षर की तह में प्रवेश कर, उनके दर्शन की व्याख्या कर, पाश्चात्य एवं भारतीय संस्कृति में निहित दृष्टिकोणों को उजागर कर पाश्चात्य जगत् की सामन्ती भावना को लोक के आत्म कल्याण के प्रतिकूल बतलाया है। भारतीय संस्कृति, जो कि मानव समाज के 'भाग्य विधाता' के रूप में पेश की गई है, वह आज के भारत के ढाँचे को देखते हुए उस पर एक बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न लग जाता है। कविश्री ने 'भी' को लोकतन्त्र की रीढ़ की उपाधि दी है। आज देश में छाए आतंक को देखते हुए क्या यह कहना उचित है कि 'भी' से 'स्वतन्त्रता के स्वप्न' साकार हो रहे हैं ? आज 'भी' राष्ट्र के व्यक्ति स्वयं को कितना असुरक्षित पा रहे हैं, अतः आज 'भी' संस्कृति एवं सभ्यता को अतीत की समृद्धि, आध्यात्मिकता तथा गौरव गाथा पर गर्व करना त्याग कर, वर्तमान परिस्थिति एवं परिवेश की चुनौतियों के समक्ष उसे साकार कर 'भी' के पावन एवं विश्व-बन्धुत्व के अस्तित्व को जीवित रख, सही अर्थों में 'ही' का मार्गदर्शन कर अतीत को जीने का प्रयास करें। अन्यथा, हम 'ही' के ही समान नित्य दूसरों को कहें कि 'तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो' अर्थात् जैन दर्शन के आदर्श एवं समभाव के दर्शन 'अनेकान्त' तथा 'स्याद्वाद' को 'ही' तक पहुँचा सकें। 'समभाव' से बढ़कर और कौन-सा दर्शन हो सकता है ? आवश्यकता उसे जीने की है।

इस खण्ड में अध्यात्मवादी कवि ने हमारा ध्यान उन मानवीय गुणों एवं धर्म की ओर आकर्षित किया है, जो आज के युग में कायरों एवं पौरुषहीनों की सुरक्षा की ढाल माने जाते हैं। आज छली, धूर्त एवं मायावी व्यक्ति ही विश्व में फलते-फूलते एवं सब पर अपना वर्चस्व जमाए रखने में सफल होते हैं। भले ही समाज का धार्मिक वर्ग ऐसे लोगों की आलोचना एवं भर्त्सना करता है, किन्तु वह भी कायरतावश खुलकर एवं समय पर अपनी ज़बान पर लगाम लगा लेते हैं ताकि वे किसी सार्वजनिक परेशानी में न उलझ जाएँ। समाज को इस प्रकार की कायरता से ऊपर उठाकर सत्य के मार्ग पर चलने हेतु प्राणों की बाज़ी लगाने में ही इस लघु वर्ग को अपनी आवाज़ बुलन्द करनी चाहिए, जैसा कि हमारे श्रद्धेय भक्त कवि ने अपनी लेखनी द्वारा किया है।

इस खण्ड में कविश्री ने संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि शब्द भेदों का जो विश्लेषण किया वह कवि के अध्यात्म चिन्तन-मनन का ही सफल परिणाम है, जिससे साधना का सुगम व सर्वमान्य स्वरूप समाज को प्रदान किया है। इस खण्ड के अन्त में कवि ने उस अकाट्य सत्य को हमारे सामने रखा है, जिसे किसी भी स्थिति में टाला नहीं जा सकता है और जिस पर ध्यान देना प्रत्येक व्यक्ति का परम - पावन कर्त्तव्य है, जिसकी अवहेलना करना, स्वयं को सर्वनाश के कगार पर ले जाना है। यह अकाट्य सत्य है कि हम सब इस विश्व रूपी विशाल नौका में यात्री के रूप में सफ़र पर हैं। सफल यात्रा हेतु सभी प्रकार के साधनों को पहले से ही जुटा लेना पड़ता है। ठीक उसी प्रकार मानव को अपनी आध्यात्मिक मंज़िल तक पहुँचने में उन साधनों को जुटाना पड़ता है, जिन्हें न कोई चोर चुरा सकता है, न कोई डकैत लूट सकता और न ही कोई सेंध लगाकर ले जा सकता है। वह साधन है–'मानव को मानवता से प्यार'। बस इसी लघु वाक्य में मानव-मुक्ति का रहस्य छिपा है, जिसे कवि ने अपनी सशक्त लेखनी के माध्यम एवं विविध प्रतीकों द्वारा अपनी आध्यात्मिक रचना 'मूकमाटी' के इस खण्ड में व्यक्त किया है।

तीसरा खण्ड स्पष्ट रूप से कहता है कि जीवन में पुण्य कर्मों का अपना इतिहास है जो कि जघन्य पापी को भी सन्त की कोटि तक पहुँचा देता है। हम कितने स्वार्थी एवं संकीर्ण बनते जा रहे हैं, इसे कवि ने इस खण्ड में उल्लेखित किया है। आज स्वार्थपरस्ती का ताण्डव नृत्य जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त है। इसीलिए देवी-देवताओं एवं सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक राष्ट्र कहलाने वाला हमारा भारत आज मानो अपनी उच्च आध्यात्मिक आदर्श की अस्मिता को खोता जा रहा है। इसे पुनर्जीवित करने हेतु हमारे आध्यात्मिक-साधनारत मुनि श्री विद्यासागरजी ने अपनी अनूठी एवं मौलिक रचना 'मूकमाटी' की सृष्टि कर हमारे समाज में आध्यात्मिक ज्योति प्रज्वलित कर दी है।

आधुनिक एवं विकासशील समाज में भौतिकवाद की दौड़ में हर व्यक्ति कितना व्यस्त है, इस पर महाराजजी की लेखनी ने अविरल गति से प्रकाश डाल कर यह स्पष्ट कर दिया है कि आज मनुष्य शिक्षित होकर भी अज्ञान के अन्धकार में भटक रहा है। तभी तो उसे प्रकाश का मार्ग दिखाई नहीं दे रहा है। भौतिकवाद की लोलुपता ने हमें दम्भी बना दिया है, जिसका कि साधना में कोई स्थान नहीं होता है। साधनरत व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में अपनी विनम्रता का परिचय देकर लोगों के हृदय में घर बना लेता है। साधनारत सन्त की एक मात्र शक्ति हर स्थिति में उसकी सहनशीलता होती है। इसे हमारे सन्त कवि जी रहे हैं, तब ही तो सन्त स्वभाव के अनुकूल 'कथनी एवं करनी' की समानता पर आपने निर्भीक होकर अपने चिन्तन-मनन को प्रस्तुत किया है।

आज हम एक-दूसरे को फलता-फूलता फूटी आँख भी नहीं देख सकते। इसीलिए तो कवि की अन्तरात्मा आर्तनाद करती हुई कहती है :

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

कितना सत्य है कवि का मनन ! तब ही तो आज समाज को व मनुष्यों के दिलों को दूर करने वाला अविश्वसनीय यथार्थ का चित्रण इस आध्यात्मिक कृति में हुआ है।

पुरुष वर्ग ने स्त्री समाज का शोषण तो हमेशा ही किया है, किन्तु उसकी चुनौतियों का जो मुँहतोड़ जवाब नारी देती रही है, नैतिकता एवं आध्यात्मिकता के क्षेत्र में, आज तो ऐसा लगता है कि पुरुष से समानता करने हेतु नारी इन्हें अतीत का अनावश्यक बन्धन समझ कर उसे तोड़-फेंकने के लिए हर पल आतुर दिखाई देती है। 'अबला' शब्द, जो नारी को असहाय दशनि के लिए प्रयोग किया जाता रहा, भक्त-कवि ने उसकी परिभाषा भी बदल दी है। नारी की समस्त आध्यात्मिक शक्तियों का उल्लेख कर नारी के प्रति अपनी समस्त श्रद्धा का परिचय दिया है। किन्तु, नारी समाज को स्वयं से गम्भीरता पूर्वक यह प्रश्न करना है कि क्या वह इस महान् साधक द्वारा नारी का जो महिमागान किया गया है, उसके अनुकूल स्वयं को पाती है ? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि निम्न दो पंक्तियों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से सन्तजी ने कहा कि पुरुषों की वासना का शिकार बनना नारी पर निर्भर करता है, अतः नारी-शोषण का पूरा दोषी अकेला पुरुष नहीं है। पंक्तियाँ हैं :

"कुपथ-सुपथ की परख करने में/प्रतिष्ठा पाई है स्त्री-समाज ने।"(पृ.२०२)

स्त्री-पुरुषों के पवित्र मिथुन सम्बन्धों को जो विकृत रूप दिया जा रहा है, कविश्री ने उसकी पवित्रता को पुनः प्रतिष्ठित करने हेतु सम्बन्धों के उद्देश्य को बड़े सटीक रूप में स्पष्ट किया है ताकि उसमें अश्लीलता की गन्ध न लाई जाए। 'स्त्री' शब्द की व्याख्या, जिसे सन्त कवि ने प्रस्तुत किया है, की ओर शायद ही इसके पूर्व किसी का ध्यान गया होगा। सामान्यतः 'स्त्री' कहने से भोग-विलास एवं अलंकरण का बोध होता है। 'स्' एवं 'त्री' वर्णों का विश्लेषण कर कवि

महाराज ने 'स्त्री' को सभी परिस्थितियों में पुरुष वर्ग के लिए एक महान् आदर्श के रूप में निरूपित किया है, तथा दोनों की हितकारिणी 'स्त्री' ही है। विभिन्न शब्दों का प्रयोग, जो नारी के लिए किया जाता है, उन सब में उसके मंगलकारी स्वरूप को ही कवि ने अपनी लेखनी से निखारा है, जो आज की अति आधुनिक नारी को पथभ्रष्ट होने से बचाने के लिए अति आवश्यक है। अतीत के गर्त में उसके सम-शील-संयम के समा जाने के पूर्व नारी को महाराजश्री की इस पावन एवं उद्धारक रचना का अध्ययन अवश्य कर लेना चाहिए, ताकि आज के समाज एवं युग की स्त्री-पुरुष समानता की मांग को नारी उसके सही अर्थों में समझ सके तथा भारतीय संस्कृति में निरूपित नारी का रूप विकृत एवं लांछनीय न बने।

आज के समाज मे बढ़ते हुए वर्गभेद, जातिभेद, अर्थभेद, वर्णभेद आदि सभी विषयों पर कवि ने निर्भीक होकर अपनी लेखनी एवं बुद्धि का प्रयोग किया है। मानव के बीच से उठते हुए विश्वास एवं भाईचारे के लोप को पुनर्जीवित करने हेतु कवि की रचना का एक-एक शब्द मनन योग्य है, जो कि आज के समाज की ज्वलन्त समस्या बनी हुई है। अपनी रचना में कवि ने भारतीय पद्धति के चिकित्सा शास्त्र पर प्रकाश डालकर धरती माता की विपुल सम्पदा, जो हमें आध्यात्मिक, मानसिक एवं शारीरिक समृद्धि प्रदान करती है, की ओर पुनः लौटने की प्रेरणा दी है। भोजनादि के उचित समय जीवन की दैनिक गतिविधियों को किस प्रकार अनुशासित कर सात्त्विक जीवनयापन किया जाए, इस का मंगलसूत्र भी कवि ने हमें दिया है जो पूर्णतः वैज्ञानिक होने के साथ आध्यात्मिक भी है।

भागदौड़ के इस युग में हमारे जीवन से अनुशासन समाप्त होता जा रहा है जो विफल एवं पाश्विक जीवन का द्योतक है। कवि की यह रचना निःसन्देह हम भूले-भटकों के लिए संजीवनी बूटी का काम कर सकती है। केवल आवश्यकता है संयत चित्त एवं एकाग्र मन की। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात कवि ने कही है प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मक्षेत्र में रहकर ही मुक्ति पा सकता है। उसके लिए केवल उद्देश्यों की पवित्रता अनिवार्य है। हम देखते हैं कि ये समस्त आध्यात्मिक शब्दावलियाँ सभ्य एवं सुसंस्कृत कहे जाने वाले समाज के लिए अज्ञानता एवं पिछड़ेपन के पर्याय हैं, किन्तु मुझे, तरस आता है ऐसे समाज पर जो स्वयं दयनीय स्थिति में होकर दूसरों की भौतिक दयनीयता पर हँसते हैं।

भूत परस्ती एवं तन्त्र-मन्त्र, जिसने सामान्य व भोली-भाली जनता को अपने पाश में जकड़ रखा है, इसे भी कवि ने उजागर कर हमें अन्धविश्वास का त्यागकर मन को नियन्त्रित करने की शिक्षा दी है। इन सबसे बढ़कर 'प्रेम' एवं 'प्रार्थना', जो कि मानव जीवन की अनिवार्यता है, को कविश्री ने सर्वोपरि रखा है। ये ही सब धर्मों का मूल मन्त्र है। कवि की समस्त रचना इन मन्त्रों से ओतप्रोत है।

अन्त में यही कहूँगी कि सन्तवाणी हमारे युग के लिए एक ऐसी भेंट है जिसकी हमें अत्यन्त आवश्यकता है। केवल यही मनोकामना है कि सन्त के आशीर्वाद से उनके प्रवचन को मैं अपने जीवन में उतार सकूँ ताकि मेरे जीवन का अन्तिम लक्ष्य अपनी पूर्णता को प्राप्त हो।

□

शब्दों के जादूगर आचार्य विद्यासागर और उनकी 'मूकमाटी'

डॉ. पवन कुमार जैन

जब कि हिन्दी में महाकाव्य लिखने की परम्परा दम तोड़ चुकी है, ऐसे समय में आचार्य विद्यासागरजी की काव्य कृति 'मूकमाटी' का महाकाव्य के रूप में प्रकाश में आना सुखद आश्चर्य ही है। आचार्यश्री ने इस काव्य का मुक्तक छन्द में सृजन कर के अपभ्रंश के उन जैन सन्त कवियों की याद को ताज़ा कर दिया, जिन्होंने प्राचीन काल में हिन्दी के विकास में योगदान दिया। यह महाकाव्य चार खण्डों में विभक्त है। पहले खण्ड में माटी की कंकर युक्त दशा का चित्रण है। दूसरे खण्ड में माटी के माध्यम से काव्यशास्त्रीय विवेचन किया गया है। इस काव्य में वर्णित रस एवं प्रकृति का तात्त्विक विवेचन साहित्य शास्त्र के विद्वानों का ध्यान आकर्षित करेगा। तीसरे खण्ड में माटी की विकास यात्रा आगे बढ़ती है। चौथे खण्ड में मूक माटी कुम्भाकार धारण कर लेती है और उसकी अग्नि परीक्षा की घड़ी आ जाती है।

यह काव्य दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक तथा आधुनिक सन्दर्भों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रचना है। ग्रन्थ के 'प्रस्तवन' में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने लिखा है कि 'यह काव्य आधुनिक जीवन का अभिनव शास्त्र है।'

कवि की दृष्टि में :

- *"बहना ही जीवन है।" (पृ.२)*
- *"दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है।" (पृ. ३७)*

जीवन-जीवन में भी अन्तर है। इसे स्पष्ट करते हुए कवि कथन है :

"एक का जीवन/मृतक-सा लगता है/कान्तिमुक्त शव है,
एक का जीवन/अमृत-सा लगता है/कान्ति-युक्त शिव है।
शव में आग लगाना होगा,/और/शिव में राग जगाना होगा।" (पृ. ८४)

जीवन के सम्बन्ध में सन्त मत प्रस्तुत करते हुए कवि उक्ति है :

"सर्व-सहा होना ही/सर्वस्व को पाना है जीवन में
सन्तों का पथ यही गाता है।" (पृ. १९०)

जीवन के साथ दुःख-सुख लगे ही रहते हैं। किसी ने कहा है कि 'मर्ज़ का हद से गुज़र जाना ही है दवा हो जाना।' इसी रंग और ढंग में कवि कहता है :

"पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है/और
पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है।" (पृ. ३३)

कवि ने दुःख से मुक्ति का मार्ग भी सुझाया है :

"रसना ही/रसातल की राह रही है/यानी ! जो जीव
अपनी जीभ जीतता है/दुःख रीतता है उसी का
सुख-मय जीवन बीतता है/चिरंजीव बनता वही।" (पृ. ११६)

काया और माया का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। उसे सहारे की आवश्यकता होती है। इस सम्बन्ध में कवि का मत है:

"काया जड़ है ना !/जड़ को सहारा अपेक्षित है,/और वह भी जंगम का।
और सुनो !/काया से ही माया पली है/माया से भावित–प्रभावित
मति मेरी यह···।" (पृ. ६६)

कवि के अनुसार काया में व्याप्त कामवृत्ति का ही दूसरा नाम कायरता है। वह कहता है :

"जो कामवृत्ति है/तामसता काय-रता है
वही सही मायने में/भीतरी कायरता है !" (पृ. ९४)

आत्मा के सम्बन्ध में कवि का स्पष्ट मत है :

"दुःख आत्मा का स्वभाव–धर्म नहीं हो सकता,
मोह-कर्म से प्रभावित आत्मा का/विभाव-परिणमन मात्र है वह।" (पृ. ३०५)

अति संक्षेप में मोक्ष को परिभाषित करते हुए कवि ने लिखा है :

" पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।" (पृ. ९३)

मनुष्य प्रायः अपने आप को पतित और लघु मानता है। प्रश्न उठता है क्यों ? इस क्यों का उत्तर कवि की इन पंक्तियों में खोजा जा सकता है :

"तूने जो/अपने आपको/पतित जाना है/लघु-तम माना है
यह अपूर्व घटना/इसलिए है कि/तूने/निश्चित-रूप से
प्रभु को,/गुरु-तम को/पहचाना है !" (पृ. ९)

कवि का मानवतावादी दृष्टिकोण इस महाकाव्य में सर्वत्र छाया हुआ है। किन्तु वह मानवता पर प्रश्नचिह्न लगाने पर भी विवश हो गया है :

"क्या इस समय मानवता/पूर्णतः मरी है ?/क्या यहाँ पर दानवता
आ उभरी है···?/लग रहा है कि/मानवता से दानवत्ता/कहीं चली गई है ?
और फिर/दानवता में दानवत्ता/पली ही कब थी वह ?" (पृ. ८१-८२)

कवि भाग्यवादी भी है। उस के अनुसार 'कुम्भकार' से बड़ा भाग्यवादी शायद दूसरा नहीं। 'कुं' का अर्थ होता है धरती और 'भ' से बनता है भाग्यवान् अर्थात् :

"यहाँ पर जो/भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो
कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

इस महाकाव्य में कवि ने आस्था पर गहन चिन्तन प्रस्तुत किया है :

- *"आस्था के बिना रास्ता नहीं/मूल के बिना चूल नहीं,*

परन्तु/मूल में कभी/फूल खिले हैं ?" (पृ. १०)

- *"आस्था के विषय को/आत्मसात् करना हो/उसे अनुभूत करना हो*
  तो/साधना के साँचे में/स्वयं को ढालना होगा सहर्ष !" (पृ. १०)
- *"साधना के क्षेत्र में/स्खलन की सम्भावना/पूरी बनी रहती है।" (पृ. ११)*
- *"आयास से डरना नहीं/आलस्य करना नहीं !" (पृ. ११)*
- *"प्रतिकार की पारणा/छोड़नी होगी, बेटा !/अतिचार की धारणा*
  तोड़नी होगी, बेटा !/अन्यथा,/कालान्तर में निश्चित/ये दोनों
  आस्था की आराधना में/विराधना ही सिद्ध होंगी !" (पृ. १२)

सन्त साहित्य में संगति का बड़ा महत्त्व बताया गया है। नामदेव ने संगति को गोविन्द प्राप्ति का मार्ग बताया है। कबीर के अनुसार संगति के प्रभाव से कर्मानुसार फल मिलता है। रविदास मानते हैं कि साधु संगति बिना भक्ति नहीं। दादू ने संगति को अमोल रत्न बताया है। मलूकदास कहते हैं कि साधु संगत का समय बीता जा रहा है। सुन्दरदास ने इसे दुर्लभ बताया है। नानक इस के बिना जन्म ही निरर्थक मानते हैं। महाकाव्यकार आचार्य विद्यासागरजी के अनुसार :

"जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है
मति जैसी, अग्रिम गति/मिलती जाती···मिलती जाती···
और यही हुआ है/युगों-युगों से/भवों-भवों से !" (पृ. ८)

कबीर के अनुसार आत्म संयम के बिना सफलता सम्भव नहीं। दादूदयाल का मत है कि संयम से सिरजनहार की प्राप्ति हो सकती है। रविदास कहते हैं कि इन्द्रिय का संयम आत्मविश्वास उत्पन्न करता है। आचार्य विद्यासागरजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है :

- *"संयम के बिना आदमी नहीं/यानी/आदमी वही है*
  जो यथा-योग्य/सही आ···दमी है।" (पृ. ६४)
- *"नियम-संयम के सम्मुख,/असंयम ही नहीं, यम भी/अपने घुटने टेक देता है,*
  हार स्वीकारना होती है/नभश्चरों सुरासुरों को !" (पृ. २६९)

प्रतिशोध द्वारा शान्ति सम्भव नहीं है। वह तो एक आग है, जो जलाना जानती है। कवि के शब्दों में :

"बदले का भाव वह अनल है/जो/जलाता है तन को भी, चेतन को भी
भव-भव तक! /बदले का भाव वह राहु है/जिसके/सुदीर्घ विकराल गाल में
छोटा-सा कवल बन/चेतनरूप भास्वत भानु भी
अपने अस्तित्व को खो देता है।" (पृ. ९८)

कबीर के अनुसार किसी के अपराध को क्षमा करना ऊँचे व्यक्तित्व का द्योतक है। रविदास ने क्षमाशीलता साधु के लिए आवश्यक मानी है। दादूदयाल ने तो इसे मोक्ष का मार्ग स्वीकार किया है। सुन्दरदास ने इसे अनाहदवाद में स्थान

दिया है। मलूकदास ने भी इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। नानक इसे समस्त रोगों और दोषों से मुक्त करने वाला बताते हैं। आचार्य विद्यासागर कहते हैं :

"खम्मामि, खमंतु मे– / क्षमा करता हूँ सबको, / क्षमा चाहता हूँ सबसे,
सबसे सदा-सहज बस / मैत्री रहे मेरी ! / वैर किससे / क्यों और कब करूँ ?
यहाँ कोई भी तो नहीं है / संसार-भर में मेरा वैरी !" (पृ. १०५)

'जो आवे सन्तोष धन, सब धन धूलि समान' – सन्तों का आदर्श वाक्य रहा है। उन्होंने कभी भी सोना, चाँदी, हीरा, पन्ना या महल-दुमहलों की सपने में भी कामना नहीं की। उन्होंने इसे सदैव तुच्छ समझा। आचार्य विद्यासागरजी के अनुसार :

"स्वर्ण का मूल्य है / रजत का मूल्य है / कण हो या मन हो
प्रति पदार्थ का मूल्य होता ही है, / परन्तु, / धन का अपने आप में मूल्य
कुछ भी नहीं है। / मूल-भूत पदार्थ ही / मूल्यवान होता है।
धन कोई मूलभूत वस्तु है ही नहीं / धन का जीवन पराश्रित है
पर के लिए है, काल्पनिक ! / ...धनिक और निर्धन– / ये दोनों
वस्तु के सही-सही मूल्य को / स्वप्न में भी नहीं आँक सकते,
कारण, / धन-हीन दीन-हीन होता है प्रायः / और / धनिक वह
विषयान्ध, मदान्ध !!" (पृ. ३०७-३०८)

'माटी' को ले सन्तों और दार्शनिकों ने बहुत कुछ कहा है। कुम्भकार मिट्टी को पैरों तले रौंद रहा है। मिट्टी कुम्भकार से कहती है : 'आज तू मुझे रौंद रहा है, कल मैं तुझे रौंदूँगी।' सन्तों की उक्तियों के अनुसार एक दिन यह कंचन काया मिट्टी में ही मिल जाएगी। माटी की मूक ध्वनि को आचार्यश्री ने कान लगा कर सुना और इस महान् महाकाव्य की रचना कर डाली। एक स्थान पर वे यदि माटी का चित्रण दुल्हन-सा करते हैं तो अन्यत्र यह भी लिखते हैं :

"माटी की शालीनता / कुछ देशना देती-सी···!
'महासत्ता-माँ की गवेषणा / समीचीना एषणा / और
संकीर्ण-सत्ता की विरेचना / अवश्य करनी है तुम्हें !" (पृ. ५१)

सन्तों के अनुसार भोजन के लालच में तो सिंह भी ठगा जाता है। खानपान पर पालित शरीर का अन्त चिता में हो जाता है। आत्मा का सम्बन्ध स्वादिष्ट आहार से नहीं है। वास्तव में महान् वह है जो रूखा-सूखा खा कर भी दूसरों की भूख मिटाता है। भोजन तो शरीर संचालन का निमित्त मात्र है। कुछ सन्तों ने अँधेरे में भोजन करने का निषेध किया है। नानक ने परिश्रम की रोटी खाने पर बल दिया है। मनुष्य अन्न खाता है और अन्न मनुष्य को, किन्तु दोनों ही अतृप्त। आचार्य विद्यासागरजी की वाणी में जैसे समस्त सन्त वाणी का सार समा गया है :

- *"आधा भोजन कीजिए / दुगुणा पानी पीव।*
  तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी / वर्ष सवा सौ जीव !" (पृ. १३३)
- *"रस का स्वाद उसी रसना को आता है*

जो जीने की इच्छा से ही नहीं,/मृत्यु की भीति से भी ऊपर ऊठी है।" (पृ. २८१)

सन्तों ने व्यवहार कुशलता का मार्ग दिखाकर सामाजिक जीवन का भी निर्देशन किया है। विद्यासागरजी के अनुसार :

"जब सुई से काम चल सकता है/तलवार का प्रहार क्यों ?
जब फूल से काम चल सकता है/शूल का व्यवहार क्यों ?
जब मूल में भूतल पर रह कर ही/फल हाथ लग रहा है
तब चूल पर चढ़ना/मात्र शक्ति-समय का अपव्यय ही नहीं,
सही मूल्यांकन का अभाव भी सिद्ध करता है।" (पृ. २५७)

सन्त वाणी में कबीर आदि सन्तों ने दुर्जन की निन्दा की है। दुर्जन कौन ? इस का उत्तर विद्यासागरजी ने इन शब्दों में दिया है :

"औरों के सुख को देख, जलना/औरों के दुःख को देख, खिलना
दुर्जनता का सही लक्षण है।" (पृ. १६८)

दुर्जन व्यक्ति तो सहधर्मी को भी सहन नहीं कर पाता, अतः कवि ने लिखा है :

"सहधर्मी सजाति में ही/वैर वैमनस्क भाव/परस्पर देखे जाते हैं !
श्वान श्वान को देख कर ही/नाखूनों से धरती को खोदता हुआ
गुर्राता है बुरी तरह ।" (पृ. ७१)

मनोविज्ञान की धुरी मन है। उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व मन/आत्मा का अध्ययन दर्शनशास्त्र का विषय था। आज मनोविज्ञान एक स्वतन्त्र चिन्तन का विषय है। महावीर के अनुसार जिसके द्वारा मनन किया जाता है, वह मन है। सब अर्थों को जानने वाला ज्ञान मन कहलाता है। यह चार प्रकार का होता है–द्रव्य मन, भाव मन, चेतन मन और पौद्गलिक मन। नामदेव की मान्यता है कि मन की व्यथा मन ही जानता है। यह सारे संसार में भ्रमण कराता है तथा गज के समान है। कबीर के अनुसार दस इन्द्रियों में से एक मन है। यह जल से अधिक पतला, धुएँ से अधिक झीना और वायु से अधिक द्रुतगामी है। इस के चार भाग हैं– मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार। इस पर नियन्त्रण आवश्यक है। रविदास कहते हैं कि पिउ उस मन में नहीं आता जहाँ अहंकार का वास होता है। इसे साधने पर ज्ञान, ध्यान आदि उपलब्ध हो जाते हैं। दादू का कहना है कि पवित्र मन होने पर शरीर के विकार नष्ट हो जाते हैं। सुन्दरदास कहते हैं कि मन पल में मरता और पल में जीता रहता है। मलूकदास कहते हैं जब मन के पखावज पर प्रेम के तार बजने लगते हैं तो मन नाचने लगता है। नानक ने मन की उत्पत्ति पंच तत्त्वों – आकाश, पवन, अग्नि, जल और पृथ्वी – से मानी है। उन्होंने मन को मार कर परमात्मा को पाने का उपदेश दिया है।

आचार्य विद्यासागरजी ने उक्त सभी मतों का निचोड़ सरल भाषा और मुक्त छन्द में प्रस्तुत किया है :

"मन को छल का सम्बल मिला है–/स्वभाव से ही मन चंचल होता है,
तथापि/इस मन का छल निश्चल है/मन माया की खान है ना !
बदला लेना ठान लिया है/...वैसे/मन वैर-भाव का निधान होता ही है।
मन की छाँव में ही/मान पनपता है/मन का माथा नमता नहीं

न-'मन' हो, तब कहीं/नमन हो 'समण' को/इसलिए मन यही कहता है सदा-
नम न ! नम न !! नम न !!!" (पृ. ९६-९७)

मन पर शासन की कामना करते हुए आचार्यश्री ने लिखा है :

"पुरुष का प्रकृति पर नहीं,/चेतन पर/चेतन का करण पर नहीं,
अन्तःकरण—मन पर/मन का तन पर नहीं,/करण-गण पर/और
करण-गण का पर पर नहीं,/तन पर/नियन्त्रण—शासन हो सदा।
किन्तु/तन शासित ही हो/किसी का भी वह शासक—नियन्ता न हो,
भोग्य होने से।" (पृ. १२५)

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने एक बहुत ही कीमती शब्द दिया है - 'जिजीविषा', जिस का अर्थ है—जीने की इच्छा। किन्तु प्रश्न उठता है कैसे जीने की इच्छा ? विपरीत परिस्थितियों में भी अनुकूलता पर दृष्टि रखते हुए जीना जिजीविषा कहलाती है। इस शब्द का प्रयोग आचार्यश्री ने 'मूकमाटी' महाकाव्य में दो स्थानों पर किया है।

एक स्थान पर महाकाव्य का एक पात्र सेठ चारों ओर से निराशा और चिन्ताओं में घिर जाता है कि उसमें जिजीविषा जाग उठती है :

"दल की दमनशील धमकियों से/सेठ के सिवा/परिवार का दिल हिल उठा,
उसके दृढ़ संकल्प को/पसीना-सा छूट गया !/उसकी जिजीविषा बलवती हुई
और वह/जीवन का अवसान/अकाल में देख कर/आत्म-समर्पण के विषय में
सोचने को बाध्य होता, कि/नदी ने कहा तुरन्त,/उतावली मत करो !"
(पृ. ४६९)

अन्यत्र इस शब्द का प्रयोग इस प्रकार हुआ है :

"जहाँ पर/कुछ पशु, कुछ मृग/कुछ अहिंसक, कुछ हिंसक
कुछ मूर्च्छित, कुछ जागृत/कुछ मृतक, कुछ अर्ध-मृतक
अकाल में काल के कवल होने से/सब के मुखों पर/जिजीविषा बिखरी पड़ी है,
सब के सब विवश हो/बहाव में बहे जा रहे हैं।" (पृ. ४५०)

अपराध शास्त्र भी मनोविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है। अपराध के सम्बन्ध में महावीर ने कहा है कि समाज में पुण्यहीन मनुष्य अपराध न करता हुआ भी अपराधी हो जाता है और पुण्यवान् जीव अपराध करता हुआ भी निरपराधी के समान हो जाता है। सन्त भी अपराधी से नहीं, उसके अपराध से घृणा करने को कहते हैं। अपराध शास्त्र भी अपराधी को रोगी मान कर उसके उपचार की बात करता है।

आचार्य विद्यासागर के अनुसार :

"तुम्हारी दृष्टि का अपराध है वह/क्योंकि/परिधि की ओर देखने से
चेतन का पतन होता है/और/परम-केन्द्र की ओर देखने से
चेतन का जतन होता है।" (पृ. १६२)

दण्ड संहिता का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए तथा मृत्यु दण्ड का विरोध करते हुए कवि कहता है :

"उद्दण्डता दूर करने हेतु/दण्ड-संहिता होती है/माना,/दण्डों में अन्तिम दण्ड
प्राणदण्ड होता है।/प्राणदण्ड से/औरों को तो शिक्षा मिलती है,
परन्तु/जिसे दण्ड दिया जा रहा है/उसकी उन्नति का अवसर ही समाप्त ।
दण्ड-संहिता इसको माने या न माने,/क्रूर अपराधी को
क्रूरता से दण्डित करना भी/एक अपराध है,
न्याय-मार्ग से स्खलित होना है।" (पृ. ४३०-४३१)

आज राजनीति समस्त ज्ञान-विज्ञान की मापनी बन गई है। किन्तु कवि ने सदैव रामराज्य का सपना देखा है। उन्होंने आसमानी राज्य की कल्पना की है और पद-लोलुपता की निन्दा की है। आज संसार कलियुग के राज्य में साँस ले रहा है। सत्-युग और कलियुग के सम्बन्ध में आचार्यश्री ने लिखा है :

"सत्-युग हो या कलियुग/बाहरी नहीं/भीतरी घटना है वह
सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है!" (पृ. ८३)

यह प्रार्थना मात्र कवि की अपने लिए ही नहीं है। सभी राजनेता इसे दोहराएँ :

"पद-लिप्सा का विषधर वह/भविष्य में भी हमें न सूँघे
बस यही भावना है, विभो!" (पृ. ४३४)

श्वान और सिंह के माध्यम से कवि ने स्पष्ट कर पदलोलुप राजनेताओं पर तीखा प्रहार किया है :

"श्वान को पत्थर मारने से, वह/पत्थर को ही पकड़कर काटता है
मारक को नहीं!/परन्तु/सिंह.../मारक पर मार करता है वह।
...कभी भी यह नहीं सुना कि/सिंह पागल हुआ हो।/श्वान...
जब कभी क्षुधा से पीड़ित हो/...मल पर भी मुँह मारता है वह,/और
जब मल भी नहीं मिलता···तो/अपनी सन्तान को ही खा जाता है,
किन्तु, सुनो!/भूख, मिटाने हेतु
सिंह विष्ठा का सेवन नहीं करता।" (पृ. १७०-१७१)

लोकतन्त्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री ने लिखा है :

" 'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।
रावण था 'ही' का उपासक/राम के भीतर 'भी' बैठा था।
यही कारण कि/राम उपास्य हुए, हैं, रहेंगे आगे भी/'भी' के आस-पास
बढ़ती-सी भीड़ लगती अवश्य,/किन्तु भीड़ नहीं,/'भी' लोकतन्त्र की रीढ़ है।
लोक में लोकतन्त्र का नीड़/तब तक सुरक्षित रहेगा
जब तक 'भी' श्वास लेता रहेगा।" (पृ. १७३)

आकाश में किसी भी प्रकार से उत्पन्न क्षोभ, जो वायु तरंग द्वारा कानों तक जा कर सुनाई पड़े, शब्द कहलाता है। शब्दकोश क़ब्रिस्तान है और शब्द उसकी कब्रों में सोई हुई ज़िन्दा लाशें। जब कोई जादूगर (साहित्यकार) अपनी जादुई छड़ी रूपी लेखनी की छुवन से उन्हें जगाता है तो शब्द अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण के रुपहले परिधान पहनकर चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं। आचार्य श्री विद्यासागरजी शब्दों के जादूगर हैं। उन्होंने शब्दों को नए अर्थ प्रदान किए हैं तथा उन्हें नए परिवेश में प्रयोग किया है। कुछ शब्दों का चमत्कारी अर्थ प्रस्तुत है :

गधा : *"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/गद का अर्थ है रोग*
हा का अर्थ है हारक/ मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस,
और कुछ वांछा नहीं/गद-हा···गदहा···!" (पृ. ४०)

अस्त्र, शस्त्र, वस्त्र : *"अस्त्रों, शस्त्रों, वस्त्रों/और कृपाणों पर भी/'दया-धर्म का मूल है'*
लिखा मिलता है।/किन्तु,/कृपाण कृपालु नहीं हैं/वे स्वयं कहते हैं
हम हैं कृपाण/हम में कृपा न !/कहाँ तक कहें अब !/धर्म का झण्डा भी
डण्डा बन जाता है/शास्त्र शस्त्र बन जाता है/अवसर पाकर।" (पृ. ७३)

कम्बल : *"कम बलवाले ही/कम्बलवाले होते हैं/और/काम के दास होते हैं।*
हम बलवाले हैं/राम के दास होते हैं।" (पृ. ९२)

संगीत प्रीति: *"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है/और/प्रीति उसे मानता हूँ*
जो अंगातीत होती है/मेरा संगी संगीत है/सप्त-स्वरों से अतीत···!"
(पृ. १४४-१४५)

दोगला : *"" "मैं दो गला"/इस से पहला भाव यह निकलता है, कि/मैं द्विभाषी हूँ*
भीतर से कुछ बोलता हूँ/बाहर से कुछ और···/पय में विष घोलता हूँ।
...दूसरा भाव सामने आता है :/मैं दोगला/छली, धूर्त, मायावी हूँ
अज्ञान-मान के कारण ही/इस छद्म को छुपाता आया हूँ।/...तीसरा भाव क्या है-
...सब विभावों-विकारों की जड़/'मैं" यानी अहं को
दो गला—कर दो समाप्त।"(पृ. १७५)

महिला : *"जो/मह यानी मंगलमय माहौल,/महोत्सव जीवन में लाती है*
महिला कहलाती वह।" (पृ. २०२)

लक्ष्मण रेखा : *"लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन/रावण हो या सीता*
राम ही क्यों न हों/दण्डित करेगा ही !"(पृ. २१७)

श्रीफल : *"प्रायः सब की चोटियाँ/अधोमुखी हुआ करती हैं,/परन्तु*
श्रीफल की ऊर्ध्वमुखी है।/हो सकता है/इसीलिए श्रीफल के दान को
मुक्ति-फल-प्रद कहा हो।" (पृ. ३११)

स्वस्तिक : *"स्वयं का प्रतीक, स्वस्तिक अंकित करता है–/'स्व' की उपलब्धि हो सबको*
इसी एक भावना से।/और/प्रति स्वस्तिक की चारों पाँखुरियों में
कश्मीर-केसर मिश्रित चन्दन से/चार-चार बिन्दियाँ लगा दीं
जो बता रहीं संसार को, कि/संसार की चारों गतियाँ सुख से शून्य हैं।
इसी भाँति,/प्रत्येक स्वस्तिक के मस्तक पर
चन्द्र-बिन्दु समेत,/ओंकार लिखा गया/योग एवं उपयोग की स्थिरता हेतु।
योगियों का ध्यान/प्रायः इसी पर टिकता है।" (पृ. ३०९)

आचार्य विद्यासागरजी ने नए कवियों जैसे प्रयोग इस महाकाव्य में करके प्रयोगवादी कवि-धर्म का निर्वाह भी किया है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

"संसार ९९ का चक्कर है/यह कहावत चरितार्थ होती है
इसीलिए/भविक मुमुक्षुओं की दृष्टि में/९९ हेय हो और
ध्येय हो ९/नव-जीवन का स्रोत!" (पृ. १६७)

आचार्यश्री ने इस काव्य में रस आदि के अतिरिक्त साहित्य की सैद्धान्तिक चर्चा भी की है। एक स्थान पर वे साहित्य का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं :

"हित से जो युक्त–समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव–सम्पादन हो
सही साहित्य वही है।" (पृ. १११)

साहित्य के क्षेत्र में सम्प्रेषण का बड़ा महत्त्व है। इस सम्बन्ध में आचार्यश्री ने लिखा है :

"लक्ष्य की ओर बढ़ना ही/सम्प्रेषण का सही स्वरूप है...
सम्प्रेष्य के प्रति/कभी भूलकर भी/अधिकार का भाव आना
सम्प्रेषण का दुरुपयोग है,/वह फलीभूत भी नहीं होता!
...प्राथमिक दशा में/सम्प्रेषण का साधन/कुछ भार-सा लगता है
निस्सार-सा लगता है/और/कुछ-कुछ मन में
तनाव का वेदन भी होता है।" (पृ. २२-२३)



□

'मूकमाटी' : पिछले दशक की एक सर्वाधिक सशक्त कृति

डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र

'मूकमाटी' आचार्य विद्यासागरजी की चिन्तन-धारा एवं वैचारिक भावभूमि का काव्यात्मक स्फोट है। इसमें आचार्यजी ने भारतीय दर्शन के तत्त्वांशों का निचय सामासिक शैली में प्रस्तुत किया है। दर्शन तथा धर्म के निगूढ़ तत्त्वों को काव्य के साँचे में ढालने की प्रक्रिया अत्यन्त दुरूह होती है। इसीलिए औपनिषदिक साहित्य मात्र प्राज्ञ-प्रौढ़ पुरुषों तक ही संसीमित रह गया है। दर्शन तथा धर्म का मूलाधार है – कठोर सिद्धान्त एवं दृढ़ व्रत। इन दोनों आलम्बों पर काव्य का औदार्य और सौष्ठव खड़ा करना कितना दुष्कर हो सकता है, इसे काव्य-स्रष्टा और साहित्य-मर्मज्ञ ही समझ सकते हैं। स्वामीजी के सामने जो आदर्श और तथ्यांग थे उन्हें मात्र चिन्तन और अध्यात्म के चक्षु से ही देखा और परखा जा सकता था। आनन्द और सौन्दर्य काव्य के चरमोद्देश्य हैं। इनमें लौकिकता की सम्प्रवाही धारा अन्तर्लिप्त है। समीक्षक 'मधुमती भूमिका' और 'समाधि' को भले ही समतुल्य मान लें किन्तु रसास्वादन में इनके पार्थक्य का बोध उन्हें भी है। योगी की 'समाधि' दर्शन है और साहित्य की 'मधुमती भूमिका' काव्य। मेरे इस विचार से सुधी विचारक सहमत नहीं भी हो सकते हैं किन्तु मेरा यह निजी प्रत्यय और विश्वास है। मैं मानती हूँ कि कुछ ऐसे चिन्तक एवं विचारक भी होते हैं जो काव्य की परम्परा और पूर्व निर्धारित सिद्धान्तों का अधिलंघन कर नए मानदण्ड का निर्धारण करते हैं। ऐसे युग पुरुष सदा होते आए हैं और आगे भी होते रहेंगे। ये लीक पर नहीं चलकर अन्यों के लिए लीक का निर्माण करते हैं। काव्य के क्षेत्र में भी यह प्रक्रिया चलती रही है। विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ, मम्मट, दण्डी के काव्यादर्शों के अनुपालन के साथ उन्हें प्रसंस्कारित भी किया जा रहा है। प्रसंस्करण की प्रक्षिप्त अन्तर्धारा कहीं तो अन्तःसलिला सरस्वती सदृश अदृश्यमान है और कहीं त्रिपथगा की भाँति प्रत्यक्षतः प्रवहमान है। आचार्यजी की मूक साधना 'मूकमाटी' के सदृश ही है। माटी की सौंधी गन्ध से उनकी साधना सुवासित है। इसमें न यथार्थ का परित्याग है और न कल्पना की अस्वाभाविकता। यथार्थ की नींव पर कल्पना का स्वाभाविक ढंग से व्यवहारोन्मुख विकास खड़ा किया गया है। कल्पना का अर्थ ही 'मूकमाटी' में बदला-सा प्रतीत होता है। वास्तविकता एवं व्यावहारिकता से संयोजित कल्पना प्रकृतस्थ है। काव्य के इसी स्वरूप की व्याख्या करते हुए सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री एल. एबरक्रॉम्बी ने कहा है :

"The prime material of the epic poet, then, must be real and not invented.... The reality of the central subject is, of course, to be understood broadly. It means that the story must be founded deep in the general experience of men". (L. Abercrombie - The Epic, P-55)

महाकाव्य के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं रहा है। प्राचीन एवं अर्वाचीन काव्यशास्त्रियों के मतों में परस्पर विरोध नहीं तो वैमत्य अवश्य है। महाकाव्यों की रूपरेखा और रचनाशैली में थोड़ा-बहुत अन्तर होने पर भी पाश्चात्य और भारतीय महाकाव्यों के मौलिक सिद्धान्त एक ही हैं। मैकनेल डिक्सन ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है:

"महाकाव्य सब देशों में एक जैसा होता है। वह चाहे पूर्व का हो या पश्चिम का, उत्तर का हो अथवा दक्षिण का, उसकी आत्मा और प्रकृति सर्वत्र एक जैसी होती है। सच्चा महाकाव्य, वह चाहे कहीं भी निर्मित हो, एक प्रकथनात्मक काव्य होता है, उसकी रचना सुसंगठित होती है, उसका सम्बन्ध महान् चरित्रों और उनके महान् कार्यों से रहता है, उसकी शैली उसके विषय की गरिमा के अनुकूल होती है, उसमें चरित्रों और उनके कार्यकलाप को आदर्श रूप देने का प्रयास होता है और उपाख्यानों तथा वर्णन-विस्तार से उसके कथानक की रक्षा तथा समृद्धि होती है।"

(एम. डिक्सन--इंगलिश एपिक एण्ड हिरोयिक पोयट्री, पृ. २४)

प्राचीन साहित्यशास्त्रियों के मतानुसार महाकाव्य या काव्य का नायक धीरोदात्त ही होना चाहिए। सामान्य वर्ग का व्यक्ति महाकाव्य का नायक नहीं हो सकता था। परवर्ती कवियों ने पुराकालीन मान्यताओं से हटकर सामान्य श्रेणी के व्यक्तियों को भी काव्य का विषय बनाया। प्रासादवासिनी असूर्यंपश्या नारी का स्थान खेत में काम करनेवाली श्रमबाला ने तथा राजा एवं सामन्त का स्थान श्रमजीवियों ने ले लिया। आचार्य विद्यासागरजी के कदम तो और आगे बढ़ गए। मिट्टी सदृश तुच्छ एवं उपेक्षिता वस्तु को महाकाव्य का विषय बनाकर और उसे महाकाव्योपयुक्त संसिद्धकर आचार्यजी ने साहित्य को एक अपूर्व, नई भावभूमि प्रदान की है। मिट्टी की जीवन-यात्रा मानवीय जीवन-यात्रा का प्रतिरूप है। इसके जीवन-कर्म में मानव जीवन का दर्शन अन्तर्व्याप्त है। मिट्टी की विकास-कथा के विभिन्न चरणों के माध्यम से पुण्यकार्योत्पन्न उपलब्धियों का आकलन प्रस्तुत किया गया है।

वस्तुतः यह कहना कठिन है कि 'मूकमाटी' को काव्य कहा जाए या आध्यात्मिक कृति। सूक्ष्म दृष्टि से काव्य का पर्यावलोकन किया जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें दार्शनिक एवं आध्यात्मिक गूढ़ार्थों की सहज एवं बोधगम्य व्याख्या की गई है। पुस्तक के 'प्रस्तवन' (पृ.v) में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन का प्रकथन पूर्णतः सार्थक और प्रसंगत लगता है: "इसीलिए आचार्य श्री विद्यासागर की कृति 'मूकमाटी' मात्र कवि-कर्म नहीं है, यह एक दार्शनिक सन्त की आत्मा का संगीत है।" वास्तव में 'मूकमाटी' का रोमांस भी आध्यात्मिक कोटि का ही है। माटी कुम्भकार की प्रतीक्षा युग-युग से इसलिए कर रही है कि वह किसी दिन उसका उद्धार अवश्य करेगा और मंगल घट के रूप में उसे वांछित मर्यादा प्राप्त होगी।

आचार्यजी की इस कृति के इस परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन के लिए इसकी कथावस्तु पर ध्यान देना आवश्यक एवं अभीष्ट होगा। कथावस्तु का अध्ययन भी इस सन्दर्भ में किया जाना इष्टकर होगा कि आचार्यजी ने जैन दर्शन के कतिपय मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन और सम्पोषण का कार्य इस कृति में अत्यन्त काव्यात्मक कौशल से किया है। आचार्यजी की एतत् सम्बन्धी स्वीकारोक्ति और स्पष्टोक्ति द्रष्टव्य है : "इस सन्दर्भ में एक बात और कहनी है कि "कुछ दर्शन जैन-दर्शन को नास्तिक मानते हैं और प्रचार करते हैं कि जो ईश्वर को नहीं मानते हैं, वे नास्तिक होते हैं।" यह मान्यता उनकी दर्शन-विषयक अल्पज्ञता को ही सूचित करती है। ज्ञात रहे, कि श्रमण-संस्कृति के सम्पोषक जैन-दर्शन ने बड़ी आस्था के साथ ईश्वर को परम श्रद्धेय-पूज्य के रूप में स्वीकारा है, सृष्टि-कर्ता के रूप में नहीं। इसीलिए जैन-दर्शन, नास्तिक दर्शनों को सही दिशाबोध देनेवाला एक आदर्श आस्तिक दर्शन है। यथार्थ में ईश्वर को सृष्टि-कर्ता के रूप में स्वीकारना ही, उसे नकारना है, और यही नास्तिकता है, मिथ्या है। ...ब्रह्मा को सृष्टि का कर्ता, विष्णु को सृष्टि का संरक्षक और महेश को सृष्टि का विनाशक मानना मिथ्या है, इस मान्यता को छोड़ना ही आस्तिकता है" ('मूकमाटी'- मानस तरंग-पृ. XXIII-XXIV)। समासतः जैन दर्शन को प्राज्ञ-प्रौढ़ चिन्तन के साथ काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत कर आचार्यजी ने रसास्वाद योग्य ही नहीं बनाया है वरन् इसे विचार और चिन्तन से तरंगायित कर दिया है।

'मूकमाटी' चार परिवर्तों में विभक्त है। प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' में मिट्टी के उस अपरिष्कृत रूप का चित्रण है जब वह 'संकर' रूप में थी अर्थात् उसमें कंकड़-कणादि मिश्रित थे। कुम्भकार मिट्टी से 'मंगल घट' निर्माण करने की कल्पना करता है। इस प्रयोजनार्थ वह 'माटी' से कंकड़, तृणादि को अलग कर मौलिक वर्णलाभ कराता है। द्वितीय परिवर्त 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में माटी को खोदने की प्रक्रिया और उस दौरान उसकी कुदाली से एक काँटे के सिर फट जाने की घटना का वर्णन है। कुम्भकार को अपने कृत्य पर ग्लानि और पश्चाताप

होता है तथा काँटा प्रतिशोध लेने की तैयारी प्रारम्भ कर देता है। 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' नामक तृतीय खण्ड में कुम्भकार द्वारा माटी की विकास-कथा के माध्यम से पुण्यकर्म के सम्पादन से उपजी श्रेयस्कर उपलब्धि का चित्रण किया गया है। इस क्रम में ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न तत्त्वांशों का विवेचन भी प्रस्तुत है। चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में कुम्भकार ने मिट्टी से घट बनाने की अपनी कल्पना को साकार कर दिया है। इस बृहत्काय खण्ड में तत्त्व-चिन्तन की गम्भीरता और लौकिक तथा अलौकिक जिज्ञासा एवं शोध के तर्क सम्मत उत्तर समुपलब्ध हैं।

चार खण्डों में विभक्त इस महाकाव्य की कथा इस प्रकार है– मूक मिट्टी से मंगल घट बनाने की कल्पना कुम्भकार करता है। सर्वप्रथम इससे कंकड़, तृणादि जैसे विजातीय पदार्थों को अलग कर मिट्टी को पूर्ण विशुद्ध बनाने का उपक्रम करता है। वह वर्ण संकरता मिटाकर उसे मौलिक वर्णलाभ की स्थिति में पहुँचाना चाहता है। माटी खोदने की प्रक्रिया में उसकी कुदाली एक काँटे के माथे पर जा लगती है। सिर फट जाने के कारण काँटा कुपित हो प्रतिशोध लेने की बात सोचने लगता है और कुम्भकार को अपनी असतर्कता पर क्षोभ और ग्लानि होती है। वह माटी में जल मिलाकर उसे मार्दव बनाता है तथा माटी को रौंद-रौंदकर इस योग्य बना देता है कि घट का निर्माण सम्भव हो सके। घट का निर्माण कर वह उस पर सिंह और श्वान आदि की चित्रकारी करता है। घट को पकाने की योजना बनती है। अवा तैयार होता है। किन्तु वर्षा होने लगती है। वर्षा के प्रतिघात से येन-केन-प्रकारेण घट को बचा लेता है और मंगल घट तैयार हो जाता है। अवा में तपाने की प्रक्रिया के बीच बबूल की लकड़ी अपनी मनोव्यथा कहती है। पके कुम्भ को कुम्भकार श्रद्धालु नगर सेठ के सेवक को सौंप देता है ताकि इसमें भरे जल से सेठ आहार के लिए पधारे गुरु का पाद-प्रक्षालन कर सके तथा उनकी तृषा तृप्त हो। मिट्टी के कुम्भ का सम्मान देखकर स्वर्णकलश को चिन्ता होती है। कथानायक ने उसकी उपेक्षा करके मिट्टी के घट को आदर क्यों दिया है ? इस प्रतिशोध भाव से उद्दीप्त और उद्विग्न स्वर्णकलश एक आतंकवादी दल का गठन करता है जो सक्रिय होकर सर्वत्र त्राहि-त्राहि मचा देता है। सेठ किसी प्रकार परिवार की रक्षा प्राकृतिक शक्तियों तथा मनुष्येतर प्राणियों की सहायता से करता है। पुनः सेठ आतंकवादियों को क्षमा कर देता है। सेठ के क्षमाभाव से आतंकवादियों का हृदय परिवर्तन हो जाता है।

प्राज्ञपुरुष आचार्यजी के अनुसार 'मूकमाटी' में शुद्ध चेतना की उपासना है, जिसका उद्देश्य सुसुप्त उस चैतन्य शक्ति को जागृत करना है : "जिसने वर्ण-जाति-कुल आदि व्यवस्था-विधान को नकारा नहीं है परन्तु जन्म के बाद आचरण के अनुरूप, उनमें उच्च-नीचता रूप परिवर्तन को स्वीकारा है। ...जिसने शुद्ध-सात्त्विक भावों से सम्बन्धित जीवन को धर्म कहा है; जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है" (मानस तरंग, पृ. XXIV)। आचार्यजी की उल्लिखित प्रतिश्रुति के परिप्रेक्ष्य में 'मूकमाटी' के आलोचन-विवेचन का प्रयास किया जा रहा है।

पुण्य और पाप ये धर्म-अधर्म के आधार और उपादान हैं। मन, वचन और शरीर की निर्मलता, स्वच्छ कार्यों के निष्पादन, लोक मंगल की कामना आदि से पुण्य का अर्जन होता है और क्रोध, लोभ, माया एवं मान आदि पाप की कारणता हैं। स्वामीजी ने इसे सुस्पष्ट करते हुए लिखा है :

"यह बात निराली है, कि/मौलिक मुक्ताओं का निधान सागर भी है
कारण कि/मुक्ता का उपादान जल है,
यानी–जल ही मुक्ता का रूप धारण करता है/तथापि
विचार करें तो/विदित होता है कि/इस कार्य में धरती का ही प्रमुख हाथ है।

जल को मुक्ता के रूप में ढालने में/शुक्तिका—सीप कारण है
और/सीप स्वयं धरती का अंश है।/स्वयं धरती ने सीप को प्रशिक्षित कर
सागर में प्रेषित किया है।/जल को जड़त्व से मुक्त कर/मुक्ता-फल बनाना,
पतन के गर्त से निकाल कर/उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।/यही दया-धर्म है
यही जिया कर्म है।" (पृ. १९२-१९३)

दूसरे पदार्थों से प्रभावित होकर उसे प्राप्त करने की इच्छा और उससे सदा संसिक्त रहने की अभिलाषा ही मोह है और सबको छोड़कर अपने आप में भावित होना ही मोक्ष है :

"अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है/और/सब को छोड़कर
अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है।" (पृ. १०९-११०)

एकान्तवाद, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद जैसे जैन मत के सिद्धान्तों का निर्वचन करते हुए आचार्यजी ने एक नई शैली का सूत्रपात किया है :

"अब दर्शक को दर्शन होता है—/कुम्भ के मुख मण्डल पर
'ही' और 'भी' इन दो अक्षरों का।/ये दोनों बीजाक्षर हैं,
अपने-अपने दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं।
'ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।
हम ही सब कुछ हैं/यूँ कहता है 'ही' सदा,/तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो!
और,/'भी' का कहना है कि/हम भी हैं/तुम भी हो/सब कुछ!
'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को/'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है
'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है।" (पृ. १७२-१७३)

गूढ़ दार्शनिक विषय को इतनी सरल एवं सहज शैली में अभिव्यक्त कर आचार्यजी ने अपनी भाषा-विज्ञता का अनुपम उदाहरण उपन्यस्त किया है :

"पतन के गर्त से निकाल कर/उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।/यही दया-धर्म है/यही जिया कर्म है।" (पृ.१९३)

जीवन के लिए साधना अनिवार्य है। साधना के साँचे में अपने को ढालकर ही आस्था के विषय को आत्मसात् किया जा सकता है :

"किन्तु बेटा!/इतना ही पर्याप्त नहीं है।
आस्था के विषय को/आत्मसात् करना हो
उसे अनुभूत करना हो/तो/साधना के साँचे में

स्वयं को ढालना होगा सहर्ष !" (पृ. १०)

जैन धर्म ईश्वर (भगवान्) की सत्ता स्वीकार करता है किन्तु उसे सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकार नहीं करता। उसकी मान्यता है कि प्राकृतिक वस्तुओं के पारस्परिक मेल से सृष्टि का क्रम चलता है और उसका उद्देश्य लोककल्याण है :

"नीर की जाति न्यारी है/क्षीर की जाति न्यारी,/दोनों के
परस-रस-रंग भी/परस्पर निरे-निरे हैं/और/यह सर्व-विदित है,
फिर भी/यथा-विधि, यथा-निधि/क्षीर में नीर मिलाते ही
नीर क्षीर बन जाता है।" (पृ. ४८)

जैन दर्शन में संयम, अहिंसा, सदाचरण आदि का विशेष महत्त्व है। आचार्यजी ने 'मूकमाटी' में इन प्रवृत्तियों के स्वीकरण पर विशेष बल दिया है :

"मेरे स्वामी संयमी हैं/हिंसा से भयभीत,
और/अहिंसा ही जीवन है उनका।/उनका कहना है
कि/संयम के बिना आदमी नहीं/यानी/आदमी वही है
जो यथा-योग्य/सही आ···दमी है।" (पृ. ६४)

जैन धर्म के अनुसार पुरुष का प्रकृति में रमना ही मोक्ष है। मोक्ष का यह सिद्धान्त 'मूकमाटी' में प्रदर्शित है :

"पुरुष प्रकृति से/यदि दूर होगा/निश्चित ही वह/विकृति का पूर होगा
पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।/और
अन्यत्र रमना ही/भ्रमना है/मोह है, संसार है···।" (पृ. ९३)

धार्मिक वृत्तियों के साथ 'मूकमाटी' में सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक, शैक्षणिक आदि सदुपदेश भी भरे पड़े हैं।

धर्म और नीति सामाजिक मर्यादा—व्यवस्थापन के आधार-स्तम्भ हैं। नीति धर्म का अंग है। सांसारिक व्यवस्था के संचालन में इसीलिए इन दोनों की महत्ता स्वीकार की गई है। 'मूकमाटी' में आचार्यजी ने अनेक स्थलों पर इन दोनों के विविध पक्षों का सकारात्मक स्वरूप अभिदर्शित किया है।

आदर्श और व्यवहार के कार्यात्मक स्वरूप का नाम ही नीति है। ऐसे कतिपय नीतिवचन प्रस्तुत हैं :

- *"पापी से नहीं/पाप से/पंकज से नहीं,/पंक से/घृणा करो।*
  अयि आर्य !/नर से/नारायण बनो/समयोचित कर कार्य।" (पृ. ५०-५१)
- *"प्रत्येक व्यवधान का/सावधान होकर/सामना करना*
  नूतन अवधान को पाना है,/या यों कहें कि
  अन्तिम समाधान को पाना है।" (पृ. ७४)

उदारता और सहिष्णुता नीति का ही अवयव है। नीति-व्यापार में इन दोनों का वर्चस्व सुस्थापित है। ऐसी

उदारता और सहिष्णुता के दर्शन भी 'मूकमाटी' में होते हैं :

उदारता :

"पूरी तरह जल से परिचित होने पर भी/आत्म-कर्तव्य से
चलित नहीं हुई धरती यह।/कृतघ्न के प्रति विघ्न उपस्थित/करना तो दूर,
विघ्न का विचार तक नहीं किया मन में।/निर्विघ्न जीवन जीने हेतु
कितनी उदारता है धरती की यह!/उद्धार की ही बात सोचती रहती
सदा - सर्वदा सबकी।" (पृ. १९४-१९५)

सहिष्णुता :

"अपने साथ दुर्व्यवहार होने पर भी/प्रतिकार नहीं करने का
संकल्प लिया है धरती ने,/इसीलिए तो धरती/सर्व-सहा कहलाती है
सर्व-स्वाहा नहीं···/और/सर्व-सहा होना ही
सर्वस्व को पाना है जीवन में/सन्तों का पथ यही गाता है।" (पृ. १९०)

अपने मत-स्थापना के क्रम में आचार्यजी ने सदुक्तियों के रूप में अनेक ऐसी बातें कहीं हैं जो मानव-जीवन के सम्यक् संधारण और संचालन के लिए अपरिहार्य हैं। बानगी स्वरूप कुछेक स्थल 'मूकमाटी' से उद्धृत हैं :

- *"सदय बनो!/अदय पर दया करो/अभय बनो!*
  सभय पर किया करो अभय की/अमृत-मय वृष्टि
  सदा सदा सदाशय दृष्टि/रे जिया, समष्टि जिया करो!" (पृ. १४९)
- *"उच्च उच्च ही रहता/नीच नीच ही रहता/ऐसी मेरी धारणा नहीं है,*
  नीच को ऊपर उठाया जा सकता है,/उचितानुचित सम्पर्क से
  सब में परिवर्तन सम्भव है।" (पृ. ३५७)

समाज व्यक्ति से बनता है। समाज में योगी-भोगी, सन्त-तपस्वी, स्त्री-पुरुष सभी तरह के लोग हैं। इनके व्यवहार एवं कर्त्तव्य को निर्दिष्ट करते हुए आचार्यजी ने इनके वर्तमान स्वरूप एवं आदर्श रूप का चित्रांकन किया है।

पुरुष और स्त्री पुरुष-प्रकृति के प्रतिरूप हैं। सृष्टि के विकास के लिए इन दोनों में सौहार्द सम्बन्ध और प्रेम सम्बन्ध की स्थापना आवश्यक है। स्त्री की भूमिका को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। 'नारी' शब्द का विश्लेषण करते हुए आचार्यजी ने लिखा है :

"स्त्री-जाति की कई विशेषताएँ हैं/जो आदर्श रूप हैं पुरुष के सम्मुख।....
प्रायः पुरुषों से बाध्य हो कर ही/कुपथ पर चलना पड़ता है स्त्रियों को
परन्तु,/कुपथ-सुपथ की परख करने में/प्रतिष्ठा पाई है स्त्री-समाज ने।
इनकी आँखें हैं करुणा की कारिका/शत्रुता छू नहीं सकती इन्हें
मिलन-सारी मित्रता/मुफ्त मिलती रहती इनसे।/यही कारण है कि
इनका सार्थक नाम है 'नारी'/यानी—/'न अरि' नारी···
अथवा/ये आरी नहीं हैं/सो···नारी···।" (पृ. २०१-२०२)

नारी के विभिन्न नामों की व्याख्या भी अभिनव ढंग से की गई है :

महिला :

"जो/मह यानी मंगलमय माहौल,

महोत्सव जीवन में लाती है/'महिला' कहलाती वह।
...और पुरुष को रास्ता बताती है/सही-सही गन्तव्य का—
'महिला' कहलाती वह!" (पृ. २०२)

अबला : "जो अब यानी/'अबगम'—ज्ञानज्योति लाती है,/तिमिर—तामसता मिटाकर
जीवन को जागृत करती है/'अबला' कहलाती है वह!" (पृ. २०३)

कुमारी : " 'कु' यानी पृथिवी/'मा' यानी लक्ष्मी/और/'री' यानी देनेवाली···
इससे यह भाव निकलता है कि/यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना
तब तक रहेगी/जब तक यहाँ 'कुमारी' रहेगी।" (पृ. २०४)

स्त्री : " 'स्' यानी सम-शील संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं
धर्म, अर्थ, काम—पुरुषार्थों में/पुरुष को कुशल-संयत बनाती है
सो···स्त्री कहलाती है।" (पृ. २०५)

सुता : " 'सु' यानी सुहावनी अच्छाइयाँ/और/'ता' प्रत्यय वह
भाव-धर्म, सार के अर्थ में होता है/यानी,
सुख-सुविधाओं का स्रोत···सो—/'सुता' कहलाती है।" (पृ. २०५)

दुहिता : "दो हित जिसमें निहित हों/वह 'दुहिता' कहलाती है
अपना हित स्वयं ही कर लेती है,/पतित से पतित पति का जीवन भी
हित सहित होता है, जिससे/वह दुहिता कहलाती है।" (पृ. २०५)

मातृ : "हमें समझना है/'मातृ' शब्द का महत्त्व भी।
प्रमाण का अर्थ होता है ज्ञान/प्रमेय यानी ज्ञेय/और
प्रमातृ को ज्ञाता कहते हैं सन्त।/जानने की शक्ति वह/मातृ-तत्त्व के सिवा
अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होती।/यही कारण है, कि यहाँ
कोई पिता-पितामह, पुरुष नहीं है/जो सब की आधार-शिला हो,
सब की जननी/मात्र मातृ-तत्त्व है।" (पृ. २०६)

सज्जन-दुर्जन की विशेषताओं का समुल्लेख करते हुए आज के मानव का सजीव चित्र 'मूकमाटी' में प्रस्तुत है :

- "एक-दूसरे के सुख-दुःख में/परस्पर भाग लेना/सज्जनता की पहचान है,
और/औरों के सुख को देख, जलना/औरों के दुःख को देख, खिलना
दुर्जनता का सही लक्षण है।" (पृ. १६८)
- "जो परस्पर एक-दूसरे के/खून के प्यासे होते हैं
जिनका दर्शन सुलभ है/आज इस धरती पर!" (पृ. १६९)

अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) का पक्ष-पोषण करते हुए कहा गया है कि स्याद्वाद के सिद्धान्त (भी) से ही लोक-तन्त्र की रक्षा सम्भव है, एकान्तवाद (ही) के समर्थन से नहीं :

"लोक में लोकतन्त्र का नीड़/तब तक सुरक्षित रहेगा
जब तक 'भी' श्वास लेता रहेगा।/'भी' से स्वच्छन्दता-मदान्धता मिटती है
स्वतन्त्रता के स्वप्न साकार होते हैं,/सद्विचार सदाचार के बीज
'भी' में हैं, 'ही' में नहीं।" (पृ. १७३)

धर्म का उद्देश्य लौकिक व्यवस्था को संयमित और सुदृढ़ करना होता है और आदर्श धर्म भी लौकिक व्यवस्था या मानदण्ड का विसंवादी नहीं होता। 'मूकमाटी' से ऐसी कुछ बानगियाँ उद्धृत हैं :

"शिष्टों पर अनुग्रह करना/सहज-प्राप्त शक्ति का
सदुपयोग करना है, धर्म है।/और,/दुष्टों का निग्रह नहीं करना
शक्ति का दुरुपयोग करना है, अधर्म है।" (पृ. २७६-२७७)

आचार-धर्म-दर्शन को संकेन्द्रित और समर्पित इस महाकाव्य की भाषा-शैली की मनोहरता, विदग्धता, सहजता और स्वाभाविकता विचक्षण है। दर्शन और धर्म के गूढ़ार्थान्वित सिद्धान्त कोमलकान्त पदावली में निबद्ध हैं। वर्चस्व-स्थापन के लिए भाव और भाषा का पारस्परिक संघर्ष अन्ततः अनिर्णायक ही रह जाता है। दोनों को अपनी विजय पर गर्व है।

गूढ़ सिद्धान्तों को सरल शब्दों में अभिव्यक्त करना काव्य की सर्वोच्च सफलता मानी जाती है। इस प्रयास में आचार्यजी अतुलनीय हैं। दो-एक उदाहरण देखें :

"पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।/और
अन्यत्र रमना ही, भ्रमना है/मोह है, संसार है···।" (पृ. ९३)

मोह और मोक्ष जैसे तत्त्व की व्याख्या का प्रसंग देखें :

"अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है/और/सब को छोड़कर
अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है।" (पृ. १०९-११०)

भाव, भाषा और अभिव्यक्ति कला (शैली) का गुणनफल ही कवि कर्म की सफलता का निकष है। इस दृष्टि से आचार्यजी अप्रतिम सिद्ध होते हैं। भाव को सहज शैली और अति बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत कर इन्होंने काव्यशैली को एक अभिनव दिशा प्रदान की है। शब्दों के चयन में इनका भावुक हृदय सहजोन्मुख और लोकोन्मुख है। तत्सम शब्दों को भी लोक की झोली में डालकर इस प्रकार हिलाते हैं कि सबकी हृत्तन्त्री निनादित हो उठती है। एक उदाहरण अलम् होगा :

"रसनेन्द्रिय के वशीभूत हुआ व्यक्ति/कभी भी किसी भी वस्तु के
सही स्वाद से परिचित नहीं हो सकता,/भात में दूध मिलाने पर
निरा-निरा दूध और भात का नहीं,/मिश्रित स्वाद ही आता है,
फिर, मिश्री मिलाने पर···तो—/तीनों का सही स्वाद लुट जाता है!" (पृ.२८१)

वर्ण-विपर्यय द्वारा शब्दों में अर्थ-चमत्कार उत्पन्न करने में आचार्यजी को सम्भवतः अद्वितीयता प्राप्त है। ऐसे भूयशः स्थल समुद्धरणीय हैं, किन्तु कुछ उदाहरणों से ही तोष-धारण करने का विनम्र प्रयास है :

"मुख से बाहर निकली है रसना/थोड़ी-सी उलटी-पलटी,
कुछ कह रही-सी लगती है—/भौतिक जीवन में रस ना !/और
र···स···ना, ना···स···र/यानी वसन्त के पास सर नहीं था
बुद्धि नहीं थी हिताहित परखने की,/यही कारण है कि
वसन्त-सम जीवन पर/सन्तों का नाऽसर पड़ता है।" (पृ. १८०-१८१)

शब्दों के विभिन्न वर्णों की व्याख्या द्वारा शब्द के मर्मार्थ की पहचान कराने में भी आचार्यजी का जोड़ नहीं है :

"सृ धातु गति के अर्थ में आती है,/सं यानी समीचीन/सार यानी सरकना···
जो सम्यक् सरकता है/वह संसार कहलाता है।" (पृ. १६१)

काव्य में बिम्ब द्वारा भावचित्र खड़ा करने की प्रक्रिया जटिल तो होती है किन्तु बिम्ब द्वारा पाठकों तक साशय पहुँचने में कवि को सहूलियत होती है। इसलिए प्रायः अधिकांश काव्यकृतियों में बिम्ब का आविर्भाव है। 'मूकमाटी' में भी आचार्यजी ने अति सार्थक बिम्बों का निर्माण कर भाव को सुस्पष्ट और बोधगम्य बनाने में महारथ हासिल किया है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब का चित्र देखें :

- *"माँ के विरह से पीड़ित/रह-रह कर/सिसकते शिशु की तरह*
  दीर्घ-श्वास लेता हुआ/घर की ओर जा रहा सेठ···।" (पृ. ३५०-३५१)
- *"प्राची की गोद से उछला/फिर/अस्ताचल की ओर ढला*
  प्रकाश-पुंज प्रभाकर-सम/आगामी अन्धकार से भयभीत
  घर की ओर जा रहा सेठ···।" (पृ. ३५१)

सूक्ति, मुहावरा, कहावत, लोकोक्ति, लौकिक न्याय आदि ऐसे शैली-घटक हैं जो भावों को उछालकर लोक में विकीर्ण कर देते हैं। लोक उन्हें अपनी ही वस्तु समझ कर लोक लेता है। इसलिए कवियों की भावाभिव्यक्ति के ये अमोघ अस्त्र बन गए हैं। आचार्यजी ने इन अमोघास्त्रों द्वारा भाव-प्रकाशन के लक्ष्य का सुभेदन जिस कौशल से किया है उसकी कुछ बानगियाँ द्रष्टव्य हैं :

- *"कथनी और करनी में बहुत अन्तर है,/जो कहता है वह करता नहीं*
  और/जो करता है वह कहता नहीं।" (पृ. २२५-२२६)
- *"अपनी दाल नहीं गलती, लख कर/अपनी चाल नहीं चलती, परख कर*
  हास्य ने अपनी करवट बदल ली।" (पृ. १३४)
- *"और सुनो !/यह सूक्ति सुनी नहीं क्या !*
  " 'आमद कम खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का
  कूबत कम गुस्सा ज्यादा/लक्षण है पिट जाने का'।" (पृ. १३५)

अलंकार काव्य का भूषण है। काव्यांग को समलंकृत कर पाठकों के लिए सहज आकर्षणीय बनाने का कार्य इसके द्वारा सुसम्पादित होता है। अलंकारों का सायास प्रयोग भाव और भाषा को बोझिल बनाता है किन्तु उसका स्वाभाविक प्रवहमान् स्वरूप भाषा का सौन्दर्य प्रवर्द्धित कर देता है। 'मूकमाटी' में अलंकारों का निरायास आगमन ऐसा प्रतीत होता है मानों भाव के सामने अलंकार नतमस्तक हो विनम्रता और शालीनता द्वारा अपनी गुरु-गम्भीरता का गुण प्रकट करते हैं। कुछ स्थल ध्यातव्य हैं :

- *"कृष्ण-पक्ष के चन्द्रमा की-सी/दशा है सेठ की*
  शान्त-रस से विरहित कविता-सम/पंछी की चहक से वंचित प्रभात-सम
  शीतल चन्द्रिका से रहित रात-सम/और/बिन्दी से विकल
  अबला के भाल-सम।" (पृ. ३५१-३५२)
- *"अत्यल्प तेल रह जाने से/टिमटिमाते दीपक-सम*
  अपने घट में प्राणों को सँजोये/मन्थर गति से चल रहा है सेठ···।" (पृ. ३५०)

समासतः यही कहा जा सकता है कि 'मूकमाटी' पिछले दशक की एक सर्वाधिक सशक्त कृति है। यशस्वी महाकवि आचार्य विद्यासागरजी ने इस दीपदान द्वारा हिन्दी काव्य जगत् को केवल आलोकित ही नहीं, विस्तीर्ण भी किया है।

आचार्यजी के इस महार्घ अवदान के लिए हिन्दी जगत् उनका सर्वदा ऋणी रहेगा। भाव और कला दोनों दृष्टियों से पूर्णतः समृद्ध इस महाकाव्य और महाकाव्य के प्रणेता यशस्वी सन्त कवि के प्रति मेरी सश्रद्ध प्रणति निवेदित है। भर्तृहरि ने ऐसे ही मनीषियों को ध्यान में रखकर कहा है :

"क्षीयन्तेऽखिलभूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्।"

आचार्यजी और आचार्यजी की यह त्रिकालाबाधित अमर कृति सदा प्रातःस्मरणीय और कीर्तनीय होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।



पृष्ठ १४-१२

~~अबला भौंह का अंग होता है~~
~~माथे की ओर से~~
~~यह मार्मिक कथन है, माँ!~~

'मूकमाटी' : युग की महान् उपलब्धि

डॉ. योगेश्वरी शास्त्री

'मूकमाटी' नए युग का महाकाव्य है। अतएव नवीन दृष्टिकोण होना स्वाभाविक है। विद्यासागरजी जैसे जैन मुनि के लिए युगप्रवर्तक महाकाव्य लिखना और उसमें भी नई दृष्टि का निरूपण करना कुछ आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य तो तब होता जब उसमें नवीनता या नई दृष्टि न होती। 'मूकमाटी' महाकाव्य में कवि समग्र दृष्टि को लेकर चला है। यह काव्य सम्पूर्ण दृष्टि से प्राचीन और नवीन महाकाव्यों से भिन्न है। भिन्न ही नहीं, अपितु समग्र दृष्टि से नवीन है, अप्रतिम है और अनोखा है। भारतीय महाकाव्य 'वाल्मीकि रामायण' और 'महाभारत' तथा पाश्चात्य महाकाव्य 'ईलियड' और 'ओडिसी' की रचना से यह एकदम भिन्न एवं नवीन विकास बिन्दुओं को समेटता हुआ दृष्टिगत होता है। न ही इस काव्य में 'साकेत' जैसी कोई दृष्टि है, न ही 'कामायनी' जैसा छन्दों का बन्धन ही है, यह महाकाव्य तो अपने युग का अनूठा प्रतिदान है। युग के प्रमुख छन्द 'स्वच्छन्द छन्द' को इसने ग्रहण किया है, जो युग की पहचान है, युग की सापेक्षता है तथा स्वच्छन्द ध्येय, स्वच्छन्द लक्ष्य, चिन्तन-प्रसूत स्वच्छन्द विचारों का जनक है। हम इसे 'कामायनी' महाकाव्य के निकट एक ही अर्थ में कह सकते हैं– वह है दर्शन। 'कामायनी' में शैवागमों का आनन्दवादी सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए भी प्रसादजी ने उस सिद्धान्त को मानवीय भूमिका प्रदान की है, जो उनकी स्वयं की दृष्टि का परिचायक है। 'मूकमाटी' महाकाव्य के रचनाकार विद्यासागरजी 'स्व' और 'पर' की भूमिका से कहीं बहुत ऊँचे उठ चुके हैं, जो जैन धर्म के अनुयायी होते हुए भी अपने जीवन-सिद्धान्तों से, अपने विचारों से दूसरों को अनुयायी बना चुके हैं, ऐसे 'जिन'–इन्द्रियजित् पुरुष इस 'मूकमाटी' के रचयिता हैं। अतः इस महाकाव्य में हमें जैन धर्म के सिद्धान्तों का दर्शन तो यत्र-तत्र होता ही है, मुनिवर के विचारों का, सिद्धान्तों का स्वतन्त्र प्रवाह भी दिखाई पड़ता है।

आज इस आपाधापी के युग में महाकाव्यों का सृजन एक कल्पना मात्र बनकर रह गई है। न तो किसी के पास समय ही है और न चिन्तन प्रसूत दिमाग़ ही। मनुष्य तो स्वयं अपने ही जाल-जंजाल की भूल-भूलैयाँ में इतना उलझ चुका है कि वह छोटी-छोटी कविताएँ लिख सकता है, क्षणिकाएँ लिख सकता है या फिर एकांकी या कहानी लिखकर ही अपनी अभिव्यक्ति की इतिश्री समझ लेता है। महाकाव्य लिखने के लिए महान् व्यक्तित्व के साथ-साथ चिन्तन आवश्यक है। चिन्तन प्रसूत ज्ञानी ही 'मूकमाटी' की अभिव्यक्ति में समर्थ होता है।

आज के युग के मूल्य बदल चुके हैं। न कोई सीमाएँ हैं, न कोई बन्धन है और न कोई नियम है। अतः हम 'मूकमाटी' को महाकाव्य के पुराने बन्धनों में नहीं कसना चाहेंगे। कृति का मूल्यांकन युग सापेक्ष होना ही आवश्यक है। अन्यथा न हम कृतिकार के साथ न्याय कर सकेंगे और न कृति के साथ ही। किसी भी कृति को तौलने के लिए, उसको कसौटी पर कसने के लिए कृतिकार का समग्र जीवन दर्शन जानना आवश्यक होता है। उस दृष्टि से जैन मुनि विद्यासागरजी का जीवन हम सभी के लिए खुली किताब है। वे जैन दर्शन की धुरी हैं, अतः कृति पर जैन दर्शन का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है।

जैन दर्शन के आदिनाथ से लेकर महावीर तक प्रायः एक जैसे सिद्धान्त रहे हैं। अपरिग्रह, अहिंसा, अनेकान्तवाद –ये तीन मूलमन्त्र हैं जैन धर्म के। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति–जिन्हें सामान्यतः जड़ माना जाता है, ऐसे जड़ में जीव तत्त्व का होना, शरीर को साधनागत कष्ट देना, कर्तृत्व के अहंकार और अपनत्व के ममकार को छोड़कर जो 'स्व' और 'पर' को समझ सके, वही महावीर के अनुसार भगवान् है। भगवान् धर्म का संस्थापक नहीं, अपितु धर्म का आश्रय लेकर आत्मा भगवान् बनता है। भगवान् जन्म नहीं लेता, भगवान् तो आत्मा को जीतने से बनता है। जो पूर्ण वीतरागी है वही भगवान् है तथा वही सर्वज्ञ है। धर्म स्वयं परिमार्जित है। वह विकारी आत्मा को परिमार्जित करता है।

विकार छोड़ने पर आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। अतः धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है। इसीलिए आत्मार्थी धर्म को जीवन में उतारता है। जैन दर्शन आत्मा की स्वतन्त्रता में विश्वास करता है। सभी आत्माएँ एक समान हैं, न कोई उच्च है और न कोई नीच है। प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। प्रत्येक आत्मा अपनी गलती पर दुःखी है। प्रत्येक को गलती सुधारने से सुख मिलता है। 'स्व' को नहीं पहचानना सबसे बड़ी गलती है। स्वयं को समझना स्वयं की भूल को सुधारना ही है। स्वयं को जानो, स्वयं को पहचानो, स्वयं में समा जाओ तो भगवान् बन जाओगे। भगवान् जगत् का कर्ता नहीं, वह तो मात्र द्रष्टा है, ज्ञाता है, जो जगत् को जानकर अलिप्त रहे वही भगवान् है। हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह तथा कुशील– ये पाप भाव हैं। पुण्य और पाप दोनों शरीर को बाँधने वाली बेड़ियाँ हैं। वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है। प्रत्येक वस्तु अनेक गुणों से युक्त होती है। इस शैली में 'भी' का प्रयोग है, 'ही' का नहीं। 'भी' में समन्वय की सुगन्ध और 'ही' में हठ की दुर्गन्ध है। दोनों की यथायोग्य आवश्यकता है। 'भी' समन्वय का सूचक है, 'ही' दृढ़ता का। 'भी' बताता है कि वस्तु मात्र उतनी 'ही' नहीं, और 'भी' है। किन्तु 'ही' बताता है कि अन्य कोण से देखने पर वस्तु कुछ और है। किन्तु जिस कोण से बताई गई है वह ठीक वैसी 'ही' है, शंका की गुंजाइश नहीं। अतः 'ही' और 'भी' दोनों कथंचित् पूरक हैं, विरोधी भी। इस प्रकार कृति पर जैन सिद्धान्तों का प्रभाव पूर्णतया विद्यमान है।

'मूकमाटी' एक प्रतीकात्मक महाकाव्य है। इसमें कवि ने विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से अपने विचार प्रगट किए हैं जो सहज और स्वाभाविक गति से छोटी-छोटी कहानियों के माध्यम से पाठक को प्रभावित करते हुए आत्मसात् हुए हैं। दर्शन की बात कहते हुए भी कवि की भाषा कहीं भी बोझिल नहीं हुई है।

सम्पूर्ण कृति में कवि प्रतीकों के माध्यम से अपनी बात कहना चाहता है– माटी मूक है, वह वर्ण संकर की प्रतीक है। उसमें दोष व्याप्त हैं। कंकड़ दोषों के प्रतीक हैं, अतः माटी को दोषों से मुक्त करना ही वर्ण-लाभ है। इसलिए कवि कंकड़ हटाकर घड़ा निर्माण करता है माटी से। इस तरह से मिट्टी को उठाकर धरती की छाती पर 'कुम्भ' के रूप में बिठा देता है। दूसरे खण्ड में मिट्टी को खोदने की प्रक्रिया के माध्यम से साहित्य बोध के अनेक सोपान बताए हैं। किन-किन बाधाओं को पार करने पर शब्द ज्ञान होता है। शब्द का अर्थ समझना ही 'बोध' है और बोध को ही अनुभूति के माध्यम से अभिव्यक्त कर देना 'शोध' है। तृतीय खण्ड में जैन धर्म के अनेक सिद्धान्तों का बड़े सहज ढंग से कहानियों के माध्यम से प्रतिपादन करते हुए मन, वचन, काया की निर्मलता पर प्रकाश डाला है तथा लोक-कल्याण की कामना को पुण्य उपार्जन का साधन माना है। क्रोध, मान, अपमान, माया, लोभ, परिग्रह आदि की भावना ही पाप है। इस खण्ड में अनेक प्रतीकों के माध्यम से चित्र स्पष्ट किया है। पाप-पुण्य की विभाजक रेखा और भी स्पष्ट की है। चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में अनेक कथा प्रसंगों, प्रतीकों, रूपकों द्वारा सन्त जीवन, अध्यात्म और दर्शन का भेद, आतंकवाद, समाजवाद, साहित्य आदि के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं जो जैन दर्शन से प्रभावित हैं।

चारों खण्डों की संक्षिप्त कथा इस प्रकार है– कुम्भ बनाने के लिए शिल्पी धरती से मिट्टी खोदता है उसे छानकर कंकर अलग करता है तथा पानी मिलाकर मिट्टी को मृदु बनाता है एवं कुम्भों का निर्माण करता है। कच्चे कुम्भों को पकाने के लिए, उसे उपयोगी बनाने के लिए वह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है। अवा तैयार कर कुम्भ को पकाता है और उसे समाज के उपयोग योग्य बनाता है। उसका शीतल जल परोपकार में सहायक होता है। कुम्भ का सम्पूर्ण जीवन 'पर' के लिए ही बनाता है शिल्पी। यह शिल्पी कौन है ? स्वयं ईश्वर है या मनुष्य है ? इस प्रक्रिया को हम किस दृष्टि से देखेंगे तथा यह कथा हमारे जीवन को कहाँ ले जाएगी, इत्यादि प्रश्नों का जनक है यह महाकाव्य।

कुम्भ निर्माण की कथा लौकिक प्रक्रिया पर आधारित है, किन्तु दर्शन गहन है। मनुष्य स्वयं कुम्भ का प्रतीक है। वह इस संसार में कच्चे घड़े के समान ही आता है अर्थात् संस्कार रहित जन्म होता है उसका। उसे संस्कार युक्त होने के लिए संसार रूपी अवे में पकना होता है। यही उसकी अग्नि परीक्षा है। अग्नि में तपकर तथा अनेक बाधाओं को सहनकर जिस प्रकार कुम्भ दूसरे के लिए उपयोगी, उपकारी होता है उसी प्रकार मनुष्य भी सांसारिक बाधाओं को सहन

करते हुए जीवन को साधना की सीढ़ी पर चलाता हुआ साधक बनकर अग्नि परीक्षा में सफल होकर दूसरे के योग्य बनने पर ही सन्त कहलाता है अन्यथा वह इस क्षणभंगुर संसार में वर्ण संकर बनकर ही नष्ट हो जाता है। कच्चा कुम्भ मानव की प्रारम्भिक अवस्था का प्रतीक है और पक्का कुम्भ मानव के उच्चतम ज्ञान का प्रतीक है।

'मूकमाटी' महाकाव्य हमें केवल जीवन के तथ्यों से ही अवगत नहीं कराता अपितु जीवन के अनेक सिद्धान्तों– विशेषकर जैन दर्शन के सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डालता है, जैसे– *"आस्था के बिना रास्ता नहीं/मूल के बिना चूल नहीं"(पृ. १०); "अति के बिना/इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं/और/इति के बिना/अथ का दर्शन असम्भव !/...पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है/और/पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है" (पृ. ३३),* दया अन्योन्याश्रित सिद्धान्त है। *"लघुता का त्यजन ही/गुरुता का यजन ही/शुभ का सृजन है" (पृ. ५१)।* अहं का भाव ही मनुष्य में अलगाव पैदा करता है। संयम और अहिंसा जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं, जिन पर चलकर मनुष्य समाज में प्रगति करता है। ये जैन धर्म के सिद्धान्त भी हैं। *"मिटती-काया में/मिलती-माया में/म्लान-मुखी और मुदित-मुखी/नहीं होना ही/सही सल्लेखना है" (पृ. ८७); "आमद कम खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का/कूबत कम गुस्सा ज्यादा/लक्षण है पिट जाने का" (पृ. १३५)।* जैन दर्शन के सिद्धान्तों को जिस तरह स्वच्छन्द-छन्द में पिरोया है यह विद्यासागर जी की देन है- *"दया विसुद्धो धम्मो" (पृ. ८८); "पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है"(पृ. ९३), "अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही/मोह का परिणाम है/और/सब को छोड़कर/अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है"(पृ. १०९-११०); "एक-दूसरे के सुख-दुःख में/परस्पर भाग लेना/सज्जनता की पहचान है"(पृ. १६८), "औरों के सुख को देख, जलना/औरों के दुःख को देख, खिलना/दुर्जनता का सही लक्षण है" (पृ. १६८); "प्रमाद पथिक का परम शत्रु है" (पृ. १७२); " 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक" (पृ. १७२)।* 'ही' तथा 'भी' के सम्बन्ध में विचारकों में मतभेद हैं। कुछ विचारक दोनों को ही एक-दूसरे का पूरक मानते हैं तो कुछ विरोधी। आचार्य श्री विद्यासागरजी ने 'ही' तथा 'भी' के बीच में स्पष्ट भेद-रेखा खींची है। उनके अनुसार 'ही' पश्चिमी-सभ्यता का प्रतीक है तो 'भी' भारतीय संस्कृति का। राम 'भी' के प्रतीक हैं तो रावण 'ही' का। 'भी' लोकतन्त्र की रीढ़ है। *''पर-सम्पदा की ओर दृष्टि जाना/अज्ञान को बताता है,/और/पर-सम्पदा हरण कर संग्रह करना/मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है" (पृ. १८९)।* जैन धर्म में परिग्रह को पाप माना है, क्योंकि -*''अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं" (पृ. १९२); "कुल-परम्परा संस्कृति का सूत्रधार/स्त्री को नहीं बनाना चाहिए।/और/गोपनीय कार्य के विषय में/विचार-विमर्श-भूमिका/नहीं बताना चाहिए" (पृ. २२४); "निर्दोषों में दोष लगाते हैं/सन्तोषों में रोष जगाते हैं/वन्द्यों की भी निन्दा करते हैं/शुभ कर्मों को अन्धे करते हैं" (पृ. २२९)*– ऐसे कर्म होते हैं दुर्जनों के। *"काँटे से ही काँटा निकाला जाता है" (पृ. २५६); "जब हवा काम नहीं करती/तब दवा काम करती है,/और/जब दवा काम नहीं करती/तब दुआ काम करती है" (पृ. २४१); "नियम-संयम के सम्मुख/असंयम ही नहीं, यम भी/अपने घुटने टेक देता है" (पृ. २६९); "उठने की शक्ति नहीं होना ही दोष है" (पृ. २७३)।* प्यास का अनुभव होने पर ही प्यास बुझाई जा सकती है, अन्यथा नहीं। *"काया में रहने मात्र से/काया की अनुभूति नहीं,/माया में रहने मात्र से/माया की प्रसूति नहीं,/उनके प्रति/लगाव-चाव भी अनिवार्य है" (पृ. २९८)।* आत्म साक्षात्कार होना ही दुःख का समाप्त होना है। धन का मूल्य नहीं, क्योंकि वह पराश्रित है। मूलभूत पदार्थ ही मूल्यवान् है। *"परीक्षक बनने से पूर्व/परीक्षा में पास होना अनिवार्य है" (पृ. ३०३); "जिसकी कर्त्तव्य-निष्ठा वह/काष्ठा को छूती मिलती है/उसकी सर्वमान्य प्रतिष्ठा तो''/काष्ठा को भी पार कर जाती है"(पृ. २५८)।* धनिक हों या निर्धन कोई भी हों, वे वस्तु का सही मूल्यांकन नहीं कर सकते, क्योंकि धनिक तो विषयान्ध मदाधीन होता है, अतः उसे दिखाई ही नहीं देता और धनहीन दीन-हीन होने के कारण उसे देख नहीं सकता। दोनों ही वस्तु का सही मूल्यांकन नहीं कर सकते। *"पर से स्व की तुलना करना/पराभव का कारण है/दीनता का प्रतीक भी"(पृ. ३३९);*

"तन गौण, चेतन काम्य है" (पृ. ३१०); "पात्र की दीनता/निरभिमान दाता में/मान का आविर्माण कराती है" (पृ. ३२०); "श्रमण का शृंगार ही/समता-साम्य है" (पृ. ३३०); सन्त समता के धनी होते हैं तो दाता सज्जन ममता की खनी होता है। *"भोग ही तो रोग है" (पृ.३५३); "वृद्धावस्था में ढाका-मलमल भी/भार लगती है" (पृ. ३५३); "वैराग्य की दशा में/स्वागत-आभार भी/भार लगता है" (पृ. ३५३); "श्रम से प्रीति करो" (पृ. ३५५); "एक के प्रति राग करना ही/दूसरों के प्रति द्वेष सिद्ध करता है" (पृ. ३६३); "प्रकृति से विपरीत चलना/साधना की रीत नहीं है" (पृ. ३९१), "'भीति बिना प्रीति नहीं'.../और/रीति बिना गीत नहीं" (पृ. ३९१); "'स्व' को स्व के रूप में/'पर' को पर के रूप में/जानना ही सही ज्ञान है,/और/'स्व' में रमण करना/सही ज्ञान का 'फल'" (पृ. ३७५)।*

उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त विद्यासागरजी ने कुछ सिद्धान्तों का आधुनिकीकरण करते हुए उन्हें नई व्याख्याएँ प्रदान की हैं। आज का जीवन आस्थाहीन है, भौतिकवादी है। चूँकि जीवन में आस्था का महत्त्व है। अतः 'मूकमाटी' का रचयिता धरती के माध्यम से 'माटी' को आस्थावान् होने का पाठ पढ़ाता है। आस्था ही जीवन है। आस्था रही तो पद दलित माटी जीवन में नया रूप धारण कर सकती है। आस्था के साथ-साथ समर्पण भाव होना आवश्यक है। तभी आस्था जीवन को स्वर्णिम बना सकती है। माटी अचेतन होते हुए भी उसमें चेतना डालने का काम श्रमिक करते हैं अर्थात् अनास्थावान् में आस्था डाली जा सकती है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण सन्देश है मुनिवर का आज के युग के लिए।

"वसुधैव कुटुम्बकम्" (पृ. ८२) का दृष्टिकोण कि सारी वसुधा ही हमारा कुटुम्ब है, अब समाप्त हो गया है। अतः उसका आधुनिकीकरण रूप नया अर्थ प्रस्तुत किया है स्वामीजी ने– *"वसु यानी धन-द्रव्य/और/धा यानी धारण करना/आज/धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया जीवन का"। (पृ. ८२)।* इस नवीन व्याख्या के समान ही आज सम्पूर्ण समाज चल रहा है। यह दशा अत्यन्त शोचनीय है भविष्य की दृष्टि से।

सत् युग और कलियुग की भी नई व्याख्या की है विद्यासागरजी ने। सत् की खोज में लगी दृष्टि ही सत् युग है और असत् विषयों में आकण्ठ डूबी हुई, सत् को असत् माननेवाली दृष्टि स्वयं कलियुग है। कलियुग की आँखों में हमेशा भ्रान्ति रहती है जबकि सत्युग की आँखों में शान्ति का मानस लहराता है। कलियुग व्यष्टि पोषक है, सत्युग समष्टि पोषक है। कलियुग कान्तिमुक्त शव है, सत्युग कान्तियुक्त शिव है। ज्ञान क्या है, इसके सम्बन्ध में स्वामीजी के विचार हैं कि ज्ञान एक पका हुआ फल है। अच्छा-बुरा अपना मन ही होता है। अतः मन पर ही लगाम लगाना आवश्यक होता है। स्त्री जाति के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए आपने कहा है कि वे पुरुष के सम्मुख आदर्श रूप होती हैं। परतन्त्र होकर भी पापिनी नहीं होतीं। पुरुष ही जब बाध्य करता है तभी वे कुपथगामिनी होती हैं। उन्होंने 'स्त्री' (पृ. २०५), 'महिला' (पृ. २०२), 'नारी' (पृ. २०२) और 'अबला' (पृ. २०३) आदि शब्दों की व्याख्या भी की है। आपने कुमारी, दुहिता, सुता–इन शब्दों का महत्त्व भी प्रतिपादित किया है। 'जब तक यहाँ 'कुमारी' रहेगी, धरा सम्पदा-सम्पन्ना रहेगी। कुमारियों को सन्तों ने प्राथमिक मंगल माना है'(पृ. २०४)। 'सुता' यानी सुख-सुविधाओं का स्रोत है और 'दुहिता' में दो हित निहित हैं-स्वयं का हित और पर का हित। यानी स्वयं के हित के साथ-साथ पतित से पतित पति का भी वह हित देखती है (पृ. २०५)।

दर्शन जैसे कठिन विषय को 'मूकमाटी' में बहुत ही सरल शब्दों में स्पष्ट किया है। दर्शन और अध्यात्म क्या है? दर्शन का स्रोत मस्तक है, हृदय से अध्यात्म का झरना झरता है। अध्यात्म को जानने के लिए अध्यात्म के सरोवर में गहरी डुबकी लगानी पड़ती है। साधक का बहिर्जगत् से सम्बन्ध टूट जाता है। जो साधक संसार के जाल को तोड़ डालते हैं, वे आत्मविज्ञ कहलाते हैं, स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं। *"अपने में लीन होना ही नियति है"(पृ. ३४९); "आत्मा को छोड़कर/सब पदार्थों को विस्मृत करना ही/सही पुरुषार्थ है" (पृ. ३४९)।* स्वस्तिक का चिह्न पवित्रता का सूचक होता है। विद्यासागरजी की व्याख्या के अनुसार स्वस्तिक की चार पाँखुड़ियों जीवन की चार गतियाँ हैं। उन पाँखुड़ियों पर

लगीं बिन्दियाँ जीवन को सुख से शून्य बताती हैं (पृ. ३०९)। जैन दर्शन में वीतरागी पुरुष का बहुत महत्त्व है। उसकी सभी विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। वीतरागी जिस घर में भोजन कर सकता/करता है, उसकी पूर्ण प्रक्रिया भी बताई है। सारी इन्द्रियाँ जड़ होती हैं और जड़ का उपादान जड़ ही होता है। जड़ में कोई चाह नहीं होती और न कोई राह होती है। वीतरागी पुरुष सन्त हो जाता है। उसके समागम से लाभ होता है एवं सही दिशा का प्रसाद मिलता है। सन्त हमेशा नीचे देखते हैं। इसी तरह वस्तु का असली स्वाद सन्त अर्थात् 'जिन' आत्मज्ञों ही समझता है। ऐसे सन्त और वीतरागी पुरुष की चाह मुक्ति की होती है। वह यही चाहता है कि कर्तव्य सबल हो, तामस नष्ट हो, समता का भाव जाग्रत हो। इसमें कुछ छुटपुट विचार भी व्यक्त किए हैं, जैसे साहित्य के सम्बन्ध में – *"जिस के अवलोकन से/सुख का समुदभव–सम्पादन हो/सही साहित्य वही है" (पृ. १११)*। संगीत वह है जो संगातीत हो, प्रीति वह है जो अंगातीत हो। सिंह और श्वान वृत्ति द्वारा विचारों का विश्लेषण किया गया है। सिंह विवेक से काम लेता है, श्वान पराधीनता का मूल्य नहीं समझता। श्वान संस्कृति अच्छी नहीं मानी जाती, क्योंकि वह अपनी जाति को देखकर ही गुर्राता है। जबकि सिंह अपनी जाति में मिलकर जीता है। भूखा होने पर श्वान अपने बच्चों को खा जाता है तथा विष्ठा से भी पेट भरता है। आज की संस्कृति श्वान संस्कृति के कहीं निकट है।

कवि ने स्थान-स्थान पर पर सन्देश दिए हैं जो आधुनिक सन्दर्भ में सभी के लिए उपयोगी हैं। आज के मानव को ईश्वर पर प्रगाढ़ विश्वास है, फिर भी वह ईश्वर को आत्मसात् नहीं कर सका है, अन्यथा ईश्वर उसके सिर तक ही सीमित नहीं रहता, आत्मा में प्रवेश कर जाता। आज पथ दिखानेवालों को स्वयं ही पथ दिख नहीं रहा, वे स्वयं पथ पर चलना नहीं चाहते। आज की राजनीति में उच्च उच्च ही रहता है और नीच नीच ही रहता है। कवि की ऐसी धारणा नहीं है। आज की आरक्षण प्रक्रिया गलत है। यदि नीचे को ऊँचा उठाना है तो उसमें सात्त्विक संस्कार डालने होंगे। समाजवाद का मात्र नारा लगाने से कोई समाजवादी नहीं बनेगा। हमें समता भाव रखना होगा एवं भेदभाव समाज से दूर करना होगा, अन्यथा यह निश्चित है कि मान को ठेस पहुँचने पर आतंकवाद का जन्म होगा ही। अतिशोषण या अतिपोषण भी इस आतंकवाद का जनक है। आज का सामाजिक दृष्टिकोण यह है कि पदवाले ही पदोपलब्धि के लिए पर को पद-दलित करते हैं। अतः आतंकवादी चाहते हैं कि उन्हें आश्वस्त किया जाए, विषमता समाप्त हो, दुःख का अन्त हो और उन्हें भी सुख मिले। अन्यथा जब तक आतंकवाद जीवित रहेगा यह धरती शान्ति का श्वास नहीं ले सकती। आज का युग उलटे विधानवाला है, तभी तो सत्य आत्मसमर्पण करता है वह भी असत्य के सामने। आतंकवादियों को समाज ही पैदा करता है। समाज में विषमता न होती तो आतंकवादी पैदा न होते। अतः विषमता को नष्ट करना होगा, भेद भाव को को भी खत्म करना होगा, तभी आतंकवाद समाप्त होगा।

महाकाव्य सम्पूर्ण जीवन पर आधारित होता है, अतः वह जीवन के ज्ञान का संचय होता है। उस दृष्टि से इस काव्य में रचनाकार ने अथाह ज्ञान उँड़ेला है। लेखक को आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा आदि का ज्ञान है। उसने बीमारी तथा उसके उपचार भी बताए हैं, जैसे–जठराग्नि मन्द पड़ने पर दही, मट्ठा, महेरी पीना चाहिए। उष्ण प्रकृति होने से पित्त कुपित होता है तथा चित्त क्षुभित होता है। मट्ठे को छौंक देने से वह पाचक होता है। दूध में मिश्री मिलाने से वह बलवर्धक बनता है। सन्धिकाल में खाना रोग का कारण है, क्योंकि सन्धिकाल साधना के लिए उपयुक्त है। दाह रोग का निदान बताते हुए आपने कहा है कि चाँदनी रात में चन्द्रकान्त मणि से झरा उज्ज्वल शीतल जल लेकर, मलयाचल के चन्दन को घिसकर ललाट-तल एवं नाभि पर लगाने से दाह रोग शमित होता है। दूसरा निदान–तात्कालिक ताजे शुद्ध सुगन्धित घी में अनुपात से कपूर को मिलाकर उँगुलियों से मस्तक के मध्य ब्रह्मरन्ध्र पर मर्दन करें। रोगन आदि गुणकारी तैल का रीढ़ में मर्दन करें, यह उपचार दाह रोग में रामबाण है। दाह रोग क्यों होता है, इसके कारणों पर भी प्रकाश डाला है। बलवर्धक दूध न पीने से, ओज-तेज विधायक घी के न खाने से तथा दधिनिर्मित पकवान ना खाने से दाह रोग होता है।

प्राकृतिक चिकित्सा में मिट्टी के गुणों का विस्तृत वर्णन मिलता है। मिट्टी किस-किस रोग का निवारण कर सकती है, इत्यादि प्रयोगों का मुनि विद्यासागरजी को भरपूर ज्ञान है। उन्होंने इन प्रयोगों का इस पुस्तक में उल्लेख किया है : *"माटी, पानी और हवा/सौ रोगों की एक दवा" (पृ. ३९९)*।

आपने हृदय को छोड़कर शरीर में सब जगह मिट्टी के प्रयोग की सलाह दी है, जैसे—पक्वापक्व रुधिर भरे घाव में, भीतरी या बाहरी चोट में, असहनीय कर्ण पीड़ा में, ज्वर के समय ललाट में, नासूर में, जुकाम, नक़सीर, शिरःशूल आधा हो या पूर्ण, हस्त-पाद की अस्थि टूटने पर वह मिट्टी से जुड़ सकती है। मिट्टी के पात्र में तपे हुए दूध को पूरा शीतल कर रोगी को पेय रूप में देना चाहिए। मिट्टी गुणकारी होती है। मिट्टी के पात्र में दही जमाकर तथा मथानी से मथने के उपरान्त पूर्णतः नवनीत निकालकर निर्विकार तक्र (मट्ठा/छाछ) का सेवन करना चाहिए।

स्वामीजी को माणिक, मणियों आदि से इलाज होता है, इसका भी ज्ञान है। पुखराज, माणिक, नीलम से मधुमेह, श्वास, क्षय आदि राजरोगों का इलाज होता है।

आपने यहाँ सामाजिक प्रथाओं का भी उल्लेख किया है— सूर्यग्रहण में भोजन न करना तथा उस समय जनरंजन, मनरंजन, अंजन-व्यंजन का भी सेवन नहीं करना। इसमें तान्त्रिक ज्ञान का भी उल्लेख मिलता है—मन्त्रित सात नींबू, प्रति नींबू में आर-पार हुई सूई तथा जिन पर काली डोर बँधी हुई है, इन सबको आकाश में काली मेघ घटाओं की कामना के साथ शून्य आकाश में उछालने से पानी बरसता है।

इस महाकाव्य में प्रकृति चित्रण भी मिलता है, जो अपने ढंग का अनोखा है। आज तक इस प्रकार का प्रकृति चित्रण किसी भी महाकाव्य में नहीं हुआ है, क्योंकि यह उद्देश्यपूर्ण प्रकृति चित्रण है। जलकण दुष्टता के प्रतीक हैं, भूमिकण सज्जनता के प्रतीक हैं। इन्द्र, मेघ, बिजली, ओलावृष्टि आदि का उद्देश्यपूर्ण वर्णन है। रसों का वर्णन भी उपयुक्तता अथवा उपयोगितावादी दृष्टिकोण या यों कहें कि जैन धर्म के अनुकूल ही किया गया है। रसों की अभिव्यक्ति पर भी धर्म का प्रभाव लक्षित है। 'दया' के कारण करुण रस को प्रमुखता मिली है। निर्वेदभाव के कारण 'शान्त रस' सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यही कारण है कि 'वीर रस' को विद्यासागरजी जीवन में उपयुक्त नहीं मानते, क्योंकि इस रस से खून उबलता है और क्रोध काबू में नहीं आ पाता। वेद भाव के विकास के लिए हास्य को त्यागना ही उचित माना है, क्योंकि यह हास्य भाव भी कषाय है। 'रौद्र रस' विकृति है विकार की। शृंगार को जड़ कहा है। भय, विस्मय, बीभत्स, करुण, शान्त एवं वात्सल्य आदि सभी रसों को चित्रित किया है। शान्त में सभी रसों का अन्त बताया है। करुणा और शान्त की तुलना की है। करुणा तरल नदीवत् है, पर से प्रभावित होती है। शान्त किसी बहाव में बहता नहीं, जमाना पलटने पर भी जमा रहता है अपने स्थान पर।

अलंकारों में उपमा, रूपक आदि का प्रयोग यत्र-तत्र मिलता है— *"पलाश की हँसी-सी साड़ी पहनी" (पृ. २००)*; विज्ञान और आस्था का रूपक (पृ. २४९); इन्द्रियाँ खिड़कियाँ हैं, तन भवन है, भवन में बैठा पुरुष वासना की आँखों से भिन्न-भिन्न खिड़कियों से झाँकता है और विषयों को ग्रहण करता है (पृ. ३२९)। इसी तरह वीतरागी पुरुष की गाय आदि से उपमा हैं। गोचरी वृत्ति, भ्रामरी वृत्ति आदि सन्त की होती हैं (पृ. ३३२-३३४)। कहावत भी महाकाव्य में सहज ही मिल जाती हैं- *"पूत का लक्षण पालने में" दिख जाता है (पृ. १४, ४८२)*; *"गुरबेल तो कड़वी होती ही है/और नीम पर चढ़ी हो/तो कहना ही क्या!" (पृ. २३६)*; *"बहता पानी और रमता जोगी" (पृ. ४४८)*; *"संसार ९९ का चक्कर है" (पृ. १६७)*। सम्पूर्ण महाकाव्य की शैली प्रतीकात्मक है। एक ही प्रतीक को विभिन्न रूपों में प्रयुक्त किया है, जैसे 'कुम्भ' को निर्बलता का प्रतीक भी माना है क्योंकि बबूल की लकड़ी उसे उठाती है, किन्तु वह पवित्रता का प्रतीक भी है और संस्कारित भी है। जलने के पश्चात् स्वयं के लिए वज्रतम कठोर है, 'पर' के प्रति परमहंस है, नवनीत है, सन्तों का प्रतीक भी है; गुरु का प्रतीक भी है, क्योंकि वह गुरु बनकर सेठ को सचेत करता है, उसे समझाता

है कि पात्र की दीनता निरभिमान दाता में मान का आविर्भाव कराती है 'कंकर' लघुता का, अहंयुक्त मानव का प्रतीक है। इन्हीं के लिए माटी का सन्देश है कि यदि हीरा बनना है तो संयमी बनना होगा। 'माटी' उन मनुष्यों का प्रतीक है जो लघुता को छोड़कर गुरुता का पद सम्भालते हैं। इनको विकसित करना ही समाज को बढ़ाना है। 'माटी' ज्ञान का भी प्रतीक है। यही माटी इस सम्पूर्ण महाकाव्य की 'नायिका' है। कदाचित् इसे ही 'नायक' भी कह सकते हैं, क्योंकि सारा काव्य इसी माटी के इर्दगिर्द घूमता है। मूक होते हुए भी इसी की वाणी मुखर है। यही हमें ज्ञान देती है। ये सन्देश देती है विभिन्न-विभिन्न प्रकार से या यों कहें कि माटी को निमित्त बनाकर ही विद्यासागरजी समाज को सन्देश देना चाहते हैं। 'गाँठ' हिंसा का प्रतीक है। 'काँटे' दुष्टों के प्रतीक हैं। 'मछली' उन मनुष्यों की प्रतीक है जो जन्म लेकर जलते रहते हैं। 'पानी' अज्ञान का प्रतीक है। 'दलदल' बदले के भाव का प्रतीक है। 'लहर' दर्शन का प्रतीक है। 'सरवर' अध्यात्म का प्रतीक है। 'श्वान' पराधीनता का प्रतीक है। इसी तरह कुछ अंकों को भी प्रतीकों की श्रेणी में ले लिया है, जैसे–'६३' - सज्जनता, '३६'- दुर्जनता, '९९'- संसार चक्र, '३६३'- एक-दूसरे के खून के प्यासे का प्रतीक है और इन मनुष्यों का दर्शन आज सहज सुलभ है। 'अग्नि' जिन (आत्मजयी) का प्रतीक है, 'सिंह' राजसी वृत्ति का, 'धरती' सर्वसहा का, 'जलधि' दुर्जनता का, 'सूर्य' सज्जनता का, 'चन्द्रमा' घूसखोरी का, 'बदली' स्त्री का, 'जलकण' दुष्टता का, 'भूमिकण' सज्जनता का, 'बादल' विघ्न का, 'भ्रमर' सन्त का, 'मयूरपंख' संयम का, 'दीपक' सन्त का और आदर्श गृहस्थ का, 'मशाल' सामाजिक प्राणी का, 'मच्छर' धनिक का, 'मत्कुण' अच्छाई का प्रतीक है। इस तरह से सागर, धरती, सूरज, चाँद, फूल, पवन, बिजली जैसे पात्रों के माध्यम से भावों का समुचित परिष्कार किया है। वैसे कुछ प्रतीकों पर जैन दर्शन का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, जैसे–मयूरपंख, दीपक, धरती आदि।

'मूकमाटी' काव्य में विद्यासागरजी के कुछ विचार खटकते हैं– वे हैं स्त्री सम्बन्धी। एक स्थान पर तो उन्होंने स्त्री को आदर्श बताया है, पुरुष के कारण ही वह कुपथगामनी होती है। किन्तु दूसरे स्थान पर वे यह भी कहते नहीं हिचकते कि कुल परम्परा और संस्कृति का सूत्रधार स्त्री को नहीं बनाना चाहिए। साथ ही यह भी कहते हैं कि स्त्री को गोपनीय कार्य के विषय में विचार विमर्श की भूमिका नहीं बताना चाहिए। हम दोनों में से कौन-सा विचार मानें उनका ? इसी प्रकार सूर्य, जो कि सज्जनता का प्रतीक है, वह स्त्री सम्बन्धी स्वस्थ धारणा रखता है (पृ.२०१-२०८), जबकि इसी खण्ड में सागर जो कि दुर्जनता का प्रतीक है, वह स्त्री सम्बन्धी बुरी भावना को पालता है (पृ.२२४)। अतः हम पाठक इन दोनों में से विद्यासागरजी का विचार कौन सा मानें, यह अस्पष्ट लगता है। इसी तरह 'दुहिता' शब्द का उल्लेख वेदों में आता है जिसका ऐतिहासिक महत्त्व है। दुहिता का अर्थ है दुहनेवाली। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस काल में लड़कियाँ गाय दोहन का कार्य करतीं थीं, किन्तु विद्यासागरजी ने इस शब्द का तोड़-मरोड़ कर अर्थ प्रस्तुत किया है।

सम्पूर्ण कृति में लेखक यही चाहता है कि कृति रहे, संस्कृति रहे असीम वर्षों तक, जागृत-जीवित-अजित। वह कर्ता न रहे विश्व के सामने। वह केवल अहं को नष्ट कर जागृत रहे। विद्यासागरजी की यह कृति निश्चय ही युग की महान् उपलब्धि है, विशेषकर हिन्दी साहित्य की श्री-वृद्धि की दृष्टि से तथा जैन दर्शन को सम्पूर्ण समाज में वितरित करने की दृष्टि से भी। ❑



सारस्वत साधना का स्वर्णकलश : 'मूकमाटी' महाकाव्य

प्रो. अक्षय कुमार जैन

अनन्त सत्य की अनुभूति को शब्द ब्रह्म द्वारा अभिव्यक्ति का प्रयत्न मनीषी मानवों द्वारा आदिकाल से ही हैं। महाकाव्य 'मूकमाटी' इसी परम्परा में एक मौलिक-अभूतपूर्व-जीवन्त प्रयोग है। विराट् कल्पना वैभव, विलक्षण प्रत्युत्पन्नमति एवं ब्रह्माण्ड को पिण्ड में व्यक्त करने वाली प्रतिभा से सम्पन्न यह कृति आधुनिक जीवन और जगत् को अमृत वरदान की तरह स्तुत्य और वन्दनीय भी है। कथावस्तु, भाव व्यंजना और शिल्प सौन्दर्य की दृष्टि से यह रचना शताब्दियों पूर्व के भारतीय वाङ्मय का स्मरण करा देती है। इसकी शाब्दिक व्यंजना और उनके अर्थों के अनेकानेक गुह्य रमणीय रहस्यों का परिचय केवल संस्कृत और दक्षिण भारतीय कर्नाटिकी साहित्य में ही मिलता/प्राप्त होता है। 'मूकमाटी' पढ़ते समय मुझे 'भूवलय,' 'सप्तानुसन्धान महाकाव्य' (मेघविजयगणि), द्वि-त्रि-अनुसन्धान महाकाव्य 'राघव-पाण्डवीयम्' की स्मृति आ गई तो सपाट, सतर्क सूझबूझ एवं सचोटता की दृष्टि से मध्ययुगीन सन्त कबीर और मीठे-मधुर महाकवि मलिक मुहम्मद जायसी का साहित्य एक साथ आँखों के सामने तैर गया। दर्शन, सत्य और साहित्य के ऐसे मणि-कांचन प्रयोग, जो कि 'सत्यं-शिवं-सौन्दर्यम्' की पिण्डराशि को मूर्तिमन्त रूप में प्रस्तुत करते हैं, विश्व साहित्य में अंगुलियों पर गिने-चुने (महाकाव्य) ही हैं। मिल्टन के 'पैराडाइज लॉस्ट,' महर्षि अरविन्द के 'सावित्री,' प्रसाद के 'कामायनी', वाल्मीकि की 'रामायण,' बाणभट्ट की 'कादम्बरी,' कालिदास के 'रघुवंश' एवं 'मेघदूत' और हिन्दी में 'रासो' से 'रावण' तक के सभी प्रबन्ध काव्य मुझे झकझोरते से पुनर्विचार के लिए कुरेदने लगे।

'मूकमाटी' मुझे 'माटी की महिमा' कविता याद करा गई, जो कि शिवमंगल सिंह 'सुमन' की विश्रुत-भव्य-ओजस्वी कविता है। इसके कुछ प्रयोग मुझे माखनलाल चतुर्वेदी की 'साहित्य देवता' का स्मरण कराने लगे तो इसका क्रान्तिघोष मुझे खलील जिब्रान की महानतम कृतियों को सामने रखने लगा। जर्मन के महान् लेखक ज्विग की She रचना और भगवान् बुद्ध के जीवन पर लिखी उसी धरती के महान् लेखक की कृतियाँ मुझे अतीत काल के स्वाध्यायी साहित्य को सम्मुख उपस्थित करने लगीं।

जीवन में पहली बार मुझे ऐसी विलक्षण काव्यकृति के पढ़ने का सुखद सौभाग्य मिला जिसकी अभिव्यक्ति में मुझे शब्द नहीं मिल रहे हैं। इस कृति में स्वर-व्यंजनों-बीजाक्षरों ने पहली बार अपने अद्भुत अर्थ रहस्यों को प्रकट किया है। ऐसा लगता है कि स्वयं जंगल की जड़ी-बूटियाँ हकीम लुकमान से बात करके अपने गुणधर्म बता रही हैं और कह रही हैं कि इस रुग्ण, क्लान्त, दैन्य, दुःखी तथा श्वास तोड़ती मानवता के परिपोषण के लिए 'हे महाचिकित्सक! तुम यह अमृत घट लो और इसकी संजीवनी बिन्दुओं की बौछार से संहारक अणु के ऊपर जलती मानवता को पुनः नवजीवन दान दो।'

शास्त्रीय विद्वान्, साहित्य महारथी, महापण्डितजन इसमें छन्द, अलंकार, व्याकरण, रस और काव्य दोषों के साथ सर्गों की न्यूनता पर अपनी छिद्रान्वेषिणी वक्रदृष्टि डाल सकते हैं, पर जिस रचनाकार ने द्वैत-अद्वैत से परे, धर्म-अर्थ-काम तथा मोक्ष के चातुर्यामी संकल्प और उद्देश्य से इस पंच भौतिक शरीर को त्याग, तपस्या और स्वाध्याय की त्रिवेणी में स्नान कराकर, शुक्लध्यान की-सी अवस्था में पहुँच – जो स्वप्न, सुषुप्ति और जागरण की संसार-त्रिपुटि से परे तुरीय ब्रह्मानन्द सहोदर आत्मानन्द का स्वाद लिया हो, उसे अभिव्यक्ति देने के लिए 'चतुःसर्गी' रचना ही उपयुक्त है। ऐसा मेरा मन कहता है कि यह संस्कृत के 'जीवन्धर चम्पू' और राष्ट्रकवि की 'यशोधरा' की भाँति ही 'आध्यात्मिक महाकाव्य' है।

जनम और मरण के बीच जीवन्त क्षणों का उपयोग इस धरती के प्राणी को किस प्रकार करके अपने स्व-स्वभाव, स्व-समय और स्व-स्थान में रमण करने योग्य बनाना है, ऐसे कई 'अनुत्तर' प्रश्नों के उत्तर इस महाकाव्य में अनायास ही मिल जाते हैं। विज्ञान के और दर्शन के ठोस, तरल, गैस और चिन्तन के 'ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय' का काव्यात्मक, सुन्दर समन्वय सामान्य कवि प्रतिभा के वश की बात नहीं है।

इसमें 'राही' चलते-चलते 'हीरा' बन जाता है। इसके या इस जैसे उदाहरण महापण्डित बौद्ध विद्वान् राहुल सांकृत्यायन और भदन्त आनन्द कौशल्यायन और उनकी साहित्य कृतियाँ ही हैं। 'राख' के नीचे 'खरा' स्वर्णिम, तप्त आत्म अंगार है जो कि ऊपर से मातंग दिखता है पर भीतर सम्यग्दृष्टि है, यह स्वामी समन्तभद्राचार्य के 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में कह सकते हैं। 'राधा' कहते-कहते संसार की धारा से छूट—निराधार नहीं, स्व-आधार आत्मानन्द और शिवशक्ति स्वरूप आत्मरूप, अविनश्वर, सिद्धशिला पर विराजित अनन्त, अखण्ड, अक्षय, अविनाशी आनन्द के स्वामी बन सकते हो, यह 'राधास्वामी' के अनुभवी साधक ही बता सकते हैं।

'वैखरी' में ध्वनि, वाणी, मन्त्राक्षरों और उनके प्रयोग, जो प्रसिद्ध तान्त्रिकों, मान्त्रिकों, उपासकों को भी कभी सूझ न पड़े हों, ऐसे प्रयोग अनायास ही आचार्यश्री के द्वारा विभिन्न अर्थों में प्रस्फुटित होकर दुनिया के दोनों नयों—निश्चय और व्यवहार, क्षणिक और शाश्वत तथा सान्त और अनन्त, शुभ और अशुभ तथा एक और अनेक अर्थों को प्रकटाते हुए विश्व समस्याओं के हल के लिए जैन धर्म के अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी सिद्धान्त को सरलता से समझा जाते हैं।

वचन और वाणी के सिद्ध महायोगी की इस रचना में 'द' वरदान की स्मृति आ गई, जिसे देव, दानवों और मानवों ने दया, दमन, दान के अलग-अलग अर्थों में लिया है। अनन्त आकाश, सूर्य रश्मियाँ तथा वायु तो मुफ्त में प्राप्त हैं ही, मात्र मिट्टी और जल से स्वस्थ शरीर रहकर धर्मध्यान कीजिए तथा नर देह में नारायण की सम्प्राप्ति कीजिए। जैन साधु के लिए "जल मृत्तिका बिन और नाहिं कछु गहै अदत्ता" कहीं, तब दौलतरामजी की 'छहढाला' की ये पंक्तियाँ मानों जाग गईं। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक सभी प्रकार से रुग्ण मानवों, पशु और पक्षियों के लिए केवल 'माटी' के प्राकृतिक चिकित्सा द्वारा स्वास्थ्य लाभ की बात श्री मोदी और 'मदर इण्डिया' के करोड़पति चिकित्सा शास्त्री डॉ. बाबूराव अथवा बंगला के महाविद्वान् मुकुर्जी महाशय ही अपने सैकड़ों प्राकृतिक चिकित्सा ग्रन्थों द्वारा सुझा पाए हैं।

जल चिकित्सा और सूर्य-रश्मि चिकित्सा में जो कार्य पूरे जीवन भर तिब्बत के लामा योगी बता पाए और उज्जैन के डॉक्टर दुर्गादत्त नागर, जो 'कल्पवृक्ष' कार्यालय के संस्थापक और अलौकिक चिकित्सा विज्ञान के भारतीय साधक थे एवं शब्द, चित्र और ध्यान के द्वारा उज्जैन में रहते हुए भी संसार के किसी भी कोने में स्थित रोगी को मात्र ध्यान-विचार और भावना मात्र से ठीक कर देते थे, उस जैसा ही प्रयोग हमें 'मूकमाटी' में मिलता है। 'मात्र ध्यान से जल वर्षाकर' जैन निर्ग्रन्थ मुनि ने जलते हुए सैकड़ों हाथियों-जानवरों को जंगल की दावानल अग्नि से बचाकर रक्षा की तथा 'तीर्थंकर प्रकृति' का बन्ध किया, साथ ही अनेक पंचेन्द्रियों के प्राण बचाकर अपने अहिंसक, ज्ञान स्वरूप, वात्सल्यधर्मी आत्मा की करुणा का जो परिचय दिया, वह बिना लम्बी-चौड़ी भूमिका के इस महाकाव्य की चन्द पंक्तियों में 'गागर में सागर' की तरह यत्र-तत्र-सर्वत्र सुलभ है।

'मूकमाटी' में प्रयुक्त 'गदहा', 'याद' आदि के प्रयोग प्रभाकर माचवे की कृति 'परन्तु' से बहुत आगे के और महत्तम भी हैं। स्वरों का संगीत, ओम् ध्वनि, अनहद नाद और आकाशव्यापी महा भै+रव की परिकल्पना को ताज़ा कर देता है। वेदों के बाद ध्वनि प्रभाव और शब्द ब्रह्म की ऐसी अद्भुत, समर्थ अभिव्यक्ति तथा माखन मिश्री के लड्डू

और रसभरी जलेबी की तरह यह सभी तरफ से स्वादिष्ट रचना है, इस जैसी अन्य रचना मेरी दृष्टि में नहीं आई।

विश्व के बेजोड़ अध्यात्म रसपूर्ण सरस साहित्यिक शब्दशिल्प की अद्भुत कृति है यह। 'साहित्य' – सत् और हित रूप ही होना चाहिए, यह बात गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'विश्वभारती' में 'गीतांजली' पर नोबल पुरस्कार प्राप्ति के बाद एक भाषण में श्रोताओं को समझाई थी, जिसे 'मूकमाटी' के रचनाकार ने सहज-सरलरूप में सभी प्रकार के पाठकों को हृदयंगम करा दिया है।

पढ़ते-पढ़ते शरीर ताज़ा, मन शान्त, बुद्धि तर्क छोड़ती और आत्मविभोर हो धन्य-धन्य कह उठती है। पहली बार 'गोपियों के भाव' सूरदास की शैली में "उद्धव ! जिन अँखियाँ तुम श्याम निहारत, ते अँखियाँ हम लागीं, उद्धव हम अति भए बड़-भागी !"

विश्वविख्यात विचारक कृष्णमूर्ति ने कहा है कि "शब्द से उसका अर्थ छीन लें और फिर देखिए, सारी सृष्टि ही व्यर्थ हो जाएगी।" यहाँ बात यह कही गई है कि शब्दों के विविध अर्थों आयामों पर विचार कीजिए और सभी प्रकार के विवादों से बचकर सुख-शान्तिमय जीवन व्यतीत कीजिए। उसी प्रकार जिन पुण्यशाली भाग्यवान् श्रावकों–गृहस्थों ने आचार्यश्री के प्रवचनों से आत्मस्वरूप की परिचित्ति या शान्ति लाभ लिया हो, वे वचन काव्यामृत कामधेनु के सुस्वादु पुष्ट पथ्य रूप में मेरे चर्म चक्षुओं ने देख, आत्मरस का आस्वादन लेना चाहा और प्रगटाया कि यह जीवन ही कल्पवृक्ष है। कल्पना करो कि इस जीवन वृक्ष में चिन्ताओं के नहीं, चित्त-शान्ति के मणि-माणिक लगें और यह नश्वर जीवन 'चिन्तामणि' (चिन्ता नामक मणि) बनकर विश्वजन की चिन्ताओं का हरण कर सके।

इसके शब्द-शब्द मोती हैं, अक्षरों में भास्वर-भास्कर रश्मितुल्य मणियाँ, वाक्यों की मोहक लड़ियाँ, सर्गों के ऐसे सोपान हैं जो क्रमशः चारों धर्म – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–के सिद्धि प्रदाता हैं। और इसका निर्माता अनन्त आत्म-'विद्या' का सचमुच 'मीठा' महासागर है, जिसने सारस्वत साधना के इस स्वर्णकलश में वे अनन्त अनमोल रत्नराशियाँ दी हैं, जो सभी देशों, सभी कालों के सभी प्राणियों को अपने जीवन की सार्थकता सम्पन्न कराते हुए मानव को नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा तथा पुरुष से पुरुषोत्तम का दिव्य सन्देश देता है।

□



पृष्ठ ५८
इसी कार्य हेतु--
---- सुलसाते-सुखसाते

'मूकमाटी' और शब्दविनोदी आचार्य श्री विद्यासागर

डॉ. महावीर प्रसाद उपाध्याय

आचार्य श्री विद्यासागरजी की काव्यकृति 'मूकमाटी' को देखने से पूर्व ही—लिखी-सुनी बातों के आधार पर एक धुँधली-सी धारणा बनी थी कि यह एक उच्च दार्शनिक रचना होगी। ऐसा है भी। कृति एवं कृतिकार के प्रति आदर भाव लिए मैं 'मूकमाटी' पढ़ता रहा। इस पर कुछ लिखने का संकल्प था। स्वभावतः काव्य का जो पक्ष मन पर अधिक प्रभाव जमाता है, उसी पर लिखा जा सकता था। यों तो इस रचना में अनेक बातें हैं जो मन को आन्दोलित-प्रभावित करती हैं, किन्तु मैंने इसके शब्द-विनोद को ही अपना विषय बनाया है।

आप माटी की मुक्ति-यात्रा तथा उसके विभिन्न पड़ावों पर मुग्ध हो सकते हैं, महाकाव्योचित प्रकृति वर्णन का आनन्द ले सकते हैं या आचार्य श्री विद्यासागर की गुरु गम्भीर दार्शनिक अनुभूतियों से कृतार्थ हो सकते हैं, किन्तु शब्दों के साथ रचनाकार की विनोद वृत्ति मुझे बहुत रुचिकर लगी है।

'मूकमाटी' में ऐसे बहुत से शब्द हैं, जिन्हें आधार बनाकर कवि ने ऊँची-ऊँची बातें कह दी हैं। कहीं शब्दों की व्युत्पत्ति को नए ढंग से समझाया गया है और कहीं उसके विलोम रूप में चमत्कारी अर्थ की खोज की गई है। आचार्य श्री विद्यासागरजी की शब्द-व्युत्पत्ति चाहे व्याकरण-सम्मत हो और चाहे कल्पना-सम्मत, होती नितान्त आह्लादक है। सर्वत्र शब्दों के प्रति कवि का शास्त्रीय एवं बँधा-बँधाया आग्रह होता तो इसे शब्द-विनोद नहीं कहा जा सकता था। सुखद है कि गम्भीर विषयान्तर्गत कवि ने क्रीड़ा-वृत्ति अपनाई और पाठकों का न केवल स्वस्थ मनोरंजन कराया अपितु शब्दों की सुरुचिपूर्ण विवेचना के मध्य उच्च सन्देश भी निहित दिखलाया।

'मूकमाटी' एक विशालकाय ग्रन्थ है। इसे महाकाव्य माना गया है। इसके विस्तृत कलेवर में कवि के शब्द-विनोद के इतने स्थल हैं कि सब की विस्तार सहित चर्चा दुस्साध्य तो नहीं है, किन्तु यहाँ प्रयोजन भी कुछ वैसा नहीं। 'मूकमाटी' एक शोधापेक्षी काव्यकृति है और इस पर जब भी कोई शोधकार्य होगा, इसके शब्द-लालित्य पर शोधकर्त्ता की दृष्टि अवश्य जाएगी। यहाँ तो मैं कृति के कुछ प्रसंगों को ही लेना चाह रहा हूँ। उतने ही प्रसंगों को, जितने से कवि की कल्पनाशक्ति अर्थारोपण की क्षमता और शब्द-क्रीड़ा-कौशल की किंचित् झलक दिखलाई जा सके।

कवि की विनोद वृत्ति प्रसंग या विषय सापेक्ष नहीं है। वह कहीं भी दिख सकती है - किसी भी प्रसंग या विषय वर्णन में। इसीलिए मैंने भी किसी प्रकार के वर्गीकरण की चेष्टा नहीं की। काव्य के आद्यन्त क्रम में कुछ ऐसे मनोरम स्थल हैं, जहाँ हम कवि की अर्थसूझ एवं तदनुरूप शब्द व्याख्या देख सकते हैं। एक बात जो और भी ध्यान में रखकर चलने योग्य है वह यह कि शब्दों की मौलिक व्युत्पत्ति प्रस्तुत करना, एक शब्द के ध्वनिसाम्य में कतिपय अन्य शब्दों का प्रयोग करना या फिर शब्दों के विलोम रूप का उपस्थितीकरण यूँ ही निरुद्देश्य नहीं होता। ऐसे आयासों में सर्वत्र कोई न कोई उपयोगी या चमत्कारी विचार अवश्य निहित रहता है। इसी प्रकाश में हम 'मूकमाटी' के कुछ स्थल देखेंगे।

'पर' को दयादृष्टि से देखने पर 'स्व' का बोध होता या कहें उसकी याद भी आती है और 'स्व' की याद अपने पर दया भी है। इस प्रकार 'पर' पर दया करनेवाला प्राणी 'स्व'- बोध भी करता है और प्रकारान्तर से 'स्व' पर दया भी। इसी बात को अपनी मौलिक शैली में समझाता हुआ कवि कहता है :

"स्व की याद ही/स्व-दया है/विलोम-रूप से भी
यही अर्थ निकलता है/या"द"द"या"।" (पृ. ३८)

किसी शब्द की स्वतन्त्र व्युत्पत्ति समझाने में आचार्य श्री विद्यासागरजी पूर्ण पारंगत हैं। उदाहरणार्थ हम

'गदहा' शब्द को ले सकते हैं। इस शब्द के मूल तक कोई शास्त्रीय दृष्टिवाला व्यक्ति जाना चाहे तो उसे संस्कृत के 'गर्दभ' शब्द तक जाना पड़ेगा। इस शब्द की व्युत्पत्ति है– गर्द् (शब्द करना, दहाड़ना) + अभच्। 'गर्दभ' से ही विकसित हुआ है हिन्दी का शब्द 'गदहा'। किन्तु, 'मूकमाटी'कार 'गदहा' के संस्कृत मूल तक नहीं जाता। वह तो 'गदहा' शब्द को ही मूल मान कर चलता है। 'मूकमाटी' का कवि दूसरे मार्ग से जाकर संस्कृत शब्दों का आश्रय लेता है और तब जो अर्थ वह प्रस्तुत करता है वह (शब्द) स्वतन्त्र विधि से निकाला हुआ होने पर भी पूरी तरह शास्त्र-सम्मत लगता है। देखिए :

"गद का अर्थ है रोग/हा का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ
···बस,/और कुछ वांछा नहीं/गद-हा··गदहा··!" (पृ. ४०)

माटी एक जगह उपदेश करती है और कवि ने राह, राही और हीरा शब्दों को एक दूसरे के साथ अपूर्व ढंग से निबद्ध कर दिया है संयम की राह पर चल कर :

"राही बनना ही तो/हीरा बनना है,/स्वयं राही शब्द ही
विलोम-रूप से कह रहा है–/रा··ही··ही··रा··।" (पृ. ५७)

इसी प्रकार 'खरा' शब्द मानो 'राख' के विलोम रूप से ही गढ़ा गया हो। कवि ने 'खरा' शब्द को अपने विलोम रूप से कहते हुए बताया है :

"राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?
रा···ख···ख···रा··।" (पृ. ५७)

भारतीय समाज में युगों से प्रतिष्ठित उदात्त आदर्शों की आज कैसी-कैसी दुर्गति हुई है, कवि ने इसकी भी झलक दिखलाई है। हमारे समाज में यूँ तो ऊँची-ऊँची बातें बहुत की जाती हैं और इन बातों को ही कोई हमारे समाज को समझने का आधार बना ले तो निस्सन्देह हम प्रणम्य समझे जा सकते हैं। किन्तु, हमारी वास्तविक दशा क्या है - यह कवि की दृष्टि से ओझल नहीं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का हमारा उच्चादर्श न जाने कब से चला आ रहा है। हम अपनी उदारता प्रमाणित करने के लिए न जाने कितनी बार इसी कथन का आश्रय लेते हैं, किन्तु कवि कहता है :

" "वसुधैव कुटुम्बकम्"/इसका आधुनिकीकरण हुआ है/वसु यानी धन-द्रव्य
धा यानी धारण करना/आज/धन ही कुटुम्ब बन गया है
धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

आधुनिक जीवन में सारी व्याख्याएँ ही जैसे उलटी हो गई हैं। अब सच बात लोगों को नहीं सुहातीं। गाँवों में भी कहा जाता है–'खर कै कहवइया दाढ़ीजार।' खरी बात बोलने वाला भला किसे प्रिय लगता है! और युगों की बात चाहे जो रही हो, कलियुग में तो ऐसा ही दिखता है। यहाँ तो 'सत्-युग' भी वास्तविक सत्-युग से भिन्न हो गया है जिसमें बुरा भी 'बूरा'-सा (साफ़-शुद्ध की गई शर्करा) लगता है। 'खरा' और 'अखरना' तथा 'बुरा' और 'बूरा' शब्दों का उपयोग देखिए :

"यही/कलियुग की सही पहचान है/जिसे/खरा भी अखरा है सदा/और

सत्-युग तू उसे मान/बुरा भी/'बूरा'-सा लगा है सदा।" (पृ. ८२-८३)

श्रीमद् भगवद्गीता में समत्व बुद्धि की बात विस्तार से समझाई गई है। मानवीय जीवन में की जाने वाली साधना का चरम रूप वहाँ समत्व बुद्धि में ही दर्शाया गया है, किन्तु वहाँ यह बोध एक दार्शनिक गम्भीरता के साथ किया-कराया जाता है। शब्द-क्रीड़ा करते हुए इसी ऊँची बात को समझा देना तो 'मूकमाटी'कार आचार्य श्री विद्यासागरजी में दिखलाई पड़ती है। सीधे-सीधे शब्दों से बात समझ में न आए तो शब्दों के विलोम रूप की ओर ध्यान दिलाने में पारंगत आचार्यश्री कहते हैं :

"सुख या दुःख के लाभ में भी/भला छुपा हुआ रहता है,
देखने से दिखता है समता की आँखों से,/लाभ शब्द ही स्वयं
विलोम रूप से कह रहा है—/ला···भ···भ···ला···।" (पृ. ८७)

मान या अभिमान मन में ही होता है। यह क्षुद्रजनों की पहचान है। जो साधुपुरुष है वह इस अभिमानी मन को अस्तित्वविहीन कर देना चाहता है। मन तो मानो सदा यही कहता है– नम न ! नम न !! नम न !!! इसकी पृष्ठभूमि में कवि कहता है :

"मन की छाँव में ही/मान पनपता है/मन का माथा नमता नहीं
न-'मन' हो, तब कहीं/नमन हो 'समण' को।" (पृ. ९७)

समान ध्वनियों का अनेकशः प्रयोग यों तो शब्द-विनोद की छटा मात्र बिखेरता लगता है, किन्तु 'मूकमाटी'कार ने ऐसे प्रयोगों के माध्यम से नीतिगत अर्थों का भी प्रस्फुटन दिखलाया है। ऐसे शब्दों एवं ध्वनियों को उपस्थित करने के साथ-साथ किस तरह नीति की बातें कह दी गई हैं, इसका एक उदाहरण देखें :

"जो वीर नहीं हैं, अवीर हैं/उन पर क्या, उनकी तस्वीर पर भी
अबीर छिटकाया नहीं जाता !" (पृ. १३२)

कवि ने 'ही' और 'भी' शब्दों की पर्याप्त दार्शनिक व्याख्या की है। ये दोनों शब्द 'मूकमाटी' के प्रमुख पात्र कुम्भ के मुख पर अंकित हैं। इन्हें कवि ने 'बीजाक्षर' कहा है। इन शब्दों के अपने-अपने दर्शन हैं :

" 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है
'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।" (पृ. १७२)

'ही' किस प्रकार ऐकान्तिकता में सिमट कर रहता है, इसे कवि ने प्रयोगपूर्वक दर्शाया है :

"हम ही सब कुछ हैं/यूँ कहता है 'ही' सदा,
तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो।" (पृ. १७२)

यहीं हम 'भी' को देखें तो इसमें अनेक की स्थिति एवं अस्तित्व की स्वीकृति है। तुच्छ स्वार्थ से परे जाकर परार्थ को भी यह 'भी' शब्द स्वीकारता है। 'ही' जहाँ औरों को हीनदृष्टि से देखता या उन्हें अस्वीकार ही देता है, वहीं 'भी' औरों को न केवल महत्त्व देता है, उनके अस्तित्व को स्वीकारता है अपितु उसकी दृष्टि भी समीचीन होती है। कवि ने 'ही' को पाश्चात्य तथा 'भी' को भारतीय संस्कृति का प्रतीक बतलाया है। एक रावणत्व की सूचना देता है, दूसरा रामत्व की। इसीलिए एक निन्द्य है और दूसरा वन्द्य।

यही नहीं, कवि का कथन है कि जब तक 'भी' जीवित है तब तक लोकतन्त्र भी सुरक्षित है। 'भी' स्वच्छन्दता और मदान्धता को मिटानेवाला है तथा स्वतन्त्रता को साकार करनेवाला। कवि कथन है :

"सद्विचार सदाचार के बीज/'भी' में हैं, 'ही' में नहीं।" (पृ. १७३)

आचार्य श्री विद्यासागरजी शब्द-विनोद करते हुए बीच-बीच में अपनी विविध धारणाएँ व्यक्त करते चलते हैं। नारी, महिला, अबला आदि स्त्रीवाचक शब्दों को लेकर उन्होंने पर्याप्त रंजक शब्द-विनोद किया है।

शब्दों की पारम्परिक व्याख्या करनेवाला व्यक्ति जहाँ शब्द की व्युत्पत्ति के पश्चात् उससे अर्थ का निष्कर्षण करता है वहीं आचार्यश्री के सम्बन्ध में कहना कठिन है कि उनके ध्यान में पहले शब्दों की व्याख्या-पद्धति आती है कि अर्थ-बोध होता है। 'नारी' की व्याख्या देखिए :

" 'न अरि' नारी···/अथवा/ये आरी नहीं है/सो···नारी···।" (पृ.२०२)

इसी प्रकार 'महिला' शब्द की सिद्धि जिन अर्थों के साथ होती है, उसमें पहला तो यह कि वह 'मह' यानी मंगलमय माहौल लाती है। इसलिए 'महिला' है। दूसरा अर्थ यह कि वह जीवन के प्रति उदासीन और हतोत्साही हुए पुरुष में 'मही' यानी धरती के प्रति 'अपूर्व आस्था जगाती है।' वह पुरुष को सन्मार्ग के दर्शन कराती है। इसलिए 'महिला' है। 'महिला' शब्द की एक औषधिपरक व्याख्या प्रस्तुत करता हुआ कवि कहता है कि संग्रहणी व्याधि से ग्रस्त पुरुष को वह : *"मही यानी/मठा-महेरी पिलाती है" (पृ.२०३)*। है न यहाँ सुन्दर शब्द-विनोद !

फिर, कवि 'नारी' शब्द के पर्याय 'अबला' में सुन्दर अर्थों का आरोपण करता है, जो जीवन में अब, अवगम या ज्ञानज्योति लाती है और तिमिर या तामसता को मिटाती है। इसे अन्य प्रकार से भी कहा गया है– जो पुरुष की चित्तवृत्ति को विगत की दशाओं और अनागत की आशाओं से पूरी तरह हटाकर 'अब' यानी आगत - वर्तमान में लाती है, वह 'अबला' कहलाती है।

इसी तरह 'अबला' का एक और नया अर्थ देखिए :

"बला यानी समस्या संकट है/न बला ···सो अबला/समस्या-शून्य-समाधान !
...इसलिए स्त्रियों का यह/'अबला' नाम सार्थक है !" (पृ. २०३)

स्त्रियों के प्रति कवि का उदात्त भाव यहीं तक सीमित नहीं है। वह उसके 'कुमारी' रूप की प्राथमिक मंगलमयता का भी स्मरण कराता है। 'कुमारी' के मंगल रूप की सिद्धि कवि ने इस प्रकार की है :

" 'कु' यानी पृथिवी/'मा' यानी लक्ष्मी/और/'री' यानी देनेवाली···
इससे यह भाव निकलता है कि/यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना
तब तक रहेगी/जब तक यहाँ 'कुमारी' रहेगी।" (पृ. २०४)

नारी के प्रति सम्मान भाव आधुनिक हिन्दी कविता में छायावाद काल से ही देखने को मिलने लगता है। आचार्य श्री विद्यासागरजी ने नारी के हर रूप के प्रति सम्मान भाव दर्शाया है। एक पुरुष का जीवन नारी के बिना शववत् हो जाता है, इसे भाँति-भाँति से शैव दर्शन से प्रभावित कविवर जयशंकर प्रसाद ने भी दिखाया है। उन्होंने नारी को पुरुषों की प्रेरिका के रूप में देखा है। कविवर आचार्य श्री विद्यासागरजी का भी मानना है कि पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए नारी

सहयोग अपरिहार्य है। पुरुष के पाप कर्म पुण्य में परिवर्तित हो सकें, इसके लिए स्त्री प्रयत्नशील होती है। वह पुरुष की वासना को संयत करती है। उसकी उपासना को स्त्री संगत बनाती है। कवि का कथन है :

"...काम पुरुषार्थ निर्दोष हो,/बस, इसी प्रयोजनवश
वह गर्भ धारण करती है।" (पृ. २०४)

स्त्रियों के गुणों को तो स्वयं स्त्री शब्द ही गुनगुना रहा है :

" 'स्' यानी सम-शील संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं
धर्म, अर्थ, काम—पुरुषार्थों में/पुरुष को कुशल-संयत बनाती है
सो···स्त्री कहलाती है।" (पृ. २०५)

नारी के अनेक रूप हैं- प्राय: सब मोहक एवं महनीय। 'सुता' या 'दुहिता' भी उसी का रूप है। आधुनिक जीवन में पुत्राकांक्षा भले ही प्रबल हो किन्तु सुता के सेवा-भाव और उसके शील-स्वभाव पर सब मुग्ध होते हैं। कवि 'सुता' शब्द की व्याख्या में कहता है :

" 'सु' यानी सुहावनी अच्छाइयाँ/और/'ता' प्रत्यय वह
भाव-धर्म, सार के अर्थ में होता है/यानी,
सुख-सुविधाओं का स्रोत···सो—/'सुता' कहलाती है।" (पृ. २०५)

इसी प्रकार 'दुहिता' में कवि ने दो हित निहित माने हैं। एक तो वह 'अपना हित स्वयं ही कर लेती है' और दूसरे :

"पतित से पतित पति का जीवन भी/हित सहित होता है, जिससे
वह दुहिता कहलाती है।" (पृ. २०५)

दुहिता अनेक प्रकार से 'दुहिता' (दो ओर से हित साधन करने वाली) कही गई है। वह है :

"उभय-कुल मंगल-वर्धिनी/उभय-लोक-सुख-सर्जिनी
स्व-पर-हित सम्पादिका।" (२०६)

स्त्री का एक नाम 'अंगना' भी है। स्त्री का यह नाम उसके मधुर-मोहक अंगों के नाते ही सार्थक है। कवियों-साहित्यकारों ने उसमें प्राय: इसी अर्थ की व्यंजना की है। इस बात पर आचार्य श्री विद्यासागरजी ने भी ध्यान दिया है। एक नारी पुरुष को केवल अंग-सुख ही नहीं देना चाहती। वह इससे बढ़कर 'चिरन्तन शाश्वत' और 'निरंजन भास्वत' देना चाहती है। अंगना के सान्निध्य में पुरुष प्राय: अनंग-संग से 'अंगारित' हो उठता है। इसीलिए 'मूकमाटी' की अंगना की स्पष्टोक्ति है :

"मैं 'अंगना' हूँ/परन्तु,/मात्र अंग ना हूँ···/और भी कुछ हूँ मैं···!" (पृ. २०७)

किसी शब्द की विलोम चमत्कृति ही है कि कवि कह सका :

"विश्व का तामस आ भर जाय/कोई चिन्ता नहीं,

किन्तु, विलोम भाव से/यानी/ता···म···स स···म···ता···।" (पृ. २८४)

यहाँ कवि को जो अभिलषित है वह समता भाव ही है। तामस से उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं किन्तु यह कथन कवि विपरीत गति से चल कर करता है।

'मूकमाटी' के कुम्भ को बजाने पर सरगम निकल पड़ता है। सरगम पर सजी संगीत साधना किसे नहीं भाती! कौन है जो संगीत की माधुरी में अलौकिक आनन्द की अनुभूति नहीं करता। दार्शनिकों के अनुसार 'आत्मा' का स्वभाव धर्म दुःख नहीं है। किन्तु, सरगम की अनूठी व्याख्या तो कविवर विद्यासागरजी ही करते हैं :

"सा···रे···ग···म यानी/सभी प्रकार के दुःख
प···ध यानी ! पद–स्वभाव/और/नि यानी नहीं,
दुःख आत्मा का स्वभाव–धर्म नहीं हो सकता।" (पृ. ३०५)

एक स्थान पर कविवर का भाव इस प्रकार व्यक्त हुआ है– पूज्य चरणों का सम्पर्क पाकर तुच्छ रज भी पूज्य बन जाती है वरन् उसमें भला कौन-सी पूज्यता है ! चरण भी पूज्य कौन होते हैं – वे 'जिनकी पूजा आँखें करती हैं।' पूज्य चरणों की उपेक्षा करने वाली आँखें दुःख पाती हैं, ऐसा उपदेश तो स्वयं चरण शब्द ही दो प्रकार से कर रहा है, पहले तो सीधे-सीधे, फिर विलोमतः

"चरण को छोड़ कर/कहीं अन्यत्र कभी भी/चर न ! चर न !! चर न !!!"
(पृ. ३५९)

"च···र···ण न···र···च···/चरण को छोड़ कर
कहीं अन्यत्र कभी भी/न रच ! न रच !! न रच !!!" (पृ. ३५९)

श, स, ष–इन तीनों ऊष्म ध्वनियों को कवि ने बीजाक्षर कहा है। इस 'शकार-त्रय' ने स्वयं अपना परिचय दिया है। 'श' 'कषाय का शमन करने वाला, शंकर का द्योतक, शंकातीत, शाश्वत शान्ति की शाला' है। ऊष्म व्यंजन 'स' 'समग्र का साथी' कहा गया है 'जिसमें समष्टि समाती' है और जो 'सहज सुख का साधन' और 'समता का अजस्र स्रोत' है। हाँ, 'ष' की लीला निराली है। यह 'प' के पेट को फाड़कर बनाया जाता है। 'प' 'पाप और पुण्य' का प्रतीक है। पाप और पुण्य का परिणाम संसार है :

"जिसमें भ्रमित हो पुरुष भटकता है/इसीलिए जो
पुण्यापुण्य के पेट को फाड़ता है/'ष' होता है कर्मातीत।" (पृ. ३९८)

'मूकमाटी' में कवि ने अधिकांश शब्द-क्रीड़ा शब्दों की भिन्न-भिन्न श्रुतियों को लेकर की है तथा उसके विलोम रूप का प्रयोग विनोदार्थ एवं वांछित अर्थ निष्पादनार्थ किया है। किन्तु, एक अक्षर के स्थान पर दूसरा रख देने या बीच के किसी अक्षर को निकल कर नया शब्द रच देने का कार्य भी कवि ने किया है। 'वैखरी' शब्द को वह भिन्न-भिन्न रीति से सज्जन और दुर्जन दोनों की वाणी कहता है। जैसे मेघ से छूटी जल की धारा इक्षु का आश्रय पाकर मिठी बन जाती है, वैसे ही :

"सज्जन-मुख से निकली वाणी/'वै' यानी निश्चय से
'खरी' यानी सच्ची है,/सुख-सम्पदा की सम्पादिका।" (पृ. ४०३)

यदि मेघ से छूटी जल-धारा इक्षु का आश्रय पा मिश्री बन जाती है तो वही नीम की जड़ में जाकर वह कटुता भी धारण कर लेती है। इसीलिए :

"दुर्जन-मुख से निकली वाणी/'वै' यानी निश्चय से
'खली' यानी धूर्ता—पापिनी है,/सारहीना विपदा-प्रदायिनी।" (पृ. ४०३)

एक भिन्न पद्धति से भी इस शब्द को कवि ने दुर्जनों की वाणी के लिए सिद्ध किया है। 'वैखरी' शब्द के मध्य 'ख' है। 'ख' का अर्थ होता है—शून्य। इसलिए इसे निकाल दें तो शब्द बनता है—'वैरी'। अब कवि कहता है :

"दुर्जनों की वाणी वह,/स्व और पर के लिए
वैरी का ही काम करती है।" (पृ. ४०४)

यह बात सदा से ही अनुभव की जाती रही है कि पद या प्रतिष्ठा प्राप्त करने की आकांक्षा अनेक पापों की मूल है। आधुनिक जीवन में भी यही बात देखी जाती है। उच्च पद प्राप्त करने के लिए कितनों के प्राप्तव्य छीन लेना, उत्कोचादि अपवित्र साधनों का आश्रय लेना और विविध प्रकार के अन्य अत्याचार-पापाचार करना पदलोलुपों के लिए साधारण-सी बातें होती हैं। 'पद' शब्द का अनेक तरह से प्रयोग करते हुए कवि ने इसी बात का कथन किया है :

"पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु/पर को पद-दलित करते हैं,/पाप-पाखण्ड करते हैं
प्रभु से प्रार्थना है कि/अपद ही बने रहें हम!" (पृ. ४३४)

प्रस्तुत काव्य-ग्रन्थ में 'धरती' शब्द की कुशल व्याख्या भी देखने योग्य है। इस शब्द का विलोम रूप प्रस्तुत कर अर्थ-निष्पादन किया गया है :

"ध···र···ती ती···र···ध/यानी,/जो तीर को धारण करती है
या शरणागत को/तीर पर धरती है/वही धरती कहलाती है।" (पृ. ४५२)

यहीं कवि का कथन है कि 'ध' के स्थान पर 'थ' का प्रयोग कर दें तो 'तीरथ' शब्द बन जाता है - 'शरणागत को तारे सो··· तीरथ।' 'धरणी' शब्द को भी अपने विलोम रूप से कवि ने यूँ कहते बतलाया है :

"ध···र···णी नी···र···ध/नीर को धारण करे···सो···धरणी
नीर का पालन करे सो···धरणी!" (पृ.४५३)

लोग एक-दूसरे की सहायता या मदद लेते ही हैं। एक-दूसरे को मदद देते भी हैं किन्तु कवि वर्णों के प्रयोग चातुर्य से सचेत करता है :

"मित्रों से मिली मदद/यथार्थ में मद-द होती है।" (पृ. ४५९)

शब्दों की थोड़ी-सी तोड़-मरोड़ से कवि को कैसी व्यंग्योक्तियाँ सूझती हैं, देखें :

- *"आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी?/सबसे आगे मैं*
  समाज बाद में!" (पृ. ४६१)

इसी प्रकार :

□ *"हम तो ···अपराधी हैं/चाहते अपरा 'धी' हैं।" (पृ. ४७४)*

कवि मिलते-जुलते शब्दों का उपयोग करता हुआ हमें उपदिष्ट करता है :

"अपराधी नहीं बनो/अपरा 'धी' बनो,
'पराधी' नहीं/पराधीन नहीं/परन्तु/अपराधीन बनो !" (पृ. ४७७)

कविवर श्री विद्यासागरजी शब्द-विनोद में ही निपुण नहीं हैं, बल्कि उनकी अंक क्रीड़ा एवं तत्सम्बन्धी ज्ञान भी स्पृहणीय है। 'मूकमाटी' महाकाव्य के मूल पात्र 'कुम्भ' पर अंकित कतिपय बीजाक्षरों एवं वाक्यों के अतिरिक्त कुछ संख्याएँ भी अंकित हैं :

"९९ और ९ की संख्या/जो कुम्भ के कर्ण-स्थान पर
आभरण-सी लगती अंकित हैं/अपना-अपना परिचय दे रही हैं।" (पृ. १६६)

इन संख्याओं के सम्बन्ध में जो विशेष रोचक एवं ज्ञातव्य बात है वह यह कि इन्हें एक से नौ तक की किसी भी संख्या से गुणा करें, आए गुणनफल की संख्याओं का एक-इकाई तक जोड़ते जाने पर अन्ततः ९ ही होता है, यथा :

"९९X२=१९८, १+९+८=१८, १+८=९
९९X३=२९७, २+९+७=१८, १+८=९।" (पृ. १६६)

इसी प्रकार :

"९X२=१८, १+८=९
९X३=२७, २+७=९।" (पृ. १६६)

अन्ततः, हम कविवर आचार्य श्री विद्यासागरजी की कुछ अन्य चुटीली उक्तियों को प्रस्तुत करना चाहेंगे, जिनका अर्थ उपयोगी और रंजक भी है, यथा :

१. *"शव में आग लगाना होगा,/और/शिव में राग जगाना होगा।" (पृ. ८४)*
२. *"जल में जनम लेकर भी/जलती रही यह मछली।" (पृ. ८५)*
३. *"कम बलवाले ही/कम्बलवाले होते हैं।" (पृ. ९२)*
४. *"लगाम चाम वाले/वाम-चाल वाले होते हैं।" (पृ. १०१)*
५. *"कर्त्तव्य के क्षेत्र में/कर प्रायः कायर बनता है/और*
कर माँगता है कर/वह भी खुल कर !" (पृ. ११४)
६. *"जीवन का, न यापन ही/नयापन है/और/नैयापन !" (पृ. ३८१)*
७. *"प्रकृति में वासना का वास ना है।" (पृ. ३९३)*

जैसा कि पहले भी कहा गया है, महान् काव्य ग्रन्थ 'मूकमाटी' के समस्त चमत्कारी शब्द प्रयोगों को यहाँ नहीं लिया जा सकता। किन्तु, जितने स्थलों पर दृष्टि केन्द्रित की गई है उतने से कवि के शब्द ज्ञान एवं प्रयोग नैपुण्य पर यथेच्छ प्रकाश पड़ता है, ऐसी आशा है। इत्यलम् !

□

'मूकमाटी' : अपनी ही शैली का एक नया महाकाव्य

डॉ. वेद प्रकाश द्विवेदी

जैन सन्त विद्यासागर की कविता रचना 'मूकमाटी' अपनी ही शैली का एक नया महाकाव्य है। महाकाव्य इसलिए नहीं कि यह विशालकाय है, महाकाव्य इस अर्थ में भी नहीं कि इसमें किसी इतिहास गाथा या पुराण गाथा के स्थान पर कुछ उपकथाएँ या कल्पना-कथाएँ जोड़ कर स्वयं को एक विशालकाय प्रबन्ध काव्य के रूप में प्रस्तुत किया गया। सच तो यह है कि परम्परागत दृष्टि से समीक्षक लोग जिसे महाकाव्य कहते रहे हैं, वह तो यह है ही नहीं, क्योंकि प्रबन्ध कथा के अभाव में यहाँ सर्गों या पर्वों के विभाजन की कोई सम्भावना ही नहीं है। एक सुनिश्चित दार्शनिक अथवा आचार्य दृष्टि से अनुशासित गति होने से इसमें वर्ण्य-वस्तु की बहुत विविधता भी नहीं है। ऐसी स्थिति में ऋतु सौन्दर्य और रस योजनाएँ जैसी बातें तो कोई तुक ही नहीं रखती हैं। 'साकेत' अथवा 'कामायनी' की कोटि में भी 'मूकमाटी' को नहीं खपाया जा सकता। अन्तर बहुत स्पष्ट है। उन दोनों महाकाव्यों में अतीत कथाओं के आलोक में वर्तमान को भास्वरता देने का प्रयत्न है। 'मूकमाटी' में ऐसा कुछ भी नहीं है। इस काव्य की कथावस्तु-विधान की दृष्टि से कल्पना-प्रसूत है, अनुभव की दृष्टि से जीवन की धरती से उगी है, मूल्यों की दृष्टि से आर्हत् धर्म के मानवीय मूल्यों के सन्देश-सूत्र पकड़ कर चलती है। कुल मिलाकर आदि से अन्त तक यह विकासमान कथावस्तु है। इसीलिए मैंने 'मूकमाटी' को अपनी शैली के एक अलग ही महाकाव्य के रूप में समझा है। इसकी महत्ता काय विस्तार में नहीं है, आत्म-विस्तार में है। अपायों से मुक्त चेतना के उदात्तीकरण में है।

धर्म और आचार मूलतः मानव जीवन की परिष्कृति और संस्कार के लिए ही हैं। स्वभावतः जो भी काव्य रचना जीवन को केन्द्र में लेकर के चलेगी, उसमें जीवन का परिष्कार करने वाली, उसमें पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठाने वाली नैतिकतावादी दृष्टि अवश्य ही अनुस्यूत रहती है। कभी-कभी दार्शनिक और सन्त कोटि के कविजन निश्चयपूर्वक किसी विशेष आचार-संहिता को ध्यान में रखकर काव्य रचना करते हैं। ऐसी रचनाओं में कविता मुक्त और निर्बन्ध होकर नहीं चल पाती है। वह एक सुनिश्चित विचार-दृष्टि की संवाहक भर बनी रहती है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका उद्देश्य यह स्पष्ट कर देना है कि 'मूकमाटी' जैसे महाकाव्यों पर कोई समीक्षा, टिप्पणी करते समय न तो पुराने काव्यशास्त्रीय मापदण्ड ही लागू किए जाएँ और न ही एकतरफा ढंग से नई समीक्षा के कोई स्थिर सिद्धान्त ही परख के लिए पर्याप्त कहे जा सकते हैं। ऐसी काव्य-रचना की समीक्षा के लिए कवि की स्वयं की दृष्टि ही सर्वोपरि दिशा-संकेतक हो सकती है।

'मूकमाटी' के कवि ने साहित्य शब्द को लेकर अपनी रचना में जो आप्त धारणा प्रस्तुत की है, वह एक कारगर सूत्र है जिसके सहारे 'मूकमाटी' का अच्छा मूल्यांकन किया जा सकता है। कवि की धारणा है :

> *"हित से जो युक्त–समन्वित होता है/वह सहित माना है*
> *और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि*
> *जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव–सम्पादन हो*
> *सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित-पुष्प-सम*
> *सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!" (पृ. १११)*

तात्पर्य यह है कि जो हित साधना नहीं करता, वह साहित्य नहीं है अर्थात् वह कविता नहीं है। जो माटी को छान-

फटक, जल सिंचित कर, काँटे-कंकड़ के अपाय दूर कर उपयोगी और उपकारी कुम्भ में नहीं ढाल देता, वह कुम्भकार नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें तो शब्दों की माटी को जो रचनाकार इस शक्ल में नहीं ला पाता, वह कविता का कुम्भकार नहीं, साहित्य का कुम्भकार नहीं और उसकी रचना कविता नहीं। 'मूकमाटी' काव्य में वास्तविकता यह है कि कवि और दार्शनिक के बीच एक सतर्क संवाद चलता है। कभी कवि का स्वर ऊपर उठता है तो कभी दार्शनिक का स्वर 'हावी' हो जाता है। संवाद आरम्भ होते ही दोनों ही स्वर माटी और धरती के संवादों के साथ मुखरित हो उठते हैं।

भारतीय आचार्यों ने सानुबन्ध कथा को खण्ड और प्रबन्ध दो रूपों में देखा है। प्रबन्ध के लिए आद्यन्त कथा-प्रवाह आवश्यक है। मम्मट, विश्वनाथ आदि ने सर्गबद्ध कथा, उच्चकुलोद्भव नायक, धर्मार्थ आदि पुरुषार्थ-चतुष्टय, विजय यात्रा, नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु वर्णन इत्यादि लौकिक विषय एवं वस्तुओं का वर्णन महाकाव्य के लिए अनिवार्य बताया है। पाश्चात्य विद्वानों ने उसमें प्रकथन की प्रधानता, सर्वत्र एक ही छन्द का प्रयोग, कथा में आरम्भ-मध्य-अवसान का समानुपातिक प्रयोग, विभिन्न मानवीय स्थितियों का चित्रांकन महत्त्वपूर्ण माना है।'मूकमाटी' में कथा-तन्तु अत्यन्त विरल, सूक्ष्म है। मोटे तौर पर यह काव्य चार खण्डों में विभक्त है–'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' व 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।' इस प्रकार कुम्भकार द्वारा माटी का चयन, कुदाली से खोदना, मिट्टी आनयन, कंकड़ों को अलग करना, कूप से जल को निकाल कर मिट्टी फुलाना, पैरों से उसे रौंदना, चक्र पर चढ़ाकर मिट्टी को घट का आकार देना एवं घड़े के अन्दर सहारा देकर ठोक-पीटकर उसे विस्तार देना, उसमें अनेक मनोनुकूल चित्रों का अंकन, धूप में सुखाना, अवा के अन्दर अग्नि डालकर उसे मंगल घट में परिवर्तित करना आदि इसकी मुख्य आधिकारिक कथा है। प्रासंगिक घटनाओं के रूप में सरिता तट की माटी की व्यथा-कथा, आकाश से मुक्ता वर्षण, राजा द्वारा उसे प्राप्त करने का प्रयास तथा विफलता, स्वर्ण कलश एवं अनेक आतंकवादियों के प्रयत्न मुख्य हैं। इस प्रकार 'मूकमाटी' की कथा न तो ऐतिहासिक है और न प्रख्यात, यह तो तत्त्वान्वेषी जैन सन्त की उर्वर कल्पना एवं प्रौढ़ प्रतिभा का निदर्शन है। कथा का उद्देश्य मिट्टी से मंगल घट का निर्माण है, जिसमें पूरित अमृत-सम जल का संरक्षण, गुरु-पाद-पद्मों का प्रक्षालन मुख्य है। इस प्रकार एक सामान्य-सी कथा को बहुआयामी रूप में परिवर्तित करना तथा बहुजन हिताय, लोक हिताय या दीन-हीन वस्तु में श्रेष्ठ तत्त्वों की खोज एवं रूपान्तरण साधारण कवि के सामर्थ्य से परे है। निश्चित ही लघु में विराट्, अणु में महत् का दर्शन स्थितप्रज्ञ योगीजन का ही कार्य है, जो यहाँ दिखाई देता है।

यहाँ यह निर्णय करना अति आवश्यक प्रतीत होता है कि आलोच्य 'मूकमाटी' काव्य का काव्य रूप क्या है ? क्या यह मात्र प्रबन्ध काव्य है ? अथवा क्या इसे हम महाकाव्यात्मक गरिमा से अभिहित कर सकते हैं ? इस समस्या के मूल में यह बात प्रथम दृष्ट्या उठ खड़ी होती है कि मूल आधिकारिक घटना महाकाव्यात्मक गरिमा से शून्य है। घटना-व्यापार शिथिल तथा प्रवाहमयता विच्छिन्न है। यहाँ मूल अभिधेय अर्थ के साथ दूसरी कथा प्रवाहित नहीं प्रतीत हो रही है ? इसका उत्तर स्वीकारात्मक रूप में है कि मूल आधिकारिक कथा के समानान्तर उपमान कथा प्रवाहित है, जिसमें आर्हत् दर्शन के अनुसार जीव की पारलौकिक या आध्यात्मिक साधना यात्रा का सविस्तार वर्णन है। इस कथा में गुरु, शिष्य, माया, साधना मार्ग की स्वीकृति, संसार से दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति, दोषों का परिमार्जन, साधना की अग्नि में जीवात्मा का परिष्कार एवं आत्मा का सर्वथा नूतन रूप में आविर्भाव की घटनाएँ प्रमुख हैं। इस प्रकार यदि कुम्भकार के प्रयास की कथा उपमेय कथा है तो गुरु द्वारा शिष्य को आत्म साक्षात्कार कराने की कथा उपमान कथा है। अतः विद्वानों की दृष्टि में उपमेय की कथा के साथ उपमान कथा का संयोजन समासोक्ति काव्य है और अप्रस्तुत के

माध्यम से प्रस्तुत की अभिव्यक्ति अन्योक्ति है। हमें प्राचीन शास्त्रीय मापदण्डों से पूछना पड़ेगा कि इस आलोक में 'मूकमाटी' किस श्रेणी में है ?

यदि हम 'मूकमाटी' की स्वर्णिम-परिणति की कथा को उपमेय कथा मान लेंगे तो यह प्रश्न उपस्थित होगा कि अभिधा प्रधान यह कथा काव्य की गरिमा से हीन सिद्ध होगी और न ही इसमें शास्त्रोक्त महाकाव्यों के बाह्य लक्षण दिखाई देंगे। यदि इसमें उल्लिखित काया-रूपान्तरण की कथा को प्रमुख मानकर उपमेय कथा की व्यंजना मानेंगे तो भी आध्यात्मिकता के विरुद्ध कथा में दोष प्रतीत होंगे। मेरी दृष्टि में यह एक रूपक-काव्य है, जिसका संक्षिप्त विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है।

साहित्य में रूपक शब्द अनेकार्थी है। रूपक अलंकार वह है जिसमें धर्म, गुण आदि की समानता के कारण प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप होता है। दण्डी ने उपमान-उपमेय के भेद का तिरोभाव हो जाने पर रूपक अलंकार माना है (काव्यादर्श, २/१४,६६)। वामन के अनुसार उपमान के साथ उपमेय के गुणों का साम्य होने पर अभेद का आरोप रूपक अलंकार है (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, ४/३-६)। मम्मट के अनुसार उपमेय उपमान का अभेद ही रूपक अलंकार है। अँग्रेजी के एलीगरी का हिन्दी अनुवाद रूपक काव्य है। इसमें कथा दो अर्थों को लेकर चलती है– एक कथा इतिवृत्तात्मकता के कारण सतही और प्रत्यक्ष होती है, तो दूसरी कथा जीवन के असामान्य तत्त्व से सम्बन्धित होने के कारण गूढ़ और अप्रत्यक्ष होती है। अँग्रेजी के प्रसिद्ध समालोचक एडवर्ड कॉम्बी के अनुसार : "एलीगरी काव्य महाकाव्य न होकर उसकी-सी विशेषताएँ लेकर लिखा जाता है। पात्र पूर्णतया निर्जीव एवं अमूर्त भावों के प्रतीक होते हैं। उसमें सर्वत्र एक आध्यात्मिक तत्त्व की प्रधानता रहती है" (दि ऐपिक, पृ. ५२)। इस प्रकार 'मूकमाटी' प्रतीक काव्य है। इसमें कुछ पात्रों के अतिरिक्त मानवेतर प्राणी या जड़ पदार्थ पात्र रूप में अवतरित हैं, जो पुरुषों जैसी भाषा में बातचीत, उपदेश करते दिखाई देते हैं और इसका उद्देश्य धार्मिक, नैतिक अथवा आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण मात्र है। हिन्दी में जायसीकृत 'पदमावत' तथा प्रसाद की 'कामायनी' इसी प्रकार के काव्य हैं। जैन कवि विद्यासागर ने इस काव्य में समस्याओं को जिस रूप में चित्रित किया है, वह शैली उपदेशात्मक अवश्य है किन्तु इसका शिल्प-विधान चमत्कारिक, आश्चर्यपूर्ण और सामर्थ्य से भरा है। कवि ने मायावी, छद्मरूप धारण करने वाली प्राचीन समस्याओं को वास्तविक रूप में पहचान कर उनका समाधान आचार आधारित या व्यावहारिक रूप में दिया है। इस प्रकार गुरु ही कुम्हार है, सर्जक है, दिशा-निर्देशक है। जड़ जंजाल में बँधे शिष्य की आत्म चेतना ही मूकमाटी है। गुरु तत्त्वबेधक दृष्टि से मिट्टी का चयन कर शिष्य की आत्म चेतना का परिष्कार करता है। वह अन्तश्चक्षुओं को उद्घाटित कर उसे अमृत सुखाकांक्षी बनाता है। प्रेम उपदेश, तत्त्व-चिन्तन का जल सिंचित कर मिट्टी को आर्द्र, नम्र और आत्म-साक्षात्कारी बनाता है।

इन्द्रिय संयम, तप, अपरिग्रह युक्त साधना के चक्र में चढ़ाकर उसे घटाकार देता है तथा परीक्षा की कसौटी हेतु उसे ज्ञानाग्नि में तपाकर ऐसे मंगल घट के रूप में उपस्थित करता है, जिसमें ही प्रभु भक्ति का रसायन सुरक्षित रह सकता है। मूल रूप में यह कथा मनोरम, स्पृहणीय और चमत्कारपूर्ण है, वहीं दूसरी ओर कथा-प्रवाह में मार्मिक स्थलों की पहचान कर उसका वर्णन आरोह-अवरोहयुक्त है। मूल घटना के साथ लेखक ने जिस काव्यात्मक गरिमा का परिचय दिया है उसमें भाव, रस तथा प्रकृति चित्रण का विशेष योगदान है।

प्रकृति चित्रण : कवि ने 'मूकमाटी' में प्राकृतिक-अप्राकृतिक तत्त्वों का निरूपण प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में किया है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष जैसे दार्शनिक तत्त्वों का निरूपण, जहाँ एक ओर प्रकृति के स्वरूप निरूपण के रूप में किया है, वहीं दूसरी ओर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लिखित आलम्बन, उद्दीपन, उपदेशात्मिका, रहस्यमयी सत्ता का संकेत तथा उसके कोमल, संश्लिष्ट और कठोर रूपों का भी चित्रांकन किया है।

कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

- *"लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी/प्रभाकर के कर-छुवन से*
  बचना चाहती है वह;/अपनी पराग को—/सराग-मुद्रा को—
  पाँखुरियों की ओट देती है।" (पृ. २)
- *"प्रभात कई देखे/किन्तु/आज-जैसा प्रभात/विगत में नहीं मिला*
  और/प्रभात आज का/काली रात्रि की पीठ पर/हलकी लाल स्याही से
  कुछ लिखता-सा है, कि/यह अन्तिम रात है।" (पृ. १८-१९)
- *"दिनकर ने अपनी अंगना को/दिन-भर के लिए*
  भेजा है उपाश्रम की सेवा में,/और वह/आश्रम के अंग-अंग को
  आँगन को चूमती-सी···/सेवानिरत-धूप···!" (पृ. ७९)
- *"लचकती लतिका की मृदुता/पक्व फलों की मधुता/किधर गईं सब ये ?*
  वह मन्द सुगन्ध पवन का बहाव,/ हलका-सा झोंका वह
  फल-दल दोलायन कहाँ ?/फूलों की मुस्कान,
  पल-पल पत्रों की करतल-तालियाँ/श्रुति-मधुर-श्राव्य मधूपजीवी
  अलि-दल गुंजन कहाँ ?" (पृ. १७९)

प्रकृति के कोमल रूप के साथ कवि ने उसके कठोर रूप को भी अंकित किया है :

"कभी कराल काला राहू/प्रभा-पुंज भानु को भी
पूरा निगलता हुआ दिखा,/कभी-कभार भानु भी वह
अनल उगलता हुआ दिखा।/जिस उगलन में/पेड़-पौधे पर्वत-पाषाण
पूरा निखिल पाताल तल तक/पिघलता गलता हुआ दिखा।" (पृ. १८२)

कवि ने प्रकृति के क्रियात्मक रूप का अत्यन्त हृदयावर्जक वर्णन किया है। उदाहरण द्रष्टव्य है :

"रति-पति-प्रतिकूला-मतिवाली/पति-मति-अनुकूला गतिवाली
इससे पिछली, बिचली बदली ने/पलाश की हँसी-सी साड़ी पहनी
गुलाब की आभा फीकी पड़ती जिससे/लाल पगतली वाली लाली-रची
पद्मिनी की शोभा सकुचाती है जिससे,/इस बदली की साड़ी की आभा वह
जहाँ-जहाँ गई चली/फिसली-फिसली, बदली वहाँ की आभा भी।" (पृ. १९९-२००)

रस विवेचन : विभाव, अनुभाव, संचारी-भाव से पुष्ट रस की अभिव्यक्ति कोई भावनावान् कवि ही कर सकता है। साधारणतया कथा प्रधान काव्यों में कथा-प्रवाह के कारण रसों की अभिव्यक्ति स्वतः होती चलती है। जबकि मुक्तक कवियों को इसकी संहति में प्रयास करना पड़ता है। जैन साधक विद्यासागर महाराज तत्त्वद्रष्टा और दार्शनिक हैं। अतः उनके काव्य में दर्शन तत्त्व की प्रमुखता है। परिणामस्वरूप रस तत्त्व उतने प्रांजल रसमग्न करने की सामर्थ्य से अपेक्षाकृत हीन स्थिति में प्रकट हुए हैं। जाहिर है कवि के ऊपर दार्शनिक रूप प्रबल होता दिखाई देता है, फिर भी यत्र-तत्र भाव एवं रसों का सफल सन्निवेश 'मूकमाटी' काव्य में हुआ है। कुम्भकार की कथा में यदि शान्त रस प्रमुख

स्थान ले बैठा है तो शिष्य-साधना की अप्रस्तुत कथा में कर्मवीर दूसरों से आगे निकल गया है। निष्कर्ष रूप में कर्म (साधना) वीर रस अंगीरस के रूप में उभर कर आया है। वैसे उनके काव्य में रस सम्बन्धी मान्यताएँ कुछ नए ही रूप में प्रकट हुई हैं। कुछ उदाहरण देखिए, जहाँ रस की उपयोगिता और उसके महत्त्व का मूल्यांकन इस प्रकार किया गया है:

"वीर-रस के सेवन करने से/तुरन्त मानव-खून
खूब उबलने लगता है/काबू में आता नहीं वह
दूसरों को शान्त करना तो दूर,/शान्त माहौल भी खौलने लगता है
ज्वालामुखी-सम।" (पृ. १३१)

वीर रस का उपहास करता हुआ हास्य रस ठहाका लगाता है। कवि कहता है कि 'खेद भाव के विनाश हेतु हास्य का राग भले ही आवश्यक हो, किन्तु वेद-भाव के विकास हेतु हास्य का त्याग अनिवार्य है क्योंकि वह भी कषाय है' (पृ. १३३)। हास्य ने करवट बदल कर रौद्र रस को आमन्त्रित किया। सहृदय कवि ने उसके सात्त्विक एवं कायिक मनोभावों को रस शास्त्र से अनुमोदित रूप में प्रस्तुत किया है :

"घटित घटना विदित हुई उसे/चित्त क्षुभित हुआ उसका
पित्त कुपित हुआ/भृकुटियाँ टेढ़ी तन गईं/आँख की पुतलियाँ
लाल-लाल तेजाबी बन गईं।" (पृ. १३४)

इसी प्रकार विस्मय रस का शास्त्रीय रूप अभिव्यक्त हुआ है। कायिक अनुभावों की एक छटा द्रष्टव्य है :

"इस अद्भुत घटना से/विस्मय को बहुत विस्मय हो आया।
उसके विशाल भाल में/ऊपर की ओर उठती हुई
लहरदार विस्मय की रेखाएँ उभरीं/कुछ पलों तक विस्मय की पलकें
अपलक रह गईं!/उस की वाणी मूक हो आई/और
भूख मन्द हो आई।" (पृ. १३८)

भक्ति और शान्त रस कहीं उपदेश रूप में तो कहीं रसशास्त्रीय रूप में अभिव्यक्त हुआ है। कुम्भ कलश की उपयोगिता तथा गुरु के स्वागत के उपरान्त सेठ के हृदय में आशीर्वचन सुनकर जिस भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है, उसमें अश्रु, शोक, ग्लानि, विषाद रूप संचारी भावों का सफल सन्निवेश है। उदाहरण द्रष्टव्य है :

"लोचन सजल हो गये/पथ ओझल-सा हो गया
पद बोझिल से हो गये/रोका, पर/रुक न सका रुदन,
फूट-फूट कर रोने लगा/पुण्य-प्रद पूज्य-पदों में
लोटपोट होने लगा।" (पृ. ३४६)

लेख विस्तार भय से निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक तत्त्व के प्राधान्य होने पर भी लेखक ने सभी रसों का स्वरूप, उससे अधिक भावों का वर्णन, भाव सबलता, भाव सन्धि एवं भावाभास का जिस प्रकार वर्णन किया है, यद्यपि वह रस-दशा को नहीं पहुँच सके, फिर भी पाठकों की चित्त वृत्ति विस्तार में पूर्ण सक्षम हुए हैं।

ऊपर 'मूकमाटी' की काव्यानुभूति पर विहंगम दृष्टिपात किया गया है। यह देखा गया है कि इसमें दार्शनिक

चिन्तन और उपदेशों की बहुलता है। ये उपदेश कहीं नदी, कहीं धरित्री तो कहीं अग्नि, कुम्भकार, कुम्भ, अवाँ, श्रीफल, घट, मच्छर, मत्कुण, झारी, कलश, कहीं साधु के रूप में वर्णित हैं। 'मूकमाटी' की संवाद योजना अत्यन्त चमत्कारिक, प्रभविष्णु है। उसके संवाद गत्यात्मक, लघु-दीर्घ, दर्शन और अलंकार वक्रता से ही नहीं, अपितु आज के चाकचक्य जीवन पर कटु सत्य एवं यथार्थपूर्ण व्यंग्योक्ति भी करते हैं। ऐसे अनुभूति पक्ष के साथ अभिव्यक्ति पक्ष का आकलन अत्यावश्यक है क्योंकि भाव या विचारों का संवहन अभिव्यक्ति पक्ष से ही होता है, जिसमें भाषा प्रमुख है। भाव यदि साध्य हैं तो भाषा साधन है। 'मूकमाटी' में प्रयुक्त भाषा में उर्दू, फारसी तथा यत्र-तत्र तद्भव शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। 'मूकमाटी' का वैशिष्ट्य भाषा की दृष्टि से अप्रतिम है। इसमें शताधिक ऐसे शब्दों का प्रयोग है जिनका यत्किंचित् परिवर्तन करके या वर्ण-व्यत्यय रूप में प्रयुक्त कर लेखक ने अर्थ चारुता, वक्रता का साभिप्राय उपयोग किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

- *"तुम में पायस ना है/तुम्हारा पाय सना है।" (पृ. ३६४)*
- *"मर, हम 'मरहम' बनें···!" (पृ. १७५)*
- *" "मैं दो गला"/...'मैं' यानी अहं को*
  दो गला—कर दो समाप्त।" (पृ. १७५)
- *"...'नारी'/यानी—/'न अरि' नारी···/अथवा*
  ये आरी नहीं हैं/सो··· नारी···!" (पृ. २०२)
- *" 'कु' यानी पृथिवी/'मा' यानी लक्ष्मी/और*
  'री' यानी देनेवाली···।"(पृ. २०४)

इस तरह की मनोवृत्ति सभंग श्लेष, सभंग यमक या यमकाभास के अन्तर्गत आती है, जो शब्दालंकार के प्रमुख भेद हैं। कुछ उदाहरण अनुप्रास के भी द्रष्टव्य हैं :

- *"जल में जनम लेकर भी/जलती रही यह मछली*
  जल से, जलचर जन्तुओं से।" (पृ. ८५)
- *"चाँद की चमकती चाँदनी भी*
  चित्त से चली गई उछली-सी कहीं।" (पृ. ८५)
- *"भवन-भूत-भविष्य-वेत्ता/भगवद्-बोध में बराबर भास्वत है।" (पृ. ११६)*

अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, प्रतीप, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा का बहुल प्रयोग हुआ है। अर्थालंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में ही हुआ है, जब कि शब्दालंकारों के प्रयोग में कवि को आयास करना पड़ा है :

उपमा :
- *"स्वाभिमानी स्वराज्य-प्रेमी/लोहित-लोचन उद्भट-सम*
  या/तप्त लौह-पिण्ड पर/घन-प्रहार से, चट-चट छूटते
  स्फुलिंग अनुचटन-सम।" (पृ.२४३)
- *"दृढ़मना श्रमण-सम सक्षम/कार्य करने कटिबद्ध हो।" (पृ. २४३)*
- *"शान्त माहौल भी खौलने लगता है/ज्वालामुखी-सम।" (पृ. १३१)*

रूपक : ◘ *"मंगलमय चरण-कमलों में/मस्तक धरते, करते नमन।" (पृ. २४२)*

◘ *"कुलाल-चक्र यह, वह सान है/जिस पर जीवन चढ़कर*
अनुपम पहलुओं से निखर आता है।" (पृ. १६२)

◘ *" 'शरण, चरण हैं आपके,/तारण-तरण जहाज,*
भव-दधि तट तक ले चलो/करुणाकर गुरुराज' ! " (पृ. ३२५)

उत्प्रेक्षा : *"ओलों को कुछ पीड़ा न हो,/यूँ विचार कर ही मानो*
उन्हें मस्तक पर लेकर/उड़ रहे हैं भू-कण !" (पृ. २५१)

प्रतीप : *"पलाश की छवि को हरते/अविरति-भीरु अवतरित हुए*
रजत के थाल पर/पात्र के युगल पाद-तल !" (पृ. ३२४)

'मूकमाटी' के शैल्पिक-वैशिष्ट्य पर दृष्टिपात करते ही हमारा ध्यान कवि-प्रयुक्त बिम्बों की ओर सहज ही चला जाता है। कवि ने वस्तुओं को ऐसे रूप से प्रस्तुत किया है कि उनका चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण बड़ी सरलता से हो जाता है। कवि ने सहज, सरल, संश्लिष्ट, विवृत्त, अलंकृत, गत्यात्मक, व्यापारप्रधान बिम्बों का प्रयोग किया है। बिम्ब-विधान की दृष्टि से 'मूकमाटी' का अनुशंसन स्वतन्त्र लेख का विषय हो सकता है। यहाँ कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होंगे :

◘ *"विस्मित लोचन वाली/सस्मित अधरों वाली वह/इन लोचनों तक*
कुछ मादकता, कुछ स्वादकता/सरपट सरकाती रहती है।" (पृ. १०१)

◘ *"माटी की गहराई में/डूबते हैं शिल्पी के पद आजानु !*
पुरुष की पुष्ट पिण्डरियों से/लिपटती हुई प्रकृति, माटी
सुगन्ध की प्यासी बनी/चन्दन तरु-लिपटी नागिन-सी···!" (पृ. १३०)

◘ *"आषाढ़ी घनी गरजती/भीतिदा मेघ घटाओं-सी*
कज्जल-काली धूम की गोलियाँ/अविकल उगलने लगा अवा।" (पृ. २७८)

◘ *"प्राची की गोद से उछला/फिर/अस्ताचल की ओर ढला*
प्रकाश-पुंज प्रभाकर-सम/आगामी अन्धकार से भयभीत
घर की ओर जा रहा सेठ···।" (पृ. ३५१)

निष्कर्ष यह है कि 'मूकमाटी' आचार्य कवि की जैन साधना का सुपरिणाम है। कवि ने मूक, निरीह, पद-दलित माटी की व्यथा-कथा को सहृदयता से सुन कर उसकी परिणति मंगल घट के रूप में की है। भाव पक्ष की अपेक्षा इसका कला पक्ष अधिक प्रौढ़ है। शब्दों को उर्दंकित कर उन्हें नई अर्थवत्ता प्रदान की गई है।

◘



'मूकमाटी' का शैलीय वैशिष्ट्य

डॉ. भगवान दीन मिश्र

मैंने गाँव की गन्ध को गहरे तक अनुभव किया है। मैंने कुम्हार की वे सारी प्रक्रियाएँ ध्यान से देखी हैं जो घड़ा बनाते समय अपनाई जाती हैं– माटी की छाती में दरातों के प्रहार, लकड़ी के हथौड़े से माटी को कण-कण करना, छन्नी लगाकर कंकड़ छानना, तदनन्तर पानी से उसे रससिक्त करना, पैरों तले रौंदना, चाक में रखकर उससे मनचाहा पात्र बनाना, हल्का सूखने पर फिर चपटे डण्डे से ठोकना-पीटना, कड़ी धूप में सुखाना, रँगना, धधकती आग में पात्र को पकाना। इस प्रक्रिया को मैं अपने अल्हड़ छात्रों को रूपक/उपमा के द्वारा समझाता आ रहा हूँ और बताता रहा हूँ कि बाजार में टनटनाते घड़े के रूप में ग्राह्य बनने के लिए उन सारे दर्दों को झेलना पड़ता है जो घड़ा झेलता है। अधपके यानी 'सेवरे' घड़े के खरीददार नहीं होते। वह टिकाऊ नहीं होता। मेरे दर्जनों सेवरे घड़े इस उपमा से मुस्कराते रहे हैं, बिचलित भी हुए हैं।

'मूकमाटी' काव्य में ऊपर की समस्त तथा अन्य प्रक्रियाएँ वर्णित हैं लेकिन कविवर आचार्य श्री विद्यासागर ने इसे एक नया आयाम दिया है। यह आयाम है आध्यात्मिकता का, सदाचरण का। घट और आकाश की उपमाएँ जीव एवं ईश्वर के रूप में पहले भी दी गई हैं। कबीर ने भी कई बार उल्लेख किए हैं किन्तु माटी की विकास यात्रा में काव्य के साथ एक दर्शन को गूँथना, वह भी वृहदाकार रूप में, मेरी याददास्त में पहले नहीं हुआ। इस सन्दर्भ में इस काव्य-कृति का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है।

यह काव्य सूरज के जागरण से शुरू होता है। नदी तट की माटी संलाप करती है, धरती उत्तर देती है, सरित्-प्रवाह का चित्रण होता है। कुम्हार मिट्टी खोदने आता है, खुदी हुई मिट्टी को गधे की पीठ पर लादकर ले जाता है, कंकड़ बीने-छाने जाते हैं, पानी को कुएँ से खींचा जाता है, मिट्टी को गीला किया जाता है और वे तमाम प्रक्रियाएँ अपनाई जाती हैं, जो ऊपर वर्णित हैं। आभा से दमकते मिट्टी के घड़े में पानी भरा जाता है; श्रमण के आतिथ्य में उस घड़े के सुवासित जल से पाँव पखारे जाते हैं; तृप्ति होती है व्यक्ति की, वर्ग की, समष्टि की। इस कथानक को मानवीकृत रूप में वर्णित किया गया है। यहाँ हर वस्तु बोलती है, घटनाएँ सन्देश देती हैं, परिस्थितियों से कवि दार्शनिक निर्वचन (इन्टर्प्रेटेशन) करता है और पाठक पर प्रभाव पड़ता है मानों वह संवाद कर रहा है। कृति में कण-कण बोलता है, हँसता है, रोता है और कवि की काव्यकला का कमाल है कि इसी क्रम में सभी रसों के उद्रेक का प्रयास किया गया है। जैन मुनि ने शृंगार का भी वर्णन किया है लेकिन उतना ही शालीन जितना तुलसी ने मातृरूपा सीता का किया था (देखिए, पृ. १२८-१३२)। ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा प्रवाह, शब्द चयन, भाव विवेचन सब कुछ सही होने पर भी रस परिपाक अपेक्षित तीव्रता का नहीं हो सका। शान्त रस का प्रवाह प्रबलतम है और सफल भी।

अमूर्त का मूर्तीकरण एवं जड़ का मानवीकरण एक उदात्त भावभूमि की अपेक्षा करता है। 'कामायनी' महाकाव्य में मनोदशाओं को मूर्तिमन्त किया है। पूरा का पूरा छायावाद एवं रहस्यवाद मूर्तीकरण एवं मानवीकरण की प्रक्रिया से ओतप्रोत है। महादेवी वर्मा को हर कण में वेदना दिखती है, पन्त को प्रकृति का हर भाग सजग लगता है और नक्षत्रों के पार न जाने कौन 'मौन निमन्त्रण' देता है। महाप्राण निराला ने तो सब तरह की कविता लिखी हैं। 'अनामिका' में 'विजन वन वल्लरी' में अनुराग भरी सो रही कली नायिका का वर्णन करके भाव, भाषा एवं छन्द में क्रान्ति ला दी थी। 'कामायनी' महाकाव्य मनोदशाओं को आधार बनाकर मानव मन को व्याख्यायित करने का सफल प्रयास है। इसके सर्ग 'चिन्ता' से प्रारम्भ होकर 'आनन्द' तक पहुँचते हैं। छायावाद की उत्कृष्ट काव्यकृति है 'कामायनी'।

'मूकमाटी' में चार खण्ड हैं—१. 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ', पृ. १-८८; २. 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं', पृ. ८९-१८७ ; ३. 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन', पृ. १८९-२६७ ; ४. 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख', पृ. २६९-४८८।

पहले खण्ड में मिट्टी के सहज स्वरूप, यानी कंकड़ रहित स्थिति को, पाने का वर्णन है।

"इस प्रसंग से/वर्ण का आशय/न रंग से है/न ही अंग से
वरन्/चाल-चरण, ढंग से है।" (पृ. ४७)

दूसरे खण्ड में माटी को रससिक्त करके नया स्वरूप दिया जाता है और यह है भाव बोध की एक नई स्थिति। शब्द यानी ध्वनि समूह को अर्थ के स्तर पर समझना 'बोध' है तथा उसे आचरण में उतारना 'शोध' है।

"बोध में आकुलता पलती है/शोध में निराकुलता फलती है,
फूल से नहीं, फल से/तृप्ति का अनुभव होता है।" (पृ.१०७)

तीसरे खण्ड में मनसा, वाचा, कर्मणा लोक कल्याण करना ही जीवन की सार्थकता है, ऐसा स्पष्ट किया गया है।

चौथे खण्ड में कुम्भकार ने घट को रूपाकार दिया है, अब उसे अवा में तपाकर शुद्ध करने का प्रयास है। इस खण्ड का फलक बहुत विस्तृत है तथा उसमें कई कथाप्रसंग गुथे हुए हैं। इसी खण्ड में साधु को आहार-दान देने का रोचक वर्णन है। जैन समाज में प्रचलित इस संस्कार का वर्णन काव्य एवं दर्शन दोनों ही दृष्टियों से उत्तम है।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट होता है कि मानवीकरण की दृष्टि से यह काव्य कृति छायावादी परम्परा में आती है। भाषा आधुनिक हिन्दी है और शैली में तत्समता का प्राचुर्य है। समासों का प्राचुर्य नहीं है। छन्दों में परम्परागत छन्द नहीं हैं बल्कि काव्यप्रवाह, लय से ओतप्रोत मुक्त छन्द है। बिम्बात्मकता इस काव्य कृति की प्रमुख विशेषता है। स्थान-स्थान पर सुन्दर कल्पनाएँ हैं, चित्र हैं और तदनुरूप भाषा है।

"प्रभात आज का/काली रात्रि की पीठ पर/हलकी लाल स्याही से
कुछ लिखता-सा है, कि/यह अन्तिम रात है।" (पृ.१९)

बीच-बीच में कुछ गीत भी गुथे हुए हैं।

इस कृति की एक विशेषता है सूक्तियों का विशाल भण्डार होना। जीवन, जगत्, सुख, दु:ख तथा अन्यान्य प्रकरणों पर सैकड़ों सूक्तियाँ स्थान-स्थान पर मिलेंगी, यथा :

- *"मन्द-मन्द/सुगन्ध पवन/बह रहा है;/बहना ही जीवन है।" (पृ.२)*
- *"दु:ख की वेदना में/जब न्यूनता आती है*
  दु:ख भी सुख-सा लगता है।" (पृ. १८)
- *"बायें हिरण/दायें जाय-/लंका जीत/राम घर आय।" (पृ.२५)*
- *"अति के बिना/इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं/और*
  इति के बिना/अथ का दर्शन असम्भव !/अर्थ यह हुआ कि
  पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है।" (पृ.३३)

अन्य सूक्तियाँ पृ. १३३, १३५, १४२, १५९, १७५, १८४, १८५, ३०२, ३०८ इत्यादि पर भी देखी जा सकती हैं।

कवि की अन्य विशेषताएँ लोक व्युत्पत्ति, यमक अलंकार तथा अनुप्रासों के सजीव प्रयोग हैं। लोक व्युत्पत्ति में प्राय: वर्णों के विलोम प्रयोग से अर्थ की सृष्टि की गई है। कुछ उदाहरण देखें :

- *"गद का अर्थ है रोग/हा का अर्थ है हारक*
  मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस,
  और कुछ वांछा नहीं/गद-हा···गदहा···!" (पृ. ४०)

- *"स्व की याद ही/स्व-दया है/विलोम-रूप से भी*
  यही अर्थ निकलता है/या···द···द···या···।" (पृ.३८)

इसी तरह हीरा (पृ. ५७), राख (पृ. ५७), कुम्भकार (पृ. २८), रस्सी (पृ. ६२), आदमी (पृ. ६४), लाभ (पृ. ८७),कायरता (पृ. ९४), नमन (पृ. ९७), निर्मद (पृ. १०२), साहित्य (पृ. १११), संसार (पृ. १६१), नदी एवं नाली (पृ. १७८ एवं ४४८), रसना (पृ. १८१), नारी (पृ. २०२), अबला (पृ. २०३), महिला (पृ. २०२-२०३), दुहिता (पृ. २०५-२०६), अंगना (पृ. २०७), धीरता एवं कायरता (पृ. २३३), समता (पृ. २८४), स्वप्न (पृ. २९५), बर्तन (पृ. ३३२), कला (पृ. ३९६), वैखरी/वैखली (पृ. ४०३), लोहा (पृ. ४१३) हैं।

मुहावरों के, लोकोक्तियों के दर्जनों रुचिकर प्रयोग हुए हैं।

इसी तरह 'धी' के विचित्र प्रयोग पृ. ८६, ४७४, ४७७ पर देखें तथा 'पर' के यमक प्रयोग पृ. १३१, ११५, ३७ आदि में बड़ी सजीवता से हुए हैं।

कई स्थलों पर संख्याओं का गुणन प्रस्तुत किया गया है। पृ. १६६-१६७ में ९ संख्या इसी प्रकार है।

'ही' एवं 'भी' के व्याख्यायित प्रयोग पृ. १७२-१७३ में हैं। 'लीं' के प्रयोग पृ. २०० में, 'घन' के प्रयोग पृ. २२७ में, यथा एवं तथा के प्रयोग पृ. २४५ में तथता-वितथता के प्रयोग पृ. २८८ में, स र ग म (धा, धिन्, धा...) के प्रयोग पृ. ३०५-३०६ में, 'पायस ना' एवं 'पाय सना' के प्रयोग ३६४ में, श स ष के प्रयोग पृ. ३९८ पर अवलोकनीय हैं।

कवि की भाषा में प्रवाह है, संस्कृत निष्ठता है, काव्यत्व है। किन्तु कुछ स्थलों में चिन्त्य प्रयोग रह गए हैं, यथा :

अपनी पराग (पृ. २), तरला तारायें (पृ.२), मौन का भंग होता है (पृ. ६), रोटी करड़ी क्यों (पृ. ११), प्रतिकार की पारणा (पृ. १२), कलिलता आती है (पृ. १३), निराशता (पृ. २२), परत्र (पृ. ३६), यशा (पृ. ४५), यतना (पृ. ५७), कैप उठ है (पृ. २६९), वो (पृ. १२६), लिंग दोष (पृ. २८२)।

निर्जीव वस्तु 'माटी' को काव्य कलेवर में, कथावृत्त में सुदृढ़ता से बाँधकर वीतरागी साधु ने सिद्ध कर दिया है कि कविता भावोद्रेक से बहती है, दया से उपजती है।

कुल मिलाकर यह कृति उत्तम एवं पठनीय है।

□

'मूकमाटी' की मानवीय संवेदना

डॉ. रामनारायण सिंह 'मधुर'

तत्त्व परक, चिन्तन-मनन एवं दर्शन से ओतप्रोत 'मूकमाटी' का कथ्य मानवीय संवेदना से ओतप्रोत है। आध्यात्मिक उँचाइयों को स्पर्श करती हुई यह काव्य कृति मानवीय जगत् की संवेदनाओं को भलीभाँति उजागर करती है और मनुष्य को प्रेरणा भी प्रदान करती है। कविता वही है, जो प्रेम एवं सद्भावना जाग्रत करे। जो हित सहित है, वही साहित्य है। कवि के शब्दों में :

"शिल्पी के शिल्पक-साँचे में/साहित्य शब्द ढलता-सा !
'हित से जो युक्त—समन्वित होता है/वह सहित माना है
और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव—सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड' ···!" (पृ. ११०-१११)

निरर्थक शब्दों के आडम्बर को साहित्य नहीं कहा जा सकता। सुगन्धित पुष्पों की तरह सार्थक शब्दों में ही भाव सम्प्रेषण की क्षमता होती है।

'मूकमाटी' की वेदना क्या आज के सर्व साधारण की वेदना नहीं है ? अत्याचार की चक्की-तले पिसती, अर्थाभाव एवं शोषण से कराहती निर्वस्त्र, भूखी, चुपचाप पीड़ा सहती आज की भारतीय जनता क्या मूक माटी की तरह अपने मनोभावों को प्रकट कर जी-हल्का करना नहीं चाहती ? मूक माटी छटपटाकर माँ धरती से कहती है :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
···अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !
सुख-मुक्ता हूँ/दुःख-युक्ता हूँ/तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ !" (पृ. ४)

कुशासन, अव्यवस्था, उत्पीड़न से व्यथित मनुष्य के मन में भी तो ऐसा ही हाहाकार है।

मूकमाटी की माँ धरती चिन्तन से उसे प्रबोधित करती है। यह दर्शन की मीमांसा है। किन्तु अपने देश का निरीह प्राणी कुछ कहना भी चाहता है तो उसकी कौन सुनता है ? माँ धरती, माटी की पीड़ा समझती है, पर जनता की पीड़ा सत्ता कहाँ समझती है ?

माटी में कंकर आदि के विकार हैं। उसे यदि शुभ मंगल घट का आकार देना है तो कंकर आदि को निकाल स्वच्छ जल से अभिसिक्त कर गूँथना होगा, तभी शिल्पी कुम्भकार उसे चाक पर चढ़ा कर मंगल घट का निर्माण कर सकेगा। मनुष्य भी तो माटी की तरह है, जिसके मन में विषय-वासनाओं, दुर्भावनाओं के विभिन्न कंकर निवास करते हैं। बिना प्रेम-भक्ति-ज्ञान के जल से सिंचित किए, मन के विकार कैसे दूर होंगे और उसकी आत्मा में मंगल घट का शुभ दीप कैसे प्रज्वलित होगा ? शिल्पी कुम्भकार से मिलने के लिए माटी बेचैन है, जैसे साधक बेचैन रहता है अन्तःकरण को शुद्धकर प्रियतम प्रभु को पाने के लिए। इस सन्दर्भ में माँ धरती का यह कथन ध्यातव्य है :

"प्रभात में कुम्भकार आयेगा/पतित से पावन बनने,

समर्पण-भाव-समेत/उसके सुखद चरणों में/प्रणिपात करना है तुम्हें,
...उसके उपाश्रम में/उसकी सेवा-शिल्प-कला पर
अविचल-चितवन—/दृष्टि-पात करना है तुम्हें,
अपनी यात्रा का/सूत्र-पात करना है तुम्हें !" (पृ. १६-१७)

व्याकुल प्रतीक्षा के बाद माटी का साक्षात्कार शिल्पी से होता है और माटी को वह धन्य करता हुआ उसे विभिन्न रूपों में रूपायित करता है :

"वह एक कुशल शिल्पी है !/उसका शिल्प/कण-कण के रूप में
बिखरी माटी को/नाना रूप प्रदान करता है।" (पृ. २७)

यह शिल्पी असाधारण और अलौकिक है, क्योंकि लौकिक शिल्पी को तो सरकार को टैक्स देना पड़ता है। लगता है, यहाँ कवि मुनि श्री विद्यासागरजी महाराज का इस ओर भी संकेत है कि सरकार को शिल्पी से 'टैक्स' नहीं लेना चाहिए। शिल्पी, जो अपने अप्रतिम कला-शिल्प से संस्कृति की रक्षा करते हुए समाज की सेवा मुक्तभाव से करता है, किन्तु उसे पुरस्कार के बजाय कर चुकाना पड़ता है :

"सरकार उससे/कर नहीं माँगती/क्योंकि/इस शिल्प के कारण
चोरी के दोष से वह/सदा मुक्त रहता है।/अर्थ का अपव्यय तो/बहुत दूर
अर्थ का व्यय भी/यह शिल्प करता नहीं,/बिना अर्थ/शिल्पी को यह
अर्थवान् बना देता है;/युग के आदि से आज तक/इसने
अपनी संस्कृति को/विकृत नहीं बनाया/बिना दाग है यह शिल्प
और कुशल है यह शिल्पी।" (पृ. २७-२८)

निश्चय ही यह शिल्पी, जिसे युग के प्रारम्भ से ही 'कुम्भकार' की संज्ञा दी गई है, सामान्य नहीं है। पर अपने समाज के सामान्य शिल्पी या कुम्भकार की कला को भी उचित सम्मान मिलना ही चाहिए।

शिल्पी कुम्भकार माटी को तैयार करता है साधना के लिए तथा उसे मंगलमय रूप देने के लिए। कुदाली से माटी के माथे पर चोट की जाती है, खुदाई की जाती है, पर माटी रोती क्यों नहीं, क्रुद्ध क्यों नहीं होती ? यह माटी तो आत्मशुद्धि की प्रक्रिया को समझती है, इसलिए उफ़ नहीं करती। साधारण मनुष्य तो चोट खाकर आग-बबूला हो उठता है, चीत्कार करता है, पर राजसत्ता उसकी आवाज़ को दबा देती है। कवि ने संकेत के रूप में इस भाव को दर्शाया है :

"माटी के मुख पर/कुघन की साज क्यों नहीं छाई ?
क्या यह/राजसत्ता का राज़ तो नहीं है ?"(पृ. ३०)

कबीर की माटी चुप नहीं रहती, प्रतिकार करती है :

"माटी कहे कुम्हार से, तू क्या रौंदे मोहि।
इक दिन ऐसा आयगा, मैं रौंदूँगी तोहि ॥"

कबीर भी सन्त थे और मुनि श्री विद्यासागरजी भी सन्त हैं। कबीर भी कवि थे और विद्यासागरजी भी कवि हैं। कबीर दीन-दुखी के दर्द को समझते थे और विद्यासागरजी भी समझते हैं, अन्यथा माटी कुम्भकार से ऐसा क्यों कहती :

"अमीरों की नहीं/गरीबों की बात है;/कोठी की नहीं
कुटिया की बात है/जो वर्षा-काल में/थोड़ी-सी वर्षा में/टप-टप करती है
और/इस टपकाव से/धरती में छेद पड़ते हैं,/फिर···तो···/इस जीवन-भर
रोना ही रोना हुआ है/दीन-हीन इन आँखों से/धाराप्रवाह···
अश्रु-धारा बह/इन गालों पर पड़ी है।" (पृ. ३२-३३)

मानवीय चेतना का एक अंश है करुणा। वेदना से उत्पन्न होती है करुणा, जो मन के विकारों को धोकर साफ़ कर देती है, निर्मल कर देती है। करुणा मन से मन को जोड़ती है, एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करती है। मानव समाज के लिए करुणा शुभ है। वासना भी मन की उपज है और करुणा भी। पर दोनों में अन्तर है। कवि के शब्दों में :

- *"एक जीवन को बुरी तरह/जलाती है···/भयंकर है, अंगार है!*
  एक जीवन को पूरी तरह/जिलाती है···/शुभंकर है, शृंगार है।" (पृ. ३८)

- *"वासना की जीवन-परिधि/अचेतन है···तन है*
  दया-करुणा निरवधि है/करुणा का केन्द्र वह
  संवेदन-धर्मा···चेतन है/पीयूष का केतन है।" (पृ. ३९)

कवि-कर्म समय-सापेक्ष है। कवि विद्यासागरजी महान् सन्त हैं, चिन्तक हैं, दार्शनिक हैं और अध्यात्म ही उनका इष्ट है। पर वे समाज की स्थिति को नकार कैसे सकते हैं। सन्त यदि साहित्य में प्रवृत्त है तो समाज की उपेक्षा कैसे कर सकता है। यही कारण है कि 'मूकमाटी' की दर्शन प्रधान कविताओं में भी कुछ ऐसी पंक्तियाँ आ ही जाती हैं, जिनसे तत्कालीन समाज की स्थिति-विसंगति का परिचय मिल ही जाता है :

"अब तो···/अस्त्रों, शस्त्रों, वस्त्रों/और कृपाणों पर भी
'दया-धर्म का मूल है'/लिखा मिलता है।/किन्तु,/कृपाण कृपालु नहीं हैं
वे स्वयं कहते हैं/हम हैं कृपाण/हम में कृपा न!
कहाँ तक कहें अब!/धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है
शास्त्र शस्त्र बन जाता है/अवसर पाकर/और/प्रभु-स्तुति में तत्पर
सुरीली बाँसुरी भी/बाँस बन पीट सकती है/प्रभु-पथ पर चलनेवालों को।
समय की बलिहारी है!" (पृ. ७३)

'समय की बलिहारी' कितनी व्यंग्यात्मक, पर सटीक टिप्पणी है। निश्चय ही कवि की नज़र से अपना भारतीय समाज ओझल नहीं है। धर्म के उन्मादी कृपाण लेकर चल रहे हैं और रक्तपात कर रहे हैं। इतना ही नहीं, कवि आगे चलकर कहता है :

- *"क्या इस समय मानवता/पूर्णतः मरी है?*
  क्या यहाँ पर दानवता/आ उभरी है···?" (पृ. ८१)

- *" "वसुधैव कुटुम्बकम्"/इस व्यक्तित्व का दर्शन—*
  स्वाद - महसूस/इन आँखों को/सुलभ नहीं रहा अब···!

यदि वह सुलभ भी है/तो भारत में नहीं,/महा-भारत में देखो !
भारत में दर्शन स्वारथ का होता है।" (पृ. ८२)

□ *" "वसुधैव कुटुम्बकम्"/इसका आधुनिकीकरण हुआ है/'वसु' यानी धन-द्रव्य*
'धा' यानी धारण करना/आज/धन ही कुटुम्ब बन गया है
धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

आज की भारतीय परम्परा एवं समाज पर कवि का कितना गहरा कटाक्ष है। स्वार्थीजन एक-दूसरे की चीर-फाड़ में लगे हैं, उछाड़-पछाड़ में पगे हैं, गला एवं जेब काटने में लगे हैं। भाई ही भाई का दुश्मन बन बैठा है। जब एक परिवार में प्रेम नहीं है तो विश्व-प्रेम की बात करना कितना बेमानी है।

पुरुष और प्रकृति का संयोग ही आनन्द है:

"पुरुष प्रकृति से/यदि दूर होगा/निश्चित ही वह
विकृति का पूर होगा।" (पृ. ९३)

मानवीय मूल्यों की बात भी कवि करता है :

"धन जीवन के लिए/या जीवन धन के लिए ?/मूल्य किसका
तन का या वेतन का,/जड़ का या चेतन का ?" (पृ. १८०)

जीवन की सार्थकता चेतन बनने में है, जड़ बनने में नहीं। तन, वेतन, धन आदि सभी चेतनानन्द के लिए हैं। चेतन में गति है। गति है तो जीवन है। अर्थ की आँखों से परमार्थ को कैसे देखा जा सकता है ?

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

इन पंक्तियों में कवि ने संसार के यथार्थ रूप को उद्घाटित किया है। चोरी, सीनाज़ोरी, अनाचार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार केवल अर्थ के प्रलोभन के कारण ही तो हैं। अर्थ का आकर्षण अच्छे-अच्छे को पद-दलित कर देता है।

माँ की ममता का अत्यन्त दिव्य चित्र कवि ने खींचा है :

"अपने हों या पराये,/भूखे-प्यासे बच्चों को देख
माँ के हृदय में दूध रुक नहीं सकता/बाहर आता ही है उमड़ कर।" (पृ. २०१)

स्त्रियों के सम्बन्ध में कवि की धारणा बड़ी पवित्र है। नारी श्रद्धा, प्रेम और आस्था का नाम है। उसे पथ-विहीन करने का श्रेय पुरुष को है :

"प्रायः पुरुषों से बाध्य हो कर ही/कुपथ पर चलना पड़ता है स्त्रियों को
परन्तु,/कुपथ-सुपथ की परख करने में
प्रतिष्ठा पाई है स्त्री-समाज ने।" (पृ. २०१-२०२)

महिला की कितनी सौम्य परिभाषा कवि करता है :

"जो/मह यानी मंगलमय माहौल,/महोत्सव जीवन में लाती है
महिला कहलाती वह।" (पृ. २०२)

नारी के विभिन्न रूपों का बड़ा उदात्त, मंगलमय, शुभंकर चित्र कवि ने 'मूकमाटी' में खींचा है। भारतीय नारी के प्रति सन्त कवि की सहज सहानुभूति है।

हमसे, आप से, सबसे कवि का आग्रह है :

"न्याय की वेदी पर/अन्याय का ताण्डव-नृत्य/मत करो...।" (पृ. ४१९)

आतंकवाद के सम्बन्ध में भी कवि की अवधारणा है :

"जब तक जीवित है आतंकवाद
शान्ति का श्वास ले नहीं सकती/धरती यह।" (पृ. ४४१)

कवि की दृष्टि सर्वत्र है। जन प्रतिनिधियों पर उसकी यह व्यंग्यात्मक टिप्पणी कितनी सार्थक है :

"चोर इतने पापी नहीं होते/जितने कि
चोरों को पैदा करने वाले।" (पृ. ४६८)

और आगे की पंक्तियों में वह कहता है :

"सत्य का आत्म-समर्पण/और वह भी/असत्य के सामने ?
हे भगवन् !/यह कैसा काल आ गया,/क्या असत्य शासक बनेगा अब ?"
(पृ. ४६९)

इस अध्यात्मवादी काव्य दर्शन में मैंने आधुनिक समाज के यथार्थ-बोध को खोजने का प्रयास मात्र किया है। सन्त कवि ने रूपक के माध्यम से 'मूकमाटी' में चेतना ला दी है। कवि के पास दिव्य दृष्टि है, वह संसार से परे भी देख लेता है। मेरी दृष्टि धुंधली है और सीमित भी। वह इस संसार को भी भलीभाँति देख-परख नहीं पाती। अन्त में मैं कवि की इन पंक्तियों के साथ इस आलेख को समाप्त करता हूँ :

"संहार की बात मत करो,/संघर्ष करते जाओ !
हार की बात मत करो,/उत्कर्ष करते जाओ !" (पृ. ४३२)



'मूकमाटी' की संवेदना

डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय

नलिन विलोचन शर्मा ने 'उपन्यास साहित्य' शीर्षक लेख में लिखा है : "समृद्धि और ऐश्वर्य की सभ्यता महाकाव्य में अभिव्यंजना पाती है और जटिलता और संघर्ष उपन्यासों में।" विज्ञान की उपलब्धियों एवं सभ्यता के विकास ने जटिलताओं एवं संघर्षों को बढ़ावा दिया। फलतः उपन्यास, कहानी आदि का अधिक विकास हुआ। महाकाव्य अपेक्षाकृत कम लिखे गए। जीवन नाना समस्याओं से आक्रान्त होता रहा। जन-जन के प्राण संकट में रहे। परिस्थिति की इस विषमता को ध्यान में रख कर आचार्य श्री विद्यासागरजी ने अनुभव किया कि कविता ही एक मात्र माध्यम है, जिसके द्वारा जन-जन की चेतना का जागरण हो सकता है। द्वन्द्व, सन्देह, आशंका की कुहेलिका फट सकती है। सत्य से साक्षात्कार हो सकता है। कविता जन-जन की आँखें खोल सकती है। उसे अन्धकार से प्रकाश का मार्ग बता सकती है। उसकी जिजीविषा को उजागर कर सकती है। इसीलिए विराट्, व्यापक एवं बहुमुखी उद्देश्य के साथ कवि ने 'मूकमाटी' महाकाव्य का प्रणयन किया है।

'मूकमाटी' की संवेदना को बाँधना, समेटना सागर को बाँधना है, उसके जल का माप करना है। इसलिए प्रयास यह किया जा रहा है कि केन्द्रीय तत्त्व की ओर, महाभाव की ओर, विराट् चेतना की ओर संकेत भर किया जा सके। मूक माटी महाकाव्य की नायिका है। यह एक प्रतीक है साधना, अध्यात्म, दर्शन, ज्ञान, वैराग्य, योग समाधि की सम्पूर्ण प्रक्रिया की, जिसके अन्तर्गत एक जीव शनैः - शनैः अपने अहम् को मिटाता, गलाता, इदम् में पर्यवसित हो जाता है। तद्रूप हो जाता है। एकमेक हो जाता है। माटी के धरती से उखड़ने से लेकर मंगल घट बनने और जल से गुरु के पद प्रक्षालन तक की यात्रा का अध्ययन व्यंजना में किया जाए, तो लगेगा कि अध्यात्म एवं दर्शन का यहाँ अप्रतिम निदर्शन हुआ है। माटी धरती माँ से निवेदन करती है कि कैसे हो उसका उद्धार, ऊर्ध्वीकरण। गोस्वामी तुलसीदास मानते हैं कि आत्म-साक्षात्कार की ज्योति जलते ही जीव तीनों भ्रमों से मुक्त हो जाता है : "तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम जो आपनु पहिचानै।" मिट्टी जानती है– वह पतित है। यही उसके उत्थान का रहस्य है :

"तूने जो/अपने आपको/पतित जाना है
लघु-तम माना है/यह अपूर्व घटना/इसलिए है कि
तूने/निश्चित-रूप से/प्रभु को,/गुरु-तम को/पहचाना है।" (पृ. ९)

और इसके साथ ही कवि साधना की सारी प्रक्रिया को परत-दर-परत खोलते जाते हैं। प्रारम्भ में आस्था भले ही हो स्थायी, दृढ़, दृढ़तरा, परन्तु प्राथमिक दशा में स्खलन की सम्भावना रहती है। निरन्तर अभ्यास के बाद भी स्खलन स्वाभाविक है, उसी तरह जैसे वर्षों से रोटी बनाने वाले पाकशास्त्री की पहली रोटी 'करड़ी' बनती है।

"निरन्तर अभ्यास के बाद भी/स्खलन सम्भव है;/प्रतिदिन–बरसों से
रोटी बनाता-खाता आया हो वह/तथापि
पाक-शास्त्री की पहली रोटी/करड़ी क्यों बनती, बेटा !
इसीलिए सुनो !/आयास से डरना नहीं/आलस्य करना नहीं !" (पृ. ११)

कुम्भकार को नायक माना जाए और माटी को नायिका, तो यह लौकिक जीवन के रोमांस से मेल नहीं खाता है। अधूरा-अधूरा रह जाता है। अध्यात्म के क्षेत्र में दोनों की पारस्परिकता और अनिवार्यता सहज स्वीकृत है।

मैथिलीशरण गुप्त का 'मंगल घट' लोक संग्रह में अपनी सार्थकता मानता है कि वह जन-जन को शीतल जल प्रदान करेगा, उसकी तृषा हरेगा : "मर घर-घर घर आऊँ।"
वहाँ भी माटी को साधना की कठोर प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता है :

"खुले खेत से लाकर छानूँ/जल दूँ सार मिलाकर सानूँ,
सनूँ स्वेद में किन्तु न मानूँ।"

वहाँ भी कवि धरती माता की तरह बेटे को सम्बोधित करता है : "क्लेशों से न कलपना होगा।" तभी मंगल घट बन पाएगा।

इस कृति में कवि अत्यन्त सूक्ष्मता से एक-एक स्थिति का अनुशीलन करते हैं। उसमें भावन करते हैं। इस कृति के मंगल घट की सार्थकता गुरु के पाद-प्रक्षालन में है, जो काव्य के पात्र की श्रद्धा के आधार स्तम्भ हैं :

"शरण, चरण हैं आपके,/तारण-तरण जहाज,
भव-दधि तट तक ले चलो/करुणाकर गुरुराज!" (पृ. ३२५)

किन्तु गुरु के अन्तिम नायक हैं अर्हन्त देव।

महाकाव्य का चार खण्डों में विभाजन विवेक सम्मत है। ये साधना के चार सोपान हैं और उनकी अन्तरंगता में कवि गहरे उतरते गए हैं। उनकी अनुभूति सार्वजनीन, सार्वभौमिक इसलिए हो जाती है कि उनके पास जितना गहन शास्त्रीय आधार है, उससे अधिक गहन अनुभूति की सम्पन्नता है। वे कबीर की तरह 'लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी की बात' करते हैं। प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' की सार्थकता का प्रसंग मिट्टी-कंकर के साथ रहने के प्रसंग में आया है। संकर दोष के निवारणार्थ ही कंकर कोष का वारण करना पड़ता है (पृ.४६)। वर्णलाभ को अभिधात्मक अर्थ रंग पाना, जाति पाना है, पर दर्शन के क्षेत्र में इसका तात्त्विक अर्थ व्यापक उद्देश्य में रूपान्तरण है :

"नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।
और/क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है।" (पृ. ४९)

इसके साथ-साथ आचार्यश्री धर्म के गूढ़, गम्भीर तत्त्वों का निरूपण भी करते जाते हैं :

"सल्लेखना, यानी/काय और कषाय को/कृश करना होता है, बेटा!
काया को कृश करने से/कषाय का दम घुटता है,/···घुटना ही चाहिए।
और/काया को मिटाना नहीं,/मिटती-काया में/मिलती-माया में
म्लान-मुखी और मुदित-मुखी/नहीं होना ही/सही सल्लेखना है, अन्यथा
आतम का धन लुटता है, बेटा!" (पृ. ८७)

खण्ड दो 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में शब्द - बोध - शोध का आध्यात्मिक विवेचन, अनुशीलन हुआ है। 'काव्यादर्श' में आचार्य दण्डी ने शब्द को ज्योति कहा है :

"इदमन्धतमः कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥"

यह त्रिभुवन घोर अन्धकार में निमग्न हो जाता, यदि सृष्टि के आरम्भ से शब्द (भाषा) की ज्योति न जलती होती। बोध (कंसेप्ट, प्रतीति, प्रत्यय) के बिना शब्द का महत्त्व नहीं होता। बोध का सिंचन पाकर ही शब्द के पौधे लहलहाते हैं :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
यह भी सत्य है, कि/शब्दों के पौधों पर/सुगन्ध मकरन्द-भरे
बोध के फूल कभी महकते नहीं।" (पृ. १०६-१०७)

बोध का फल परिपक्व होकर शोध कहलाता है :

"बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो
शोध कहलाता है।/बोध में आकुलता पलती है
शोध में निराकुलता फलती है।" (पृ. १०७)

मन ही बन्धन है। मन ही है मोक्ष। मन है समस्त पाप-पुण्य, सुख-दुःख, राग-विराग, जय-पराजय का कारण। कवि स्पष्ट करते हैं कि न कोई मन्त्र अच्छा होता है, न कोई बुरा। अच्छा-बुरा तो मन होता है :

"अच्छा, बुरा तो/अपना मन होता है/स्थिर मन ही वह
महामन्त्र होता है/और/अस्थिर मन ही/पापतन्त्र स्वच्छन्द होता है,
एक सुख का सोपान है/एक दुःख का सो पान है।" (पृ. १०८-१०९)

खण्ड तीन है–'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन।' खण्ड के प्रारम्भ से ही कवि पाप-पुण्य, नीति-अनीति, विधि-निषेध की अन्तरंग पहचान कराने लगते हैं :

"पर-सम्पदा की ओर दृष्टि जाना/अज्ञान को बताता है,/और
पर-सम्पदा हरण कर संग्रह करना/मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है।
यह अति निम्न-कोटि का कर्म है/स्व-पर को सताना है,
नीच-नरकों में जा जीवन बिताना है।" (पृ. १८९)

धरती है सर्वंसहा। वह सब कुछ सहती है। ('खूँद-खाद धरती सहै, काट-कूट वनराई'–कबीर)। अपने साथ दुर्व्यवहार पर कोई प्रतिकार नहीं करती। सन्त-पथ यही है। कवि का कथन है :

"सर्व-सहा होना ही/सर्वस्व को पाना है जीवन में
सन्तों का पथ यही गाता है।" (पृ. १९०)

व्यष्टि-हित पर केन्द्रित रहने वाले कभी परमार्थ की ओर आँख उठाकर देख नहीं पाते। अर्थ-लिप्सा किस प्रकार मनुष्य को पतित और निर्लज्ज बना देती है :

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

महात्मा के लक्षण हैं– मन, वचन और कर्म की एकता। इसकी एकता से शुभ कार्य सम्पादित होते हैं। व्यष्टि

की साधना समष्टि के कल्याणार्थ न्यौछावर हो जाती है। 'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे' (गुप्त) – का भाव चरितार्थ होने लगता है। समष्टि सुख से मुसकुराने लगती है। साधना का चरम लक्ष्य इससे भी विराट् है– जड़ को जड़ता से मुक्ति दिलाना, पतन के गर्त से निकाल कर उत्तुंग शिखर पर बैठाना :

"जल को जड़त्व से मुक्त कर/मुक्ता-फल बनाना,
पतन के गर्त से निकाल कर/उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।/यही दया-धर्म है
यही जिया कर्म है।" (पृ. १९३)

वेद से अवेद, भेद से अभेद की यात्रा ही इस खण्ड का लक्ष्य है :

"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में।/निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर
वेद से अवेद की ओर/बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए
अन्यथा,/वह यात्रा नाम की है/यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।" (पृ. २६७)

चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में कुम्भ के अवा में पकने, तपने, जलने की कथा इतनी प्राणवन्त एवं काव्यात्मक है कि मन मुग्ध हो जाता है। एक साधक जिस प्रकार अपने गुरु से प्रार्थना करे कि उसके दोषों को जलाना ही साधक को जिलाना है, फिर अपने दोष के कारण, भेद गिनाए, उसी प्रकार अपक्व कुम्भ कहता है अग्नि से :

"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है
स्व-पर दोषों को जलाना/परम-धर्म माना है सन्तों ने।
दोष अजीव हैं,/नैमित्तिक हैं,/बाहर से आगत हैं कथंचित्;/गुण जीवगत हैं,
गुण का स्वागत है।/तुम्हें परमार्थ मिलेगा इस कार्य से,
इस जीवन को अर्थ मिलेगा तुम से/मुझ में जल-धारण करने की शक्ति है
जो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है,/उसकी पूरी अभिव्यक्ति में
तुम्हारा सहयोग अनिवार्य है।" (पृ.२७७)

कुम्भ का पूरी शक्ति लगाकर उदर में धूम को भरना कुम्भक प्राणायाम है। कितनी सरलता व सहजता से कवि ऐसे गम्भीर विषय पर विरमते गए हैं :

"फिर भी !/पूरी शक्ति लगाकर नाक से/पूरक आयाम के माध्यम से
उदर में धूम को पूर कर/कुम्भ ने कुम्भक प्राणायाम किया
जो ध्यान की सिद्धि में साधकतम है/नीरोग योग-तरु का मूल है।" (पृ. २७९)

कुम्भ पक कर बाहर आया कि लगे हाथ सेठ का सेवक आ गया कुम्भ लेने। हाथ में लेकर उसने घड़े को सात बार बजाया, उसे जाँचने-परखने। सात बार में सात स्वर निकले– सा, रे, ग, म, प, ध, नि। उसका भाव यह है :

"सा···रे ग···म यानी/सभी प्रकार के दुःख/प···ध यानी ! पद–स्वभाव
और/नि यानी नहीं,/दुःख आत्मा का स्वभाव–धर्म नहीं हो सकता,
मोह-कर्म से प्रभावित आत्मा का/विभाव-परिणमन मात्र है वह।" (पृ. ३०५)

यह खण्ड जैन धर्म में वर्णित साधु को आहार दान की प्रक्रिया का सविस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है–भक्तों की भावना, आहार देने या न देने से उत्पन्न भाव, साधु की दृष्टि, धर्मोपदेश की सारवत्ता, आहार दान कराने वाले सेठ का कुछ-कुछ उदासीन भाव से लौटना (जिससे पता चलता है कि उसे गन्तव्य का बोध हो गया है) आदि।

महाकाव्य की परिणति वहाँ होती है, जहाँ पाषाण फलक पर आसीन नीराग साधु की वन्दना के उपरान्त स्वयं आतंकवाद कहता है :

"हे स्वामिन् !/समग्र संसार ही/दुःख से भरपूर है,/यहाँ सुख है, पर वैषयिक
और वह भी क्षणिक !/यह···तो···अनुभूत हुआ हमें,/परन्तु/अक्षय सुख पर
विश्वास हो नहीं रहा है;/हाँ हाँ !! यदि/अविनश्वर सुख पाने के बाद
आप स्वयं/उस सुख को हमें दिखा सको/या/उस विषय में
अपना अनुभव बता सको/···तो/सम्भव है/हम भी आश्वस्त हो
आप-जैसी साधना को/जीवन में अपना सकें,/अन्यथा
मन की बात मन में ही रह जायेगी/इसलिए/'तुम्हारी भावना पूरी हो'
ऐसे वचन दो हमें,/बड़ी कृपा होगी हम पर।" (पृ. ४८४-४८५)

साधना वही सफल, जो जन-जन को बहाए, रमाए। साधक वही महान्, जिसके श्रीचरणों में क्या डाकू रत्नाकर, आतंकवादी, उग्रवादी, क्या वाल्मीकि, शान्तिप्रिय शीश नवाएँ। मूकमाटी का साधना की अनन्त प्रक्रिया से गुज़र कर मंगल घट बनना एवं गुरु के पादपद्म प्रक्षालन करना ही उसकी परिणति है।

इस महाकाव्य में क्या नहीं है 'यन्न भारते, तन्न भारते' की तरह ? राग-विराग, लघु-महान्, उत्तम-अधम, अति-अथ का द्वन्द्व देखना हो या भोग से यात्रा करते कान्तारों में भटकते हुए योग तक पहुँचने की दशा का आख्यान हो या अहम्-इदम् का द्वन्द्व – महाकाव्य में हजारों साक्ष्य मिलेंगे। अनुभूत सत्य की व्यंजना मिलेगी। 'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी' (कबीर) की प्रामाणिकता मिलेगी।

एक मछली का कूपमण्डूकता की संकीर्ण परिधि से निकल भागने का द्वन्द्व, संकल्प एवं तदनुकूल निर्णय कि वह बालटी के जल के साथ ऊपर आ गई, परन्तु कवि की व्यवस्था कि उसे बिना किसी प्रकार की चोट पहुँचाए पानी के भीतर कर देना। अहिंसा की पग-पग पर दुहाई। सच पूछिए, तो आज का मानव अहिंसा मन्त्र भर को अपना ले, तो मानवता त्राण पा जाए। इसमें सर्वत्र सामाजिक दायित्व के प्रति सजगता, प्रतिबद्धता है :

"...खेद है कि/लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी
प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं/प्रायः अनुचित रूप से/सेवकों से सेवा लेते
और/वेतन का वितरण भी अनुचित ही।" (पृ. ३८६-३८७)

शब्दों की पर्तों को उधारते जाना, नई-नई अर्थच्छवियाँ प्राप्त कराना कवि के लिए एकदम सरल है। सहज है–'कुम्भकार' की व्याख्या, 'गदहा' की व्याख्या, 'दोगला' की व्याख्या– इसके जीवन्त उदाहरण हैं। बिम्ब, प्रतीक,

अलंकार, अप्रस्तुतों का ऐसा अनुपम एवं नवीन प्रयोग हुआ है कि विस्मय विमुग्ध होना पड़ता है। यह नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा का अनुपम उदाहरण है। आज के विघटन, मूल्य संकट, सन्त्रास की घड़ी में सर्वधर्म समन्वय की भावना का व्यापक प्रचार-प्रसार होना ही चाहिए। एक-एक व्यक्ति अपने 'स्व' को पहचान कर ऊर्ध्वमुख हो—ऐसा प्रयास यहाँ स्पष्टतः परिलक्षित है। ऐसे ही काव्य को देखकर आचार्य कह उठे होंगे— "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यते"-देखिए, देव काव्य, जो न कभी मरता है, न जीर्ण होता है। ऐसी कालजयी कृति के लिए कृती कवि को साधुवाद।

□

हिन्दी वाङ्मय की एक अमूल्य निधि : 'मूकमाटी'

एस. एन. ठाकुर

'मूकमाटी' कवि आचार्य विद्यासागर की अनुपम एवं स्तुत्य कृति है। इसमें माटी की व्यथा-कथा का सजीव एवं मर्मस्पर्शी चित्रण है। इस कृति में पाप और पुण्य की रूपकात्मक व्याख्या बहुत ही सराहनीय है। कर्मबद्ध आत्मा किस मार्ग से मोक्ष की ओर अग्रसर हो सकती है, इसकी सहज व्याख्या विभिन्न रूपकों द्वारा रूपायित है। इस असार संसार में जीव लोभ, तृष्णा एवं प्रलोभन के विवर्त में फँसकर निरन्तर गर्त अथवा पतनोन्मुख हो रहा है। वह धन-सम्पदा, वैभव, मान-मर्यादा ही जीवन का उच्चतम बिन्दु मानता है किन्तु इसका संचयन जीव को पथभ्रष्ट करता है और दुष्कर्म में आबद्ध करता है। दुष्कर्म ही पाप है और सुकर्म पुण्य।

अर्थ की आँखें परमार्थ को नहीं देखतीं, क्योंकि अज्ञानता का धुन्ध इतना अधिक आच्छादित हो जाता है कि जिससे सत्य निर्मूल एवं भ्रामक-सा प्रतीत होता है। सागर, मेघ, चन्द्र, बदली, राहु इत्यादि दुष्कर्मी एवं अज्ञानी के तथा धरती, कुम्भकार, कुम्भ, सूर्य एवं इन्द्र आदि सुकर्मी के रूपक हैं। इनके माध्यम से कवि ने आज की आधुनिकता तथा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक धुरियों पर करारा व्यंग्य कसा है। स्वार्थ में बद्ध मानव विभिन्न दुष्कर्मों में आसक्त है, इस तथ्य को कवि ने बड़ी बारीकी से सागर के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। मोह से प्रभावित 'स्व' जीवन में स्वार्थ, लोभ, ईर्ष्या और द्वेष की भावना को उकसाता है जबकि 'पर' पावन भावधारा में अवगाहन कराता है, जो सत्कर्म के पथ को प्रशस्त करता है। 'पर' ही परमार्थ है और परमार्थ का अनुसरण करना पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ ही मानव को कुसंस्कार के पंक से निकालकर सुसंस्कार की पावन धरा पर लाता है और उसमें सद्गुणों, सत्कर्मों एवं सत् भावों का अंकुर अंकुरित होता है जिससे मानव सत् मार्ग की ओर अथवा ईश्वरोन्मुख होता है। यही उपासना और साधना मानव को मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करती है।

'मूकमाटी' में कथा का प्रवाह बड़ा ही रोचक एवं भावपूर्ण है। अलंकारों की छटा, शब्दों का सार्थक एवं अर्थग्राही प्रयोग एवं पात्रों का चुटीला और सजीव वार्तालाप अर्थ की गहरी परतों को उकेर देता है। यह महाकाव्य हिन्दी वाङ्मय की एक अमूल्य निधि है, जिसमें आध्यात्मिक सन्दर्भ में कर्म की सहज व्याख्या उपलब्ध होती है।

□

हिन्दी का प्रथम सफल दार्शनिक महाकाव्य : 'मूकमाटी'

डॉ. दुर्गा शंकर मिश्र

'मूकमाटी' जैनाचार्य श्री विद्यासागर द्वारा लिखित ४८८ पृष्ठों का एक दार्शनिक महाकाव्य है। १३ पृष्ठीय 'प्रस्तवन' में भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन के श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने बड़ी विद्वत्ता के साथ महाकाव्य के कथानक, दर्शन, महाकाव्यत्व एवं शब्दार्थ चमत्कार पर सम्यक् प्रकाश डाला है। आचार्य विद्यासागर ने अपनी ४ पृष्ठ की 'मानस-तरंग' में इस महाकाव्य के मर्म को उद्घाटित करके पाठकों का मार्गदर्शन किया है।

इस महाकाव्य का कोई परम्परागत पौराणिक अथवा लोक प्रसिद्ध कथानक नहीं है। काव्यशास्त्रीय लक्षणों का अनुगमन भी इसमें नहीं मिलेगा, किन्तु अपने विशिष्ट रचना-कौशल तथा आधुनिक सन्दर्भों से सम्पृक्त दार्शनिक उक्तियों के कारण हिन्दी जगत् में यह एक नव्य प्रयोग के लिए समादृत होगा—ऐसा हमारा विश्वास है। महान् उद्देश्य की पूर्ति की दृष्टि से भी इस महाकाव्य की चर्चा लोकप्रिय होगी।

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् एबर क्रॉम्बी ने अपने ग्रन्थ 'एपिक' में महाकाव्य के अवयव संघटन को महत्त्व न देकर उसके आन्तरिक सौन्दर्य को महत्त्वपूर्ण माना है। उन्होंने लिखा है : ''जीवन के अत्यधिक विस्तृत रंगमंच पर अपने अथक तूलिका श्रम के द्वारा महाकाव्य ऐसे भव्य एवं उत्कृष्ट चित्रों को अंकित करता है, जिसके माध्यम से हम एक ऐसे लोक का दर्शन करने में समर्थ होते हैं, जहाँ पर सभी कुछ महत्त्वपूर्ण, भव्य एवं दर्शनीय होता है।''

भारतीय चिन्तकों में योगिराज श्री अरविन्द ने अपने ग्रन्थ 'फाउण्डेशन ऑफ इण्डियन कल्चर' में भारतीय एवं पाश्चात्य महाकाव्यों की तुलना करते हुए महाकाव्य के महत्त्व पर सम्यक् प्रकाश डाला है। उनके विचार से : ''भारतीय महाकाव्य मानव-जीवन के आन्तरिक महत्त्व की अत्यन्त उत्कृष्ट एवं कलापूर्ण अभिव्यक्ति होता है। उसमें उच्च तथा उदात्त विचारों की मूर्तिमान् एवं स्पन्दनशील अभिव्यक्ति होती है। उसमें विकासपूर्ण नैतिक एवं सौन्दर्यनिष्ठ मानव हृदय एवं उच्चतम सामाजिक आदर्शों की विवृत्ति होती है। उसमें महान् संस्कृति का आत्मिक बिम्ब निबद्ध किया जाता है। इसी कारण भारतीय महाकाव्य सम्पूर्ण राष्ट्र के अन्तरंग जीवन का अंग बना हुआ है।''

इस सन्दर्भ में आलोच्य ग्रन्थ के आवरण पृष्ठ पर अंकित प्रकाशकीय टिप्पणी द्रष्टव्य है :''आचार्य श्री विद्यासागरजी की काव्य-प्रतिभा का यह चमत्कार है कि माटी जैसी निरीह, पद दलित एवं व्यथित वस्तु को महाकाव्य का विषय बनाकर उसकी मूक वेदना और मुक्ति की आकांक्षा को वाणी दी है। कुम्भकार शिल्पी ने मिट्टी की ध्रुव और भव्य सत्ता को पहचानकर, कूट-छानकर, वर्ण-संकर कंकर को हटाकर उसे निर्मल मृदुता का वर्ण-लाभ दिया है। फिर चाक पर चढ़ाकर आँवाँ में तपाकर, उसे ऐसी मंज़िल तक पहुँचाया है, जहाँ वह पूजा का मंगल-घट बनकर जीवन की सार्थकता प्राप्त करती है। कर्मबद्ध आत्मा की विशुद्धि की ओर बढ़ती मंज़िलों की मुक्ति-यात्रा का रूपक है यह महाकाव्य।''

माटी के प्रतीक को कविवर बच्चन ने अपने एक गीत में प्रयुक्त करके जीव को पुनर्जन्मों के चक्करों से मुक्ति प्रदान करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की है :

''इस चक्की पर खाते चक्कर/मेरा तन-मन जीवन जर्जर;
हे कुम्भकार, मेरी मिट्टी को और न अब बरबाद करो।''

'माटी' के इस प्रतीक का प्रयोग परम्परागत अर्थों में सन्त कबीर आदि ने भी किया है, किन्तु आचार्य विद्यासागरजी ने 'मूकमाटी' महाकाव्य में इस प्रतीक का उपयोग सर्वथा भिन्न एवं नवीन अर्थों में किया है। साधना के द्वारा साधक के आत्म-साक्षात्कार करने एवं लोक-कल्याण के परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने की प्रक्रिया को

काव्यानुभूति के माध्यम से अभिव्यक्त करना आधुनिक सन्दर्भों में एक प्रशस्य उपलब्धि है।

समाजवाद के थोथे नारों पर व्यंग्य करते हुए समाजवाद के सही अर्थों की ओर कविवर आचार्यश्री ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है :

"स्वागत मेरा हो/मनमोहक विलासितायें/मुझे मिलें अच्छी वस्तुएँ–
ऐसी तामसता भरी धारणा है तुम्हारी/फिर भला बता दो हमें,
आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी ?/सबसे आगे मैं/समाज बाद में।
अरे कम-से-कम/शब्दार्थ की ओर तो देखो !/समाज का अर्थ होता है समूह
और/समूह यानी/सम–समीचीन ऊह–विचार है/जो सदाचार की नींव है।
कुल मिला कर अर्थ यह हुआ कि/प्रचार-प्रसार से दूर
प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है।
समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से/समाजवादी नहीं बनोगे।"

(पृ. ४६०-४६१)

'कामायनी' को यदि हम हिन्दी का प्रथम मनोवैज्ञानिक महाकाव्य मानते हैं तो 'मूकमाटी' को सर्वप्रथम सफल दार्शनिक महाकाव्य की संज्ञा दी जा सकती है। 'कामायनी' में मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के विकास को प्रलय के सूक्ष्म कथानक के समन्वय से गति प्रदान की गई है। अन्त में श्रद्धा और मनु को 'शैव दर्शन' की सहायता से आनन्दोपब्धि होती है। 'कामायनी' के सर्ग शीर्षक–चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य, आनन्द - इस बात का संकेत करते हैं। 'मूकमाटी' की आनन्दोपलब्धि आत्मोपलब्धि पर निर्भर करती है। जैन दर्शन श्रमण-धर्म पर विश्वास करता है। शैव दर्शन प्रवृत्तिपरक है, तो जैन दर्शन निवृत्तिपरक। इसीलिए जैन दर्शन में तपस्या, अनुशासन, त्याग, अहिंसा, शान्तिप्रियता, निर्लिप्त जीवन को ही महत्त्व प्रदान किया जाता है। इसी जीवन दर्शन को कविता के माध्यम से सरसता के साथ ग्राह्य बनाने का उपक्रम है– 'मूकमाटी' महाकाव्य। 'मूकमाटी' काव्य के कवि की यह घोषणा कितनी महत्त्वपूर्ण है :

"मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।
और/मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।
इस लेखनी की भी यही भावना है–/कृति रहे, संस्कृति रहे
आगामी असीम काल तक/जागृत···जीवित···अजित !" *(पृ. २४५)*

'मूकमाटी' महाकाव्य के अनेक पात्र हैं, अनेक प्रसंग हैं। लोक जीवन से सम्पृक्त मुहावरे, बीजाक्षरों के चमत्कार, मन्त्र विद्या, माटी के आयुर्वेदिक प्रयोग, अंकों का चमत्कार, समाज दर्शन, अध्यात्म, आधुनिक जीवन में विज्ञान से उपजी कतिपय नई अवधारणाएँ, आतंकवाद, प्रलय, महावृष्टि, मनमोहक प्राकृतिक दृश्य, साहित्य, संगीत के साथ-साथ अनेक शब्दों के अर्थ-चमत्कार भी हैं।

सरिता तट की माटी, कुम्भ, कुम्भकार इस महाकाव्य के प्रमुख पात्र हैं। अन्य पात्रों में धरती, काँटा, बबूल की लकड़ी, गुरु अतिथि, स्वर्णकलश, स्फटिक झारी, महामत्स्य, मत्कुण (खटमल), मच्छर, नदी, भक्त सेठ आदि उल्लेखनीय हैं। युगों से माटी कुम्भकार की प्रतीक्षा में लीन रही है। कुम्भकार के हाथों वह अपना उद्धार चाहती थी, मंगल घट के रूप में परिवर्तित होना चाह रही थी। मंगल घट की सार्थकता गुरु के पाद-प्रक्षालन में है, जो काव्य के पात्र भक्त सेठ की श्रद्धा के आधार हैं।

हमारी भारतीय संस्कृति की उदात्तता को काव्य के अन्त में कुम्भ के मुख से निकल रही मंगल-कामना की

पंक्तियाँ मुखर कर रही हैं :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें—/अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों
नाशा की आशा मिटे/आमूल महक उठे/···बस !" (पृ.४७८)

मंगल-घट पर अंकित 'ही' और 'भी' बीजाक्षरों का दार्शनिक विवेचन पठनीय है :

" 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।
हम ही सब कुछ हैं/यूँ कहता है 'ही' सदा,/तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो !
और,/'भी' का कहना है कि/हम भी हैं/तुम भी हो/सब कुछ !...
...'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।
रावण था 'ही' का उपासक/राम के भीतर 'भी' बैठा था।
यही कारण कि/राम उपास्य हुए, हैं, रहेंगे आगे भी।" (पृ. १७२-१७३)

जैन दर्शन वस्तुतः अनेकान्त दर्शन है। इसे स्याद्वाद कहते हैं। कथंचित् यह भी सही है, कथंचित् वह भी सत्य हो सकता है। सापेक्षिकता इस दर्शन का मूल है :

"अगर सागर की ओर/दृष्टि जाती है,/गुरु-गारव -सा
कल्प-काल वाला लगता है सागर;/अगर लहर की ओर/दृष्टि जाती है,
अल्प-काल वाला लगता है सागर।/एक ही वस्तु/अनेक भंगों में भंगायित है
अनेक रंगों में रंगायित है, तरंगायित !/मेरा संगी संगीत है
सप्त-भंगी रीत है।" (पृ. १४६)

वास्तविक करुणा-दया के अभाव के कारण जैन संस्कृति पराभव को प्राप्त हुई। आज इसके उपदेशक स्वयं अपने पथ से भटक गए हैं। इस तथ्य की ओर आचार्य श्री विद्यासागरजी ने बड़ा मार्मिक व्यंग्य किया है :

"उस पावन पथ पर/दूब उग आई है खूब !/वर्षा के कारण नहीं,
चारित्र से दूर रह कर/केवल कथनी में करुणा रस घोल
धर्मामृत-वर्षा करने वालों की/भीड़ के कारण !
आज पथ दिखाने वालों को/पथ दिख नहीं रहा है, माँ !" (पृ. १५१-१५२)

महाकाव्य के प्रथम खण्ड का शीर्षक है 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ।' इस खण्ड का कथ्य है कि संकर दोष से बचने के साथ-साथ वर्ण-लाभ को प्राप्त करना ही मानव जीवन का साफल्य है। जैन दर्शन जन्म मात्र से किसी को ब्राह्मण अथवा शूद्र आदि नहीं मानता है। वह उसके कर्मानुसार वर्ण की मान्यता को व्याख्यायित करता है। यह दर्शन प्राचीन होते हुए भी वर्तमान सन्दर्भों के युगानुकूल है। माटी की शुद्धता के लिए उसके कंकर-पत्थरों को छान कर निकालना होता है। इसी संकर दोष से माटी को बचाना है और उसको कुम्भ के उपयुक्त बनाना ही उसका वर्ण-लाभ है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि साधना की कसौटी पर जीवात्मा को तपाकर आत्म-साक्षात्कार के माध्यम से उसे परमात्मा की कोटि तक ऊपर उठाना ही गुरु शिल्पी कुम्भकार का कार्य है।

आचार्य श्री विद्यासागरजी ने अपनी 'मानस तरंग' संज्ञक भूमिका में शुद्ध सात्त्विक भावों से सम्बन्धित जीवन

को धर्म कहा है तथा धर्म का प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट कुरीतियों को निर्मूल करना माना है। उन्होंने वर्तमान युग को शुभ संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ कर वीतराग श्रमण संस्कृति को जीवित रखने के महान् उद्देश्य को लेकर महाकाव्य 'मूकमाटी' की रचना की है, यथा :

"तन और मन को/तप की आग में/तपा-तपा कर/जला-जला कर
राख करना होगा/यतना घोर करना होगा/तभी कहीं चेतन-आत्मा
खरा उतरेगा।/खरा शब्द भी स्वयं/विलोमरूप से कह रहा है—/राख बने बिना
खरा-दर्शन कहाँ ?/रा···ख···ख···रा।" (पृ. ५७)

महाकाव्य का द्वितीय खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' उपशीर्षक से है। इसमें कवि ने यह बतलाने का प्रयास किया है कि 'शब्द' सार्थक अक्षरों का उच्चारण मात्र है। उसके सम्पूर्ण अर्थ को समझना 'बोध' है और इस बोध को अनुभूति में तथा आचरण में उतारना 'शोध' है। कवि कहता है :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
...शब्दों के पौधों पर/सुगन्ध मकरन्द-भरे/...बोध का फूल जब
ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो/शोध कहलाता है।
बोध में आकुलता पलती है/शोध में निराकुलता फलती है,
फूल से नहीं, फल से/तृप्ति का अनुभव होता है।" (पृ. १०६-१०७)

फल है 'शोध' यानी शब्दों के अर्थ-बोध को आचरण में उतारना। अनेक शब्दों के आन्तरिक अर्थ-बोध को स्पष्ट करना, साथ ही उन्हें दर्शन से सम्पृक्त करते चलना आचार्य श्री विद्यासागर की विलक्षण शब्द-साधना का परिणाम है। नारी, सुता, दुहिता, कुमारी, स्त्री, अबला, आदमी, कामना, नमन, धरती, किसलय, राही, संगीत, शृंगार, वीर, शान्त, कलशी, वैखरी, तीरथ आदि अनेक शब्दों की व्याख्या की गई है।

आचार्यश्री ने शान्त रस को 'रसराज' कहा है। रसों का परिचय देते समय रस शास्त्र की अवहेलना करते हुए उन्हें नवीन क्रम से प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है— वीर, हास्य, रौद्र, भयंकर, अद्भुत, शृंगार, बीभत्स, करुण, वात्सल्य और शान्त :

"करुणा-रस जीवन का प्राण है/घम-घम समीर-घर्मी है।
वात्सल्य-जीवन का त्राण है/धवलिम नीर-धर्मी है।/किन्तु, यह
द्वैत-जगत् की बात हुई,/शान्त-रस जीवन का गान है/मधुरिम क्षीर-धर्मी है।
...शान्त-रस का क्या कहें,/संयम-रत धीमान को ही/'ओम्' बना देता है।
जहाँ तक शान्त रस की बात है/वह आत्मसात् करने की ही है/कम शब्दों में
निषेध-मुख से कहूँ/सब रसों का अन्त होना ही-/शान्त-रस है।"
(पृ. १५९-१६०)

संगीत की नूतन व्याख्या भी द्रष्टव्य है :

"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है/और
प्रीति उसे मानता हूँ/जो अंगातीत होती है
मेरा संगी संगीत है/सप्त-स्वरों से अतीत···!" (पृ. १४४ -१४५)

तृतीय खण्ड का शीर्षक है—'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन।' इस खण्ड में आचार्यश्री ने स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि तन, मन और वचन की निर्मलता से लोक कल्याणकारी कार्यों का सम्पादन ही पुण्य का अर्जन है। क्रोध, मान, माया एवं लोभ— पाप के संचयन का कारण होते हैं। अतः इनसे विरत रहना ही श्रेयस्कर है। महाकाव्य के सूक्ष्म कथानक को अनेक स्थितियों के चित्रण से गति प्रदान की गई है। धरती की कीर्ति देखकर सागर को क्षोभ होना, वह क्षोभ बड़वानल के रूप में प्रकट होना, सागर द्वारा राहु-आह्वान, फलस्वरूप सूर्य-ग्रहण, इन्द्र द्वारा मेघों पर वज्र प्रहार, उपल-वृष्टि आदि के प्रलयंकर दृश्यों के माध्यम से विभिन्न रसों का परिपाक हुआ है। अन्त में कथाकार इस निष्कर्ष पर पहुँचता है :

"निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर
वेद से अवेद की ओर/बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए।" (पृ. २६७)

इस खण्ड के एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग की ओर मैं पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा, जो धरती के महत्त्व को उजागर करने वाला है। स्वाति नक्षत्र के मेघ से मेघ-मुक्ता का अवतरण होता है। इस अवतरण का निमित्त कारण सीपी होती है और सीपी धरती का ही अंश है। अतः धरती के धैर्य के कारण ही वह जड़ तत्त्व जल को मुक्ताफल में परिवर्तित करने का धार्मिक एवं कल्याणकारी कर्म सम्पादित कर पाती है। यही दया धर्म है और इसे ही व्यावहारिक कार्य भी कहते हैं :

"जल को जड़त्व से मुक्त कर/मुक्ता-फल बनाना,
पतन के गर्त से निकाल कर/उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है ।/यही दया-धर्म है
यही जिया कर्म है।" (पृ. १९३)

'मूकमाटी' के पृष्ठों पर अनेक मूल्यवान् सूक्तियाँ बिखरी पड़ी हैं। उनके सन्दर्भों, प्रयोगों एवं महत्त्व पर एक स्वतन्त्र निबन्ध की अपेक्षा है, तभी उनका सम्यक् विवरण प्रस्तुत हो सकता है। यहाँ पर कवि की उक्तियों पर यत्किंचित् प्रकाश डालना ही पर्याप्त होगा।

आधुनिक भौतिकवादी दृष्टि पर चोट करने वाली कवि की एक रोचक उक्ति है :

" 'वसुधैव कुटुम्बकम्'/इसका आधुनिकीकरण हुआ है
वसु यानी धन-द्रव्य/धा यानी धारण करना/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

सत्-युग एवं कलियुग की व्याख्या करता हुआ कवि कहता है कि सत् की खोज में लगी दृष्टि ही सत्-युग है। सत् को असत् मानने वाली दृष्टि स्वयं कलियुग है। कलियुग की दृष्टि व्यक्तिवादी है जबकि सत्-युग समष्टिवादी है। कलियुग का जीवन कान्तिमुक्त शव है, किन्तु सत्-युग का जीवन कान्तियुक्त शिव है। मछली को माटी समझा रही है :

"शव में आग लगाना होगा,/और/शिव में राग जगाना होगा।" (पृ. ८४)

'कामना' के सम्बन्ध में कवि की उक्ति उसके प्रचलित अर्थ से नितान्त भिन्न अर्थ का बोध करा रही है :

"यही मेरी कामना है/कि/आगामी छोरहीन काल में
बस इस घट में/काम ना रहे !" (पृ. ७७)

माटी के कुम्भ में से पायस ने स्वर्णकलश को फटकारते हुए कहा :

"तुम स्वर्ण हो/उबलते हो झट से,/माटी स्वर्ण नहीं है/पर
स्वर्ण को उगलती अवश्य,/तुम माटी के उगाल हो !
...हे स्वर्ण कलश !/...परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम,
पूँजीवाद के अभेद्य/दुर्गम किला हो तुम/और/अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला !
हे स्वर्ण- कलश !/ एक बार तो मेरा कहना मानो,/कृतज्ञ बनो इस जीवन में,
माँ माटी को अमाप मान दो/मात्र माँ, माँ, नाम लो अब !" (पृ. ३६४-३६६)

खीर (पायस) की स्वर्णकलश के प्रति कही गई उक्त पंक्तियाँ महाकाव्य के चतुर्थ खण्ड से सम्बन्धित हैं। इस खण्ड का उपशीर्षक है –'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।' इसके सम्बन्ध में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के 'प्रस्तवन' का यह अंश बहुत ही महत्त्वपूर्ण है :"बात में से बात की उद्भावना का, तत्त्व-चिन्तन के ऊँचे छोरों को देखने- सुनने का, और लौकिक तथा पारलौकिक जिज्ञासाओं एवं अन्वेषणों का एक विचित्र छवि-घर है यह चतुर्थ खण्ड। यहाँ पूजा-उपासना के उपकरण सजीव वार्तालाप में निमग्न हो जाते हैं। मानवीय भावनाएँ, गुण और अवगुण, इनके माध्यम से अभिव्यक्ति पाते हैं।"

इस खण्ड में कुम्भकार ने घट को रूपाकार दे दिया है। इसके पश्चात् उसे अवा में तपाने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इसी बीच बबूल की लकड़ी अपनी जलनशीलता की व्यथा कहती है। अपक्व कुम्भ का अग्नि से निवेदन ही इस महाकाव्य का सारांश प्रस्तुत करता है :

"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है/स्व-पर दोषों को जलाना
परम-धर्म माना है सन्तों ने।/दोष अजीव हैं,/नैमित्तिक हैं
बाहर से आगत हैं कथंचित्/गुण जीवगत हैं,/गुण का स्वागत है।
तुम्हें परमार्थ मिलेगा इस कार्य से,/इस जीवन को अर्थ मिलेगा तुम से
मुझ में जल -धारण करने की शक्ति है/ जो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है,
उसकी पूरी अभिव्यक्ति में/तुम्हारा सहयोग अनिवार्य है।" (पृ. २७७)

'मूकमाटी' का कथ्य– भावपक्ष अधिक समृद्ध है। इतना सब कहने के उपरान्त भी ऐसा लगता है कि कदाचित् अभी बहुत कुछ कहना शेष है और यहाँ तो कुछ भी नहीं कहा जा सका है। काव्य का कलापक्ष–अभिव्यक्ति शिल्प भी उच्च स्तर का है। सरस, सहज, प्रवाहपूर्ण भाषा ने दुरूह दार्शनिक भावों को जिस सौष्ठव-सम्पन्न शैली में व्यक्त किया है, वह स्तुत्य है, प्रशस्य है, अनुकरणीय है। आलंकारिक छटा के साथ भाषा की लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियों का भरपूर प्रयोग काव्यगत शैली-पक्ष की सम्पन्नता को उजागर करने के लिए पर्याप्त है। व्यंग्यार्थ के साथ-साथ अर्थान्तरन्यास का शब्द-कौशल देखने योग्य है, साथ में मार्मिक उक्तियों का संयोजन कवि की विलक्षण काव्य-प्रतिभा का परिचायक है :

"चेतन वाले चतन की ओर/कम ध्यान दे पाते हैं/और
चेतन वाले तन की ओर/कब ध्यान दे पाते हैं ?/इसीलिए तो···
राजा का मरण वह/रण में हुआ करता है/प्रजा का रक्षण करते हुए,/और
महाराज का मरण वह/वन में हुआ करता है/ध्वजा का रक्षण करते हुए

जिस ध्वजा की छाँव में/सारी धरती जीवित है
सानन्द सुखमय श्वास स्वीकारती हुई !/प्रकृति की आकृति में
तुरन्त ही विकृति उदित हो आई/सुन कर अपनी कटु आलोचना
और/लोहिता क्षुभिता हो आई/उसकी लोहमयी लोचना !" (पृ. १२३)

सभी काव्य गुणों से सम्पन्न होते हुए भी 'मूकमाटी' महाकाव्य सर्वथा निर्दोष नहीं है। कुछ व्याकरण सम्बन्धी चिन्त्य प्रयोग हैं जो काव्य के गौरव को घटाने वाले हैं। प्रारम्भिक पंक्तियों के शब्द प्रयोग अनगढ़ और बेमेल-से प्रतीत होते हैं :

"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,/और···इधर···नीचे
निरी नीरवता छाई,/निशा का अवसान हो रहा है
उषा की अब शान हो रही है।" (पृ. १)

'अवसान' के साथ तुक के लोभ में उषा के साथ 'शान' का प्रयोग अत्यन्त भ्रष्ट प्रयोग है, जिससे भाषा सौन्दर्य को आघात लगा है। इसी प्रकार पृष्ठ दो पर 'पराग' पुल्लिंग के साथ 'अपनी' सम्बन्धवाचक सर्वनाम का प्रयोग भी अशुद्ध है। यहाँ पर 'अपने पराग को' होना चाहिए। पराग का अन्यत्र प्रयोग भी स्त्रीलिंग में किया है । पृष्ठ तीन पर 'सरक' शब्द के साथ 'सरपट' शब्द का प्रयोग अनर्थकारी है।'सरक' शब्द धीरे-धीरे चलने के अर्थ में आता है और 'सरपट' शब्द जल्दी-जल्दी दौड़ने का अर्थबोध देता है, किन्तु कवि ने लिखा है :

"और··· इधर···सामने/सरिता···
जो सरपट सरक रही है/अपार सागर की ओर।" (पृ. ३)

'माटी' के लिए 'बेटे' का सम्बोधन भी चिन्त्य है। प्रासुक, श्वभ्र, गारव, डाँव, स्नपित, पारणा, अरुक, अपाय, अन्तराय, ईडा, परीत आदि ऐसे अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग काव्य के मन्तव्य को समझने में पाठकों को कठिनाई में डालने वाला प्रतीत होता है। सीताहरण के समय सीता से यह कहलाना भी अनेक पाठकों को आपत्तिजनक लग सकता है :

"यदि मैं/इतनी रूपवती नहीं होती
रावण का मन कलुषित नहीं होता।" (पृ. ४६८)

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कतिपय व्याकरण सम्बन्धी भूलों, विशृंखल कथा-सूत्रों, दार्शनिक रूक्षता, नई कविता की छन्दविहीनता आदि अनेक कारणों से 'मूकमाटी' 'कामायनी' एवं 'उर्वशी' सदृश महाकाव्यों की श्रेणी में गणना के योग्य महाकाव्य नहीं है, तथापि वह एक महान् (साम्प्रदायिक) दार्शनिक काव्य होते हुए भी मानवीय मूल्यों की गरिमा से ओतप्रोत है, शिक्षाप्रद है, पठनीय है, संग्रहणीय है एवं दार्शनिकता की दृष्टि से अद्वितीय भी है।

हमारी अभिलाषा है कि हिन्दी संसार में इसका अच्छा स्वागत हो, इसकी चर्चा हो और इसका गम्भीर अध्ययन भी हो।

□

'मूकमाटी' महाकाव्य में अभिनव अर्थबोधक शब्द-प्रयोग

डॉ. तिलक सिंह

भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से एक शब्द का एक ही अर्थ होता है। शब्द से उत्पन्न मस्तिष्कगत बिम्ब ही उसका अर्थ है। एक बिम्बी शब्द एकार्थी होते हैं। काव्यकृतियों में एकार्थी शब्दों का प्रयोग ही अधिक होता है। समर्थ रचनाकार एक-सन्दर्भी शब्द को अपनी प्रतिभा तथा क्षमता के अनुसार बहु-सन्दर्भी बना देता है। कभी-कभी एक क्षेत्र विशेष से सम्बद्ध शब्द रचनाकार की बहुआयामी प्रतिभा का सम्पर्क तथा संस्पर्श पाकर पृथक् क्षेत्र में प्रयुक्त होने लगता है। वास्तविकता यह है कि विचार-भेद से शब्द बहुअर्थी बन जाता है। बहुचर्चित रचनाकार विद्यासागर ने अपने अभिनव महाकाव्य 'मूकमाटी' में कथ्य की नवीनता के साथ-साथ अनेक शब्दों का भी अभिनव अर्थों में प्रयोग किया है। 'मूकमाटी' महाकाव्य में अभिनव अर्थबोधक शब्दों के प्रयोग की निम्नलिखित दो पद्धतियाँ प्रयुक्त हुई हैं :

१. संक्रमण की पद्धति

२. शब्दों के वियोग की प्रक्रिया

भाषा-विज्ञान में संक्रमण (जंक्चर) की प्रक्रिया अपना विशेष महत्त्व रखती है। संक्रमण दो प्रकार का माना गया है :

१. बद्ध संक्रमण (क्लोज्ड जंक्चर)

२. मुक्त संक्रमण (ओपन जंक्चर)

बद्ध संक्रमण में शब्द मूल या अविकल रूप में प्रयुक्त होता है। शब्द रचनास्तर पर यह तीन प्रकार का माना जा सकता है :

१. एकल शब्द के प्रयोग द्वारा उत्पन्न बद्ध संक्रमण

२. व्युत्पन्न शब्द के प्रयोग द्वारा उत्पन्न बद्ध संक्रमण

३. यौगिक या सामासिक शब्द के प्रयोग द्वारा उत्पन्न बद्ध संक्रमण

मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया में शब्दगत ध्वनियों के प्रयोग-स्थान को परिवर्तित करके व्युत्पन्न शब्द द्वारा अभिनव अर्थ की सर्जना की जाती है। 'मूकमाटी' में बद्ध संक्रमण के उक्त तीनों रूप प्रयुक्त परिलक्षित होते हैं। उक्त कृति में मुक्त संक्रमण की निम्नलिखित प्रक्रिया प्रयुक्त परिलक्षित होती है :

१. शब्दगत ध्वनि परिवर्तन द्वारा

२. शब्दगत पूर्वप्रत्यय द्वारा

३. शब्दगत परप्रत्यय द्वारा

शब्दगत ध्वनि-परिवर्तन द्वारा मुक्त संक्रमण उक्त काव्यकृति में निम्नलिखित रूपों में प्रयुक्त हुआ है :

१. शब्दगत ध्वनि के स्थान परिवर्तन द्वारा

२. द्वित्व (द्वित) ध्वनि प्रयोग द्वारा

३. संयुक्त ध्वनि प्रयोग द्वारा

शब्दगत ध्वनि के प्रयोग-स्थान को परिवर्तित कर देने से एक ही शब्द अलग-अलग अभिनव अर्थों का बोधक बन जाता है। 'मूकमाटी' में अभिनव अर्थबोधन की यह प्रक्रिया बहुत अधिक प्रभावी परिलक्षित होती है। नीचे के उदाहरणों में इसे देखा जा सकता है :

"मैं अंगना हूँ / परन्तु, / मात्र अंग ना हूँ···।" (पृ. २०७)

'अंगना' बद्ध संक्रमण की स्थिति में स्त्रीबोधक है परन्तु इसके अन्त के 'ना' अक्षर को पृथक् कर देने पर मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया में यह 'अंग ना' अर्थात् 'शरीर नहीं', इस पृथक् अर्थ का बोधक बन गया है। रचनाकार ने नारी को भोग्या नहीं माना है। नारी भारतीय संस्कृति के नैतिक तथा उदात्त मूल्यों की वाहिका है। यह अर्थ अंगना–अंग ना शब्द की रचना-प्रक्रिया से प्रतिध्वनित होता है।

"न' - 'मन' हो, तब कहीं / 'नमन' हो समण को।" (पृ. ९७)

'नमन' शब्द नम् (नमस्कार) धातु से अन् प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न हुआ है। 'न मन' शब्द 'नमन' शब्द की प्रथम व्यंजन ध्वनि को पृथक् करके मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा व्युत्पन्न हुआ है। 'न मन' का अर्थ है मन नहीं, परन्तु ऊपर की पंक्ति में 'न मन' का अर्थ है चंचलता का अभाव अर्थात् स्थिरता। मन की एकाग्रता ही श्रमण के नमन का आधार है।

"माटी के कुम्भ में भरे पायस ने / पात्र-दान से पा यश
उपशम-भाव में कहा, कि / तुम में पायस ना है
तुम्हारा पाय सना है।" (पृ. ३६४)

छन्द की प्रथम पंक्ति में 'पायस' का अर्थ जल है। संस्कृत के 'पयस्' शब्द मूल से पायस (जल) शब्द व्युत्पन्न हुआ है। दूसरी पंक्ति में प्रयुक्त 'पा यश' वाक्य 'पायस' शब्द के प्रथम अक्षर 'पा' को पृथक् करके मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा व्युत्पन्न हुआ है। 'पा यश' का अर्थ है यश प्राप्त करो। चौथी पंक्ति में प्रयुक्त 'पायस ना' शब्द में 'ना' अक्षर जोड़ कर मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा व्युत्पन्न हुआ है। 'पायस ना' का अर्थ हुआ अपवित्रता। अन्तिम पंक्ति में प्रयुक्त 'पाय सना' भी 'पायस' शब्द की अन्तिम व्यंजन ध्वनि 'स' को 'ना' के साथ सम्बद्ध करके मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा व्युत्पन्न हुआ है। 'पाय सना' का अर्थ है पैर सना हुआ है। इस प्रकार रचनाकार ने एक ही शब्द से मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा एकाधिक शब्द-रूपों की रचना करके पृथक्-पृथक् अभिनव अर्थों को अभिव्यंजित किया है।

"जीवन का, न यापन ही / नयापन है / और / नैयापन!" (पृ. ३८१)

छन्द की दूसरी पंक्ति में प्रयुक्त 'नयापन' शब्द 'नया' विशेषण शब्द में 'पन' प्रत्यय जोड़कर व्युत्पन्न हुआ है। यह भाववाचक संज्ञा है। 'नयापन' संज्ञा शब्द की आरम्भिक व्यंजन ध्वनि को मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा विच्छिन्न करके 'न यापन' शब्द व्युत्पन्न हुआ। 'न यापन' का अर्थ हुआ गुज़ारा न करना। 'नैयापन' शब्द की रचना 'यापन' शब्द मूल में 'नै' आदि अक्षर का प्रयोग करने से मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा हुई है। नैयापन का अर्थ हुआ नौका का भाव अर्थात् मुक्ति। रचनाकार का उक्त शब्दों की रचना-प्रक्रिया से अभिप्राय है कि जीवन के प्रति निस्संगता का भाव ही जीवन की नवीनता तथा मुक्ति का सोपान है।

"हम हैं कृपाण / हम में कृपा न!" (पृ. ७३)

'कृपाण' शब्द बद्ध संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा व्युत्पन्न अस्त्र विशेष का परिचायक है। 'ण' ध्वनि को वर्त्स्य 'न' में बदलने पर तथा मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा पृथक् लिखने पर 'कृपा न' शब्द की रचना हुई। 'कृपा न' का अर्थ हुआ दया अथवा करुणा-शून्य। कृपाण दयाशून्य होती है। हिंसा में करुणा, मानवीय भाव नहीं है। यह रचनाकार का अभिप्रेत है।

"मुख से बाहर निकली है रसना /...भौतिक जीवन में रस ना!" (पृ. १८०)

उक्त छन्द में 'रसना' का अर्थ जिह्वा है और 'रस ना' का अर्थ आनन्दाभाव है। इसी प्रकार "स्व-पन ...स्वपन ...स्व-पन ..." (पृ. १८६) में पहले 'स्व-पन' का अर्थ अपनापन है। दूसरे 'स्वप न' का अर्थ सोना नहीं अर्थात् जागना है। तीसरे स्वप्न का अर्थ सोने में बड़बड़ाना है।

"हमें नाग और नागिन/ना गिन, हे वरभागिन्!" (पृ. ४३२)

'नागिन' बद्ध संक्रमण तथा 'ना गिन' मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा अर्थभेदक है।

द्वित्व (द्वित्त) ध्वनि प्रयोग द्वारा भी 'मूकमाटी' में बद्ध तथा मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा अभिनव अर्थों की सर्जना की गई है। एक ही ध्वनि का दोहरा प्रयोग द्वित्व (द्वित्त) कहलाता है। रचनाकार ने एक ही मूल शब्द की मध्यवर्ती अथवा दो स्वरों के बीच की ध्वनियों के द्वित्वीकरण द्वारा बद्ध तथा मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया को प्रशस्त किया है। निम्नलिखित उदाहरणों में यह प्रक्रिया द्रष्टव्य है :

"राजसत्ता वह राजसता की/रानी–राजधानी बनेगी!" (पृ. १०४)

उक्त छन्द में 'राजसता' शब्द रजोगुण के भाव का बोधक है। इसमें विलास, मादकता तथा विखण्डन की प्रक्रिया निहित है। द्वित्तीकरण की प्रक्रिया से व्युत्पन्न 'राजसत्ता' शब्द राजनैतिक प्रभुत्व का परिचायक है। रचनाकार का अभिमत है कि राजसत्ता राजसता के विभाजन तथा विखण्डन की जननी है।

"मानवत्ता से गिर जाता है/मानवता से गिर जाता है।" (पृ. ११४)

'मानवता' शब्द 'मानव' जातिबोधक संज्ञा में 'ता' प्रत्यय लगाने से व्युत्पन्न हुआ है। इसकी 'त' ध्वनि को द्वित्व (द्वित्त) करने से 'मानवत्ता' शब्द व्युत्पन्न हुआ। 'मानवत्ता' में 'मान' शब्द मूल है। मानवत्ता का अर्थ है सम्मान या मान प्राप्ति की भावना। रचनाकार का कहना है कि सम्मान या प्रतिष्ठा प्राप्ति की भावना व्यक्ति को मानवीय मूल्यों से गिरा देती है।

संयुक्त ध्वनि प्रयोग द्वारा भी 'मूकमाटी' रचना में बद्ध तथा मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा अभिनव अर्थों की सृष्टि हुई है। दो पृथक् ध्वनियों का सहप्रयोग संयुक्तता कहलाती है। उदाहरण द्रष्टव्य है :

"कम बलवाले ही/कम्बलवाले होते हैं।" (पृ. ९२)

छन्द के दूसरे शब्द में 'म' तथा 'ब' ध्वनियों को संयुक्त बना दिया गया है। 'कम बलवाले' शब्द मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया का बोधक है। 'कम्बल वाले' शब्द बद्ध संक्रमण की प्रक्रिया का परिचायक है। दोनों पृथक्-पृथक् अर्थ के परिचायक हैं। रचनाकार का मत है कि शक्तिहीन लोग ही बाह्य आवरणों, उपादानों तथा आधारों का आश्रय लेते हैं।

कहीं-कहीं एकल शब्दों की पुनरावृत्ति से भी अभिनव अर्थों की सर्जना हुई है। एक ही शब्द दो बार प्रयुक्त होकर व्युत्पत्ति स्तर पर अलग-अलग शब्द-मूलों से सम्बद्ध होने के कारण अभिनव अर्थों को व्यक्त करता है। निम्नलिखित उदाहरणों से इस प्रक्रिया को समझा जा सकता है :

"बात करता वात है।" (पृ. ९०)

प्रथम 'बात' शब्द वार्ता शब्द से व्युत्पन्न है तथा दूसरा 'वात' शब्द 'वो' या 'वा' (वह्) शब्दमूल से व्युत्पन्न है। वायु में

भी 'वा' शब्द मूल है। 'पवन' में 'पो' शब्द मूल है। वो–पो एकार्थी हैं।

"कर पर कर दो।" (पृ. १७४)

पहले 'कर' का अर्थ हाथ है तथा दूसरे 'कर' का अर्थ टैक्स है।

"क्या वह परस का परस चाहेगा ?" (पृ. १३९)

प्रथम 'परस' शब्द 'पारस' शब्द से सम्बद्ध है। दूसरा 'परस' स्पर्श शब्द से व्युत्पन्न है। उक्त प्रकार के शब्दों की रचना समध्वनिक प्रक्रिया से सम्बद्ध है। व्युत्पत्ति प्रक्रिया की दृष्टि से उक्त प्रकार के समस्वनिक शब्द अलग-अलग स्रोतों से सम्बद्ध हैं। रचनाकार ने रचनागत कथ्य-संवेदना को सम्प्रेषित तथा अभिव्यंजित करने के लिए शब्द-निर्माण की उक्त प्रक्रिया को अपनाया है।

कहीं-कहीं रचनाकार ने शब्दगत स्वर ध्वनियों को परिवर्तित करके तथा अनुनासिकता के माध्यम से भी बद्ध तथा मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया को प्रशस्त किया है। इस प्रक्रिया से भी एक ही शब्द के दो रूप अलग-अलग अर्थों को अभिव्यंजित करते हैं,। यथा :

"मही माँ ! कहाँ गई···/ओ वसन्त की महिमा ! कहाँ गई ?" (पृ. १७७)

'मही माँ' तथा 'महिमा' ध्वनि तथा अनुनासिकता के स्तर पर अलग-अलग हैं। पहले का अर्थ पृथ्वी माँ है तथा दूसरे का अर्थ महिमा (गौरव) आदि से है।

"पाँव नता से मिलता है/पावनता से खिलता है।" (पृ. ११४)

'पावनता' शब्द 'पावन' शब्द में 'ता' प्रत्यय जोड़ने से व्युत्पन्न हुआ है। 'पाँव नता' अनुनासिकता के कारण पृथक् अर्थ की बोधक बन गई है। 'पाँव नता' का अर्थ है पैरों का झुकना।

व्युत्पन्न शब्द के प्रयोग द्वारा भी बद्ध तथा मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा एक ही शब्द के दो रूपों से अभिनव अर्थों की अभिव्यंजना हुई है। मूल शब्द के पहले तथा अन्त में प्रत्यय जोड़कर यौगिक शब्दों की रचना की जाती है। 'मूकमाटी' काव्यकृति में रचनाकार ने व्युत्पन्न शब्दों के प्रयोगों द्वारा भी अभिनव अर्थों को व्यक्त तथा स्पष्ट किया है, यथा :

"संयम के बिना आदमी नहीं/यानी/आदमी वही है
जो यथा-योग्य/सही आ···दमी है।" (पृ. ६४)

ऊपर के छन्द में रचनाकार ने 'आदमी' शब्द को 'आ+दम+ई' = 'आदमी' प्रक्रिया से व्युत्पन्न माना है। 'दमी' का अर्थ है इन्द्रियों को नियन्त्रित करने वाला अर्थात् संयमी। 'आ' पूर्व प्रत्यय है। 'आ' का अर्थ है पूरी तरह से या समग्र रूप से। इस प्रकार आदमी शब्द का अर्थ हुआ समग्र रूप से संयमी।

"जो वीर नहीं हैं, अवीर हैं/उन पर क्या, उनकी तस्वीर पर भी
अबीर छिटकाया नहीं जाता !" (पृ. १३२)

पहला 'अवीर' शब्द 'वीर' शब्द मूल में 'अ' पूर्व प्रत्यय लगाने से व्युत्पन्न हुआ है। अवीर का अर्थ है जो वीर नहीं है अर्थात् भीरु या कायर। दूसरा 'अबीर' शब्द सुगन्धित पदार्थ के लिए प्रयुक्त हुआ है। रचनाकार भीरु तथा कायरों को सम्मानित

करना अपमान समझता है।

- *"मित्रों से मिली मदद/यथार्थ में मद-द होती है।" (पृ. ४५९)*
- *"उतार दो इसे···तार दो !" (पृ. १६१)*

पहली 'मदद' का अर्थ सहायता है। दूसरी 'मद-द' का अर्थ मदान्ध बनाना है। इसी प्रकार 'तार' शब्द 'तृ' शब्द मूल से व्युत्पन्न हुआ है। 'तृ' से 'तर' तथा 'तार' शब्द मूल व्युत्पन्न होते हैं। 'तर' का अर्थ 'तरना' है। 'उतार' शब्द 'उद्' या 'उत्+तार' प्रक्रिया से व्युत्पन्न हुआ है।

उक्त काव्यरचना में यौगिक शब्दों द्वारा भी बद्ध तथा मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा अभिनव अर्थों की अभिव्यंजना हुई है, यथा :

"अगर बाती को अगरबाती का/योग नहीं मिलता तो···।" (पृ. १३४)

'अगर बाती' शब्द मुक्त संक्रमण तथा 'अगरबाती' बद्ध संक्रमण की प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं। 'अगर बाती' यौगिक शब्द में 'अगर' प्रतिबन्धित वाक्य रचना में क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'अगरबाती' में अगर शब्द 'अगरु' का रूपान्तर है।

"किसलय ये किसलिए/ किस लय में गीत गाते हैं ?" (पृ. १४१)

पहला 'किसलय' बद्ध तथा दूसरा 'किस लय' मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया को द्योतित करता है। पहले 'किसलय' का अर्थ रक्ताभ-वर्ण के कोमल पत्तों से है तथा दूसरे 'किस लय' का अर्थ किस लय (गीत की लय) में है। कोमल दलों का पवन के मन्द-मन्द झोकों से आन्दोलित होकर मरमर की ध्वनि करना उनका गीत है।

"मर, हम 'मरहम' बने···!" (पृ. १७५)

'मर हम' मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया से हम मरकर अर्थ को स्पष्ट कर रहा है और 'मरहम' बद्ध संक्रमण की प्रक्रिया से व्युत्पन्न शब्द हैं। दोनों शब्द संक्रमण के प्रभेदों से पृथक्-पृथक् अर्थों को व्यक्त करते हैं :

"मैं दो गला"/इस से पहला भाव यह निकलता है, कि/मैं द्विभाषी हूँ
भीतर से कुछ बोलता हूँ/बाहर से कुछ और···/पय में विष घोलता हूँ।
....मैं दोगला/छली, धूर्त, मायावी हूँ
...सब विभावों-विकारों की जड़/'मैं" यानी/अहं को
दो गला—कर दो समाप्त।" (पृ. १७५)

उपर्युक्त छन्द में रचनाकार ने मुक्त तथा बद्ध संक्रमण की प्रक्रिया द्वारा 'दो गला' के तीन अर्थ स्पष्ट किए हैं। बद्ध संक्रमण की प्रक्रिया की दृष्टि से दोगला शब्द के दो अर्थ हैं :

१. द्विभाषी
२. कपटी

'गला' शब्द 'गल्' शब्द मूल से निकला है। गल का अर्थ है बोलना, कहना। पंजाबी में गल का अर्थ है वार्ता। जहाँ सोचने तथा कहने में एकरूपता न हो, उसे दोगला कहते हैं। मुक्त संक्रमण की स्थिति में दो गला का अर्थ है गला दो अर्थात्

द्रवीभूत कर दो।

"आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी ?
सबसे आगे मैं/समाज बाद में !" (पृ. ४६१)

पहला 'समाजवाद' बद्ध संक्रमण की प्रक्रिया तथा दूसरा 'समाज बाद' शब्द मुक्त संक्रमण की प्रक्रिया से सम्बद्ध है।

रचनाकार ने 'मूकमाटी' महाकाव्य में शब्दों की विलोम प्रक्रिया द्वारा भी नवीन अर्थों को जन्म दिया है। शब्दों की यह विलोमता शब्दों में प्रयुक्त ध्वनियों के प्रयोग-स्थान के परिवर्तन से सम्बद्ध है। इसका सम्बन्ध विलोमार्थता से नहीं है। रचनाकार ने सामान्य सामाजिक जीवन तथा प्रकृति से शब्दों का चयन करके रचनास्तर पर उनकी विलोमता द्वारा अभिनव अर्थों की सृष्टि की है। शब्दों के सन्दर्भ-परिवर्तन द्वारा आर्थी-प्रक्रिया प्रशस्त होती है परन्तु यहाँ शब्दों की विलोमता द्वारा शब्द का प्रयोग-क्षेत्र ही नहीं बदला है अपितु उसमें नया अर्थ भी विन्यस्त हुआ है। सम्पूर्ण रचना में विलोमता की प्रक्रिया के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। कुछ प्रमुख शब्द-प्रयोगों द्वारा विलोमता की प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया है।

" 'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य—/यहाँ पर जो
भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

रचनाकार ने उक्त छन्द में कुम्भकार को धरती या मिट्टी के भाग्य का निर्माता या विधाता माना है। यह नई व्युत्पत्ति है। सामान्यतः कुम्भ के घड़ा, जल, मोड़, हस्त, टेढ़ा आदि अर्थ हैं।

" 'गद' का अर्थ है रोग/'हा' का अर्थ है हारक
मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस,
और कुछ वांछा नहीं/गद-हा···गदहा···!" (पृ. ४०)

'गधा' शब्द सघोषता तथा महाप्राणता के सहप्रयोग द्वारा 'गदहा' रूप में व्युत्पन्न हुआ। 'गधा' का सामान्य रूप से 'मूर्ख' अर्थ में प्रयोग होता है। किन्तु यहाँ पर गदहा का 'वैद्य' अर्थ अभिनव है।

"राही बनना ही तो/हीरा बनना है,/स्वयं राही शब्द ही
विलोम-रूप से कह रहा है—/रा···ही···ही···रा।" (पृ. ५७)

'राह' बनने का अर्थ हुआ आदर्श या मानक सिद्धान्त। और 'राही' का अर्थ हुआ इन सिद्धान्तों का प्रयोक्ता। आदर्श मूल्यों तथा मान्यताओं का प्रयोक्ता ही 'हीरा' है। यह अभिनव अर्थबोधक प्रयोग है।

"राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ?/रा···ख···ख···रा।" (पृ. ५७)

रचनाकार ने अवा में प्रयुक्त लकड़ियों की राख को, जिसने कच्ची मिट्टी के घड़े को पूजायोग्य कलश बनाया है, खरा (शुद्ध) माना है। यह अभिनव अर्थबोधक शब्द है।

"लाभ शब्द ही स्वयं/विलोम रूप से कह रहा है—
ला···भ···भ···ला।" (पृ. ८७)

'लाभ' शब्द 'लभ्' धातु से बना है। लाभ का अर्थ है प्राप्त होना। जो वस्तु परिश्रम से प्राप्त हो, उससे सुख मिलता

है। वह भली मानी जाती है।

शब्दों की नई व्युत्पति

रचनाकार ने अनेक शब्दों के कथ्यगत भाव को व्यक्त करने के लिए अभिनव व्युत्पत्ति की है। यह व्युत्पत्ति दार्शनिक तथा आध्यात्मिक अर्थों को अभिव्यंजित करने के लिए की गई है। सामान्य रूप से व्युत्पत्ति में प्रातिपदिक को आधार माना जाता है। व्युत्पत्ति-प्रक्रिया द्वारा व्युत्पन्न शब्द प्रकृति में प्रत्यय लगाकर बनता है। प्रातिपदिक मूलांश कहलाता है। इसे 'धातु' भी कहते हैं, जो व्युत्पन्न प्रत्येक शब्द में मूल रूप से विद्यमान रहती है, यथा :

"हरिता हरी वह किससे ?/हरि की हरिता फिर
किस काम की रही ?" (पृ. १७९)

'हरिता' शब्द हरा+इता प्रक्रिया से व्युत्पन्न हुआ है। 'हरिता' का अर्थ है हरापन। दूसरे 'हरिता' शब्द की व्युत्पत्ति हरि+ता प्रक्रिया से हुई है। 'हरिता' का अर्थ हुआ प्रभुपना।

"त्राहि मां ! त्राहि मां !! त्राहि मां !!!/यों चिल्लाता हुआ
राक्षस की ध्वनि में रो पड़ा/तभी उसका नाम/रावण पड़ा।" (पृ. ९८)

'रावण' शब्द 'रव' शब्द मूल से व्युत्पन्न हुआ है। रव का अर्थ है आवाज़ करना। रचनाकार ने रक्षार्थ रुदन को रावण माना है। यह अभिनव अर्थ है। यह शब्द की नई व्युत्पत्ति है, विलोमता नहीं।

" 'न अरि' नारी···/अथवा/ये आरी नहीं हैं/सो···नारी···।" (पृ. २०२)

न+आरी=नारी नई व्युत्पत्ति है। 'नारी' का अर्थ हुआ अहिंसक।

"जो/'मह' यानी मंगलमय माहौल,
महोत्सव जीवन में लाती है/'महिला' कहलाती वह।" (पृ. २०२)

उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार 'महिला' कल्याणदात्री है। वस्तुतः 'महिला' शब्द में 'मघ्' प्रातिपदिक है, जैसे मघराष्ट्र-महाराष्ट्र, वैसे ही मघला-मघिला। मघवा शब्द इन्द्र के लिए आता है। अतः मघ का अर्थ है शक्ति, ऐश्वर्य। महिला शक्तिमती है। वह ललना या रमणी नहीं है।

"जो अव यानी/'अवगम'-ज्ञानज्योति लाती है,
तिमिर-तामसता मिटाकर/जीवन को जागृत करती है
'अबला' कहलाती है वह !.../'अब' यानी
आगत- वर्तमान में लाती है/अबला कहलाती है वह ···!
बला यानी समस्या संकट है/न बला···सो अबला !" (पृ. २०३)

रचनाकार ने 'अबला' शब्द की उक्त तीन प्रकार की व्युत्पत्तियाँ की हैं। तीनों का अपना अर्थ है। नारी के गौरव तथा मर्यादा को मण्डित करती हैं ये व्युत्पत्तियाँ। अबला का अर्थ शक्तिहीना शृंगारप्रिय पुरुष समाज की देन है। मातृसत्तात्मक समाज में नारी ज्ञान, शक्ति तथा ऊर्जा का स्रोत मानी गई है। 'अव' का अर्थ प्रकाश है। अवा का अर्थ अग्नि है। अभ शब्द मूल से अल्पप्राणीकरण द्वारा अव शब्द मूल व्युत्पन्न हुआ है। आभा शब्द भी 'अभ' से व्युत्पन्न है।

" 'कु' यानी पृथिवी / 'मा' यानी लक्ष्मी / और
'री' यानी देनेवाली··· / ...कुमारी रहेगी।" (पृ. २०४)

उक्त व्युत्पत्ति से 'कुमारी' शब्द का अर्थ हुआ आधार तथा ऐश्वर्य प्रदान करने वाली। यह नवीन व्युत्पत्ति है।

" 'स्' यानी सम-शील संयम / 'त्री' यानी तीन अर्थ हैं
धर्म, अर्थ काम–पुरुषार्थों में / पुरुष को कुशल-संयत बनाती है
सो···'स्त्री' कहलाती है।" (पृ. २०५)

संयम तथा पुरुषार्थ प्रदान करने वाली 'स्त्री' हुई। इसी से त्री तथा तिरिया शब्द निकलते हैं। इनका अर्थ लज्जा है।

"सुख-सुविधाओं का स्रोत···सो– / 'सुता' कहलाती है।" (पृ. २०५)
"दो हित जिसमें निहित हों / वह 'दुहिता' कहलाती है।" (पृ. २०५)

रचनाकार ने 'सुता' तथा 'दुहिता' शब्द की लीक से हटकर नई व्युत्पत्तियाँ की हैं। सुनु तथा सुता एवं अँग्रेजी का सन एक ही शब्द मूल 'सू-स' (पैदा होना, बोना) से व्युत्पन्न है। ये कृषि–सभ्यता का स्मरण दिलाते हैं।

" 'नि' यानी निज में ही / 'यति' यानी यतन–स्थिरता है
अपने में लीन होना ही नियति है।" (पृ. ३४९)

रचनाकार ने 'नियति' का अर्थ आत्मलीनता, आत्मकेन्द्रिता माना है। यह अभिनव व्युत्पत्ति है।

"श्रम करे···सो श्रमण!" (पृ. ३६२)

'श्रमण' की यह नई व्युत्पत्ति है। शर्मा, सर्मन (Sermon) तथा श्रमण शब्दों में दो प्रातिपदिक माने जा सकते हैं : १. श्रम २. शम।

"कला शब्द स्वयं कह रहा कि / 'क' यानी आत्मा–सुख है
'ला' यानी लाना–देता है।" (पृ. ३९६)

यहाँ 'कला' का अर्थ आत्मानन्द माना है।

"समूह यानी / सम–समीचीन ऊह–विचार है।" (पृ. ४६१)

उक्त व्युत्पत्ति भी अभिनव है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि रचनाकार का ज्ञान-क्षेत्र, प्रकृति पर्यवेक्षण, विषय की प्रकृति के अनुसार शब्द-चयन तथा प्रतिपाद्य के अनुसार अभिनव अर्थों की सर्जना बहुआयामी रही है। रचनाकार को साहित्यकार के साथ-साथ तत्त्वान्वेषी, व्युत्पत्ति विज्ञानी तथा भाषाविद् भी माना जा सकता है।

❑

मृण्मय से चिन्मय तक की विकास-यात्रा : 'मूकमाटी'

प्रो. (डॉ.) विश्वास पाटील

मनुष्य का जीवन वरेण्य है और श्रेष्ठतर है उसका अस्तित्व, क्योंकि यहाँ से सन्तत्व की राह होते हुए नर के नारायण बन सकने की मंज़िल तय की जा सकती है। भारतीय दर्शन अपनी-अपनी शब्दावली में इसी चिद्-घन-सत्ता की परिक्रमा करते हुए दिखाई देता है। भाषा, प्रदेश, शैली, संकेत के नाना रूपों और विभिन्नताओं के होते हुए भी उनकी अन्तिम गति एक है, लक्ष्य निश्चित है, आवश्यकता इस बात की है कि चलने वाला निश्चिन्त हो। यह तपती पगडण्डियों पर पादत्राण रहित यात्रा है, पंचाग्नि साधना है। साधना का यह मार्ग आग का दरिया है। एक बिन्दु की महासिन्धु में विलय हो जाने की यह विकास-यात्रा साधना की यशस्वी प्रक्रिया है।

सन्त महाकवि की प्रतिभा लघु से लघु में भी महत्तर का दर्शन कर सकती है। आचार्य विद्यासागरजी जन्मजात वर्चस्वी प्रतिभा के यशस्वी कलम-कलाधर साधक हैं। एक सन्त दार्शनिक की यह कविता 'मूकमाटी,' माटी को मुखर बनाने का अनोखा अभियान है। मूक अधरों पर मन्त्रशक्ति प्रेरित करना सन्त के जीवन की सहज साधना है। सन्त के जीवन का यह अमृतफल है कि असम्भावना को नित्य सम्भावनाओं से वह भरपूर बना देता है। विषय तो निमित्त ही होता है उनकी रसवर्षिणी कलम के लिए।

कविता का आरम्भ होता है जिस प्राकृतिक सुषमा से, वह मानव मुक्तिमार्ग का अद्भुत मंगलाचरण है :

"निशा का अवसान हो रहा है/उषा की अब शान हो रही है।" (पृ. १)

इन दो पंक्तियों में जागरण का सन्देश है। एक ऐसा जागरण जो जन्मों की तन्द्रा-निद्रा से मुक्ति दिला पद, पथ और पाथेय के लिए प्रार्थनारत होते दिखाई देता है। छोटे-छोटे बेजान पात्रों के माध्यम से चलने वाले नाट्यमय संवाद इस कविता की शक्ति हैं। अपने आप को लघु और लघुतम मानना ही प्रभु को गुरुतम मान सकने की पहचान है। साधक कवि की प्रज्ञा-प्रतिभा को यह जो तलस्पर्शी शक्ति मिल पाई है, इसका रहस्य स्वयं उन्हीं के शब्दों में विचार और आचार का ऐक्य और साम्य है।

कुल चार खण्डों में विभाजित यह कविता यात्रा आरम्भ में ही एक प्रकार से अपने मूल हेतु की उद्भावना इन शब्दों में करती है :

"ऋषि-सन्तों का/सदुपदेश–सदादेश/हमें यही मिला कि/पापी से नहीं
पाप से/पंकज से नहीं,/पंक से/घृणा करो।/अयि आर्य!
नर से/नारायण बनो/समयोचित कर कार्य।" (पृ. ५०-५१)

प्रकट रूप से और प्रतिज्ञापूर्वक इस काव्य की पीठिका धर्म, दर्शन और अध्यात्म की त्रिवेणी पर आधृत है, फिर भी इस की चिन्ता मनुष्य के जीवन की तमाम सम्भावनाओं को छूती हुई दिखाई देती है। कवि की निरन्तर गतिशील चिन्तनधारा इस या उस रूप में सदैव मनुष्य के तमाम बन्धों-उपबन्धों को व्याख्यायित करती हुई दिखाई देती है। यही वजह है कि आरम्भ में धर्म के झण्डे को डण्डे में बदलते देख जहाँ कवि की प्रतिभा कारुणिक हो जाती है, शास्त्र को शस्त्र बन जाते देख चिन्तित हो जाती है, वहीं आतंकवाद की तथाकथित विजय पर नए प्रश्नचिह्न लगाते हुए भी दिखाई देती है। प्रश्न का समस्त विस्तार, तमाम दिशाएँ, सकल दिशाबोध, परखने की अचूक दृष्टि होने के कारण यह कविता मात्र

धर्म-दर्शन के जय-जयकारों तक ही सीमित नहीं रह जाती अपितु उन दिशाओं को उल्क्रान्त कर नई स्व-स्पर्शी सम्भावनाओं के दर्शन करती है। वह चर्चा और चिकित्सा में ही नहीं रम जाती अपितु उसके विश्लेषण और ऊहापोह से निश्चित गन्तव्य तक पहुँचती-पहुँचाती भी है, और यही इस कविता की पृथक् आत्म विशेषता को रेखांकित करना समीक्षक की अनिवार्यता हो जाती है।

कवि की क़लम सतह पर ही नहीं रुकी रहती, तह में भी उतरती है। तभी तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आधुनिकीकरण प्रस्तुत करते हुए कहती है :

" 'वसु' यानी धन-द्रव्य/'धा' यानी धारण करना/आज/धन ही कुटुम्ब बन गया है
धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

कलियुग की पहचान करा देते हुए कवि इसीलिए निर्मम शब्दों में कहते हैं कि जिसे सदा 'खरा' अखरता है वह है कलियुग की महिमा और सत्-युग में बुरा 'बूरा'-सा लगता है। सत्-युग की नई व्याख्या प्रस्तुत करता है कवि मन :

"सत्-युग हो या कलियुग/बाहरी नहीं/भीतरी घटना है वह
सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा !" (पृ. ८३)

कवि की मूल दृष्टि निरन्तर चैतन्य की खोज में संलग्न है। चर्चा तो कवि अन्यान्य विषयों की करते भी हैं लेकिन उनका चिन्तन आध्यात्मिक दृष्टि बिन्दुओं से समन्वित ही है। कवि की प्रतिभा को दैवी केसर-स्पर्श है, जिसके कारण मिट्टी को भी पारस में बदलने की अद्भुत क्षमता—किमियागिरी उनकी लेखनी में है। 'दयाविसुद्धो धम्मो' यह सन्देश देकर काव्य का प्रथम सर्ग समाप्त होता है और नए भावबोध की यात्रा आरम्भ होती है।

दूसरे सर्ग की चर्चा माटी के जीवन में, माटी के करुणामय कण-कण में नूतन प्राण फूँकने के मंगलाचरण से आरम्भ होती है। अपने विवेचन के लिए कवि प्रतिभा रामायण (जैन वाङ्मय के रामचरित प्रतिपादक ग्रन्थ 'पद्मपुराण' की कथा) से अनेकानेक सन्दर्भ लेते हुए दिखाई देती है। आचार्यप्रवर विद्यासागरजी ने अपने सदुपदेश को इतने आसान शब्दों में समझाया है कि विश्वविद्यालय का अध्यापक हो या बे-पढ़ा किसान भी उसे समान तन्मयता से जान-समझ सकता है। एक ही उदाहरण द्रष्टव्य है :

"अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है/और/सब को छोड़कर
अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है।" (पृ. १०९-११०)

इसी प्रकरण में कवि ने स्थिर मन को महामन्त्र की उपाधि देते हुए अस्थिर मन को पापतन्त्र - स्वच्छन्द कहा है। शान्ति की श्वास लेनेवाला सार्थक जीवन ही शाश्वत साहित्य की निर्मिति कर सकता है, यह बताकर साहित्य के सन्दर्भ में अपनी कविता का अर्घ्य इन शब्दों में दिया है :

"हित से जो युक्त—समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव—सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम

सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!" (पृ. १११)

साहित्य के सन्दर्भ में इस सुस्पष्ट उद्धरण को उद्धृत करने का साफ़ अर्थ यह है कि इस कविता को मात्र धार्मिक, आध्यात्मिक या दार्शनिक मानकर साहित्य के आंगन से दूर न रखा जाए। सुधी समीक्षक तथा सुविचारी पाठक इस उद्धरण के आधार पर जब मुनिवरजी के काव्य का रसास्वाद लेने के लिए कटिबद्ध होगा, तब उसे भी जीवन के रंगों-रसों से भरपूर यह कविता तन-मन-बुद्धि को अपार आह्लाद देनेवाली लगेगी।

मुनिवरजी ने संगीत की महत्ता भी स्वीकार की है। उनकी दृष्टि में तो सारा जीवन ही संगीत है। कवि संगातीत को संगीत मानते है और अंगातीत को प्रीति मानते हैं। उनकी दृष्टि में उनका संगी संगीत सप्त-स्वरों से अतीत है। यह कबीर की भाषा में 'बिन घन परत फुहार' है। यह संगीत-साधना का प्रमेय है।

रससिद्ध कवीश्वर मुनिवरजी ने कुम्भकार के घूमते पहिए को देख साधक जीवन का अपूर्व सूत्र उद्घाटित किया है :

"परिधि की ओर देखने से/चेतन का पतन होता है/और
परम-केन्द्र की ओर देखने से/चेतन का जतन होता है।" (पृ. १६२)

यही वह सूत्र है। इसका स्पष्टीकरण देते हुए कवि कहते हैं :

"परिधि में भ्रमण होता है/जीवन यूँ ही गुज़र जाता है
केन्द्र में रमण होता है/जीवन सुखी नज़र आता है।" (पृ. १६२)

नितान्त सहज भाव से साधक जीवन का एक चमकदार मोती हमारी हथेली में मन्द स्मित के साथ रखते हुए कहते हैं :

"और सुनो,/यह एक साधारण-सी बात है कि/चक्करदार पथ ही, आखिर
गगन चूमता/अगम्य पर्वत-शिखर तक/पथिक को पहुँचाता है
बाधा-बिन बेशक !" (पृ. १६२)

'मूकमाटी' के साधक कवि स्पष्टतः अनेकान्तवाद - स्याद्वाद के प्रबल समर्थक हैं। 'ही' एकान्तवादी स्वरघोष है, 'भी' अनेकान्तवाद का प्रतीक है। 'ही' पश्चिमी सभ्यता का पक्षधर है जब कि 'भी' भारतीय संस्कृति का अमृतकुम्भ और भाग्यविधाता है। रावण को 'ही' का तथा राम को 'भी' का उपासक मानते हुए कवि-चेतना कहती है कि 'भी' के आसपास भीड़ बढ़ती-सी लगती है। जब तक 'भी' की श्वास अबाध रूप से चलती रहेगी, तभी तक लोक में लोकतन्त्र का नीड़ सुरक्षित रहेगा। 'भी' से ही सदाचार, सद्विचार तथा स्वतन्त्रता के सपने साकार हो उठते हैं और स्वच्छन्दता-मदान्धता मिटती है। 'ही' दूसरे को हीनदृष्टि से देखता है, वस्तु की शक्ल—बाह्यरूप को ही पकड़ पाता है और 'भी' सब को समीचीन दृष्टि से देख वस्तु के भीतरी भाग को भी छू सकता है। यही समझाते हुए कवि प्रभु से प्रार्थना करते हैं :

" 'ही' से हीन हो जगत् यह/अभी हो या कभी भी हो
'भी' से भेंट सभी की हो।" (पृ. १७३)

दूसरे सर्ग का समापन तप के महत्त्व के साथ करते हुए कवि ने जीवन की रग-रग में रस के रक्त-सम रमने की

कथा कही है।

तृतीय सर्ग का मंगलाचरण आचार पथ से जुड़ा हुआ है। पर-सम्पदा की ओर दृष्टि जाना अज्ञान है और पर-सम्पदा हरण कर उसका संग्रह करना मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है। सन्तों के पथ की रहस्यमयी चर्चा करते हुए मुनिवरजी कहते हैं कि सर्वसहा होना ही जीवन में सर्वस्व पाना है।

इसी पीठिका पर कवि के ये प्रश्न उठते-उभरते हैं और अपना समाधान चाहते हैं :

"क्या सदय-हृदय भी आज/प्रलय का प्यासा बन गया ?
क्या तन-संरक्षण हेतु/धर्म ही बेचा जा रहा है ?
क्या धन-संवर्धन हेतु/शर्म ही बेची जा रही है ?" (पृ. २०१)

निश्चित ही यह चर्चा-चिन्ता इहलोक की है। हमारे यहाँ एक ऐसी विचित्र मान्यता घर कर गई है कि साधु को इहलोक की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। एकान्त सेवन का धर्म भले ही मोक्षमार्ग के लिए उन्नायक सिद्ध होता हो लेकिन धर्म को धारण करने वाला मानता है—"धारणात् धर्म इत्याहु" ! तो समूह की चर्चा-चिन्ता से ही उसे जोड़कर देखना-परखना होगा। इसी सन्दर्भ में नारी के नाना रूपों की जो महिमामयी आरती कवि ने उतारी है वह स्वयं कवि की शब्दावली में ही पढ़ना ज़रूरी है (देखें, पृ. २०१-२०८)। नारी के विभिन्न गरिमामय रूपों की सुरम्य झाँकी चित्रित करने वाला कवि का साधक मन कहता है कि अबला के अभाव में सबल पुरुष भी निर्बल बनता है। यह समझ लेने पर ही स्त्री को कुल-परम्परा-संस्कृति का सूत्रधार न बनाने के आग्रही विचार का अचूक आकलन हो सकता है। यह स्वच्छ रूप में परम्परावादी चिन्तन है और वह हमेशा समन्वयी ही होता है। यह कहना एक ही तथ्य को दो शैलियों में कहना है।

तृतीय सर्ग का समापन करते हुए साधक कवि ने समझाया है कि साधक की अन्तर-दृष्टि में जल और ज्वलनशील अनल में अन्तर शेष रहता ही नहीं। साधना की यात्रा निरन्तर भेद से अभेद की ओर, वेद से अवेद की ओर बढ़नी ही चाहिए, क्योंकि यात्रा का नाम ही निरन्तरता है। यात्रा का अर्थ अरुक-अथक चलना ही तो है।

'मूकमाटी' का अन्तिम सर्ग अपने आप में सर्वथा स्वतन्त्र स्थान, माहात्म्य तथा गरिमा रखने वाला है। इसका मंगलाचरण 'संयमः खलु जीवनम्' का काव्यात्मक उद्घोष करता है :

"नियम-संयम के सम्मुख/असंयम ही नहीं, यम भी
अपने घुटने टेक देता है,/हार स्वीकारना होती है।" (पृ. २६९)

इस संयमी जीवन की पहचान है अपने आप को परखना, अपनी परीक्षा लेना, क्योंकि परीक्षक बनने से पूर्व परीक्षा में पास होना अनिवार्य है, अन्यथा वह उपहास का पात्र बनेगा :

" 'स्व' यानी सम्पदा है,/स्व ही विधि का विधान है
स्व ही निधि-निधान है/स्व की उपलब्धि ही सर्वोपलब्धि है।" (पृ. ३४०)

साधक कवि पुरुषार्थ और आशावाद के साथ आशीर्वाद की भी कामना करते हैं। वे अपने में लीन होने को 'नियति' मानते हैं। आत्मा को छोड़कर सभी पदार्थों को विस्मृत करना ही सही 'पुरुषार्थ' समझते हैं। इसी सन्दर्भ में प्राणिमात्र के धर्म को समझाते हुए कवि कहते हैं कि अपनाना अपनत्व प्रदान करता है और अपने से भी प्रथम पर को समझना सभ्यता है। नीच को ऊपर उठाया जा सकता है। उचित सम्पर्क से सब में परिवर्तन सम्भव है। ऊर्ध्वमुखी

जीवनशैली कवि के साधक मन की विशेषता है। वे मनुष्य को सम्भावनाओं की आहट पहचानने का आग्रह करते हैं।

मुनिवर कवि की चेतना प्रबुद्ध है इसीलिए वे डंके की चोट पर कह सकते हैं कि पापभरी प्रार्थना से प्रभु कदापि प्रसन्न नहीं होते। पाप को त्याग देने से ही वह पावन प्रसन्न होता है। इसी परिप्रेक्ष्य में कला का जीवन में स्थान एवं महत्त्व समझाते हुए वे कहते हैं कि कला से मनुष्य का जीवन सुख, शान्ति, सम्पन्नता से भर जाता है। फिर वह चाहे कला का कोई भी रूप क्यों न हो। कला का अर्थ उन्होंने यों विश्लेषित किया है :

" 'क' यानी आत्मा—सुख है/'ला' यानी लाना—देता है/कोई भी कला हो
कला मात्र से जीवन में/सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है।" (पृ. ३९६)

आतंकवाद के विरोध में कवि की वज्रलेखनी जब गरज उठती है तभी वे आतंकवाद का अन्त और अनन्तवाद का श्रीगणेश की बात करते हैं। मात्र समाजवाद, समाजवाद चिल्लाने से व्यक्ति समाजवादी नहीं बन सकता, यह समझाते हुए कवि-प्रतिभा समाजवाद की नई व्याख्या करते हुए इन पंक्तियों का सृजन करती है :

"समाज का अर्थ होता है समूह/और/समूह यानी
सम—समीचीन ऊह-विचार है/जो सदाचार की नींव है।
कुल मिला कर अर्थ यह हुआ कि/प्रचार-प्रसार से दूर
प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है।" (पृ. ४६१)

जीवन अनन्त सम्भावनाओं से भरपूर है और उस अर्थ में प्रस्तुत कविता भी अनन्त सम्भावनाओं से ओतप्रोत है। आलोचकीय दृष्टि जब इस कविता के महाकाव्य होने की चर्चा करेगी तो शुष्क-नियमों के आधार पर इसे महाकाव्य नहीं मान पाएगी। यह कविता नियमों को उत्क्रान्त करते हुए जीती है। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' इस न्याय से भी कवि स्वतन्त्रचेता, सर्वथा मुक्त और निःसंग होता है। उस कविता को रचने वाली क़लम तो अग्नि-परीक्षा दे कुन्दन-सी चमचमाती हुई है। जहाँ तक 'कविता' का प्रश्न है वहाँ इस कविता के अनेकानेक उद्धरण प्रस्तुत कर उसकी महिमा को अचूक शब्दों में अभिव्यक्ति दी जा सकती है। दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

"रति-पति-प्रतिकूला-गतिवाली/पति-मति-अनुकूला गतिवाली
इससे पिछली, बिचली बदली ने/पलाश की हँसी-सी साड़ी पहनी
गुलाब की आभा फीकी पड़ती जिससे/लाल पगतली वाली लाली-रची
पद्मिनी की शोभा सकुचाती है जिससे,/इस बदली की साड़ी की आभा वह
जहाँ-जहाँ गई चली/फिसली-फिसली, बदली वहाँ की आभा भी।"(पृ.१९९-२००)

एक उदाहरण और :

"मलयाचल का चन्दन/और/चेतोहारिणी/चाँद की चमकती चाँदनी भी
चित्त से चली गई उछली-सी कहीं/मेरी स्पर्शा पर आज !" (पृ. ८५)

और यह पढ़िए एक उद्धरण :

"रजत-सिंहासन पर/रजविरहित प्रभु की रजतप्रतिमा
अपराजिता विराजित है।" (पृ. ३१२)

कविता का भाव और काव्य की लक्ष्य-पूजा कवि ने तो वैसे भी बाँधी नहीं ही है। उनका सारा ध्यान कुम्भ के जीवन विकास की कहानी के माध्यम से मृण्मय का चिन्मय की यात्रा पर चल पड़ने का अद्भुत संकेत कराना है। अपनी तराशी हुई लेखनी के माध्यम से अनगिनत उदाहरणों, दृष्टान्तों, काव्य संकेतों, अलंकारों के माध्यम से उन्होंने अपनी बात को पुष्पित-पल्लवित किया है। उपरोक्त उद्धरण कविता के रसिक प्रेमियों के लिए भी उपादेय हैं, मननीय हैं।

मुनिवरजी की क़लम जिस सत्य का सात्त्विक अनुसन्धान कर रही है उसे शब्दों में बाँधना आसान काम नहीं है। अन्ततोगत्वा शब्दों पर विश्वास लाने से ही मंज़िल पर विश्वास को अनुभूति मिलेगी। तब अस्तित्व की तमाम दिशाएँ अनस्तित्व के गहनाकाश में विलीन हो जाएँगी। मंगलमय वातावरण चहुँ ओर छा जाएगा और तब जागेगी प्रार्थना, जो मूक ओठों में नवजागरण का सन्देश जगाएगी, वैश्विक सत्य की साधना में लीन रहेगी और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का महाप्रसाद परमकृपालु प्रभु से माँगेगी। यह दिव्य चैतन्य बोध ही कवि का अन्तस्तल है जो अपार करुणा से झिलमिल करता है। कवि की मंगल कामना के शब्द हैं :

"यहाँ··· सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें—/अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों
नाशा की आशा मिटे/आमूल महक उठे/···बस !" (पृ. ४७८)



'मूकमाटी' महाकाव्य : जीवन का उद्‌बोधन

डॉ. (श्रीमती) महाश्वेता चतुर्वेदी

'मूकमाटी' एक ऐसे कवि का महाकाव्य है जो मात्र कवि नहीं, अपितु अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों का साधक है, जो अपनी आध्यात्मिक धरोहर के साथ चिर अनन्त यात्रा पर चलता हुआ, मुक्ति का अमर गायक है। इस कृति के रचयिता आचार्य विद्यासागरजी जैन दर्शन के तत्त्वज्ञ मनीषी हैं, इसके साथ ही 'यथानाम तथागुणः' की उक्ति सार्थक सिद्ध करते हुए विद्या के सागर हैं, तथा इस विद्या के सागर को अज्ञान की लहरें स्पर्श भी नहीं कर सकतीं।

जो स्वयं ही विद्या का सागर है, वह अपने लेखन द्वारा ज्ञानामृत का प्रसारक है, ऐसा ज्ञान, जो मानव को भव-सागर से पार उतार सकता है। वस्तुतः विद्या का लक्ष्य है जीव को आत्मज्ञान की ओर प्रेरित करना– "विद्या हि का ? ब्रह्मगतिप्रदाय।" 'मूकमाटी' महाकाव्य का सृजन हिन्दी साहित्य के लिए एक अनोखी उपलब्धि है। यह सृजन अपने ढंग का अनोखा महाकाव्य है। तुच्छ वस्तु को महाकाव्य का विषय बनाकर उसे उद्‌बोधक सिद्ध करना किसी भी सुकवि की महीयसी विशेषता होती है। इस महाकाव्य 'मूकमाटी' को आद्योपान्त पढ़ने के बाद कबीर की पंक्तियाँ हृदय में गूँजने लगीं : *"माटी कहे कुम्हार से, तू क्यों रूँधे मोहि। इक दिन ऐसा आयेगा, मैं रूँधूँगी तोहि।"*

जिस माटी को तुच्छ समझकर यह विवेकी मानव पद दलित बनाता है, अन्ततः उसी माटी में एक दिन वह स्वयं भी विलय हो जाता है। घड़े के निर्माण सोपान अनेक हैं– कुम्भकार द्वारा मिट्टी एकत्रित करना, उसमें जल मिश्रण करना, रौंदना, पिण्ड बनाना, चाक पर चढ़ाना, घुमाना, सुखाना, पुनः अवे पर चढ़ाना, तपाना, उतारना, पुनः परीक्षण करके उन्हें रखना। 'कुम्भ' बनने की ये सारी दशाएँ जीवन यात्रा की परिचायक हैं। जीवन की दशाएँ हैं– जन्म, बढ़ना, परिवर्तन, विकास, क्षय होना तथा विनाश :

"जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति।"

जन्म लेना, बढ़ना, परिवर्तन तथा अवे पर चढ़ाया जाना–प्रत्येक जीवन की संघर्ष यात्रा की कहानी है। वस्तुतः अग्नि में तप कर ही सोने में निखार आता है। इसी प्रकार मानवीय जीवन में भी तप कर ही निखार आता है एवं चन्दन भी घिस-घिस कर चारु सौरभ प्रदान करता है :

"दग्धं दग्धं पुनरपि पुनः कंचनं कान्तवर्णम्।
धृष्टं धृष्टं पुनरपि पुनः चन्दनं चारुगन्धम्॥"

'मूकमाटी' महाकाव्य चार खण्डों में विभाजित है। इस महाकाव्य का प्रथम खण्ड माटी की प्राथमिक दशा के परिशोधन की प्रक्रिया को व्यक्त करता है। मंगल घट का सार्थक रूप पाने के लिए आवश्यक है कि उसे कूट छानकर परिमार्जित किया जाए :

"इस प्रसंग से/वर्ण का आशय/न रंग से है/न ही अंग से
वरन्/चाल-चरण, ढंग से है।" (पृ. ४७)

प्रथम खण्ड का प्रकृति वर्णन उल्लेखनीय है :

"अबला बालायें सब/तरला तारायें अब,/छाया की भाँति
अपने पतिदेव/चन्द्रमा के पीछे-पीछे हो/छुपी जा रहीं।" (पृ. २)

माटी का हृदयग्राही मानवीकरण स्पन्दित करता है, जब वह माँ धरती के सम्मुख अपने उद्‌गार व्यक्त

करती है :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
···अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !" (पृ. ४)

प्रथम खण्ड के अन्य महत्त्वपूर्ण विचार बिन्दु हैं– संगति के प्रभाव को सूचित करना (पृ. ८), जीवन के कटु सत्यों को उद्घाटित करना (पृ. ११), सम्प्रेषण की मीमांसा करना (पृ. २२), सरल निष्कलुष जीवन की सार्थकता, तथा जीवन की विडम्बना (पृ. ४) को सिद्ध करना आदि। 'मूकमाटी' नामक महाकाव्य का द्वितीय खण्ड है– 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं।' माटी खोदने की प्रक्रिया में कुम्भकार की कुदाली एक काँटे के माथे पर जा लगती है, जिससे उसका सिर लहुलुहान हो जाता है, किन्तु वह बदला लेने की सोचता है तथा कुम्भकार को अपनी असावधानी पर ग्लानि होती है, अतः वह कहता है–"खम्मामि, खमंतु मे।" इसी खण्ड में सन्त कवि ने अनेक आयामों पर गम्भीर चिन्तन प्रदान किया है। नव रसों को परिभाषित करने के साथ-साथ संगीत पर भी आध्यात्मिकता का रंग चढ़ा दिया है :

"मेरा संगी संगीत है/सप्त-स्वरों से अतीत···!" (पृ. १४५)

तत्त्वदर्शन तो इस कृति में पदे-पदे है। 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' सूत्र का व्यावहारिक भाषा में चमत्कारी अनुवाद किया है :

"आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन–उत्पाद है
जाना यानी मरण–व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर–ध्रौव्य है
और/है यानी चिर–सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

वस्तुतः उच्चारण मात्र 'शब्द' है, शब्द का अर्थ समझना 'बोध' तथा बोध का अनुभूति में आचरण करना 'शोध' है।

इस महाकाव्य के तीसरे खण्ड का शीर्षक है--'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन।' मन, वचन और कर्म/काय की पवित्रता से सम्पादित शुभकर्म लोक कल्याणकारी होते हैं :

"स्वयं धरती ने सीप को प्रशिक्षित कर/सागर में प्रेषित किया है।" (पृ. १९३)

इस खण्ड में कुम्भकार ने माटी की विकास कथा के माध्यम से पुण्य कर्म के सम्पादन से उत्पन्न महती उपलब्धि का चारु चित्रण किया है।

इस महाकाव्य के चतुर्थ खण्ड का विषय है--'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।' कुम्भ को अवे में तपाने की प्रक्रिया काव्यमयी है। अग्नि से कच्चा घड़ा कहता है :

"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है
स्व-पर दोषों को जलाना/परम-धर्म माना है सन्तों ने।" (पृ. २७७)

इस चतुर्थ खण्ड के विस्तृत फलक में अनेक कथा प्रसंग समाहित हैं। कुम्भकार अवे में तपे कुम्भ को सोल्लास बाहर निकालता है। इसी कुम्भ को कुम्भकार श्रद्धालु सेठ के सेवक के हाथों में समर्पित करता है। ले जाने से पूर्व वह उस कुम्भ को सात बार बजाता है तब सात स्वर उसमें से प्रतिध्वनित होते हैं :

"सा···रे ग···म यानी/सभी प्रकार के दुःख/प···ध यानी ! पद–स्वभाव
और/नि यानी नहीं,/दुःख आत्मा का स्वभाव-धर्म नहीं हो सकता।" (पृ. ३०५)

बात में से बात की उद्भावना का, तत्त्व चिन्तन के ऊँचे छोरों को देखने-सुनने का, लौकिक तथा पारलौकिक जिज्ञासाओं एवं अन्वेषणों तथा तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित अनेक तथ्यों का आगार है यह चतुर्थ खण्ड। स्वर्ण कलश उद्विग्न है, क्योंकि कथा नायक ने उसकी उपेक्षा करके मिट्टी के घड़े को आदर क्यों दिया है। इस अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए स्वर्ण कलश एक आतंकवादी दल बुलाता है, जो आते ही परिवार में आतंक लीला आरम्भ कर देता है, तथा सेठ अपने परिवार की रक्षा कैसे करता है, इस सब का चित्रण नाटकीयता से परिपूर्ण है। आतंकवाद के प्रासंगिक चित्रण में सुविज्ञ कवि विद्यासागरजी ने आतंकवाद को जीवन का अभिशाप बताते हुए उससे उबरने की प्रेरणा दी है– *"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती/धरती यह"* (पृ. ४४१)। साधु की वन्दना के बाद स्वयं आतंकवाद कहता है :

"हे स्वामिन् !/समग्र संसार ही/दुःख से भरपूर है,/यहाँ सुख है, पर वैषयिक
और वह भी क्षणिक !/यह···तो···अनुभूत हुआ हमें,/परन्तु
अक्षय सुख पर/विश्वास हो नहीं रहा है।" (पृ. ४८४-४८५)

गुरु चाहे कितने उपदेश करें, किन्तु कल्याण पुरुष यत्न से ही सम्भव है।

यह महाकाव्य शिल्प की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। यहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकार की छटा महनीय है। कवि के लिए अतिशय आकर्षण है शब्द का। इस महाकाव्य में अनेक शब्द ऐसे आए हैं जिनके प्रत्येक अक्षर का एक नूतन अर्थ उद्घाटित करना विलक्षण प्रतिभा का परिचायक है :

"कला शब्द स्वयं कह रहा कि/'क' यानी आत्मा–सुख है
'ला' यानी लाना–देता है" (पृ. ३९६)

'मूकमाटी' महाकाव्य में अनेक ऐसे स्थल हैं, जहाँ शब्द की ध्वनि अनेक साम्यों की प्रतिध्वनि में अर्थान्तरित हो रही है। उदाहरणस्वरूप :

"युग के आदि में/इसका नामकरण हुआ है/कुम्भकार !
'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य–/यहाँ पर जो
भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

किन्हीं प्रसंगों के अतिविस्तार ने इस कृति को कहीं-कहीं उबाऊ बना दिया है। 'आतंकवाद' का वर्णन अति विस्तारवादी है। इसके साथ ही यह कृति दर्शन और अध्यात्म से बोझिल है। कल्पना के सुकुमार कलेवर से झाँकता दर्शन आम पाठकों को आन्दोलित करता है। किन्तु यह भी सत्य है कि अध्यात्म और दर्शन के प्राचुर्य ने इस कृति की काव्यात्मकता का नाश नहीं किया है। यदि 'मूकमाटी' नामक महाकाव्य को 'जीवन का उद्बोधन' कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि इस कृति का लक्ष्य मानव को माया के अन्धकार से जाग्रत करना है। माटी यद्यपि मूक प्रतीत होती है किन्तु व्यथा कथा को छिपाकर भी सार्थक जीवन की पहचान है तथा स्वर्ण कलश की तुलना में 'कुम्भ' अधिक मूल्यवान् है। माटी ही सोने को उपजाती है, स्वर्ण 'मिट्टी' का जन्मदाता नहीं। इस महाकाव्य का दर्शन निखिल मानव जाति का उद्बोधन मिट्टी के घड़े के माध्यम से करता प्रतीत हो रहा है। मानवीय जीवन का यह कुम्भ अपने सत्कार्यों के स्वर्ण से, साधना के द्वारा ही आलोकित हो सकता है।

समीक्ष्य कृति 'मूकमाटी' की भाषा प्रसाद गुणमयी है। सन्त कवि विद्यासागरजी ने सर्वत्र संस्कृतनिष्ठ एवं साहित्यिक हिन्दी का प्रयोग किया है। यह महनीय कृति मनीषियों में निश्चय ही समादृत होगी।

□

'मूकमाटी' : भावों के बिन्दु, रेखाएँ और तल

प्रो. लक्ष्मी चन्द्र जैन

'मूकमाटी' महाकाव्य या खण्ड काव्य आचार्य श्री विद्यासागर मुनि महाराज की एक अद्‌भुत कृति है जिसमें आत्मा के भव्य परिणामों की सशक्त लहरें अप्रतिम शैली में अभिव्यक्ति पा सकी हैं। मूकमाटी नायक और शिल्पी अधिनायक के आलम्बन द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृति से लेकर अर्वाचीन संस्कृति का भावात्मक एवं समग्र चित्रण गहरी, अत्यन्त गहन अनुभूतिमय साधनों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। अभी तक हिन्दी में ऐसी मौलिक रचना देखने में नहीं आई है जिसमें व्यक्तिवाद, समाजवाद, आतंकवाद आदि अनेक उलझे-सुलझे वादों का संवादों एवं विसंवादों, भाषा एवं अभाषा तथा भावों और अभावों द्वारा स्पष्टतम विश्लेषण किया गया हो। साथ ही धर्म नीति, अर्थ नीति, काम नीति, राज नीति, मोक्ष नीति का यथायोग्य स्थानों पर सुरीतिया उल्लेख किया गया है। इस प्रकार आत्मा की अनादि से अन्त तक की कहानी को गागर में सागर भरकर एक रूहानी जहाँ की प्रस्तुति अपने आप में एक पैरेडिग्म शिफ्ट (Paradigm shift) है जो युग-युगान्तरों में ही दुर्लभता से देखने में आता है। महान् तपस्वी एवं कविहृदय आचार्यश्री ने सत्य महाव्रत से संलग्न, आधुनिक प्रसंगयुक्त ऐसे सत्य को हित-मित-प्रिय रूप में इस कृति में आविर्भावित किया है जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है :

"Truth is a trial of itself,
And needs no other touch,
And purer than the purest gold,
Refine it never so much."

वस्तुतः मुक्ति मार्ग तो कंटकाकीर्ण है ही, उसका निरूपण भी कला, विज्ञान और तन्त्र का संयुक्त प्रयास हुआ करता है जिसमें आचार्यश्री की लेखनी अनदेखे, अनजाने, अनसुने रूप से सिद्धहस्त है।

मेरे जैसे गणितज्ञ एवं वैज्ञानिक को इसमें क्या उपलब्ध हो सकता है, दिखाई दिया है, उसकी एक झलक देना आवश्यक तो है ही, प्रेरणास्पद भी हो सकता है। प्रेरणास्पद साहित्य ही चिरजीवी (Classical) एवं अमर हुआ करता है और विश्वविद्यालयों में हर शोभा को प्राप्त कर लेता है। हम इसके खण्डशः कुछ अंश उद्‌धृत करते हुए उन गहराइयों और ऊँचाइयों के बिन्दु, रेखापथ तथा तलों को स्पर्श करते चलेंगे जो मुसाफिर को अपनी मंज़िल तक पहुँचने में अपने मार्ग में मिलते चले जाते हैं। यहाँ परिणामों की, भावों की पहुँच के मापदण्ड क्या हों, यह तो अपनी-अपनी रुचि का ही प्रश्न बनकर रह सकता है।

सन्धिकाल का अपना विशेष महत्त्व है और सन्धि श्रेयसी की पहचान, दुरभि-सन्धि के अभाव रूप प्रस्तुति यह है :

"न निशाकर है, न निशा/न दिवाकर है, न दिवा/अभी दिशायें भी अन्धी हैं;
पर की नासा तक/इस गोपनीय वार्ता की गन्ध/···जा नहीं सकती !
ऐसी स्थिति में/उनके मन में/कैसे जाग सकती है/···दुरभि-सन्धि वह !"
(पृ.३)

भावधारा या मनोहृदय धारा, संगति गुण से अनेक रूप फलित होती चली जाती है जो जीवन धारा का रूप

ले लेती है :

"और यह भी देख ! / कितना सुला विषय है कि / उजली-उजली जल की धारा
बादलों से झरती है / धरा-धूल में आ धूमिल हो / दल-दल में बदल जाती है।
वही धारा यदि / नीम की जड़ों में जा मिलती / कटुता में ढलती है;
सागर में जा गिरती / लवणाकर कहलाती है / वही धारा, बेटा !
विषधर मुख में जा / विष-हाला में ढलती है; / सागरीय शुक्तिका में गिरती,
यदि स्वाति का काल हो, / मुक्तिका बन कर / झिलमिलाती बेटा,
वही जलीय सत्ता···!" (पृ. ८)

फिसलन होने पर अभय दिलाने वाली पंक्तियाँ ये हैं :

"भले ही वह / आस्था हो स्थायी / हो दृढ़ा, दृढ़तरा भी / तथापि
प्राथमिक दशा में / साधना के क्षेत्र में / स्खलन की सम्भावना
पूरी बनी रहती है, बेटा ! / स्वस्थ-प्रौढ़ पुरुष भी क्यों न हो
काई-लगे पाषाण पर / पद फिसलता ही है !" (पृ. ११)

संप्रेषण आज के युग में अत्यधिक महत्त्व को प्राप्त हुआ है, जिसकी परिभाषा कवि ने इस प्रकार दी है :

"विचारों के ऐक्य से / आचारों के साम्य से / सम्प्रेषण में / निखार आता है,
वरना / विकार आता है ! / बिना बिखराव / उपयोग की धारा का
दृढ़-तटों से संयत, / सरकन-शीला सरिता-सी / लक्ष्य की ओर बढ़ना ही
सम्प्रेषण का सही स्वरूप है।" (पृ. २२)

शिल्पी के कार्य (चाहे वह ताजमहल ही क्यों न हो) की पुनीत महत्ता को कौन अमान्य करेगा ? :

"सरकार उससे / कर नहीं माँगती / क्योंकि / इस शिल्प के कारण
चोरी के दोष से वह / सदा मुक्त रहता है। / अर्थ का अपव्यय तो
बहुत दूर / अर्थ का व्यय भी / यह शिल्प करता नहीं, / बिना अर्थ
शिल्पी को यह / अर्थवान् बना देता है; / युग के आदि से आज तक
इसने / अपनी संस्कृति को / विकृत नहीं बनाया / बिना दाग है यह शिल्प
और कुशल है यह शिल्पी।" (पृ. २७-२८)

शिल्पी की योगशाला, प्रयोगशाला पर एक टिप्पणी यह है :

"यहाँ पर / जीवन का 'निर्वाह' नहीं / 'निर्माण' होता है
इतिहास साक्षी है इस बात का। / अधोमुखी जीवन
ऊर्ध्वमुखी हो / उन्नत बनता है; / हारा हुआ भी
बेसहारा जीवन / सहारा देनेवाला बनता है।" (पृ. ४३)

पापी से नहीं, पाप से घृणा करने सम्बन्धी धर्म-नीति ईसा की पापी महिला-रक्षा से सम्बन्धित है :

"ऋषि - सन्तों का/सदुपदेश - सदादेश/हमें यही मिला कि
पापी से नहीं/पाप से/पंकज से नहीं,/पंक से/घृणा करो।" (पृ.५०-५१)

सल्लेखना का रहस्य भी योगियों, व्रतियों, श्रावकों को जानने योग्य है। वस्तुतः शरीर और कषाय के कृश होने पर ही तो करणत्रय की लग्न आती है। वह इस प्रकार वर्णित है :

"सल्लेखना, यानी/काय और कषाय को/कृश करना होता है, बेटा !
काया को कृश करने से/कषाय का दम घुटता है/···घुटना ही चाहिए।
और,/काया को मिटाना नहीं,/मिटती-काया में/मिलती-माया में
म्लान-मुखी और मुदित-मुखी/नहीं होना ही/सही सल्लेखना है, अन्यथा
आतम का घन लुटता है, बेटा !" (पृ. ८७)

परम आर्त और परम अर्थ की गहराई यह है :

"सूक्ष्माति-सूक्ष्म दोष की पकड़,/ज्ञान का पदार्थ की ओर/ढुलक जाना ही
परम आर्त पीड़ा है,/और/ज्ञान में पदार्थों का/झलक आना ही–
परमार्थ क्रीड़ा है/एक दीनता के भेष में है/हार से लज्जित है,
एक स्वाधीनता के देश में है/सार से सज्जित है।
पुरुष की पिटाई प्रकृति ने की,/प्रकारान्तर से चेतन भी/उसकी चपेट में आया
गुणी के ऊपर चोट करने पर/गुणों पर प्रभाव पड़ता ही है/'आघात मूल पर हो
द्रुम सूख जाता है,/दो मूल में सलिल तो···/पूरण फूलता है'।" (पृ. १२४-१२५)

अर्थशास्त्री को अर्थ के अर्थ की और परमार्थ के पलड़े की चुनौती निम्नपंक्तियों में प्रस्तुत की गई है जो रागी का लक्ष्यबिन्दु अर्थ और त्यागी का परमार्थ दर्शाता है :

"अन्तिम भाग, बाल का भार भी/जिस तुला में तुलता है
वह कोयले की तुला नहीं साधारण-सी,/सोने की तुला कहलाती है असाधारण !
सोना तो तुलता है/सो···अतुलनीय नहीं है/और/तुला कभी तुलती नहीं है
सो···अतुलनीय रही है/परमार्थ तुलता नहीं कभी/अर्थ की तुला में
अर्थ को तुला बनाना/अर्थशास्त्र का अर्थ ही नहीं जानना है
और/सभी अनर्थों के गर्त में/युग को ढकेलना है।
अर्थशास्त्री को क्या ज्ञात है यह अर्थ ?" (पृ. १४९)

अनेकान्त का उदाहरण सापेक्षता के रहस्य में डूबा हुआ है :

"अगर सागर की ओर/दृष्टि जाती है,/गुरु-गारव-सा
कल्प-काल वाला लगता है सागर;/अगर लहर की ओर/दृष्टि जाती है,

अल्प-काल वाला लगता है सागर।/एक ही वस्तु
अनेक भंगों में भंगायित है/अनेक रंगों में रंगायित है, तरंगायित !
मेरा संगी संगीत है/सप्त-भंगी रीत है।" (पृ. १४६)

करुणा के द्वारा प्रकृति पर्यावरण की सुनिश्चित सुरक्षा इन पंक्तियों में निहित है :

"प्रकृति माँ की आँखों में/रोती हुई करुणा,/बिन्दु-बिन्दु कर के
दृग-बिन्दु के रूप में/करुणा कह रही है/कण-कण को कुछ :
'परस्पर कलह हुआ तुम लोगों में/बहुत हुआ, वह गलत हुआ।
मिटाने-मिटने को क्यों तुले हो/इतने सयाने हो !/जुटे हो प्रलय कराने
विष से धुले हो तुम !/इस घटना से बुरी तरह/माँ घायल हो चुकी है
जीवन को मत रण बनाओ/प्रकृति माँ का व्रण सुखाओ' !" (पृ. १४८-१४९)

कविता में एक अभिनव नाटकीय ढंग से अंकों का प्रयोग कर मंज़िल की पहचान प्रस्तुत की गई है :

"९९ और ९ की संख्या/जो कुम्भ के कर्ण-स्थान पर
आभरण-सी लगती अंकित हैं/अपना-अपना परिचय दे रही हैं।
एक क्षार संसार की द्योतक है/एक क्षीर-सार की।
एक से मोह का विस्तार मिलता है,/एक से मोक्ष का द्वार खुलता है।" (पृ. १६६)

जड़ और चेतन की परख कराना विश्व चेतना को जाग्रत करना है :

"भोग पड़े हैं यहीं/भोगी चला गया,/योग पड़े हैं यहीं/योगी चला गया,
कौन किस के लिए—/धन जीवन के लिए/या जीवन धन के लिए ?
मूल्य किसका/तन का या वेतन का,/जड़ का या चेतन का ?" (पृ. १८०)

नीति विषयक एक लेश्या प्रसंग निम्नलिखित है :

"जब सुई से काम चल सकता है/तलवार का प्रहार क्यों ?
जब फूल से काम चल सकता है/शूल का व्यवहार क्यों ?
जब मूल में भूतल पर रह कर ही/फल हाथ लग रहा है
तब चूल पर चढ़ना/मात्र शक्ति-समय का अपव्यय ही नहीं,
सही मूल्यांकन का अभाव भी सिद्ध करता है।" (पृ. २५७)

कसौटी के प्रति कवि के विचार एक नवीन रहस्य को प्रस्तुत करते हैं :

"अपनी कसौटी पर अपने को कसना/बहुत सरल है···पर
सही-सही निर्णय लेना बहुत कठिन है,/क्योंकि,/अपनी आँखों की लाली
अपने को नहीं दिखती है।/एक बात और भी है, कि
जिस का जीवन औरों के लिए/कसौटी बना है/वह स्वयं के लिए भी बने,

यह कोई नियम नहीं है।/ऐसी स्थिति में प्रायः/मिथ्या-निर्णय लेकर ही
अपने आप को प्रमाण की कोटि में/स्वीकारना होता है···सो
अग्नि के जीवन में सम्भव नहीं है।" (पृ. २७६)

जड़ की जड़ता का स्वरूप विलक्षण होता है। उसकी पहचान कराने कवि ने 'समयसार' ग्रन्थ की शैली अपनाई है :

"जहाँ तक इन्द्रियों की बात है/उन्हें भूख लगती नहीं,/बाहर से लगता है कि
उन्हें भूख लगती है।/रसना कब रस चाहती है,/नासा गन्ध को याद नहीं करती,
स्पर्श की प्रतीक्षा स्पर्शा कब करती ?/स्वर के अभाव में
ज्वर कब चढ़ता है श्रवणा को ?/बहरी श्रवणा भी जीती मिलती है।
आँखें कब आरती उतारती हैं/रूप की स्वरूप की ?/ये सारी इन्द्रियाँ जड़ हैं,
जड़ का उपादान जड़ ही होता है,/जड़ में कोई चाह नहीं होती
जड़ की कोई राह नहीं होती/सदा सर्वत्र सब समान
अन्धकार हो या ज्योति।" (पृ. ३२८-३२९)

राग-विराग विधि का निदर्शन भी कवि की प्रतिभा का द्योतक है :

"गगन का प्यार कभी/धरा से हो नहीं सकता/मदन का प्यार कभी
जरा से हो नहीं सकता;/यह भी एक नियोग है कि/सुजन का प्यार कभी
सुरा से हो नहीं सकता।/विधवा को अंग-राग/सुहाता नहीं कभी
सधवा को संग-त्याग/सुहाता नहीं कभी,
संसार से विपरीत रीत/विरलों की ही होती है
भगवाँ को रंग-दाग/सुहाता नहीं कभी !" (पृ. ३५३-३५४)

औषधि, जो जन्म-जरा-मृत्यु रोगहारी हो, उसका रहस्य प्रस्तुत करने में कवि ने सम्भवतः अपने अनुभव से शकार-त्रय रूप दिग्दर्शित किया है :

"तात्कालिक/तन-विषयक-रोग ही क्या,/चिरन्तन चेतन-गत रोग भी/जो
जनन-जरन-मरण रूप है/नव-दो-ग्यारह हो जाता है पल में/श, स, ष
ये तीन बीजाक्षर हैं/इन से ही फूलता-फलता है वह
आरोग्य का विशाल-काय वृक्ष !/इनके उच्चारण के समय/पूरी शक्ति लगा कर
श्वास को भीतर ग्रहण करना है/और/नासिका से निकालना है
ओंकार-ध्वनि के रूप में।" (पृ. ३९७-३९८)

आतंकवाद का चिर प्रतिष्ठित रूप निम्नलिखित पंक्तियों में निरूपित किया गया है :

"पुनरावृत्ति आतंक की—/वही रंग है वही ढंग है/अंग-अंग में वही व्यंग्य है,

वही मूर्ति है वही मुखड़े/वही अमूर्च्छित-तनी मूँछें/वही चाल है वही ढाल है
वही छल-बल वही उछाल है/क्रूर काल का वही भाल है
वही नशा है वही दशा है/काँप रही अब दिशा-दिशा है
वही रसना है वही वसना है/किसी के भी रही वश ना है
सुनी हुई जो वही ध्वनि है/वही वही सुन ! वही धुन है।
वही श्वास है अविश्वास है/वही नाश है अट्टहास है/वही ताण्डव-नृत्य है
वही दानव-कृत्य है/वही आँखें हैं सिंदूरी हैं/भूरि-भूरि जो घूर रही हैं
वही गात है वही माथ है/वही पाद है वही हाथ है/घात-घात में वही साथ है,
गाल वही है अधर वही है/लाल वही है रुधिर वही है/भाव वही है डाँव वही है
सब कुछ वही नया कुछ नहीं/जिया वही है दया कुछ नहीं।" (पृ. ४५५)

आचार्य श्री विद्यासागर ने अपने गुरु आचार्य श्री ज्ञानसागर को समर्पण करते हुए इस 'मूकमाटी' के प्रारम्भ में 'मानस-तरंग' देकर अपने अभिप्राय को पूर्णरूपेण स्पष्ट किया है। प्रयोजन रूप प्ररूपित करने उन्होंने अन्तिम वाक्य जोड़ा है : "जिसने शुद्ध-सात्त्विक भावों से सम्बन्धित जीवन को धर्म कहा है; जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है··· और जिसका नामकरण हुआ है 'मूकमाटी'।"

'मूकमाटी' के पूर्व आपके द्वारा सृजित हिन्दी रचनाएँ तथा संस्कृत की शतक रचनाएँ, जो बिखरे मोती कही जा सकती हैं, अभूतपूर्व रचनाएँ हैं। उनमें भी 'मूकमाटी' के उसी पक्ष का निखार, उभार है जो नैतिकता और त्याग, तपस्या, वैराग्य के कठोर अनुशासन से अनुप्राणित है। जन्म से कन्नड़ भाषी होते हुए भी हिन्दी में असाधारण रचनाएँ रचकर तथा 'मूकमाटी' जैसे महाकाव्य का निर्माण कर कवि ने अप्रतिम प्रतिभा का परिचय दिया है जो उनकी संस्कृत में की गई कृतियों में भी झलकती है। उन्होंने दर्शन, धर्म एवं अध्यात्म की आधार शिलाओं पर ही व्यक्ति, समाज, देश और सम्पूर्ण विश्व को अपना स्वयं का एक दर्शन अवतरित कर समर्पित किया है जो उनकी कृति 'मूकमाटी' में स्पष्ट रूप से झलक आया है। इस दर्शन की भाषा निराली है, सरल है, सत्य अनुगामी है, व्युत्पत्तिपरक है। इस दर्शन का रहस्य उनका उच्चतम कोटि का योग है। यह योग ज्ञान, चारित्र और तपस्या से ओतप्रोत है। यह विलक्षणता उन्हें एक ऐसे स्वतन्त्र विचारक एवं रचयिता के रूप में ढाल लाई है कि जिसका प्रतिफलन आज देश में वैचारिक क्रान्ति उस युवावर्ग में पनपी दिखाई दे रही है जो विलास के सम्पूर्ण साधनों से दूर नहीं था।

यह वैचारिक क्रान्ति सहृदयता एवं अनुशासन की आधार शिलाओं पर पनपी है, खड़ी है, अतः उसे 'मूकमाटी' की छाया कहना उचित होगा। आशा है, अगली पीढ़ी के हाथों में भी 'मूकमाटी' होगी जो उन्हें सशक्त, सक्षम एवं सहृदय अनुशासित नागरिक बनाने में पूरा योगदान दे सकेगी।

आचार्यश्री एवं कविश्री विद्यासागरजी की अनेक कृतियों पर विश्वविद्यालयों में शोध कार्य प्रारम्भ हो चुके हैं, कुछ समाप्त भी हो चुके हैं। यदि शोधपरक कार्य उनके क्रान्तिकारी दर्शन को लेकर हो सके, जो 'मूकमाटी' में उजागर हुआ है, झलका है तो उनके प्रकाशन से भूले-भटके, रूढ़िवादी, पिछड़े समाज एवं देश को एक नई दिशा, नया आयाम, नया मार्ग प्राप्त हो सकेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

□

'मूकमाटी' : विकास यात्रा की निरन्तरता – पद, पथ और पाथेय

डॉ. सन्तोष कुमार तिवारी

जब किसी सन्त का सन्तत्व काव्य में ढलकर सामने आता है तो वह पूरे औदात्त्य के साथ मनुष्यता की उच्चतर भावभूमि पर हमें ले जाता है और ह्रासशील विघटन के बीच संयोजन और संश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा वास्तविक जीवन मूल्यों को उद्घाटित करता है। वह केवल जीवन मूल्य ही नहीं अपितु सार्थक जीवन बोध देता है। आचार्य विद्यासागर की 'मूकमाटी' का यही रहस्य है।

अकसर कविता के बारे में अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्धों की चर्चा की जाती है किन्तु इस कसौटी पर आते कितने रचनाकार हैं ? सम-सामयिकता के बीच से उन विचार बिन्दुओं और अनुभव खण्डों की पकड़, जो सृजन को सार्थक और कालजयी बनाती है, कितने कवियों को अपने निकष पर खरा घोषित करती है। इन्द्रियजन्य सोच और अनुभवों को अपनी विकासशील जीवन यात्रा में कितने रचनाकार इन्द्रियातीत बनाने का माद्दा रखते हैं ? आचार्य विद्यासागर ने माटी की मूक व्यथा को ही रूपायित नहीं किया बल्कि उसे मंगलकलश की वह भव्य ऊँचाई प्रदान की है, जो आधारभूत नींव को अनदेखा नहीं करती और जीवन को समग्रता में देखती है—खण्ड-खण्ड में नहीं।

संश्लिष्ट जीवन चित्र को सम्पूर्णता में देखने की दृष्टि बहुत विरले साधकों को होती है। यह बात गौरतलब है कि सन्त की यह रचना आचरणजन्य भाषा की साधना है। ऐसे ही रचनाकारों के बीच कविता स्वतः स्फूर्त होती है और शब्द अनुभूति के अनुरूप ढलते जाते हैं—नया निर्माण पाते हुए सुविन्यस्त होते हुए। व्याकरण को काव्यात्मकता प्रदान करने में डॉ. रामकुमार वर्मा को 'एकलव्य' में जो महारत हासिल हुई है, वही कमाल 'मूकमाटी' में आचार्य विद्यासागर ने कर दिखाया है। अंकों के चमत्कार, शब्द ध्वनियों की पकड़, मन्त्र ज्ञान और अक्षरों में निहित अर्थ की व्याप्ति– अपने आप कविता में ढल गई है। जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' में चिन्ता से आनन्द की मनोवैज्ञानिक और समरस भावभूमि का जो निरूपण किया है, वह हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि है। आचार्य विद्यासागर ने कुम्भकार शिल्पी के द्वारा पद दलित माटी की मंगल घट के रूप में जो चरम ऊँचाई निरूपित की है, वह विकासशील जीवन के तमाम पड़ावों को समेटकर मुक्तियात्रा का काव्यात्मक रूपक बन गई है। उसमें माटी की मूक व्यथा है, परिशोधन है, विकार रहित जीवन की साधना है, मंगल घट की चरम सर्जना है और वह भी अन्त में गुरु के पाद प्रक्षालन में समर्पित भावना के साथ। जीवन का ऐसा दार्शनिक निचोड़ आधुनिक काव्य साहित्य में बहुत दुर्लभ है। प्रसाद ने 'कामायनी' में इच्छा, कर्म और ज्ञान के तीन गोलक दिखाकर उस अखण्ड आनन्द की सृष्टि की है, जहाँ जड़ और चेतन समरस हो जाते हैं। सन्त कवि विद्यासागर ने माटी को कंकरों से मुक्त कर यानी जीवन को विकार रहित बनाकर उसे जो वर्ण-लाभ दिया है और आत्यन्तिक ऊँचाई पर जाकर गुरु के चरणों में समापन दिया है, वह जीवन दर्शन, अध्यात्म चेतना और विकासशील जीवन दृष्टि अपने आप में बेमिसाल है। विद्यासागरजी की संवेदित वैचारिकता में जो दार्शनिक चेतना का समाहार हुआ है उसने कविता को अध्यात्म और अध्यात्म को कविता बना दिया है। यह एक प्रज्ञापुरुष के वैचारिक शिखर से फूटी हुई सुधा रस की वह धार है जो अपने लोककल्याणी रूप में विश्व मानवता को परिपुष्ट करती है।

जब पाण्डित्य सहजता और सरलता में ढल जाए तब 'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' की असाधारण स्थिति प्राप्त होती है। आचार्यजी ने केवल शब्दों को ही नहीं शोधा बल्कि उनकी ध्वनियों को पकड़कर अर्थों को मूर्त रूप दिया है। नई-कविता-किरीटी-पुरुष अज्ञेय ने यह बात उठाई थी कि उपमान मैले हो गए हैं और शब्द बासे, इसलिए शब्दों में नई अर्थवत्ता परमावश्यक है। दरअसल शब्द ब्रह्म है, इसलिए शब्द साधना, ब्रह्म साधना से कम

नहीं है। आचार्य विद्यासागर ने शब्दों के भीतर पैठ कर उनके आभ्यान्तरिक मूल अर्थों को पकड़ा है, इसलिए गूढ़ सूत्रों के सरलतम अनुवाद 'मूकमाटी' में मौजूद हैं। कहा जाता है कि रचना से रचनाकार अलग नहीं होता यानी कविता ज़िन्दगी में ढलती है और ज़िन्दगी कविता में– *"कुम्भ की कुशलता सो अपनी कुशलता"(पृ. २९६)*। यहीं से सही शब्द बोध और जीवन बोध प्राप्त होता है अर्थात् शब्द और सत्य के बीच की दीवार मिट जाती है। यहीं पर शाश्वत जीवन सत्य अपने मानवीय फलक पर जीवन का सही पुरुषार्थ बनकर प्रकट होता है। इसे हम 'मंज़िल पर विश्वास की अनुभूति' कहें या 'शालीनता की विशालता में आकाश का समा जाना'– बात एक ही है। सन्तत्व और काव्यत्व का ऐसा सुन्दर समागम बहुत विरल होता है। महाकाव्य की प्राचीन परिभाषाएँ अब कोई मायना नहीं रखतीं – आठ सर्ग हों, कथावस्तु पौराणिक या ऐतिहासिक हो, नायक क्षत्रिय एवं धीरोदात्त हो, आदि। वास्तव में महाकाव्य वह है जो युग जीवन के अनुरूप मानव जीवन के विविध आयामों को कथावस्तु में इस तरह समेटकर चले कि मनुष्य उसके केन्द्र में हो और मनुष्यता का चरम पुरुषार्थ प्रेरित हो। उसमें देशकाल की सीमाओं को लाँघकर किसी महत् सन्देश की व्याप्ति और अनुगूँज हो। 'मूकमाटी' सही अर्थों में एक ऐसा प्रतीकात्मक महाकाव्य है जो स्वस्थ सामाजिकता में कवि दायित्व का निर्वाह करते हुए विश्व मानव की शिखरस्थ और उदात्त भावभूमि का विराट् मानवीय सन्दर्भों में शोधपत्र या आलेख प्रस्तुत करता है। यहाँ पद, पथ और पाथेय का जो सार्वभौम स्वरूप दिखाई देता है वह इस कृति को अद्वितीय बनाता है। जहाँ कहीं भी मानवीय सदाशयता अपनी पराकाष्ठा पर दिखलाई देती है वहाँ सृजन अपनी उत्कृष्ट ऊँचाइयों पर होता है।

एक बात साफ़ हो जानी चाहिए कि विद्यासागरजी का तत्त्व चिन्तन, दर्शन और अध्यात्म कहीं किसी सम्प्रदाय विशेष का हिमायती या प्रचारक नहीं है, वह शुद्ध मानव धर्म है। एक साधक, सन्त या कवि अपनी ऊर्ध्वमुखी चेतना में सबका हो जाता है। यदि ऐसा न होता तो कबीर, तुलसी और जायसी हम सबके दिलो-दिमाग़ पर कैसे छा जाते ? दरअसल सन्त और फकीर की मस्ती, तत्त्व विवेचन और मानवीय चेतना अपने परिष्कृत रूप में समग्र मानवता की होती है। उसे किसी धर्म विशेष तक सीमित करना न तो न्यायसंगत है और न औचित्यपूर्ण। क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर से निर्मित यह शरीर 'माटी' की अहमियत को कैसे भूल सकता है ? सबसे पहला तत्त्व वही है। आचार्य विद्यासागर ने इस क्षिति तत्त्व को मंगल घट की विकास यात्रा देकर मिट्टी से बने इस मानव शरीर को जो चरम ऊँचाई दी है, वह अत्यन्त सारगर्भित है और जीवन का सही उपसंहार। इस महाकाव्य में युगजीवन की पूरी झलक मिलती है–चाहे नारी जीवन की व्यथा-कथा हो, आतंकवाद की त्रासद स्थिति हो अथवा क्रोध का शमन बोध के स्तर पर हो। शब्दों से उपजी नई व्याख्याएँ उनके अपरिमित ज्ञान और चिन्तन का परिचय देती हैं।

किसी कवि का अधिकांश उद्धरण योग्य हो, ऐसा बहुत-बहुत कम होता है। आचार्य विद्यासागर के साथ यह बात अवश्य है। आखिर इसका कारण क्या है ? जब रचनाकार किसी विचारखण्ड को अनुभूति की प्रामाणिकता और भोगे हुए यथार्थ के आधार पर शब्दों की चरम मितव्ययता के साथ अभिव्यक्ति देता है तब कविता सूक्तियों में ढलने लगती है। जीवन का निचोड़ और अनुभव-सत्य सुभाषितों तथा अनमोल वचनों में रूपायित होने लगता है। यहीं पर रचना सूक्तिधर्मा हो जाती है और अपनी ध्वन्यात्मकता या व्यंजना में बहुत दूर तक मार करती है, वह गम्भीर घाव देती है या विचारों के जगमगाते मोती, जो अन्तर्तम तक प्रकाश फैला कर उद्वेलित करें–शान्त और संयत स्वर में। विद्यासागरजी के साथ यही बात है। वहाँ उपदेशात्मकता भी काव्यत्व को बाधित नहीं करती, जैसे– *"चरणों का प्रयोग किये बिना/शिखर का स्पर्शन/सम्भव नहीं है !"(पृ. १०); "निरन्तर अभ्यास के बाद भी/स्खलन सम्भव है"(पृ. ११); "अनुकूलता की प्रतीक्षा करना/सही पुरुषार्थ नहीं है"(पृ. १३); "संघर्षमय जीवन का/उपसंहार/*

नियमरूप से/हर्षमय होता है''(पृ. १४); ''पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है''(पृ. ३३); ''दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है''(पृ. ३७); ''ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है''(पृ. ६४); ''परमार्थ तुलता नहीं कभी/अर्थ की तुला में''(पृ. १४२); '''ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक''(पृ. १७२)।

'मूकमाटी' में चार खण्ड हैं– (१) संकर नहीं : वर्ण-लाभ (२) शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं (३) पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन (४) अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख। प्रथम खण्ड में पद, पथ और पाथेय की सांगोपांग विवेचना है। संगति और मति की, आस्था और भावना की चर्चा करते हुए विद्यासागर लिखते हैं :

''आस्था के तारों पर ही/साधना की अंगुलियाँ/चलती हैं साधक की,
सार्थक जीवन में तब/स्वरातीत सरगम झरती है !'' (पृ. ९)

सही रास्ते पर पथिक के प्रथम पद का क्या महत्त्व है, इसका उल्लेख कवि के ही शब्दों में देखिए :

''पथ के अथ पर/पहला पद पड़ता है/इस पथिक का/और
पथ की इति पर/स्पन्दन-सा कुछ घटता है/हलचल मचती है वहाँ !
पथिक की/अहिंसक पगतली से/सम्प्रेषण-प्रवाहित होता है
विद्युतसम् युगपत्/और वह/स्वयं सफलता-थी
पथ की इति पर/उठ खड़ी है।'' (पृ. २१-२२)

कुशल शिल्पी निखरी माटी को नाना रूप देता है। माटी के माथे पर कठोर कुदाली से प्रहार होता है। व्यष्टि-समष्टि की एकरूपता में स्व के साथ पर का और पर के साथ स्व का ज्ञान होता है। संवेदन धर्मा चेतन ही करुणा का केन्द्र है। मृदुता और ऋजुता से ही शिल्प निखरता है। इस तरह प्रथम खण्ड में आचार्यजी ने वर्ण संकर की स्थिति, कुम्भकार की साधना और संयम के संस्कार, गति-मति और स्थिति की विकृति आदि पर विचार करते हुए कूप के बन्धन से मुक्त होकर धूप का वन्दन किया है। उसे शिव में राग जगाना ही अभीष्ट है।

दूसरे खण्ड में 'अलगाव से लगाव की ओर' माटी के करुणामय कण-कण में जल का पहुँचना ऐसा लगता है जैसे 'ज्ञानी के पदों में अज्ञानी ने नव ज्ञान पाया हो'। यही है 'तन में चेतन का चिरन्तन नर्तन'। कवि की स्पष्ट धारणा है कि 'तामसता कायरता ही काम वृत्ति है':

''कम बलवाले ही/कम्बल वाले होते हैं/और/काम के दास होते हैं।
हम बलवाले हैं/राम के दास होते हैं/और/राम के पास सोते हैं।'' (पृ. ९२)

आचार्यजी ने कामदेव के पंच पुष्पों और महादेव के शूल का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है :

''कामदेव का आयुध फूल होता है/और/महादेव का आयुध शूल।
एक में पराग है/सघन राग है/जिस का फल संसार है
एक में विराग है/अनघ त्याग है/जिसका फल भव-पार है।
एक औरों का दम लेता है/बदले में/मद भर देता है,
एक औरों में दम भर देता है/तत्काल फिर/निर्मद कर देता है।'' (पृ. १०१)

कवि ने अपरिग्रह, अहिंसा और मैत्री जैसे जीवन के विधायक तत्त्वों पर प्रकाश डाला है। बोध के बिना शब्दों में अर्थ की सही व्याप्ति नहीं होती और बोध का विकसित फूल ही परिपक्व होकर शोध के फल देता है। कवि ने इस खण्ड में स्थिर मन के महामन्त्र को रेखांकित करते हुए मोह के स्वरूप को भी दर्शाया है। कहीं-कहीं आचार्यजी की साहित्यिक मान्यताएँ भी उजागर हुई हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य हित से युक्त–समन्वित होता है और शिल्पी के शिल्पक साँचे में साहित्य शब्द ढलते हैं। प्रवचनकार पौराणिक आख्यानों के माध्यम से वर्तमान को सुलझाता है। अतीत का अनुभव लेखन का आधार बनता है। आचार्यजी ने आस्था वाली सक्रियता को निष्ठा कहा है। उन्होंने हास्य के उथलेपन और स्थितप्रज्ञ की भूमिका संकेत रूप में दर्शाई है। दरअसल व्यक्ति की दृष्टि यानी चीज़ों को देखने का नज़रिया ही सोच और समझ में अन्तर स्थापित करता है :

"अगर सागर की ओर/दृष्टि जाती है,/गुरु-गारव-सा
कल्प-काल वाला लगता है सागर;/अगर लहर की ओर
दृष्टि जाती है,/अल्प-काल वाला लगता है सागर।/एक ही वस्तु
अनेक भंगों में भंगायित है/अनेक रंगों में रंगायित है, तरंगायित!" (पृ.१४६)

विद्यासागरजी के चिन्तन में मानवीय सदाशयता और समष्टि चेतना की सारगर्भित भूमिका है जो जीवन का मूलाधार है– *"रे जिया, समष्टि जिया करो"(पृ. १४९)*। कवि के द्वारा प्रस्तुत करुण तथा शान्त रस की व्याख्याएँ जीवन के सही मर्म का उद्घाटन करती हैं और हमारे मनोविकारों को संयत भी :

"करुणा-रस उसे माना है, जो/कठिनतम पाषाण को भी
मोम बना देता है,/...शान्त-रस का क्या कहें,
संयम-रत धीमान को ही/'ओम्' बना देता है।" (पृ.१५९-१६०)

अनेकान्तवाद दूसरों के मूल्यांकन को सम्यक् महत्त्व देता है। सिंह विवेक और श्वान संस्कृति को भी आचार्यश्री ने चर्चा का विषय बनाया है और विनाश के क्रम में रति की प्रमुखता को दर्शाया है।

तीसरे खण्ड में कवि ने पर-सम्पदा हरण रूप संग्रह को मोह-मूर्च्छा का अतिरेक कहा है। धरती सर्व-सहा है और यही सन्तोष पथ है। सीप ही स्वाति जल को मुक्ता बनाती है। आचार्यश्री ने स्त्री जाति की आदर्श विशेषताएँ निरूपित करते हुए उन्हें करुणा की कारिका और मिलनसारी मित्र कहा है। अबला 'समस्याशून्य'समाधान है। 'कुमारी' समस्त लौकिक मंगलों में प्राथमिक मंगल है। 'स्त्री' समशील संयम के साथ पुरुष को कुशल संयत बनाती है। 'दुहिता' अपना हित और पति का हित साधने वाली है। कवि ने ये व्याख्याएँ शब्दों की भीतरी तहों तक जाकर प्राप्त की हैं। यह भाव योग, विचार योग की देन है तथा एक सन्त की लोकहितैषी कल्याणमयी दृष्टि का परिचायक है।

युगजीवन की विभीषिकाओं और साम्प्रतिक परिवेश में पल रही दुष्प्रवृत्तियों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने सज्जन साधुओं के सात्त्विक रोष को भी श्रेयस्कर बताया है :

"आवश्यक अवसर पर/सज्जन-साधु पुरुषों को भी,
आवेश-आवेग का आश्रय लेकर ही/कार्य करना पड़ता है।
अन्यथा,/सज्जनता दूषित होती है/दुर्जनता पूजित होती है।
जो शिष्टों की दृष्टि में इष्ट कब रही···?" (पृ. २२५)

आचार्यजी ने बादल, समुद्र, चन्द्र आदि के बारे में जो मौलिक सन्दर्भ उठाए हैं, वे अद्वितीय हैं। शब्दों की इतनी मितव्ययता, प्रभविष्णुता और युक्तियुक्तता उनकी सम्प्रेषणीयता में सन्निहित है : *"अन्धा नहीं,/आँख-वाला ही भयभीत होता है/परम-सघन अन्धकार से" (पृ. २३२); "हिंसा की हिंसा करना ही/अहिंसा की पूजा है" (पृ. २३३),* इसलिए माँ का मंगलमय आशीर्वचन है : *"पाप-पाखण्ड पर प्रहार करो/प्रशस्त पुण्य स्वीकार करो" (पृ. २४३)*। कवि की स्पष्ट धारणा है कि कर्तव्यनिष्ठा ही अपनी पराकाष्ठा पर सर्वमान्य प्रतिष्ठा देती है। विकास यात्रा की यही निरन्तरता और साधना की ऊर्ध्वमुखी चेतना अन्ततः भेद से अभेद की ओर ले जाती है।

चतुर्थ खण्ड में 'अवा के बीचों-बीच कुम्भ समूह व्यवस्थित' होता है। लकड़ी के माध्यम से आचार्य विद्यासागर आज के गणतन्त्र की वास्तविकता पर सहज भाव से कह जाते हैं, जो यह सिद्ध करता है कि उन्हें आज की आग का पूरा अंदाज़ है :

"प्रायः अपराधी-जन बच जाते/निरपराध ही पिट जाते,
और उन्हें/पीटते-पीटते टूटतीं हम।/इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?
यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है/या/मनमाना 'तन्त्र' है !" (पृ. २७१)

अग्नि-परीक्षा के बिना मुक्ति कहाँ ? कवि ने मस्तक को दर्शन का स्रोत कहा है और हृदय को अध्यात्म का। दर्शन के बिना अध्यात्म जीवन सम्भव है पर बिना अध्यात्म के दर्शन सम्भव नहीं। दर्शन संकल्पों-विकल्पों में खोया है जबकि अध्यात्म स्वस्थ ज्ञान है। कवि ने 'सा'''रे'''ग'''म'''प'''ध'''नि'''' का सम्यक् विश्लेषण करते हुए शिल्पी के शिल्पन चमत्कार का हृदयग्राही वर्णन किया है। ज्योति का सम्मान और ज्योति का दान समस्त दुर्दिनों का निवारक है।

कलश के जल का गुरु-पद-प्रक्षालन हेतु प्रयोग कुम्भ-कलश को जीवन का कितना बड़ा सौभाग्य देता है :

"जो कुछ बचा-खुचा कालुष्य/सर्वस्व स्व-पन को/यहीं पर अर्पण किया :
'शरण, चरण हैं आपके,/तारण-तरण जहाज,
भव-दधि तट तक ले चलो/करुणाकर गुरुराज' !" (पृ. ३२५)

सन्त कवि का प्रगतिशील चिन्तन पाणिग्रहण संस्कार को धार्मिक संस्कृति का संरक्षक और उन्नायक घोषित करता हुआ आज कल के 'प्राण-ग्रहण' पर भी अपनी टिप्पणी देता है। संवादमय महाकाव्य और नाटकीयता से सम्बद्ध पात्र संयोजन इस रचना की जान है। गहन गम्भीर वार्तालाप अपने मूल आशय के सम्प्रेषण में कितना सशक्त और सहज हो सकता है, इसका उदाहरण है –'मूकमाटी'।

'जीवन उदारता का उदाहरण बने' यह है चेतना को चैतन्य बनाने की चरम सीमा। *"प्रीति बिना रीति नहीं और/रीति बिना गीत नहीं" (पृ.३९१)* – यही संगीतमय जीवन की लय है जो विश्व मानवता के लिए साध्य है। चाहे पुरुष और प्रकृति के सम्बन्धों की चर्चा हो या पथ्य के सही पालन की आवश्यकता; चाहे श'''स'''ष''' बीजाक्षरों का परिचय हो या सत्पुरुषों से मिलने वाले वचन-व्यापार का प्रयोजन हो; चाहे अपने ही भीतर असन्तुष्ट दल की स्थिति हो या आतंकवाद की आँधी हो, जीवन के वैविध्य को, उसकी अगाधता को जितना इस महाकाव्य में स्पर्श किया गया है शायद समकालीन दूसरी रचनाओं में नहीं। यह सम्पूर्ण रचना ही जीवन के रोगों का शमन है। कवि ने दण्ड संहिता और प्राण दण्ड पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। वे मनुष्य की पदलिप्सा और आतंकवाद को समझाते हुए लिखते

हैं : *"पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु/पर को पद-दलित करते हैं" (पृ. ४३४); "जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती/धरती यह" (पृ. ४४१)।*

कविता दरअसल संश्लेषण है। विश्लेषण हमेशा अधूरापन ही प्रदर्शित करेगा। इसलिए कहा जाता है कि एक उत्कृष्ट रचना समझाई नहीं जा सकती, उसे सिर्फ महसूस किया जा सकता है और 'मूकमाटी' ऐसी ही उत्कृष्ट रचना है।

निष्कर्षतः 'मूकमाटी' का आधार फलक व्यापक है। इसमें केवल जीवन-जगत् की मीमांसा नहीं है अपितु संवेदना और वैचारिकता के स्तर पर भारतीय चिन्तन की भावभूमि है। एक गतिशील मानवीय आस्था, जो भारतीय अस्मिता के नैरन्तर्य की समझ से विकसित है, तपश्चर्या से सिंचित है, कर्तव्यकर्म की आधारभूमि है, समष्टि में जीती है, अध्यात्म और दर्शन को अपने भीतर रचाती-पचाती है—यह 'मूकमाटी' का प्रतिपाद्य है। दर्शन या अध्यात्म जब कविता में ऊपर से आरोपित हो तब काव्य कला को क्षति पहुँचती है। जब वह भीतर से संवेदना का अंश बनकर आए तब जिज्ञासाओं का समाधान करती हुई काव्यात्मक ऊँचाइयों को छूने लगती है। श्रीमती शशि तिवारी की महाकाव्यात्मक कृति 'चिरविहाग' भी इस दिशा में उल्लेखनीय है, जहाँ सन्त्रस्त मानवता की मुक्ति हेतु शिव शक्ति से निवेदन किया गया है। फिर भी जो समग्रता, कसाव, विश्लेषण और उठान 'मूकमाटी' में है वह 'चिरविहाग' में नहीं। प्रसाद की 'कामायनी' के पश्चात् एक अभिनव कृति 'मूकमाटी' ही दिखलाई देती है जिसमें मनुष्य के सत्-चित्-आनन्द की अभिव्यक्ति विभिन्न सोपानों पर निखार पाती हुई पराकाष्ठा पर पहुँची है। माटी से उठकर मंगल कलश तक का चरम विकास गुरु-चरणों में झुककर अपने अहम् को विगलित करता हुआ सार्थक जीवन की चरितार्थता बन जाता है। कालजयी कृतियों का यही वैशिष्ट्य है।

❑



पृ. ५७
तन और मन को
तप की आग में
तपा-तपा कर.....
उदार समुद्धा.

'मूकमाटी' में अलंकार

पण्डित विष्णुकान्त शुक्ल

कविता में अलंकार सौन्दर्य की वृद्धि के हेतु माने जाते हैं। ''उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः'' के अनुसार गुण-अलंकार एवं रीति काव्य में रसोत्कर्ष के हेतु हैं। 'मूकमाटी' में शब्दालंकार एवं अर्थालंकारों का समुचित निवेश द्रष्टव्य है। अलंकारों की अनायास शोभा ने काव्य को स्पृहणीय बना दिया है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

अनुप्रास : ◘ *''इन वैभव-हीन भव्यों को/भवों-भवों में/पराभव का अनुभव हुआ।*
अब,/'परा-'भव का अनुभव वह/कब होगा ?···
सम्भव है या नहीं/निकट भविष्य में ?'' (पृ. ३७१-३७२)

◘ *''आस्था से वास्ता होने पर/रास्ता स्वयं शास्ता होकर*
सम्बोधित करता साधक को/साथी बन साथ देता है।'' (पृ. ९)

अनुप्रास के अन्य उदाहरणों के लिए द्रष्टव्य हैं पृष्ठ संख्या - १७९, २०९, ३०६, ३१०, ३१२, ३१५, ३४३, ३५६, ३६६, ३८४, ३९८, ३९९, ४२२, ४५१, ४५२, ४६०, ४६६, ४६७, ४७१, ४८४ एवं ४८६।

अपह्नुति : *''सरिता-तट में/फेन का बहाना है/दधि छलकता है/मंगल-जनिका*
हँसमुख कलशी/हाथ में लेकर/खड़े हैं/सरिता-तट वह···
और देखो ना !/तृण-बिन्दुओं के मिष/उल्लासवती सरिता-सी
धरती के कोमल केन्द्र में/करुणा की उमड़न है।'' (पृ. २०)

अपह्नुति अलंकार अन्यत्र भी द्रष्टव्य हैं, देखें पृष्ठ संख्या - ३७९, ३८५, ४२४।

उपमा : ◘ *''अबला बालायें सब/तरला तारायें अब/छाया की भाँति*
अपने पतिदेव/चन्द्रमा के पीछे-पीछे हो/छुपी जा रहीं।'' (पृ. २)

◘ *''चन्दन तरु-लिपटी नागिन-सी···!'' (पृ. १३०)*

उपमा अलंकार के लिए पृष्ठ संख्या द्रष्टव्य हैं – ७, ५३, १३१, १८०, १९२, १९९, २०८, २१२, २२८, २३८, २४३, २६५, २७३, २८०, २९६, २९७, ३००, ३३१, ३३४, ३४०, ३४१, ३४८, ३४९, ३५०, ३५१, ३५५, ३५६, ३६३, ३६९, ३७४, ३७६, ३८३, ३८८, ३९५, ४११, ४१७, ४२७, ४२८, ४३९, ४४०, ४५५, ४६६, ४६७, ४७१, ४७७ एवं ४७९।

उत्प्रेक्षा : *''और वह दृश्य/ऐसा प्रतीत हो रहा है, कि/स्वर्गों से बरसाई गई*
परिमल-पारिजात पुष्प-पाँखुरियाँ ही/मंगल मुस्कान बिखेरतीं
नीचे उतर रही हों, धीरे-धीरे !/देवों से धरती का स्वागत-अभिनन्दन ज्यों।
ओलों को कुछ पीड़ा न हो,/यूँ विचार कर ही मानो/उन्हें मस्तक पर लेकर
उड़ रहे हैं भू-कण !/सो···ऐसा लग रहा, कि/हनूमान अपने सर पर
हिमालय ले उड़ रहा हो !'' (पृ.२५०-२५१)

पृष्ठ संख्या २०, २२७, २४९, २७८, २९८, ३३७, ३५६, ३७९, ४२३, ४५५, ४६५ और ४७९ भी उत्प्रेक्षा की दृष्टि से द्रष्टव्य हैं।

उल्लेख : *"जय हो ! जय हो ! जय हो !/अनियत विहारवालों की*
नियमित विचारवालों की/सन्तों की, गुणवन्तों की
सौम्य-शान्त-छविवन्तों की/जय हो ! जय हो ! जय हो !
पक्षपात से दूरों की/यथाजात यतिशूरों की/दया-धर्म के मूलों की
साम्य-भाव के पूरों की/जय हो ! जय हो ! जय हो !
भव-सागर के कूलों की/शिव-आगर के चूलों की/सब कुछ सहते धीरों की
विधि-मल धोते नीरों की/जय हो ! जय हो ! जय हो !" (पृ.३१४-३१५)

उल्लेख अलंकार का पृष्ठ संख्या ८, २२९, २३३, २६०, ३६६, ३७६ और ४४६ पर भी निर्वाह द्रष्टव्य है।

काव्यलिंग : *"भयभीत होती अमावस्या भी इन से/दूर कहीं छुपी रहती वह;*
यही कारण है कि/एक मास में एक ही बार–
बाहर आती है आवास तजकर।"(पृ.२२८)

पृष्ठ संख्या १२७, १९२, २१५ और ३२१ भी काव्यलिंग के लिए द्रष्टव्य हैं।

निदर्शना : *"माटी के प्राणों में जा,/पानी ने वहाँ/नव-प्राण पाया है,*
ज्ञानी के पदों में जा/अज्ञानी ने जहाँ/नव-ज्ञान पाया है।" (पृ. ८९)

मानवीकरण : *"मति की गति-सी तीव्र गति से/पवन पहुँचता है नभ-मण्डल में,*
पापोन्मुखों में प्रमुख बादलों को/अपनी चपेट में लेता है, घेर लेता है
और/उनके मुख को फेर देता है/जड़ तत्त्व के स्रोत, सागर की ओर···।
...अब क्या पूछो !/बादल दल के साथ असंख्य ओले
सिर के बल जाकर/सागर में गिरते हैं एक साथ।" (पृ. २६१-२६२)

पृष्ठ संख्या २, ४, १९, ४६, २१७, २२८, २३९, २७८, ३४१ एवं ४७९ भी मानवीकरण के उदाहरण के लिए द्रष्टव्य हैं।

परिकरांकुर : *"आज तक किसी कारणवश/किसी जीवन पर भी*
पद नहीं रखा, कुचला नहीं···/अपद जो रहे हम !" (पृ. ४३३)

भ्रान्तिमान : *"पहला बादल इतना काला है/कि जिसे देखकर*
अपने सहचर-साथी से बिछुड़ा/भ्रमित हो भटका भ्रमर-दल,
सहचर की शंका से ही मानो/बार-बार इस से आ मिलता।" (पृ. २२७)

यमक : ◻ *"कम बलवाले ही/कम्बलवाले होते हैं।" (पृ. ९२)*

◻ *"किसी विध मन में/मत पाप रखो,/पर, खो उसे पल-भर/परखो पाप को भी*

फिर जो भी निर्णीत हो,/हो अपना, लो, अपनालो उसे !" (पृ. १२४)

यमक के अन्य उदाहरण पृष्ठ संख्या ९७, १३४, १७६, १८२, २३०, २३१, २३४, २३५, ३२४, ३५४, ३६४, ३८१, ३८८, ३९३, ४०८, ४१३, ४३२, ४४० एवं ४७७ पर भी उपलब्ध हैं।

रूपक : *"पाँखुरी-रूप अधर-पल्लव/फड़फड़ाने लगे, क्षोभ से।" (पृ. २६०)*

पृष्ठ संख्या ४, १२, २६५, २७९, २८५, ४२१, ४४७ एवं ४५२ की रूपक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

रूपक-अतिशयोक्ति : ▫ *"और देखो ना !/माँ की उदारता - परोपकारिता*
अपने वक्षस्थल पर/युगों से···चिर से/दुग्ध से भरे
दो कलश ले खड़ी है।" (पृ. ४७६)

▫ *"स्मृतियाँ ताजी हो आईं/पवन के परस पाकर*
सरवर तरंगायित हो आया।" (पृ. ४८१)

वीप्सा : *"सही-सही समझ में नहीं आता।" (पृ. २३४)*

व्यतिरेक : *"('और/निराश हो लौटता है)/यानी'*
भ्रमर से भी अधिक काला है/यह पहला बादल-दल।" (पृ. २२८)

पृष्ठ संख्या २००, ३२४, ३७० एवं ४११ पर भी व्यतिरेक के उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

श्लेष : *"मन का बल वह/मन-सा रहता है।" (पृ.९६)*

पृष्ठ संख्या ८, ९१, २३०, ३२१, ३२४, ३४७ और ३६९ पर भी श्लेष के उदाहरण से अलंकृति हैं।

सन्देह : *"यह सन्ध्याकाल है या/अकाल में काल का आगमन !" (पृ. २३८)*

समासोक्ति : *"मुँदी आँखें खुलती हैं,/जिस भाँति/प्रभाकर के कर-परस पाकर*
अधरों पर मन्द-मुस्कान ले/सरवर में सरोजिनी खिलती हैं।" (पृ. २१५)

स्वभावोक्ति : ▫ *"एक हाथ में कुम्भ लेकर,/एक हाथ में लिये कंकर से*
कुम्भ को बजा-बजाकर/जब देखने लगा वह···।" (पृ. ३०३)

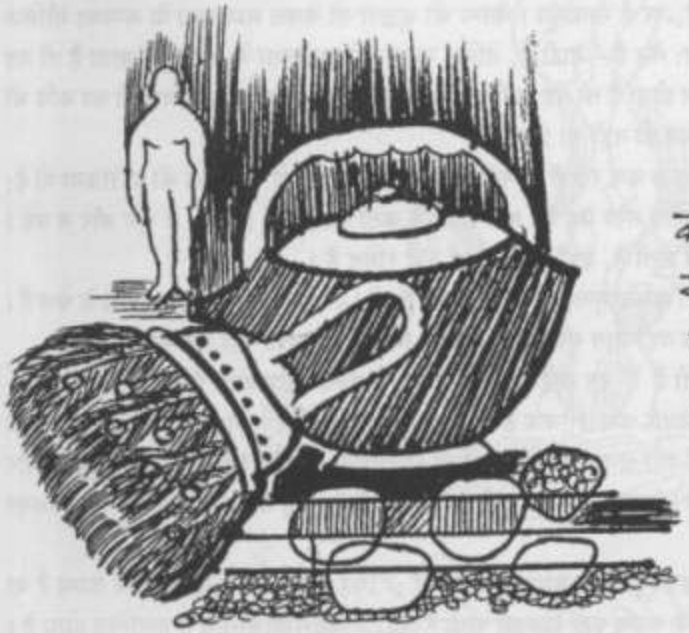
▫ *"घर के सब बाल-बालाओं को/भीतर रहने की आज्ञा मिली है*
और/बिना बोले बैठने को बाध्य किया गया है,
फिर भी, बीच-बीच में,/चौखट के भीतर से या खिड़कियों से
एक-दूसरे को आगे-पीछे करते/बाहर झाँकने का प्रयास चल रहा है।"
(पृ. ३४०-३४१)

आचार्य विद्यासागर द्वारा प्रणीत महाकाव्य 'मूकमाटी' का मैंने आद्योपान्त अध्ययन किया है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखे हिन्दी महाकाव्यों में इसका विशिष्ट स्थान है। कवि-आचार्य के 'स्वान्तःसुखाय' होने पर

भी रचना 'सद्यः परनिर्वृतिः' प्रदान करने के कारण स्पृहणीय है। शब्द प्रयोग, शब्द शक्तियों एवं भाषा के अभिनव प्रयोगों ने 'मूकमाटी' को अत्यन्त सशक्त वाणी प्रदान की है। छन्द, रस, अलंकार, प्रकृति वर्णन, सूक्ति, विविध दर्शन, बहुज्ञता, प्रसाद गुण एवं भावों की प्रेषणीयता का ऐसा अद्भुत सामंजस्य प्रायः कम देखा जाता है। इस लेख में केवल अलंकारों की चर्चा की गई है। अलंकारों के अन्य उदाहरणों की सूचना 'मूकमाटी' की पृष्ठ संख्या के संकेत मात्र द्वारा दी गई है। यह उद्देश्य रहा है कि जिज्ञासु शोधार्थी पाठकगण मूल ग्रन्थ को अवश्य पढ़ें और पूर्ण आनन्द प्राप्त कर सकें। 'मूकमाटी' एक सन्त की रचना है, निःस्पृह व्यक्ति की रचना है, इसी कारण से इसका महत्त्व बढ़ जाता है।

सरस वचन बोले, ज्ञान के नेत्र खोले
अनुपम रस घोले मानसी गागरी में।
सुखकर उपदेशों-सूक्तियों की निराली
सहृदय हृदयों को भेंट है 'मूकमाटी'॥

□



पृ. ३४३
कायोत्सर्ग का विसर्जन---
संयमोपकरण दिया
मयूर-पंखों का, जो
मृदुल कोमल लघु भंगुल है।

'मूकमाटी' : एक उत्कृष्ट काव्यकृति

डॉ. रामेश्वर प्रसाद द्विवेदी

आचार्य विद्यासागर कृत 'मूकमाटी' का मैंने अध्ययन किया और पाया कि इसकी गणना उत्कृष्ट हिन्दी काव्य कृतियों में होने योग्य है।

जहाँ तक सिद्धान्तों के प्रतिपादन का सम्बन्ध है, वह प्रायः पूर्वाग्रह अथवा पूर्व नियोजन के कारण काव्यश्री का मारक सिद्ध होता है तथा अभिव्यक्ति को शुष्क गद्यात्मक बना देता है। जो बात या विचार गद्य में सविचार विश्लेषित हो सकता है, उसके लिए काव्य कलेवर देने की क्या आवश्यकता ? काव्य तो अनायास स्फूर्त भावों की सरस अनुभूतिमय अभिव्यक्ति को कहते हैं। यदि कहीं अनुभूति की तीव्रता अभावग्रस्त है अथवा अभिव्यक्ति श्रमजन्य है तो समान परिमाण में 'काव्यानन्द' बाधित होगा। मुझे प्रसन्नता है कि 'मूकमाटी' की मुखरता में कविता प्रायः आद्यन्त अकुण्ठित और निर्बाध है। निस्सन्देह शिल्प भाव सम्पत्ति की तुलना में कुछ कमज़ोर है, किन्तु शिल्प की कमज़ोरी वस्तु सम्पन्नता में दब जाती है और समग्रतः 'मूकमाटी' एक सुन्दर एवं सराहनीय कृति सिद्ध होती है।

कवि ने स्वयं संक्षेप में कृति का परिचय दिया है। उनके अनुसार 'मूकमाटी' लौकिक अलंकारों पर अलौकिक अलंकारों के प्रयोग की चेष्टा है। शुद्ध चेतना के परिप्रेक्ष्य में भी अवतरण घटित होने पर वह किंचित् अशुद्ध होगा, अपरिहार्य है यह; पर कवि ने प्रयास किया है कि ऐसा न हो और हो तो अल्पातिअल्प हो। कवि का प्रयास स्तुत्य है। शुद्ध-सात्त्विक पर बल देना चाहे ठीक है, पर है मायामय। चैतन्य की शुद्धता तो केवल मात्र ब्रह्म के अव्यक्त मौलिक रूप में ही सम्भव है। सतोगुण भी अन्ततः मैल है - माटी है, लेकिन मूकता की असीमता के पार कवि जाता है तो वह योगी हो जाता है और वहाँ से प्रत्यावर्तित होता है तो वह शापित अस्तित्व जीने को विवश है। आचार्यश्री का कवि भी शाप की अनिवार्यता से परे नहीं है, सम्भव ही नहीं था।

आचार्यश्री ने 'मानस तरंग' में कुछ कण रखे हैं। उनके सम्बन्ध में इन पंक्तियों के लेखक की प्रतिक्रिया यों है:

–'क्या आलोक के....?' अन्तिम सत्य यह कि कर्म होता है कर्ता कोई नहीं ; न मैं, न तुम और न वह। सहसा स्फूर्त इच्छा मात्र रूप ले लेती है, वहाँ कर्म-अकर्म द्वन्द्व रहित है।

–'क्या चक्र के बिना...?' हाँ ! बल्कि सुन्दरतर कुम्भ के रूप में भी। दण्ड, कील आदि सब इच्छा के खेल हैं।

–'क्या बिना इच्छा...?' ठीक यही बात मुख्य है। इच्छा के बिना शून्य सृष्टि नहीं बन सकती।

–'क्या... इच्छा निरुद्देश्य होती है ?' वह सोद्देश्य-निरुद्देश्य से परे इच्छा मात्र होती है।

तात्पर्य यह कि आचार्यश्री के विचार कण उत्तेजक हैं और पाठक के मानस को तरंगायित करते हैं। यह उनके विचार की क्षमता है। कविता में ढलकर यही क्षमता रसमय न हो तो गतिमयता के बीच शुष्कता, अग्निस्फुलिंग और अन्ततः अंगार हो जीवन को जला देती है। 'मूकमाटी' न जलती है, न जलाती है। वह मानस को जीवन्त तथा सशक्त बनाती है और कोमल कलित भी।

श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने अपने 'प्रस्तवन' (पृ. XVII) में कहा है : "यह कृति अधिक परिमाण में काव्य है या अध्यात्म, कहना कठिन है।" सत्य यह कि काव्य वहीं दिव्यता पाता है जहाँ अध्यात्म के मर्मोत्स से समन्वित होता है। 'मानस' में काव्यांश कम ही हैं, कहीं-कहीं ही तुलसी के कथन मोहक काव्य हैं, अन्यथा 'मानस' सिद्धान्त कथनों का पद्यात्मक (छन्दोबद्ध) संकलन ही अधिक लगता है। जहाँ अध्यात्म के तत्त्व मार्मिक स्वर प्राप्त कर सके हैं, 'मानस' मोहक बना है। 'मूकमाटी' में अध्यात्म के तत्त्व प्रायः मनोरम हैं। यह भिन्न बात है कि कहीं-कहीं तत्काल लचर

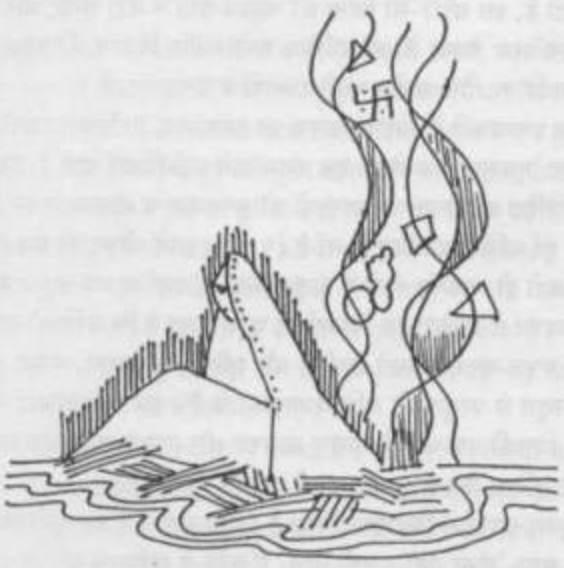
पंक्ति गुड़ गोबर कर बैठती है। काश ! आचार्यश्री इधर सजग रहे होते।

"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,/और···इधर···नीचे
निरी नीरवता छाई,/निशा का अवसान हो रहा है
उषा की अब शान हो रही है।" (पृ. १)

इस अंश में प्रथम चार पंक्तियाँ उत्कृष्टतर काव्य हैं किन्तु पाँचवीं अपेक्षित मात्रा में सुन्दर नहीं है और छठी तो नहीं रहती तो ही सुन्दर होता। किन्तु सौन्दर्य पूर्णता में सम्भव कहाँ है ? 'हम अधूरे, अधूरा हमारा सृजन' (नीरज)।

काव्य में कथात्मकता का समन्वय रसास्वादन में सहायक होता है तथा साधारणीकरण को सम्भव कर देता है। दार्शनिक सन्त की आत्मा का संगीत तभी तो सार्थक होगा, जब श्रोता ध्वनि के साथ अर्थ को भी हृदयंगम करेगा। इसमें कथा के तन्तु सहायक होते हैं। कोई नाहक इस ऊहापोह में पड़े कि यह महाकाव्य है कि खण्ड काव्य कि मात्र काव्य ! मेरे विचार से यह आद्यन्त सरस मोहक काव्य है जिसमें भाव और विचारों की सुन्दर निरन्तरता अखण्ड, अशिथिल है।

□



ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना
सब के वश की बात नहीं.
और··· वह भी····
स्त्री - पर्याय में
अनहोनी-सी···· घटना।

'मूकमाटी' : अधुनातम आध्यात्मिक रूपक महाकाव्य

डॉ. पुष्पलता जैन

हिन्दी साहित्य में छायावादी कवि 'प्रसाद' की 'कामायनी' (१९३५ ई.), युगचारण 'दिनकर' की 'उर्वशी' (१९६१ ई.), तथा लोकमंगल के वंशीवादक 'पन्त' का 'लोकायतन' (१९६४ ई.)– ये तीनों काव्य अध्यात्म-प्रबन्ध-त्रयी के रूप में प्रस्थापित हुए हैं। संघीय चेतना के स्व-पर उन्नायक आचार्य विद्यासागरजी ने इसके बाद अपनी अनूठी आध्यात्मिक कृति 'मूकमाटी' (१९८८ ई.) की रचना कर उक्त प्रस्थानत्रयी की मणिमाला में एक और अपरिमित ज्योतिर्मयी मणि को आकलित कर दिया है। प्रतिभाप्रसूत इस सुन्दर आकलन को हिन्दी साहित्य अपनी धरोहर के रूप में सदैव एक दीपस्तम्भ मानता रहेगा।

हमने उपर्युक्त शीर्षक में इस महाकाव्य के तीन विशेषण जान-बूझ कर दिए हैं– अधुनातम, आध्यात्मिक और रूपक। यह कृति अधुनातम इसलिए है कि इसमें परम्परा का निर्वाह एक सीमा-विशेष तक ही किया गया है। और फिर परम्परा भी तो गतिशीलता लिए रहती है; उसका एक क़दम यदि सीमा में है, तो अगला क़दम आधुनिकता की देहली पर खड़ा हो जाता है और वहीं से इतिहास के परिप्रेक्ष्य में वह सम्पूर्ण मानव जाति की भलाई के लिए अथक प्रवचन, वचन नहीं, देना प्रारम्भ कर देता है ('मूकमाटी', पृ. ४८६)। इसे मात्र काव्य कहा जाए या महाकाव्य, आध्यात्मिकता उसमें एड़ी से चोटी तक देखी जा सकती है, वह भी रूपक के माध्यम से। माटी किस तरह कुम्भकार के निमित्त से मंगल कलश की स्थिति तक पहुँचती है, इस छोटी-सी घटना को सहृदय कवि ने बड़ी सुन्दर और सशक्त शैली में गूँथने का सफल प्रयास किया है। उसने परम चेतना के आध्यात्मिक सन्देश और विकास की गाथा को रूपक माला से ऐसा संयोजित कर दिया है, जहाँ कवि का गीत-संगीत मधुरिम लहरों में लहरा उठा है।

उपर्युक्त आध्यात्मिक प्रबन्धत्रयी के विस्तृत फलक पर छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता के तत्त्वों का प्रस्फुटन हुआ है, पर 'मूकमाटी' उनसे भी एक क़दम आगे बढ़ी दिखाई देती है, जिसमें आचार्यश्री ने चिकनी माटी की मूकता और उसमें निहित अनगिनत सम्भावनाओं को कुम्भकार के माध्यम से इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि जिससे हर प्राणी में छिपी हुई शक्ति उद्घाटित हो गई है (पृ. ७)। इसमें जीवन की अथ से लेकर इति तक की ग्राह्य यात्रा और उसके पड़ावों को बड़ी ही आकर्षक शैली में प्रस्तुत किया है, इसलिए यह अनूठा महाकाव्य है।

समूचे काव्य के अध्ययन से अध्येता इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि कवि को रूपक तत्त्व अधिक प्रिय है। मूकमाटी अपने-आप में एक रूपक बनकर सामने आती है और सरिता, कुम्भकार, कंकर आदि को माध्यम बना कर प्रस्तुत से अप्रस्तुत और अप्रस्तुत से प्रस्तुत की अभिव्यंजना करती है। इस अभिव्यंजना में साधक की आस्था भरी साधना निकष बन जाती है, जिसकी पृष्ठभूमि में सम्यक् आचरण और सम्यक् ज्ञानपूर्वक तप प्रतिफलित होता है और इस प्रतिफलन में करुणा और मुदिता जैसे शुभ भाव अच्छी तरह से जुड़ जाते हैं।

कवि ने काव्य को चार खण्डों में विभाजित किया है। ऐसा लगता है कि माटी की विकास कथा के ही चार सोपान कर दिए हों। प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' में कवि ने सर्वप्रथम सरिता तट की माटी को प्रकृति के परिवेश में प्रस्तुत किया है, जहाँ वह माँ धरती से एक ज्वलन्त प्रश्न पूछती है कि उसकी इस पर्याय/जीवन यात्रा का अन्त कब होगा ? यह प्रश्न हर सांसारिक प्राणी के मन में उस समय उभरता है, जब वह सरिता की कठोर जीवन लहरों के समान उत्तप्त संघर्षों से जूझता है। यह प्रश्न उसकी चेतना में ऐसा बैठ जाता है कि प्रश्न के उत्तर को खोजने के लिए वह साधु-सत्संगों को एक कुम्भकार के रूप में ग्रहण कर लेता है। उसकी आस्था धीरे-धीरे बलवती होती जाती है और चेतन की सृजनशीलता में कुम्भकार की सहायता से वह आगे बढ़ती चली जाती है। जिस प्रकार माटी को जलतत्त्व के मिश्रण से चिकना कर दिया जाता है और उसमें से वर्ण-संकर के रूप में कंकर-पत्थर निकाल कर फेंक दिए जाते हैं, उसी

तरह जीवन के विविध पर्यायों/स्थितियों में आपदाओं को कुचलते हुए साधक विशुद्धि के क्षेत्र में आगे बढ़ जाता है और अनेक गुत्थियों को सुलझा लेता है। कंकर माटी में मिलता नहीं, फूलता नहीं, जल धारण करने की उसमें क्षमता नहीं; इसलिए वह अभव्य/निरर्थक की तरह फेंक दिया जाता है। शिल्पी जल छान कर बालटी से शेष जल को आहिस्ता - आहिस्ता कुएँ में वापिस डालता है। इसी प्रसंग में कवि ने सहधर्मी में ही वैरभाव उत्पन्न होने का प्रसंग उपस्थित किया है, जिससे वह कहना चाहता है कि एक समाज के बीच ही अधिकांश झगड़े हुआ करते हैं। एक समाज के दूसरे समाज के साथ झगड़े अपेक्षाकृत कम होते हैं। इसी के साथ कवि ने यह भी स्पष्ट किया है कि किस प्रकार मछली प्रलोभन के वशीभूत होकर पानी से बाहर तो आ जाती है, पर पानी के बिना वह अपने जीवन को बचा भी नहीं पाती। यह सोच कर शिल्पी उसे कुएँ में वापिस छोड़ देता है। यह रूपक स्पष्ट करता है कि व्यक्ति कितना भी विशिष्ट क्यों न हो, समाज से बाहर रह कर अपना विकास नहीं कर सकता। उसके जीवन का धर्म दया होना चाहिए– "दया-विसुद्धो धम्मो" (पृ. ८८)। स्वभाव और विभाव की मीमांसा इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है :

"अन्त समय में/अपनी ही जाति काम आती है/शेष सब दर्शक रहते हैं
दार्शनिक बन कर !/और/विजाति का क्या विश्वास ?
आज श्वास-श्वास पर/विश्वास का श्वास घुटता-सा
देखा जा रहा है···प्रत्यक्ष !" (पृ. ७२)

महाकाव्य का दूसरा भाग व्यक्तित्व के निर्माण का है, जिसमें उसका अहं विसर्जित हो जाता है और वह अपने आराध्य को समर्पित हो जाता है। इस प्रसंग में कवि ने मिट्टी में पानी का मिश्रण किया और पानी ने माटी में नए प्राण फूँके। माटी फूल गई और फिर शिल्पी उसे सँभालने आया। उसने देखा, माटी में एक टूटा, अधमरा काँटा पड़ा हुआ है, जिसमें जीने की तो आशा है पर मन से माया दूर नहीं हुई। यही प्रसंग आगे बढ़ता जाता है और काँटे तथा फूल के बीच संवाद उपस्थित होता है। काँटे के बिना फूल का अस्तित्व ही क्या ? यह इसका प्रतीक है कि जीवन संघर्ष की कहानी है और संघर्षों से ही जीवन विशुद्धि की ओर बढ़ता है। शिल्पी माटी को पैर से रौंदता है और उसे घड़े के अनुकूल बनाता है। माटी शिल्पी के पैरों से कुचली जाने पर भी मौन रहती है और उसका मन मान-माया से मुक्त रहता है। इस सन्दर्भ में कवि ने बड़ी सुन्दर और सरस शैली में नव रसों के स्वरूप को उद्घाटित किया है। इस बीच माटी का आशा-पाश समाप्त हो जाता है और शिल्पी उसे चाक पर चढ़ा देता है। कुम्भकार का यह चक्र संसार का संसरण है, जन्म-मरण की प्रक्रिया है। आचार्यों ने इसे अरहट की भी उपमा दी है।

काव्य का तृतीय खण्ड कुम्भ की परीक्षा से सम्बद्ध है। वह आग में पकाया जाता है। एक ओर उसे अवा की अग्नि का सामना करना पड़ता है तो दूसरी ओर सूर्य का और बादलों का प्रकोप सहन करना पड़ता है। इस प्रसंग में कवि ने परम्परा से अलग हट कर महिलाओं की प्रशंसा की है और उनकी शक्ति को पहचाना है। इसके आगे माटी को मेघ, बिजली और ओलों का भी सामना करना पड़ता है। इन सबके बावजूद माटी का घड़ा अडिग रहता है, भस्म नहीं होता। घड़े की ये सारी परीक्षाएँ, जीवन की परीक्षाएँ हैं, जिसमें साधक को उत्तीर्ण होना आवश्यक है।

चतुर्थ खण्ड में घड़े की अन्तिम परीक्षा है। शिल्पी अवा का निर्माण करता है, बबूल की लकड़ियाँ लगाता है। और फिर उसमें कुम्भ को अग्नि-परीक्षा देनी पड़ती है। अग्नि से उठा हुआ धुआँ (तामस) कुम्भ खा लेता है और उससे उसमें समता आ जाती है। यह समता वर्गातीत अपवर्ग का प्रतीक है। इसके बाद कुम्भ को बाज़ार में रखा जाता है। वहाँ एक सेठ का नौकर परख करके उसे प्राप्त कर लेता है और उसका उपयोग साधु-सन्त के आहार दान में पड़गाहने हेतु सेठ मंगल कलश के रूप में करता है। यही कुम्भ नदी की बाढ़ से परिवार सहित सेठ को बचाता है। सभी कुम्भ के

सहारे से नदी के पार हो जाते हैं। इस खण्ड में कथा को आगे बढ़ाने के लिए साधु की आहार प्रक्रिया, सेठ के विविध रूप, मच्छर-मत्कुण, आतंकवाद जैसे तत्त्वों को भी समाहित किया गया है।

समूचा काव्य मुक्त छन्द में लिखा गया है, इसलिए पढ़ने में एक प्रवाह बना रहता है; परन्तु वह प्रवाह तब रुक जाता है जब कवि किसी प्रसंग को अनावश्यक रूप से ला देता है अथवा प्रसंग का अनावश्यक रूप से विस्तार करने लगता है। उदाहरण के तौर पर सेठ द्वारा आहार दान की प्रक्रिया।

'मूकमाटी' का कवि प्रकृति का सुन्दर चितेरा है; उसकी कल्पना में माटी प्रकृति प्रदत्त तत्त्व है, जिसके वर्णन से ही काव्य प्रारम्भ होता है। सरिता तट की माटी के प्रसंग में ऊषाकाल का वर्णन देखिए, कितनी गहराई है कवि कल्पना में :

"प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है/सर पर पल्ला नहीं है
और/सिन्दूरी धूल उड़ती-सी/रंगीन-राग की आभा—/भाई है, भाई···!
लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी/प्रभाकर के कर-छुवन से
बचना चाहती है वह;/अपनी पराग को—/सराग-मुद्रा को—
पाँखुरियों की ओट देती है।" (पृ. १-२)

ऐसा लगता है कवि प्रकृति की गोद में बैठकर अपने आपको अधिक सजीला पाता है। शीतकालीन सूर्य की किरणें उसे तब अधिक भाती हैं जब वे पेड़-पौधों की डाल-डाल पर पड़ने लगती हैं। दिन की सिकुड़न डरती-बिखरती-सी लगती है और रात के विस्तार में भय, मद और अघ का भार दिखाई देता है (पृ. ९०-९१)। कदाचित् यही कारण है कि आचार्यश्री को माटी का प्रयोग बहुत भाता है। उन्होंने आहार के सन्दर्भ में प्राकृतिक चिकित्सा की बहुत पैरवी की है। उनकी दृष्टि में हर मर्ज की दवा माटी का प्रयोग है। यहाँ तक की हाथ-पैर की टूटी हुई हड्डी भी उससे जुड़ जाती है। पेय के रूप में दूध और तक्र तथा मधुर पाचक सात्त्विक भोजन के रूप में कर्नाटकी ज्वार का रवादार दलिया अधिक अच्छा लगता है (पृ. ४०५ से ४०७)। वे इसे अहिंसापरक चिकित्सापद्धति मानते हैं और ध्यान-साधना के लिए उपयोगी मानते हैं।

कवि के प्रकृति प्रेम के साथ ही हमारा ध्यान उनकी काव्यात्मक प्रतिभा की ओर भी आकर्षित होता है। आदि से अन्त तक यह काव्य शब्दार्थालंकारों से गुँथा हुआ है। शिल्पी जब माटी को पैरों से रौंदता है तो कवि उस सन्दर्भ में वीर, हास्य, रौद्र आदि नव रसों का सुन्दर कल्पनाओं से भरा वर्णन करता है और उसकी आकर्षक पारमार्थिक व्याख्या भी (पृ. १२९-१६०)। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक की गोद में यमक और अनुप्रास अलंकारों की छटा देखते ही बनती है। शब्दों के अन्वयीकरण पद्धति में कवि अधिक माहिर है। जैसे—अवसान, अब+शान (पृ. १), कम+बल, कम्बल (पृ. ९२), नमन, न+मन, नम+न (पृ. ९७), राजसत्ता, राजस+ता (पृ. १०४), पावनता, पाव+नता (पृ. ११४), धोखा, धो+खा (पृ. १२२), परखो, पर+खो (पृ. १२४), स्वप्न, स्व+प्+न (पृ. २९५) आदि। इस काव्य में लोकोक्तियों और कहावतों का सुन्दर विश्लेषण भी हुआ है। उदाहरण के तौर पर— "बहता पानी और रमता जोगी" (पृ. ४४८), "बिन माँगे मोती मिले/माँगे मिले न भीख" (पृ. ४५४), "बायें हिरण दायें जाय—लंका जीत/राम घर आय" (पृ. २५), "मुँह में राम/बगल में छुरी" (पृ. ७२) आदि।

कवि की मातृभाषा कन्नड है, लेकिन हिन्दी का यह विशाल महाकाव्य दे कर उसने यह सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी कितनी सरल और सुबोध है। कवि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश जैसी प्राचीन भाषाओं का पण्डित तो है ही पर उसे मराठी, बंगला तथा अँग्रेजी भाषाओं का भी गहन अध्ययन है। प्रस्तुत महाकाव्य में इन भाषाओं के जहाँ-तहाँ कतिपय

शब्द नज़र आते हैं, पर उनसे हिन्दी की प्रांजलता में कोई अन्तर नहीं आया। काव्य की संस्कृतनिष्ठ शैली में जो रसोद्रेक किया है उसकी चर्वणा में पाठक आकण्ठ मग्न हो जाता है। वह कहीं ऊबता नहीं है, एक ही बैठक में उपन्यास- जैसा पढ़ लेना चाहता है। इसके बावजूद काव्य में गहनता और विदग्धता भरी हुई है।

यह बात तो हुई काव्य के भाव पक्ष और कला पक्ष की। अब हम थोड़ा दर्शन पक्ष को भी टटोल लें। कवि ने काव्य के प्रारम्भिक पन्नों पर 'आस्था' का महत्त्व दर्शाया है, जिससे ऐसा लगता है कि सम्यग्दर्शन का महत्त्व प्रस्तुत किया जा रहा हो। सरिता तट की माटी के उत्तर में माँ धरती ने माटी से संगति का फल और आस्था का महत्त्व बताया है जो सम्यक् दर्शन के प्रस्थान बिन्दु को द्योतित करता है :

"...जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर/रास्ता स्वयं शास्ता होकर
सम्बोधित करता साधक को/साथी बन साथ देता है।
आस्था के तारों पर ही/साधना की अंगुलियाँ/चलती हैं साधक की,
सार्थक जीवन में तब/स्वरातीत सरगम झरती है!/समझी बात, बेटा?" (पृ. ९)

आस्था की यात्रा कवि की दृष्टि में निष्ठा और प्रतिष्ठा से चल कर संस्था में परिणत होती है जिसे उसने अव्यय अवस्था कहा है और उसे ही माना है सच्चिदानन्द का केन्द्र-बिन्दु (पृ. १२०-१२१)। तभी तो वह कह सका :

"नींव की सृष्टि वह/पुण्यापुण्य से रची इस/चर्म-दृष्टि में नहीं
अपितु/आस्था की धर्म-दृष्टि में ही/उतर कर आ सकती है।" (पृ. १२१)

'मूकमाटी' के माध्यम से आचार्यश्री ने उपादान और निमित्त का झगड़ा भी हल कर दिया है। उन्होंने काव्य के अन्त में यह स्पष्ट कर दिया है कि कार्य का जनक उपादान कारण ही नहीं, अपितु निमित्त भी है :

"केवल उपादान कारण ही/कार्य का जनक है--/यह मान्यता दोष-पूर्ण लगी,
निमित्त की कृपा भी अनिवार्य है।/हाँ! हाँ!/उपादान-कारण ही
कार्य में ढलता है/यह अकाट्य नियम है,/किन्तु/उसके ढलने में
निमित्त का सहयोग भी आवश्यक है।" (पृ. ४८०-४८१)

सारा महाकाव्य स्वभाव और विभाव की व्याख्या करता है। महासत्ता को पहचानने का पथ-दर्शन करता है। संगीत की छाया में आत्मा की शक्ति को अभिव्यक्त करता है और साधु के आचरण को पाथेय के रूप में प्रस्तुत करता है। वस्तुतः उसकी दृष्टि में व्यक्ति का आचरण उसकी खुली किताब है जहाँ राग, द्वेष, मोह, क्रोध शान्त हो जाते हैं और आतंकवाद परदे के पीछे लुप्त हो जाता है। यही श्रमण की समता और गणतन्त्र की परम्परा है। माटी से मंगल कलश तक पहुँचने में उसे जिन पड़ावों का आश्रय लेना पड़ता है उनका सुन्दर और सरस चित्रण इस काव्य में मिलता है। इसमें न द्वन्द्व है, न युद्ध है, न शृंगार है, न वियोग है बल्कि सांसारिकता को समाप्त करने का एक अमिट पाथेय हर पन्ने में टंकित है। इसलिए शान्त रस इसका प्रमुख रस है, जहाँ करुणा की सरिता बहती है, आस्था का फूल खिलता है और चिदानन्द चैतन्यमय रस फलित होता है। इसके लिए स्व-पर ज्ञान की अनुभूति आवश्यक है (पृ. ३७५)। शायद इसीलिए कवि ने कुम्भ की विशेषता बताते हुए श्रमण की सही मीमांसा की है और समता की नई-नई पर्तें उकेरी हैं (पृ. ३७७-३८१)। सेठ का प्रसंग लाकर मच्छर और मत्कुण की भूमिका में समाजवाद का भी अपने ढंग से दार्शनिक अर्थ किया है (पृ. ४६०-४६१)।

'मूकमाटी' के तलस्पर्शी अध्ययन से यह तथ्य भी सामने आता है कि आचार्यश्री के मन में नारी के प्रति अपार करुणा और वेदना भरी हुई है। उनकी सामाजिक स्थिति से उन्हें सन्तोष नहीं है और वे चाहते हैं कि नारी की शक्ति और प्रतिभा का विकास किया-कराया जाना चाहिए। माटी की भूमिका में उनका मन कदाचित् नारी की मूकता और उसकी प्रबल सत्ता के प्रति आश्वस्त रहा है। उन्होंने माँ की इयत्ता को पहचाना है और नारी वर्ग की अहमियत को परखा है तभी तो माटी मंगल कलश बनकर सर्वोच्च पवित्र शिखर तक पहुँचती है जहाँ अध्यात्म की सुन्दर सरिता बहती है और विशुद्ध वातावरण में अपनी गहरी साँस लेती है। यह उसी का उपादान है भले ही उसे किसी निमित्त की आवश्यकता रहती हो। माँ के प्रति कवि की ममता और आदर काव्य के प्रारम्भिक पन्नों में तो है ही, पर उन्होंने द्वितीय खण्ड में भी यह कहकर उसके प्रति सम्मान व्यक्त किया है कि माँ अपनी सन्तान की सुसुप्त शक्ति को सचेत और साकार कर देती है सत्संस्कारों से (पृ. १४८)। इसी तरह चतुर्थ खण्ड में प्रकृति और पुरुष के बीच सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए उन्होंने पुरुष में प्रतिबिम्बित क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं में नारी को ही प्रबल कारण माना है। उसके विकास और पतन की धुरी भी नारी है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कवि ने लीक से हटकर नारी और उसके पर्यायवाची शब्दों की ऐसी सुन्दर मीमांसा की है, जिससे प्राचीन आचार्यों द्वारा किए गए इन शब्दों के अर्थ एकदम परदे के पीछे चले गए हैं और नारी की गरिमा मुखरित हो उठी है। नारी, महिला, अबला, कुमारी, स्त्री, सुता, दुहिता, मातृ, अंगना आदि शब्दों के यदि नए अर्थ आपको देखना हो तो 'मूकमाटी' के पृ. २०१ से २०८ पलट डालिए, तब आप पाएँगे कि आचार्यश्री की दृष्टि में नारी की उपादान शक्ति कितनी तेज है। इससे भी जब उन्हें सन्तोष नहीं हुआ तो आगे के पृष्ठों में उन्होंने समता की आँखों से लखने वाली मृदुता-मुदिता-शीला नारी की और भी प्रशंसा की है। ऐसा लगता है कि उन्होंने नारी की सहन- शीलता, उसके क्षीर-नीर-विवेक और स्नेहिलता को भलीभाँति पहचाना है, जिसे उन्होंने अपने काव्य में सशक्त शब्दों में उकेरा है (पृ. २०८-२०९)।

मैं यह अनुभव करती हूँ कि 'मूकमाटी' जैसे सुदृढ़ विशाल महाकाव्य की यह समीक्षा नितान्त अपर्याप्त है। उस पर तो कोई लिखने बैठे तो उससे भी दुगना ग्रन्थ तैयार हो सकता है। इसमें जैन धर्म और दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त तो हैं ही, पर जो विशेष बात कहनी है वह यह कि काव्य आचार्यश्री का जीवन दर्शन लेकर व्यक्ति के समक्ष उपस्थित होता है। वस्तुतः काव्य की पृष्ठभूमि में कवि ने व्यक्ति के निर्माण की कला को सुप्रतिष्ठित किया है और माटी जैसे उपेक्षित तत्त्व का आधार लेकर उसे आध्यात्मिक विकास के चरम शिखर तक पहुँचाया है, जिसे देखकर स्वर्ण कलश परेशान हो उठता है और ईर्ष्यावश बहुत कुछ मंगल कलश के विरोध में आवाज़ उठाने का असफल प्रयत्न करता है। अध्यात्म के क्षेत्र में यह धन की निस्सारता का सूचक है। कुल मिला कर 'मूकमाटी' एक सशक्त महाकाव्य है, जिसने जीवन के हर क्षेत्र को छुआ है और अध्यात्म से सराबोर कर दिया है। आखिर ऐसा होता भी क्यों नहीं, यह कृति अन्ततः एक निस्पृही दिग्वासी सन्त की कृति है न! हाँ, लेखनी बन्द करते-करते कबीर का ध्यान आ गया जहाँ उन्होंने माटी और कुम्भकार के बीच संवाद प्रस्तुत कर चित्रित किया है : "माटी कहे कुम्हार सों···।" कबीर तो इतना ही कह सके पर हमारे विरागी सन्त ने तो उस पर एक विशाल महाकाव्य का प्रासाद खड़ा कर दिया, जिसमें प्रसाद और ओज गुण तो हैं ही, काव्य प्रतिभा से माधुर्य गुण भी इसमें कूट-कूट कर भरा है। आध्यात्मिक दर्शन और काव्य सौष्ठव का मनोरम समन्वय देखकर कौन-सा सहृदय पाठक, इसे पढ़ कर अभिभूत नहीं होगा? आइए, इसके हर पन्ने को हम समझें और आत्मविकास में उसका उपयोग करें।

[तीर्थंकर (मासिक), इन्दौर-मध्यप्रदेश, दिसम्बर, १९९०]

□

A mythopoetic epic of Jainism

Dr. Om Prakash Biyani

Mookmaatee (The Silent Clay) by Acharya Vidyasagar, an exalted penancee of the 'Nature Clad' Digambar sect of Jainism, has already created waves both among watchers of Hindi literature and scholars of Jainism. It was written between 1984 and 1987 and its popularity is growing. While the question is being debated as to whether or not it should be called an epic, devotees and other readers continue to get their thrills from it.

In diction it is simple enough to tempt the lay reader and in thought profound enough to interest the *munees* (monks) and post-doctoral researchers. Its use of free verse is of the modernist tradition while the generous sprinklings of wit, verbal horseplay and its own 'metaphysics' (in the sense that Dinne's poetry had it), ensure it a unique position in Hindi literature. One finds the signature of the Acharya's style on every page. The work has evoked comparison with Jayshankar Prasad'sepic *Kaamaayanee*, the supreme Hindi epic of the twentieth century.

The poem's argument is simple enough - the elevation of lowly clay to the pinnacle of an edifice. Symbolically, the poem relates the evolution of an object and meek worldling into a refined and exalted soul that achieves liberation or *moksh*.

As the scene opens, the clay, lying forlorn on the bank of the river of life, makes a plaint about her condition to Mother Earth. Moved, Mother Earth discourses on the possibilities of her elevation and the need to struggle and suffer. The Earth assures her that none is so forsaken as to be beyond redemption. The benign potter (symbol for the dispenser of fates) digs it up and loads it on a donkey. Sieved, the clay is mixed with water. The agencies involved in the process, viz. a donkey, a rope, a knot, a bucket, a fish - acquire a symbolic glow. In fact the Acharya specialises in investing incidental words and things with semantic or symbolic significance appropriate to his purpose.

In the second canto the clay is given discourses on self-discovery and self-purification in order to dissolve her ego. The potter mixes the clay with water and kneads the mixture. A pitcher is formed on the potter's wheel, dried in the sun and tested for strength. A lion, a dog, a turtle and a rabbit are drawn on the pitcher—to indicate the qualities that an aspirant should have and those he should not. The pitcher is than baked in fire. The baking symbolises hardening through penance.

In the third canto the poet redefines the various Hindi/Sanskrit words for woman in a way that would flatter feminists. A subplot with the sea and the sky as actors, is introduced. The picture proves its strength by with-standing a shower of hails.

In the fourth and final canto a rich trader buys the pitcher in order eventually to set it on the pinnacle of a temple. The golden pot perched there as *kalash* feels insulted and responds with acts of terrorism. This is the final decisive battle between good and evil. Predictably, the silent clay wins. Mother Earth is pleased with the clay's progress on the path of liberation.

The plot is slender yet vivacious and the power of poetry mythopoetic.Generous doses of philosophising are interlarded. Yet interest is sustained, as in Kabir, by the magic of language. The Acharya's verbal dexterity of an unfamiliar kind makes the images leap off the pages. The characters such as the clay, Mother Earth, the rich merchant, the golden *kalash* are vividly drawn. They are not allegorical marionettes.

The attraction of *Mookmaatee* lies partly in the poet's bit, puns and reversals, and partly in the freedom gained by a renunciation of conventional mater and rhyme. He assigns new meaning to fragments of words in a pseudo-etymological way. Internal rhymes, which sometimes appear somewhat forced and expedient, are delightful nonetheless. Reversals reveal great truths. If you want to be a *raahee* (a way-farer on the spiritual path), you must become a *heera* (a diamond). The word *svapn* (dream) is split and redefined : *sva* is one's own, *p* is paalan or maintenance, and *n* is no. A creature lost in dreams, therefore, cannot maintain itself. Yes, etymology is reinvented. At times, the urge to use multiple rhymes compels the poet to stretch the meanings in an oddly appropriate way.

"चेतन वाले वतन की ओर/कम ध्यान दे पाते हैं
और/चेतन वाले तन की ओर/कब ध्यान दे पाते हैं ?" (पृ. १२३)

(The salaried folk can pay little attention to the country and the spiritual seekers can pay little attention to the body.) The contrast between *vetan vaale* (the salaried people, i.e. those engaged in worldly activities) and *chetan vaale* (those who care for their consciousness - the spiritual minded folk) is not to be taken literally. The poet successfully suggests the dichotomy between the spiritual and the corporeal with a pair of rhymes that dislocate language. The surprises of diction enable the poet to widen his meanings. Age-old commandments of religion are linguistically redeemed and burnished. It is this 'horseplay' with language that keeps the reader on his toes. Whereas the traditional epic writer strains himself inventing rhymes and maintaining the meter, the Acharya exerts himself getting extra marvels and mileage from his words. The second task is no less demanding and rewarding. The Acharya doesn't follow the lexicon strictly, rather the lexicographer must try and keep pace with him. Any comprehensive study of the poem must necessarily involve two disciplines - semantics and the philosophy of Jainism. The poet incorporates the various rasas of Indian poetics, perhaps to give his work the full dignity of an epic.

Implicit and explicit in the epic is the Jainistic theory of karm. An individual is automatically rewarded according to his or her karm and hence there is no need to postulate an intermediary God. Also, one's inherited karm can be overcome by *purusharth* or 'manly' effort.

Mookmaatee affirms *anekaantvaad* –which incorporates the universal principles of truth and nonviolence, and *sayaadvaad* –which propounds the principle of unity of all humankind. The poet stresses the triune of gems –right thinking, right knowledge and right conduct. He attacks the contemporary evils both among the godmen who preach without practising and the laity. This epic is a profound psychological document, analysing compassion, humility, envy, violence, etc. It's a seeker's manual.

The poem blends all the essentials of Jainism in an original symbolic story of homely and elemental characters. The effervescent inventiveness of language and modern poetic techniques made as succulent as possible, endear it to a wide range of readers. Acharya Vidyasagar's literary credo, that a work of art should enable the reader to distinguish between sin and merit, right and wrong, is embodied in his epic. The wordplay is a bait to lure the reluctant reader. Altogether, this work may come to occupy in Jainist literature the place that Tulsidas's *Ramcharitmaanas* occupies for Hindiphonic Hindus.



'मूकमाटी' में प्रतिपादित जैन तत्त्वदर्शन : एक परिचय

डॉ. मधु धवन

'मूकमाटी' जैन दर्शन के कलेवर में संलिप्त रूपक महाकाव्य है, जो भारतीय धर्म-दर्शन-साहित्य की उल्लेखनीय उपलब्धि है। माटी के मानवी रूप की परिकल्पना कर तपस्वी आचार्य विद्यासागर ने अत्यन्त कलात्मकतापूर्ण अलंकृत-चमत्कृत शब्दों के माध्यम से संलाप शैली में जैन धर्म के सिद्धान्तों का उद्घाटन किया है। तपस्वी सन्त ने आज के विघटित, प्रदूषित होते हुए सामाजिक परिवेश में तात्त्विक जीवन दर्शन की महिमा का मूल्यान्वेषण करते हुए जैनागमों के हृदय-फलक पर धुँधले पड़ते अर्हन्त देव के रूप तथा आचरण को पुनः स्थापित कर, मोक्ष प्रदान करने वाली जैन दीक्षा से अनुप्राणित एक नए भावबोध को सम्पृक्त करने का सशक्त एवं सफल प्रयास किया है।

तपस्वी विद्यासागर की तपश्चर्या का स्थल प्रकृति की रम्य गोद होने के कारण प्रस्तुत महाकाव्य का आरम्भ भी प्रकृति की स्वर्णिम आभा की अपूर्व छटा से होता है। महाकवि का कवि हृदय या यों कहूँ कि आचार्य का तापस हृदय तपश्चर्या के महत्त्व का उल्लेख करता हुआ पाठक को प्रकृति-पथ से स्वर्गीय आनन्द का पान करवाता हुआ दार्शनिकता के ठोस धरातल पर ला खड़ा करता है, जो प्रशंसनीय एवं वन्दनीय भी है। तप भारतीय नैतिक जीवन एवं संस्कृति का प्राणतत्त्व है। भारतीय जीवन धर्म-दर्शन, जो शाश्वत, उदात्त, दिव्याभायुक्त एवं अलौकिकता से सम्भूत है, वह सब कठोर तपश्चर्या के सु-अंक से प्रत्युत्पन्न है :

"तन और मन को/तप की आग में/तपा-तपा कर
जला-जला कर/राख करना होगा।" (पृ. ५७)

'मूकमाटी' काव्य के कथ्य और शिल्प का अपना अनूठा वैशिष्ट्य है। कथ्य लौकिक-दैनिक जीवनचर्या के परिप्रेक्ष्य में रूपकों एवं प्रतीकों का प्रश्रय पाकर आध्यात्मिकता ग्रहण करता है। यहाँ बौद्धिक स्वीकृति देकर एक अन्तर्दृष्टि मूलक पहचान का आग्रह है। माटी रूपी जीव शिल्पी रूपी गुरु चरणों में पूर्ण समर्पित हो जाती है (पृ. २९-३३) गुरु महाराज उसे वर्ण-सैकर (पृ. ४६) की स्थिति से मुक्त कर कुम्भ रूप प्रदान करने के लिए उसका परिशोधन करते हैं (पृ.४४-४५)। माटी नाना यातनाओं, शिक्षण-परीक्षण से गुज़रती हुई परिपक्वावस्था को प्राप्त हो कुम्भ रूप में परिवर्तित हो जाती है। कुम्भ पर चन्दन-केसर के स्वस्तिक एवं ओंकार परिभूषित कर मांगलिक घट बना दिया जाता है और कुम्भ गुरु-पद-प्रक्षालन करता है (पृ. ३०९-३२४)।

इसका कथानक तपस्वी की अनुभूति से उत्पादित है। जो कुछ वह अपने अन्दर महसूस करता है वही भाव उसे अपने समक्ष प्रकृति में घटित होते परिलक्षित होते हैं। उन अनुभूतियों को तथा जीव की मूलभूत त्रुटियों को तटस्थ हो लिपिबद्ध किया गया है। यहाँ जैन दर्शन के आधारभूत शिवत्व (परम) की उपलब्धि कैवल्य-साधना एवं अनेकान्तवाद द्वारा होनी बतलाई गई है। जैन धर्म दयालुता की शिक्षा देता है, अहिंसा पर बल देता है तथा मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है, जो 'मूकमाटी' में मुखर हुआ है।

आज के जीवन की अनुभूति बहु-आयामी है, अतएव विषय-वैविध्य उसका वैशिष्ट्य बन गया है। 'मूकमाटी' इसका अपवाद नहीं है। इसके चारों खण्डों का फलक विस्तृत ही नहीं अपितु विषय की विविधता लिए हुए है। विषय-वैविध्य को देखिए :

जैन दर्शन की दृष्टि से: समत्व योग, त्रिविध साधना मार्ग, सम्यक् तप, अविद्या या मिथ्यात्व, निवृत्ति मार्ग-प्रवृत्ति मार्ग, जैन धर्म के मूल सिद्धान्त—श्रमण-श्रावक-धर्म इत्यादि, नौ तत्त्व (पदार्थ)— जीव-अजीव-पुण्य-पाप-आस्रव-

संवर-बन्ध-निर्जरा तथा मोक्ष, आत्मान्वेषण, शाश्वत सत्ता का रहस्योद्घाटन।

सामाजिक दृष्टि से : परिवेशगत असंगतियाँ, भारतीय बौद्धिक विघटन, मूल्य संक्रमण, नारी के गुण-अवगुण।

मनोवैज्ञानिक धरातल की दृष्टि से : विशिष्ट मानसिक प्रवृत्तियाँ एवं अन्तर्ग्रन्थियों की प्रतिक्रिया स्वरूप शुभ-अशुभ विकार।

राजनैतिक धरातल की दृष्टि से : व्यक्ति-राजनीति-प्रशासन-कूटनीति-आतंकवाद-लोकतान्त्रिक मूल्यों में हेर-फेर, गुटनिरपेक्षता।

महाकाव्य का नायक शिल्पी है, जो महान् जातीय गौरव एवं भारतीय—जैन संस्कृति का अग्रदूत है। 'मूकमाटी' के नायक की सृष्टि शिल्पी यानी कुम्भकार को संकेन्द्रित कर की गई है। कुम्भकार शान्ति, अहिंसा, सन्तुलन, यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि का विधायक है। वह मानवता का प्रतीक एवं विशुद्ध तापस है (पृ. २६-२७)। 'खम्मामि खमंतु मे' (पृ. १०५) के भाव से लिप्त कुम्भकार सहिष्णुता (पृ. ४७), संवेदनशीलता (पृ. १०५), विनयशीलता (पृ. २७२) का मूर्त रूप है। हमारे भारतीय महाकाव्यों में वस्तु बल (भौतिक बल) की अपेक्षा नायक के आत्मिक बल पर जोर दिया जाता है, अतः 'मूकमाटी' का नायक भी इसका अपवाद नहीं है। शिल्पी, जो साधना के क्षेत्र में पाँचों इन्द्रियों का संवरणकर्ता है; नव रक्षापंक्तियों से ब्रह्मचर्य के रक्षण में सदैव जागृत; क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों से मुक्त; अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह रूप पंचव्रतों से युक्त; पंच आचरणों—समितियों (गमन, भाषण, एषणा, आदान-निक्षेपण और मल-मूत्र आदि विसर्जन करना) का पालनकर्त्ता एवं मन, वचन, काया से संयत है (पृ. ३००-३०१)।

आर्थिक धरातल की दृष्टि से : अर्थ का तात्पर्य – सदुपयोग।

नैतिकता की दृष्टि से : आदर्शात्मक, यथार्थपरक, मूल्य शोधकों के प्रति रोष, दृढ़ संकल्प, ऊर्ध्वमुखी-अधोमुखी जीवन में अन्तर, साधनात्मक ऊर्जा का महत्त्व, निष्ठा-प्रतिष्ठा-आस्था-अनास्था एवं तात्त्विक-सात्त्विक जीवन का रहस्योद्घाटन...।

सांस्कृतिक चेतना की दृष्टि से : भारतीय संस्कृति में अतिथि-सत्कार...।

साहित्यिक दृष्टि से : युग संवेदना, मानवीय सामर्थ्य बोध, नवीन युग दर्शन, वीर-हास्य-रौद्र-भयानक आदि रसों का उल्लेख, लोक नीति...।

उपचार की दृष्टि से : घरेलू नुस्खे आदि...।

कथावस्तु : प्रथम खण्ड में कुम्भकार माटी को सार्थक रूप देना चाहता है, अतः इसके लिए अनिवार्य है कि वह माटी को कूट-पीट-छानकर मृदु माटी का रूप प्रदान करे। माटी, जो अभी वर्ण-संकर की स्थिति में है, वह अपना मौलिक वर्ण-लाभ तभी कर सकेगी, जब कंकरों को निकाल दिया जाए। दूसरे खण्ड में माटी खोदते वक्त कुम्भकार की कुदाली से घायल हुआ काँटा और उसका विद्रोह तथा नव रसों के विश्लेषण के परिप्रेक्ष्य में जैन धर्म के आचार का प्रकटीकरण। तीसरे खण्ड में शुभ-अशुभ कार्यों को परिभाषित किया गया है। चौथे खण्ड में कुम्भ का कुम्भक प्राणायाम की प्रक्रिया से लेकर सेठ की कथा, साधु के लिए आहार दान क्रिया तथा जैनागमों के आचार-सिद्धान्तों को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है। मिट्टी के कुम्भ के मान-सम्मान को देख स्वर्ण कलश का आतंकवादी होना, परिवार में त्राहि-त्राहि मचाना, विपत्तियाँ, सेठ का अपने परिवार की रक्षा स्वयं एवं प्राकृतिक शक्तियों, मानवेतर प्राणियों—गज दल-नाग-नागिनों से प्राप्त करना तथा डूबती नाव से सबकी रक्षा करना इत्यादि।

नायिका सरिता तट की माटी है। कुम्भकार की प्रतीक्षा में युग-युगों से बैठी है। माँ धरती से प्रतीक्षा की घड़ियों का अन्त सुन वह सारी रात करवटों में काट देती है। पल-पल उसे पुलक का एहसास होता है। प्रतीक्षा की घड़ियों

की समाप्ति ज्यों ही कुम्भकार की अहिंसक पगतलियों से होती है त्यों ही उसमें एक विद्युत्-सम स्पन्दन होता है। उसकी दृष्टि मात्र गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को देखने में असमर्थ है :

"आकाशीय विशाल दृश्य भी/इसीलिए/शून्य होता जा रहा है
समीपस्थ इष्ट पर/दृष्टि टिकने से/अन्य सब तुच्छ ही होते हैं।" (पृ. २६)

माटी में समर्पण के समस्त गुण विद्यमान हैं। कुम्भकार उसे कुदाली से काटता है, वह कटती चली जाती है; वह बोरी में बाँधता है, बँध जाती है; सानता है, सन जाती है; रौंदता है, रौंद जाती है; फिर हर परीक्षण में खरी उतरती हुई क्रमशः 'श्रावक-श्रमण-धर्म' का पालन करती हुई कर्मों के बन्धन से छूट, पूर्णता प्राप्त कर लेती है। माटी का कुम्भ हाथ में ले सेठ, पात्र के पदों पर ज्यों ही झुका, त्यों ही कन्दर्प-दर्प से दूर गुरु-पद-नख-दर्पण में उसने (कुम्भ) अपनी छवि देखी और धन्य-धन्य कह उठा।

जैन दर्शन के प्रमुख प्रमेय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हैं। 'उत्पाद' से तात्पर्य यह है कि सृष्टि में जो कुछ है, वह पहले से ही विद्यमान है तथा जो नहीं है, उससे किसी तत्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'व्यय' से अभिप्राय है कि प्रत्येक पदार्थ अपने पूर्व रूप को छोड़कर क्षण-क्षण में नवीन पर्यायों को धारण करता है। 'ध्रौव्य' यह विश्वास है कि पदार्थों के रूपान्तर की यह प्रक्रिया सनातन है। उसका कभी भी अवरोध या नाश नहीं होता। जगत् का प्रत्येक सत् प्रतिक्षण परिवर्तित होकर भी कभी नष्ट नहीं होता। वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य त्रिलक्षण रूप है। कोई भी पदार्थ चेतन हो या अचेतन, इस नियम का अपवाद नहीं है (द्रष्टव्य : संस्कृति के चार अध्याय, पृ. १३३)।

जैन धर्म यह मानता है कि सृष्टि अनादि है और जिन छः तत्त्वों से यह बनी है वे तत्त्व भी अनादि हैं– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल। इन छः तत्त्वों में केवल पुद्गल ही ऐसा है जिसे हम स्पर्श, रस, घ्राण, चक्षु, श्रवण इन्द्रियों (पृ. ३२९-३३०) के द्वारा अनुभव कर सकते हैं। पुद्गल को मूर्त्त द्रव्य भी कहा जाता है। पुद्गल स्वयं ही परमाणु रूप है या परमाणुओं के योग से बना है। यह सारी सृष्टि ही परमाणुओं का समन्वित रूप है।

भावपक्ष की दृष्टि से दर्शन गहन, व्यापक अर्थबोधक है। मनुष्य चिरकाल से ही 'आनन्द' तत्त्व की खोज में सन्नद्ध रहा है। समय-समय पर बड़े-बड़े तत्त्व चिन्तकों, ज्ञानियों, आचार्यों, ऋषियों, सिद्ध पुरुषों और योगियों ने आनन्द तत्त्व की उपलब्धि, परम पद की प्राप्ति के उपायों पर विचाराभिव्यक्ति तथा अनुभूति प्रदान का मार्गदर्शन किया है। महाकाव्य महत् जीवन दर्शन से अनुप्राणित कृति होती है। समीक्ष्य काव्य में जैन दर्शन का प्रतिपादन हुआ है।

जैन धर्म की शिक्षाओं का सार त्रिविध साधना मार्ग में देखा जा सकता है– सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र। 'सम्यक् दर्शन' से तात्पर्य है (जैन धर्म में) उपदिष्ट तत्त्वों में दृढ़ विश्वास (पृ. १२-१३)। जैन धर्म में व्याख्या से उपलब्ध तत्त्व/पदार्थ का ज्ञान या किसी की सहायता से प्राप्त किए गए ज्ञान को 'सम्यक् ज्ञान' कहा जाता है। माटी का माता धरती से ज्ञानार्जन करना या मछली का माटी से ज्ञान इत्यादि लेना इसी कोटि में आता है। इन नौ में पहला 'जीव' है। 'जीव' शब्द जीवन, ज्ञान, प्राण और आत्मा का वाचक है। जैन मत में जीव (शुद्ध जीव) नित्य, केवल प्रकाशमान् है एवं असीम प्रसन्न रहता है। शरीर में रहता हुआ 'जीव' आत्मा का रूप है। अतः शरीर में विद्यमान होने के कारण अपने कर्मों का फलाफल रूप सुख-दुःख भोगता है। अपने कर्मों के अनुसार दूसरा शरीर धारण करता है। उसे अनन्त पीड़ाएँ सहनी पड़ती हैं, जिनका कोई ओर-छोर नहीं है (पृ. ४)।

जीव के स्वरूप से विपरीत 'अ-जीव' का स्वरूप है। यह जीवन-शून्य भौतिक तत्त्व है। जीव और अ-जीव का संयोग बन्ध है (पृ. १५)। यह दो रूपों में स्वीकृत है– रूपी-अरूपी। जैन-धर्म-दर्शन में अक्षुण्ण-अखण्ड काल का प्रवाह अरूपी है, अतः इसी कारण उसे अ-जीव की श्रेणी में गिना जाता है। जीव या अ-जीव का बहना–परिणमन

करना ही इसके स्वरूप एवं रहस्य का उद्घाटन करना है (पृ. २९०)। जैन-दर्शन-शास्त्र में प्राकृतिक या भौतिक पदार्थ को 'पुद्गल' कहा जाता है। 'काल' अरूपी है। इसे अ-जीव की कोटि में गिना जाता है (पृ. १६१)।

अच्छे कर्मों का फल ही 'पुण्य' है। पुण्य प्राप्त करने के अनेक उपाय हैं। स्वस्थ ज्ञान, जिससे जीवन दर्शन का ज्ञान होता है :

"स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है।/अनेक संकल्प-विकल्पों में
व्यस्त जीवन दर्शन का होता है।/बहिर्मुखी या बहुमुखी प्रतिभा ही
दर्शन का पान करती है।" (पृ. २८८)

'पाप' का आविर्भाव तभी होता है जब पाँच शिक्षाओं पर न चला जाए। जैन धर्म में पापों के अनेक रूप मिलते हैं। 'मूकमाटी' में स्थान-स्थान पर पाप की गतिविधियों की प्रतीति हुई है:

"राजा के मुख में पानी !!/अपनी मण्डली ले आता है राजा
मण्डली वह मोह-मुग्धा--/लोभ-लुब्धा,/मुधा-मण्डिता बनी···।" (पृ. २११)

जैन मत में 'आस्रव' की पर्याप्त चर्चा हुई है। 'आस्रव' यानी कि जीव द्वारा कर्मों का एकत्रीकरण। जैनागमों का कथन है कि जीव द्वारा कर्मों का करना पाप है, उससे बन्धन में वृद्धि होती है, और कोई लाभ भी नहीं होता। जैसे नाव के अन्दर छेद होने से पानी आकर एकत्र हो जाता है, ऐसी स्थिति में छेद को बन्द करना ही 'संवर' की साधना है।

"अपार सागर का पार/पा जाती है नाव/हो उसमें
छेद का अभाव भर!" (पृ. ५१)

आस्रव भी दो प्रकार के हैं– शुभ-अशुभ। शुभ आस्रव यानी कि : *"लघुता का त्यजन ही,/गुरुता का यजन ही/शुभ का सृजन है"(पृ. ५१)*। कंकरों को जब शिल्पी ज्ञान प्रदान कर चुकता है तो उन्हें ही *"माटी की शालीनता/कुछ देशना देती-सी"* तथा *"महासत्ता-माँ की गवेषणा-सी"* (पृ. ५१) प्रतीत हुई है।

पाप कर्मों का संचय करने वाला अशुभ आस्रव है। जीव को जल की तरल सत्ता से यानी कि सांसारिक आकर्षणों के कारण घबराहट का न होना, संवर की स्थिति से जीव का न डरना, क्योंकि जीव का अधडूबे हिमखण्ड की स्थिति में ही अशुभ-आस्रव की स्थिति है।

संवर का अर्थ होता है कर्मों को वशीभूत कर लेना। जिस तत्त्व से कर्मों का आत्मा में प्रवेश करना रुक जाता है, उसे 'संवर' कहा जाता है (पृ. ५१-५२)। यह संवर की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी की सहायता से इन्द्रियाँ वश में की जाती हैं और आत्मसंयम किया जाता है। इसके अभाव में मुक्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं। कुम्भ की पूर्णता या मुक्ति रूप तब दिखाई देता है जब सात बार घट को बजाया जाता है। ये सात स्वर ही संवर की स्थिति है। इन सप्त स्वरों का भाव समझना ही सही संगीत में खोना है, सही संगी को पाना है।

जीव (आत्मा) और पुद्गल (प्राकृतिक परमाणुओं) के संयोग को 'बन्ध' कहा जाता है। राग-द्वेष इत्यादि मनोविकारों में लिप्त आत्मा ऐसे पदार्थों को अपनाता है, जिनसे कर्म बनते रहते हैं। बन्ध की उत्पत्ति पाँच कारणों से होती है– मिथ्या दर्शन, वैराग्य का अभाव, अ-सावधानता, कषाय और योग के सद्भाव में आत्मा कर्मों के जाल में फँसकर बारम्बार शरीर धारण करता हुआ दु:खी रहता है।

शारीरिक एवं प्राणमय जीवन के चलते चेतन बाह्य आकर्षणों से प्रभावित होने की प्रवृत्ति विकसित कर लेता है। ऐसी एकान्त धारणा से अध्यात्म की विराधना होती है, परिणामस्वरूप चेतन जीवनोपयोगी अन्य पदार्थों में आसक्त

होता है। सतत अभ्यास एवं स्व-स्वरूप का अज्ञान ही उसे समत्व के केन्द्र से च्युत कर बाह्य पदार्थों में आसक्त बना देता है। वह शरीर, परिवार एवं संसार के अन्य पदार्थों के प्रति ममत्व रखता है और इन पर-पदार्थों की प्राप्ति-अप्राप्ति में अपने को सुखी या दुःखी मानता है। कवि कहता है :*"पाप-पाखण्ड पर प्रहार करो/प्रशस्त पुण्य स्वीकार करो !" (पृ. २४३)* उसमें 'पर' के प्रति आकर्षण या विकर्षण का भाव पैदा होता है (पृ. २७७)। वह पर के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इसी रागात्मक सम्बन्ध से वह बन्धन या दुःख को प्राप्त होता है। 'पर' में आत्म-बुद्धि से जीव में असंख्य इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। प्राणी इनकी प्राप्ति हेतु व्याकुल रहता है। यह व्याकुलता ही दुःख का मूल होता है। कूप में कुम्भकार की परछाई का पड़ना और कूप में तैरती मछली की मूर्च्छा का ऊर्ध्व हो उठना 'स्व' की पहचान है। 'स्व' की पहचान होते ही वह विरक्त हो उठती है, साथ ही चिन्तित भी– 'मेरी जड़ काया कैसे ऊर्ध्वमुखी होगी।'

'निर्जरा' से अभिप्राय होता है कर्मों को आंशिक रूप से सुखा डालना या नाश करना। यह पाप कर्मों को नष्ट करने का सशक्त माध्यम है। मोक्ष की प्राप्ति में संवर तथा निर्जरा दोनों स्थितियाँ परमावश्यक मानी जाती हैं। इनमें इतना ही अन्तर है कि 'संवर' कर्मों की वृद्धि को और आत्मा के अन्दर इनके प्रवेश को रोकता है तथा 'निर्जरा' एकत्र किए गए कर्मों को आंशिक रूप से सुखा कर समाप्त कर देती है। कुम्भ को खुली धूप में रख कर सुखाना निर्जरा की स्थिति ही मानी जानी चाहिए। निर्जरा तभी सम्भव हो सकती है जब जीवन में संयम एवं सादगी हो यानी तप किया जाए। तप को जैन धर्म में अत्यधिक प्रमुखता दी जाती है। प्रत्येक आत्मा साधना और तपश्चर्या के द्वारा मुक्तात्मा बन सकती है। ऐसी स्थिति में आत्मा की मोक्ष रूप यानी शरीर – नोकर्म एवं कर्मों का पूर्णतः अभाव तथा पूर्ण विश्वास, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण चारित्र रूप 'सिद्धि' की दशा होती है। 'सिद्ध' शरीर रहित होकर 'सिद्धि' (सिद्ध शिला के ऊपर) में विराजते हैं। ज्ञान की दृष्टि से सिद्ध तथा शुद्ध आत्मा में भेद नहीं होता है। मोक्ष की वास्तविक साधना केवल तपस्वी ही कर सकता है। इनकी पाँच स्थितियाँ हैं जिनका समन्वित नाम 'पंच परमेष्ठी' है। ये परमेष्ठी अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु होते हैं। इनमें से सिद्ध मोक्ष दशा को प्राप्त कर चुके हैं, शेष चार उसकी प्राप्ति हेतु साधनाशील होते हैं।

जैन धर्म में संवर और निर्जरा दोनों ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। जैन धर्म में ज्ञान तथा आचार-सिद्धान्तों का निर्माण इन्हीं दो तत्त्वों को लेकर किया गया है। कर्मों की धारा को आत्मा में प्रवेश से रोकने की साधना को छः वर्गों में विभाजित किया गया है। तीन अंशों वाली 'गुप्ति' (वपुषा-वचसा-मनसा)–अवा में जलने वाली लकड़ी के माध्यम से प्रकट होती है। पाँच अंशों वाली 'समिति'–कुम्भकार का यूँ सोचना कि कहीं लकड़ी कुपित न हो जाए, अतः उसकी जागरण की या सावधानता, कुम्भकार के व्यवहार-वार्तालाप-प्रवचन आदि इन तथ्यों की पुष्टि करते हैं कि कुम्भकार पाँचों 'समिति' यानी चलने में सावधानता, खाने में सावधानता, जगत् के व्यवहारों में सावधानता, बोलने में सावधानता एवं मल-मूत्र आदि त्याग में सावधानता का विचार रखता है। कुम्भकार का यत्नपूर्वक मछली को कुएँ के जल में वापस डालना, रस्सी की गाँठ खोलना आदि इन तथ्यों की पुष्टि करते हैं।

मूलभूत 'दस धर्मों' में पाए जाने वाले आचार 'मूकमाटी' में बड़ी कलात्मकता से प्रस्तुत किए हैं जो कि क्षमा, विनय (मार्दव), निश्छलता (आर्जव), पवित्रता (शौच), सत्य, संयम, जीवन में सादगी (तप), त्याग-भावना, अनासक्ति (आकिंचन्य) एवं शुचिता (ब्रह्मचर्य) रूप है। जब अग्नि अवा में नहीं जलती तो कुम्भ उससे कहता है कि चाहे मुझ में क्षमा, विनय, निश्छलता, पवित्रता, सत्य, संयम, सादगी, त्याग-भावना एवं अनासक्ति क्यों न हों, फिर भी मैं निर्दोष नहीं हूँ। जब तक तुम मेरे दोषों को नहीं जलाओगी तब तक मैं जिलाया नहीं जा सकता, मुझमें दसवाँ मूलभूत गुण 'शुचिता' नहीं आ सकती (पृ. २७६-२७७)। अग्नि के लगते ही कुम्भ के मुख, उदर आदि में धूम ही धूम

घुट रहा है। आँखों में से प्राण निकलने को हैं, पूरी शक्ति लगा कुम्भ ने कुम्भक प्राणायाम किया (पृ. २७९)। अनल का परस पाकर कुम्भ की काया-कान्ति का जल उठना ही ऊर्ध्वमुखी होना है। यही विशुद्ध परस है (पृ. २८१)।

सागर जल के प्रसंग के माध्यम से आचार्यश्री ने कषायों का उल्लेख कर इस तथ्य को उजागर किया है कि हिंसा के कर्मों की जड़ इन्हीं कषायों में निवास करती है। जलधि के दुर्व्यवहार के बावजूद भी धरती प्रतिशोध नहीं चाहती। यह आचरणों में से एक आचरण है जहाँ मन की अवस्था में समभाव होता है। सूर्य का धरती के साथ न्याय करना एवं सूर्य का जलधि-जल को वाष्प बनाना और वर्षा के रूप में पुनः लौटा देना आदर्शभूत एवं कषायहीन आचरण एवं व्यवहार कहा जा सकता है। इसी कारण जलधि का सूर्य को घूस देने की प्रक्रिया में असमर्थ होने का भावबोध है। चन्द्रमा का जल तत्त्व से घूस लेना जैन धर्म में अहिंसा के सिद्धान्त के अन्तर्गत कषाय का रूप—माया एवं लोभ है। वसुधा की सारी सुधा का सागर में एकत्र होना, सूर्य के द्वारा उसका सेवन करना, सागर का वंचित रह जाना आदि कर्मों का कर्त्ता और फलाफल के भोक्ता रूप ध्यान के सिद्धान्तों में से एक है। अपनी करनी पर चन्द्रमा का लज्जित होना—अकेला मैं अपने कर्मों का कर्ता और उनके फलों का जिम्मेदार हूँ। यही कारण है कि वह चोरों की भाँति मुँह छिपाकर रात्रि में बाहर निकलता है। यह प्रसंग कर्मों के फल-भोग और मृत्यु इत्यादि के सन्दर्भ में आत्मा की विवशता ही समझी जानी चाहिए। सागर कषायों से लिप्त है इसीलिए तो चन्द्र को देखकर उमड़ता है और सूर्य को देखकर उबल पड़ता है। यह क्रोध है। जल का सीपियों में मुक्ता रूप पोषण समस्त सृष्टि और उसके स्वरूप की चर्चा है कि वही समान पोषक तत्त्व समस्त प्राणियों के होते हैं किन्तु कोई मुक्ता बन जाते हैं और कोई कषाय का रूप ग्रहण कर लेते हैं। धरती का बदली की ओर अवलोकन कर्मों की धारा का आत्मा की तरफ बहाव का प्रयोजन है। मेघ से मेघमुक्ता का अवतार होना धर्म मार्ग का स्वरूप है।

"मुक्ता की वर्षा होती/अपक्व कुम्भों पर/कुम्भकार के प्रांगण में···!
पूजक का अवतरण !/पूज्य पदों में प्रणिपात।" (पृ. २१०)

मुक्ताओं की वर्षा देखकर राजा के मुँह में पानी आना ही लोभ कषाय है और यही अशुद्ध अवस्था है। यह अनर्थ है। यहाँ परिश्रम के महत्त्व का सन्देश दिया गया है। मनुष्य को बाहुबल मिला है। परिश्रम के बल से जीविकोपार्जन करो। बिना परिश्रम किए नवनीत का गोला खाने पर भी वह नहीं पचेगा। अतः मूलभूत दस धर्मों के समस्त आचार यहाँ आ जाते हैं।

कुम्भकार के चेहरे पर तीन रेखाएँ खिंचती हैं— विस्मय-विषाद-विरति की। इन भावों का उत्पन्न होना तथा राजा को शाप मुक्त करना, राजा से क्षमा याचना करना, समस्त मुक्ताओं को भरकर राजकोष में भेज देना इत्यादि पाँच प्रकार— अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य के आचरणों में दूसरा आचरण तथा चौथा आचरण है।

कलिकाल में भौतिकता की ललक दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। इस पर कटाक्ष किया गया है कि समाज बौद्धिकता के गुणों से सम्पन्न होते हुए भी दूषित मानसिकता लिए हुए है। मुक्ताओं के गुणों के बखान से तात्पर्य आचरण के पाँचवें रूप का उल्लेख है। आदर्शभूत और कषाय से हीन आचरण और व्यवहार का मुक्ताओं में विद्यमान होना, अहंभाव से असम्पृक्त मुक्ता में न राग है न द्वेष और न मद-मान-मात्सर्य है। वे पूर्व विकारों से पूर्ण मुक्त मुक्तात्मा हैं यानी कि 'सिद्ध' हैं। जल/जड़त्व से मुक्त कर मुक्ता-फल बनाना ही जैन दर्शन है। मुक्ता फल बनना ही कर्मों से छुटकारा पाना है। सागर सीपियों को जल में डुबोता है किन्तु वहाँ कितने विषैले जल-जीव हैं। यहाँ इस तथ्य का प्रतिपादन है कि धर्म का मार्ग दुर्गम होता है एवं संसार रूपी सागर में भयंकर विषधर रूपी कषायें विद्यमान हैं।

धरती के मन में तनिक भी किसी को विघ्न पहुँचाने का भाव जाग्रत न होना यानी कि शुचिता, निश्छलता,

संयम, क्षमा आदि धर्म के मूलभूत दस आचारों द्वारा सिद्धि का प्राप्त होना है। तन का नियन्त्रण सरल होता है और मन का नियन्त्रण असम्भव/कठिन है यानी धर्म का दुर्भेद्य मार्ग एवं उसका स्वरूप है।

जैन धर्म में बाईस प्रकार के कष्टों (परीषहों) का उल्लेख उपलब्ध होता है—भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, मच्छर आदि से उत्पन्न पीड़ा, नग्न रहना, अतृप्ति (अरति), नारी, पैदल चलना, आसन लगा कर बैठना, सोना, दुर्वचन सहन, मार-पीट सहन, भिक्षा आदि न माँगना, आहार आदि का न मिलना, रोग, काँटे आदि का सम्पर्क, धूल, मान-अपमान, ज्ञान का घमण्ड, अज्ञान, धार्मिक विश्वास की शिथिलता आदि (द्रष्टव्य—तत्त्वार्थ सूत्र, ९/९)। जैन साधु शरीर को भी आत्मा का शत्रुवत् मानते हैं। अतः वे चुन-चुनकर उन्हीं मार्गों को अपनाते हैं, जिनसे शरीर को भले ही अपरिमित कष्ट हो किन्तु वे उन परिस्थियों में भी समता धारण कर कर्मों को पृथक् कर सकें।

'मूकमाटी' में समत्व योग पर बल दिया गया है। समत्व की साधना ही सम्पूर्ण आचार दर्शन का सार है। जहाँ चेतना है वहाँ समत्व बनाए रखने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। जैन धर्म में नैतिक एवं आध्यात्मिक साधना के मार्ग को समत्व योग यानी त्रिविध-साधना तथा साधना पथ के साध्य का अनुपालन माना है। वही आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में चित्तवृत्ति का समत्व, बुद्धि का समत्व और आचरण का समत्व कहलाता है। इस प्रकार जैन धर्म का साधना-पथ समत्व योग की साधना ही है, जिससे मानव चेतना के तीन पक्ष – भाव (जानना), ज्ञान (अनुभव करना), संकल्प करने की धारणा आती है। माँ धरती, पुत्री माटी को प्रथम स्थिति यानी जानने का मार्गदर्शन करती हुई कहती है कि उसे रहस्य में निहित गन्ध का अनुपान करना होगा (पृ. ७)। इसके लिए सम्यक् ज्ञान—चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष को सत्य की उपलब्धि की ओर ले जाना होगा। स्वच्छ हीरक जलधारा के दृष्टान्त को प्रस्तुत कर जीवन में संगति पर सावधानी बरतने का परामर्श है। जीवन का साध्य तभी सम्भव है जब ज्ञान, चेतना और संकल्प – ये तीनों सम्यक् होकर साधना-पथ का निर्माण कर देते हैं और यही पूर्ण होकर साध्य हो जाते हैं।

गधे की छिलती हुई पीठ को देख माटी की पतली सत्ता अनुक्षण अनुकम्पा से सभीत हो हिलने लगी। कुछ क्षणोपरान्त माटी की करुणा बोरी से छन-छनकर गधे की रगड़ खाती पीठ पर मरहम बन जाती है। जैनाचार्यों ने अहिंसावाद को अत्यधिक महत्त्व दिया है। सारा धर्म इसी धुरी पर टिका हुआ है।

बौद्ध धर्म में अहिंसा की एक सीमा है कि स्वयं किसी जीव का वध न करो, लेकिन जैन धर्म में अहिंसा बिलकुल निस्सीम है। स्वयं हिंसा करना, दूसरों से हिंसा करवाना या अन्य किसी भी तरह से हिंसा में केवल शारीरिक अहिंसा के निषेध तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत बौद्धिक हिंसा करना भी निषेध है। यह बौद्धिक अहिंसा (अनुमोदना) ही जैन दर्शन का अनेकान्तवाद है। माटी की उदासता, कि इस छिलन का निमित्त 'मैं ही हूँ,' का यही प्रमुख कारण है।

चौथे खण्ड में सेठ की कथा के माध्यम से सम्पूर्ण जैन दर्शन को विविध प्रसंगों, पीड़ाओं के माध्यम से स्वर दिया है। वैदिक धर्म जैसे स्थूल शरीर के भीतर एक सूक्ष्म शरीर की सत्ता पर विश्वास करता है, उसी भाँति जैन दर्शन भी स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म कर्म-शरीर पर विश्वास करता है। स्थूल शरीर के छूट जाने पर भी यह कर्म-शरीर जीव के साथ रहता है और वही उसे फिर अन्य शरीर धारण करवाता है। खसखस के दाने-सा बहुत छोटा होता है बड़ का बीज, उसे हम सूक्ष्म कर्म-शरीर मान लें और बड़ के बीज के पुनः अंकुरित होने की प्रक्रिया को पुनः अन्य शरीर धारण करने की बात मान लें तो तथ्य समझ में आ जाता है। साथ ही आत्मा की मनोवैज्ञानिक इच्छाओं से— वासना, मोह, तृष्णा, कामादि से इस कर्म शरीर की सम्पुष्टि यानी बड़ को अंकुरित होने के लिए समयोचित खाद, हवा, जल की प्राप्ति से फलना-फूलना। कर्म शरीर तभी छूट सकता है जब जीव वासनाओं से मुक्त हो जाता है।

जैन धर्म यह मानता है कि सत्ता शाश्वत होती है। इसके किसी भी सत् का सर्वथा नाश नहीं होता, न किसी असत् से नए सत् का उत्पादन ही सम्भव है :

"सत्ता शाश्वत होती है/सत्ता भास्वत होती है बेटा !
रहस्य में पड़ी इस गन्ध का/अनुपान करना होगा।" (पृ. ७)

सेठ का परम पुरुष (साधु) से प्रश्न करना कि क्या गति-प्रगति-आगति तथा नति-उन्नति-परिणति इन सबका नियन्ता काल को माना जाए ? प्रति पदार्थ स्वतन्त्र है, कर्ता स्वतन्त्र होता है—यह सिद्धान्त सदोष है क्या ? 'होने' रूप क्रिया के साथ-साथ 'करने' रूप क्रिया भी तो कोष में है ना (पृ. ३४८) ? जैन धर्म में पुरुषार्थ के सूत्र को पकड़कर यह माना जाता है कि 'पुरुष' यानी आत्मा—परमात्मा है तथा 'अर्थ' यानी प्राप्तव्य—प्रयोजन है। आत्मा को छोड़कर सब पदार्थों को विस्मृत करना ही सही पुरुषार्थ है (पृ. ३४९)।

बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रहों से नाता तोड़कर, नग्न बनकर वैराग्यभावों के साथ साधना करके संसार-बन्धन से मुक्ति पाई जा सकती है। जैन धर्म की एक शाखा यह मानती है कि जब तक जीव को नग्न होते हुए भी शरीर की नग्नता का भान बना रहता है, इस प्रकार के भान के रहने तक पूर्ण वैराग्य/अध्यात्म की स्थिति नहीं होती। मोक्ष की प्राप्ति तभी सम्भव है जब मनुष्य संसार की हर वस्तु को त्याग कर समस्त बन्धनों एवं मन में एकत्रित सांसारिक विषय-वासनाओं के भोग के संस्कारों से छुटकारा पा ले, वही 'निर्ग्रन्थ' यानी कि ग्रन्थिहीन कहलाएगा। निर्ग्रन्थपन्थी किसी भी जीव की हिंसा नहीं करते। रसना रस्सी से कहती है कि यदि स्वामी रस्सी की गाँठ नहीं खोलते तो गाँठ गिर्री पर आकर झटका खाएगी और बालटी का पानी छलककर कूप में जा गिरेगा। इस कारण से कूप में विचरण करने वाले जीवों को चोट तो लगेगी ही, साथ ही उनकी अकाल मृत्यु भी हो सकती है :

"निर्ग्रन्थ-दशा में ही/अहिंसा पलती है,
पल-पल पनपती,/'''बल पाती है।" (पृ. ६४)

जैन धर्म अनीश्वरवादी है यानी ईश्वर संसार का स्रष्टा है, इस तथ्य को अस्वीकृत करता है। वह इस विचार पर आग्रह करता है कि आत्माएँ संख्या में अनन्त हैं। जीव का ब्रह्म में लीन होना मोक्ष नहीं है, बल्कि मोक्ष वह अवस्था है जिसमें आत्मा स्वयं पूर्णता प्राप्त कर लेता है। माटी का मछली को भव्यात्मा कहकर सम्बोधन करना इसी विचार का प्रतिपादन है। कूप में 'दयाविसुद्धो धम्मो' की ध्वनि से प्रतिध्वनि का प्रस्फुटित होना आत्मा का प्रकाशमय और आनन्दमय होना है।

जैन धर्म कर्मवादी है। इसका मूल ध्येय मनुष्यों/जीवों को कर्मों से परिष्कृत करना एवं उन्नत बनाना है, जिसे हम कुम्भ बनने की प्रक्रिया में सम्पूर्ण महाकाव्य में देखते हैं। इसके साथ-साथ जैन गृहस्थ को पंच व्रतों (अणुव्रतों) का प्रण लेना पड़ता है—अहिंसा (पृ. ३६९-३७०), सत्य (पृ. ३७१), अस्तेय (पृ. ३७८), ब्रह्मचर्य (पृ. ३८४) और अपरिग्रह (पृ. ३८५)। अपरिग्रह के द्वारा गृहस्थ को यह प्रण लेना पड़ता है कि वह अपनी आवश्यकता से अधिक संपत्ति अपने पास नहीं रखेगा, उसे दान में देगा (पृ.३८७,४६७)। मत्कुण के कथन के माध्यम से परोक्ष रूप से इसी तथ्य पर प्रकाश डाला गया है :

"इनके उदार हाथों में/पक्षापात के लक्षण दिखने लगते हैं,...
जो कुछ दिया जाता/या देना पड़ता/वह दुर्भावना के साथ ही।" (पृ. ३८७)

कभी-कभी मनुष्य जब एकान्त, विपरीत, वैनयिक, संशय एवं अज्ञान रूप मिथ्यात्व के वशीभूत हो स्खलन की स्थिति को प्राप्त होता है तो बोधि की चिड़िया फुर्र हो जाती है (पृ. १२)। इसमें कर्म चेतना की ओर जीवन का ध्यान खींचा गया है : *"आयास से डरना नहीं, आलस्य करना नहीं" (पृ. ११)* के कथन द्वारा परिणमनशीलता की

अनिवार्यता का रहस्योद्घाटन किया गया है। तीर्थंकरत्व अथवा अर्हन्तावस्था प्राप्त करने के उपरान्त संघ-स्थापना एवं धर्म-चक्र प्रवर्तन की समस्त प्रक्रियाएँ लोकहित के लिए होती हैं। अर्हन्त 'सकल' ब्रह्म हैं यानी जिन्होंने चार घातिया कर्मों का नाश करके परमात्म पद प्राप्त कर लिया है, किन्तु शरीर एवं कर्मों के क्षय होने तक उन्हें इस संसार में रुकना है (पृ. ३४६)। अर्हन्त का परम औदारिक शरीर होता है। वे सशरीरी कहलाते हैं। 'निष्कल' एवं 'सकल' यानी अशरीरी और सशरीरी (द्रव्य-भाव एवं नोकर्म रहित/सहित) के अतिरिक्त इनमें (सिद्ध एवं अर्हन्त) और कोई भेद नहीं है।

काव्य जगत् में भाषा की सशक्त भूमिका होती है। 'मूकमाटी' की सर्जनात्मक भाषा हमें कवि के भाषायी ज्ञान से अवगत कराती है। यह तथाकथित तथ्य सर्वविदित है कि शब्दों की परिसमाप्ति पर भी सशक्त कविता हावी रहती है किन्तु इसके विपरीत शब्दों की गतिशीलता बनी रहने पर भी अशक्त कविता हावी नहीं होती। अतः निष्कर्ष यह है कि मात्र शब्दार्थ ही नहीं अपितु संवेदनशीलता भी अनिवार्य तत्त्व है। 'मूकमाटी' में प्रयुक्त भाषा में संवेदनात्मकता है। आचार्यश्री ने भाषा को नवीन अर्थवत्ता प्रदान की है। काव्य में भाषा एवं भावानुभूति दोनों का सामंजस्य ही नहीं अपितु आध्यात्मिकता के निर्वाह में भी पूर्णरूपेण प्रभावान्विति हुई है। 'मूकमाटी' काव्य की आत्मा की यदि गवेषणा करनी है तो इसकी संरचना का मूलाधार शब्द विन्यास, शब्दार्थ विधान एवं भाषा विज्ञान के विधान पर ध्यान एकत्रित करना होगा। यही उसकी अन्तर्निहित अन्विति है। आचार्य विद्यासागर का शब्द विधान एवं अर्थ विधान उनकी निजी संरचना है। अतः यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि शब्द एवं अर्थ परस्पर अन्वित तथा संग्रथित हो साकार हो उठे हैं।

किसी भी रचना के शब्द कोरे नहीं होते हैं अपितु वे पद्य के अंग होते हैं, वाक्यांश होते हैं। वाक्य के शब्दों में भावों की तरलता, सरसता, स्पन्दन उन्हीं के कारण सम्भव होती है। भाषा कवि के भावों की वाहक होती है। रचना पठन-पाठन के उपरान्त जो उपलब्ध होता है, वह न तो रचना होती है और न ही रचनाकार। सत्यार्थ में वह रचना द्वारा सम्प्रेषित रचनाकार की रचनात्मक मानसिकता ही होती है, जो आचार्य की अनुभूति से अनुप्राणित है, और विशिष्ट बात तो यह है कि 'मूकमाटी' में कविता तथ्य की वाहक नहीं, सम्प्रेषक है।

इसमें अभिधेयार्थ एवं लक्ष्यार्थ अन्तर्मुख एवं बहिर्मुख है। अर्थसंकेतों में सन्तुलन एवं सामंजस्य से चमत्कार उत्पन्न हुआ है। ऐसी स्थिति में अनुभूति की अभिव्यक्ति का स्वरूप समृद्ध हुआ है;

"भूत की माँ भू है,/भविष्य की माँ भी भू...।" (पृ. ३९९)

आचार्यश्री की प्रवचनकर्त्ता प्रणाली की प्रतिक्रिया स्वरूप (संवाद), कथोपकथन पद्धति काव्य में परिलक्षित होती है। सम्पूर्ण काव्य मानवीकरण की पद्धति पर आधारित होने के कारण जड़ से जड़ का या जड़ से चेतन पदार्थ का वार्तालाप होता है, अतः इसमें संलाप शैली का प्रयोग किया गया है। जैसे फूली-फूली धरती कहती है कुम्भ से :

- *" 'पूत का लक्षण पालने में'/...सृजनशील जीवन का आदिम सर्ग हुआ।" (पृ. ४८२)*
- *"जो/अहं का उत्सर्ग किया/सो/सृजनशील जीवन का द्वितीय सर्ग हुआ।" (पृ. ४८२)*
- *"उत्साह साहस के साथ/जो/सहन उपसर्ग किया, सो/सृजनशील जीवन का/तृतीय सर्ग हुआ।" (पृ. ४८२-४८३)*
- *"बिन्दु-मात्र वर्ण-जीवन को/...जो/स्वाश्रित विसर्ग किया, सो/सृजनशील जीवन का/अन्तिम सर्ग हुआ।" (पृ. ४८३)*

प्रकृति चित्रण में ही 'मूकमाटी' महाकाव्य की धड़कती चेतना निहित है। यहाँ मैं इसका उल्लेख कतिपय शब्दों में करना चाहूँगी क्योंकि यह अपने-आप में शोध का विशद विषय है। प्रकृति का विविधोन्मुखी चित्रण हुआ है :

आलम्बन रूप : *"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,*
और···इधर···नीचे/निरी नीरवता छाई।" (पृ. १)

उद्दीपन रूप : *"अनगिन फूलों की/अनगिन मालायें*
तैरती-तैरती/तट तक···आ/समर्पित हो रही हैं।" (पृ. २०)

प्रतीकात्मक रूप : *"न निशाकर है, न निशा/न दिवाकर है, न दिवा*
अभी दिशायें भी अन्धी हैं।" (पृ. ३)

मानवीकरण : *"सरिता तट की माटी/अपना हृदय खोलती है*
माँ धरती के सम्मुख !" (पृ. ४)

नीति उपदेशक : *"वही धारा यदि/नीम की जड़ों में जा मिलती/कटुता में ढलती है।" (पृ. ८)*

प्रकृति का -: सुन्दर रूप *"स्थूल है/रूपवती रूप-राशि है वह/पर पकड़ में नहीं आती।*
छुवन से परे है वह/प्रभाकर को छोड़ कर/प्रभु के अनुरूप ही
सूक्ष्म स्पर्श से रीता/रूप हुआ है किसका ?/···धूप का।" (पृ. ७९)

प्रकृति का - : कुरूप रूप *"कभी कराल काला राहु/प्रभा-पुंज भानु को भी*
पूरा निगलता हुआ दिखा,/कभी-कभार भानु भी वह
अनल उगलता हुआ दिखा।" (पृ. १८२)

प्रकृति के आलम्बन रूप में नाम गणन प्रणाली :

"काक-कोकिल-कपोतों में/चील-चिड़िया-चातक-चित में
बाघ-भेड़-बाज-बकों में/सारंग-कुरंग-सिंह-अंग में
खग-खरगोशों-खरों-खलों में/ललित-ललाम-लजील-लताओं में।" (पृ.२४०)

प्रतीक रूप : *"धरती को शीतलता का लोभ दे/इसे लूटा है,/इसीलिए आज*
यह धरती धरा रह गई/न ही वसुंधरा रही न वसुधा !/और
वह जल रत्नाकर बना है—/बहा-बहा कर/धरती के वैभव को ले गया है।"
(पृ. १८९)

किसी भी काव्य की रचना युग जीवन के परिवेश से निरपेक्ष होकर सम्भव नहीं है। कवि को समाज से आधार ग्रहण करना ही पड़ता है। तात्कालिक राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, धार्मिक, शैक्षणिक परिस्थितियों के अनुसार कुछ अंश स्वीकार कर लिए जाते हैं। समाज और काव्य के इस अन्योन्याश्रित घनिष्ठता के कारण प्रत्येक कवि को अपने समय की नवीन उपज ही मानना चाहिए तथा माना जाता भी है। परम्परा और प्रयोग के परिप्रेक्ष्य में 'मूकमाटी' महाकाव्य में वर्तमान परिस्थितियों के तथा युग की बौद्धिकता के अनुरूप कथावस्तु का संयोजन किया गया है। कहीं घटित घटना है तो कहीं नीति, उपदेशों के माध्यम से आध्यात्मिकता का सम्प्रेषण हुआ है।

पौराणिक, ऐतिहासिक पात्रों की अपेक्षा युगानुकूल सामाजिक परिवेश के अनुरूप चरित्र का मनोवैज्ञानिक चित्रांकन किया गया है। समाज के निर्माण में नारी के महत्त्व का उल्लेख भी बड़ी खूबी से हुआ है। नारी को पूर्वापेक्षा

अधिक गौरव प्राप्त हुआ है।

'मूकमाटी' के महाकाव्यत्व की प्रासंगिकता को लेकर प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यह महाकाव्य है या खण्डकाव्य ? भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने रूपक का विवेचन करते हुए वस्तु, नेता और रस– इन तीन तत्त्वों की गिनती की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्ध काव्य के परीक्षण के लिए दो ही तत्त्वों का निरूपण किया है– इतिवृत्तात्मक और रसात्मक। यहाँ इन दोनों तत्त्वों का अर्थ क्रमशः वस्तु एवं रस योजना से ही है। अतः इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि प्रबन्ध का मुख्य तत्त्व वस्तु, नेता और रस मान्य है।

प्रबन्धकाव्य में एक गतिशील सुव्यवस्थित कथानक अनिवार्य है। कथावस्तु के दो प्रकार माने गए हैं– आधिकारिक और प्रासंगिक। आधिकारिक कथावस्तु प्रबन्ध काव्य के प्रधान पात्र की जीवन घटनाओं पर आधारित होती है। प्रासंगिक कथा में प्रधान पात्र के अतिरिक्त किसी अन्य पात्र का भी जीवन वृत्त संनिविष्ट रहता है। 'मूकमाटी' महाकाव्य की कथावस्तु प्रासंगिक कथा के अन्तर्गत इतिवृत्तात्मकता लिए हुए है। प्रासंगिक कथावस्तु में फल-सिद्धि नायक की अपेक्षा किसी अन्य को होती है। वह फल-सिद्धि नायक की अभीष्ट फलसिद्धि से भिन्न होती है किन्तु उसमें नायक का हितसाधन अवश्य होता है।

रस काव्य का पोषक तत्त्व रहा है, किन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध में नए रूप में रसों का परिपाक हुआ है। प्रायः प्रबन्ध काव्यों में शृंगार, वीर, करुण एवं शान्त रस में से एक प्रधान होता है तथा अन्य सहायक रूप में उपस्थित रहते हैं किन्तु 'मूकमाटी' में शान्त रस का ही परिपाक अथ से इति तक परिलक्षित होता है।

'मूकमाटी' में प्रतीकों यानी अप्रस्तुत विधान को नवीन जीवन के सन्दर्भों की व्याख्या हेतु उपयोग में लाया गया है। इस पद्धति की विशेषता यह होती है अनायास विचारों की मिलावट, शुष्कता एवं निरर्थक भावों को स्थान नहीं मिलता। यही मुख्य कारण है कि आचार्यश्री का स्व-प्रकाश एवं अन्तःदीप्ति काव्यबद्ध हुई है। इस प्रक्रिया में ब्रह्मानन्दानुभूति चाहे क्षणिक हो, पर होती अवश्य है, जो पाठक को वस्तु जगत् से विच्छिन्न कर ब्रह्मलोक से जोड़ देती है। 'मूकमाटी' में यह कई स्थानों पर सशक्त हो उठी है। 'मूकमाटी' काव्य प्रतीकों के चलते बिम्ब-प्रधान हो गया है जो स्थूल यथार्थ से सूक्ष्म ऊर्ध्व यथार्थ की संरचना करता है।

आलोच्य काव्य का शिल्प विधान एवं सौन्दर्य तत्त्व निरूपण आचार्य विद्यासागर की अप्रतिम सृजनात्मकता का परिचायक है। सम्पूर्ण कृति में रचनाधर्मिता के शैल्पिक प्रतिमान समृद्ध उदात्त गुणों से युक्त हैं। 'मूकमाटी' की भाषात्मक संरचना, बिम्ब योजना, प्रतीक विधान, उपमान योजना, शब्दालंकार एवं लयात्मकता आदि सभी शैल्पिक प्रतिमानों के विनियोजन में अद्वितीय रचना सामर्थ्य का दिग्दर्शन हुआ है। प्रकृति चित्रण की दृष्टि से आलोच्य प्रबन्ध में मानवीकरण एवं अन्य पद्धतियों के अतिरिक्त सचेतन स्वर पर प्रकृति की अदम्य शक्ति एवं नियन्ता के रूप में निरूपण उल्लेखनीय उपलब्धि ही मानी जाएगी। प्रबन्ध काव्य में नख-शिख वर्णन, षड्ऋतु तथा बारहमासा के स्थान पर जैन धर्म के आचार एवं योग साधनात्मक प्रक्रियाओं का उल्लेख करने की प्रवृत्ति सर्वथा श्लाघनीय है। युगद्रष्टा-युगस्रष्टा आचार्य विद्यासागर ने जीव के अस्तित्व, कैवल्य साधना, अनेकान्तवाद में गुम्फित विराट् के सौन्दर्य बोध को उजागर करने में विलक्षण, विचक्षण, कारयित्री प्रतिभा का प्रभूत परिचय दिया है। समष्टि रूप में 'मूकमाटी' काव्य का शैल्पिक एवं सौन्दर्य-बोधात्मक रूप आध्यात्मिकता के परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त सशक्त, समृद्ध एवं प्रभावोत्पादक बन पड़ा है।

□

'मूकमाटी' : जीवन का अनुचिन्तन

रज्जन त्रिवेदी

समग्र जीवन में मांगल्य की भावना ही सन्त को या काव्य को ऊपर उठाती है। जीवन की विकृति के परे सुकृति में जीने की दृष्टि हमारे यहाँ, भारतीय चिन्तन में सदा बनी रही है। विभिन्न मतों का यहाँ प्रवर्तन होता रहा विभिन्न माध्यमों से, लेकिन उसकी निष्पत्ति देखी जाय तो वह सुकृति का ही विधान जीवन के लिए आता रहा है। आचार्य विद्यासागरजी की इस रचना में इसी सुकृति की रचनात्मकता फलीभूत हो उठी है। उन्होंने माटी के प्रतीक को, जो कुछ नहीं है, किन्तु अपनी साधना और सद् विचार और सदाचरण से वह जो जीवन का एक एक घट निर्मित करता है, वह मंगल कलश ही होता है। माटी के शून्य से मंगल कलश की अवधारणा के बीच ही जीवन के उत्कर्ष और सम्बोधि की सम्भावना छिपी हुई है। आचार्यजी ने जहाँ एक ओर जैन दार्शनिक चिन्तन को इस काव्य कृति में प्रतीकात्मकता दी है, वहीं जीवन की सम्बोधि को, उसके हित वाले पहलू को भी उसी के साथ उजागर किया है। हित की सुरभि ही साहित्य का प्राण हुआ करती है। यह प्राणवत्ता ही किसी भी कुम्भकार के लिए जरूरी होती है। अगर वह उस सब का संवेद्य उभार न सका, प्रतिपादित न कर सका तो उसकी मांगल्य लोकाभिरुचि की भावना कुण्ठित हो जाएगी। आचार्यश्री ने इस लोकहित को उभारते हुए बड़े विश्वास से कहा है : *"सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/...सुख का समुदभव--सम्पादन हो/सही साहित्य वही है"* (पृ. १११)। वस्तुतः रचनाकार की दृष्टि में शुरू से ही लोक मांगल्य जुड़ा हुआ है, जो जैन दर्शन की उपलब्धियों को आगे चरितार्थ करता चला गया है। उन्होंने कहा है :

"शिल्पी के शिल्पक-साँचे में/साहित्य शब्द ढलता-सा !
हित से जो युक्त-समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है।" (पृ. ११०-१११)

इस कृति को खण्ड काव्य, प्रतीक काव्य या महाकाव्य की परिधि से हटाकर, विचार की गम्भीरता के महत् उद्देश्य से रचे गए महादृष्टि वाले काव्य के समकक्ष रखा जा सकता है। कदाचित् इसलिए कि महाकाव्य भी जीवन की गहराइयों और अनुभूतियों का कालजयी बोध लेकर आता है। इस कृति में यह बोध उसी सीमा में अपने अस्तित्व को रेखांकित करता चला गया है। जीवन की समग्रता का अनुबन्ध इस कृति में जहाँ एक ओर सम्पृक्त है, वहीं दूसरी ओर चिन्तन की गहराइयों को प्रतीकों के माध्यम से कहने का सार्थक प्रयत्न भी किया गया है। माटी, कुम्भ और जल की बात आते ही कबीर की गरिमा मन को संस्पर्श देने लगती है, जहाँ उन्होंने अद्वैतवादी चिन्तन की इतनी सहज व्याख्या उसमें कर दी :

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यहु तत कहो गियानी ॥"

इसी के साथ "माटी कहै कुम्हार से तू क्या रूँधै मोह" वाली पंक्तियों में कुम्भकार की झलक मिलने लगती है। और यहाँ :

" 'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य-/यहाँ पर जो
भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

शिल्पी का नाम जब कुम्भकार हुआ तो रचनाकार अपने शिल्प का प्रयोग कर विभिन्न उपादानों में उसके

अस्तित्व को धरते चला जाता है। और उसके निमित्त बनने, बनाने वाले अपने स्वरूप में प्रकट होने लगते हैं। सम्पूर्ण रचना चिन्तन और अध्यात्म का समन्वय बन कर सामने आ जाती है। दर्शन की अभिव्यक्ति में उपादान-निमित्त, ईश्वर कर्तृत्व, ईश्वरता, परमात्मा, श्रमण भाव, साधना तत्त्व आदि स्वरूप इसमें उद्घाटित होते चले गए हैं। जहाँ ये स्वरूप उद्घाटित हुए हैं, वहीं कुम्भकार ने विभिन्न पात्रों के बीच धरति माँ, कंकर, चेतना, मछली, कूप, बालटी, प्रकृति, जल, काँटा, फूल, लेखनी, समुद्र, सूर्य, राहु, इन्द्र, बबूल, सेठ, सेवक, मच्छर, मत्कुण, गज, महामत्स्य, आतंकवाद के माध्यम से उन्होंने अपने विचारों को प्रतिपादित किया है। क्षमा और अहंकार रहित जीवन ज्ञानी को और ध्यानी को बराबर प्रभावित करता चला जाता है। वह प्रकृति के बिन्दु रूप से विशाल प्रकृति के महत्त्व को चीन्हते चलता है, जिसके क्रम से वह पूर्ण परिचित है। तभी वह कहता है :

> *"सत्ता शाश्वत होती है, बेटा !/प्रति-सत्ता में होती हैं/अनगिन सम्भावनायें*
> *उत्थान-पतन की,/खसखस के दाने-सा/बहुत छोटा होता है*
> *बड़ का बीज वह !/समुचित क्षेत्र में उसका वपन हो*
> *समयोचित खाद, हवा, जल/उसे मिलें*
> *अंकुरित हो, कुछ ही दिनों में/विशाल काय धारण कर*
> *वट के रूप में अवतार लेता है,/यही इसकी महत्ता है।" (पृ. ७)*

प्रकृति की सत्ता के महत्त्व को, उसकी चिरन्तन महत्ता पर, वह विचारकर यह स्वीकार करता है कि वह शक्तिमान् पूरी तरह से भास्वर होता है। उसी के अस्तित्व से उसकी सम्पूर्णता का बोध होता है। माटी का अस्तित्व ही सृजन की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। माटी का अभाव कुम्भकार के लिए भी कठिनाई बन सकता है। माटी ही गढ़न का वह पदार्थ है, जीवन का वह स्वरूप है जहाँ रचनात्मकता का जन्म होता है। सृजनात्मकता का पर्याय माटी, वह भी मूक। यह मूकता अपार सहनशीलता का सन्दर्भ देती है, कुछ भी कठोर सहने की इयत्ता के बाद मौन बने रहना ही जीवन की ऊँचाइयों की ओर चाहे ज्ञानी बन कर हो, चाहे ध्यानी बनकर हो सम्भव हो जाता है। आचार्यजी ने अपनी संवेदना को सृजन की परिधि में रोपा है, जहाँ बिन्दु से विराट् का स्वरूप उभरने लगता है। कवि एक ओर जीवन की गहरी संवेदनाओं का वाहक है तो दूसरी ओर जैन धर्म की महत्ता के अनुरूप उसके दर्शन के प्रतिपाद्य का वह आकलन-कर्ता है। यह आकलन बौद्धिक दुरूहताओं में दिखाई नहीं पड़ता, वरन् वह सहज ही प्रतीकों की अभिव्यक्ति के माध्यम से कविता में उभरता चला जाता है। यहाँ कवि की जीवन और दर्शन की गहराइयों का संस्पर्श जिस ढंग से मुखरित हुआ है, वहाँ माटी उपादान बनकर अपनी महत्ता को अन्ततः प्रतिपादित करती चली जाती है।

मूक की अभिव्यक्ति में सम्पूर्ण काव्य अर्थ गर्भित हो उठा है। माटी का उपादान कुम्भकार के निकट अपने महत्त्व को प्रथम भाग में दर्शाने लगता है, उसका संसर्ग रचनात्मक दायित्व का परिबोध देने लगता है। जीवन में अहं किसी भी दर्शन में हितप्रद नहीं कहा गया है। वह जीवन के उत्कर्ष का अवरोधक है। तू ही अपने को समझता न रह, एक दिन-एक क्षण ऐसा आएगा कि तू मुझे मूक, दीन समझकर रौंदता है, मैं भी तुझे रौंद सकती हूँ– कबीर भी इसी सत्य का परिबोध दे गए हैं। द्वितीय भाग में इसी अहं के पर्यवसान के बाद समर्पित हो जाने वाली स्थितियों का अर्थगर्भित विवेचन है। तृतीय भाग समर्पण के सामने आगत विविध परीक्षाओं से जुड़ा हुआ है। और चौथे भाग में वर्गातीत अपवर्ग की मीमांसा ही इस महाकाव्य की व्याप्ति बन गया है। इन चारों खण्डों की प्रतीकात्मकता पुरुषार्थ चतुष्टय तथा चतुराश्रम व्यवस्था के ही वाहक होकर आए हैं। जीवन की विभिन्न स्थितियों के प्रतिबिम्ब प्रकृति में जहाँ उसे बिम्बित

होते मिलते हैं, वहीं अनुभूति की रसवत्ता अपने परिणाम में नैतिक मूल्यों के साथ निमित्त के दायित्वों का परिबोध भी कराने लगते हैं। कविता ऐसे स्थलों में प्राणवत्ता की साक्ष देने लगती है।

जीवन के आगे प्रकृति का विराट् स्वरूप अपनी गरिमा में कहीं न कहीं उसकी सत्ता को परिभाषित करने लगता है। सत्ता के स्वरूप को दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। कवि उसके सामने अपने को कहीं निरर्थक नहीं होने देता, अपनी सारवत्ता में वह उसकी पहचान में गा उठता है, आस्था के भास्वर स्वरों में :

"सत्ता शाश्वत होती है/सत्ता भास्वत होती है बेटा !
रहस्य में पड़ी इस गन्ध का/अनुपान करना होगा
आस्था की नासा से सर्वप्रथम।" (पृ. ७-८)

पदार्थ की-सी गरिमा को कवि शाश्वत मानता है। आस्था अथवा श्रद्धा के मिस वह सम्यक् दर्शन को सम्पृक्त करता हुआ उसके महत्त्व को प्रतिपादित करने लगता है। आस्था और संगति के सम्बन्ध में वह यह मानता है कि उसकी जैसी संगति होगी, वैसी मति होगी। जलधारा धूल से मिलकर दलदल में परिणत हो जाती है। आस्था के लिए अपने भीतर एक तैयारी, एक साधना आवश्यक होगी, तभी वह आत्मसात् हो सकेगी। आस्था ही सम्यक् पथ की ओर अग्रसर करती है :

"हाँ ! हाँ !!/यह बात सही है कि,/आस्था के बिना रास्ता नहीं
मूल के बिना चूल नहीं,/परन्तु/मूल में कभी/फूल खिले हैं ?/फलों का दल वह
दोलायित होता है/चूल पर ही आखिर!/हाँ ! हाँ !!···इसे/खेल नहीं समझना
यह सुदीर्घ-कालीन/परिश्रम का फल है, बेटा !" (पृ. १०-११)

कर्मों की स्थिति में कवि आत्मा की ममता और समता की परिणति को महत्त्वपूर्ण मानता है। कर्म का संश्लेषण और विश्लेषण आत्मा की गुणता पर आधारित है। कवि ने जीवन के तमाम परिवर्तनों की तह में इसी की समझ को स्वीकारा है। इसे जान जाने पर जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन आने लगते हैं। जो जीवन के महत्त्व को नए ढंग से उस चेतना के पास ले जाकर खड़ा कर देते हैं, जहाँ ज्ञान का संस्पर्श अभावों से मुक्ति दिलाता है।

प्रकृति की उदात्तता कवि के मन में एक सम्मोहन पैदा करती है। वहीं प्रकृति और पुरुष के सम्बन्धों की अवधारणा में वह उसका विश्लेषण भी करने लगता है। एक ओर वह प्रकृति की मनोरमता पर, सौन्दर्य पर मुग्ध दिखाई पड़ता है तो दूसरी ओर पुरुष के अस्तित्व को देखते हुए उसे चीन्हने की कोशिश करने लगता है। प्रकृति अपनी मनोरमता को ले कण-कण में अपने प्रभाव को बिखेरती होती है। कहीं सौन्दर्य है, कहीं शक्ति है। लेकिन वहाँ लेने को कुछ नहीं है, जो कुछ है वह अर्पण ही है। अर्पण करने वाली सत्ता साधारण नहीं हो पाती। पुरुष उसे जानकर भी उसकी अपनेपन की तत्परता को, बाँट देने की महिमा को नहीं समझ पाता है। दुर्बोध को साधना के द्वारा भी जाना जा सकता है। उसकी सत्ता को, उसके चेतन पक्ष से जाना जा सकता है। ध्यानी भी उसी चेतना का आह्वान करता है। कवि दुर्बोध को ही उपस्थित करते हुए कहता है :

"प्रकृति नहीं, पाप-पुंज पुरुष है,/प्रकृति की संस्कृति-परम्परा
पर से पराभूत नहीं हुई,/अपितु/अपनेपन में तत्परा है।" (पृ. १२४)

समाज के निकट माटी की महत्ता का संवेदन यह है कि वह प्रकृति का ही पर्याय है जहाँ वह सब कुछ बोलती-

बताती है, और कुछ भी बोलती-बताती नहीं, उसका मौन होना ही, पहचान के दरवाज़ों पर दस्तकें देने लगता है। वहाँ प्रकृति के सौन्दर्य के साथ, उसकी क्षमा और सहनशीलता को कवि बखूबी विश्लेषित करता चला गया है। दया और प्रेम उसके कण-कण में उपलब्ध है। किसी को भी दुखी देख द्रवित हो उठती है। गदहे की पीठ पर रखे जाने, उसकी पीठ पर खुरदुरापन खरोंचन की बात उसके निकट करुणा को झकझोर जाती है। गदहा सामाजिक हित में कल्याण भावना से जुड़ा होता है। वह पर-दुखकातर है, अतः हर किसी के दुख-दर्द को ढोता रहता है।

"गद का अर्थ है रोग/हा का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ
···बस,/और कुछ वांछा नहीं/गद-हा···गदहा···!" (पृ. ४०)

श्रमण के निकट इसी पर-दुखकातर की भावना का विन्यास हमेशा बना होता है। जिसे कवि ने बड़ी सहजता से, जीवन की व्यावहारिकता के बीच खोजा है, उपस्थित किया है। इस महाकाव्य में जीवन को समझने के लिए जिस सहजता को कुशलता के साथ उपस्थित किया गया है, उसमें कवि का लोक चिन्तन भी जुड़ा है, जो ऐसी अभिव्यक्तियों को एक सार्थकता देता है।

रसों की विवेचना में मनोवैज्ञानिक दृष्टि भी बनी हुई है। इसमें कवि रसों के माध्यम से द्वि-अर्थी स्वरूप रखता चला जाता है। जैसे करुण रस, वेदना से विगलित क्षण जहाँ जुड़े हैं वहीं वह श्रमण के निकट करुण जीवन का प्राण है। वैसे ही वात्सल्य शिशुमन की छटा से जहाँ जुड़ा है, वहीं वह किसी को भी शिशु क्रीड़ाओं के सामने स्नेह की प्रांजलता से आकण्ठ डुबो देता है।

'आँवाँ' वाले प्रसंग में जीवन को तपने के सन्दर्भों से जोड़ा गया है। कुम्भ जितना तपेगा, यम-नियमों से गुज़रेगा, उतना ही वह निखरेगा और उसकी गरिमा बढ़ेगी। सिंह और श्वान का चित्रण दो परस्पर विरोधी परिस्थितियों के बीच जाने की स्पृहा का संयोजन है। कछुआ और खरगोश का कुम्भ पर अंकित होना साधक और साधना को प्रकट करते हैं। कछुआ की धीमी गति निरन्तर गति का पर्याय बनती है, जो लक्ष्य पर पहुँचता है। खरगोश का तेज़ दौड़ कर रुक जाना, प्रमाद का सूचक है जो साधना में साधक के लिए हितप्रद नहीं है। तृतीय और चतुर्थ खण्ड सम्यक् चारित्र के अधिक निकट हैं, जो पुण्य क्रियाओं से विकसित होता चला जाता है। इसी के साथ कवि नारी की महिमा से अभिभूत भी है। वह उसे 'महिला' कहता है। वह जीवन मांगल्य का महोत्सव है। मही - पृथ्वी या जननी के प्रति आस्था देती है और पुरुष के लिए मार्गदर्शिका भी।

ज्ञान के अथाह सागर में बालटी ज्ञान बिन्दुओं को प्राप्त करने का माध्यम बन कर आती है, और मछली व्यक्ति की मिथ्या दृष्टि को, सीमित होने को व्यक्त करती है। 'सल्लेखना' की महिमा में वह काया और कषाय के कृष होने वाले स्वरूप को प्रकट करता चला जाता है। सेठ वाला पात्र प्राप्ति और अप्राप्ति के बीच यातना और विभिन्न स्थितियों के बीच से गुज़रते हुए, अन्त में परिबोध पाता है। पूरे महाकाव्य में सारे पात्र 'जैन दर्शन' की अभिव्यक्ति को सार्थक करते हैं। यहाँ कवि के शिल्प की प्रशंसा करनी होगी कि उसने अपनी कथा के बहाने 'जैन दर्शन' की तमाम खूबियों को प्रतीकों के माध्यम से उभारते हुए जो कुछ कह गया है, वह चिन्तन युक्त ही निरा नहीं, वरन् रसयुक्त भी है। दार्शनिक गुत्थियाँ इस रसमयता के कारण कहीं मालूम नहीं पड़तीं। वह बड़े ही सहज ढंग से उस सब को बड़ी प्रगल्भता के साथ रख गया। इसी के साथ एक बात और, कवि हिन्दी भाषी नहीं है, वह कर्नाटकी है, लेकिन जिस प्रांजलता के साथ उसने अपनी काव्य की भाषा को प्रवाह दिया है, वह उसे कहीं अहिन्दी भाषी नहीं समझने देती। इसके लिए, इतने सरस, चिन्तनीय महाकाव्य के प्रणयन के लिए वे बधाई के पात्र हैं।

□

सन्त साहित्य की आध्यात्मिक साधना और 'मूकमाटी'

डॉ. कृष्णलाल शर्मा 'सूदन'

'मूकमाटी' कृति के खण्ड एक का शीर्षक है–'संकर नहीं : वर्ण-लाभ।' इस खण्ड में जीवन काल नैरन्तर्य दिवस-रात्रि के चरणों पर अनवरत चलता बताया गया है, जैसे 'जीवन सरिता सरपट सरक रही है।' यहाँ धरती माँ की लाड़ली बेटी माटी को तो साधनगत पद, पथ, पाथेय चाहिए। परन्तु धरती उसे साध्यगत शाश्वत मूल्यों या 'शाश्वत-भास्वत-सत्ता' से परिचित कराती है, क्योंकि उसको 'लघुता का भाव हुआ है, उसने गुरुता को पहिचान लिया है।' यह कथन द्रष्टव्य है :

"असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है, बेटा!" (पृ.९)

सत्य मार्ग पर चलने के लिए, *'आस्था के बिना रास्ता नहीं।'* इसलिए *'निरन्तर अभ्यास करना, आयास से डरना नहीं और आलस्य करना नहीं'* (पृ. १०-११)।

"फटा हुआ यह जीवन/जुड़ जाय बस, किसी तरह
शाश्वत-सत् से,/···सातत्य चित्त से।" (पृ. ८५)

सत्युग में जीवन-दृष्टि सत्य-सन्धान में लगी थी, जबकि कलियुग में 'सत्' को भी 'असत्' मानने वाली दृष्टि का सूत्रपात होता है। अतः 'असत्' के भ्रमजाल से बचने के लिए बोध के माध्यम से शोध की प्रवृत्ति को प्रश्रय दिया गया है, क्योंकि वस्तुतः बोध ही परिपक्व होकर शोध कहलाता है। मनोनिग्रह पर बल देते हुए, मनोज को महादेव के आयुध शूल रूप स्मरण कराया गया है।

रस्सी का अविभाज्य जीवन उसमें पड़ी गाँठ के कारण विभाजित हो सकता है दो भागों में (पृ. ६२)। द्वन्द्वात्मकता की इन ग्रन्थियों को 'हिंसा की सम्पादिका' कहा गया है (पृ. ६४)।

"एक की दृष्टि/व्यष्टि की ओर/भाग रही है,/एक की दृष्टि
समष्टि की ओर/जाग रही है,/...एक का जीवन/मृतक-सा लगता है
कान्ति-मुक्त शव है,/एक का जीवन/अमृत-सा लगता है
कान्ति-युक्त शिव है।/शव में आग लगाना होगा,/और
शिव में राग जगाना होगा।" (पृ. ८४)

यहाँ समाधि को जीवन का चरम साध्य माना गया है। जहाँ सन्तुलनों और निर्द्वन्द्वों का बोध होता है वहाँ गुणात्मक विकास होता है।

"उपाधि की नहीं, माँ!/इसे समधी - समाधि मिले, बस!" (पृ. ८६)

प्रस्तुत कृति के दूसरे खण्ड का शीर्षक है–'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं।' लेखनी कहती है :

"बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो
शोध कहलाता है।/...फूल से नहीं, फल से/तृप्ति का अनुभव होता है।"
(पृ. १०७)

शिल्पी तो चेतन-पुरुष के चैतन्य का पक्षधर है, परन्तु जड़ प्रकृति की विकृति एवं संस्कृति परम्पराओं के प्रति भी निष्ठावान् है। पुरुष इसे परमार्थ का रूप निर्धारण करते हुए, ज्ञान में पदार्थों की झलक मानता है (पृ.१२४)। पुरुषार्थ का आधार गुणवत्ता को माना गया है। अतः 'सत्' की पहिचान- जो रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श से स्पन्दित एवं स्नात (पृ. १८६) है, चेतन पुरुष का जीवन लक्ष्य होती है (पृ. १२८)।

सम्पूर्ण प्राकृतिक व्यापार नियमित रूप से पुण्य का पालन एवं पाप का प्रक्षालन करते हैं। यद्यपि अर्थ की आँखें परमार्थ को नहीं देख पातीं, केवल स्वार्थ को ही देख पाती हैं परन्तु पुरुष को प्रतिमान न करते हुए सहनशील होना, न्याय-पथ से विचलित न होना आदि हित-सम्पत्-सम्पादिका बुद्धि से उसमें 'स्व' और 'पर' की सोच को उचित ठहराया गया है। स्त्री जाति में यद्यपि पाप भीरुता एवं पलता पाप रेखांकित किया गया है, तथापि गृह में अवस्थित उसे कुपथ या सुपथ पर चलने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता। इसीलिए वह 'अबला' होते हुए भी सर्वमंगला बनी रह सकी है (पृ. २०१-२०२)।

प्रकृति में जब विकृति आती है और वह संस्कृति, परिष्कार तथा संस्क्रियाओं का मार्ग छोड़ देती है, तब पुरुष का चैतन्य पाप पुंज बन जाता है, परमार्थ के अर्थ बदल जाते हैं, पुरुष और पुरुषार्थों में दोषारोपण होने लगते हैं, अधिकार और कर्त्तव्य में खींचातानी होने लगती है एवं गुणी पर प्रहार कर गुणों की इतिश्री समझ ली जाती है। इस प्रकार चेतन पुरुष की दयनीय स्थिति के साथ-साथ माटी भी उलटी-पुलटी जाती है (पृ. १२६-१२७)। ऐसी अवस्था में चेतन की अस्मिता की पहिचान, समता और समुचित बल के बलिदान में अपेक्षित समझी गई है। तब युगवीर बनकर चैतन्य वीर रस का सेवन करता है, जिससे उद्दण्डता एवं अतिरेक का जीवन में पदार्पण होता है। जब महासत्ता का महाभयानक मुख खुलता है, तब भय और महाभय ताण्डव करते हैं। अभय और निर्भय का आह्वान होता है, परन्तु पुरुष और प्रकृति के संघर्ष में प्रकृति के स्वर का बोलबाला रहता है : *"सन्तान की अवनति में/निग्रह का हाथ उठता है माँ का/और/सन्तान की उन्नति में/अनुग्रह का माथ उठता है माँ का"* (पृ. १४८)। गुरु-शिष्य परम्पराओं में, महापुरुषों के सन्देश, द्वैत-अद्वैत में अन्तर प्रतिष्ठापन द्वारा समता और सन्तुलनों के फलक तलाशते हैं। सत्पात्र की गवेषणा होती है। श्रमण की अग्निशामक वृत्ति, विषय-विषयी में इन्द्रियजन्य वासनाओं के प्रशमन के लिए अग्रसर होती है।

मानवीय अवचेतन में अनादिकाल से सुप्त वासनाओं का निवास है। ये जब तक अविद्या, मिथ्या-दृष्टि या अभिनिवेश से रँगी रहती हैं, तब तक न तो सत्य का और न ही तथ्य का रूप-दर्शन हो सकता है। वस्तुतः संसार ही चित्त से संचित वासनाओं के विकल्पों से उद्भूत हुआ है। परन्तु बोध स्वसंवेद्य, अनेकान्त रहित है और निर्वाण निर्विशेष। *"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है"* (पृ. ३८)। 'दया और करुणा वृत्तियाँ निरवधि हैं, परन्तु वासना की जीवन-परिधि अचेतन-तन है (पृ. ३९)।'

इसी प्रकार विज्ञान प्रतीत्य-समुत्पन्न कहा गया है। विज्ञान के अन्तर्गत परिणाम, विपाक, मनन और विषय-विज्ञप्ति में निरूपण होता है जबकि विज्ञेय सांवृत्तिक तथा मिथ्या कहा गया है :

"सर्वं विज्ञेयं परिकल्पवतस्वभावत्वात् वस्तुनो न विद्यते
विज्ञानं पुनः प्रतीत्य समुत्पन्नत्वात् द्रव्यतः अस्ति इत्यभ्युपेयम्।"

अतः परिकल्पित स्वभाव ही बाह्य जगत् है, जिसमें सत्त्व या द्रव्य, गुण आदि का आरोप होता है। परतन्त्र स्वभाव तो क्षणिक एवं विज्ञानात्मक है।

फिर भी 'पुरुषार्थ के हाथ में है, रहस्य के घूँघट का उद्घाटन।' इस खण्ड में वस्तुतः बौद्धदर्शन एवं सांख्यदर्शन की अवधारणाओं की पुनरावृत्ति कर एकान्तवाद, अनेकान्तवाद एवं स्याद्वादी जैनदर्शन का उल्लेख किया है, क्योंकि कुम्भ पर 'ही' और 'भी' उत्कीर्ण होते हैं :

" 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।" (पृ.१७२)

सभी दर्शन समस्याओं के समाधान के लिए अनुसन्धान या शोध करते हैं, उपाय सुझाए जाते हैं, तप की आतप एवं संकल्प-विकल्पों के प्रयोग होते हैं, परन्तु सार्थकता के स्थान पर कोरी सफलता ही हाथ लगती है, क्योंकि *"अनन्त में सान्त खो चुका है"(पृ.१७७)*। 'भोग-भोगी, योग-योगी सभी चलते बनते हैं, परन्तु वासना का वास माया से प्रभावित मन में है' (पृ. १८०)। परन्तु 'गुणों से निर्मित व्यक्ति का स्वभाव वैसा का वैसा रहता है, और जो है, वह सब सत् सिद्ध होता है' (पृ. १८५)।

'मूकमाटी' के तीसरे खण्ड का शीर्षक है : 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन।' इसमें प्राकृतिक व्यापारों को सुकृत कहा गया है। तदनुरूप ही कारण-कार्य व्यापार चलता है, जो कि अनुकरणीय है। 'कुम्भ' रूप मांगलिक प्रतीक की अग्नि परीक्षा होती है। नवकार मन्त्र का उच्चारण होता है। यह मानवीय प्रतीक कुम्भ की संस्क्रिया है, जिससे वह सदाशय और सदाचार के ढाँचे में ढाला जाता है। उसके गुणात्मक विकास के लिए उसके 'स्व' और 'पर' के दोषों को जलाया जाता है। उसे योग-त्याग, कार्य-कारण भाव, आध्यात्मिक दर्शन, संकल्प-विकल्प एवं आत्म-साक्षात्कार में दीक्षित किया जाता है। उसे अवा की ताप-यातना के माध्यम से सूचित किया जाता है कि दुःख आत्मा का स्वभावगत धर्म नहीं है, प्रत्युत उसका चेतन–चित् चमत्कारी परिणामधर्मी रूप में मूल्यांकित होता है। उस पर स्वस्तिक, ओंकार आदि मांगलिक चिह्न अंकित किए जाते हैं। तब कहीं कुम्भ, सेठ की चर्या के लिए अनिवार्यता बन जाता है, जिससे उसे पात्र-दान का लाभ मिल सकता है। मांगलिक कुम्भ के चयन में सेठ का एक गुण जिसे 'विवेक' कहा गया है, उभरता है और उसका पुण्य परिपाक होता है, तन-मन-वचन शुद्ध होते हैं, नवधा भक्ति का प्रतिष्ठापन एवं गुरु-पद में अनुराग होता है और इन्द्रियों की विषयी-विषय की वासना का प्रशमन होता है, जिसे श्रमण की 'अग्निशामक वृत्ति' का नाम दिया गया है। इस पाप-पुण्य के 'विवेक' की अवस्था को मानवीय प्रौढ़ अवस्था का प्रतिमान माना गया है, जहाँ वह भेद की ओर से 'अभेद' की ओर अभिगमन करता है।

खण्ड चार का शीर्षक है : 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।' इस खण्ड को इतना विस्तार देने की आवश्यकता नहीं थी (पृ.२६९ से ४८८) क्योंकि इसमें पिष्ट-पेषण ही किया गया है। पुरुष और प्रकृति में क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ होती हैं। प्रकृति में वासना का अभाव ही विकृत-वेषी पुरुष को आवेश से छुड़ाकर स्ववश में करता है (पृ. ३९३)। पुरुष यदि पाप-पुण्य का खेल खेलता है तो प्रकृति के खिलौने से। *"प्रकृति का प्रेम पाये बिना/पुरुष का पुरुषार्थ फलता नहीं" (पृ. ३९५)*। यही सूत्र सेठ के रोग का निदान बनता है– *"माटी, पानी और हवा/सौ रोगों की एक दवा"(पृ.३९९)*। फिर भी *"सिद्धान्त अपना नहीं हो सकता/सिद्धान्त को अपना सकते हम" (पृ. ४१५)*।

मूकमाटी से निर्मित मांगलिक-कलश की प्रतिष्ठा को अपनी अवहेलना मानकर 'स्वर्ण कलश' आतंकवाद को आमन्त्रित एवं प्रत्यारोपित करता है, क्योंकि अतिपोषण और अतिशोषण का यही परिणाम होता है। इससे अन्य असन्तुष्ट दलों का निर्माण होता है, परन्तु सहयोग, समर्थन की स्वीकृति नहीं मिलती। आतंकवाद का सामाजिक दिग्गजों से सामना होता है। प्रशासक उद्दण्डता दूर करने के लिए दण्ड-संहिताओं का विधान करते हैं। परन्तु लेखनी क्रूर अपराधी को भी क्रूरता से दण्डित करने को अन्याय एवं अपराध मानती है (पृ. ४३१)। आतंकवादी का बल शनैः-शनैः स्वयं क्षीण होता है, संहार का स्थान संघर्ष ले लेता है, जिससे उत्कर्ष होता है। आतंकवाद अपनी निन्दा की नियति को

निहारता है, क्योंकि भोग-उपभोग फलानुभूतिपरक होते हैं। इसमें काल तथा क्षेत्रीय अनुकूलता अपेक्षणीय होती है। क्रान्ति का आह्वान होता है। जिजीविषा बलवती सिद्ध होती है। इस प्रकार अन्त में मांगलिक कुम्भ जीवन-सरिता में तैरता है, और असत्य सत्य के समक्ष आत्मसमर्पण की सोचता है। आतंकवाद का अन्त होता है और अनन्तवाद का श्रीगणेश होता है। आतंकवाद को गुरु-प्रसाद मिलता है। वह श्रमण-साधना को अंगीकार करता है। यूँ भेदभाव का अन्त होता है और वेदभाव जयवन्त होता है।

'मूकमाटी' शब्द-प्रतीकों की सरणि से जुड़ी हुई कृति है। प्रतीक दिक्-काल के सन्दर्भ में अपनी अर्थच्छाया की झिलमिलाती तरलता के कारण न तो लौकिक परिस्थितियों की पकड़ में आते हैं, न ही विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों में विकसित लोकमानसिकता की परिधि को संस्पर्श करने में सक्षम होते हैं। सक्षम प्रतीक प्रणाली प्रसुप्त चैतन्य को, जड़ता मुक्त कर उद्बोधन-क्रिया में तो सहायक सिद्ध हो सकती है, परन्तु प्रतीकों की अर्थारोपण की प्रक्रिया दार्शनिक एवं चिन्तनपरक होने से, भावात्मक स्तर पर मानवीय सम्बन्धों से असम्पृक्त रहती है। प्रतीकारोपण कल्पनामूलक होता है तथा लक्षण, हेतुओं, इष्ट भावार्थों पर आश्रित होने से व्यावहारिक सत्य की चूलें उसका आधारभूत अवलम्ब नहीं बन पातीं। फिर भाव-बाधा के कारण प्रतीक प्रणाली दोषपूर्ण सिद्ध होती है। प्रतीक मुख्य रूप से पारमार्थिक सत्य एवं सामाजिक मान्यताओं को रेखांकित करते हैं। और पारमार्थिक सत्य की प्रतीति आध्यात्मिक साधनाओं के सोपानों एवं वलयों की रहस्यात्मकता को आत्मसात् करती चलती है। जनसाधारण की न तो इतने गहन अर्थ तक रसाई होती है और न ही पारमार्थिक सत्य उनके बुद्धिगम्य हो पाता है, जिससे सम्प्रेषण-प्रक्रिया जटिलतर होती चलती है। सम्प्रेषणीयता में साधारणीकरण के माध्यम से 'साधारण' के स्तर तक आए बिना कृति लोक-चेतना को आन्दोलित नहीं कर पाती।

निस्सन्देह, 'मूकमाटी' कृति की तुलना सन्त-साहित्य की आध्यात्मिक साधना से की जानी चाहिए। मध्ययुगीन सन्त-साहित्य, जनता की भाषा में जन-चेतना के उद्बोधन के लिए रचा गया है, जिसमें रहस्यात्मकता होते हुए भी साथ ही साथ वह लोक-बुद्धिगम्य भी बन पाया है। सम्प्रेषण के स्तर पर लोकभाषा के अतिरिक्त संवाद, राग-निबद्ध-संगीत व्यवस्था एवं प्रयोगात्मक तथा व्यावहारिक कीर्तन पद्धतियों के माध्यम से उनके लोक संचार में कोई बाधा नहीं आई। इसके अतिरिक्त साहित्यकार स्वयं इस संघर्षमय सामाजिक परिवेश के यथार्थ में बद्धमूल अपनी क्रियात्मक भूमिका निभा रहे थे और सामाजिक ग्रन्थियों के निदान का स्वयं सत्य-सन्धान करने वाले थे, स्वयं सामाजिक जीवन के अंगभूत प्रवाह के अटूट भाग भी थे। वे माटी के प्रतिनिधि एवं प्रवक्ता थे। वे तट पर बैठे तटस्थ की भाँति निरीह या मूक दर्शक नहीं थे। वे हड़ियाई नदी की उफानी लहरों को गिनते भर नहीं थे, वे जनजीवन के साथ प्रवृत्ति-मार्गी बनकर समस्याओं के संघर्ष में कार्यरत थे। वे संन्यस्त होकर अनेकान्तिक तर्कों, विविध प्रयोगों, विकल्पों में निरपेक्ष भाव से तल्लीन न रहकर मानवीय सम्बन्धों में बढ़ती दरारों को पाट रहे थे और 'साधारण' के स्तर पर मानवीय वेदना के प्रति संवेदनशील थे। उनकी अध्यात्म साधना 'स्वान्तः सुखाय' न होकर परोपकारी थी। वह वायवीय न होकर साहचर्य की व्यावहारिकता पर टिकी थी। इस सन्दर्भ में 'मूकमाटी' कृति प्रायोजित-सी (Projection) प्रतीत होती है। माटी से बने मांगलिक कुम्भ के शुभत्व और स्वर्ण कलश आदि का भले ही कोई प्रतीकात्मक परोक्ष प्रभाव रहे परन्तु कृति में क्या माटी की मुखरता, उसकी बरबस विवशता बन कर नहीं रह गई ? जबकि सन्त आदि भक्ति साहित्य में प्रतीकों के स्थान पर रूपकों, रूपक कथा रूढ़ियों और दृष्टान्तों के प्रयोग से उसने आप्त-वाणी का धरातल प्राप्त कर लिया है।

'मूकमाटी' में कथा-सूत्र न केवल विशृंखल है, प्रत्युत कथासूत्र का लगभग अभाव-सा है। न ही विषयवस्तु ही इतनी गुम्फित है कि किसी ठोस परिणाम को रेखांकित कर सके। धार्मिक अनुष्ठान का परिदृश्य, धार्मिक साधनाएँ या धार्मिक क्रियाएँ आध्यात्मिक सीमाओं के गुह्य विषयों का प्रतिपादन करती हैं। परन्तु यह जीवन की सामान्य क्रियाओं

में रचा-बसा सिद्धान्त न होकर एक निरपेक्ष दृष्टिकोण मात्र रह जाता है। ऐसा लगता कि बिखरी रचनाओं को सायास एकत्र करके रख दिया गया हो और जिसका सूत्र तनाव की हड़बड़ी में टूट गया हो।

'मूकमाटी' कृति में भावात्मक, रागात्मक या कल्पनात्मक तत्त्वों का अभाव खटकता है। जीवन्त पात्रों के स्थान पर प्रतीकात्मक जड़ पात्रों का सृजन, आदर्श एवं वैचारिक ऊहापोह, कुम्भ-कुम्भकार, कारण-कार्य, निमित्त-उपादान तथा घट-पट की उबका देने वाली दार्शनिक शब्दावली, जनसाधारण की अभिरुचियों को भले ही परिष्कृत करे, परन्तु उन्हें रुचिकर क्यों कर होगी ? व्यक्ति की मानसिकता पर दैनिक जीवन की घटनाओं के घात-प्रतिघात उसके चैतन्य को, अनुभूतियों को सँवारते, उद्‌बुद्ध एवं समृद्ध करते हैं, तब देश और काल ठोस यथार्थ का रूप धारण कर लेते हैं, जिसमें मानवीय क्रीड़ा सम्भव होती है।

शाब्दिक चमत्कार के लिए प्रयुक्त शब्द-व्युत्पत्तियों के प्रयोग व्याकरण सम्मत नहीं कहे जा सकते, न ही इससे अर्थ चमत्कार को प्रश्रय मिलता है। बात तो रमणीय अर्थ की है, जिसे दार्शनिक कोटि के शब्द-प्रतीक वहन नहीं कर पाते, क्योंकि उनके मूलस्रोत उन शब्दकोटियों में हैं, जो पारिभाषिक या अवधारणात्मक हैं। धर्म के क्षेत्र से आध्यात्मिक-शब्द-कोटियों का चयन पारमार्थिक सत्य की तलाश करता है, जिससे मानवीय भाव-द्वन्द्वों में उद्वेलन न होकर पाठक भाव-प्रशमन की ओर उन्मुख होता है। यदि कहीं उद्वेलन होता भी है तो वह मानवीय सन्दर्भ में न होकर प्रतीकात्मक रूप में, प्राकृतिक-क्रिया-व्यापार में होता है जो प्रकृति में विक्षोभ, सागर में उद्वेलन, मेघों के वज्र-प्रहार तथा कुम्भ के अवे में पकने-तपने तक सीमित है। इस प्रकार 'माटी' मूक हो जाती है और प्राकृतिक-क्रिया-व्यापार मुखर हो उठते हैं। नायिका का पद-भार प्रकृति ग्रहण कर लेती है और माटी घुल-पिघल कर, तप-पक कर मूक हो जाती है।

वस्तुतः मानव जीवन, माटी में से निःसृत मानव देह का कर्मक्षेत्र है। मानव का कर्म सौन्दर्य ही उसका वैशिष्ट्य है, जो वस्तुगत रूपान्तरणों में प्रतिफलित होता है। ललित कलाएँ इन रूपान्तरणों, आकलनों को सौन्दर्य से मण्डित करती हैं। मानवीय कर्मगत वैचित्र्य और भावगत सौन्दर्य के दर्पण में उसकी आत्मीयता आत्म-विस्तार, औदात्य बिम्बित होते हैं। व्यक्ति जब भोगप्रधान समाज की संरचना करता है तो वह अपने 'सामान्य' की ओर बढ़ता है। जब वह त्याग का मार्ग अपनाता है, तब वह अपने 'वैशिष्ट्य' से जुड़ता है। 'मूकमाटी' कृति में प्राकृतिक व्यापार की इतनी प्रधानता है कि मानवीय जीवन के आरोह-क्रम, अवरोह-क्रम दब से गए हैं। आरोह-क्रम में प्रकृति की स्वाभाविक विवर्तनमयी नियामिका की भूमिका को कैसे अनदेखा किया जा सकता था, जीव-स्पन्द में शक्ति के विकास-क्रम मूलक पक्ष को कभी नकारा नहीं जा सकता।

'मूकमाटी' कृति को संयोजित करने की भूमिका का सीधे निर्वहन 'लेखनी' यत्र-तत्र करती दिखाई देती है। लेखनी का दीर्घतम सैद्धान्तिक नाक की थूथन जब विषय-वस्तु की छीछालेदर करने के लिए बीच में घुस पड़ती है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि कोई घुसपैठिया अवैध रूप से सीमातिक्रमण कर, अनधिकृत क्षेत्र में घुस आया हो। लेखनी या तो बीच-बीच में सूई के तारों से चिन्तन के दो टुकड़ों को सीती-पिरोती प्रतीत होती है, या चिप्पियाँ चिपका कर कुछ पर्दा डाल रही होती है, या फिर सीधे-सादे बिखराव को बुहार रही होती है, या कोई गुंजनक का पत्थर धम्म से कीचड़ में फेंक रही होती है। लेखनी का अड़ंगा विश्वासपात्र स्पीड ब्रेकर-सा हर परिदृश्य के साथ ऐसे चिपका होता है, जैसे स्वामिभक्त चौकीदार चौकसी से पहरा दे रहा हो। पाठक कृति की राह से गुज़रने के स्थान पर, लेखनी की सूई की नोंक से गुज़रता है। लेखनी की बैसाखियों का सहारा लेकर खड़ी कृति को लगता है, शायद उसे अपने आप पर भरोसा नहीं। जिस बात को कृति के सन्दर्भ नहीं स्पष्ट कर पाते, शब्द और वाक्य नहीं स्पष्ट कर पाते, भला वहाँ लेखनी अपना

स्पष्टीकरण देकर कहाँ सार्थक हो पाएगी ? इससे कृति, कृतिकार के भुजपाश से मुक्त होकर स्वायत्त और स्वतन्त्रता की साँसें नहीं ले पाती। उसका दम घुटता है। कृति को लगता है, कहीं शब्द-शिल्पी कृतिकार अब रूठा-की तब रूठा, और सैद्धान्तिक व्याख्यान के कषाघात का प्रहार अब हुआ या तब हुआ। लेखनी जज की भाँति निर्णय लेती है और फ़तवे देती है। वह चाहे-अनचाहे भाव बाध्य होकर हस्तक्षेप करती है।

पात्रों के अभाव में प्राकृतिक तत्त्वों को पात्रों की भूमिका निभानी पड़ती है, भावों को स्वयं अपने आपको प्रतिनिधि के रूप में भेजना पड़ता है। पक्ष भी, विपक्ष भी– सभी स्थितियाँ यन्त्रवत् लेखनी से संचालित हैं। लेखनी सभी ऊबड़-खाबड़ भूमियों, गर्तों को पाटती, यूँ सटपटाती भागती चलती है, जैसे वह किसी वैचारिक पिकनिक पर निकली हो, और कोई रोबोट (यन्त्र मानव) उन्हें दबोचने के लिए उनका पीछा कर रहा हो। परन्तु आतंकवाद के भयावह रक्तिम पंजे देखकर लेखनी की स्याही न तो लाल होती है, न पीली, प्रत्युत मौन रहकर सबको सर्वसहा होने का सन्देश देकर, सब पर सबका अपना-अपना दायित्व छोड़कर वैराग्य-पथ का अनुसरण करती है तथा मूकमाटी की भाँति मौन की चादर सिर से पाँव तक ओढ़ लेती है, आँखें बन्द कर लेती है। लेखनी ने कितने शब्दों की संरचना को तोड़ा, कितने क्षत-विक्षत अर्थों के बखिए उधेड़े, कितने वाक्यों के चौखटों को छीला-तराशा, उससे भला आपको या पाठकों को क्या लेना-देना। लेखनी ने मंगल कलश (कुम्भ) का शुभत्व ऐसे टाँग रखा है कृति के माथे पर, जैसे कोई नज़र बट्टू अर्धनिर्मित नए मकान के माथे पर झाँक रहा होता है और प्लास्टर के बीच में से ईंटें दाँत दिखा रही होती हैं।

विभिन्न प्रत्ययों, अवधारणाओं, आदर्शों, धरातलों, दर्शनों का जो घोल समकालीन बोध और मानसिकता के लेप के लिए इस कृति में प्रस्तुत किया गया है, वह घायल जीवन को सहलाने के स्थान पर आनुष्ठानिक धुएँ से उसे थोड़ा और ध्वान्त, थोड़ा और भ्रान्त करने के लिए दायित्व मुक्त, सायास प्रयास सिद्ध होता है, जो देखते ही बनता है। शोध-पद्धतियों में बोध पद्धतियों के मिश्रण और चूर्ण पिष्ट-पेषण की प्रक्रिया में इतनी बार पिसते हैं कि इनके अणु-परमाणु सत्-असत् की विवेक-बुद्धि को तिलांजलि देकर बुद्धि के उदर में अजीर्णता उत्पन्न करने के लिए सक्षम हैं। प्रारम्भिक तीन खण्डों में पाठक की मनोदशा यदि कुछ उत्साहवर्धक जिज्ञासा का दामन अपने हाथों से खिसकने से रोक पाती है तो चौथा खण्ड अपने अप्रासंगिक, निरर्थक विस्तार से मूर्च्छा या कोमा की स्थिति के लिए जिम्मेदारी से इनकार नहीं कर सकता। सचमुच माटी के मुख पर एक पट्टी का करारा मौन धर दिया गया है, उसे मूक एवं बधिया कर दिया गया है, एक बने बनाए चौखटे में उसे जड़ दिया गया है।

मानव की नितान्त निजी और सामूहिक मानसिकता एवं मनुष्य भेद की सामान्य आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशीलता की जब तक एक साथ अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, तब तक मनुष्य में 'सामान्य' पक्ष हावी रहता है, और जीवन का 'विशिष्ट' पक्ष दबा रहता है। मानव का गुणात्मक वैशिष्ट्य तो उसके कर्म सौन्दर्य में प्रतिफलित होता है। अपने कर्तृत्व के प्रति सजग कर्त्ता ही, सृष्टिकर्त्ता के कर्तृत्व की रेखाओं की गति, स्थिति और लय दे पाता है। अन्यथा, गुरु हो या महापुरुष वह जीव के वैशिष्ट्य को समझे बिना, उसे उसके किस स्वभाव, स्वरूप या वैशिष्ट्य का बोध कराएगा, तथा उसे अपने अनुग्रह का प्रकाशरूपी प्रसाद कैसे बाँट पाएगा ? वह शिष्य का अविद्याजनित कौन-सा 'आवरण-संवरण' खोलेगा, और मायाजनित किस शंका या भ्रम का कैसे निवारण करेगा ? निस्सन्देह मानव देह ब्रह्माण्ड की प्रतीक है, परन्तु मानव के विश्व रूप या सामान्य रूप के कलश का आधार किस युगबोध के चैतन्य-विशिष्ट बिन्दु से प्रस्फुटित होगा, तथा सीमा से असीम की विश्वातिक्रामी यात्रा कर पाएगा ? भोग और ऐश्वर्य थोड़ी देर के लिए मानवीय चेतना को धुनियाते ज़रूर हैं, परन्तु उसकी विशिष्टता जो उसके अवचेतन में प्रसुप्त होती है, उसे उसकी अपूर्णता का भान कराती है और वह अवस्था विशेष से पूर्णत्व के पथ पर अग्रसर होने के लिए व्याकुल हो उठता है। जड़ता अविद्या की हो या मायिक सत्ता की, दोनों उसके तरल चैतन्य को सीमित करते हैं। इनसे उन्मुक्त होने के

लिए जहाँ वह अपने मनोबल या बुद्धिबल का अवलम्ब लेता है, वहाँ उसे नैतिक बल का भी सम्पोषण चाहिए। इसके लिए स्वरूप ज्ञान का वैशिष्ट्य जड़-प्रतीक-कुम्भ के स्थान पर चेतन-प्रतीक की तरल प्रतीति के लिए बाधक सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त भेद के माध्यम से अभेद तक की यात्रा अधिक स्वाभाविक होती। यदि मानव की स्वायत्तता, स्वतन्त्रता और गौरव चेतना को माटी कलश, रजत कलश, स्वर्ण कलश आदि प्रतीकों के स्थान पर उसमें मानवीय धूप-छाँव की गंगा-जमनी रंगत दी जाती, तो उसकी गुणवत्ता को उसके अपनेपन या वैशिष्ट्य का बोध सम्भव था।

प्रस्तुत कृति में भेदात्मक स्थितियों के परिहार के लिए 'समरसता' या 'सामरस्य' के आदर्श वाक्य को उस सीमा तक नहीं अपनाया गया जिस तक अपनाना चाहिए था। क्योंकि पुरुष और प्रकृति अथवा शिव शक्ति के बीच एकत्व प्रतिपादन तब अखण्डता और अविभाज्य तत्त्व की अवधारणा के रूप में उभरता और महाशक्ति का रूप ग्रहण कर लेता और तत्त्व तथा तत्त्वातीत सत्ता का एकीकरण हो पाता। समरसता, सांख्य-दर्शन की परात्परता तथा वेदान्तिक मायावाद के औदात्य से भिन्न है। सामरस्य ही 'चित्त' और 'अचित्त' में एकत्व प्रस्तुत करता है, जिसे चेतन-अचेतन की समरसता भी कहा जा सकता है, जिससे क्रिया-प्रतिक्रिया की गति-शृंखला को निष्क्रिय किया जा सकता था। द्रष्टा के दृष्टिकोण हाथी को बैल और बैल को हाथी बनाने के लिए क्यों कृतसंकल्प होना चाहिए।

पुरुष और प्रकृति मूलतः अभेद हैं, परन्तु प्रतीक कल्पना में निम्नमुखी त्रिकोण की अवस्थिति स्वीकार की गई है, ऊर्ध्वमुखी त्रिकोण के संकल्प को नकारा गया है, जबकि सत्य-सन्धान में सर्वांगीण एवं समग्रता के दृष्टिकोण का ही प्रतिफलन होता है। अवयव-अवयवी सम्बन्ध या अंश-अंशी सम्बन्धों के फलक पर ही अखण्ड एवं अविभाज्य चेतना का उदय सम्भव हो सकता था। पारमार्थिक सत्ता ब्रह्माण्ड रूप दिखाई देती है, इसलिए सामान्य है, तथा आकारहीनता में अभेद की स्थिति है। परन्तु व्यावहारिक सत्ता के सन्दर्भ में वैशिष्ट्य के आकारात्मक भेद स्थिति को 'सामरस्य' के आदर्श को अपनाए बिना अखण्ड एवं अविभाज्य नहीं बनाया जा सकता। अतः व्यष्टि स्तर पर 'अविद्या' से सामना करना होगा, और समष्टि स्तर पर माया का। पिण्ड सिद्धि द्वारा सिद्ध देह एवं जीवन मुक्ति और समरसीकरण द्वारा परामुक्ति की ओर अभिगमन हो सकेगा। इसलिए समरसता एक क्षणिक स्थिति न होकर शाश्वत उपलब्धि हो सकती थी।

भारतीय दर्शन परम्परा में जहाँ ईश्वर के सृष्टिकर्ता अथवा विश्वसर्जक होने की अवधारणा प्रचलित है, जैसे कुम्भरूपी कार्य का कर्ता कुम्भकार है, वैसे ही कुम्भ के समान जगत् भी एक कार्य है और कुम्भकार के समान परम तत्त्व निमित्त कारण (Efficient Cause) के रूप में इसका कर्ता है। परन्तु अशरीरी होने से उसके कर्ता होने की सम्भावना नहीं, क्योंकि सभी सावयव पदार्थ कार्य होते हैं, इसलिए जगत् भी सावयव होने के कारण है। नैयायिक जगत् के सावयव कार्यत्व को स्वीकार नहीं करते। जैन दर्शन भी सृष्टि और विनाश को पदार्थों के गुणों एवं प्रकारों के कारण तो मानता है, परन्तु सत् का अभाव और असत् से सृष्टि की सम्भावना को स्वीकार नहीं करता।

यदि ईश्वर को जगत्सर्जक मान लिया जाए तो मानवीय कृति को भी ईश्वर की कृति मानना पड़ेगा, जिससे जगत् निर्माण के लिए अनेक ईश्वर मानने पड़ेंगे। यदि ईश्वर पुण्य-पाप की सहायता से जगत् निर्माण करता है तो वह स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं, फिर वह किसी को सुखी या दुःखी क्यों बनाता है ? ईश्वर शाश्वत है तो क्रिया रूप में वह सृष्टि करता है और यदि निष्क्रिय है तो सृष्टि कैसे कर सकता है ? यदि सृष्टि प्रलय या विकार है, तो ईश्वर कैसे अविकारी एवं कूटस्थ है ? उसका जगत् निर्माण का क्या कोई प्रयोजन है ?

इस प्रकार 'मूकमाटी' सम-सामयिक समस्याओं को तो क्या सुलझाएगी, प्रत्युत अनावश्यक विवादों, प्रचारात्मकता के ऐसे रुझान को पनपाएगी, जिसका निराकरण लेखक के लिए सम्भव नहीं हो पाएगा।

□

'मूकमाटी' : एक जीवन्त महाकाव्य

मिश्रीलाल जैन

'मूकमाटी' परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी की अमर कृति है। ज्ञान और चारित्र की अद्भुत संगम होने के कारण आचार्यश्री की कान्ति सम्पूर्ण भारत वर्ष में व्याप्त है। 'मूकमाटी' के सृजन काल में एवं कृति के सम्पूर्ण होने के पश्चात् इस अमर कृति के अनेक महत्त्वपूर्ण स्थल आचार्यश्री के मुख से सुनने का अतिदुर्लभ सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हुआ है। इस पवित्र अनुभूति के कारण कृति के कुछ अज्ञात प्रदेशों में प्रवेश करने का प्रयत्न करूँगा।

महाकाव्य की प्रचलित परम्पराएँ महाकाव्य लेखन के विकास क्रम, यात्रा क्रम में टूटती रही हैं। दिनकर का प्रबन्ध काव्य 'रश्मिरथी' प्रत्यक्ष प्रमाण है। उन्होंने नायक के रूप में उपेक्षित कर्ण को अपने प्रबन्ध काव्य के नायक रूप में चुना। 'मूकमाटी' भी महाकाव्य की शत-प्रतिशत परम्परा को छोड़ कर/तोड़ कर सृजित हुई है। माटी को महाकाव्य की नायिका चुन कर आचार्यश्री ने अगम कौशल का परिचय दिया है।

यह शाश्वत सत्य है कि माटी मूक होती है किन्तु इस महाकाव्य की माटी अपनी व्यथा-कथा इस प्रकार सुनाती है कि पढ़ कर व्यक्ति चकित और पुलकित हो जाता है। 'मूकमाटी' में माटी को मंगल घट बनने में जिस प्रकार की यात्रा करनी पड़ती है वह वास्तव में विकारी मन को निर्विकार होने का संकेत देती है जिसे प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। 'मूकमाटी' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ पढ़ते समय ऐसा लगता/प्रतीत होता है कि महाकवि प्रसाद की संस्कृत भाषा-शैली में ही इस महाकाव्य के सृजन का शुभागमन हो रहा है, यथा :

"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,
और···इधर···नीचे/निरी नीरवता छाई।" (पृ. १)

किन्तु इन पंक्तियों के पश्चात् ही काव्य की भाषा-शैली लयात्मकता को छोड़ कर अतुकान्त रूप गद्य की शैली में परिणत हो जाती है। यदि शुभारम्भ से ही भाषा-शैली में दर्शन यथावत् बना रहता है तो दर्शन का परिवेश पाठकों को अत्यन्त दुरूह हो जाता। सम्भवतः इसीलिए कवि ने भाषा के माध्यम से इतना अवश्य कर दिया कि वे दार्शनिक गहराई में पहुँच सकें और कृति के आनन्द से वंचित न रहें।

'मूकमाटी' महाकाव्य की यात्रा चार सर्गों में विभाजित है जिसमें पहले सर्ग का शीर्षक दिया गया है-'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'। इस सर्ग में मूकमाटी धरती माँ को अपनी व्यथा सुनाती है : *"सुख-मुक्ता हूँ,/दुःख-युक्ता हूँ।/...इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की/च्युति कब होगी ?"(पृ. ४-५)*। इतना सुनकर धरती माँ अपने वात्सल्य का प्रदर्शन करती है। और माटी का पथ-प्रदर्शन करती है : *"सत्ता शाश्वत होती है/सत्ता भास्वत होती है बेटा !/रहस्य में पड़ी इस गन्ध का/अनुपान करना होगा" (पृ. ७)*। प्रथम सर्ग में माटी शिल्पी के पास पहुँच जाती है, जहाँ से मंगल घट के निर्माण की यात्रा प्रारम्भ होती है। इस सर्ग में निम्नलिखित पंक्तियाँ सूक्तियों के रूप में शाश्वत सन्देश देती हैं : *"संघर्षमय जीवन का/उपसंहार/नियमरूप से हर्षमय होता है" (पृ. १४)* अथवा *"अति के बिना/इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं "(पृ.३३)*।

दूसरे सर्ग में वह मूकमाटी सुसंस्कृत होने से निर्माण की प्रक्रिया में प्रयुक्त हो जाती है। जीवन-निर्माण की क्रिया में संयमित होना, कष्टों को उठाने का अभ्यास माटी को घट रूप में धारण, परिवर्तित कर देता है। फिर भी जल धारण करने रूप पर्याय अभी प्राप्त नहीं हुई, अतः संयम की अग्नि में तपना पड़ता है। बिना तपे न स्वर्ण शुद्ध होता है और न ही घट में परिपक्वता आती है, क्योंकि वह किसी भी क्षण टूट सकता है। इस सर्ग में मिट्टी घट का रूप धारण कर लेती है किन्तु घट की आकृति प्राप्त कर लेना ही उसकी पूर्णता नहीं है। शिल्पी माटी की मनोभावना को इस प्रकार अंकित करता है कि चेतन की क्रियावती शक्ति, जो बिना चेतन वाली है, सक्रिय हो जाती है और चेतन की इस स्थिति

को अनुमति प्रेषित करती है। शिल्पी के अधरों पर स्मिति उभर आती है। धन की उपलब्धि के लिए विषय-कषायों का त्याग आवश्यक है। बिना पुण्य अर्जित किए आत्मा को सिद्ध शाश्वत स्वरूप की अनुभूति कराना असम्भव है।

तीसरे सर्ग में मिट्टी के घट के रूप में परिवर्तन की प्रक्रिया पुण्य-पाप दोनों से असम्बन्धित होती है। तृतीय खण्ड आचार्यश्री की दार्शनिक, आध्यात्मिक एवं सत्-ज्ञान की अनुभूति कराता है। *"अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,/अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है"(पृ. १९२)* ; अथवा *"यही दया-धर्म है/यही जिया कर्म है" (पृ. १९३)* ; अथवा *"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं/साधक की अन्तर-दृष्टि में/निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर/वेद से अवेद की ओर/बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए" (पृ. २६७)* इत्यादि पंक्तियाँ जीवन को नूतन प्रकाश देनेवाली अर्थच्छवियों से युक्त हैं। इस विशालकाय ग्रन्थ की समीक्षा सीमित पृष्ठों में करना असम्भव प्रतीत होता है। किसी कृति की विषयवस्तु की विविधता को अभिव्यक्ति देने/करने के लिए स्वयं एक नए प्रबन्ध काव्य की अनिवार्यता अथवा स्वतन्त्र शोध प्रबन्ध की अनिवार्यता को दृष्टिगोचर कराता है।

'मूकमाटी' में वर्णित माटी का शोधन, माटी का घट का आकार ग्रहण और अग्नि में तप कर जलधारण की योग्यता आदि का वर्णन बहुत सामान्य-सी बात है, जिसे एक कुम्भकार भी जानता है। फिर इस युग के इन महान् आचार्य ने इस बहुत सामान्य घटना को अपने महाकाव्य की विषय-वस्तु क्यों बनाया ? यथार्थ इसके बिल्कुल विपरीत है। वस्तुतः मिट्टी, शिल्पी तथा घट-निर्माण की प्रक्रिया में आए विभिन्न पात्रों और उनके प्रतीकार्थ को समझे बिना इस 'मूकमाटी' महाकाव्य की भावना-भूमि की सतह का स्पर्श करना ही अतिदुर्लभ है। वास्तव में यह कृति तो मानव मात्र को दार्शनिक तत्त्व चिन्तन की प्रक्रिया को समझने के लिए और आत्मसिद्धि को प्राप्त करने के लिए आचार्यश्री का लोक-कल्याणकारी मंगल आशीर्वाद है। माटी मूक है किन्तु वह देह का प्रतीक है। उसके भीतर आत्म-ज्ञानरूपी अमृत जल रखने के लिए तथा शुद्धता प्राप्त करने/बनाए रखने के लिए पुरुषार्थ का अवलम्ब लेना अनिवार्य होता है। घट निर्माण तथा आकृति ग्रहण करने में जितने भी पात्र उपकरण हैं, वे सभी निमित्तों के प्रतीक हैं। निर्माण की प्रक्रिया माटी में होती है किन्तु उसको मंगल घट रूप देना शिल्पी स्वयं मन में गढ़ लेता है। शिल्पी निर्माता होकर भी निर्माता नहीं है। माटी में घट रूप परिवर्तित होने की शक्ति विद्यमान रहने पर भी वह स्वयं घट का रूप ग्रहण करने में असमर्थ है।

'मूकमाटी' का प्रत्येक पृष्ठ जीवन्त महाकाव्य लिखने की प्रेरणा देता है, जिससे उसमें आत्मज्ञानरूपी जल निर्मल रूप से सुरक्षित रह सके। 'मूकमाटी' महाकाव्य का समापन ही निश्चयतः एक नए महाकाव्य की भूमिका छिपाए हुए है।

गीत और संगीत में थोड़ा अन्तर होता है। इनमें उत्तम कोटि का आनन्द उपलब्ध कराने की व्यवस्था होती है। अपने शैशव काल से ही सरगम ध्वनि यानी सा-रे-ग-म-प-ध-नि सुनते आए हैं। 'मूकमाटी' में आचार्यश्री ने 'सा-रे-ग-म-प-ध-नि' का भी उल्लेख किया है। इन सभी अक्षरों को पृथक्-पृथक् न रखकर, पास बुला लें। देखिए एक नया अर्थ, सारे गम यानी सारे गमों, यानी दुःखों से छुटकारा पाने का जो तरीका/रास्ता है, वही 'मूकमाटी' का दिव्य-सन्देश है। कुछ ऐसे शब्दों का विश्लेषण कर अर्थ प्रस्फुटित किया है जिसकी कभी हमने कल्पना भी नहीं की। यथा- 'गधा' शब्द को चुनें। गधा का सामान्य अर्थ गधा/मूर्ख अर्थ हम सब जानते ही हैं, मगर जो गधा हैं वे भी इतने गधा हो सकते हैं कि गधे का यह अर्थ नहीं समझें, यह बड़े आश्चर्य की बात है। आचार्यश्री ने गधा/गदहा अर्थ को एक नूतन अर्थवत्ता प्रदान की है– 'गद' यानी रोग और 'हा' यानी हरण करने वाला। गधे ने प्रभु से कामना की है कि प्रभु मुझे ऐसी शक्ति दो जिससे मैं सबके रोगों का हरण कर सकूँ। अगर हम में से प्रत्येक को गधे की कामना जैसी शक्ति प्राप्त हो और हमारे मनों में ऐसी भावना जाग सके कि हम दूसरे के रोगों का निवारण कर सकें, तो मैं समझता हूँ कि 'मूकमाटी' महाकाव्य का यह सबसे पुनीत और सबसे महत्त्वपूर्ण सन्देश हम सभी अपने जीवन में आचरित कर सकते हैं।

'मूकमाटी' में कवि की आत्मा का संगीत तो है, मगर पाण्डित्य का प्रदर्शन नहीं और न ही किसी अध्यापक का उपदेश ही आरोपित है। कहीं भी दर्शन इसमें आरोपित नहीं है, क्योंकि स्वयं आचार्यश्री ने एक जगह लिखा है कि प्रसंग और परिवेश में दर्शन स्वयं उद्घाटित हो जाता है। इसमें कुछ स्थल तो ऐसे भी हैं जहाँ मन होता है कि न्यौछावर हो जाए।

तृतीय खण्ड में एक उदाहरण देखकर बोध और शोध के अन्तर को स्पष्ट कर दिया है। पर्वत की कन्दराओं में बैठकर ज्ञानार्जन करने वाला भी अपने ज्ञान के आश्रय से पर्वत की ऊँची चोटी को देख तो सकता है किन्तु चले बिना उस चोटी के शिखर को प्राप्त नहीं कर सकता। ज्ञानार्जन के पश्चात् ज्ञान को आचरण में ढाले बिना धर्म नहीं होता और न ही मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकरण में आचार्यश्री ने बोध और शोध के अन्तर को बहुत ही उत्तम एवं सहज ढंग से काव्य में स्पष्ट कर दिया है।

विद्यार्थीजिन अन्त्याक्षरी खेलते हैं। कभी-कभी शब्दों को उलट-पलट भी करते हैं। तब कभी वह शब्दों की उलट-पलट मनभावन रूप में बदल जाती है और एक नया अर्थ उद्भूत हो जाता है। 'मूकमाटी' में भी ऐसे कुछ शब्द हैं जिन्हें हम नवीन अर्थों में पाते हैं। यथा—'राही' शब्द पर ध्यान दें। 'राही' वही है जो सही राह पर चले तो 'हीरा' बन जाता है। यह शब्द व्युत्क्रम कर नवीन अर्थ की अभिव्यंजना भाव सौन्दर्य की अभिवृद्धि करा देता है।

वर्षों से हम पढ़ते/सुनते चले आ रहे हैं वह धर्म वाक्य, जिसे 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' के नाम से जाना जाता है। आचार्यश्री ने अनुभवगम्य एवं इतनी सरल/सहज भाषा में इस सूत्र को व्याख्यायित कर दिया है जिसे पढ़/सुनकर हृदय एवं मन दोनों ही तरोताज़ा/प्रफुल्लित हो जाते हैं। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इसकी व्याख्या हम पढ़ते आए हैं कि 'उत्पाद' होता है, 'व्यय' होता है मगर ये जो 'ध्रुव' अर्थात् ध्रौव्यपना है वह शाश्वत है, सनातन है, चिरन्तन है, निरन्तर है, अजर-अमर है। ऐसी व्याख्या वर्षों से पढ़ने के बावजूद भी सरल एवं बोधगम्य शब्दों एवं भावों के साथ आज तक पढ़ने/सुनने को नहीं मिली। अँग्रेजी के महान् कवि 'शेक्सपियर' के सम्बन्ध में एक विशिष्ट बात कही जाती है कि 'शेक्सपियर' ने जैसा लिखा, उतना श्रेष्ठ उसके पहले नहीं लिखा गया। ठीक वैसी ही स्थिति आचार्य श्री विद्यासागरजी के महान् महाकाव्य 'मूकमाटी' के इस प्रकरण में हम देख रहे हैं : 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इसे आचार्यश्री ने अत्यन्त सरल भाषा में हमारे मानस पटल पर बैठा दिया है। इसे सामान्य भाषा में कह सकते हैं : *''आना जाना लगा हुआ है/आना यानी जनन—उत्पाद है/जाना यानी मरण—व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर—ध्रौव्य है/और/यानी चिर—सत्/यही सत्य है/यही तथ्य···!''* (पृ. १८५)। बड़े-बड़े पाण्डित्य पूर्ण ग्रन्थों के अर्थों को इतनी सरल ढंग एवं सहज भाषा में कह दिया जाना तथा माटी-सी सरलता को भाषा में उतार देना तो अत्यन्त दुरूह/मुश्किल कार्य है।

इस भाषा की सरलता का श्रेय मैं समझता हूँ जिन्होंने सब कुछ बाह्य परिग्रह/आडम्बर छोड़ दिया है तभी सृजनात्मकता की ओर मुड़ने से ऐसे भावों के आँगन में शब्दों की भीड़ लग सकी और उनके हृदय में बैठी करुणा ने उन्हें हम सबको दिशाबोध कराने हेतु प्रेरित किया है।

चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' शीर्षक वाला है। यह अपने आप में स्वयं एक विशिष्ट गरिमा को धारण किए है। काव्य में शब्दों को विलोम कर अर्थ चमत्कार उत्पन्न करा दिया गया है, यथा— 'खरा' यानी राख से भी खरा जैसा अर्थ निकाल लाना तथा *''मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है''* (पृ. २७७)। इस पंक्ति में जलाना और जिलाना यहाँ इतने पड़ोसी शब्द हैं फिर भी एक-दूसरे से इनमें विपरीत अर्थ माना जाता है। इसके बावजूद भी उनके सम्बन्ध को मृदुलता और स्नेहलता प्रदान करने का काम एक सन्त की दृष्टि ही कर सकती है, जो यहाँ शब्द-अर्थ एवं भावशः सही/खरी उतरी है। तभी शब्द को अर्थ, अर्थ को परमार्थ और आलोचना के मिस लोचन इस 'मूकमाटी' काव्य में प्राप्त होते हैं।

□

'मूकमाटी' : ग्रन्थिभंजक सर्जना

डॉ. (श्रीमती) कृष्णा अग्निहोत्री

'धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म' सामान्य जन-जीवन में एक उलझाव बनकर रह गए हैं, आम व्यक्ति अपनी जिज्ञासा को बाँट नहीं पाता, ऐसे उलझाव व ग्रन्थियों को तोड़ देने वाला महाकाव्य 'मूकमाटी' एक अनुपम प्रयास है। अपने काव्य द्वारा दिशाभ्रम को तोड़ने का महामुनि का प्रयास सार्थक व सराहनीय है।

'माटी' को सार्थक प्रतीक बना कर भव्यता तक पहुँचाना एक कल्याणकारी कार्य है। 'शिव' ही सत्य एवं उद्देश्यपूर्ण कल्याण हैं और मानव की कल्याण योजना अभिव्यक्ति – इस महाकाव्य में अपनी सम्पूर्ण प्रासंगिकता से अभिव्यक्त है :

"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/'गद' का अर्थ है रोग
'हा' का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ,/···बस,
और कुछ वांछा नहीं/गद-हा ···गदहा···!" (पृ. ४०)

मानव जीवन के लिए इससे श्रेष्ठ और क्या कर्म हो सकता है ?

संघर्ष बिना हमारी यह मानव मिट्टी देह साधारण है। संघर्ष टकराव ही उसे निखारते हैं, संघर्ष हमें नई अनुभूतियाँ प्रदान करते हैं और हम अपने आत्मविश्लेषण द्वारा अपने रोगों (विकारों) को पहचानकर, उन्हें दूर कर सकते हैं।

शुद्ध आत्मा ही मंगल सोच, मंगल कार्य में डूब सकती है, आस्थाओं को समेट सकती है :

"...जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर/रास्ता स्वयं शास्ता होकर
सम्बोधित करता साधक को/साथी बन साथ देता है।" (पृ. ९)

असत्य की पहचान से ही 'सत्य' का उद्घाटन हो जाता है। आज का युग ऐसा समय है कि हम अपने आस-पास के झूठ को नहीं पहचान पाते। देश में व्याप्त अनाचार हमारे मूल्यों को ध्वंस कर रहे हैं और मनुष्य तटस्थ, पलायनवादी बन विकारों को ही साधन बनाना सफलता की सीढ़ी मानता है। महामुनि का आधुनिक युग को दृढ़ एवं सम-सामयिक यह सन्देश है :

- *"पतन पाताल का अनुभव ही/उत्थान-ऊँचाई की*
  आरती उतारना है !" (पृ. १०)
- *"प्रतिकार की पारणा/छोड़नी होगी, बेटा !/अतिचार की धारणा*
  तोड़नी होगी, बेटा !/अन्यथा,/कालान्तर में निश्चित
  ये दोनों/आस्था की आराधना में/विराधना ही सिद्ध होंगी !" (पृ. १२)

धर्म की वैज्ञानिक, सहज, सरल व्याख्या मुनिश्री ने उपलब्ध कराई है कि जो विषय-कषायों को त्याग कर जितेन्द्रिय, जित-कषाय और विजितमना हो कर, पूरी आस्था व विश्वास द्वारा आत्मसाधना में लीन होता है, वही आत्मा में छुपे ईश्वरत्व का साक्षात्कार कर आत्मिक सुख प्राप्त कर सकता है।

अपने शरीर की माटी को सँवारने हेतु प्रकाश की अनिवार्यता है और सच्चे कर्मरूपी चक्र ही माटी को सँवारने

का हेतु है। बिना शरीर धारण किए हम कुछ भी समझ नहीं सकते, यह सत्य है। ईश्वर तो सृष्टि रचना में पक्षपात नहीं करेगा कि किसी को सुन्दर व किसी को असुन्दर जीवन प्रदान करे। वह एक श्रद्धा है, विश्वास है, प्रकाश है जिसे माटीधारी देही अर्जित करता है। प्रकाश क्या है—इसे लेखक ने यत्र-तत्र अपने शब्दों में व्यक्त किया है।

मायावी संसार की लपटों से इस माटी को मुक्त करना ही पड़ता है :

"कितनी तपन है यह !/बाहर और भीतर/ज्वालामुखी हवायें ये !
जल-सी गई मेरी/काया चाहती है/स्पर्श में बदलाहट,
चाम नहीं अब,/···धाम मिले !" (पृ. १४०)

कवि ने प्रतीक व आलंकारिक भाषा से अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने की चेष्टा में यह सृजन प्रस्तुत किया है। गुरुचरणों में आत्मारूपी गुरु ही शरीर को दिशा दे सकता है। जीवन से वैराग्य तक की अनेक स्थितियाँ यहाँ प्रतिफलित हुई हैं।

महाकाव्य का आकार, विषय उदात्त ही होना चाहिए। इसलिए यह कथन सत्य है कि कवि अपनी सन्देश-यात्रा पूरी कर एक नई विचारधारा प्रस्तुत करना चाहता है।

रूढ़ और विकृत धार्मिक व सांस्कृतिक धारणाओं के प्रति मुनिश्री में विद्रोह है। वे उनमें व्याप्त कुरीतियों एवं विघटन को समझ कर उन्हें हटा देने को व्याकुल हैं। शुद्ध सात्त्विक भाव ही धर्म है ! वही जीवन है। इस अभिशप्त युग के लिए शुभ संस्कारों की यह रचना श्रेष्ठ मार्गदर्शन है।

मानव के जीवन से यदि अधिकार, सत्ता, लोभ हट जाए तो वह अत्यधिक सन्तुष्ट व सुखी हो सकता है और यही बात मुनिश्री अपने महाकाव्य में कहते हैं :

"पर पर अधिकार चलाने की भूख/इसी का परिणाम है।
बबूल के ठूँठ की भाँति/मान का मूल कड़ा होता है।" (पृ. १३१)

जीवन की वास्तविकता को समझने हेतु हमें जीवन सागर की सतही वासनाओं, आकांक्षाओं में डूबने से कुछ भी प्राप्त नहीं होता। गहराई व सूक्ष्मता से इस माटी की गहराई को समझना पड़ेगा।

संसार से मोक्ष हेतु शरीर, देह की मोहबन्ध इच्छाओं से मुक्त होना आवश्यक है :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का
आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।" (पृ. ४८६)

महाकाव्यानुरूप उदात्त भावनाओं का सृजन रूपक व प्रतीकों से व्यक्त हुआ है। मंगलमयपन तथा लोक-कल्याण का अथक परिश्रम है यह ग्रन्थ। भाषा दृष्टि से काव्य अति उत्तम है। शब्दालंकार, अर्थालंकार की झनकार प्रस्तुति उच्चकोटि के स्वर से परिपूर्ण है।



निशा का अवसान हो रहा है
उषा की अब शान हो रही है

'मूकमाटी' : माटी पर हिन्दी में लिखा पहला महाकाव्य

डॉ. शिवसिंह पतंग

'मूकमाटी' को हिन्दी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में देखने पर इसकी भूमिका में 'प्रस्तवन' लेखक द्वारा उठाई गई जिज्ञासा कि 'इसे महाकाव्य कहें या खण्डकाव्य अथवा मात्र काव्य'—उस ओर दृष्टि सहज चली जाती है। मेरी दृष्टि में दर्शन के बिना कविता बाँझ होती है और कविता के बिना दर्शन रेत के समान रूखा होता है। 'मूकमाटी' ग्रन्थ न बाँझ है और न ही रेत। अपितु यह सरस काव्य है। इसके द्वारा हमें एक ऐसी पुष्ट विचारधारा प्राप्त होती है जो न केवल जैन दर्शन को हमारे सामने स्पष्ट करती है बल्कि आधुनिक समाज एवं नूतन विज्ञान को भी स्पष्ट कर देती है।

'कबीर' की प्रसिद्ध साखी है– "माटी कहे कुम्हार से, तू का रौंदे मोय। इक दिन ऐसा आयगा, मैं रौंदूंगी तोय।" इससे ऐसा ध्वनित होता है कि कबीर से लेकर अभी वर्तमान तक परम्परा रही है माटी पर लिखने की। लेकिन मेरी मान्यता है कि यह पहला हिन्दी महाकाव्य है जो माटी पर लिखा गया है। सन् १९३६ में डॉ. मुल्कराय आनन्द ने एक 'कुली' उपन्यास लिखा था। उस समय उसका महत्त्व इसलिए था कि उसके पूर्व कुलियों को नायक बनाकर कोई उपन्यास नहीं लिखा गया था। उसी भाँति इसका भी महत्त्व इसलिए है कि हिन्दी में माटी पर लिखा गया यह पहला महाकाव्य है। साथ ही आकार की दृष्टि से आधुनिक युग में पन्त जी के 'लोकायतन' को छोड़कर इतना बड़ा कोई अन्य महाकाव्य नहीं लिखा गया। पन्तजी का 'लोकायतन' अवश्य ही इतने आकार का है किन्तु शेष अन्य जितने भी महाकाव्य लिखे गए, वे भी इतने बड़े आकार के हमें नहीं दिखाई देते।

आचार्य श्री विद्यासागरजी में पाण्डित्य विद्यमान है, तभी आधुनिक कविता की जितनी शैलियाँ हैं उन सबका प्रयोग इस 'मूकमाटी' महाकाव्य में प्राप्त है। छायावाद से लेकर नई कविता के रूप में लिखे गए या लिखे जा रहे काव्यों को दृष्टि में रखकर 'मूकमाटी' में से कुछ अंश छाँट कर, निकाल कर यदि उसके नीचे मुक्तिबोध लिख दें, तो लगने लगता है यह कविता मुक्तिबोध की है। अथवा इसके कुछ अंशों को अलग-अलग निकाल कर उनके नीचे यदि नागार्जुन एवं सुमित्रानन्दन पन्त लिख दें तो वे पंक्तियाँ भी नागार्जुन या पन्तजी की लिखी हुई लगने लगती हैं। इसलिए कहना होगा कि आधुनिक काव्य की जितनी शैलियाँ हैं वे सभी 'मूकमाटी' में खोजने, पढ़ने पर प्राप्त हैं। इसमें कुछ संख्याओं का भी प्रयोग है। अतः कुछ लोग कह सकते हैं कि यह भी कोई कविता है ! किन्तु ९९ की संख्या वाली एक कविता, जिसमें संसार को निन्यानवे का फेर कहा गया है, वह भी एक कविता है। हिन्दी का एक विद्यार्थी के नाते मैं कह सकता हूँ कि 'मूकमाटी' एक नए तरह का महाकाव्य है जिसमें आधुनिक कविता की जहाँ समस्त शैलियाँ समाई हुई हैं, वहीं आधुनिक साहित्य का श्रेष्ठ रूप भी 'मूकमाटी' के माध्यम से हिन्दी जगत् को ही नहीं, बल्कि दुनिया को विचार की दृष्टि से एक मौलिक विचारधारा प्राप्त हुई है।

'मूकमाटी' में आचार्यश्री ने इतनी कुशलता के साथ जैन तत्त्व दर्शन दिया है कि वो बोझिल नहीं लगता। मैंने 'दिव्या' को खूब पढ़ा है। यशपाल के उपन्यास अगर आप पढ़ें तो उसमें समाजवादी दर्शन को इस प्रकार निबद्ध किया गया है जिससे कि उसका अलग से कोई पता ही नहीं चलता। ठीक ऐसे ही कलात्मक ढंग से 'मूकमाटी' में जैन दर्शन को पिरोया गया है जिसे कोई भी जैन या अजैन बन्धु पढ़े, परन्तु काव्य में बोझिलता नहीं आती। इसमें ज्ञान की कथा है। शिव की कथा भी है। इसमें कामदेव हैं तो सीता भी हैं। प्रसंग में जहाँ रावण है तो कहीं बाली एवं हनुमान भी हैं। आज की ज्वलन्त समस्या आतंकवाद भी है। अतएव इसे हम समग्रता से देखें-पढ़ें तो कह सकते हैं कि यह वो जैन दर्शन है जो जैन दर्शन ही भारत वर्ष है, समग्र विश्व है।

'मूकमाटी' में एक व्यापक दृष्टि पढ़ने, देखने को मिलती है। इसे मैं एक उदाहरण से बतलाना चाहूँगा। दो श्रमण कठोर तप करते हैं। वर्षा ऋतु में वे नंगे बदन बाहर खड़े रहते हैं तो जाड़े में बिना कपड़ों के रहते और गर्मी में आग

के बीच में रहते। कठोर तप के जितने रूप होते या हो सकते, उन सभी को वह सहन करते। उन श्रमणों को एक समाचार मिला। उनके निकटवर्ती ग्राम में भगवान् बुद्ध का संघ आया हुआ है और वहाँ पर वह प्रवचन-उपदेश कर रहे हैं। दोनों श्रमण उनके उपदेश को सुनने पहुँचे। उन दो में से एक श्रमण भगवान् बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित हुआ और वह दूसरे से बोला : "मैं इनसे दीक्षा लेना चाहता हूँ।" दूसरे ने जवाब दिया : "तुम्हारी तुम जानो, अभी मैं अपने बारे में सोचूँगा।" दूसरे शिष्य ने प्रवचनोपरान्त एक प्रश्न किया : "भगवन ! हमें यह बतलाएँ, आपने जो बुद्धत्व प्राप्त किया है, क्या वह आप मुझमें भर सकते हैं ? (भौतिक शास्त्र में जिसे ट्रान्समिशन कहते हैं, तद्रूप क्रिया मुझमें कर सकते हैं ? आप में जो बोध या ज्ञान है वह ज्यों का त्यों मुझ में ट्रान्समिट हो सकता है ?)" भगवान् कुछ मुसकराए और बोले, "तुम बहुत चतुर हो।" परन्तु प्रश्न का कोई जबाव नहीं दिया और अन्यत्र विहार कर गए। लेखक ने लिखा कि जो दूसरा श्रमण था वह बुद्ध के बैठने के तरीके से प्रभावित था। वे चलते तो उनके हाथ जिस तरह चलते-घूमते, उनसे वह प्रभावित था। अर्थात् बुद्ध की समग्रता– क्रियाओं से प्रभावित था। लेकिन प्रश्न का उत्तर नहीं देने के तरीके से प्रभावित नहीं हुआ और दूसरे श्रमण से बोला : "मैंने तो निर्णय कर लिया कि इनका शिष्यत्व ग्रहण नहीं करूँगा।" और वह भी वहाँ से चला जाता है। कथा बहुत लम्बी है। अन्त में वह एक नदी पार करने हेतु शाम के समय तट पर पहुँच कर मल्लाह से नदी पार कराने के लिए कहता है। नाविक ने आग्रह कर निवेदन किया चूँकि शाम अधिक हो चुकी है, अब मैं नाव नहीं चला सकूँगा, अतएव आप रात्रि विश्राम मेरी कुटी में ही करें। प्रातः वह नदी पार करा देता है। अनेक वर्षों के बाद पुनः उसी नगरी से होते हुए वे श्रमण पहुँचते हैं। पुनः उसी मल्लाह से नदी पार कराने के लिए कहते हैं। नदी पार करा देने पर मल्लाह से पूछते हैं चूँकि मैंने पहली बार भी पैसे नहीं दिए थे और अभी भी नहीं, इस पर तुम सन्तुष्ट कैसे रहते-दिखाई देते हो ? मल्लाह ने कहा चूँकि आपके पास कुछ है ही नहीं, अतः लेने-देने का प्रश्न ही नहीं उठता और फिर मैंने आप से पैसे माँगे भी नहीं। जहाँ तक सन्तुष्टि का प्रश्न है तो मेरी समस्याओं का समाधान सदैव यह नदी कर देती है। मैं एकान्त में तट के किनारे पर स्थित पत्थर पर बैठ जाता हूँ और नदी से प्रश्न करता हूँ और नदी मेरी समस्या का समाधान सहज ही कर देती है। इस विशेषता से प्रभावित वह श्रमण उस एकान्त किनारे के पत्थर पर बैठता है। मल्लाह जाते हुए समझा जाता है कि प्रश्न एकाग्रचित्त से करना, तभी उत्तर मिल सकेगा। ऐसा ही होता है। नाविक के लौटकर आने पर श्रमण कहता है कि तुमने मुझे आज जो ज्ञान दिया है, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिला। मेरे सभी प्रश्नों का उत्तर नदी ने देकर मुझे सन्तुष्ट कर दिया।

'मूकमाटी' में भी नदी उत्तर देती है। वह ज्ञान के द्वारा सम्बोधन करती है। आचार्यश्री ने इसमें कहा है : *"आस्था से वास्ता होने पर/रास्ता स्वयं शास्ता होकर/सम्बोधित करता साधक को"* (पृ. ९)– जो उपरोक्त कथानक से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। भगवान् बुद्ध ने परम शिष्य आनन्द को अन्तिम वाक्य कहे थे : "अप्पदीवो भव" अर्थात् अपने दीपक खुद बनो। वैसे ही आचार्यश्री ने बतलाया है कि साधक का जो साधना पथ है, वही उसके लिए साधक, सहायक है, साथ ही उपदेशक भी। ठीक ढंग से पथ पर चलने से, मनोयोग पूर्वक क्रिया करने से वह पथ ही उसका उपदेशक, मार्ग दिखलाने वाला हो जाता है।

अन्त में मूक होते हुए भी इस वाचाल माटी के सम्बन्ध में एक शेर कहकर अपनी शब्द यात्रा को विराम देता हूँ :

"इसे सैय्यद ने कुछ, गुल ने कुछ, बुलबुल ने कुछ समझा।
चमन में कितनी मानी ख़ेज़ थी इक खामोशी मेरी।"

□

कालजयी कृति : 'मूकमाटी'

डॉ. कुसुम पटोरिया

'मूकमाटी' वह कालजयी कृति है, जिसमें कविता, दर्शन व युगीन चेतना की त्रिवेणी का संगम है। इस काव्य की रचना रूपकात्मक (Allegorical) शैली में हुई है। इसे सांकेतिक या अन्योक्ति शैली भी कहा जा सकता है। भारत में इस शैली का प्राचीन प्रतिनिधि उदाहरण संस्कृत में रचित 'उपमितिभव-प्रपंच-कथा' व 'प्रबोधचन्द्रोदय' तथा आधुनिक प्रतिनिधि उदाहरण 'कामायनी' महाकाव्य है।

मूकमाटी भव्यात्मा का प्रतीक है, जो विशुद्धि मार्ग पर आरोहण करते हुए मोक्षमार्ग पर अग्रसर होती है। 'मूकमाटी' समानान्तर चलने वाली एक साधक की साधना कथा है, पर यह कथा सिद्धान्त विशेष का माध्यम बनकर प्रस्तुत हुई है। कथा के सरस किन्तु झीने आवरण से सिद्धान्त स्वयं झलक पड़ते हैं। काव्य में से अपनी छटा बिखेरते हैं। सहृदय को आध्यात्मिक और साहित्यिक दोनों प्रकार का आनन्द प्रदान करते हैं।

सम्पूर्ण काव्य चार खण्डों में विभक्त है। खण्ड के शीर्षक हैं– 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; 'शब्द सो बोध नहीं: बोध सो शोध नहीं'; 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' तथा 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'। लगभग ५०० पृष्ठों को समेटे हुए इस काव्य का फलक महाकाव्योचित, विस्तृत है।

महाकाव्य का आरम्भ प्रकृति की सुरम्य क्रोड में हुआ है। सूर्य, माँ प्राची की मार्दव गोद में लेटा है। जगत् पर सिन्दूरी राग की आभा बिखरी है। चन्द्रमा और उसके पीछे तरला तारिकाएँ अस्ताचल में छुपी जा रही हैं।

तभी सरिता तट की माटी अपनी मूक व्यथा मुखरित करती है, अपनी माँ धरती के सम्मुख। वह पदाक्रान्त जीवन से मुक्त होने की कामना करती है। धरती का सम्बोधन शुरू होता है। साधना के पथ पर आस्था का सम्बल व अपनी स्थिति का ज्ञान होना आवश्यक है। अपनी लघुता का ज्ञान ही उन्नति के लिए अपूर्व घटना है।

"असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है, बेटा !" (पृ. ९)

इसके बाद शुरू होती है साधना के क्षेत्र की यात्रा, स्खलन की सम्भावनाओं के साथ। साधक, न अनुकूलता की प्रतीक्षा करता है और न प्रतिकूलता का प्रतिकार।

माटी की व्यथा जीवात्मा के कार्मिक व्यथन की कथा है। आत्मा से कर्मों का संश्लेषण-विश्लेषण ही व्यथा का मूल है। कुम्भकार माटी के जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाता है। मंगल घट में परिवर्तित करने के लिए माटी को शुद्ध करता है, कंकरों को साफ़ करता है, मृदु बनाता है। मिट्टी को वर्णलाभ प्राप्त होता है।

वर्ण का आशय रंग या अंग से न होकर आचरण से है। माटी और कंकर दोनों कृष्णवर्ण हैं, परन्तु माटी में मृदुता का गुण है और जलधारण की क्षमता है। कंकर कठोर हैं, जलधारण के अयोग्य। इसीलिए कुम्भकार संकरदोष का निवारण करने के लिए कंकर कोष का वारण करता है और माटी को वर्णलाभ होता है :

"नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।
और/क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है।" (पृ. ४९)

और यही इस खण्ड के शीर्षक की सार्थकता है।

द्वितीय खण्ड में कुम्भकार का प्रयास चालू है। माटी को जलधारण योग्य बनाने उसने कुंकुम के समान मृदु माटी

में छना निर्मल जल मिला कर नूतन प्राण फूँक दिए हैं। पानी पड़ते ही माटी के कणों में जुड़ाव आ गया है। अलगाव की अपेक्षा एकीकरण का आविर्भाव हो रहा है। जलतत्त्व का स्वभाव बहाव माटी के प्राणों में जाकर ठहराव का अनुभव कर रहा है। पानी ने उसी प्रकार नव प्राण पाए हैं, जिस प्रकार ज्ञानी के पदों में अज्ञानी नव ज्ञान पाता है।

शीत की कठोरता का साम्राज्य है, पर शिल्पी जो कर्तृत्वबुद्धि छोड़कर कर्तव्यबुद्धि से जुड़ गया है, इस शीत से भीत नहीं है। एक सूती चादर से उसका काम चल जाता है, क्योंकि वह कम बल वाला काम का दास नहीं है।

तभी कण्ठगत प्राणवाला काँटा, जो मिट्टी खोदने में कुम्भकार की कुदाली से आहत हुआ था, प्रतिशोध से जल रहा है उसे प्रतीक्षा है कुम्भकार से बदला लेने की, परन्तु शिल्पी का विनयभाव देखकर उसका क्रोध/प्रतिशोध भाव मद की तरह उतर जाता है। उसे एक नई अनुभूति होती है। यहीं शीर्षक का रहस्य खुलता है। प्रतिशोध पाप का प्रतिनिधि भाव है, बोध पुण्य का प्रतिनिधि, परन्तु शोधभाव अनुभूति का प्रतिनिधि है। बोध में आकुलता पलती है, शोध में निराकुलता है। बोध फूल है, शोध फल। तृप्ति का अनुभव फूल से नहीं फल से होता है। फूल की रक्षा और फल का भक्षण होना चाहिए। फूल में गन्ध होती है, पर रस केवल फल में ही होता है। तभी तो साधक अनुभूति का ही रस ग्रहण करते हैं, केवल शब्द बोध नहीं और बोध अनुभूति नहीं है। बोध ही शब्दों के रूप में व्यक्त होता है। इसलिए कवि कहता है कि बोध के सिंचन बिना शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं हैं और बोध जब अनुभूति में बदलता है, तभी शोध कहलाता है।

अनुभूति होते ही कंटक पश्चाताप करने लगता है। इस प्रसंग में नवरसों की नई व्याख्याएँ हैं। कुम्भकार माटी को रौंद-रौंदकर और मृदु करता है। कुम्भ का आकार देता है। फिर उसके जलीय अंश को सुखाने के लिए उसे खुली, तपी धरती में रखता है।

तीसरे खण्ड में खुली धूप में तपश्चरण करते कुम्भ को समुद्र भिगो डालना चाहता है। वह बदलियों को संकेत करता है, परन्तु सूर्य बदलियों से प्रभावित नहीं होता, और उन्हें सम्बोधित करता है। इसी प्रसंग में कवि के स्त्री विषयक विचार प्रस्तुत हुए हैं। स्त्री के प्रति उनका आदरभाव व्यक्त हुआ है।

समुद्र सदा से धरा को शीतलता का लोभ देकर लूटता आया है, तभी वसुन्धरा केवल धरा रह गई। उसका वसु –धन रत्नाकर बहाकर ले गया। धरती सर्वंसहा है। परन्तु सूर्य न्याय-पथ का पथिक है, उसे यह अन्याय सह्य नहीं। अन्याय पर न्याय की विजय के लिए वे अपनी प्रखर-प्रखरतर किरणों से जलधि के जल को सुखाने लगे। परन्तु जला हुआ जल भी जलद बन कर बार-बार बरसता रहा। अपने दोष–छद्म को छुपाता रहा। चन्द्रमा घूँस लेकर सुधाकर तो बन गया, परन्तु लज्जित चन्द्र चोर-सा संशक होने से रात को ही निकलता है। ताराएँ भी चन्द्र का अनुकरण करती हैं। लुटेरा सागर चन्द्र को देखकर उमड़ता है, सूर्य को देखकर उबलता है।

कुम्भकार के प्रांगण में उसकी अनुपस्थिति में मोतियों की बरसात होती है। मुक्तावृष्टि कुम्भ के पुण्यार्जन की उपलब्धि है। मण्डली सहित राजा वहाँ पहुँचता है। और मोतियों को बोरियों में भरने का संकेत करता है, पर मोतियों को छूते ही राजा की मण्डली मूर्च्छित हो जाती है। तभी कुम्भकार वहाँ पहुँचता है। ऊँकार के मन्त्रित जल से मूर्च्छित राजमण्डली को स्वस्थ करता है और स्वयं मोतियों को बोरियों में भर कर राजा को समर्पित करता है।

इधर बादल अतिवृष्टि और उपलवृष्टि करते हैं। कुम्भ उपसर्ग और परीषहों को सहन करता है। उसके पाप का प्रक्षालन हो जाता है। कुम्भकार कुम्भ की साधना से सन्तुष्ट है। अभी कुम्भ की और परीक्षा होनी है– अग्नि परीक्षा।

चतुर्थ खण्ड में माटी, जो कुम्भ का आकार पा चुकी है, उसे अभी और तपश्चरण करना बाकी है, अभी अग्नि परीक्षा देनी है। अग्नि परीक्षा देते समय घट भुक्ति और मुक्ति–दोनों की चाह से मुक्त हो गया है, सातापूर्वक बिना आह

के दाह को सहन करता है।

अवाँ से बाहर आकर कुम्भ के मन में एक ही भाव है कि मैं पात्र-दान के काम आऊँ। एक निर्ग्रन्थ साधक– जिसका बाह्य रूप त्याग और तपश्चरण से रूक्ष हो पर अन्तरंग अहिंसा के सलिल से स्निग्ध हो– के पाद-प्रक्षालन के काम आऊँ। और उसकी यह भावना शीघ्र पूरी होती है। माटी का कुम्भ गुरु के पाद-प्रक्षालन कर अपना जीवन धन्य करता है। इस खण्ड की कथा अन्य कथाओं की तुलना में दुगुनी से अधिक है। अनेक प्रसंग, घटनाएँ, उपकथाएँ हैं। निर्ग्रन्थ साधु के आहार-दान की सम्पूर्ण प्रक्रिया, आहारदाताओं के भावों के साथ व्यक्त हुई है।

माटी सहित अनेक मूर्त-अमूर्त पात्र मानवीकृत होकर काव्य में आए हैं। प्रथम खण्ड में धरती, गदहा, कुम्भकार, मछली, रस्सी, दाँत, रसना आदि पात्र कथा प्रवाह को आगे बढ़ाते हैं। दूसरे खण्ड में कण्टक, वसन्त तथा तीसरे खण्ड में लुटेरा और विघ्नकारी रत्नाकर, न्यायपथ का पथिक भानु, घूसखोर चन्द्र, तीन बदलियाँ, बड़वानल, पवन और चौथे खण्ड में बबूल की लकड़ी, अग्नि, कुम्भ, मत्कुण, स्वर्ण कलशी आदि अनेक पात्र उपस्थित हुए हैं। कथा के लघु आयाम को इन पात्रों के सम्भाषणों ने विस्तार दिया है। इन सम्भाषणों के कारण ही दर्शन और अध्यात्म की भित्ति पर रचित इस काव्य में नाटकीय-गति-प्रवाह आया है। इन निर्जीव पात्रों का सजीव मनुष्य की भाँति व्यवहार कृति में नवीनता का आधान करता है।

सारे काव्य में अनेक सूक्तियाँ बिखरी पड़ी हैं, जिनमें आधुनिक समस्याओं की व्याख्या है तो जीवन के सन्दर्भ में मर्मस्पर्शी वक्तव्य भी। इसमें सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक क्षेत्रों में व्याप्त कुरीतियों का प्रदर्शन भी है। कुछ सूक्तियाँ उद्धृत करना अनिवार्य है।

सत्पथ पथिक वह है जो पथ पर चलते हुए फिर लौट कर नहीं देखता। यह पथिक मुक्तिपथ का राही तो है ही, इसके अतिरिक्त भी जीवन में अन्य उच्च उदात्त लौकिक ध्येय को लेकर चलने वाला भी हो सकता है :

"पथ पर चलता है/सत्पथ-पथिक वह
मुड़कर नहीं देखता/तन से भी, मन से भी।" (पृ. ३)

उत्थान की दिशा में साधना का पहला चरण है अपनी पतित अवस्था का एहसास करना। यही साधक के जीवन की अपूर्व घटना होती है :

- *"पतन पाताल का अनुभव ही/उत्थान-ऊँचाई की*
  आरती उतारना है!" (पृ. १०)
- *"दुःख की वेदना में/जब न्यूनता आती है*
  दुःख भी सुख-सा लगता है।" (पृ. १८)

यह सार्वकालिक सत्य कितने सरल किन्तु मार्मिक ढंग से व्यक्त हुआ है।

विचारों की एकता और स्पष्टता सही सम्प्रेषण की अनिवार्य शर्त है :

"विचारों के ऐक्य से/आचारों के साम्य से/सम्प्रेषण में
निखार आता है,/वरना/विकार आता है।" (पृ. २२)

कर्तृत्व बुद्धि अहंकार की पोषक है, और कर्तव्य बुद्धि समाज-रचना की अनिवार्यता। कवि का जीवन दर्शन इन सूक्तियों द्वारा स्थान-स्थान पर व्यक्त हुआ है :

"कर्तृत्व-बुद्धि से/मुड़ गया है वह/और/कर्तव्य-बुद्धि से
जुड़ गया है वह।" (पृ. २८-२९)

संसार जीवन के निर्वाह के लिए नहीं, निर्माण के लिए है :

"यहाँ पर/जीवन का 'निर्वाह' नहीं/'निर्माण' होता है।" (पृ. ४३)

स्वभाव धर्म है तो विभाव विकृति। जल जीवनदाता है, जल की विकृति है हिम–जीवनध्वंसी :

"जल जीवन देता है/हिम जीवन लेता है,
स्वभाव और विभाव में/यही अन्तर है।" (पृ. ५४)

धर्म की ओट में हिंसा और शास्त्र से शस्त्र का कार्य लेना अवसरवाद की उपज है। यह अवसरवादिता धर्म के प्रति अनास्था उत्पन्न करती है :

"धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है
शास्त्र शस्त्र बन जाता है/अवसर पाकर।" (पृ. ७३)

इसमें राजनेताओं को संकेत है कि राजमुकुट फूलों की सेज न होकर काँटों की शय्या होना चाहिए, अन्यथा राजसत्ता राजस-ता हो जाती है :

"घन-घमण्ड से भरे हुओं/की उद्दण्डता दूर करने
दण्ड-संहिता की व्यवस्था होती है/और
शास्ता की/शासन-शय्या फूलवती नहीं/शूल शीला हो,
अन्यथा,/राजसत्ता वह रासज-ता की
रानी–राजधानी बनेगी!" (पृ. १०४)

आज साहित्य जगत् में जो लम्बी-चौड़ी व्याख्याएँ मिलती हैं, जिनमें शब्दों की चकाचौंध से यथार्थ छिप जाता है। आम पाठक सम्भ्रमित हो जाता है। इसे कम किन्तु सशक्त शब्दों में व्यक्त किया है :

"लम्बी, गगन चूमती व्याख्या से/मूल का मूल्य कम होता है
सही मूल्यांकन गुम होता है।" (पृ. १०९)

जिसे रूप की प्यास है, वही जड़ शृंगारों में मग्न रहता है और जिसे अरूप की आस लगी हो ?–

"जिसे रूप की प्यास नहीं है,/अरूप की आस लगी हो
उसे क्या प्रयोजन जड़ शृंगारों से!" (पृ. १३९)

धर्म के क्षेत्र में आज क्या स्थिति है ? धर्म के पावन पथ पर दूब उग आई है क्यों ? क्योंकि :

"केवल कथनी में करुणा रस घोल/धर्मामृत-वर्षा करने वालों की
भीड़ के कारण!" (पृ. १५२)

आज के पथ प्रदर्शकों की दशा का चित्रण भी अवलोकनीय है :

"वह स्वयं पथ पर चलना चाहता नहीं,
औरों को चलाना चाहता है।" (पृ. १५२)

कवि का जीवन दर्शन साहित्य रसों की चर्चा में मुखरित हुआ है। करुणा जीवन का प्राण समीरधर्मी है। वात्सल्य जीवन का त्राण धवलिम नीरधर्मी है परन्तु शान्त रस जीवन का गान मधुरिम क्षीरधर्मी है। करुणा भी उदात्त भावना है :

"दया-करुणा निरवधि है/करुणा का केन्द्र वह
संवेदन-धर्मा''चेतन है/पीयूष का केतन है।
करुणा की कर्णिका से/अविरल झरती है/समता की सौरभ-सुगन्ध।" (पृ. ३९)

इसीलिए वे करुणा को मोह का अंश नहीं, अपितु आंशिक मोह का ध्वंस मानते हैं।

लोकतन्त्र की रीढ़ बहुमत में नहीं है। लोकतन्त्र का नीड़ अल्पमत को भी उचित स्थान देने में है। लोकतन्त्र किसी विचार विशेष को अन्तिम सत्य मानने में नहीं, अन्य विचारों को भी उचित सम्मान देने में है। अनेकान्तवाद समीचीन दृष्टि है, वस्तु के अन्तरंग का स्पर्श करती है :

"लोक में लोकतन्त्र का नीड़/तब तक सुरक्षित रहेगा
जब तक 'भी' श्वास लेता रहेगा।/'भी' से स्वच्छन्दता-मदान्धता मिटती है
स्वतन्त्रता के स्वप्न साकार होते हैं,/सद्विचार सदाचार के बीज
'भी' में हैं, 'ही' में नहीं।" (पृ. १७३)

देश की एकता-अखण्डता को क्षति पहुँचाने के लिए राजनैतिक दल शतरंज की चाल चल कर दलदल पैदा कर रहे हैं। दल बहुलता शान्ति के लिए अभिशाप है :

"दल-बहुलता शान्ति की हननी है ना!/...तुच्छ स्वार्थसिद्धि के लिए
कुछ व्यर्थ की प्रसिद्धि के लिए/सब कुछ अनर्थ घट सकता है!" (पृ. १९७)

धनतन्त्री गणतन्त्र में निरपराधी दण्डित हो रहे हैं, और अपराधी निःशंक घूम रहे हैं :

"प्रायः अपराधी-जन बच जाते/निरपराध ही पिट जाते,
और उन्हें/पीटते-पीटते टूटतीं हम।/इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें?
यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है/या/मनमाना 'तन्त्र' है!" (पृ. २७१)

दर्शन और अध्यात्म का अन्तर अत्यन्त स्पष्ट रूप से रेखांकित हुआ है :

"दर्शन का स्रोत मस्तक है,/स्वस्तिक से अंकित हृदय से
अध्यात्म का झरना झरता है।" (पृ. २८८)

अध्यात्म सरोवर है तो दर्शन लहर है :

"अध्यात्म स्वाधीन नयन है/दर्शन पराधीन उपनयन।" (पृ. २८८)

अध्यात्म स्वस्थ ज्ञान है, दर्शन संकल्प-विकल्पों में व्यस्त होता है। दर्शन विचार है, अध्यात्म निर्विचार। कुछ मर्मस्पर्शिनी सूक्तियाँ मन और बुद्धि दोनों को झकझोरती हैं :

"अपनी प्यास बुझाये बिना/औरों को जल पिलाने का संकल्प
मात्र कल्पना है,/मात्र जल्पना है।" (पृ. २९३)

और देखिए – रुपये का कोई मूल्य नहीं है :

"स्वर्ण का मूल्य है/रजत का मूल्य है/कण हो या मन हो
प्रति पदार्थ का मूल्य होता ही है।/परन्तु,
धन का अपने आप में मूल्य/कुछ भी नहीं है।" (पृ. ३०७-३०८)

अध्यात्म की भूमि पर रचित इस काव्य की दृष्टि से आधुनिक समाज और राजनीति की असंगतियाँ ओझल नहीं हुई हैं। पग-पग पर युगीन चेतना मुखरित हुई है।

आतंकवाद अतिपोषण या अतिशोषण से ही जन्मता है :

"मान को टीस पहुँचने से ही,/आतंकवाद का अवतार होता है।
अति-पोषण या अतिशोषण का भी/यही परिणाम होता है।" (पृ. ४१८)

साथ में यह भी ध्यान रखना आवश्यक है :

"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती,
धरती यह।" (पृ. ४४१)

पद का अभिमान कैसा होता है, कवि के शब्दों में देखें :

"पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु/पर को पद-दलित करते हैं
...जितने भी पद हैं/वह विपदाओं के आस्पद हैं।" (पृ. ४३४)

धरती के आभूषण श्रमजीवी हैं, जिन्होंने इसे सजाया, सँवारा है :

"जो कुछ है धरती की शोभा/इन से ही है
और, इन जैसे सेवा-कार्य-रतों से।" (पृ. ४५८)

धनसंग्रह से ही चोरों का जन्म होता है, इसीलिए आवश्यकता जनसंग्रह की है न कि धनसंग्रह की। अन्यथा 'ये चोरी मत करो' का उपदेश नाटकीय है। धनसंग्रही ही चोर हैं, चोरों के जन्मदाता हैं :

"अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो!/और/लोभ के वशीभूत हो
अँधाधुन्ध संकलित का/समुचित वितरण करो/अन्यथा,
धनहीनों में/चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं।" (पृ. ४६७-४६८)

न्याय-व्यवस्था में इतना विलम्ब हो जाता है कि न्याय मिलने पर व्यक्ति को उसका सुख या लाभ नहीं मिल पाता। वह न्याय उसे न्याय न लगकर, अन्याय-सा लगता है :

"आशातीत विलम्ब के कारण/अन्याय न्याय-सा नहीं
न्याय अन्याय-सा लगता ही है।/और यही हुआ
इस युग में इसके साथ।" (पृ. २७२)

अर्थ का आकलन और संकलन ही इस युग में महत्त्वपूर्ण हो गया है। कला जिसका प्रयोजन आनन्द था, अब अर्थ संकलन मात्र ही रह गया है :

"सकल कलाओं का प्रयोजन बना है/केवल
अर्थ का आकलन-संकलन।" (पृ. ३९६)

धन के अनुचित मोह और महत्त्व के कारण कवि पूछते हैं :

"धन जीवन के लिए/या जीवन धन के लिए ?" (पृ. १८०)

यद्यपि काव्य का कथापटल सीमित है, प्रकृतिचित्रण के लिए उचित अवसर नहीं है, फिर भी कवि ने प्रकृति के उपादानों को महाकाव्य के पात्र बनाकर इसके लिए अवसर पा लिए हैं। आरम्भ में ही प्राची और सूर्य माँ की गोद में लेटे अबोध बालक का रूप लेकर आते हैं।

प्रभात रात को साड़ी भेंट करता है। भाई की दी हुई साड़ी पहन कर मन्द मुस्कान के साथ रात प्रभात को सम्मानित करती है, जो सुन्दर और मौलिक उपमा है :

"...हर्षातिरेक से/उपहार के रूप में/कोमल कोपलों की/हलकी आभा-घुली
हरिताभ की साड़ी/देता है रात को।/इसे पहन कर/जाती हुई वह
प्रभात को सम्मानित करती है/मन्द मुस्कान के साथ···!
भाई को बहन सी।" (पृ. १९)

सरिता तट का फेन मानो दही छलकाती हुई मंगल कलशियाँ हैं। धरती के तृणबिन्दु मानों उसके हृदय में उमड़ी करुणा है :

"तृण-बिन्दुओं के मिष/उल्लासवती सरिता-सी
धरती के कोमल केन्द्र में/करुणा की उमड़न है।" (पृ. २०)

दूसरे खण्ड के आरम्भ में शीत की भयावहता का वर्णन है। डाल-डाल पर हुआ हिमपात, पीली पड़ती लतिकाएँ, ठण्ड से बिना प्रशिक्षित परन्तु अभ्यासी-से बजते दाँत, दिन की सिकुड़न तथा प्रभाकर की डरी बिखरी प्रखरता जहाँ देखो वहाँ हिम की महिमा महक रही है। अनुप्रास से कवि को अत्यन्त मोह है। शीतकाल की भौंरि-सी काली, शनि की खान तथा भय, मद और पापों की जननी रात दुगुनी हो गई है :

"महि में महिमा हिम की महकी,/...घनी अलिगुण-हनी
शनि की खनी सी···/भय-मद अघ की जनी।" (पृ. ९१)

वसन्त के अन्त के साथ निदाघ का आगमन भी उतना ही प्रचण्ड है। चिलचिलाती धूप, धग-धग करती लपटें, तपन की बरसात, दरारदार धरती का उर, आग उगलती हवा—ऐसे ग्रीष्म में अनन्त सलिला नदियाँ अन्तःसलिला होती हुई क्रमशः अन्तसलिला हो गई हैं। ग्रीष्म ऋतु के लम्बे दिन आलस्य भरते हैं तभी तो जल्दी ही उदयाचल पर आरूढ़ होने वाला सूर्य भी देर से अस्ताचल को पहुँच पाता है, क्योंकि उनकी गति में शैथिल्य आ गया है :

"अविलम्ब उदयाचल पर चढ़ कर भी/विलम्ब से अस्ताचल को छू पाते
दिनकर को/अपनी यात्रा पूर्ण करने में/अधिक समय लग रहा है।
लग रहा है,/रवि की गति में शैथिल्य आया है,/अन्यथा
इन दिनों दिन बड़े क्यों ?" (पृ. १७८)

तीन बदलियाँ तीन कामिनियों के रूप में चित्रित हुई हैं :

"दधि-धवला साड़ी पहने/पहली वाली बदली वह/ऊपर से
साधनारत साध्वी-सी लगती है।/...इससे पिछली बदली ने
पलाश की हँसी—/सी साड़ी पहनी/गुलाब की आभा फीकी पड़ती जिससे
लाल पगतली वाली लाली-रची/पद्मिनी की शोभा सकुचाती है जिससे,
...और/नकली नहीं, असली/सुवर्ण वर्ण की साड़ी पहन रखी है
सबसे पिछली बदली ने।" (पृ. १९९-२००)

तीन बादल, जो तीन लेश्याओं (कृष्ण, नील और कापोत) के प्रतीक हैं, का चित्रण भी यथार्थ हुआ है :

"सागर में से उठते-उठते/क्षारपूर्ण नीर-भरे/क्रम-क्रम से वायुयान-सम
अपने-अपने दलों सहित/आकाश में उड़ते हैं।" (पृ. २२७)

पहला बादल इतना काला है कि जिसे देखकर भ्रमर दल की आशंका होती है तो दूसरा विषधर-सम नीलवर्णी है :

"अपने सहचर-साथी से बिछुड़ा/भ्रमित हो भटका भ्रमर-दल,
सहचर की शंका से ही मानो/बार-बार इस से आ मिलता...
दूसरा···दूर से ही/विष उगलता विषधर-सम नीला
नीलकण्ठ, लीला वाला—/जिस की आभा से/पका पीला धान का खेत भी
हरिताभा से भर जाता है।" (पृ. २२७-२२८)

सागर को सुखाने के लिए सूर्य का प्रयत्न, धरती के पक्षधर सूर्य के प्रति सागर और सागर के पक्षधर बादलों की गर्जना-प्रताड़ना दो शत्रुओं की परस्पर रण-गर्जना के रूप में प्रस्तुत हुई है।

यहाँ यह व्यंजना हुई है कि न्याय के पक्षधरों से इस संसार में भ्रष्टाचारी धनसंग्रहियों को कष्ट होता है। अतः वे बार-बार उन्हें अपने पक्ष में मिलाना चाहते हैं। वे न्यायपक्ष को निर्बल और अन्यायपक्ष को सबल बनाना चाहते हैं। इसके लिए साम-दान-दण्ड-भेद सभी का आश्रय लेते हैं :

"सागर का पक्ष ग्रहण कर ले,/कर ले अनुग्रह अपने पर,

और,/सुख-शान्ति-यश का संग्रह कर !" (पृ. २३१)

प्रभाकर को पराजित करने में जब बादल असफल हो गए तो सागर ने राहु को भड़काया कि क्या मृगराज के सम्मुख मृग भी मनमानी करता है। या फिर ऐसा है कि धरती की सेवा के मिष सूर्य आपका उपहास कर रहा है। उसके अहंकार को पुष्ट करने के साथ धन का प्रलोभन भी दिया है :

"यान में भर-भर/झिल-मिल, झिल-मिल/अनगिन निधियाँ
ऐसी हँसती धवलिम हँसियाँ/मनहर हीरक मौलिक-मणियाँ
मुक्ता-मूँगा माणिक-छवियाँ/पुखराजों की पीलिम पटियाँ
राजाओं में राग उभरता/नीलम के नग रजतिम छड़ियाँ।" (पृ. २३५-२३६)

काव्य में अध्यात्म जितना मुखर है, समाज, जीवन और समाजजीवन की दुर्बलताएँ भी उतनी ही मुखर हैं। जब समाज में कुछ लोगों का घर बिना परिश्रम के प्राप्त अमाप धन से भर जाता है, तब उनका मस्तिष्क तो विकृत हो ही जाता है, समाज भी विकृतियों से भर जाता है।

"राहु का घर भर गया/अनुद्यम-प्राप्त अमाप निधि से।
तब/राहु का सर भर गया/विष-विषम पाप-निधि से।" (पृ. २३६)

बस फिर क्या था ? जब वो कुटिल शक्तियाँ मिलीं, तब :

"सिन्धु में बिन्दु-सा/माँ की गहन-गोद में शिशु-सा
राहु के गाल में समाहित हुआ भास्कर।" (पृ. २३८)

राहु के मुख में भास्कर को माँ की गहन गोद में शिशु की उत्प्रेक्षा कुछ अनुचित जान पड़ती है, क्योंकि माँ की गोद में शिशु सुरक्षित रहता है जबकि राहु के मुख में सूर्य मृत्युमुखी है। अन्य उपमाएँ सुन्दर हैं :

"दिखने लगा दीन-हीन दिन/दुर्दिन से घिरा दरिद्र गृही-सा।
...तिलक से विरहित/ललना-ललाट-तल-सम/गगनांगना का आँगन
अभिराम कहाँ रहा वह ?" (पृ. २३८)

मित्र के संकट को देख :

"अरुक, अथक पथिक होकर भी/पवन के पद थमे हैं आज
मित्र की आजीविका लुटती देख।" (पृ. २३९)

धरती पर गिरने वाले जलकणों से ऊपर की ओर उड़ने वाले भूकणों का ज़ोरदार टकराव हो रहा है, जिसके कारण जलकणों का बिखराव हो रहा है :

"अनगिन कण ये उड़ते हैं/थाह-शून्य शून्य में···!/रणभेरी सुनकर
रणांगन में कूदने वाले/स्वाभिमानी स्वराज्य-प्रेमी
लोहित-लोचन उद्भट-सम/...क्षण-क्षण में एक-एक होकर भी
कई जलकणों को, बस/सोखते जा रहे हैं···।" (पृ. २४३)

शान्त पथिकों का मुस्कराकर स्वागत करते पेड़ तथा आमन्त्रण देती लतिकाओं का सुन्दर चित्रण है :

"उत्तुंग-तम गगन चूमते/तरह-तरह के तरुवर/छत्ता ताने खड़े हैं,
श्रम-हारिणी धरती है/हरी-भरी लसती है/धरती पर छाया ने दरी बिछाई है।
फूलों-फलों पत्रों से लदे/लघु-गुरु गुल्म-गुच्छ/श्रान्त-श्लथ पथिकों को
मुस्कान-दान करते-से/आपाद-कण्ठ पादपों से लिपटी/ललित लतिकायें वह
लगती हैं आगतों को बुलाती-लुभाती-सी।"(पृ. ४२३)

कुम्भकार के आँगन में बिखरी धूप मानो सूर्य द्वारा आश्रम की सेवा के लिए भेजी गई उसकी स्त्री है :

"दिनकर ने अपनी अंगना को/दिन-भर के लिए
भेजा है उपाश्रम की सेवा में/और वह/आश्रम के अंग-अंग को
आँगन को चूमती-सी···/सेवानिरत-धूप···!" (पृ. ७९)

काव्य में प्रकृति चित्रण प्रमुख रूप से या तो आलम्बन या पृष्ठभूमि के रूप में होता है या उद्दीपन रूप में किन्तु इस काव्य में प्रकृति चित्रण एक नए रूप में हुआ है। प्रकृति के उपादान ही काव्य के पात्र बनकर उपस्थित हुए हैं। यहाँ प्रकृति चित्रण कथा-प्रवाह को आगे नहीं बढ़ाता है, अपितु स्वयं कथा का अंश बनकर आया है। प्रकृति के ये सभी उपकरण मानवी रूप में उपस्थित हुए हैं। इन्हें साकार करने में अलंकारों ने अपना पूरा सहयोग दिया है।

शब्दों पर असाधारण अधिकार है कवि का। शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों काव्य में स्वाभाविक रूप से आए हैं। शब्दालंकार में अनुप्रास, यमक व श्लेष के प्रयोग में कवि सिद्धहस्त है। विशेषत : यमक की छटा संस्कृत काव्य का स्मरण कराती है। इन सबको उद्धृत करना सम्भव नहीं।

अनुप्रास के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

"जल में जनम लेकर भी/जलती रही यह मछली
जल से, जलचर जन्तुओं से/जड़ में शीतलता कहाँ...?" (पृ. ८५)

आगे आने वाले उदाहरण में 'स' और 'र' वर्णों की कर्णप्रिय आवृत्ति है :

"सरिता सरकती सागर की ओर ही ना !/अन्यथा,
न सरिता रहे, न सागर !/यह सरकन ही सरिता की समिति है।" (पृ. ११९)

'स' और 'त' वर्णों की सुन्दर आवृत्ति का एक और उदाहरण :

"सुत-सन्तान की सुसुप्त शक्ति को/सचेत और
शत-प्रतिशत सशक्त—/साकार करना होता है, सत्-संस्कारों से।
सन्तों से यही श्रुति सुनी है।" (पृ. १४८)

अनुप्रास का ही एक उदाहरण और द्रष्टव्य है :

"कलिकाल की वैषयिक छाँव में/प्रायः यही सीखा है इस विश्व ने
वैश्यवृत्ति के परिवेश में—/वेश्यावृत्ति की वैयावृत्य···!" (पृ. २१७)

सभंग यमक के उदाहरण स्वरूप 'किसलय' का भिन्न अर्थ में प्रयोग हुआ है :

"किसलय ये किसलिए/किस लय में गीत गाते हैं ?
...अन्त-अन्त में श्वास इनके/किस लय में रीत जाते हैं ?" (पृ. १४१-१४२)

एक और उदाहरण जहाँ 'बदली' शब्द में यमक है :

"तीनों बदली ये बदली।" (पृ. २०७)

अर्थात् तीनों बदलियाँ बदल गईं।

साथ ही, स्त्री को देहमात्र समझते हैं जो, उनके प्रति कथन है कि स्त्री मात्र देह नहीं है वह कुछ और भी है। उसकी तरफ दृष्टि डालें :

"मैं अंगना हूँ/परन्तु,/मात्र अंग ना हूँ...!" (पृ. २०७)

यमक का एक उदाहरण और :

"अवसर से काम ले/अब, सर से काम ले !" (पृ. २३१)

धी–रता और धीरता, साथ ही काय–रता व कायरता में अर्थ वैभिन्न द्रष्टव्य है :

"धी-रता ही वृत्ति वह/धरती की धीरता है/और
कार्य-रता की वृत्ति वह/जलधि की कायरता है।" (पृ. २३३)

परखो का तीन बार अलग-अलग अर्थों में प्रयोग है :

"किसी विध मन में/मत पाप रखो,
पर, खो उसे पल-भर/परखो पाप को भी।" (पृ. १२४)

मित्रों से मिली मदद वस्तुतः अहंकार देने वाली होती है :

"मित्रों से मिली मदद/यथार्थ में मद-द होती है।" (पृ. ४५९)

ऐसे यमकों से सम्पूर्ण काव्य भरा पड़ा है। श्लेषानुप्राणित विरोधाभास का उदाहरण–दूरज और सूरज में आपाततः विरोध प्रतीत होता है। दूरज में श्लेष है– दुः+रज व दूर+ज।

"दूरज होकर भी/स्वयं रजविहीन सूरज ही
सहस्रों करों को फैलाकर/सुकोमल किरणांगुलियों से
नीरज की बन्द पाँखुरियों-सी/शिल्पी की पलकों को सहलाता है।" (पृ. २६५)

जो आदर्श जीवन से विमुख हो गया है, उसे अपना मुख आदर्श में दिखा। यहाँ भी श्लेषानुप्राणित विरोधाभास है। जो विमुख है, उसे मुख कैसे दिख सकता है। वह भी आदर्श से विमुख होने पर आदर्श में ही। आदर्श के श्लेष पर यह आधारित है।

"आदर्श में अपना मुख दिखा/विमुख हुआ जो आदर्श जीवन से।" (पृ. ३२१)

विराग का भाव जागृत होने पर उदासीन सेठ खाली मन से घर लौट रहा है। अनेक उपमाओं द्वारा उसका चित्र खींचा है:

- *"जल के अभाव में लाघव/गर्जन-गौरव-शून्य/वर्षा के बाद मौन*
  कान्तिहीन-बादलों की भाँति/छोटा-सा उदासीन मुख ले
  घर की ओर जा रहा सेठ···।" (पृ. ३४९)
- *"मूल-धन से हाथ धो कर/खाली हाथ घर लौटते*
  भविष्य के विषय में चिन्तित/किंकर्त्तव्यविमूढ़ वणिक-सम
  घर की ओर जा रहा सेठ···।" (पृ. ३५०)
- *"माँ के विरह से पीड़ित/रह-रह कर/सिसकते शिशु की तरह*
  दीर्घ-श्वास लेता हुआ/घर की ओर जा रहा सेठ···।" (पृ. ३५०-३५१)
- *"प्राची की गोद से उछला/फिर/अस्ताचल की ओर ढला*
  प्रकाश-पुंज प्रभाकर-सम/ आगामी अन्धकार से भयभीत
  घर की ओर जा रहा सेठ···।" (पृ. ३५१)
- *"शान्त-रस से विरहित कविता-सम/पंछी की चहक से वंचित प्रभात-सम*
  शीतल चन्द्रिका से रहित रात-सम/और/बिन्दी से विकल
  अबला के भाल सम/...घर आ पहुँचता है सेठ···!" (पृ. ३५१-३५२)

धीर गम्भीर नदी को चिरदीक्षिता आर्यिका से उपमित किया है :

"तरल-तरंगों से रहित/धीर गम्भीर हो बहने लगी,
हाव-भावों-विभावों से मुक्त/गत-वयना नत-नयना
चिर-दीक्षिता आर्या-सी !" (पृ. ४५५)

कुम्भ नदी को पारकर प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण विद्यार्थी के समान प्रसन्न है :

"कुम्भ के मुख पर प्रसन्नता है/प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण
परिश्रमी विनयशील/विलक्षण विद्यार्थी-सम।" (पृ. ४५५)

अतुकान्त होने पर भी समग्र कविता में एक लयात्मकता है और नाद सौन्दर्य भी :

- *"मृदु माटी से/लघु जाति से/मेरा यह शिल्प/निखरता है*
  और/खर-काठी से/गुरु जाति से/वह अविलम्ब/बिखरता है।" (पृ. ४५)
- *"वेतन वाले वतन की ओर/कम ध्यान दे पाते हैं/और*
  चेतन वाले तन की ओर/कब ध्यान दे पाते हैं ?" (पृ. १२३)

शब्दों के नए प्रयोग किए हैं। पलक संज्ञा का क्रिया रूप में प्रयोग है : "शिल्पी की आँखें पलकती नहीं हैं" (पृ. १६५)।

सुषुप्त, ऊषा, ऐहिक जैसे व्याकरण बाह्य प्रयोग भी मिलते हैं। शब्दों के विलोम के प्रति कवि का आकर्षण इतना अधिक है कि अवसर मिलते ही शब्दों की व्याख्या विलोम से करने लगते हैं– राही-हीरा, नदी-दीन, नाली-लीना, खरा-राख, तामस-समता, धरणी-णीरध आदि।

अनेक स्थलों पर कवि शब्दों के अर्थ बताने लगते हैं, उदाहरणार्थ :

- *"आँखों से अश्रु नहीं, असु/यानी प्राण निकलने को हैं।" (पृ. २७९)*
- *"गद का अर्थ है रोग/हा का अर्थ है हारक*
  मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ।" (पृ. ४०)

इस प्रकार कविता के मूल में शब्दों का स्पष्टीकरण कविता में शैथिल्य उत्पन्न करता है। यह असाधारण महाकाव्य व्युत्पन्नों के लिए है। यदि क्लिष्ट शब्द की व्याख्या अपेक्षित हो, तो कविता से बाहर पादटिप्पणी में उसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

यद्यपि यह महाकाव्य मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन के लिए तथा वीतराग श्रमण संस्कृति के संरक्षण के लिए रचित है। ये सिद्धान्त काव्य में इतने मुखर हैं कि उन्हें दोहराने की आवश्यकता नहीं है। हर सत्ता (आत्मा) में विकास की अनन्त सम्भावनाएँ हैं। परन्तु मुक्तिपथ की यात्रा तभी आरम्भ होती है जब अपनी असत्य स्थिति का बोध होता है। और तब यदि समुचित परिस्थिति तथा माता के समान गुरु मिल जाए तो साधना के क्षेत्र में चरण चल पड़ते हैं। यह सच है कि साधना के क्षेत्र में स्खलन की असीम सम्भावनाएँ हैं। यह भी सच है कि स्खलनाएँ जीवन में अनर्थ उत्पन्न करती हैं। कभी-कभी साधक की आशा और उत्साह, साहस और धैर्य भी जबाव दे जाता है, परन्तु जैसे लौकिक जीवन बाह्य संघर्षों से घिरा है वैसे ही आध्यात्मिक जीवन में भी अन्तरंग शत्रुओं से संघर्ष करते हुए ही आगे बढ़ना होता है। निर्ग्रन्थ मुनि नदी के प्रवाह के समान अरुक, अथक, गति से लक्ष्य की ओर गतिमान होता है।

इस काव्य में जो तथ्य आद्योपान्त व्यक्त हुआ है वह यह कि प्रतिवस्तु का जीवन त्रिकाल-जीवन है, क्योंकि प्रतिवस्तु स्वभावतः सृजनशील व परिणमनशील है और इसीलिए किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। यथार्थ में प्रतिपदार्थ वह स्वयंकार होकर भी यह उपचार हुआ है। शिल्पी का नाम कुम्भकार हुआ है। इसीलिए कवि ने यह प्रश्न किया है कि क्या एक बार दूध में से घी बाहर निकलने पर फिर वही दूध बनता है ? इसी प्रकार मुक्त परमात्मा भी कभी शरीरी नहीं हो सकता। और अशरीरी इस असीम सृष्टि की रचना नहीं कर सकता।

यह महाकाव्य साहित्य के माध्यम से दर्शन को प्रस्तुत करने की जैनाचार्यों की प्राचीन परम्परा का अक्षुण्ण निर्वाह करता है। परन्तु यह परम्परा इस महाकाव्य में आकर मौलिक हो गई है, क्योंकि इसके लिए कवि ने किसी प्रसिद्ध कथा या कथानायक का आश्रय नहीं लिया है। एक अभिनव मौलिक कथा का सृजन किया है। सभी साहित्यिक गुणों से मण्डित यह महाकाव्य, इसलिए महाकाव्य है कि यह महाकाव्य के लिए आवश्यक उदात्तता से मण्डित है। मनुष्य का चरम लक्ष्य इसका प्रयोजन है। यह युगीन चेतना से संवलित है तथा उदात्त शैली में रचित है। वस्तुतः यह ऐसा साहित्य है जिसका स्रष्टा शान्ति की साँस लेता सार्थक जीवन ही हो सकता है। □



'मूकमाटी' : आधुनिक परिवेश की जीवन्त अभिव्यक्ति

डॉ. के. आर. मगरदे

समकालीन कविता में कविता का प्रबन्धात्मक स्वरूप दुर्लभता से दिखाई देता है, क्योंकि प्रबन्धात्मकता के अपने खतरे हैं। आज का युग विशेषज्ञता का युग है—चिन्तन के क्षेत्र में भी और कविता के क्षेत्र में भी, यद्यपि किसी बिन्दु विशेष को लेकर चिन्तन के क्षेत्र में चरम स्तर तक पहुँचना समकालीन कवियों की विशेषता रही है। इसी कारण वे अपने पूर्ववर्ती कवियों से आगे भी पहुँचे हैं, किन्तु विचारों की एकांगिता के कारण वे प्रबन्ध काव्य लिखने का साहस नहीं कर सके। विचारों की व्यापकता, गहनता और उत्कृष्टता के कारण 'मूकमाटी' ने समकालीन कविता में महाकाव्यात्मक स्वरूप को प्रतिष्ठित किया।

'मूकमाटी' एक प्रतीकात्मक महाकाव्य है पर इसमें न तो पारम्परिक धीरोदात्त पात्रों की सृष्टि की है, न ऐतिहासिक घटनाओं का सृजन बल्कि नूतन पात्र सृष्टि और नूतन घटनाक्रम का उल्लेख करते हुए दर्शन की गूढ़ता को सादगीपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया है। साथ ही प्रतीकों और संकेतों के माध्यम से समकालीन परिवेश को भी उद्घाटित किया है। इसके पात्र मानव भले ही न हों लेकिन वे गहन मानवीय संवेदना से परिपूर्ण हैं।

युग का इतिहास आज जिस मोड़ पर खड़ा है वहाँ मनुष्य अपनी माटी से दूर होता जा रहा है। ऐसे समय में दु:खी, दरिद्र और असहाय लोगों का प्रतीक बनाकर 'मूकमाटी' का रचा जाना अत्यन्त प्रासंगिक है। जो वस्तु हमारे जीवन और संस्कृति के सूक्ष्म स्पन्दनों से सम्पृक्त है, उसके लिए माटी से बढ़कर दूसरा कोई प्रतीक सम्भव भी नहीं है। यहाँ माटी मूक होते हुए भी बहुत कुछ बोल रही है।

लघुत्व के प्रति आस्था

'मूकमाटी' का लक्षित व्यक्ति लघु मानव है। इस लघु मानव को सदियों से पद दलित किया गया तथा उपेक्षा और भेदभाव की दृष्टि से देखा गया, ठीक माटी की तरह। वह सन्त्रस्त परिस्थितियों को भोग रहा है। उसके मन में दर्द है, संशय है, कुण्ठा है किन्तु विश्वास है कि वह परिस्थितियों पर विजय अवश्य प्राप्त कर लेगा। समाज के तथाकथित अमीर और बड़े कहलाने वाले व्यक्तियों के प्रति कवि में तीव्र रोष है और गरीब तथा लघु मानव के प्रति आत्मीयता के भाव पूरे महाकाव्य में विद्यमान हैं। प्रारम्भ में ही वे घोषणा करते हुए कहते हैं :

"अमीरों की नहीं/गरीबों की बात है;
कोठी की नहीं/कुटिया की बात है।" (पृ. ३२)

जब कभी छोटी जाति, छोटे मनुष्य की बात कहने का अवसर मिला है, कवि वहाँ रम गए हैं। लघुत्व की बात करते हुए उनकी शैली में निखार उत्पन्न होता है। 'मूकमाटी' का शिल्पी कहता है :

"मृदु माटी से/लघु जाति से/मेरा यह शिल्प/निखरता है
और/खर-काठी से/गुरु जाति से/वह अविलम्ब/बिखरता है।" (पृ. ४५)

मिट्टी और कंकड़ धरती के दो तत्त्व हैं। माटी में मृदुता है, नमी है, जल धारण करने की क्षमता है, शालीनता है और उर्वरापन है जबकि कंकड़ में कठोरता है। वह माटी में मिल नहीं सकता, पीसने पर भी अपने गुण धर्म को छोड़ नहीं सकता अपितु रेतीला बन जाता है लेकिन माटी नहीं बनता। युगों-युगों तक जलाशय में रहकर भी जल को धारण

नहीं करता, इतना निष्ठुर है। ये दोनों तत्त्व समाज के दो वर्गों के प्रतीक हैं। जिनके हृदय में लघु मानव के प्रति सहानुभूति नहीं है, दूसरों के दु:ख-दर्द देखकर जिन्हें दया नहीं आती ऐसे निष्ठुर लोगों को कवि ने फटकारा है:

"दूसरों का दु:ख-दर्द/देखकर भी/नहीं आ सकता कभी
जिसे पसीना/है ऐसा तुम्हारा/···सीना।" (पृ. ५०)

महाकाव्यों की यह परम्परा रही है कि उसके पात्र जग प्रसिद्ध, धीरोदात्त और ऐतिहासिक रहे हैं। इसी प्रकार पशु-पक्षियों का भी कहीं वर्णन हुआ है तो वह सुन्दर,शक्तिशाली और लोकप्रिय पशु रहा है। चाहे वह हिरण हो या शेर, मयूर हो या कोयल कवियों के प्रिय रहे हैं। इसके विपरीत विद्यासागरजी उन पशुओं का वर्णन करते हैं जो सदियों से मानव की सेवा करते रहे हैं, उनका बोझ ढोते रहे हैं और बदले में मूर्खता की उपाधि ही पाते रहे हैं। सामाजिक शब्दावली में 'गदहा' एक गाली बन चुका है, उसी पद दलित और उपेक्षित पशु के प्रति कवि के भाव हैं :

"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/'गद' का अर्थ है रोग
'हा' का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस,
और कुछ वांछा नहीं/गदहा···गद-हा···!" (पृ. ४०)

मात्र शाब्दिक चमत्कार उत्पन्न करना कवि का प्रतिपाद्य नहीं है। वस्तुओं को देखने की यह दृष्टि उनके सामाजिक सोच को दर्शाती है।

राजनैतिक परिदृश्य

जब देश आजाद हुआ तो हमें प्रजातन्त्र से काफी उम्मीदें थीं। यह स्वाभाविक भी है कि जिनकी तक़दीर शताब्दियों तक दूसरे के आदेशों से संचालित होती रही उन्हें प्रजातन्त्र में अपनी क़िस्मत का फैसला करने का अधिकार मिला, यह उनके लिए सौभाग्य की बात है लेकिन उनसे भी शीघ्र ही मोहभंग हो गया। कलाकारों और बुद्धिजीवियों ने महसूस किया कि सत्य का फैसला कभी भी भीड़ द्वारा नहीं हो सकता। 'मूकमाटी' का रचनाकार भी अपनी इस अनुभूति को नदी के माध्यम से व्यक्त करता है :

"भीड़ की पीठ पर बैठकर/क्या सत्य की यात्रा होगी अब !
नहीं···नहीं, कभी···नहीं।" (पृ. ४७०)

बहुदल प्रणाली प्रजातान्त्रिक व्यवस्था को स्वस्थ रूप प्रदान करने के उद्देश्य से लागू की गई लेकिन उसने विचारों की विविधता के कारण अनेक समस्याओं को उत्पन्न किया। इस दिशा में कवि का संकेत द्रष्टव्य है:

"दल-बहुलता शान्ति की हननी है ना !/जितने विचार, उतने प्रचार
उतनी चाल-ढाल/हाला घुली जल-ता/क्लान्ति की जननी है ना !" (पृ. १९७)

राजनीतिक दल देश के विकास को भूलकर स्वार्थसिद्धि में संलग्न हो गए। उनके विचार और वादे सैद्धान्तिक ही रहे, व्यवहार में उनका पालन दुर्लभता से दिखाई देने लगा। लोग या तो पैसा कमाने के उद्देश्य से या ख्याति प्राप्त करने के लिए किसी कार्य को करते हैं। नि:स्वार्थ सेवा समाप्त हो गई, जिससे देश को बड़ी-बड़ी हानियों का सामना करना पड़ रहा है :

"तुच्छ स्वार्थसिद्धि के लिए/कुछ व्यर्थ की प्रसिद्धि के लिए
सब कुछ अनर्थ घट सकता है।" (पृ. १९७)

व्यवस्था इतनी सड़-गल चुकी है कि कोई सभ्य व्यक्ति इस दिशा में क़दम बढ़ाने का साहस नहीं करता। और जो व्यक्ति सत्य और ईमानदारी का पक्ष लेकर चलता है उसे असफलता का मुँह देखना पड़ता है। सफलता उसी के पक्ष में जाती है जिसके पास बहुमत होता है। कवि ने इस पीड़ा को माटी के माध्यम से व्यक्त किया है। महाकाव्य के अधिकांश पात्र मिलकर बहुमूल्य धातुओं को उगलने वाली, अन्न को उत्पन्न करने वाली ऊर्जावान् माटी को मिथ्या साबित करने की कोशिश करते हैं :

"प्रायः बहुमत का परिणाम/यही तो होता है,
पात्र भी अपात्र की कोटि में आता है।" (पृ. ३८२)

जो धर्म सदा ही मनुष्य को संस्कारित और उदात्त जीवन जीने की प्रेरणा देता रहा, राजनीति के हाथों में पड़कर वह भी स्वार्थसिद्धि का एक साधन बन गया। लोग धर्म की व्याख्याएँ अपने-अपने हित की दृष्टि से करने लगे। फलस्वरूप पूजा-अर्चना के साधन राजनीतिक हथियार बन गए :

- *"अब तो···/अस्त्रों, शस्त्रों, वस्त्रों/और कृपाणों पर भी*
  'दया-धर्म का मूल है'/लिखा मिलता है।/किन्तु,/कृपाण कृपालु नहीं हैं
  ये स्वयं कहते हैं/हम हैं कृपाण/हम में कृपा न!" (पृ. ७३)
- *"प्रभु-स्तुति में तत्पर/सुरीली बाँसुरी भी/बाँस बन पीट सकती है*
  प्रभु-पथ पर चलनेवालों को।/समय की बलिहारी है!" (पृ. ७३)

धर्मस्थानों और शास्त्रों का उपयोग मानवता के विकास के लिए है। जीवन के हर मोड़ पर सुख और दुःख का सहचर बनकर शास्त्र हमारे समक्ष उपस्थित होता है। संसार में जब हमें कहीं सुख-चैन नहीं मिलता, हर क्षेत्र में निराशा हमारे हाथों लगती है, ऐसी स्थिति में धर्मस्थल हमें शान्ति प्रदान करते हैं। हमारे इन स्थलों को भी चन्द स्वार्थी लोगों ने अपने अहंकार और प्रतिशोध के अड्डे बना रखे हैं। कवि का इस दिशा में चिन्ता करना न्यायोचित है। मछली की सखी मछली से कहती है :

"...धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है
शास्त्र शस्त्र बन जाता है/अवसर पाकर।" (पृ. ७३)

किसी व्यवस्था को यदि भला-बुरा कहा जाए तो उसके विकल्प को प्रस्तुत करना अच्छे चिन्तक का दायित्व भी बनता है। यदि हमारी वर्तमान व्यवस्था रुग्ण हो गई है तो उसका उपचार क्या हो ? ऐसी कौन सी व्यवस्था होगी जिसमें मानव मूल्य सुरक्षित रह सके। इस सम्बन्ध में रचनाकार की टिप्पणी है कि जब तक प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्र में अपने दायित्व का निर्वाह नहीं करेगा, परिश्रम पूर्वक कार्य नहीं करेगा तब तक कलयुगी यातनाओं का अन्त नहीं होगा :

"श्रम-शीलों का हाथ उठाना ही/कलियुग में सत्-युग ला सकता है,
धरती पर···यहीं पर/स्वर्ग को उतार सकता है।" (पृ. ३६२)

बातों में दोहरापन, आचार और विचार में अन्तर, झूठे आश्वासन, समाजवाद के झूठे सपने वर्तमान राजनीतिज्ञों

की प्रमुख शैली बन गई है। समाजवाद महज एक नारा नहीं है, वह एक जीवन शैली है। कविश्री कहते हैं :

"प्रचार-प्रसार से दूर/प्रशस्त आचार-विचार वालों का
जीवन ही समाजवाद है।/समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से
समाजवादी नहीं बनोगे।" (पृ. ४६१)

आज धन का संग्रह सीमित व्यक्तियों के हाथों में हो रहा है और राजनैतिक नेता उनसे लाभ प्राप्त करते हैं। परिणामस्वरूप वे उनके हाथों की कठपुतलियाँ बनते जा रहे हैं। नेताओं को वैसी ही नीतियाँ लागू करनी पड़ती हैं जो धनिक वर्ग के हितों के अनुकूल हों। अतः अब आवश्यकता है जनता में चेतना जागृत करने की, और मेहनतकशों द्वारा अर्जित धन को समान रूप से वितरित करने की :

"अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो!/और/लोभ के वशीभूत हो
अँधाधुन्ध संकलित का/समुचित वितरण करो।" (पृ. ४६७)

राजनीतिज्ञों द्वारा अनुचित व्यक्तियों को सहयोग देने के कारण भ्रष्टाचार पनपने लगा है। जो व्यक्ति मेहनती है, ईमानदार है उसे जब समुचित लाभ नहीं मिल पाता है बल्कि उसके अधिकृत लाभ का अपव्यय होता है और वह इस प्रक्रिया को रोक पाने में अपने आपको असमर्थ पाता है, तब वह भी उसी मार्ग पर अग्रसर हो जाता है और भ्रष्टाचार में संलग्न हो जाता है, जबकि मूलतः वह भ्रष्टाचारी नहीं है। उसे चोर बनाया गया है :

"चोर इतने पापी नहीं होते/जितने कि/चोरों को पैदा करने वाले।
तुम स्वयं चोर हो/चोरों को पालते हो/और/चोरों के जनक भी।" (पृ. ४६८)

सत् और असत् की प्रवृत्तियाँ समाज में सदैव विद्यमान रहती हैं। अवसर पाकर उग्रवादी शक्तियाँ उभरने लगती हैं। यदि सावधानी पूर्वक उनका सामना नहीं किया जाए तो वह अपनी अनुचित माँगों को मनवाने के लिए कुछ भी कर सकती हैं। 'मूकमाटी' में आतंकवाद मार्ग विरोधी बनकर परिवार के समक्ष खड़ा हो जाता है, अन्धाधुन्ध पत्थरों की वर्षा करता है और कहता है कि हमें मनमोहक विलासिता की वस्तुएँ प्रदान करो। परिणामस्वरूप परिवार का दिल दहल उठता है किन्तु नदी धैर्यपूर्वक उन्हें समझाती है :

"सत्य का आत्म-समर्पण/और वह भी/असत्य के सामने ?
हे भगवन!/यह कैसा काल आ गया,/क्या असत्य शासक बनेगा अब ?
क्या सत्य शासित होगा ?" (पृ. ४६९)

आतंकवादी शक्तियों के समक्ष आत्म-समर्पण करना कवि को स्वीकार नहीं है। आतंकवादियों की शर्तों को स्वीकार करना समस्या का समाधान नहीं है। आतंकवाद को नष्ट किए बगैर शान्ति सम्भव नहीं है :

"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह,/ये आँखें अब/आतंकवाद को देख नहीं सकतीं।" (पृ. ४४१)

इस प्रकार विस्तृत राजनीतिक परिदृश्य पर कवि की दृष्टि है। वे एक अन्तःकथा के माध्यम से अनेक अनुभूतियों को एक साथ अभिव्यक्त करते हैं।

पूँजीवाद का विरोध

नवें दशक के साहित्य में धन के विनाशकारी प्रभाव की ओर प्रायः सभी साहित्यकारों ने संकेत किया है। धन की लालसा ने सभी प्रकार के सिद्धान्तों को लील लिया है। पेट की सामान्य भूख को तो मिटाया जा सकता है लेकिन लोभ की इस तृषा को कैसे मिटाएँ ? धन की लालसा में लोग निर्लज्ज हो गए हैं :

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादक और उपभोक्ता वर्ग गौण हो गया है और मध्यस्थ वर्ग प्रमुख हो गया है। जीवन मूल्यों का एक मात्र आधार आर्थिक लाभ हो गया है। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ अगर कोई रिश्ता है तो वह व्यवसाय का रिश्ता है। यदि किसी व्यक्ति से किसी लाभ की सम्भावना न हो तो वह व्यक्ति चाहे हमारा कितना ही निकट सम्बन्धी क्यों न हो, हमारे लिए अनुपयोगी हो गया है।

"अधिक अर्थ की चाह-दाह में/जो दग्ध हो गया है
अर्थ ही प्राण, अर्थ ही त्राण/यूँ—जान-मान कर,/अर्थ में ही मुग्ध हो गया है,
अर्थ-नीति में वह/विदग्ध नहीं है।" (पृ. २१७)

पूँजीवाद ने अमीर और गरीब वर्ग के मध्य ऐसी विशाल दीवार खड़ी कर दी है कि उससे तमाम मानवीय सम्बन्ध नष्ट हो गए हैं। धनवानों की दृष्टि में गरीब पशु से भी बदतर हैं। उनके प्रति सहानुभूति और सहयोग तो दूर, वे जिस स्थिति में हैं, उन्हें वे उस स्थिति में भी नहीं रहने देते हैं अपितु उनका निरन्तर शोषण करते रहते हैं। इस विभेद को देखकर माटी का कुम्भ प्रभु से प्रार्थना करता है :

"एक का उत्थान/एक का पतन/एक धनी, एक निर्धन
एक गुणी, एक निर्गुण/एक सुन्दर, एक बन्दर/यह सब क्यों ?" (पृ. ३७२)

उत्पादन की नई-नई प्रणालियाँ आविष्कृत कर उत्पादन बढ़ाना बुरी बात नहीं है। अधिक उत्पादन से सभी का हित होता है, सुख-सुविधाएँ और समृद्धियाँ बढ़ती हैं। लेकिन यदि नई प्रणालियों को लागू करने का उद्देश्य शोषण द्वारा धन अर्जित करना है तो ऐसी योजनाओं का नष्ट होना ही श्रेयस्कर है। 'मूकमाटी' में सागर राहु को याद करके कहता है :

"शिष्टों का उत्पादन—पालन हो/दुष्टों का उत्पातन—गालन हो,
सम्पदा की सफलता वह/सदुपयोगिता में है ना !" (पृ. २३५)

यह वही भारत है जिसका दर्शन 'वसुधैव कुटुम्बकम्' था। लेकिन धन की लालसा ने हमारे इस दर्शन पर पानी फेर दिया। मानवता समाप्त होती जा रही है और दानवता उत्पन्न होती जा रही है। इस परिवर्तन की ओर संकेत करते हुए कवि कहते हैं :

" 'वसुधैव कुटुम्बकम्'/इसका आधुनिकीकरण हुआ है
'वसु' यानी धन-द्रव्य/'धा' यानी धारण करना/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

आज धन को सुख-सुविधा और शान्ति प्राप्त करने का एक साधन माना जाता है लेकिन धन की अन्धी दौड़ ने किसी को भी शान्ति नहीं दी बल्कि अशान्ति ही दी है। धन की संगति करने वाला प्रायः दुर्गति का पथ पकड़ता है। बिहारी भी कहते हैं कि स्वर्ण में धतूरे से अधिक मादकता है : "या खाये बौराय नर, वा पाये बौराय।" धन की लालसा मनुष्य को पराधीनता की ओर ले जाती है, क्योंकि इसमें स्वार्थपरता है। स्वर्ण कलश को सम्बोधित करते हुए कवि कहते हैं :

"परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम,/पूँजीवाद के अभेद्य
दुर्गम किला हो तुम/और/अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला!" (पृ. ३६६)

दौलत कभी स्थाई नहीं होती। यदि क्षण भर में दौलत का नशा व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षाओं को शिखर पर पहुँचा सकता है तो अगले ही क्षण उसे रसातल में भी पहुँचा सकता है। माटी का कलश गरीब वर्ग का प्रतिनिधित्व करता हुआ अमीर वर्ग के प्रतीक स्वर्ण कलश से संवाद करता है, ठीक निराला के 'कुकुरमुत्ता' की तरह :

"तुम स्वर्ण हो/उबलते हो झट से,/माटी स्वर्ण नहीं है
पर/स्वर्ण को उगलती अवश्य,/तुम माटी के उगाल हो।" (पृ. ३६४-३६५)

धनवान् लोगों का जीवन, उनकी शानो-शौकत आम व्यक्ति के लिए बड़ा आकर्षक और लुभावना होता है। एक गरीब व्यक्ति किसी अमीर का सान्निध्य पाकर गौरवान्वित महसूस करता है। किन्तु अमीर व्यक्ति किसी गरीब के सम्पर्क में आता तो उसके पीछे उसका कोई स्वार्थ होता है। अन्यथा गरीब के प्रति उसके मन में कोई सहानुभूति नहीं होती है। नित्य रक्त चूसने वाला मच्छर एक सेठ के सम्बन्ध में अपने उद्‌गार व्यक्त करता है :

"अरे, धनिकों का धर्म दमदार होता है,/उनकी कृपा कृपणता पर होती है,
उनके मिलन से कुछ मिलता नहीं,/काकतालीय-न्याय से/कुछ मिल भी जाय
वह मिलन लवण-मिश्रित होता है/पल में प्यास दुगुनी हो उठती है।" (पृ. ३८५)

प्रकृति और पर्यावरण

मूलतः 'मूकमाटी' प्रकृति चित्रण का महाकाव्य है। सम्पूर्ण कथानक को प्रकृति के मानवीकरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मिट्टी, कंकड़, नदी, कुआँ, लकड़ी, आग, पानी, सागर, बादल, सूर्य, चन्द्र, मच्छर, गदहा, मछली आदि प्राकृतिक उपादान इसके पात्र हैं। प्रकृति के प्रति इससे अधिक संलग्नता और क्या हो सकती है ? मात्र फूल-पत्तियों, पर्वतों-निर्झरों के सौन्दर्य का वर्णन करना ही प्रकृति चित्रण नहीं है अपितु प्रकृति के एक-एक तत्त्व को जीवन-सत्त्व के साथ सम्पृक्त कर देना प्रकृति चित्रण की महान् परिकल्पना है।

एक ओर कवि प्रकृति की अनुपम छटा पर मुग्ध है तो दूसरी ओर मानव द्वारा प्रकृति पर किए जा रहे अत्याचारों से दुःखी भी है। युगों-युगों से प्रकृति का शाश्वत सौन्दर्य मनुष्य को आकर्षित करता रहा है। उषा और सन्ध्या पर न जाने कितनी कविताएँ लिखी गईं लेकिन वह सौन्दर्य अखण्ड है, अपरिमेय है। प्रातःकाल का एक दृश्य देखिए :

"बाल-भानु की भास्वर आभा/निरन्तर उठती चंचल लहरों में
उलझती हुई-सी लगती है/कि/गुलाबी साड़ी पहने/मदवती अबला-सी
स्नान करती-करती/लज्जावश सकुचा रही है।" (पृ. ४७९)

प्रकृति की हरियाली देख कवि आत्म-विभोर हो जाते हैं। प्रकृति का यह दृश्य स्वेद को हरने वाला है,

सांसारिक उलझनों को यति (विराम) देने वाला है तथा चिन्ताग्रस्त मस्तिष्क को शान्ति प्रदान करने वाला है।

"उत्तुंग-तम गगन चूमते/तरह-तरह के तरुवर
छत्ता ताने खड़े हैं,/श्रम-हारिणी धरती है/हरी-भरी लसती है
धरती पर छाया ने दरी बिछाई है।" (पृ. ४२३)

जो प्रकृति हमें सुख-शान्ति देती है, परिश्रम को हरती है, उसी के विनाश के लिए हम सर्वदा तैयार रहते हैं। हम अपने छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए प्रकृति माँ पर अत्याचार करते हैं। कवि चिन्ता व्यक्त करते हुए कहते हैं :

"जीवन को मत रण बनाओ/प्रकृति माँ का व्रण सुखाओ !
...जीवन को मत रण बनाओ/प्रकृति माँ का ऋण चुकाओ !
...जीवन को मत रण बनाओ/प्रकृति माँ का न मन दुखाओ।" (पृ. १४९)

यह पृथ्वी बहुमूल्य खनिजों से परिपूर्ण है। वह कई प्रकार की वनस्पतियाँ हमें प्रदान करती है। लेकिन प्रकृति और मनुष्य के बीच लेन-देन का एक सन्तुलन होना चाहिए। 'कुमारी' का अर्थ व्यक्त करते हुए आचार्यजी पर्यावरण की चिन्ता भी करते हैं :

" 'कु' यानी पृथिवी/'मा' यानी लक्ष्मी/और/'री' यानी देनेवाली···
इससे यह भाव निकलता है कि/यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना
तब तक रहेगी/जब तक यहाँ 'कुमारी' रहेगी।" (पृ. २०४)

भारतवर्ष संसार का ऐसा सौभाग्यशाली देश है जहाँ ऋतुओं की विविधता दिखाई देती है। लेकिन यदि हम प्रकृति का शोषण इसी अनुपात में करते रहेंगे तो प्रकृति की वे ऋतुएँ मात्र इतिहास के पन्नों में दिखाई देंगी।

"वह राग कहाँ, पराग कहाँ/चेतना की वह जाग कहाँ ?
वह महक नहीं, वह चहक नहीं,/वह ग्राह्य नहीं, वह गहक नहीं।" (पृ. १७९)

दार्शनिक स्वर

'मूकमाटी' एक साहित्यिक कृति ही नहीं अपितु धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म का विवेचन प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ भी है। कविता में दर्शन जैसे जटिल विषय को प्रस्तुत करने के बावजूद कविता को धर्म एवं दर्शन के भार से बोझिल नहीं होने दिया बल्कि धर्म की बड़ी सहजता एवं सुगमतापूर्वक प्रस्तुति की है।

आचार्यजी धार्मिक कट्टरता के विरोधी हैं। वे धर्म के उस मार्ग को सर्वोत्तम मानते हैं जो आडम्बर रहित हो और सर्वग्राह्य हो। सत्य का अन्वेषण धर्म की प्रमुख प्रवृत्ति है। सत्य किसी युग की प्रवृत्ति नहीं है। वह प्रत्येक युग में विद्यमान रहता है। यह कहकर कि अब तो जमाना बदल गया है, कलियुग आ गया है, जीवनयापन करने के लिए परिस्थितियों के अनुरूप असत्य का भी आश्रय लेना पड़ता है-आदि कहकर सत्य को नकार नहीं सकते। सत्-युग और कलियुग ये दो जीवन दृष्टियाँ हैं, युग विशेष नहीं। माटी मछली से कहती है :

"सत्-युग हो या कलियुग/बाहरी नहीं/भीतरी घटना है वह
सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा !/और

असत्-विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ/सत् को असत् माननेवाली दृष्टि
स्वयं कलियुग है, बेटा!" (पृ. ८३)

अपनी-अपनी मर्यादाओं में रहकर ही धर्म का पालन हो सकता है। जीवन पद्धतियाँ भिन्न-भिन्न होने के कारण धार्मिक अनुष्ठानों के तरीके भी भिन्न-भिन्न हो गए हैं, लेकिन मूलतः वे एक हैं। दूसरे की प्रकृति को देखकर ही हमें अपने व्यक्तित्व का विकास करना चाहिए। जलती अगरबत्ती को छूने पर वह हाथ को अवश्य जलाएगी।

"लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन/रावण हो या सीता
राम ही क्यों न हों/दण्डित करेगा ही।" (पृ. २१७)

भारतीय दर्शन की विविध धाराओं को 'मूकमाटी' में समन्वित होते हुए देखा जा सकता है। जहाँ कहीं धार्मिक उदात्तता है, उसे ग्रहण किया है और जहाँ कहीं कट्टरता है, आडम्बर है वहाँ उसका विरोध किया है। निश्चित रूप से 'मूकमाटी' दार्शनिक महाकृति है, जिनमें जैन धर्म का विशद विवेचन हुआ है। उपादान-निमित्त सिद्धान्त, श्रमण संस्कृति, अहिंसा की साधना, पुद्गल के लक्षण, एकान्तवाद और अनेकान्तवाद आदि जैन सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

प्रतीक एवं बिम्ब विधान

'मूकमाटी' का शिल्प प्रतीकों और बिम्बों से निर्मित है। इसमें प्रत्येक प्रसंग एकाधिक अर्थों को लेकर चलता है। सम्पूर्ण कथा विविध अन्तःकथाओं से संयोजित है। अन्तःकथाएँ भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक सूत्र में इस तरह पिरोयी गई हैं कि वे कथा को बिखरने नहीं देतीं और न ही कथा प्रवाह में कोई विघ्न उत्पन्न होता है। जब कवि एक प्रसंग का संस्पर्श करते हैं तो उसकी अतल गहराई तक पहुँच कर उसमें से आध्यात्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि कई अनुभूतियों को सम्प्रेषित करते हैं और इस सम्प्रेषण के दौरान पाठक के मन में अगले प्रसंग के लिए जिज्ञासा भी बनाए रखते हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त प्रतीक एवं बिम्ब जीवन दर्शन, आत्मालोचन, भावुकता एवं बौद्धिकता आदि से परिपूर्ण हैं।

निष्कर्षतः 'मूकमाटी' अपने परिवेश की जीवन्त अभिव्यक्ति है। इसमें सामाजिक वैषम्य, राजनीतिक पतन, नैतिक मूल्यों की गिरावट, अर्थलिप्सा, धार्मिक आडम्बर जैसे यथार्थ तथ्यों को एक वीतरागी सन्त ने चुनौतीपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने समस्याओं को उद्घाटित करके ही इतिश्री नहीं ली वरन् उनका समाधान भी प्रस्तुत किया है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से 'मूकमाटी' 'रामचरितमानस' के बाद सबसे सशक्त रचना है और शिल्प की दृष्टि से 'कामायनी' के बाद आधुनिक काल का दूसरा प्रतीकात्मक महाकाव्य है। हमारे विषम परिवेश को संस्कारित करना 'मूकमाटी' का मूल प्रतिपाद्य है। वह व्यक्ति को भीतर से इतना शक्तिशाली और दृढ़ बना देना चाहता है जिससे कोई प्रतिक्रियावादी शक्ति उसे विचलित न कर सके बल्कि विषम से विषम परिस्थितियाँ भी पराजित होकर ऐसे समाज के निर्माण में संलग्न हो जाएँ जिसमें सभी लोग बन्धुत्व और भाईचारे के साथ जीवनयापन करें। तब ऐसे समाज में न कोई किसी का शोषक होगा न किसी का शासक।

□

आज के अन्धकार युग में प्रकाश-स्तम्भ : 'मूकमाटी'

आलोक वर्मा

सद्गुणों का अनन्त प्रवाह ही सन्त होने की परिभाषा है। किसी सन्त में जब भावना के स्तर पर सौन्दर्य बोध जाग्रत होता है तो वह निर्जीव को सजीव-सम बनाकर उसमें अपने आप को समाहित कर देता है। उसकी यह प्रक्रिया उसे एक ऐसा दर्पण आन्तरिक रूप से प्रदत्त करती है जिसमें वह उस निर्जीव की सजीवता से सीधा तारतम्य बैठाती है। उसे एक अभिव्यक्ति की भाषा भी मिल जाती है। उसी दर्पण में निर्जीवता में सजीवता का बोध करते-करते सन्त भाव-लहरियों में हिचकोले भरता है तो कविता फूट पड़ती है। चूँकि सन्त सद्गुणों का पर्याय होता है इसलिए सन्तत्व के मूल्य ही उसके बिम्ब बनते हैं।

माटी निर्जीव है, निष्प्राण है, निष्प्रकम्प है। सामान्य व्यक्ति की दृष्टि में उपेक्षित है, उपहासित है। दृष्टि का ही अन्तर होता है। वह माटी जिसमें हम पैदा होते हैं, जिसके रजकण में लोट-लोट कर हम बड़े होते हैं, जिसकी छाती को वेधकर जब हम उसमें बीज डालते हैं वही माटी हमें अन्न देती है; उसी माटी को वेधकर हम सरोवर, कूप बनाते हैं जो हमारी प्यास शान्त करता है; वह माटी स्वयमेव अपनी छाती पर फलदार वृक्षों को उगाकर हमें तृप्त करती है; वही माटी अपनी छाती पर पर्वतों का भार उठाकर हमें जल, पर्यावरण देती है; वही माटी जब संवेदनशील व्यक्ति की वैचारिक धारा में प्रवाहित होती है तो सजीव होकर धर्म का पर्याय बनकर, मूल्यों का पर्याय बनकर, अभिव्यक्ति पाकर रचनाकार की लेखनी से सजीव हो उठती है, प्राणवान् बन जाती है तथा निरन्तर प्रकम्पित हो मूल्य बोधों का एहसास कराती है। समस्त चर-अचर के अस्तित्व को, उसकी सम्पूर्ण वेदना, संवेदना को अपने अन्दर समेट कर महाकाव्य की आधार शिला बन जाती है।

मनुष्य जीवन स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की प्रक्रिया है किन्तु स्वभाववश मनुष्य स्थूल के ही विवेचन में, स्थूल की लौकिकता में या स्थूल के विश्लेषण में ही उलझा रहता है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की प्रक्रिया ही हमारी संस्कृति की पहचान है। सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर प्रवाह ही भारतीय सन्त परम्परा की कसौटी रही है। संवेदना के स्तर पर इसे रचनाकार अनुभव करता है तथा साधना के स्तर पर ऋषि और सन्त। सन्त के पास यदि अभिव्यक्ति की, भाषा की निधि हो तो सोने में सुहागा जैसा प्रभाव वह जगत् के लिए छोड़ जाता है। 'मूकमाटी' महाकाव्य भाव के स्तर पर सन्तत्व और रचनाकार दोनों की संवेदना एवं अभिव्यक्ति का सम्प्रेषण करता है। माटी का जीव जगत् से क्या सम्बन्ध है, माटी के पास अगर भाषा होती तो वह अपनी पीड़ा कैसे व्यक्त करती, इत्यादि का नितान्त सजीव, सगुण वर्णन 'मूकमाटी' में है। चार खण्डों में विभक्त यह महाकाव्य अपने-अपने खण्डों में पूर्ण-सा लगता है। प्रथम खण्ड का उपनाम सन्त कवि ने 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' रखा है। अपनी साधना को कवि विकास का सोपान मानता है। साधना के स्तर पर श्रम और संयम दोनों में अटूट तारतम्य होना चाहिए। ऐसी स्थिति में मन के स्तर पर प्रकृति के स्वर मनोछन्द होकर उभरते हैं। कवि कहता है : *"साधना के साँचे में/स्वयं को ढालना होगा सहर्ष!"(पृ.१०)*। वह आगे भी कहता है : *"चरणों का प्रयोग किये बिना/शिखर का स्पर्शन/सम्भव नहीं है!"(पृ. १०)*। जीवन के क्रम में साधना के जो आयाम हैं उनके लिए कठोर संकल्प की आवश्यकता है। संकल्पित कर्म ही शिखर के संस्पर्शन का मार्ग प्रशस्त करेगा। समस्त धरा माटी की ही पर्याय है। कुम्भकार द्वारा कुदाली से माटी पर किए प्रहार को माटी कितनी सहजता से लेती है, इस भावाभिव्यक्ति से ही पता चलता है कि कवि मन की संवेदनशीलता कितनी गहरी और सत्याच्छादित है : *"क्रूर-कठोर कुदाली से/खोदी जा रही है माटी।/माटी की मृदुता में/खोई जा रही है कुदाली!"(पृ. २९)*। सन्त पर-पीड़ा के क्षणों में भी स्व-अनुभूति में जीता है। उसके सुख का उस समय पारावार नहीं मिलता जब वह पर-पीड़ा में निज-पीड़ा की बोधगम्यता को पाता है। इसीलिए पीड़ा ही उसके जीवन का ध्येय हो जाता है। मानवता की मुस्कान

के लिए वह स्वयं की आहुति देता है। सन्तोषप्रद जीवन का लक्ष्य, पीड़ा का आधार ही जब जीवन का ध्येय हो जाता है, तब सन्त कवि की वाणी कुछ इस प्रकार प्रस्फुटित होती है : *"पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है/और/पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है"(पृ. ३३)*। करुणा का साकार और मूर्त रूप कवि में ही देखा जा सकता है। माटी जो निर्जीव है, सभी के पदों से आक्रान्त है, व्यर्थ नष्ट और तमाम अनुपयोगी वस्तुओं का भार अपनी छाती पर लादे है, सम्पूर्ण प्रकृति को अपने ही रस से निर्मित किए बिछी पड़ी है, जो जैसा चाहता है वैसा उसका उपयोग करता है। उसी मूकमाटी को जब कवि-मन महाकाव्य का नायक बनाता है तो कितनी सहजता से उसकी वेदना को व्यक्त करता है: *"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,/···अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !"(पृ. ४)*। एक कुम्भकार जब उसी माटी को पाता है तो उसकी अभिव्यक्ति होती है : *"मृदु माटी से/लघु जाति से/मेरा यह शिल्प/निखरता है/और/खर-काठी से/गुरु जाति से/वह अविलम्ब/बिखरता है"(पृ. ४५)*। कवि ने माटी का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उस की दृष्टि माटी में मिलने वाले हर तत्त्व पर, हर वस्तु पर कितनी पैनी जाती है, उसे इन पंक्तियों से सरलता से समझा जा सकता है : *"अरे कंकरो !/माटी से मिलन तो हुआ/पर/माटी में मिले नहीं तुम !/माटी से छुवन तो हुआ/पर/माटी में घुले नहीं तुम !/इतना ही नहीं,/चलती चक्की में डालकर/तुम्हें पीसने पर भी/अपने गुण-धर्म/भूलते नहीं तुम !/भले ही/चूरण बनते, रेतिल;/माटी नहीं बनते तुम !"(पृ. ४९)*। सामाजिक दशा, दुर्दशा से कवि मन बच नहीं पाता। उसके अन्तर्मन में उदात्त मूल्यों का समुद्र सदैव उमड़ता रहता है। फिर एक सन्त कवि कैसे बच सकता है : *"इस प्रसंग से/वर्ण का आशय/न रंग से है/न ही अंग से/वरन्/चाल-चरण, ढंग से है।/यानी !/जिसे अपनाया है/उसे/जिसने अपनाया है/उसके अनुरूप/अपने गुण-धर्म–/···रूप-स्वरूप को/परिवर्तित करना होगा"(पृ. ४७)*। इस प्रकार का आत्म-विश्वास या तो सन्त में होता है या फिर कवि में। कवि और सन्त दोनों भविष्य को देखते हैं। इसी क्रम में आगे की अभिव्यक्ति है : *"वरना/वर्ण-संकर-दोष को/वरना होगा !" (पृ. ४८)*।

कवि और सन्त दोनों सांस्कृतिक परम्परा के वाहक होते हैं। आज हम जिस परिवेश में जी रहे हैं, यह परिवेश सांस्कृतिक संक्रमण का है। जिस प्रकार का सुनियोजित आक्रमण आज हमारी संस्कृति पर हो रहा है, कवि और सन्त दोनों का ही मन उससे उद्वेलित है। हमारी समभाव, समदृष्टि की संस्कृति पर उपनिवेशवादी संस्कृति का जो प्रहार हो रहा है, उससे कवि को इस बात का पूर्ण विश्वास हो गया है कि यदि हम अब भी नहीं सम्भलें, अब भी नहीं चेतें, तो : *"वर्ण-संकर-दोष को/वरना होगा !/और/यह अनिवार्य होगा"(पृ. ४८)*। भारतीय मूल्य सत्ता में जिससे हमारी सांस्कृतिक पीठिका का निर्माण हुआ उसमें, व्यक्ति नहीं, बल्कि व्यक्ति द्वारा किए गए मूल्यहीन कर्म का त्याग, क्षमा, सहिष्णुता के साथ ही धर्म का स्वरूप परिलक्षित हुआ है। उसी परम्परा का निर्वहन करते हुए कवि कहता है : *"ऋषि-सन्तों का/सदुपदेश - सदादेश/हमें यही मिला कि/पापी से नहीं/पाप से/पंकज से नहीं,/पंक से/घृणा करो।/अयि आर्य ! /नर से/नारायण बनो/समयोचित कर कार्य"(पृ. ५०-५१)*। एक तपोनिष्ठ तपस्वी अपने जीवन को मूल्यों के प्रति समर्पित कर राख बना देता है। तभी वह जीवन के मूल्यों के प्रति खरा हो पाता है और उनके स्थापन का मानदण्ड प्रस्तुत कर पाता है। किसी राह पर चलने वाला व्यक्ति जब मार्ग का 'राही' बनता है तो उसे मार्ग पर क्षण-प्रतिक्षण कसौटी पर अपने को कसना पड़ता है। कसौटी पर जो सही-सही उतरता है वह ही विलोम में 'हीरा' बनता है और वही 'राही' बन सकता है जो अपने को राख कर दे अर्थात् कसौटी पर खरा उतरे।

कवि के पास शब्द को विलोम शब्दों के माध्यम से प्रस्तुतीकरण की अद्भुत क्षमता है। स्थान-स्थान पर उन्होंने शब्दों को विलोम रूप में प्रस्तुत कर नए-नए सन्दर्भों से जोड़ने का नवीनतम प्रयोग किया है। जैसे : 'राख'-'खरा', 'राही'-'हीरा', 'भला'-'लाभ' आदि। भारतीय जीवन मूल्यों में 'दया' का विशेष महत्त्व है। दयावान् व्यक्ति ही जीवन मूल्यों को सार्थकता से जी सकता है। तभी हमारे जितने भी अवतार हुए हैं, उन्हें हम दयासागर, दयानिधान आदि कह उनकी महानता का वर्णन करते हैं। दया के भाव को निरन्तर याद किए रहना जीवन की पवित्रता से जुड़े रहने

के ही बराबर है। इसीलिए कवि ने कहा : *"दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है"(पृ. ३७)*।

प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' में कवि ने माटी के स्वभाव के एक-एक गुण को कुरेद कर उसे मानव मूल्य के श्रेष्ठ उपादानों से जोड़ने का सफल प्रयास किया है। ऐसा लगता है जैसे कवि ने अपनी सम्पूर्ण आत्म-चेतना को माटी के साथ सम्मिलित कर माटी के ही जीवन को स्वयं में जीने, भोगने का प्रयास किया है।

दूसरे खण्ड का शीर्षक 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' दार्शनिकता से ओत-प्रोत है। भारतीय चिन्तन परम्परा में शब्द को ब्रह्म भी माना गया है। यही अनश्वर है और शब्द ही इस बात का साक्षी है कि अन्तर्जगत् में कितना पिघल चुके हैं, कितना तप चुके हैं। जो शब्द हम उच्चरित करते हैं वही हमारे भावबोध का परिचायक है। भाषा तो प्रत्येक जीव के पास है। अपने वैचारिक सम्प्रेषण का वही सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। जीवों की भाषा उनकी ध्वनियों में है। हर जीव ध्वनि के माध्यम से अपने जातिगत जीव की भाषा को समझता है। यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि जंगल के पशु किसी सम्भावित खतरे की आशंका होने पर विशेष प्रकार की ध्वनि का उच्चारण करके सारे जंगल के जीवों को सावधान करते हैं। मनुष्य के पास भाषा है, जो अनादि काल से विकसित ही होती चली आ रही है। हर भाषा की वर्ण माला है। उन वर्ण मालाओं से शब्दों का निर्माण हुआ और शब्द ही वे सम्प्रेषक तत्त्व हैं जो हमारी भावना, इच्छा और आवश्यकता से दूसरों को परिचित कराते हैं। शब्द का उच्चारण कैसा है, यह हमारी उस समय की मानसिकता का परिचायक है जिस समय हम शब्द का उच्चारण करते हैं। कवि ने दूसरे खण्ड के शीर्षक को ही एक काव्यात्मक स्वरूप प्रदान कर दिया है। व्यक्ति का जो भी भाव बोध है, वह शब्द ही है। शब्द के उच्चारण मात्र से व्यक्ति की सम्पूर्ण मानसिकता प्रकाशित हो जाती है। अगर किसी व्यक्ति के विषय में समग्र जानकारी प्राप्त करनी है तो हम उसके द्वारा उच्चरित शब्दों के माध्यम से उसकी सम्पूर्ण मानसिकता का परिचय पा सकते हैं।

'राही' को ही यदि 'हीरा' बनना है, 'भला' का 'लाभ' लेना है तो हम अपनी शब्द और अभिव्यक्ति को मूल्यों के आधार पर ढालने का प्रयास करें। सन्त की वाणी की निर्मलता ही गंगा जल है। उसकी वाणी में दया, करुणा एवं प्रेम का सागर हिचकोले लेता रहता है। अतः कवि बड़ी ही चतुराई से कहता है कि शब्द का बोध ही मनुष्य जीवन का सार है। इसलिए उसके उच्चारण के समय हमें इस विषय पर शोध करना चाहिए कि हम क्या उच्चरित करने जा रहे हैं। कवि कहता है कि लेखनी जो कह रही है, उसे सुनो : *"लो सुनो, मनोयोग से !/लेखनी सुनाती है :/बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो/शोध कहलाता है।/बोध में आकुलता पलती है/शोध में निराकुलता फलती है,/फूल से नहीं, फल से/तृप्ति का अनुभव होता है,/फूल का रक्षण हो/और/फल का भक्षण हो;/ हाँ ! हाँ !!/फूल में भले ही गन्ध हो/पर, रस कहाँ उसमें !/फल तो रस से भरा होता ही है,/साथ-साथ/सुरभि से सुरभित भी···!"(पृ. १०७)*। शब्द के शोध से यहाँ कवि का तात्पर्य स्पष्ट होता है कि शब्द का उच्चारण मात्र बोध नहीं हैं। उसके अर्थ का परिज्ञान होना बोध है, जो पुष्प है। शब्द में गन्ध है, कोमलता है लेकिन हमारे द्वारा उच्चरित शब्द जब दूसरे तक जाता है और वह उस शब्द के रस को जब आत्मसात् करता है तो वही उस शब्द रूपी फूल का फल है, जो दूसरे को रस प्रदान कर दे।

सांस्कृतिक वैभव जब किसी भी देश का दूसरी सभ्यता के संसर्ग में आकर बिखरने लगता है, तब कवि मन मौन नहीं रह सकता। आज पूरे विश्व को पश्चिमी सभ्यता से खतरा पैदा हो गया है। पूरा विश्व ही आज बारूद के ढेर पर बैठा हुआ है। किसी भी समय सम्पूर्ण मानवता का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। माटी मूक है, लेकिन कवि हृदय मूक नहीं हो सकता। वह माटी की पीड़ा और वेदना के साथ जुड़ सकता है। विश्व की, मानवता की पीड़ा के साथ जीना उसका सहज धर्म ही है। शब्द के बोध को यहाँ भी कवि रोक नहीं पाया : *"पश्चिमी सभ्यता/आक्रमण की निषेधिका नहीं है/अपितु !/आक्रमण-शीला गरीयसी है/...और/महामना जिस ओर/अभिनिष्क्रमण कर गये/सब कुछ तज कर, वन गये/नग्न, अपने में मग्न बन गये/उसी ओर ···/उन्हीं की अनुक्रम-निर्देशिका/भारतीय संस्कृति है/सुख-शान्ति की प्रवेशिका है" (पृ. १०२-१०३)*। इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि आज भारतीय कवि मन और सन्त

मन दोनों ही भविष्य की भीषण विभीषिका से आक्रान्त हैं। विश्व आज जिस विभीषिका की ओर अग्रसर है उससे बचने का एक मात्र मार्ग ही अब बचा है कि हम शब्दों के बोध में जिएँ जिससे बदले की, स्पर्धा की, हिंसा की मनोवृत्ति टूटे और शब्द का शोधित बोध, जिसमें केवल प्रेम हो, शान्ति हो, रस हो, उसी में मानवता को डुबोएँ। शब्द से संगीत का अटूट रिश्ता है। संगीत वह है जो सदैव रस के संग, साथ-साथ रहे : *"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है/और/प्रीति उसे मानता हूँ/जो अंगातीत होती है/मेरा संगी संगीत है/सप्त-स्वरों से अतीत···!"* (पृ. १४४-१४५)।

आचार्य विद्यासागरजी प्रतीकों को भाषा में ढालने की कला में नितान्त प्रवीण हैं। मूकमाटी को जब कुम्हार खोदता है तब से लेकर उसके कुम्भ तक में परिवर्तित होने की प्रक्रिया को उन्होंने जहाँ माटी की वेदना के साथ जीकर अभिव्यक्ति दी, वहीं कुम्भ के निर्माण के बाद जब शिल्पकार उस पर चित्रों को अंकित करता है तब भी कवि मन उस मूक चित्र से शिल्पकार के तथा चित्रों के मिथकों में अपने को डुबोकर उसके माध्यम से अपने भावों को कुशलता से सम्प्रेषित करता है। कवि की भावना का यह कितना सुन्दर परिचायक दृश्य है : *"कुम्भ पर हुआ वह/सिंह और श्वान का चित्रण भी/बिन बोले ही सन्देश दे रहा है—/दोनों की जीवन-चर्या-चाल/परस्पर विपरीत है।/पीछे से, कभी किसी पर/धावा नहीं बोलता सिंह,/गरज के बिना गरजता भी नहीं,/और/बिना गरजे/किसी पर बरसता भी नहीं—/यानी/मायाचार से दूर रहता है सिंह।/परन्तु, श्वान सदा/पीठ-पीछे से जा काटता है,/बिना प्रयोजन जब कभी भौंकता भी है"* (पृ. १६९)। ये दोनों ही प्रतीक दो संस्कृतियों के परिचायक हैं। आज हम जिस संस्कृति में जी रहे हैं वह श्वान संस्कृति है जो प्रतीक है पीछे से आक्रमण की, विश्वासघात की। इक्कीसवीं सदी में प्रविष्ट कर बैठी भारतीय मनीषा आज भी सिंह की तरह विश्व की विभीषिका को अपनी शान्त और अध्यात्म साधना से चुनौती दे रही है। यही तात्पर्य है 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' शीर्षक से।

महाकाव्य के तीसरे खण्ड का शीर्षक कवि ने 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' दिया है। प्रकृति के सौन्दर्य वर्णन तथा प्रकृति के गुणों से कवि ने इस अध्याय का प्रारम्भ किया है, जिसमें जल को उपनिवेशवादी व्यवस्था का प्रतीक बनाया है। और यह दिखलाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार दलित, पद-दलित, भूखे लोग लोभ के भ्रम में पड़कर भूख मिटाने के लिए अपने आपको लुटवाते हैं और शोषित हो जाते हैं : *"धरती को शीतलता का लोभ दे/इसे लूटा है,/इसीलिए आज/यह धरती धरा रह गई/न ही वसुन्धरा रही न वसुधा!/और/वह जल रत्नाकर बना है"* (पृ. १८९)। इस लोभ के भाव से मनुष्य जाति की जब तक मुक्ति नहीं होती तब तक यह शोषण से मुक्त नहीं हो पाएगी।

शोषण की प्रक्रिया को बिम्बित करते हुए कवि ने प्रकृति के माध्यम से शोषण-चक्र का जो चित्रण किया है उसमें उसने हिन्दी साहित्य में कहीं छायावादी और कहीं-कहीं प्रकृतिवादी कविता को शिकस्त दे दी है : *"वसुधा की सारी सुधा/सागर में जा एकत्र होती/फिर प्रेषित होती ऊपर···/और/उस का सेवन करता है/सुधाकर, सागर नहीं/सागर के भाग्य में क्षार ही लिखा है"* (पृ. १९१)।

यह शाश्वत नियम है कि पुण्य का पालन सदैव मूल्यों के संरक्षण और अनुसरण से होता है। यही मूल्य जब विपरीत क्रम से चलते हैं तब पाप का उदय होता है। पाप के प्रक्षालन के लिए पुण्य के मूल्यों को समेटना पड़ता है।

यह प्रक्रिया वही अपना सकता है जिसमें माटी-सी सहनशीलता होगी, यानी समस्त पापाचारी भावनाएँ जो मन के अन्दर विद्यमान हैं, जिससे संसार ग्रसित है, उसका प्रभाव अपने ऊपर न पड़ने देना। माटी यानी धरा पर सारी की सारी विपरीत प्रक्रियाएँ सम्पादित होती रहती हैं। लेकिन उसके अन्दर जो दया, क्षमा, ममता, उर्वरता के उदात्त गुण निहित हैं, वह उनको प्रभावित नहीं होने देतीं। जिसके जीवन क्रम में यह अवधारणा होगी, वह व्यक्ति ही पुण्य का पालन कर सकेगा। उसके पाप स्वयं ही प्रक्षालित होते जाएँगे। पुण्य की जो अवधारणा हमारे सांस्कृतिक मूल में है, कवि उसके प्रति सर्वथा सजग है और वह उसी ओर इंगित कर कहता है : *"दान-कर्म में लीना/दया-धर्म-प्रवीणा/वीणा-विनीता-सी बनी···!/राग-रंग-त्यागिनी/विराग-संग-भाविनी/सरला-तरला मराली-सी बनी···!/जिनमें/सहन-शीलता आ ठनी/हनन-शीलता सो हनी,/जिनमें/सन्तों-महन्तों के प्रति/नति नमन-शीलता जगी/यति*

यजन-शीलता जगी/पक्षपात से रीता हो/न्यायपक्ष की गीता - समीता बनी···!"(पृ. २०८-२०९)। ये पंक्तियाँ व्यक्तित्व के निर्माण की सोपान हैं। इन्हीं सोपानों पर चढ़कर व्यक्ति पाप का प्रक्षालन कर सकता है। पाप का प्रक्षालन ही पुण्य का संचय है।

कवि पाप-कर्म से मिलने वाले दण्ड से मानव मात्र को सचेत कर बारम्बार इस सत्य की स्थापना का प्रयास करता है कि प्रकृति के प्रतिकूल, मूल्यों के प्रतिकूल, संवेदनाओं के प्रतिकूल जब भी आचरण, व्यवहार और कर्म होंगे तो हम दण्ड के भागी बनेंगे : *"लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन/रावण हो या सीता/राम ही क्यों न हों/ दण्डित करेगा ही !" (पृ. २१७)*। भारतीय मिथक में लक्ष्मण-रेखा को मर्यादा से जोड़कर देखा गया है। यूँ अब तक जिसने भी लक्ष्मण- रेखा के मिथकों का कविता में प्रयोग किया, उसने सीता और रावण का ही प्रतीक अधिकांश लिया है। लेकिन मर्यादाओं की सीमा को स्वयं जीवन में निर्वाहित करने वाला कवि उस मर्यादा की सीमा उल्लंघन पर राम को दण्डित होने का संकेत देकर इस बात की पुष्टि बेबाक तरीके से करता है कि मर्यादा से जीवन का शाश्वत सत्य उजागर हो सकता है, किन्तु मर्यादा के बाहर जाने पर दण्ड से कोई भी बच नहीं सकता। सम्पूर्ण प्रकृति जिन सूत्रों से बँधी है, वही सूत्र उसकी मर्यादा है। मर्यादाहीनता ही पाप का स्वरूप है और मर्यादित जीवन ही पुण्य का संरक्षण।

तीसरे खण्ड के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते कवि अपनी भावनाओं को शब्दों में ढालकर कहने के बजाय, कविता की कलात्मकता से छुटकारा पाकर सीधी सपाट भाषा में कह बैठता है : *"इस लेखनी की भी यही भावना है—/कृति रहे, संस्कृति रहे/आगामी असीम काल तक/जागृत···जीवित···अजित !"(पृ. २४५)*। भारतीय मनीषा की यही कामना रही है कि संस्कृति के जिस विशाल फलक पर उसने पुण्य के रूप को चित्रित किया है, जो हमारी संस्कृति की आधार शिला है, वह अनन्त काल तक जीवित रहे। संस्कृति का निर्माण मूल्यों की सापेक्षधर्मिता से होता है। यह एक दिन की प्रक्रिया नहीं है, इसमें हजारों वर्षों तक समाज को प्रवाहित होना पड़ता है। इन हजारों वर्षों की यात्रा में संस्कृति पूरे देश, काल, समाज पर आच्छादित हो जाती है। हर मनुष्य उन मूल्यों का सगुण उपासक हो जाता है। तब सांस्कृतिक धारा अबाध गति से प्रवाहित होती है जो सम्पूर्ण मानव जाति को मूल्यों का, संवेदनाओं का सन्देश देती चलती है। प्रश्न यह उठता है कवि को 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' लिखने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? उत्तर स्पष्ट है कि आज हमारी सम्पूर्ण सांस्कृतिक धारा दिन-ब-दिन अवरुद्ध होती जा रही है।

कवि आज के परिवेश से आक्रान्त है। उसे दिखाई पड़ रहा है कि समूचा भारतीय सांस्कृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक परिवेश का पुराना किन्तु सशक्त महल कभी भी ढह सकता है। वह समाज, देश को सचेत करते हुए कहता है : *"और सुनो !/आग की नदी को भी पार करना है तुम्हें,/वह भी बिना नौका !/हाँ ! हाँ !!/अपने ही बाहुओं से तैर कर,/तीर मिलता नहीं बिना तैरे" (पृ. २६७)*। अपने मूल्यों की रक्षा के लिए हमें अब सभी संकटों का सामना करने को तत्पर रहना है, तभी हम 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' कर सकते हैं।

चौथा और महाकाव्य का अन्तिम खण्ड अपने आप में बहुत विस्तार से विषयों को समेटे है। कवि अन्तिम खण्ड का शीर्षक 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' रखता है। शीर्षक ही बताता है कि इस अन्तिम खण्ड में उस अग्नि की परीक्षा होनी है जो अग्नि सबकी अग्नि-परीक्षा लेती रहती है। प्रश्न यह है कि अग्नि की परीक्षा लेगा कौन ? इसके उत्तर में जो दार्शनिक भाव छिपा है, वह यह है कि जिस माटी को कुम्भकार ने नाना प्रकार की प्रक्रियाओं से, जिसमें कुम्भ की अग्नि-परीक्षा भी निहित है, से गुजारा है, वह कुम्भ अब बनकर तैयार हो गया है। पके तैयार कुम्भ को देख कुम्भकार हर्षित है एवं उल्लास से भरा है। कुम्भकार ने एक ऐसे पात्र का निर्माण कर दिया है जो दूसरों की प्यास बुझाकर उन्हें जीवन देता है, जो पात्र अपने जल से ऋषियों, मुनियों के पाँव पखार सकता है और अपने जल से उस अग्नि की दाहता भी समाप्त कर सकता है जिस अग्नि ने तपाकर उसे ऐसी पात्रता प्रदान की है। इसीलिए अब चाँदी की राख-सी अमूल्य निधि हो गई है। उसकी अमूल्यता अब स्थाई हो गई है। वह कुम्भ जितेन्द्रिय हो गया है। अब उसे जो शरीर मिला है, वह उसकी तपस्या का परिणाम है। अपने सम्पूर्ण निर्माण होने तक की प्रक्रिया में वह माटी, जिसने आज एक

कुम्भ का शरीर धारण कर लिया, केवल मौन ही रही। माटी खोदने से लेकर कुम्भ के निर्माण तक की प्रक्रिया ही उसके अमरत्व की साधना है। यह इस सत्य को उद्घाटित करता है कि लौकिक जीवन जीने वाला व्यक्ति भी ईश्वरीय सत्ता से युक्त हो सकता है, यदि उसमें तपने की क्षमता हो। केवल साँचे में ढला कुम्भ का साँचा अग्नि से जो कहता है, वही उदाहरण पर्याप्त है। उपर्युक्त कथन के प्रमाण हेतु देखें : *"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है/स्व-पर दोषों को जलाना/परम-धर्म माना है सन्तों ने।/दोष अजीव हैं,/नैमित्तिक हैं,/बाहर से आगत हैं कथंचित्;/गुण जीवगत हैं,/गुण का स्वागत है।/तुम्हें परमार्थ मिलेगा इस कार्य से,/इस जीवन को अर्थ मिलेगा तुम से/मुझ में जल-धारण करने की शक्ति है/जो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है,/उसकी पूरी अभिव्यक्ति में/तुम्हारा सहयोग अनिवार्य है"* (पृ. २७७)।

विषय को स्पष्ट और विभिन्न उदाहरणों से स्पष्ट करने के लिए कवि ने कई पात्रों की वार्ताओं को काव्यात्मक ढंग से अभिव्यक्त किया है– कुम्भकार की कुम्भ से वार्ता, कुम्भ से निकली ध्वनियों का शास्त्रीय विवेचन, सन्त प्रवृत्ति का विशद विवेचन, उपासना के विभिन्न प्रसंगों एवं उपासना में आने वाली वस्तुओं का विशद वर्णन, मानवीय संवेदनाओं को विभिन्न निर्जीव वस्तुओं के माध्यम से वर्णन करना आदि। कभी-कभी चौथा अध्याय काव्य की रसात्मकता से भरा मिलता है तो कभी-कभी नाटकीय अभिव्यंजना भी इसमें सजीव मूर्तिमान् मिलती है।

मानव जीवन की अन्तिम गति क्या है, अन्त में सन्त कवि उसे भी स्पष्ट ही कर देता है : *"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है"* (पृ. ४८६)। यह मोक्ष ही मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। आत्मा रूपी ज्ञेय को परम गति पुरुषार्थ से ही मिल सकती है। जो व्यक्ति पुरुषार्थ के माध्यम से समस्त दुःखों को सहन करता हुआ मूकमाटी की भाँति पग-पग पर अपनी परीक्षाएँ देता हुआ तथा तन, मन और वचन के समस्त लौकिक बन्धनों को तोड़कर निरन्तर बढ़ता जाता है, उसे ही परम सुख, ऐसा सुख जो कभी भी नष्ट न होने वाला होता है, प्राप्त होता है।

कवि ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में उस परम लक्ष्य की प्राप्ति के सुख को यानी पूरे महाकाव्य के सार को एक ही पंक्ति में व्यक्त कर दिया है : *"इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है/जिसे/प्राप्त होने के बाद,/यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है/तुम ही बताओ!/...इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ!!/विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर/मार्ग में नहीं, मंज़िल पर!/और/महा-मौन में/डूबते हुए सन्त···/और माहौल को/अनिमेष निहारती-सी/···मूकमाटी"* (पृ. ४८६-४८८)।

इस महाकाव्य में प्रकृति की विचित्रता का जहाँ विराट् सौन्दर्य बोध विराजमान है, वहीं पर मनुष्य की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर भावनाओं और संवेदनाओं के अनेक ऐसे प्रतीक मौजूद हैं जो काव्यात्मक रस को निरन्तर सजीव किए रहते हैं। दार्शनिक भावों में तथा आध्यात्मिक भावों में तो अनेक प्रतीक और बिम्बों के माध्यम से कवि ने अपनी बात कही है और वह काफी स्पष्ट भी है, किन्तु कहीं-कहीं ऐसा लगता है जैसे विषय के प्रवाह की धारावाहिकता टूटी भी है। ऐसे उद्धरण उस स्थान पर विशेष रूप से मिल जाते हैं जहाँ कवि ने मानवेतर प्रतीक/बिम्बों को विस्तारित करना चाहा है। ऐसा अक्सर हो भी जाता है। काव्य वह विधा है जो बड़े से बड़े फलक को छोटे से छोटे शब्दों के साँचे में ढाल दे। चूँकि इस महाकाव्य का विषय दार्शनिकता और आध्यमिकता से ओत-प्रोत है, इसलिए गूढ़ता और जटिलता का आना स्वाभाविक लक्षण है। इस महाकाव्य की प्रेरणा कितनों तक पहुँचेगी, यह तो समय ही बतलाएगा लेकिन इतना जरूर है कि यह महाकाव्य आज के सामाजिक और मानवीय परिवेश के लिए एक मूल्यवान् निधि है, जो अपने में धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक धारा को समेटे है और आज के बढ़ते अन्धकारमय युग के लिए एक प्रकाश-स्तम्भ है।

□

'मूकमाटी': सामाजिक चेतना का महाकाव्य

डॉ. ब्रजबिहारी निगम

मूकमाटी में जब स्पन्दन होता है तब प्राणों का संचार होता है। प्राण जब परिवेश से नाता जोड़ते हैं तब मन, अहंकार और बुद्धि का विकास होता है। और, जब ये तत्त्व सरल चित्त और सहृदय मनुष्य में प्रवेश पाते हैं तब सत्यं, शिवं और सुन्दरम् के मूल्य अभिव्यक्त होने लगते हैं। इन मूल्यों का सम्बन्ध दृष्टि (विचार) से कम, मनुष्य और मानव-सृष्टि (आचार) से अधिक है। जीवन में इन मूल्यों की अवतारणा सीमा (शरीर) में निस्सीम होने की अनुभूति प्राप्त करने का प्रयास है। वस्तु वही रहती है, लेकिन उसके प्रति दृष्टि और आचरण में अन्तर आ जाता है। मूल्य-साधना में जीव पर्याय, कषाय और आवरणों में से क्रमशः मुक्ति की ओर बढ़ता है।

यह विज्ञान का नियम है कि जो वस्तु जितनी कम भार की होती है उतनी ही अधिक ऊपर जाती है। इसी तरह जीव को मोह-माया के वजन से जितने-जितने मुक्त करते जाएँगे उतनी-उतनी हमारी ऊर्ध्वगति होती जाएगी। कुम्भ जब पक कर तैयार हो जाता है तब उसमें जल भरने की क्षमता आ जाती है, यही कुम्भ की मूल्य-दृष्टि है। जब यही दृष्टि प्यासे की प्यास बुझाने की ओर जाती है, तब प्रत्येक प्यासे आदमी के लिए वही कुम्भ आदर का पात्र हो जाता है। धार्मिक अनुष्ठानों में भी सर्वप्रथम कुम्भ में जल भरके, उसकी पवित्र स्थान पर प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। संकेत यही है कि माटी कुम्भ रूप में अवतरित होने के लिए कुम्भकार (गुरु) के निर्देशन में तपस्या प्रारम्भ करती है तब उसे कुम्भ रूप मिलता है। यह तपस्या ही मूल्य-साधना है। इसी साधना की प्रक्रिया में उच्च विचार, आचार, धर्म, परोपकार, सुख, आनन्द आदि का उद्भव होता है। मनुष्य जितना व्यक्तिगत सुख-दुःखों के द्वन्द्व से मुक्त होता है उतना ही वह मानव मात्र के लिए चिन्ता करने लगता है। जिस तरह कुम्भ की कृतार्थता प्यासे की प्यास बुझाने में है, उसी तरह मूल्य-साधक की कृतार्थता दूसरों के दुःख दूर करके उन्हें आनन्द मार्ग का राही बना देने में होती है।

आचार्य विद्यासागरजी ऐसे ही मूल्य-साधक हैं जो नग्न इसलिए हैं कि हर नंगे को वस्त्र पहना देख सकें। उनका मिताहार या निराहार स्वर्ग-प्राप्ति के लिए नहीं, वरन् इसलिए है कि प्रत्येक भूखे को भरपेट भोजन मिल सके। उनके भवन की छत आकाश है और दिशाएँ दीवारें हैं। इस अनन्त क्षेत्र में वे बिना भेद-भाव के प्रत्येक दुःखी व जिज्ञासु को अज्ञान से मुक्ति, साधना का मार्ग और दिव्य-दृष्टि प्रदान करते हैं। ऐसे मनीषी को जाति, सम्प्रदाय, सांसारिक मोह-माया व दुःख-सुख के द्वन्द्व में बाँध नहीं सकते। उनके ही शब्दों में :

> *"जो मोह से मुक्त हो जीते हैं/राग-रोष से रीते हैं/...शोक से शून्य, सदा अशोक हैं*
> *...जिनके पास संग है न संघ,/जो एकाकी हैं!" (पृ. ३२६-३२७)*

यहाँ एकाकी का अर्थ मुक्ति की कामना से एकान्त में बैठे किसी व्यक्ति से नहीं, वरन् ऐसे कर्मठ योगी से है जिसका प्रत्येक पल मानव-कल्याण में व्यतीत हो रहा है। समत्व-भाव की दृष्टि जब व्यवहार में आती है तब मनुष्य-मात्र उसके मन, वचन और कर्म के लक्ष्य हो जाते हैं। वह एकाकी अर्थात् अकेला नहीं है, सारा संसार उसमें प्रतिबिम्बित होता है और धीरे-धीरे उसका बिम्ब भी मनुष्य महसूस करने लगते हैं। वह 'एक' ऐसा है जिसमें शेष-सृष्टि का बहुत्व समाहित है।

'मूकमाटी' आचार्य विद्यासागरजी का अन्योक्ति-परक महाकाव्य है। कुम्भ व कुम्भकार इसके प्रमुख प्रतीकात्मक पात्र हैं। कुम्भ की यात्रा मूकमाटी से मुखर-महामानव तक चलती रहती है। कुम्भकार अर्थात् गुरु प्रकाश-पुंज मार्गदर्शक है। कुम्भ को कठोर तपस्या के बाद भी जगत्-हित की कसौटी पर एक सन्त की तरह खरा उतरना पड़ता है। उसे मूक होते हुए भी जागतिक व्यवहार में आने वाले सभी सम्पर्क-सम्बन्धों में अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करना पड़ती

है जिस तरह की एक साधारण व्यक्ति को। अतः कुम्भ का जीवन-दर्शन एक व्यक्ति के जीवन दर्शन से भिन्न नहीं है। कुम्भ को जीवन में अन्य वस्तुओं और विचारों से उतने ही सम्पर्क आते हैं जितने कि एक मनुष्य को। अतः यह स्पष्ट होता है कि 'मूकमाटी' सामाजिक चेतना का महाकाव्य है।

धर्म, दर्शन, अर्थशास्त्र, विज्ञान, नीति, सौन्दर्य आदि सभी अनुशासनों का मुख्य उद्देश्य सामाजिक मनुष्य को सम्पन्न, सुखी बनाना और उसकी समस्त क्षमताओं को पूर्णता की ओर ले जाना है। धार्मिक आचार हो या अर्थशास्त्रीय चिन्तन का सामाजिक व्यवहार, सभी का उद्देश्य है स्व से पर की ओर प्रगति। इसमें न तो स्व अपना अस्तित्व खोता है न ही पर वायवी या काल्पनिक रहता है। स्व का दायरा बढ़ते-बढ़ते पर भी उसमें समा जाता है। जीव और ब्रह्म में अन्तर नहीं रहता। पर्यायों व कषायों से जीव मुक्त होकर शुद्ध आत्म-स्वरूप हो जाता है। जीव और आत्मा के बीच माया का परदा है। माया इतनी व्यापक एवं विशाल है कि व्यक्ति एवं समाज और विचार व आचार कोई भी शुद्ध नहीं रह पाते। अतः जीव-शुद्धि का अर्थ व्यक्ति एवं समाज-शुद्धि तथा विचार व आचार की परिष्कृति होता है। जैसे-जैसे जीव शुद्ध होता है, उसमें व आत्मा में भेद कम होता जाता है।

आचार्य विद्यासागरजी की दृष्टि इतनी सूक्ष्मदर्शी एवं व्यापक है कि विचार व आचार का कोई सा भी क्षेत्र उनके मानव-केन्द्रित चिन्तन से नहीं बचता। एक सम्प्रदाय के आचार्य के रूप में धार्मिक विचार व आचार के प्रत्येक पक्ष को अत्यन्त ही सरल व सुबोध काव्यात्मक भाषा में स्पष्ट कर दिया है। लेकिन एक चिन्तक, सम्प्रदाय का होकर भी, सत्य और शुभ का सतत अन्वेषी होने के कारण सम्प्रदायातीत हो जाता है। कुम्भ का जल प्यासे के लिए है, न कि धनिक-निर्धन, विद्वान्-मूर्ख या जैन-अजैन के लिए। कुम्भ का जल प्राप्त करने की पात्रता प्यासे में है। प्यास सभी प्रकार के भेदों से ऊपर है। भेद व्यक्ति, परिस्थिति और समाज ने उत्पन्न किए हैं। और यही भेद-दृष्टि मानवता के लिए पीड़ादायक है।

'मूकमाटी' का नव्य अर्थशास्त्र : सन्त की सत्य-दृष्टि से समाज के दोषपूर्ण विचार व आचार बच नहीं सकते। यह सोचना कि सन्त असंग और विरागी है और उसका संसार से क्या लेना-देना ? लेकिन आध्यात्मिक सत्य इसके विपरीत है। आचार्य बलदेव उपाध्याय का कथन है : "कैवल्य प्राप्त कर लेने पर जीव इस भूतल पर निवास करता हुआ समाज में परम मंगल के सम्पादन करने में लगा रहता है। वह अपने आदर्श चरित्र से मनुष्य-मात्र के हृदय में दुःख-निवृत्ति के लिए आशा का संचार करता रहता है" ('भारतीय दर्शन', पृ. १७०)। इसी कारण सन्त की दृष्टि व्यापार, धन, मूल्य, बाजार, विवाह, न्याय-अन्याय व सुख-दुःख की ओर जाती है। वह तो मुक्त है, इसी कारण अन्य को मुक्त करने का मार्ग बता सकता है :

"परीक्षक बनने से पूर्व/परीक्षा में पास होना अनिवार्य है,
अन्यथा/उपहास का पात्र बनेगा वह ।" (पृ.३०३)

संसार के अधिकतम व्यवहार और मनुष्य के सुख-दुःख धन-उपार्जन की कामना पर केन्द्रित हैं। आचार्यजी का कथन है :

"चेतन भूलकर तन में फूले/धर्म को दूर कर, धन में झूले...
धन कोई मूलभूत वस्तु है ही नहीं/धन का जीवन पराश्रित है
पर के लिए है, काल्पनिक !" (पृ. ३०७-३०८)

जब चेतना की ओर मन मुड़ेगा, तब तन साधन हो जाएगा। इससे जीवन में धर्म प्रवेश करेगा और धन की आसक्ति कम होगी, धीरे-धीरे यह भी बोध होगा कि धन का कोई मूल्य या मूलभूत वस्तु नहीं है। अधिक योग्यता वाले व्यक्ति को अधिक धन दिया जाता है लेकिन सन्त अमूल्य और मूल्यहीन, क्योंकि उनका संग कुपात्र को सुलभ नहीं और सुपात्र के लिए सदा-सर्वदा सहज सुलभ। अर्थात् मनुष्य को चेतना के सहारे मूल्य बढ़ाना है। इस तरह जिस धन के पीछे संसार पागल है वह मूलभूत पदार्थ है ही नहीं, वह तो विनिमय का साधन मात्र है।

मूल्य, उपयोगिता और धनिक का कार्य : धन कमाना (या गँवाना) बाजार और वस्तुओं के घटते-बढ़ते मूल्यों पर निर्भर है। आचार्यजी का मत है :

> *"वस्तु का मूल्य वस्तु की उपयोगिता है।/वह उपयोगिता ही भोक्ता पुरुष को*
> *कुछ क्षण सुख में रमण कराती है।" (पृ. ३०४)*

ऐसा लगता है कि धार्मिक साधक की आत्मा से निकला वाक्य उन्नीसवीं सदी के सबसे महान् सामाजिक-तपस्वी मार्क्स की अन्तरात्मा की धार्मिक प्रतिध्वनि है : "उपयोगिता की वस्तु हुए बिना कोई भी वस्तु अपना मूल्य नहीं रखती" ('कादम्बिनी', दिसम्बर '९८, पृ. ४८)। लेकिन वस्तु का मूल्य वस्तुओं के लेन-देन व व्यवसाय में सही-सही नहीं आँका जा सकता, क्योंकि अर्थप्रधान तन्त्र में धनिक अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अधिक से अधिक मूल्य चुका सकता है, लेकिन अधिक आवश्यकता होने पर भी निर्धन उसका मूल्य दे नहीं सकता। वस्तु की उपयोगिता मनुष्य के लिए है, प्यासा पानी का मूल्य जानता है (भले ही वह धनी हो या निर्धन)।

मूल्य के आर्थिक पक्ष पर विचार करने से ज्ञात होता है कि मूल्य मार्केट में वस्तुओं की उपलब्धि और माँग पर निर्भर रहता है। अधिक वस्तुओं के होने पर मूल्य कम हो जाता है और कम होने पर भाव बढ़ जाते हैं। कुशल व्यापारी इसी तेजी-मन्दी में कमा लेता है। लेकिन तेजी स्वाभाविक नहीं, कृत्रिम होती है। उत्पादन के कम होने, ठीक समय पर बाजार में माल न पहुँचने या उत्पादन अधिक होने पर धनिकों के कोठार भर लेना (ताकि कमी के समय अधिक लाभ पर वस्तु का विक्रय हो सके) तेजी आने के कारण हैं। माल का अधिक उत्पादन तथा निर्धन लोगों की क्रय-शक्ति नहीं होना मन्दी के कारण हैं। स्पष्ट है कि वस्तु का उत्पादन बाजार के लिए होता है न कि मनुष्य के लिए। मनुष्य के लिए उत्पादन होता तो वस्तु प्रत्येक ज़रूरतमन्द आदमी को मिलती। लेकिन वस्तु मिलती है केवल धनिकों को। सूर्य की रश्मि और हवा का झोंका प्रकृति ने सबके लिए बनाए हैं। वे सबके लिए आवश्यक हैं लेकिन सम्पन्न लोगों ने ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ बनाकर रोशनी व हवा का मूल्य बढ़ा दिया, क्योंकि स्वास्थ्यप्रद हवादार मकान का किराया इतना अधिक होता है कि गरीब तो ठीक, मध्यमवर्गीय व्यक्ति को भी ऐसे मकान सुलभ नहीं होते। आचार्यजी इस मन्तव्य को निम्न शब्दों में रेखांकित करते हैं :

> *"हाँ ! हाँ !!/धन से अन्य वस्तुओं का/मूल्य आँका जा सकता है*
> *वह भी आवश्यकतानुसार,/कभी अधिक कभी हीन/और कभी औपचारिक,*
> *और यह सब/धनिकों पर आधारित है।"(पृ. ३०८)*

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्यजी के शब्दों में नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन बोल रहे हैं, जिनका कथन है : "अर्थ शास्त्र का वास्ता गरीबों तथा पिछड़े वर्गों से भी है। समाज में दबे-कुचलों की तरफदारी करना अर्थशास्त्र की पहली

आवश्यकता है। मेरा यही कहना है कि हम अपनी आवश्यकता को पहले देखें, उसकी गम्भीरता को समझें और बिना बात के कठमुल्लावादी बहस में न उलझें कि हम बाजार तन्त्र में पूरा विश्वास रखते हैं या उसे पूरी तरह नकारते हैं" ('दैनिक नईदुनिया', इन्दौर, ८-११-'९८ में भेंटवार्ता)।

आर्थिक विचार व आचार में विकृति के परिणाम : इस विकृति के व्यक्ति और समाज के दैनिक व्यवहार, रीति-रिवाज़ और नैतिकता पर प्रत्यक्ष प्रभाव होते हैं। मानव-व्यवहार के केन्द्र में धन होने से साधन की शुचिता-अशुचिता के निर्णय के लिए अनुकूल तर्क खोज लिए जाते हैं। ये तर्क मानव-केन्द्रित नहीं होते, धन केन्द्रित होते हैं। अतः सामाजिक व्यवहारों में अपवित्रता, अन्याय, घोटाले, हत्या आदि घटित होते हैं। आचार्यजी की शुद्ध सामाजिक चेतना इन शब्दों में प्रकट होती है :

"...खेद है कि/लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी
प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।/प्रायः अनुचित रूप से/सेक्कों से सेवा लेते/और
वेतन का वितरण भी अनुचित ही।/ये अपने को बताते/मनु की सन्तान !
महामना मानव !/देने का नाम सुनते ही/इनके उदार हाथों में
पक्षापात के लक्षण दिखने लगते हैं।" (पृ. ३८६-३८७)

समाज में प्रचलित दहेज प्रथा के कारण नारी के प्रति होने वाले अत्याचार, सन्त्रास, जलकर, जहर खाकर या डूबकर आत्म-हत्या कर लेने पर एक संवेदनशील सन्त-कवि आँख नहीं मूँद सकता। अदालत में न्याय मिलने में विलम्ब और व्यय भार को देखकर कवि कहता है :

"आशातीत विलम्ब के कारण/अन्याय न्याय-सा नहीं
न्याय अन्यास-सा लगता ही है।" (पृ. २७२)

लोग प्रतिदिन पुण्य बटोरने देव-दर्शन को जाते हैं, धर्म पुस्तकें भी पढ़ते हैं और सन्तों के बखान भी सुनते हैं। लेकिन परिवर्तन नहीं होता, जैसी कि उक्ति है : "खल की काली कामरी चढ़ै न दूजो रंग"– ऐसी स्थिति का कारण सन्त-प्रवर इन शब्दों में प्रकट करते हैं :

"कुछ समय तक/पीयूष का प्रभाव पड़ना भी नहीं है/इस जीवन पर !
जो विषाक्त माहौल में रहता हुआ/विष-सा बन गया है।" (पृ. २७२)

'मूकमाटी' को पढ़ते हुए उसकी भाषा, भाव, अभिव्यक्ति और सामाजिक व आर्थिक विश्लेषण को पढ़कर ऐसा लगता है कि एक विद्वान् प्रगतिशील कवि की कविता का आस्वादन कर रहे हैं। उनका सन्देश है :

"कुम्भ के जीवन को ऊपर उठाना है,/और/इस कार्य में
और किसी को नहीं,/तुम्हें ही निमित्त बनना है।" (पृ.२७३)

ऐसा लगता है कि 'गीता' (६/५) के कृष्ण बोल रहे हैं-"उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्।"

□

नारी शब्द के पर्यायों की सार्थक अभिव्यंजना : 'मूकमाटी'

डॉ.(श्रीमती) नीलम जैन

नारी और नारी के पर्यायवाची सदा से ही इस पुरुषप्रधान समाज में नारी के प्रति नर के दृष्टिकोण से ही अभिहित किए जाते रहे हैं। इसीलिए नारी, स्त्री, महिला, कुमारी, अबला इत्यादि कोई भी शब्द हो--एक ऐसी भीरु, शक्तिहीन, दीन, मतिहीन अंगों-उपांगों का एक ऐसा कंकाल प्रस्तुत करते हैं जिसे जिसने चाहा संवेदनशील, सहृदय अथवा जीवन्त समझा और जिसने चाहा स्पन्दनहीन, निराश्रय, मृतक-तुल्य समझ उपहासित किया। परन्तु समय-समय पर नारी को कीचड़ से निकाल कमलवत् प्रतिष्ठित करने वाला सच्चा इक्का-दुक्का मानव-रत्न भी इस धरा पर प्रसूत हुआ, जिससे नारी जाति का संरक्षण एवं संवर्द्धन सम्भव हुआ। आज भी परम सौभाग्य से ऐसे श्रमणरत्न, आचार्यप्रवर, गुरुमणि, कल्मषनाशक, सुविवेकी, सृजक साधु श्री विद्यासागरजी हमें पुण्योदय से प्राप्त हुए, जो नाम से ही नहीं, कर्म से भी अगाध विद्या-सिन्धु हैं। माटी जैसी तुच्छ, पददलित वस्तु को भी पवित्र मंगल कलश की प्रतिष्ठित पदवी पर विभूषित करने वाले आचार्यदेव ने अपने ऐतिहासिक, कालजयी इस 'मूकमाटी' महाकाव्य में नारी को अभूतपूर्व गरिमा एवं महिमा-मण्डित पद देकर नारी विषयक सभी शब्दों का एकदम नया विश्लेषण, सार्थक, सटीक, उपयुक्त एवं सही विवेचन प्रस्तुत किया है।

पूज्य गुरुदेव सुतर्कों से तत्काल नारी जाति पर आरोपित - 'अधोगामिनी', 'पापिनी', 'दुराचारिणी' जैसे मर्मान्तिक बाणों से कैसे छुटकारा दिला देते हैं, वह अवलोकनीय है :

"कुपथ-सुपथ की परख करने में/प्रतिष्ठा पाई है स्त्री-समाज ने।" (पृ. २०२)

नारी शब्द : प्राय: नारी का अर्थ आधुनिक अर्थवेत्ता कुछ ऐसे करते हैं– न + अरि, अर्थात् इनके समान कोई दुश्मन नहीं है। पर करुणानिधान गुरुदेव नारी को इस कलंक से कुछ इस प्रकार बचाते हैं :

"इनकी आँखें हैं करुणा की कारिका/शत्रुता छू नहीं सकती इन्हें
मिलन-सारी मित्रता/मुफ्त मिलती रहती इनसे।/यही कारण है कि
इनका सार्थक नाम है 'नारी'/यानी–/'न अरि' नारी···/अथवा
ये आरी नहीं हैं/सो···नारी···।" (पृ. २०२)

महिला : बेचारगी की सूचक 'मही' अर्थात् पृथ्वी के प्रति आस्था पैदा करनेवाली महिला को कितने सुन्दर, आकर्षक एवं अप्रतिम शब्दों से गुरुप्रभो मण्डित करते हैं :

"जो/'मह' यानी मंगलमय माहौल,/महोत्सव जीवन में लाती है
'महिला' कहलाती है वह।/...मही यानी धरती/धृति-धारणी जननी के प्रति
अपूर्व आस्था जगाती है।/और पुरुष को रास्ता बताती है
सही-सही गन्तव्य का-/'महिला' कहलाती वह !/इतना ही नहीं, और सुनो !
जो संग्रहणी व्याधि से ग्रसित हुआ है/जिसकी संयम की जठराग्नि मन्द पड़ी है,
परिग्रह-संग्रह से पीड़ित पुरुष को/मही यानी
मठा-महेरी पिलाती है,/'महिला' कहलाती है वह !" (पृ. २०२-२०३)

अबला : अबला शब्द प्राय: नारी की शक्तिहीनता का द्योतक माना जाता है, जो प्राय: उसे अशक्तता,

कमज़ोरी, दुर्बलता का आभास दिलाता रहता है, परन्तु 'मूकमाटी' में इससे भिन्न ही प्ररूपण है :

"जो अब यानी/'अवगम'—ज्ञानज्योति लाती है,/तिमिर-तामसता मिटाकर
जीवन को जागृत करती है/'अबला' कहलाती है वह !/अथवा, जो
पुरुष-चित्त की वृत्ति को/विगत की दशाओं/और
अनागत की आशाओं से/पूरी तरह हटाकर/'अब' यानी
आगत - वर्तमान में लाती है/'अबला' कहलाती है वह···!
बला यानी समस्या संकट है/न बला···सो अबला/समस्या-शून्य-समाधान !
अबला के अभाव में/सबल पुरुष भी निर्बल बनता है/समस्त संसार ही, फिर,
समस्या-समूह सिद्ध होता है,/इसलिए स्त्रियों का यह/'अबला' नाम सार्थक है!"
(पृ. २०३)

कुमारी : अविवाहित महिला 'कुमारी' शब्द से जानी जाती है, किन्तु आचार्यप्रवर कहते हैं :

" 'कु' यानी पृथिवी/'मा' यानी लक्ष्मी/और/'री' यानी देनेवाली···
इससे यह भाव निकलता है कि/यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना/तब तक रहेगी
जब तक यहाँ 'कुमारी' रहेगी/यही कारण है कि/सन्तों ने इन्हें
प्राथमिक मंगल माना है/लौकिक सब मंगलों में···!" (पृ. २०४)

स्त्री : विवाहिता नारी, त्रिलोक संहारिणी, संकुचित-संकोचित स्वभाववाली मानी जाने वाली 'स्त्री' रूपी बेडौल भद्दे प्रस्तर को शिल्पी गुरुश्रीजी की लेखनी के स्पर्शन से पूज्य-प्रतिमा-पद प्राप्त करने के समान छवि निर्मित हुई है :

"पुरुष की वासना संयत हो,/और/पुरुष की उपासना संगत हो,
यानी काम पुरुषार्थ निर्दोष हो,/बस, इसी प्रयोजनवश
वह गर्भ धारण करती है।/संग्रह-वृत्ति और अपव्यय-रोग से
पुरुष को बचाती है सदा,/अर्जित-अर्थ का समुचित वितरण करके।
दान-पूजा-सेवा आदिक/सत्कर्मों को, गृहस्थ धर्मों को
सहयोग दे, पुरुष से करा कर/धर्म-परम्परा की रक्षा करती है।
यूँ स्त्री शब्द ही/स्वयं गुनगुना रहा है/कि/'स्' यानी सम-शील संयम
'त्री' यानी तीन अर्थ हैं/धर्म, अर्थ, काम—पुरुषार्थों में
पुरुष को कुशल-संयत बनाती है/सो···'स्त्री' कहलाती है।" (पृ. २०४-२०५)

सुता : सुता से तात्पर्य पुत्री माना जाता है किन्तु यहाँ इसकी व्युत्पत्ति कुछ अलग, अनूठी की गई है :

"ओ, सुख चाहनेवालो ! सुनो,/'सुता' शब्द स्वयं सुना रहा है :
'सु' यानी सुहावनी अच्छाइयाँ/और/'ता' प्रत्यय वह
भाव-धर्म, सार के अर्थ में होता है/यानी,/सुख-सुविधाओं का स्रोत···सो—
'सुता' कहलाती है/यही कहती हैं श्रुत-सूक्तियाँ !" (पृ. २०५)

दुहिता : पालित, पोषित कन्या को दुहिता कहा जाता है, पर सच्चाई तो इससे भी बढ़ कर है :

"दो हित जिसमें निहित हों/वह 'दुहिता' कहलाती है
अपना हित स्वयं ही कर लेती है,/पतित से पतित पति का जीवन भी
हित सहित होता है, जिससे/वह 'दुहिता' कहलाती है।
उभय-कुल मंगल-वर्धिनी/उभय-लोक-सुख-सर्जिनी
स्व-पर-हित सम्पादिका/कहीं रहकर किसी तरह भी
हित का दोहन करती रहती/सो··· 'दुहिता' कहलाती है।" (पृ.२०५-२०६)

मातृ : 'मातृ' शब्द पूज्य रहा है। सन्तान को जन्म देने के पश्चात् ही नारी 'मातृ' संज्ञा प्राप्त करती है। आचार्यपुंगव विद्यासागरजी ने 'मातृ' शब्द को ज़रा देखिए कितना सटीक, सार्थक परिभाषित किया है :

"हमें समझना है/'मातृ' शब्द का महत्त्व भी।/प्रमाण का अर्थ होता है ज्ञान
प्रमेय यानी ज्ञेय/और/प्रमातृ को ज्ञाता कहते हैं सन्त।
जानने की शक्ति वह/मातृ-तत्त्व के सिवा/अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होती।
यही कारण है, कि यहाँ/कोई पिता-पितामह, पुरुष नहीं है
जो सब की आधार-शिला हो,/सब की जननी/मात्र मातृतत्त्व है।
मातृ-तत्त्व की अनुपलब्धि में/ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध ठप् !
ऐसी स्थिति में तुम ही बताओ/सुख-शान्ति मुक्ति वह
किसे मिलेगी, क्यों मिलेगी/किस-विध···?
इसीलिए इस जीवन में/माता का मान-सम्मान हो,
उसी का जय-गान हो सदा,/धन्य···!" (पृ. २०६)

अंगना : जिसका स्वयं का अस्तित्व पुरुष संसर्ग से ही पूर्ण होता है, स्वयं में जो समाज का अंग नहीं है तथा सदा पुरुष की वामांगी, सिर्फ अंकशायिनी, कामिनी समझी जानेवाली अंगना वास्तव में है क्या ? :

"स्वीकार करती हूँ कि/मैं अंगना हूँ/परन्तु,/मात्र अंग ना हूँ···
और भी कुछ हूँ मैं···!/अंग के अन्दर भी कुछ/झाँकने का प्रयास करो,
अंग के सिवा भी कुछ/माँगने का प्रयास करो,/जो देना चाहती हूँ,
लेना चाहते हो तुम !/'सो' चिरन्तन शाश्वत है/'सो' निरंजन भास्वत है
भार-रहित आभा का आभार मानो तुम !" (पृ. २०७)

इसके अतिरिक्त भी श्रमण शिरोमणि, मन्मथ भंजक, सदाकाल वन्दित, अनुपम साधक, योगीन्द्र गुरुदेव श्री विद्यासागरजी ने नारी विषयक ललित, अपूर्व तथा प्रचलित अर्थों को भी व्याकरण की ही कसौटी पर नए-नए प्रकार से कस कर नए-नए रूप दिए हैं, नए-नए विशेषण दिए हैं, यथा—दान-कर्म लीना, मृदुता-मुदिता-शीला, वीणा-विनीता, राग-रंग-त्यागिनी, सरला-तरला-मराली, सेव्य सेविका, स्नेहिला आदि (पृ.२०८-२०९)। नारी जाति को सम्माननीय एवं श्रद्धाजनक पद देनेवाले परमपिता, परम गुरुदेव आचार्य श्री विद्यासागरजी के चरणों में नतमस्तक है नारी समाज !!

❑

'मूकमाटी' में मुखर चिन्तन

डॉ. हनुमन्त नायडू

'मूकमाटी' जैन आचार्य विद्यासागर का माटी को केन्द्र बनाकर लिखा गया महाकाव्य है। यह चार खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' है जिसमें बताया गया है कि कुम्भकार मंगल घट के निर्माण की कल्पना करता है। इसके लिए कुम्भकार मिट्टी का परिशोधन करता है। कंकरों से मिली वर्ण संकर मिट्टी को वह एक वर्ण देता है। द्वितीय खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' है। इसमें बताया गया है कि कुम्भकार कुदाली से मिट्टी खोदता है। इस प्रयास में कुदाली एक काँटे को लगती है। काँटा बदला लेना चाहता है। माटी के समझाने पर और कुम्भकार की शालीनता के कारण वह प्रतिशोध की भावना से उबरता है। इसी खण्ड में नौ रसों की परिभाषा, शृंगार रस की मौलिक व्याख्या तथा विभिन्न ऋतुओं का वर्णन है। कवि ने यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि उच्चारण शब्द है, शब्द का सम्पूर्ण अर्थ समझना बोध है तथा इस बोध को आचरण में उतारना शोध है। तृतीय खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' में विचारक कवि ने यह स्पष्ट किया है कि मन, वचन तथा काया की निर्मलता से किए गए लोक कल्याण के शुभ कार्यों से पुण्य तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से वशीभूत होकर किए गए कार्यों से पाप होता है। माटी की विकास कथा के साथ-साथ यहीं मेघ द्वारा कुम्भकार के आंगन में मोती बरसाने का वर्णन है। कुम्भकार वह मुक्ता-राशि राजा को सौंप देता है। धरती के यश को देखकर सागर के हृदय में उत्पन्न क्रोध का भी वर्णन इस खण्ड में है। सागर क्रोधित होकर धरती पर भीषण वर्षा कराता है, ओले बरसवाता है तथा वज्रप्रहार कराता है। इस प्रकार कवि को प्रकृति के भद्र रूप का वर्णन करने का अवसर मिल गया है। चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' है, जिसमें बताया गया है कि कुम्भकार मिट्टी के घट को आग में पकाने के बाद बाहर निकालता है तथा श्रद्धालु नगर सेठ को देता है ताकि उसके जल से गुरु के चरण धोए जा सकें, प्यास बुझाई जा सके। नगर सेठ का सेवक घट को सात बार बजा कर लेता है। यहाँ संगीत के सात स्वरों को कवि ने नया अर्थबोध दिया है। नगर सेठ उस मंगल घट के जल से गुरु के चरण धोता है। इस सन्दर्भ में अनेक जिज्ञासाओं का शमन तथा विभिन्न लौकिक और पारलौकिक विषयों का वर्णन है। स्वर्ण कलश मिट्टी के घट एवं सेठ परिवार को मारने हेतु आतंकवादियों को भेजता है। अन्त में मिट्टी के घट की सहायता से ही नगर सेठ का परिवार नदी पार करके आतंकवाद से बचता है।

जहाँ तक महाकाव्यत्व का प्रश्न है, ग्रन्थ के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इस महाकाव्य की कथा लोकप्रसिद्ध नहीं है। कवि ने किसी प्रसिद्ध व्यक्ति के स्थान पर माटी को केन्द्र में रखकर इसका सृजन किया है। आज के युग में महाकाव्य के क्षेत्र में अनेकानेक नए प्रयोग किए गए हैं जिनमें महाकाव्य के परम्परागत सभी लक्षणों का निर्वाह नहीं किया गया है, यह एक ऐसा ही महाकाव्य है। कवि ने इस रचना में निर्जीव तथा मूक वस्तुओं को मुखर किया है तथा उनके संवादों के द्वारा ही पूरी कथा कहने का प्रयत्न किया है। कवि ने महाकाव्य के लिए आवश्यक प्रकृति के विभिन्न रूपों तथा विभिन्न रसों का चित्रण भी यथास्थान किया है। कवि ने 'स्टार वार' तथा आतंकवाद जैसी नए युग की समस्याओं को भी इस ग्रन्थ में स्थान दिया है।

कवि धर्माचार्य है, फलस्वरूप इस ग्रन्थ में चिन्तन, दर्शन और बौद्धिकता का प्रमाण अधिक मिलता है।

- *"हर प्राणी सुख का प्यासा है/परन्तु,/रागी का लक्ष्य-बिन्दु अर्थ रहा है और/त्यागी-विरागी का परमार्थ!" (पृ. १४१)*
- *"जाते-जाते हे स्वामिन्!/एक ऐसा सूत्र दो हमें/जिस में बँधे हम*

अपने अस्तित्व को पहचान सकें,/कहीं भी गिरी हो
ससूत्र सुई···सो···/कभी खोती नहीं।" (पृ. ३४४)

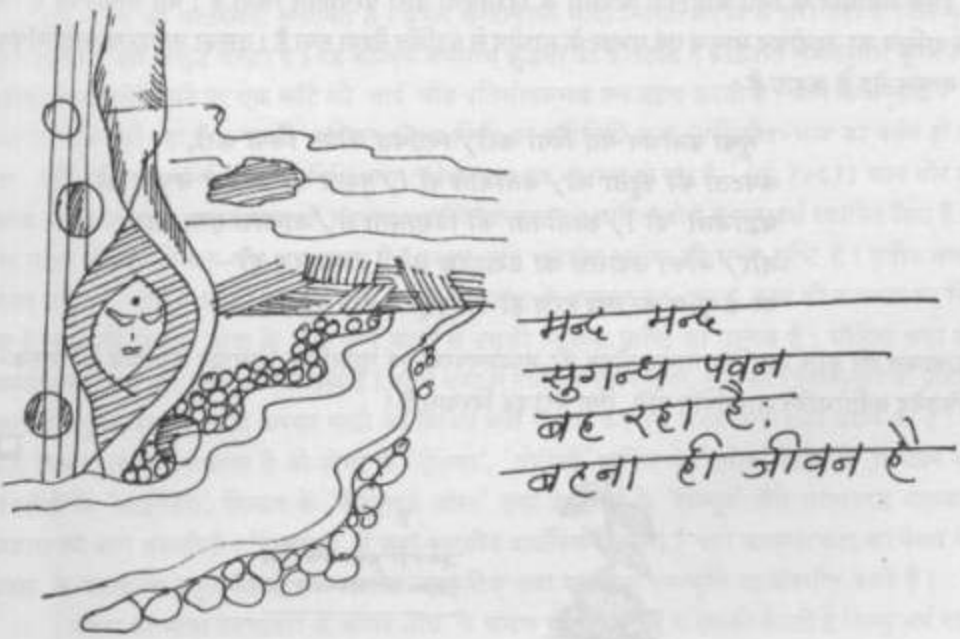
पाठक को बार-बार यह अनुभव होता है कि यही चिन्तन काव्य पर सवार होकर आया है। बौद्धिकता की बहुलता एवं अतुकान्त काव्य शैली के कारण इसे नई कविता का महाकाव्य कहा जा सकता है।

जहाँ तक शिल्प का प्रश्न है, छायावादी कवि पन्त के बाद हिन्दी में इतने नए शब्दों का सृजन अथवा प्रयोग पहली बार हुआ है– भंगायित, स्वीकारता, स्वादकता, विरागता, निराशता जैसे अनेक विचित्र शब्द ग्रन्थ में अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं परन्तु कवि ने मछली, काँटा, गदहा, स्वर्ण कलश, मंगल घट आदि प्रतीकों के माध्यम से भाषा को नया आलोक जल भी दिया है।

कवि के सामने व्याकरण अनेक स्थानों पर विवश प्रतीत होता है– अपनी पराग, सरगम झरती है, चेतन आत्मा खरा उतरेगा, हमारी उपास्य देवता अहिंसा है, उनकी पाद-पूजन जैसे लिंगदोष युक्त अनेक प्रयोग हैं। कवि ने कुछ शब्दों को तोड़कर जैसे 'कम्बल वाले कम बलवाले, कायरता-काय रता, धोखा दिया-धो खा दिया' तथा कुछ शब्दों को उल्टा कर जैसे- 'राख– खरा, राही–हीरा, लाभ–भला' आदि से नया अर्थबोध देने का यत्न किया है, परन्तु यह सायास प्रयास नई अर्थवत्ता के स्थान पर शब्दों के साथ किया गया खिलवाड़ लगता है।

कहीं-कहीं पर तथ्यात्मक गलतियाँ भी हैं। गुरु के स्वागत के समय सीताफल और रामफल एक साथ दिखाए गए हैं। दोनों फल एक ऋतु में नहीं होते। सीताफल शीत ऋतु में होता है जबकि रामफल ग्रीष्म ऋतु में होता है। फिर भी महाकाव्य के क्षेत्र में यह एक नया प्रयोग है। इसका स्वागत किया जाना चाहिए।

['नया खून' (हिन्दी दैनिक), नागपुर-महाराष्ट्र, १३ नवम्बर, १९९१]



'मूकमाटी' : सन्त की अन्तरात्मा का प्रस्फुटन

आचार्य गणेश शुक्ल

'मूकमाटी' महाकाव्य की रचना हिन्दी साहित्य में एक अनुपम उपलब्धि है। यह कविकर्म एक ऋतम्भरा प्रज्ञावान् सन्त की अन्तरात्मा का प्रस्फुटित रूप में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि यह काव्यकृति महाकाव्य की सीमा में समाहित की जा सकती है, इसमें अत्युक्ति नहीं होगी, फिर भी इस विधा के मर्मज्ञों द्वारा आलोच्य विषय हो सकता है।

प्रस्तुत कृति के आरम्भ में कुमुदिनी, कमलिनी, चाँद, सितारे, सुगन्ध पवन, सरिता तट और इसके अतिरिक्त अन्य समस्त प्राकृतिक परिदृश्य इस बिन्दु पर दार्शनिक रूप से केन्द्रीभूत हो जाते हैं।

महाकाव्य की अपेक्षाओं के अनुरूप प्राकृतिक वातावरण के अतिरिक्त अन्य पक्ष भी संकलित किए गए हैं। इसमें कुम्भकार को नायक तथा माटी को नायिका के रूप में उजागर किया है। काव्य में शब्दालंकार तथा अर्थालंकारों की छटा पदे-पदे चित्ताकर्षक है।

रचनाकार ने शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसके तात्त्विक अर्थ का बोध बड़े ही रोचक रीति से कराया है। कुम्भकार माटी को मंगल कलश का रूप देना चाहता है। उसके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि माटी को खोदकर, उसे कूट-छानकर उसमें से कंकरों को निकाल दिया जाए, क्योंकि माटी तो वर्ण संकर है और उसमें विपरीत तत्त्व कंकर आ मिले हैं।

ग्रन्थकर्ता ने तीसरे भाग में मनसा-वाचा-कर्मणा शुभ कर्मों के द्वारा लोकहित भावना से पुण्यार्जन किया है तथा यह भी प्रतिपादित किया है कि लोभ, मान, क्रोध, माया तथा मोह से ग्रसित होकर मानव पापकर्मा हो जाता है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार ने स्वर्णकलश और आतंकवाद को आज के जीवन जगत् के ज्वलन्त निदर्शन रूप में प्रस्तुत किए हैं। इसके समाधान के लिए आधुनिक व्यवस्था के विश्लेषणों द्वारा प्रस्थापित किया है। यह अत्याश्चर्य है कि सामाजिक दायित्व का उद्‌बोधन मत्कुण एवं मच्छर के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है। उसका उदाहरण अधोलिखित है जिसमें मत्कुण सेठ से कहता है :

"सूखा प्रलोभन मत दिया करो/स्वाश्रित जीवन जिया करो,
कपटता की पटुता को/जलांजलि दो !/गुरुता की जनिका लघुता को
श्रद्धांजली दो !/शालीनता की विशालता में/आकाश समा जाय
और/जीवन उदारता का उदाहरण बने !/अकारण ही—
पर के दुःख का सदा हरण हो !" (पृ. ३८७-३८८)

काव्यकार की कृति आधुनिक मानव जीवन की अध्यात्मपरक एवं सामाजिक शिक्षाप्रद उपलब्धि है। पाठक-वृन्द निश्चितमेव सर्वतोभावेन लाभान्वित होंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

□



भारतीय मनीषा की तत्त्व-सृष्टि : 'मूकमाटी'

डॉ. चक्रधर नलिन

'मूकमाटी' बीसवीं शती का सर्वश्रेष्ठ यथार्थपरक दार्शनिक पृष्ठभूमि पर रचित पहला महाकाव्य है, जो भोगवादी संस्कृति पर गहरे कुठाराघात करता है। यह निश्चय ही आधुनिक भारतीय सांस्कृतिक सम्पदा की अविस्मरणीय उपलब्धि है। आचार्य विद्यासागर ने माटी के मूक सन्देश को विश्व मानवतावादियों के समक्ष सोद्देश्य पूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है, जो भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि है। कृति चरम भव्यता की प्रतीति है। रचनाकार ने सफलतापूर्वक जीवन-मुक्ति की मंगल यात्रा और जीव को अलौकिक तथा भेदहीन स्थिति तक काव्यधारा के माध्यम से पहुँचाया है। इसमें न केवल काव्य तत्त्वादर्श है वरन् अनन्त, अबाध, शाश्वत संगीतिक नाद भी है जो साधक की जीवन्तता का प्रकटीकरण है।

भारत में महाकाव्यों की अक्षुण्ण परम्परा के कीर्तिमानों में कविश्रेष्ठ वाल्मीकि कृत 'वाल्मीकि रामायण', व्यास कृत 'महाभारत', कालिदास कृत 'रघुवंश', तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस', चन्दबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो', केशवदास की 'रामचन्द्रिका', अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध कृत 'प्रिय प्रवास', जयशंकर प्रसाद विरचित 'कामायनी', मैथिलीशरण गुप्त प्रणीत 'साकेत', 'रश्मिरथी' (प्रबन्ध काव्य) दिनकर कृत, 'उर्मिला' रचनाकार बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा सुमित्रानन्दन पन्त कृत 'लोकायतन' एवं रामप्रसाद मिश्र विरचित 'पुरुषोत्तम' आदि प्रमुखतम हैं, जिनमें 'मूकमाटी' एक नव्यलोकाधारित परिणति है।

माटी और कुम्भकार, शिष्य और गुरु के माध्यम से रचनाकार परम तत्त्व उद्घाटन करता है तथा स्व-आत्म-चिन्तन की निधि प्रस्तुत काव्य कृति में समाहित करता है। इसमें जीवन के अनन्त अनुभवों का दर्शन तथा रूपान्तरण है। इसमें काव्य की अन्तरंगता रूपायित है। प्रथम खण्डानुसार माटी मिश्रित तत्त्वों से भरी पड़ी है जिसे कुम्भकार परिशोधन कर उसे विशुद्ध करता है। यह मौलिक वर्णलाभ क्रुद्धता की प्रतिहति है। द्वितीय खण्डानुसार कुम्भकार द्वारा कुदाली से इसे खोदे जाने पर एक काँटे को आई चोट प्रतिशोधात्मक रूप ग्रहण करती है। कवि के अनुसार : *''क्रोध-भाव का शमन हो रहा है।/पल - प्रतिपल/पाप-निधि का प्रतिनिधि बना/प्रतिशोध-भाव का वमन हो रहा है। पल - प्रतिपल/पुण्य-निधि का प्रतिनिधि बना/बोध-भाव का आगमन हो रहा है''* (पृ. १०६)। ज्ञान और बोध का चैतन्य भाव मानस को जागृत करता है। तृतीय खण्ड में रचनाकार ने साहित्यबोध के नवादर्श स्थापित किए हैं। संगीत स्वर लहरी की भावोद्रेकता तथा प्राणमयता है। प्रस्तुत कृति भारतीय मनीषा की तत्त्व-सृष्टि है। तृतीय खण्डानुसार मानव कल्याण, लोक मंगल ही काव्य में इष्ट है जो रचनाकार के अनुसार मन, वचन, काय की पावनता पर निर्भर है। इस में माटी की विकास यात्रा के द्वारा पुण्य कार्यों से उसकी विशिष्ट प्राप्ति का उल्लेख है। भौतिक सत्ता पर परम अध्यात्म की विजय इस खण्ड का अभिप्राय है। चतुर्थ खण्ड में माटी की सृजन कथा, रूप परिवर्तनशीलता को प्रतिबिम्बित करती है। कुम्भकार ने सर्जक बनकर माटी को विविध रूपों में ढाल कर उसे सर्जनात्मक छवि प्रदान की है। समीक्ष्य कृति विचार प्रधान महाकाव्य है जो होमर के 'ईलियड', 'ओडिसी', वर्जिल के 'एनीड', दाँते की 'डिवाइन कामेडी', फिरदौसी के 'शाहनामा', मिल्टन के 'पैराडाइज लॉस्ट' तथा वर्ड्सवर्थ के 'प्रिल्यूड' जैसे आत्मपरक महाकाव्य की परम्परा को आगे बढ़ाती है। 'मूकमाटी' में जहाँ भारतीय दार्शनिक चिन्तना है वहीं आत्मपरकता का वैभव भी। इस प्रकार के महाकाव्य बहुत कम हैं जो भारतीय सांस्कृतिक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि का जयघोष करते हैं।

रचना की भाषा रचनाकार के कनड़ बोध के कारण भाव सम्प्रेषण में हलकी बैठती है किन्तु अर्थ वहनता में

विशेष अन्तर साक्ष्य नहीं होता है। इसमें लेखक के स्वाध्याय, चिन्तन-मनन एवं तपश्चरण के व्यापक प्रभाव दृग्गत होते हैं। अतुकान्त बोध इस कृति की विशिष्टता है किन्तु आलंकारिक तथा सामासिक दृष्टि से कृति धनी है। प्रस्तुत महाकाव्य में जैन धर्म तथा जैन संस्कृति का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। भाषा महाकाव्यानुकूल तथा सर्वग्राह्य है।

समीक्ष्य कृति भारतीय तत्त्व मनीषा की विशद व्याख्या है। सांस्कृतिक मूल्याधारित होने से यह भारतीय जीवनधारणा को बलवती तथा फलवती बनाती है। कृति उद्देश्य को पूर्ण करती है। प्रस्तुत कृति रोचक, ज्ञानवर्धक, संग्रहणीय तथा मानव के नेत्र कपाट खोलनेवाली है। आशा है, हिन्दी काव्य संसार में इस अभिनव कृति का पर्याप्त आदर तथा स्वागत होगा।

□

सन्त काव्य परम्परा को नई सन्ध्या भाषा में बढ़ाने वाली : 'मूकमाटी'

डॉ. विद्या बिन्दु सिंह

मैंने आचार्य श्री विद्यासागरजी की 'मूकमाटी' पढ़ी। 'मूकमाटी' महाकाव्य एक आश्चर्य है। आधुनिक हिन्दी में इतना बड़ा महाकाव्य लिखने की बात भी नहीं सोची जा रही है। पर साधना के बल पर अध्यात्म को और विचार दर्शन को केन्द्र में रखकर नए-नए बिम्बों और प्रतीकों के सहारे इतना विशाल काव्य लिखा गया है। मैं इसके लिए लेखक को बधाई देती हूँ।

इसको समझने और पढ़ने के लिए भी सन्त की भावभूमि अपेक्षित है। इसीलिए इस काव्य की समीक्षा करने का मैं अपने को अधिकारी नहीं मानती। इतना ही कह सकती हूँ कि सन्त काव्य परम्परा को नई सन्ध्या भाषा में आगे बढ़ाने का यह कार्य समादर पाएगा।

जिसे सन्त कवि ने मूकमाटी कहा, वह इस काव्य के बाद बड़ी ही वाचाल माटी हो गई है। माटी के माध्यम से पार्थिव जीवन अर्थ पा गया है।

इस अनूठी कृति के प्रकाशन के लिए भारतीय ज्ञानपीठ को हार्दिक बधाई। मेरी हार्दिक मंगलकामना है कि यह ग्रन्थ हिन्दी काव्य साहित्य में अपनी अनूठी पहचान बना सके।

□



पृ. ६६
ऊधर-क्या हुआ?
------ उसकी
मानस-स्थिति भी
ऊर्ध्वमुखी होजाई,

'मूकमाटी' की सामाजिक चेतना

डॉ. (श्रीमती) सुशीला सालगिया

'मूकमाटी' महाकाव्य आचार्य विद्यासागर की एक अप्रतिम रचना है, जिसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली से सन् १९८८ में हुआ है। प्रस्तुत महाकाव्य की सामाजिक चेतना पर विचार करने के पूर्व समाज, चेतना और सामाजिक चेतना आदि शब्दों का आशय जानना अनिवार्य है। वैसे तो समाज शब्द बड़ा व्यापक है। शब्द कोश के अनुसार इसके अर्थ हैं– समूह, संघ, गिरोह, दल, सभा, समुदाय आदि।

चेतना का अर्थ अंग्रेजी शब्द कोश के अनुसार है– कान्शसनेस, अन्डरस्टेन्डिंग, सेन्स आदि। चेतना–संज्ञावाचक स्त्रीलिंग शब्द है जिसका अर्थ है मनोवृत्ति, बुद्धि, ज्ञानात्मक मनोवृत्ति, चेतनता, संज्ञा, होश आदि।

उपर्युक्त शब्दार्थों के आधार पर समाज और सामाजिक चेतना की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है– पशुओं से भिन्न जनसमूह अथवा जनसमाज की ज्ञानात्मक मनोवृत्ति का नाम सामाजिक चेतना है और समाज पशुओं से भिन्न लोगों के संघ या समूह का नाम है।

हेमचन्द्र के अनुसार चेतना का अर्थ है 'सभा'। डॉ. जंकसन के अनुसार समाज मनुष्यों के मैत्री या शान्तिपूर्ण दशा का नाम है। व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं। पर भीड़ या आकस्मिक जमावड़े को समाज नहीं कहा जा सकता। समाज के सभी व्यक्तियों का एक निश्चित लक्ष्य होता है।

आचार्य विद्यासागरजी ने समाज की परिभाषा 'मूकमाटी' में इस प्रकार दी है :

"समाज का अर्थ होता है समूह/और/समूह यानी
सम–समीचीन ऊह–विचार है/जो सदाचार की नींव है।" (पृ. ४६१)

सामाजिक चेतना को 'हिन्दी साहित्य-सामाजिक चेतना' कृति में रत्नाकर पाण्डेय ने इस तरह परिभाषित किया है : "समाज की अधोगति और पतनावस्था की विविध प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जो प्रतिभा आकर्षक दीप्ति बनकर चमक उठे और जिसके प्रभाव से समस्त समाज में जनजागरण की जो लहर व्याप्त हो जाए, उसी को सामाजिक चेतना का वाहक समझना चाहिए। सामाजिक चेतना अभावात्मक या नकारात्मक नहीं होती। व्यक्ति मात्र में चैतन्यमूर्त है परन्तु रूढ़ि, अशिक्षा और अभावों के कारण यह दुष्प्रभावित या कुण्ठित हो जाती है। इस दुष्प्रभाव से मुक्त रहना और कुण्ठा को अपनी अन्तःवृत्ति से तिरोहित बनाए रखना ही सामाजिक चेतना है।"

इस सामाजिक चेतना को लाने के लिए किसी व्यक्ति विशेष या समूह विशेष का जीवन उत्सर्ग होता है तभी सदियों से जो रूढ़ियाँ समाज में जड़ें जमा चुकी होती हैं, उनका उच्छेद होता है। बिना त्याग या उत्सर्ग के रूढ़िबद्ध आध्यात्मिकता के स्थान पर नई आध्यात्मिकता अथवा नवसंस्कृति का जन्म सम्भव नहीं है।

सामान्य मानव युगीन परिस्थितियों से समझौता करके उसमें जी लेता है। वह उन परिस्थितियों में कोई विशेष परिवर्तन लाने का प्रयास नहीं करता किन्तु कुछ विरले मानव ऐसे भी होते हैं जो स्थितियों को देखकर मौन दर्शक नहीं बने रह सकते। उनकी अन्तरात्मा छटपटाती है, कुछ कहने के लिए। अन्ततः उनकी छटपटाहट या तो वाणी या लेखनी द्वारा शब्दों का सन्धान कर मानव समाज को झकझोर कर रख देती है, उसे कुछ मनन-चिन्तन करने के लिए उद्वेलित करती है और अन्त में विवश करती है परिवर्तन, परिमार्जन, परिशोधन के लिए। किसी सामान्य व्यक्ति के बूते की बात नहीं होती यह सब करना। उनका असाधारण और प्रभावशाली व्यक्तित्व और कृतित्व है, जो समाज को बोध दे रहा है या जिनका असीम त्याग एवं कठिन तपस्या है। तभी यह लोक उनकी वाणी को सुनेगा, ग्रहण करेगा और आचरण भी करेगा। जहाँ लोक उपदेष्टा की कथनी और करनी में अन्तर देखेगा वह उसकी वाणी तो क्या, उसे भी स्वीकार नहीं करेगा।

इन सब मापदण्डों पर खरे उतरने वाले उपदेष्टा सन्त आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित 'मूकमाटी' एक आध्यात्मिक काव्यकृति है जिसको महाकाव्य की संज्ञा प्राप्त हो, यह भी इस निस्पृह सन्त की भावना नहीं रही। उनको तो माटी को आत्मा का रूपक बनाकर आत्म विकास की बात कहनी थी, मानव समाज को, जो एक लम्बी कविता के रूप में उन्होंने कह दी।

जब कभी कोई प्रसंग चल पड़ता है तो फिर अनेक बातें इधर-उधर की भी होती हैं। पेड़ का तना ऊर्ध्वगामी, विकसित होता है, किन्तु आजू-बाजू कई शाखाएँ फूटकर उसे सघनता प्रदान करती हैं, अन्यथा पेड़ ताड़ के झाड़ की तरह लम्बवत् विकास को प्राप्त होता। वह राहगीर को छाया प्रदान करने तक में असमर्थ होता है। किन्तु :

"...जो/हरा-भरा तरु है/फूलों-फलों-दलों को ले
पथिक की प्रतीक्षा में खड़ा है/उससे
थोड़ी-सी छाँव की माँगनी/क्या हँसी का कारण नहीं है ?" (पृ. ४७५)

पत्रों, पुष्पों और फलों से लदा पेड़ हमारी क्षुधा, तृषा मिटाने हेतु मधुर रसीले फल प्रदान करता है। फूल-पत्तियाँ जीवनदायी औषधियाँ प्रदान करती हैं तो पेड़ राही को अयाचित छाया प्रदान कर क्लान्ति का हरण कर विश्रान्ति देता है। विशाल वृक्ष की तरह सन्त कवि की यह महान् कृति भी बहु उपयोगी है। वैसे तो कृतिकार का लक्ष्य मानव समाज को आत्म विकास की प्रक्रिया बताना, आत्मा को अनन्त सुख प्राप्त करने हेतु प्रेरित करना है। एक सजग राहगीर की भाँति अपने इर्द-गिर्द देखते हुए, चौकन्ना रहकर कृतिकार यदि कहीं देखता है तो वह चुप्पी नहीं साध लेता। व्यक्ति, समाज, कला, विज्ञान, दर्शन, राजनीति, अर्थनीति, विदेशनीति आदि कहाँ पर कवि की दृष्टि नहीं गई। उसे कहीं खोट नज़र आई है तो उसने तुरन्त संकेत किया है– किन्तु यदि विषय सामान्य न होकर गम्भीर है तो मीठे या तीखे व्यंग्य भी किए हैं और यदि देखा कि भाँग खाकर सोए उस मानव पर ये उपाय सारहीन सिद्ध होंगे तो उसने ऐसी तीखी फटकार भी सुनाई है जो उसकी चेतना को एक बार झकझोर कर रख दें :

"धरती के आराधक धूर्तो,/कहाँ जाओगे अब ?
जाओ, धरती में जा छुप जाओ···/उससे भी···नीचे !
पातको, पाताल में जाओ !/पाखण्ड प्रमुखो !
मुख मत दिखाओ हमें।" (पृ. ४४७)

ब्रह्मा द्वारा सृष्टि सृजन, विष्णु द्वारा पालन और महेश द्वारा संहार होने वाली मान्यता का खण्डन करने वाले जैन दर्शन को लोग भ्रमवश नास्तिक की संज्ञा दे देते हैं। इस भ्रम का निवारण करना, निमित्त-उपादान की आगमिक मीमांसा करना इत्यादि उद्देश्य रखकर 'मूकमाटी' की रचना हुई है।

आचार्य विद्यासागर की प्रकाशित सभी रचनाओं में 'मूकमाटी' उनकी अत्यन्त प्रौढ़ एवं उच्च कोटि की साहित्यिक कृति है। 'माटी' यद्यपि मूक है तथापि उसकी अनुगूँज हमारे 'बन्द कपाटों को खोलकर हृत्तन्त्री' को झंकृत कर देती है। आज भौतिकवाद में जकड़े हुए मानव को, जो कि विषय-कषाय में आकण्ठ निमग्न है, सन्मार्ग दिखाना, कुपथगामियों को शुभ संस्कार देकर सुमार्ग पर आरूढ़ करना तथा दुष्कर्मों में रत एवं छल-छद्मों में निरत मानवों को कर्म बन्धनों से छुटकारा पाने की रीति बताना कृतिकार के उद्देश्य हैं। वीतराग श्रमण संस्कृति का संरक्षण एवं उसके समर्थन का प्रयास भी कृतिकार के महत् उद्देश्यों में निहित है। कवि ने यह भी चाहा है कि धर्म, समाज एवं राजनीति में जो दोष आ गए हैं उन दोषों का परिहार हो। परस्पर विश्वास एवं प्रेम उत्पन्न हो तथा सम्पूर्ण विश्व में शान्ति स्थापित हो, इस हेतु जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों को अपनाकर कृतिकार ने इन्हें विश्वव्यापी रूप प्रदान किया है। अहिंसा का पालन करके ही आज की इस आशाओं की बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा पर अंकुश लगाकर कई अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं का हल खोजा जा सकता है। इतना ही नहीं आचार्यश्री ने तो उसे देवत्व ही प्रदान कर दिया :

"हमारी उपास्य-देवता/अहिंसा है/और/जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है
वहाँ निश्चित ही/हिंसा छलती है।" (पृ. ६४)

नारी जाति के प्रति सदैव पूज्य भाव रखने वाली भारतीय संस्कृति का स्वर 'मूकमाटी' में गूँजा है। कवि ने नारी तथा उसके पर्यायवाची शब्दों की अनूठी किन्तु व्याकरणिक व्याख्याएँ की हैं :

नारी- न + अरि = जो किसी की शत्रु न हो। जो आरि नहीं, वो नारी।

महिला- *"जो/मह यानी मंगलमय माहौल,/महोत्सव जीवन में लाती है*
महिला कहलाती वह।/...मही यानी धरती
धृति-धारणी जननी के प्रति/अपूर्व आस्था जगाती है।
और पुरुष को रास्ता बताती है/सही-सही गन्तव्य का—
महिला कहलाती वह।" (पृ. २०२)

अबला- *"बला यानी समस्या संकट है/न बला···सो अबला।" (पृ. २०३)*

कुमारी- *" 'कु' यानी पृथिवी/'मा' यानी लक्ष्मी/और*
'री' यानी देनेवाली···/इससे यह भाव निकलता है कि
यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना/तब तक रहेगी
जब तक यहाँ 'कुमारी' रहेगी।" (पृ. २०४)

स्त्री- *" 'स्' यानी सम-शील संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं*
धर्म, अर्थ, काम—पुरुषार्थों में/पुरुष को कुशल-संयत बनाती है
सो···स्त्री कहलाती है।" (पृ. २०५)

आगे मातृ, सुता, दुहिता आदि शब्दों की नवीन व्याख्याएँ प्रस्तुत करके नारी समाज के प्रति आदर और आस्था भाव महाकाव्य में कवि ने प्रकट किए हैं।

नारी की गरिमा को कृतिकार ने जहाँ बढ़ाया है वहाँ उसके कर्तव्यों को भी स्मरण कराना वह नहीं भूला है। मातृत्व के कर्तव्य पूर्ण किए बिना उसका उक्त पद प्राप्त करना सार्थक नहीं होता :

"सुत को प्रसूत कर/विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करने मात्र से
माँ का सतीत्व वह/विश्रुत - सार्थक नहीं होता
प्रत्युत,/सुत-सन्तान की सुसुप्त शक्ति को/सचेत और
शत-प्रतिशत सशक्त—/साकार करना होता है, सत्-संस्कारों से।
...सन्तान की अवनति में/निग्रह का हाथ उठता है माँ का
और/सन्तान की उन्नति में/अनुग्रह का माथ उठता है माँ का।" (पृ. १४८)

आचरण से ही व्यक्ति बड़ा या छोटा है। कवि ने समाज की स्थापित मान्यता वर्ण, जाति, कुल आदि की व्यवस्थाओं को नकारा नहीं है किन्तु जन्म के पश्चात् आचरण के अनुरूप ऊँचे और नीचेपन को स्वीकार किया है।

"वर्ण का आशय/न रंग से है/न ही अंग से
वरन्/चाल-चरण, ढंग से है।" (पृ. ४७)

कवि ने अपनी 'मानस तरंग' (पृ. XXIV) में लिखा है : " 'संकर-दोष' से बचने के साथ-साथ वर्ण-लाभ को मानव जीवन का औदार्य व साफल्य माना है। जिसने शुद्ध-सात्त्विक भावों से सम्बन्धित जीवन को धर्म कहा है; जिसका

प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण संस्कृति को जीवित रखना है··· और जिसका नामकरण हुआ है 'मूकमाटी'।"

आज के अर्थ प्रधान इस युग में सभी अर्थोपार्जन की प्रतिस्पर्धा में निरत हैं। 'आपन पेट हाहु, मैं न दे हौं काहू' वाली कहावत चरितार्थ कर रहे हैं किन्तु इससे समाज का आर्थिक सन्तुलन बिगड़कर लोगों में विकृत मनोवृत्तियाँ जन्म लेती रहती हैं। कवि ने इसकी व्यंजना इन शब्दों में की है :

"अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ.१९२)

समाज की पतनोन्मुख स्थिति से सन्त चिन्तित हैं। ऐसी स्थिति में समाज को दिशाबोध देना सन्तों का कर्त्तव्य होता है। वे उसे सन्मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। अतः उसे उद्‌बोधन देते हैं :

"अब घन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो !
और/लोभ के वशीभूत हो/अँधाधुन्ध संकलित का
समुचित वितरण करो/अन्यथा,
घनहीनों में/चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं।" (पृ. ४६७-४६८)

सन्त स्वयं अपरिग्रही हैं, अतः त्याग का उपदेश देने में उनकी वाणी सक्षम है, क्योंकि वे स्वयं उस कसौटी पर खरे उतरे हैं। उनमें कोरा वाक् चातुर्य नहीं है, क्योंकि उनकी मान्यता है कि कथनी-करनी में अन्तर होने से उपहास का पात्र बनना पड़ेगा। कवि के ही शब्दों में :

"परीक्षक बनने से पूर्व/परीक्षा में पास होना अनिवार्य है,
अन्यथा/उपहास का पात्र बनेगा वह।" (पृ. ३०३)

'मूकमाटी' का रचनाकार मात्र कवि ही नहीं, एक धर्माचार्य भी है। प्रेम, दया और करुणा की भावना को वह देश में ही नहीं सीमित रखना चाहते, बल्कि वे चाहते हैं कि विश्व के सभी प्राणी परस्पर वैर भाव भूलकर मैत्रीभाव स्थापित करें। तभी तो पड़ौसी देश के राष्ट्राध्यक्ष (पाकिस्तान के तत्कालीन राष्ट्रपति जनरल जिया-उल-हक) को उद्‌बोधन देते हैं :

"परस्पर कलह हुआ तुम लोगों में/बहुत हुआ, वह गलत हुआ।
मिटाने-मिटने को क्यों तुले हो/...जीवन को मत रण बनाओ
प्रकृति माँ का व्रण सुखाओ !/सदय बनो !/अदय पर दया करो
अभय बनो !/सभय पर किया करो अभय की/अमृत-मय वृष्टि
सदा सदा सदाशय दृष्टि/रे जिया, समष्टि जिया करो !" (पृ.१४९)

स्वार्थी, दम्भी और लोभी मनुष्य की संकीर्ण भावना का जब तक लोप नहीं होगा तब तक स्वस्थ समाज नहीं बन सकता। सन्त कवि ने समाजवाद को किस प्रकार परिभाषित किया है, देखिए :

"समाज का अर्थ होता है समूह/और/समूह यानी
सम—समीचीन ऊह—विचार है/जो सदाचार की नींव है।
कुल मिला कर अर्थ यह हुआ कि/प्रचार-प्रसार से दूर

प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है।
समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से/समाजवादी नहीं बनोगे।" (पृ. ४६१)

ऊपर वर्णित समष्टि में जीने की भावना ही सच्चा समाजवाद है।

साहित्य समाज का दर्पण होता है। इस दृष्टि से यदि हम 'मूकमाटी' को देखें तो पाएँगे कि आधुनिक युग का समाज तथा सामाजिक विचारधारा प्रस्तुत महाकाव्य में पूर्णरूपेण चित्रित हुई है। प्राचीन तथा स्थापित मान्यताओं को कवि ने नवीन रूप में उद्घाटित भी किया है। सम्बन्धों की नई व्याख्याएँ की हैं और शब्दों के नए अर्थ उद्भावित हुए हैं।

'मूकमाटी' महाकाव्य में तत्कालीन समाज प्रतिबिम्बित हुआ है :

"परन्तु खेद है कि/लोभी पापी मानव
पाणिग्रहण को भी/प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।
प्रायः अनुचित रूप से/सेवकों से सेवा लेते/और
वेतन का वितरण भी अनुचित ही।
ये अपने को बताते/मनु की सन्तान !/महामना मानव !
देने का नाम सुनते ही/इनके उदार हाथों में
पक्षाघात के लक्षण दिखने लगते हैं।" (पृ. ३८६-३८७)

यह सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक सत्य है कि मानव ही नहीं संसार का प्रत्येक प्राणी अहिंसक भाव पर ही निर्भय होकर शान्ति प्राप्त कर सकता है। अतः 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की महती भावनाओं की कवि ने पुष्टि की है।

महाकाव्य के प्रारम्भ में ही माटी रूपी आत्मा की छटपटाहट इन शब्दों में व्यक्त हुई है :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की
च्युति कब होगी ?/बता दो, माँ····इसे !" (पृ. ५)

हिन्दी के महान् कवि स्व. जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित महाकाव्य 'कामायनी' में प्रतीकात्मक शैली में मानव मन की विकास गाथा को रूपायित किया गया है तो 'मूकमाटी' महाकाव्य में कवि ने संसार के प्राणी मात्र की आत्मा की विकास यात्रा के मार्ग का चित्रण किया है। इस दृष्टि से 'मूकमाटी' महाकाव्य हिन्दी के ही नहीं, अपितु समस्त भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ कृतियों में परिगणित किए जाने योग्य महाकाव्य है।

युगीन समाज का प्रतिनिधित्व एवं युग चेतना का उद्घोष करने वाली इस कृति को विद्वान् लेखक लक्ष्मीचन्द्र जैन ने 'आधुनिक जीवन का अभिनव शास्त्र' कहा है। प्रोफेसर शीलचन्द्र जैन ने अपनी कृति 'मूकमाटी महाकाव्य : काव्यशास्त्रीय निकष' में इसे 'जीवन के शाश्वत सत्य का निरूपण, मानव जीवन की मूलभूत समस्याओं पर विचार एवं सम्पूर्ण विश्व मानव समाज का विश्लेषण-संश्लेषण' माना है। अतः 'मूकमाटी' विश्व साहित्य के टी. एस. ईलियट कृत 'वेस्ट लैंड' तथा मिल्टन के 'पैराडाइज़ लॉस्ट' काव्यों की कोटि में आता है। निःसन्देह 'मूकमाटी' एक कालजयी महाकाव्य है जिस पर समय की धुंध अपना प्रभाव नहीं जमा सकेगी।

['अर्हत् वचन' इन्दौर-मध्यप्रदेश, अप्रैल-जुलाई, १९९२ ई.]

□

'मूकमाटी' महाकाव्य में प्रयुक्त प्रमुख सूक्तियों का मूल्यांकन

डॉ. सतीराम सिंह 'सरस'

आचार्य श्री विद्यासागर द्वारा विरचित 'मूकमाटी' महाकाव्य हिन्दी साहित्य की अनुपम कृति है। आचार्यजी ने एक ऐसे कथ्य को प्रस्तुत किया है, जो आदिकाल से लगभग उपेक्षित रहा है। आम जीवन में शान्त रूप में माटी पर अच्छे-अच्छे विद्वान् लेखक अपनी लेखनी से माटी को प्रमुख कथ्य के रूप में व्यक्त करने की ओर दृष्टि नहीं डाल सके। आचार्यजी ने स्थान-स्थान पर माटी की महत्ता को बल दिया है। यह एक महान् परम्परा को स्थापित करता है।

आचार्यजी ने इस महाकाव्य द्वारा भारतीय सभ्यता, संस्कृति जो हमारे पूर्वजों से हमें विरासत में मिली है, को शाश्वत जारी रखते हुए स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह कृति आधुनिक काल की एक महानतम उपलब्धि है। 'मूकमाटी' महाकाव्य में विद्वान् लेखक ने मानवीय जीवन के सभी पहलुओं पर दृष्टिपात किया है।

सूक्तियों को 'सूत्र वाक्य' भी कहा गया है। जिस प्रकार विज्ञान, गणित आदि में सूत्र (फार्मूला) होते हैं, ठीक उसी प्रकार ये मानवीय मूल्यों पर आधारित सूत्र वाक्य हैं।

'मूकमाटी' महाकाव्य में प्रयुक्त सूक्तियों को मुख्यतः दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है :

१. परम्परागत सूक्तियाँ

२. मौलिक सूक्तियाँ

परम्परागत सूक्तियाँ : इस श्रेणी में उन सूक्तियों को रखा गया है, जो हमें पूर्वजों से विरासत में मिली हैं। इन सूक्तियों का मानवीय जीवन में अत्यधिक महत्त्व है। ये सूक्तियाँ मानवीय मूल्यों पर आधारित हैं। इन सूक्तियों के पीछे सूक्ति प्रयोक्ता का कथ्य छिपा रहता है। इस प्रकार की सूक्तियाँ कम मात्रा में प्रयोग की गई हैं।

'मूकमाटी' महाकाव्य में इस श्रेणी की प्रमुख सूक्तियों को यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है :

"पूत का लक्षण पालने में।" (पृ. १४ एवं ४८२)

इसका अभिप्राय है भविष्य में क्या होगा, उसका ज्ञात होना है। इस सूक्ति से स्पष्ट है कि भविष्य के प्रति मानव को कितना आस्थावान् होना चाहिए। वैसे भी आवश्यक है कि भविष्य की योजना बनाना, भविष्य के प्रति सचेत रहना मानव का महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। ऐसी ही आचार्यजी ने मौलिक सूक्ति प्रयोग की है :

- *"आस्था के बिना रास्ता नहीं/मूल के बिना चूल नहीं।" (पृ. १०)*
- *"बायें हिरण/दायें जाय—/लंका जीत/राम घर आय।" (पृ. २५)*

ऐसी सूक्ति में किसी कार्य करने से पूर्व कार्य की सफलता-असफलता की आस्था रहती है। यह शकुन-अपशकुन पर आधारित है। शकुन-अपशकुन प्रवृत्ति को भारतीय संस्कृति में अत्यधिक बल मिला है। जब से आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण का प्रभाव पड़ा है, तब से यह प्रवृत्ति समाप्त हो रही है। इसका अर्थ है किसी कार्य करने से पूर्व अथवा यात्रा में जाते समय हिरण अथवा शुभ पक्षी मोर आदि बायीं दिशा से दाहिनी दिशा की ओर मनुष्य से पूर्व निकल जाए, तो सफलता निश्चित मिलेगी।

"परस्परोपग्रहो जीवानाम्।" (पृ. ४१)

मानवीय समाज में रहने वाले प्राणी परस्पर सम्बद्ध हैं। इतना ही नहीं, मानव जीवन के अतिरिक्त प्रकृति में

विद्यमान जीव-जन्तु भी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं, रहते हैं।

"अहिंसा ही जीवन है... ।" (पृ. ६४)

इस सूक्ति का प्रयोग भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध के समय में भी प्रचलित था। सम्राट् अशोक ने भी इसका पालन किया। आधुनिक काल में स्वतन्त्रता के समय महात्मा गाँधी ने प्रयोग किया था। इसका अर्थ है कि मानवीय जीवन में हिंसा का कोई स्थान नहीं होना चाहिए, क्योंकि यदि हिंसा का आश्रय लिया गया तो फिर भी सामान्य स्थिति पर आना पड़ता है। इसलिए सामान्य स्थिति को अपनाकर जीवन को सार्थक बनाना उचित है। इस सूक्ति को जैन धर्म अभी भी समाहित किए हुए है।

"धम्मो दया-विसुद्धो।" (पृ. ७०)

तथा

"धम्मं सरणं गच्छामि।" (पृ. ७०)

धर्म ही पवित्रतम करुणा अथवा दया है। इसलिए सात्त्विक, पवित्र तथा उदार विचारों वाले व्यक्ति को धर्म का आचरण करना चाहिए। यह नैतिकतावादी सूक्ति है।

"मुँह में राम/बगल में छुरी।" (पृ. ७२)

दोहरी नीति। या ऐसे कहिए-कथनी और करनी में अन्तर। मनुष्य यदि किसी के साथ कहता कुछ है और करता कुछ और, तो वह विश्वासघाती होता है, जो मानवीय मूल्यों के समाप्तीकरण की प्रक्रिया है।

"दया-धर्म का मूल है।" (पृ. ७३)

भारतीय संस्कृति के सभी धर्मों का आधार है– जीवों पर दया करना। अर्थात् धर्म का मूल दया में निहित है। दया करना मानव को स्वयं उच्च स्थान प्राप्त करना है, क्योंकि बदले की भावना से कार्य करना सभी के हितों पर कुठाराघात है।

"धम्मं सरणं पव्वज्जामि।" (पृ. ७५)

व्यक्ति भौतिकवादी जीवन मूल्यों से विरक्त होकर प्रवज्या ग्रहण करके सच्चे अर्थों में धर्म का आचरण करता है। ऐसा व्यक्ति ही धर्मनिष्ठ माना जाता है। यह सूक्ति भी भारतीय संस्कृति के नैतिकवादी मूल्यों पर आधारित है।

"वसुधैव कुटुम्बकम्।" (पृ. ८२)

सम्पूर्ण पृथ्वी ही परिवार है। यह मान्यता भारतीय संस्कृति का मूल बिन्दु रही है। भारतीय संस्कृति में अन्तर-राष्ट्रवाद तथा मानवतावाद निहित है। यह सूक्ति इन्हीं मूल्यों का निदर्शन है।

"अच्छा, बुरा तो/अपना मन होता है।" (पृ. १०८)

अपनी इच्छा शक्ति। अपने मन में जैसे विचार सोचे जाते हैं वैसे ही कार्य की परिणति होती है, क्योंकि मन अपना होता है। इसी सन्दर्भ में तुलसीदासजी ने कहा है : "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।" इसी

सन्दर्भ में रविदासजी ने भी कहा है : "मन चंगा तो कठौती में गंगा" – अर्थात् मन स्वतन्त्र है। उसको जैसा चाहो, वैसा ही होगा।

"आधा भोजन कीजिए/दुगुणा पानी पीव।
तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव!" (पृ. १३३)

स्वस्थ स्वास्थ्य। यह एक आयुर्वेदिक सूत्र है तथा लम्बी उम्र और अच्छे स्वास्थ्य के लिए तथ्य है। यदि कोई मनुष्य भरपेट भोजन न करके अल्पाहारी हो और भोजन की अपेक्षा पानी दुगुना पीए, भोजन के अनुपात से परिश्रम तिगुना करे और सदैव प्रसन्न रहे अथवा भोजन के अनुपात में चौगुना हँसता रहे, तो ऐसा मनुष्य निश्चित रूप से दीर्घायु होगा। यह एक निर्विवाद सत्य है।

"आमद कम खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का।
कूबत कम गुस्सा ज्यादा/लक्षण है पिट जाने का।" (पृ. १३५)

अपनी मूर्खता का परिचय देना है। यदि आय कम है और व्यय अधिक किया जाय तो मानव का सर्वस्व समाप्त हो जाता है तथा यदि व्यक्ति की कार्यक्षमता कम है और अकारण गुस्सा अधिक करता है तो समाज में उसके पिटने का भय बना रहता है, जो कि मानवीय जीवन के लिए अनुचित है। तात्पर्य यह है कि मानव को अपनी क्षमता से अधिक नहीं चलना चाहिए।

"संसार ९९ का चक्कर है।" (पृ. १६७)

मनुष्य स्वावलम्बी है। इस संसार के प्रत्येक मनुष्य की अत्यधिक आकांक्षा रहती है। वह प्रत्येक समय भोग-लिप्सा में लिप्त रहता है। अधिक से अधिक धन, ऐश्वर्य एकत्र करने का प्रयत्न करता है। आचार्यजी ने इस सन्दर्भ को दो-तीन पृष्ठों में विश्लेषित किया है।

"आना, जाना, लगा हुआ है।" (पृ. १८५)

जीवन-मृत्यु। इस सूक्ति में आचार्यजी ने सांसारिक प्रवृत्ति पर महत्त्व डाला है। इस भौतिक संसार में आना–जीवन प्राप्त करना, जाना–मृत्यु प्राप्त करना और शाश्वत–चिरन्तन है। जीवन-मृत्यु का क्रम है। दूसरे अर्थों में उसकी प्राप्ति-समाप्ति समाज की व्यवस्था है।

"सत्य-धर्म की जय हो!" (पृ. २१६)

सत्य अमर है, अमिट है। प्रत्येक धर्म ने सत्य को ग्रहण किया है। सत्य एक ऐसा मापदण्ड है जिसमें सम्पूर्ण मानवता का कल्याण निहित है। इसीलिए कहा भी गया है "सत्यमेव जयते"। वास्तविकता भी यह है कि सदैव सत्य विजयी होता है।

"लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन।" (पृ. २१७)

आज्ञा पालन न करना। यह सूक्ति भी चिरन्तन है। जिसने भी आज्ञा का अनुपालन नहीं किया है वह असफलता का कालग्रही बना है। यह एक ऐसा मापदण्ड है जिसको यदि न ग्रहण किया जाए तो व्यक्तिगत रूप से भी वह अनुचित

होता है। *"दाँत मिले तो चने नहीं,/चने मिले तो दाँत नहीं,*
और दोनों मिले तो···/पचाने को आँत नहीं···!" (पृ. ३१८)

समय की महत्ता। पूर्वजों ने 'समय' को बलवान् भी कहा है। यदि समय पर आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती है तो जीवन-पर्यन्त पश्चाताप करना पड़ता है।

"माटी, पानी और हवा/सौ रोगों की एक दवा।" (पृ. ३९९)

स्वस्थ स्वास्थ्य। हमारे शरीर में मिट्टी, पानी और वायु का विशेष महत्त्व होता है। यदि इनमें से किसी की भी कमी हो जाती है तो शरीर में विकार हो जाता है। आर्य समाज तथा अन्य संस्थाओं ने इस आयुर्वैदिक चिकित्सा पद्धति को बढ़ावा दिया है। व्यायाम से शरीर स्वस्थ रहता है। इसमें भी तीनों का समावेश है। यदि इन तीनों का आवश्यकतानुसार शरीर में योग रहता है तो वे सहस्र रोगों में औषधि का कार्य करते हैं।

"बहता पानी और रमता जोगी।" (पृ. ४४८)

परिवर्तनशीलता । प्रकृति ने भी इस सिद्धान्त को सुचारु रूप से क्रियान्वित किया है। कभी ग्रीष्म ऋतु, कभी शरद ऋतु तो कभी वर्षा ऋतु। इसी प्रकार जितना बहते हुए जल का महत्त्व है, उतना रुके जल का नहीं और योगी महापुरुष रमता हुआ ही शोभा देता है। उसी योग साधना की क्रिया से ही तो योगी >जोगी नाम पड़ा है।

"बिन माँगे मोती मिले/माँगे मिले न भीख।" (पृ. ४५४)

इच्छा न होने पर वस्तु प्राप्ति तथा इच्छा होने पर भी तुच्छ से तुच्छ वस्तु प्राप्त न होना। यह सूक्ति सांसारिक प्रवृत्ति से प्रभावित है। अनिच्छा होने पर कोई भी बहुमूल्य वस्तु प्राप्त हो जाती है किन्तु यदि तुच्छ से तुच्छ वस्तु को माँगा जाय तो वह भी उस समय नहीं मिल पाती।

"चोर इतने पापी नहीं होते/जितने कि
चोरों को पैदा करने वाले।" (पृ. ४६८)

समाज में चोरों को पैदा करने वाले समाज के लिए दोषी हैं। यहाँ रचनाकार ने समाज व्यवस्था पर चोट की है। यदि कुछ लोग अपराधीकरण या असामाजिकीकरण की ओर बढ़ते हैं तो ये दुष्प्रवृत्तियाँ उनके जीवन में परम्परागत सड़ी-गली समाज व्यवस्था से ही उत्पन्न होती हैं। इसी के प्रक्षालन तथा परिष्कार की आवश्यकता है।

मौलिक सूक्तियाँ : जो सूक्तियाँ मूल रूप में प्रयुक्त की गई हैं, जिनका निर्माण, प्रयोग आचार्यजी ने स्वयं किया है। ये सूक्तियाँ भी आम जीवन से प्रभावित मानवीय मूल्यों पर अवलम्बित हैं। लेखक ने परम्परागत सूक्तियों की अपेक्षा मौलिक सूक्तियों का अधिक प्रयोग किया है। सूक्तियों के निर्माण, प्रयोग में विद्वान् लेखक ने अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है।

इनकी प्रमुख मौलिक सूक्तियाँ निम्न प्रकार से समायोजित की गई हैं :

"सत्ता शाश्वत होती है।" (पृ. ७)

व्यवस्था चिरन्तन है। वस्तुतः सत्ता का अर्थ अस्तित्व से है। प्रकृति तथा समाज का अस्तित्व चिरन्तन है। कोई भी परिवर्तन इसकी दिशा को बदल सकता है, लेकिन इसके अस्तित्व को समाप्त नहीं कर सकता।

"असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है।" (पृ.९)

विवेक के साथ असत्य को जान लेना ही सत्य के मूल तक पहुँचना है। सत्य तथा असत्य एक ही तत्त्व के दो पक्ष हैं। दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं। दोनों की सापेक्ष सत्ता है, निरपेक्ष नहीं।

"आस्था के बिना रास्ता नहीं/मूल के बिना चूल नहीं।" (पृ. १०)

बिना आस्था असफल होना। जब तक व्यक्ति किसी विशेष कार्य की आस्था मस्तिष्क में नहीं रखता तब तक उसका मार्ग प्रशस्त नहीं होता। यह ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार जड़ के बिना चेतनता नहीं आती।

"यह मुड़न-जुड़न की क्रिया,/हे आर्य!
कार्य की निष्पत्ति तक/अनिवार्य होती है···!" (पृ. २९)

समाज एक समझौता है। इस समाज में जब तक आपसी समझौता नहीं हो, तब तक कार्य-सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

"पर की दया करने से/स्व की याद आती है।" (पृ.३८)

परोपकारियों को दूसरों के कार्य के प्रति सहयोग करने से ही स्वयं को जो सन्तुष्टि मिलती है, वही अपने आपको गौरवान्वित होना है।

"स्व की याद ही/स्व-दया है।" (पृ. ३८)

आत्मस्मृति अथवा आत्मसाक्षात्कार ही सही अर्थों में मानवीय करुणा है। यह हृदय की उदार तथा सात्त्विक वृत्ति है।

"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है।" (पृ. ३८)

वासना को विलासिता के रूप में भोगना ही मोह है, जो कि एक आदर्श मानव के लिए उचित नहीं है। दया का विकास होना मोक्ष है, जो कि मानव की प्रगति का प्रवर्तक है। अर्थात् मानव को परोपकारी होना चाहिए और मोह से जीवनपर्यन्त बचना ही श्रेयस्कर है।

"वासना की जीवन-परिधि/अचेतन है···तन है
दया-करुणा निरवधि है।" (पृ. ३९)

वासना का क्षेत्र संज्ञा शून्य है, देह है। इसको महत्त्व देना हानिकारक है। दया और करुणा के क्षेत्र को मापा नहीं जा सकता, यह चिरन्तन है।

"लघुता का त्यजन ही/गुरुता का यजन ही/शुभ का सृजन है।" (पृ. ५१)

तुच्छ को त्याग देना अर्थात् मूर्खों की संगति स्वीकार नहीं करनी चाहिए। महापुरुषों की आराधना करना, सत्संगति में सम्मिलित होना, शुभ, कल्याण, प्रगति का सृजन है। इसी से मानव का कल्याण सम्भव है।

"संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है।" (पृ.५६-५७)

शान्त, संयमी होना। इस भौतिक संसार में संयम रखकर ही जीवनयापन करना अच्छा है। इस तरह का जीवनयापन करना अपने आपको हीरे के समान प्रसिद्धि के पथ पर पहुँचाना है।

"सहधर्मी सजाति में ही/वैर वैमनस्क भाव
परस्पर देखे जाते हैं!" (पृ. ७१)

मतभेद होना। समलिंगी जीवनों में मतभेद अधिक होता है। जैसे कि श्री आचार्यजी ने भी कुत्तों का उदाहरण दिया है। यही मानव की प्रकृति है कि वह आपस में एक-दूसरे के प्रति घृणा का भाव प्रकट करता है। साथ ही दूसरे की बुराई कर अपने आपको बड़ा सिद्ध करने की अभिलाषा रखे हुए है। परिणामस्वरूप आपसी बैर इस प्रकार होता है जैसा कि वर्तमान में देश या समाज आतंकवाद, उग्रवाद से ग्रसित है।

"प्रत्येक व्यवधान का/सावधान होकर
सामना करना/नूतन अवधान को पाना है।" (पृ.७४)

दृढ़संकल्पी होना। मानव को जीवन में सभी समस्याओं का सावधानी से सामना करना चाहिए। सफलता भी तभी मिलती है। ऐसा जीवनयापन एक नए लक्ष्य की प्राप्ति का परिचायक है।

"दोषों से द्वेष रखना/दोषों का विकसन है
और/गुणों का विनशन है।" (पृ.७४)

जो व्यक्ति सदैव दोष दर्शन में विश्वास करते हैं वे संस्कारवश अपने व्यक्तित्व को द्वेषमय बना लेते हैं और उनकी प्रवृत्ति अच्छाइयों से हटकर बुराइयों की ओर बढ़ जाती है।

"सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है...
सत् को असत् माननेवाली दृष्टि/स्वयं कलियुग है...।" (पृ. ८३)

विद्वान् आचार्यजी ने इन सूक्तियों में सत्युग और कलियुग को परिभाषित किया है। सत्य के प्रति आस्था तथा समर्पित भावना सत् (सत्य) युग है तथा असत्य के प्रति अनुराग तथा आकर्षण कलियुग है।

"पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।" (पृ.९३)

जो व्यक्ति प्रकृति के परिवर्तन के साथ-साथ उसमें समाहित रहता है वह मन, वचन तथा शरीर आदि सभी से स्वस्थ रहता है। यही तो मोक्ष है और यही जीवन का सार है।

"कभी कभी फूल भी/अधिक कठोर होते हैं/...शूल से भी।" (पृ. ९९)

आचार्यजी के अनुसार फूल का अर्थ काम भावना तथा शूल का अर्थ रक्षा के उपकरणों से है। अतः रक्षा के उपकरण भले ही घातक हों परन्तु वे कामुक प्रवृत्ति से पृथक् समाज के लिए श्रेयस्कर होते हैं।

"दम सुख है, सुख का स्रोत/मद दुःख है, सुख की मौत!" (पृ. १०२)

इन्द्रियों को वश में रखना ही सच्चा सुख है। अहंकार मृत्यु है तथा सुख की समाप्ति है।

"आघात मूल पर हो/द्रुम सूख जाता है,
दो मूल में सलिल तो···/पूरण फूलता है।" (पृ. १२५)

आधार की रक्षा आवश्यक है। उसके बिना प्रासाद का निर्माण सम्भव नहीं। समाज का प्रासाद भित्ति पर आधारित होता है, अतः भित्ति की सुदृढ़ता के साथ रक्षा होनी चाहिए। जड़ में पानी दोगे तो वृक्ष फूलेगा, फलेगा किन्तु आघात करोगे तो नष्ट हो जाएगा।

"पूरा चल कर/विश्राम करो।" (पृ. १२९)

कार्य निष्पत्ति। अभिप्राय यह है कि जब तक कार्य में सफलता न मिल जाए तब तक ठहरना नहीं चाहिए। भले ही कितने ही व्यवधान क्यों न आएँ, तभी परिश्रम सफल होता है। शाब्दिक अर्थ के रूप में कहा जा सकता है यात्री को अपनी यात्रा पूर्ण करके ही विश्राम करना उचित है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो पुनः यात्रा में वे ही कठिनाई फिर उपस्थित होंगी जिससे परिश्रम निष्फल जाएगा।

"रुद्रता विकृति है विकार/समिट-शीला होती है,
भद्रता है प्रकृति का प्रकार/अमिट-लीला होती है।" (पृ.१३५)

क्रोध मानव जीवन को विकृत, मलिन तथा विनष्ट कर देता है। शिव तत्त्व ग्राह्य तथा अमर रहता है।

"परमार्थ तुलता नहीं कभी/अर्थ की तुला में।" (पृ. १४२)

विरोधाभास। परोपकार को कभी भी धन के समकक्ष नहीं लाया जा सकता है। परोपकार, परहित अथवा जनहित का स्थान धन से अत्यधिक ऊँचा है।

"अपना ही न अंकन हो/पर का भी मूल्यांकन हो।" (पृ.१४९)

परोपकारी भावना का विकास। मनुष्य को केवल आत्मकेन्द्रित नहीं होना चाहिए। अन्य मनुष्य के हितों का भी पालन करना चाहिए। मानवीय मूल्यों की उपेक्षा करना जनहित में नहीं है। इसलिए स्वयं के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के हित में ही उसका विकास निहित है।

"सब रसों का अन्त होना ही-/शान्त-रस है।" (पृ. १६०)

दृढ़ता धारण करना। प्रत्येक मनुष्य की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। वह सभी रसों का आस्वाद करता है। इन सब रसों में शान्त रस सर्वोपरि है। इस सम्बन्ध में यह कहना समीचीन होगा कि सभी महापुरुषों ने 'शान्ति' के मार्ग का अनुसरण किया है।

"पर-सम्पदा हरण कर संग्रह करना/मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है।"(पृ. १८९)

अज्ञानता तथा विनाश का आधार परावलम्बी बनना है। यह सूक्ति आधुनिक राजनैतिक तथा व्यापारिक युग में सटीक तथा सार्थक सिद्ध होती है।

"लघु होकर गुरुजनों को/भूलकर भी प्रवचन देना
महा अज्ञान है दुःख-मुधा।" (पृ. २१८)

कृतघ्न होना। तुच्छ होकर अपने गुरुओं को अनजाने में भी उपदेश देना अपने आपको अन्धकार में ढकेलना है, दुःखों को आमन्त्रण देना है। यह ठीक उसी प्रकार है जिस तरह एक महाअज्ञानी होता है।

"हिंसा की हिंसा करना ही/अहिंसा की पूजा है···प्रशंसा।" (पृ. २३३)

शान्तिप्रिय होना। हिंसा को हिंसा रूप में न अपनाकर उसकी समाप्ति करना ही अहिंसा के मार्ग का प्रशस्त होना है। अहिंसा से ही मानवता का सर्वांगीण विकास सम्भव है। यहाँ पर विद्वान् लेखक ने आज की प्रमुख धारणा निरस्त्रीकरण पर बल दिया है।

"महापुरुष प्रकाश में नहीं आते/आना भी नहीं चाहते,
प्रकाश-प्रदान में ही/उन्हें रस आता है।" (पृ.२४५)

महापुरुष तो स्वयं प्रकाश होते हैं, जीवन ज्योति देते हैं। उनको मानवीय मूल्य स्थापित करने में आनन्द आता है। वे स्वयं को प्रकाशित नहीं करते। यह ठीक उसी प्रकार है जिस तरह सूर्य पूरी प्रकृति को प्रकाश देता है।

"जिसकी कर्त्तव्य निष्ठा वह/काष्ठा को छूती मिलती है
उसकी सर्वमान्य प्रतिष्ठा तो···/काष्ठा को भी पार कर जाती है।"(पृ.२५८)

जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों में सर्वस्पर्शी है वह लोकप्रिय होता है। उसकी लोकप्रियता सर्वांगी होती है।

"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में।" (पृ. २६७)

सच्चा साधक क्रोध और करुणा की भूमियों पर समदर्शी होता है।

"निर्बल-जनों को सताने से नहीं,/बल-संबल दे बचाने से ही
बलवानों का बल सार्थक होता है।" (पृ. २७२)

बलवानों का बल तभी सार्थक सिद्ध होता है जब कि वे निर्बलों को न सताएँ तथा बल को अधिक सुदृढ़ बनाएँ। इस सम्बन्ध में कबीरदासजी ने कहा है : "दुर्बल को न सताइए, जाकी मोटी हाय। मुई खाल की धोंकनी, सार भसम हो जाय"।

"अपनी कसौटी पर अपने को कसना/बहुत सरल है,···पर
सही-सही निर्णय लेना बहुत कठिन है।" (पृ.२७६)

स्वार्थपरता होना। अपने आपको सफल सिद्ध करना प्रत्येक मानव के लिए बहुत सरल है किन्तु उचित और मानवीय मूल्यों पर निर्णय लेना अत्यधिक कठिन है। यह कोई साधारण मानव का कार्य नहीं अपितु महापुरुष ही ऐसा कर सकने में सक्षम है।

"मन-वांछित फल मिलना ही/उद्यम की सीमा मानी है।" (पृ. २८४)

कार्यसिद्धि होना। आशातीत फल प्राप्त हो जाने से उद्यमी का प्रयत्न सफल हो जाता है। यही उसकी सीमा है, लक्ष्य है, ध्येय है।

"बिना सन्तोष, जीवन सदोष है।" (पृ.३३९)

सन्तुष्ट होना। प्रत्येक मानव को अपने कार्यों से सन्तुष्टि प्राप्ति होना उसके जीवन को सफल मानना है। यदि वह सन्तुष्ट नहीं होता तो उसका जीवन दोषी है, निर्दोष नहीं है।

"सन्त-समागम की यही तो सार्थकता है
संसार का अन्त दिखने लगता है।" (पृ. ३५२)

सज्जनों की संगत से साधक संसार की अनित्यता तथा नश्वरता को जान जाता है।

"फूँक मारने से मशाल बुझ नहीं सकता
बुझाने वाले का जीवन ही बुझ सकता है।" (पृ. ३६९)

यदि कोई मानव अपने हित के लिए दूसरों का विनाश करता है या ऐसा करने का प्रयास करता है तो वह दूसरों का कुछ नहीं कर सकता अपितु उसका जीवन ही विनष्ट हो जाएगा। परहित अथवा जनहित में अपना जीवन सफल हो जाता है।

"ध्येय यदि चंचल होगा, तो/कुशल ध्याता का शान्त मन भी
चंचल हो उठेगा ही।" (पृ. ३६९)

लक्ष्य की निश्चितता ही प्रयत्न तथा साधनों के प्रयोग की सफलता है।

"आधार का हिलना ही/आधेय का हिलना है।" (पृ. ३७९)

आधेय का अस्तित्व आधार पर अवलम्बित है।

"प्रीति बिना रीति नहीं/और/रीति बिना गीत नहीं।" (पृ. ३९१)

प्रेम से व्यवहार तथा आचरण की पवित्रता प्राप्त होती है तथा उससे जीवन में माधुर्य, सम्पन्नता तथा समृद्धि प्राप्त होती है।

"प्रकृति का प्रेम पाये बिना/पुरुष का पुरुषार्थ फलता नहीं।" (पृ. ३९५)

पुरुष का पौरुष प्रकृति के अनुकूल चलने में ही सार्थक सिद्ध होता है, अर्थात् प्रकृति की अनुकूलता ही जीवन है और प्रकृति की प्रतिकूलता ही मृत्यु है।

"सत्पुरुषों से मिलने वाला/वचन-व्यापार का प्रयोजन
परहित-सम्पादन है।" (पृ. ४०२)

सज्जन पुरुषों अथवा महापुरुषों द्वारा व्यक्त वाणी से जो आदान-प्रदान होता है, उसका अर्थ एकांगी नहीं है। वह सम्पूर्ण मानवता का सर्वांगीण विकास करती है। महापुरुषों की वाणी में, उनकी सोच में परोपकारी भावना निहित होती है।

"संहार की बात मत करो,/संघर्ष करते जाओ !
हार की बात मत करो,/उत्कर्ष करते जाओ !" (पृ. ४३२)

संघर्षशील होना। कभी भी विनाश की बात मत सोचो। 'संघर्ष ही जीवन है'– इस सिद्धान्त का पालन करते हुए आगे बढ़ते जाओ। प्रयास करते चलो, हार की बात मत सोचो।

"पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु/पर को पद-दलित करते हैं,
पाप-पाखण्ड करते हैं।" (पृ. ४३४)

स्वार्थपरता। जिनके पास मान है, पद है, वे ही पद पाने की लालसा में दूसरों को कुचलते हैं। उसमें उनका स्वार्थ निहित होता है। ऐसे ही लालसा वाले पाप को जन्म देते हैं, पाखण्ड करते हैं जो स्वस्थ एवं आदर्श समाज के लिए उपयुक्त नहीं है।

"कई सूक्तियाँ/प्रेरणा देती पंक्तियाँ
कई उदाहरण-दृष्टान्त/नयी पुरानी दृष्टियाँ।" (पृ.४७३)

महापुरुषों की वाणी चाहे पुरातन हों अथवा नवीन हों, वे समाज के लिए प्रेरणा होती हैं। देखने से ये मात्र पंक्तियाँ ही दृष्टिगोचर होती हैं। इनके द्वारा जो उदाहरण– दृष्टान्त दिए गए होते हैं, वे समाज के लिए वरदान सिद्ध होते हैं। उन्हीं के आधार पर आधुनिक समाज की कल्पना की जाती है।

"जब तक जीवित है आतंकवाद
शान्ति का श्वास ले नहीं सकती/धरती यह।" (पृ. ४४१)

विद्वान् आचार्यजी ने इन पंक्तियों में वर्तमान की विकट, ज्वलन्त समस्या आतंकवाद को विश्लेषित किया है, जो कि एक सूक्ति का रूप धारण कर सम्मुख है। उन्होंने सही लिखा है कि जब तक आतंकवाद इस पृथ्वी पर रहेगा तब तक यहाँ के मानव शान्ति की साँस नहीं ले सकते, और यदि शान्ति नहीं होगी तो प्रगति नहीं होगी अपितु विनाश की ओर ही अग्रसर होता रहेगा। यह आतंकवाद भारत ही नहीं, आज सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। भारत में इसका उग्र रूप है, क्योंकि इसके अनेक प्रान्तों में यह आग लगी हुई है।

"जो···/निश्छलों से छल करते हैं
जल-देवता से भी जला करते हैं।" (पृ. ४४७)

जो व्यक्ति निश्छलों से अर्थात् साधारण मानव से छल-कपट करते हैं, उनका इस प्रकृति में कोई स्थान नहीं है। जल, जिसकी प्रकृति शान्त होती है, जीवन देता है। वह भी उसको शान्ति नहीं दे सकता। ऐसे मानव से वह भी खिन्न रहता है।

"सलिल की अपेक्षा/अनल को बाँधना कठिन है।" (पृ. ४७२)

शान्ति को बाँधा जा सकता है। उग्रवाद, आतंकवाद को नहीं बाँधा जा सकता।

"पर्त से केन्द्र की ओर/जब मति होने लगती है
अनर्थ से अर्थ की ओर/तब गति होने लगती है।" (पृ. ४७५)

मन की एकाग्रता तथा एकनिष्ठता ही मानव जीवन के विकास का मूल है।

"उपादान-कारण ही/कार्य में ढलता है
यह अकाट्य नियम है।" (पृ. ४८१)

निमित्त कारण की अपेक्षा उपादान कारण कार्य से सीधा सम्बन्ध रखता है। अर्थात् उपादान कारण ही कार्य रूप में परिणत होता है, निमित्त नहीं।

ऊपर जिन सूक्तियों का विवेचन किया है उनमें अधिकांश सूक्तियाँ वर्तमान मानवीय जीवन से सम्बद्ध हैं। 'मूकमाटी' में नैतिकतावादी, प्रकृतिवादी तथा आधुनिक आतंकवादी परिवेश से जुड़ी सूक्तियों की प्रधानता है। जहाँ रचनाकार ने परम्परागत सूक्तियों को नए सन्दर्भ में प्रयोग करके नए आयाम देने का प्रयास किया है, वहीं नवीन तथा मौलिक सूक्तियों को नितान्त सन्दर्भ सापेक्ष बनाया है। पूर्ण विश्वास है कि ये नवीन सूक्तियाँ मानव जीवन के सभी पक्षों को नए रचनात्मक आयाम प्रदान करेंगी तथा मानव जीवन को मानक, आदर्श तथा नई दिशा प्रदान करेंगी।

□



अ-मूक 'मूकमाटी'

लालचन्द्र हरिश्चन्द्र जैन

'धर्म-मंगल' (पाक्षिक) में मैंने पहली बार 'मूकमाटी' काव्य के सम्बन्ध में पढ़ा। बाद में मूल ग्रन्थ देखने को मिला तो इसके मुखपृष्ठ को देखकर सहसा मैं स्वयं से ही पूछ उठा कि इसमें मंगल कलश है, चक्र है, पर्वत-सी माटी है फिर निर्मल बहती सरिता क्यों नहीं ? ग्रन्थ को खोलकर जब पढ़ने लगा तो उत्तर मिला- "भोले प्राणी ! काव्य सरिता यहाँ बह रही है, तो बाहर दीखे ही क्यों, जब वह अन्तर्निमग्ना है।"

यह काव्य चार खण्डों में विभक्त है। चौथे खण्ड का विस्तार अधिक है। क्या सचमुच यह महाकाव्य है अथवा खण्ड काव्य है या सन्त काव्य है ? मुझे तो गतिमान, रूक्ष वर्तमान युग में यह 'वसन्त काव्य' लगा। कुछ भी कहो, काव्य अच्छा है। काव्य अगर कला है, वह जीवन में सौन्दर्य बनकर अभिव्यक्त होती है तो 'मूकमाटी' दर्शनीय है। आचार्य विद्यासागर का चरित्र मैंने पढ़ा नहीं किन्तु भावात्मक परिचय देने के लिए 'मूकमाटी' 'अमूक' हो उठी। इसीलिए 'अ-मूक मूकमाटी' यह शीर्षक मैंने दिया।

पहले सहसा मैं कल्पना कर रहा था कि कहीं ऐसा न हो 'गतानुगतिकता' का अनुभव शब्द रचना में भी हो। गतानुगतिकता आदर्श निर्मल परम्परा में होनी चाहिए। आज नए युग में वाचक अनुरंजन प्रिय है। "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" अर्थात् नवीनता प्रतिक्षण नवीन होती है तो वह रमणीयता का रूप धारण करती है, ऐसा 'शिशुपाल वध' काव्य में कहा है। 'मूकमाटी' के प्रत्येक खण्ड में रमणीयता है क्योंकि आचार्यजी जिन शब्दों की रचना करते हैं, वे काव्य बनकर साकार होते हैं। रमणीयता काव्य का अभिन्न अंग है। इस काव्य में काव्यानन्द तो है ही, उससे अधिक महत्त्व तो यह है कि इसमें आध्यात्मिक सदाचार वर्णित है। कोई कुछ भी कहे, जीवन का लक्ष्य चिरन्तन सौन्दर्य की उपलब्धि ही होना है। यह काव्य उसका प्रतिनिधित्व करता है। इसीलिए आचार्यश्री कहते हैं :

"बन्धन-रूप तन, / मन और वचन का / आमूल मिट जाना ही / मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में / अविनश्वर सुख होता है।" (पृ. ४८६)

काव्य का मूल्यांकन मैं क्या करूँ ? निर्मल दिगम्बरी दीक्षाधारी प्रत्यक्ष 'विद्या-सागर' की रचना का मैं अल्पज्ञ संसारी जीव मूल्यांकन क्या करूँ ? मेरा तो कर्तव्य है कि काव्य रस का आकण्ठ पान करूँ।

आचार्य श्री विद्यासागर आध्यात्मिक सन्त हैं। इस काव्य में अध्यात्म धारा स्वाधीन भाव से बह रही है। पूरे अध्यात्म को यहाँ थोड़े शब्दों में उतारना तो हो नहीं सकता, फिर भी कुछ पंक्तियाँ वाचकों के सामने रखने का मोह मैं सँवार नहीं सकता।

सेठ को उपदेश देते हुए कहते हैं : *"स्वाश्रित जीवन जिया करो" (पृ. ३८७)*। ठीक ही है, उन्नति का आधार 'स्व' ही है। उसका आधार लेने पर जीवन आनन्द भवन है। उसके बिना भव-वन तो है ही।

उसके पूर्व ही कह डाला है : *"स्वभाव समता से विमुख हुआ जीवन / अमरत्व की ओर नहीं / समरत्व की ओर, मरण की ओर, लुढ़क रहा है" (पृ. ३८१)*। स्वभाव में जम जाना सार्थ जीवन है। विभाव में पड़े हैं, इसीलिए तो हम संसारी होकर दुःख भोग रहे हैं। आगे भी यही दुःख भोगना हमारा कर्तव्य नहीं है। *"चेतना का जीवन ही / झलक आता है" (पृ. ३७)* –इस विचार धारा को पाथेय बनाकर हम आनन्द के मार्ग पर चलें। *"हमारी उपास्य-देवता / अहिंसा है" (पृ. ६४)* उसका पालन हमें करना है तो *"करुणा का केन्द्र वह / संवेदन धर्मा" "चेतन है" (पृ. ३९)* इसको ध्यान में रखना है।

संयम का जीवन में सर्वश्रेष्ठ महत्त्व है। पाइथागोरस ने भी कहा है : "No man is free who cannot command himself." संयम का महत्त्व समझने के लिए प्रथम तो वैचारिक पृष्ठभूमि समतल और निर्मल होनी चाहिए। *"वासना का विलास/मोह है" (पृ. ३८)* यह समझकर हम वासना को संक्षिप्त करें या मिटा डालें। *"मन के गुलाम मानव की/जो कामवृत्ति है/तामसता काय-रता है/वही सही मायने में/भीतरी कायरता है !" (पृ. ९४)*। इस भीतरी कायरता को छोड़ना है। आचार्यश्री कहते हैं : *"दम सुख है,.../मद दुःख है..." (पृ. १०२)*। संयम का उपदेश इससे अच्छा भला क्या हो सकता है ?

इस प्रकार वैचारिक पृष्ठभूमि को निर्मल बनाकर– *"स्थिर मन ही वह/महामन्त्र होता है" (पृ. १०९)* यह जानकर *"अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है" (पृ. १०९-११०)* यह समझना है। उसको *"साकार करना होता है, सत्-संस्कारों से" (पृ. १४८)*। शब्द का संयोजन आचार्यश्री इस तरह करते हैं कि वह सूक्ति बन जाए, जैसे- *"सिद्धान्त अपना नहीं हो सकता/सिद्धान्त को अपना सकते हम" (पृ. ४१५); "क्या दर्शन और अध्यात्म/एक जीवन के दो पद हैं ?" (पृ. २८७); "अध्यात्म स्वाधीन नयन है/...स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है" (पृ. २८८); "स्व की उपलब्धि ही सर्वोपलब्धि है" (पृ. ३४०); "नैमित्तिक परिणाम कथंचित् पराये हैं" (पृ. ३०५); "अहं से यदि प्रीति हो/तो "सुनो !/चरम से भीति धरो/शम-धरो/सम वरो !" (पृ. ३५५); "ज्ञान का जानना ही नहीं/ज्ञेयाकार होना भी स्वभाव है" (पृ. ३८१)*।

वुडवर्थ के अनुसार स्मृति का सीखना, धारण करना, पुनरावर्तन और पहिचानना– ये चारों प्रक्रियाएँ शब्दालंकार से सुलभ हो जाती हैं। शायद इसीलिए शब्दालंकार का यत्र-तत्र उपयोग है। हाँ, इतनी सावधानता है कि केवल शब्दच्छल न हो। मानना होगा कि शब्द जब अलंकार बनते हैं तो पुनर्जागरण के लिए उपयोगी होते हैं :

"निशा का अवसान हो रहा है/उषा की अब शान हो रही है।" (पृ. १)

इन पंक्तियों में 'मुरज बन्ध' जैसी रचना चमत्कृति का परिचय देने के साथ-साथ प्रस्तुतीकरण की स्पष्टता भी है।

जैन धर्म का मूल स्रोत अहिंसा है। 'दया' यह मन्त्र है, उसे 'याद' रखना कर्तव्य है, यह बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं : *"स्व की याद ही/स्व-दया है" (पृ. ३८)* । शब्द चमत्कृति के प्रस्तुतीकरण को यहाँ अध्यात्म-उपदेश का मोड़ दिया है। विलोम पद्धति का विचार सम्प्रेषण के लिए अच्छा उपयोग किया है। शब्द को सामर्थ्य तो उसकी समीचीन योजना देती है। 'राही', 'राख', 'लाभ', 'रसना' इत्यादि ये ऐसे ही शब्द हैं, जो सशक्त बने हैं।

शब्दों के धनी होना 'रटन' से हो सकता है, किन्तु उस शब्द धन को सुचारु रूप से रसिकों के सामने रखना और उन्हें सौन्दर्य-दान देना, अम्लान प्रतिभा के ही हाथ से सम्भव है। 'कुम्भ,' 'रस्सी,' 'मर, हम मरहम बनें' तथा 'अपराधीन' जैसे अनेक शब्द हैं जिनके अर्थों को गम्भीरता से ढाला है। पृ. ६४ पर 'आदमी' का ऐसा अर्थ किया है कि अर्थ बताते हुए कर्तव्य को भी बता दिया। कविता की व्याख्या आजकल तो खुजलाहट ही होती जा रही है। शब्दों को मनमानी संयोजना में ढालकर वाचकों के सामने प्रस्तुत किया जाता है तथा गद्य के परिच्छेद की यत्र-तत्रानुपूर्वी से रचना की जाती है। उसका 'मुक्त छन्द' नामकरण होता है। आजकल की व्याख्या और प्रयास को दूर रखकर आचार्यश्री ने अपनी कविता को सुखद साधना की अनुभूति से ओतप्रोत किया है। पृ.१२४ पर 'अपना लो' शब्द को, पुरुषार्थ जो श्रेयस्कर होता है, निर्मल रूप से सामने रखा है।

कविता को आज अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचना है। उसके लिए 'मूकमाटी' अमूक होकर विहार करती है। काव्य अमर कला है, तो उसे कैसा रूप देना चाहिए, इसकी जानकारी (Information) तो हर कवि को होती है,

किन्तु उसके उचित ज्ञान (Knowledge) को आचार्यश्री ने इस काव्य के रूप में प्रस्तुत किया है। इस काव्य में प्रयुक्त शब्द 'गोरख धंधा' नहीं हैं, वे शब्द तो सौन्दर्य और सत्य में अभिव्यक्त हुए हैं।

आत्मोत्थान के लिए किसी परोक्ष शक्ति की सहायता अपेक्षित नहीं है। इसीलिए *''अपना स्वामी आप है''* *(पृ. १८५)* कहा और *'' 'पुरुष' यानी आत्मा–परमात्मा है/'अर्थ' यानी प्राप्तव्य–प्रयोजन है'' (पृ. ३४९)* कहा है। और भी कहा है : *''सब को छोड़कर/अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है''(पृ.१०९-११०)*।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने एक जगह लिखा है : ''जैन काव्यों के नायकों का लक्ष्य न तो महाभारत के समान खोए हुए राज्य को प्राप्त करना है और न रामायण के समान पैतृक अधिकार को ही पुनः हस्तगत करना है, बल्कि उनके जीवन का लक्ष्य चिरन्तन सौन्दर्य की उपलब्धि करना है।'' ऐसा होते हुए भी तीर्थंकर या अन्य कोई महापुरुष को नायक के रूप में स्वीकार न करके 'माटी' को क्यों स्वीकार किया, यह प्रश्न सामने आता है। मैंने पहले ही कहा है कि आज नए युग में वाचक अनुरंजन प्रिय है। उसके लिए साहित्य या कला में नयापन ढूँढ़ना वाचक की प्रकृति है। माटी जड़ है, क्षुद्र है, इसमें कहने के लिए है ही क्या ? क्या कहा होगा मुनिराज ने ? क्या माटी पर भी महाकाव्य हो सकता है ?– इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ने के लिए स्वाभाविकतया वाचक ग्रन्थ को पढ़ने लगता है, पढ़ते-पढ़ते पहले खण्ड में ही मन नाद माधुर्य से इतना आन्दोलित होता है कि वह आगे भी रुचि से पढ़ता है।

माना जाता है कि काव्य का प्रयोजन आत्माभिव्यक्ति होता है। उसके लिए कवि के अनुभव तो नितान्त वैयक्तिक होते हैं, फिर भी वह उन वैयक्तिक भावों को, भावों की एकसूत्रता से समष्टि रूप में परिवर्तित कर देता है। एक परमोपकारी और परोपकारी साधु की आत्माभिव्यक्ति उस उत्तुंग अनुभूति तक मनुष्य को पहुँचा देती है, जहाँ अनुभूति अनिर्वचनीय होती है और कहीं-कहीं तो आत्मोन्नति का सूत्र बन जाती है।

शान्त रस की रचना है यह काव्य। नायक–चरित्र नायक नीरस, जड़, अमूर्त या क्षुद्र कथ्य को सरल और मधुर बना देना रससिद्ध कवि का ही कार्य हो सकता है। रससिद्धता का अच्छा परिचय इस काव्य में वाचक को होता है। हाँ, एक बात मैं और कहना चाहता हूँ इस काव्य को सामान्य वाचक बन कर न पढ़ो, एक रसिक बन कर पढ़ो तो और भी आनन्द में वृद्धि होगी। 'नर्मदा का नरम कंकर,' 'तोता क्यों रोता ?', 'चेतना के गहराव में' और 'डूबो मत,लगाओ डुबकी' – ये काव्य संग्रह भी आपकी कृतियाँ हैं। मैंने अभी ये कृतियाँ पढ़ी नहीं, किन्तु विश्वास के साथ मुझे कहना होगा कि ये कृतियाँ भी उच्चकोटि की होंगी। वाचकों या रसिकों को अच्छा काव्यानन्द लेना हो तो उन्हें चाहिए कि ऐसी उत्कृष्ट काव्यधारा में स्वयं को बहा लें।

□



'मूकमाटी' : आध्यात्मिक महाकाव्य

डॉ. परशुराम 'विरही'

'मूकमाटी' अध्यात्म स्तर पर रचित महाकाव्य के नाम से प्रकाशित श्रेष्ठ कोटि की रचना है, महाग्रन्थ है। 'मूकमाटी' में जो काव्य रचना है, उसे मैं सन्त की आत्मा का संगीत मानता हूँ, सन्त भी वे जो साधना के जीवन्त रूप होते हैं।

ग्रन्थ की भूमिका में कहा गया है कि माटी नायिका है, कुम्भकार नायक है। यह तो आध्यात्मिक रोमांस है। इस आध्यात्मिक रोमांस के लिए कबीर ने बड़ा प्रयत्न किया। कबीर के पास दो पक्ष हैं– एक सहज पक्ष तो दूसरा कठिन पक्ष, जिसे हठयोग भी कहते हैं। इस हठयोग में छह चक्रों को भेदने के लिए वे जीव को प्रस्तुत करते हैं जो सहज रूप दर्शाने के लिए राम की बहुरिया हैं। आचार्यप्रवर ने इस ग्रन्थ में उन सहज समाधि की स्थितियों का प्ररूपण बहुत सहजता से कर दिया है। जन सामान्य तक पहुँचाने के लिए मीरा जिस सहज भाव में लीन हो जाती थीं, ठीक उसी भाव में आचार्यश्री ने इस 'मूकमाटी' महाग्रन्थ में जगह-जगह पर ऐसे स्थल-बिन्दु सहजता से उपस्थित कर दिए हैं जो जन सामान्य तक सीधे पहुँच कर उसके अन्तस् को छू लेते हैं।

भारतीय दर्शन में आत्म तत्त्व को प्रकाश के स्वरूप में बतलाया गया है। आचार्यप्रवर ने भी उसी ओर हमारा संकेत किया है। प्रकाश का स्वरूप गोस्वामी तुलसीदास ने यों बतलाया है :

"विषय करण सुर जीव समेता, सकल एक से एक सचेता।
सब कर परम प्रकासक जोई, राम अनादि अवधपति सोई॥"

आचार्यप्रवर विद्यासागरजी ने 'मूकमाटी' के दूसरे खण्ड में परम स्वरूप की चर्चा की है और उस तक पहुँचने के लिए सीधे मार्ग को सहजतया समझाने के लिए संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों में भी प्रकट कर दिया। आचार्यश्री ने इसमें जो शब्दों का उलटफेर किया है, उस सम्बन्ध में यह कहना चाहूँगा कि आजकल की समकालीन कविता में यही शिल्प है। वस्तुतः ये बहुत कठिन शिल्प है और इसका निर्वाह भी बहुत कठिन है, परन्तु आचार्यप्रवर ने इस विशालकाय ग्रन्थ में उसे भी बहुत सरलतया रीति से शिल्प की विधा को आत्मसात् कर स्पष्ट दिशा दी है।

श्रीकान्त वर्मा ने एक कविता में इस शिल्प के माध्यम से ही काव्य समीक्षा की है। वस्तुतः समकालीन कविता का शिल्प विधान ही ऐसा है कि उसमें हेर-फेर और उलट-पुलट कर दिया जाता है, जिसे अर्थाभास कहना चाहिए। इस विधा से एक भिन्न प्रकार की ध्वन्यात्मकता प्रकट की जाती है और इस ध्वन्यात्मकता से व्यक्ति के भीतर एक विशिष्ट आनन्द की उत्पत्ति होती है। यही आनन्द परमानन्द स्वरूप है। प्रसादजी ने कहा है :

"ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,/इच्छा क्यों पूरी हो मन की ?
एक दूसरे से मिल न सके/यह विडम्बना है जीवन की !"

ज्ञान और क्रिया का समन्वय करने का मार्ग आचार्यप्रवर ने इस 'मूकमाटी' में सहज रूप से प्रदर्शित किया है और हम सभी का आह्वान किया है कि इस समीचीन मार्ग को धारण कर अपने जीवन को सफल एवं आदर्शमय बनाएँ।

□

'मूकमाटी' : आध्यत्मिक जीवन की देन

पं. भँवर लाल जैन

आचार्य श्री विद्यासागरजी की यह एक अनूठी रचना है जिसने अनूठी सूझ के आधार पर ही एक महाकाव्य का रूप ले लिया है। साधारण-सी वस्तु माटी, जिसका जनसाधारण की नज़रों में कोई महत्त्व नहीं, दार्शनिक कवि ने साधना के बल पर उसमें महानता के दर्शन किए और माटी की उस मूक महानता को काव्य में निबद्ध कर उसे पहुँचा दिया ऊपर, महाकाव्य के रूप तक। यह साधारण कार्य नहीं, एक अलौकिक प्रतिभा कहें, तप:पूत साधना कहें या कहें आध्यात्मिक जीवन की देन!

साहित्य, कला, दर्शन और सिद्धान्त सभी भरे हैं– इस 'मूकमाटी' में। प्रश्न उठता है कि क्या नहीं है 'मूकमाटी' में, जिसे 'मूकमाटी' के कलाकार ने छोड़ा हो? कहीं तोड़ा-मरोड़ा नहीं, स्वाभाविक रूप में जोड़ा है। इसकी भाषा प्रांजल और सरल है एवं भावों की अभिव्यक्ति में सक्षम है।

'मूकमाटी' काव्य स्वत:प्रसूत आलंकारिक छटा से ओत-प्रोत है। वीर, करुणा, वात्सल्य, शृंगार आदि सभी काव्यगत रसों की काव्य रूप में व्याख्या देते हुए कवि की अपूर्व प्रतिभा के दर्शन होते हैं :

"इस करुणा का स्वाद/किन शब्दों में कहूँ!
गर यक़ीन हो/नमकीन आँसुओं का/स्वाद है वह!" (पृ. १५५)

करुणा और शान्त रस के भेद बताते हुए 'मूकमाटी' में लिखा है :

"करुणा रस में/शान्त-रस का अन्तर्भाव मानना/बड़ी भूल है।
उछलती हुई उपयोग की परिणति वह/करुणा है/नहर की भाँति!
और/उजली-सी उपयोग की परिणति वह/शान्त रस है/नदी की भाँति!"
(पृ. १५५)

इसी प्रकार शृंगार रस का चित्रण करते हुए कवि माटी को बताता है :

"बोरी में भरी जा रही है···/बोरी के दोनों छोर बन्द हैं/बीचों-बीच मुख है
और/सावरणा - साभरणा/लज्जा का अनुभव करती,/नवविवाहिता तनूदरा
घूँघट में से झाँकती-सी···/बार-बार बस,/बोरी में से झाँक रही है।"
(पृ. ३०-३१)

वीर रस के बारे में कवि कहता है :

- *"महासत्ता माटी की बाहुओं से/फूट रहा वीर रस*
  और/पूछ रहा है शिल्पी से वह/कि/...वीरों से स्तुत यह
  वीर रस प्रस्तुत है/सदियों से वीर्य प्रदान किया है,/युग को इसने!
  लो! पी लो प्याला भर-भर कर/विजय की कामना पूर्ण हो तुम्हारी!
  युग-वीर बनो! महावीर बनो!" (पृ.१३०)
- *"अध-खुली कमलिनी/डूबते चाँद की/चाँदनी को भी नहीं देखती*
  आँखें खोल कर।/ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना

सब के वश की बात नहीं,/और···वह भी···/स्त्री-पर्याय में
अनहोनी-सी ···घटना !" (पृ. २)

यहाँ पर कवि ने ईर्ष्या का सामंजस्य बिठाया है कमलिनी और स्त्री में।

"पदाभिलाषी बनकर/पर पर पद-पात न करूँ, उत्पात न करूँ,
कभी भी किसी जीवन को/पद-दलित नहीं करूँ प्रभो !" (पृ. ११५)

यह शिल्पी के रूप में रचनाकार की भावना है।

"अब दर्शक को दर्शन होता है—/कुम्भ के मुख मण्डल पर
'ही' और 'भी' इन दो अक्षरों का।/ये दोनों बीजाक्षर हैं,
अपने-अपने दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं।/'ही' एकान्तवाद का समर्थक है
'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।" (पृ. १७२)

अनेकान्त, स्याद्वाद —ये जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त हैं। 'ही' और 'भी' का प्रयोग देश-कल्याण के लिए रीढ़ है, जिसे अपनाने कवि की भावना है :

- *" 'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।*
  रावण था 'ही' का उपासक/राम के भीतर 'भी' बैठा था।
  यही कारण कि/राम उपास्य हुए, हैं, रहेंगे आगे भी।
  'भी' के आस-पास/बढ़ती-सी भीड़ लगती अवश्य,
  किन्तु भीड़ नहीं,/'भी' लोकतन्त्र की रीढ़ है।" (पृ. १७३)
- *"प्रभु से प्रार्थना है, कि/'ही' से हीन हो जगत् यह*
  अभी हो या कभी भी हो/'भी' से भेंट सभी की हो।" (पृ. १७३)

इस महाकाव्य में चार खण्ड हैं—१. 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ', २. 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं', ३. 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' एवं ४. 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।'

इन चार खण्डों में करीब ५०० पृष्ठों के इस महाकाव्य में आध्यात्मिक परम सन्त ने जो विचार दिए हैं, सचमुच वे सब हृदय को छूने वाले, अन्तस् को टटोल कर प्रेरणा देने वाले, छोटी-छोटी गद्य पंक्तिओं के रूप में एक-एक पद महान् अनुभूति के प्रदाता हैं तथा चिन्तन और मनन के योग्य हैं।

वैराग्य, राग-द्वेष, कषाय, लेश्याएँ, देश-सेवा, स्याद्वाद, पुण्य-पाप आदि सभी मानव सम्बन्धी विषयों पर 'मूकमाटी' महाकाव्य में इन दार्शनिक महाकवि ने क़लम चलाई है, जो सभी के लिए प्रेरणा-प्रदाता हैं। सहृदय पाठक इसे पढ़ना चालू कर देने के बाद छोड़ना नहीं चाहेंगे। उन्हें अपूर्व आनन्द प्राप्त होगा और उनका अन्तर्मन बोल उठेगा—'यह मूक माटी नहीं, मुखर माटी है। 'मानस तरंग' में आचार्यश्री का प्रत्येक वाक्य मननीय है, स्वाध्याय योग्य है। इसके प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ तो धन्यवाद के पात्र हैं ही, साथ ही 'प्रस्तवन' लेखक श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैन भी धन्यवादार्ह हैं, उनके साथ ही अन्य सहयोगी बन्धु भी।

[सम्पादक- 'वीर वाणी' (पाक्षिक), जयपुर-राजस्थान, ३ अक्टूबर, १९९०]

□

आध्यात्मिक उत्कर्ष का रसकलश : 'मूकमाटी'

डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

अन्तस्थ भावनाओं को जाग्रत करने की शक्ति का नाम कवि है और भावनाओं से परिमार्जित मति का नाम कविता है। कवि मनीषी होता है। वह शब्दकार होता है और मानव स्वभाव का चित्रकार भी। उसके लोचन स्वर्ग से भूतल और भूतल से स्वर्ग तक की यात्रा करते हैं। उसमें प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास का समीकरण होता है। श्रमण संस्कृति की काव्यधारा बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के अमृतरस का पान कराती है। पथ का पाथेय जुटाती है। अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध की ओर बढ़ने के लिए—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई जीव तत्त्वों से अनुप्राणित, सृजन की यह काव्यधारा हिन्दी में अपनी अनन्त यात्रा के अनुक्रम में आज भी प्रवहमान है। गुणवत्ता और परिमाण की दृष्टि से जैन काव्यकारों का प्रदेय महनीय है। आचार्य श्री विद्यासागर जीवन्त अनुभूतियों के रससिद्ध काव्यकार हैं। कवि जब ऋषिभाव को जीता है तब उसका हर कहा, लिखा ऋषि-भाषा का अमृत जल बन जाता है। आचार्यश्री पारम्परिक सिंहासन पर विराजते हुए भी खरी बात बोलते हैं। साधु की सच्ची पहचान उसकी निर्भीकता और भाषा में है जो तन्द्रा की अफ़ीम चाहने वाले समाज को उद्‌बोधन देती है। अपनी परिपक्व साधनावस्था में ही कुछ महानुभाव सिद्धावस्था का आनन्द भोगते हुए दिखाई देते हैं। आचार्यश्री ऐसे ही कवि हैं जिनकी कविता का लक्ष्य सत्य की शुभ्र ज्योति है। आचार्यश्री की कविता में अनुभूति की प्रधानता है, अभिव्यक्ति की सहजता है और है आत्म संवेदना की स्वाभाविकता।

'मूकमाटी' में आचार्यश्री के अन्तरंग का अमृत है। उन्होंने कविता को क्षोभ, कुण्ठा और सन्त्रास के बजाय प्राण, श्वास और विश्वास से भर दिया है। ऋषि-कवि का जीवन चिन्तन और साधना का विषय होता है, अस्तु। आचार्यश्री सत्य और शब्दों के माध्यम से सत्य की मूर्ति का अभिषेक करते हैं। मेरा मानना है कि जब कोई सर्जक किसी विश्वास, श्रद्धा, आन्दोलन, वाद, आइडियोलॉजी को अपने जीवन में घटते देख समाज में उसके प्रतिफलित होने की प्रक्रिया को अनुभवता है, सोचता है और लिखता भी जाता है तो उसकी कविता जो रूपाकार धारण करती है, वह विशिष्ट होती है। यह विशिष्टता ही कवि के चिन्तन की धुरी होती है। आचार्यश्री प्रणीत 'मूकमाटी' इसी धुरी का सुपरिणाम है। इस महाग्रन्थ के 'प्रस्तवन' में सुधी लेखक-विचारक श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के विचार द्रष्टव्य हैं : "...आचार्य श्री विद्यासागर की कृति 'मूकमाटी' मात्र कवि-कर्म नहीं है, यह एक दार्शनिक सन्त की आत्मा का संगीत है—सन्त जो साधना के जीवन्त प्रतिरूप हैं और साधना जो आत्म-विशुद्धि की मंज़िलों पर सावधानी से पग धरती हुई, लोकमंगल को साधती है। ये सन्त तपस्या से अर्जित जीवन-दर्शन को अनुभूति में रचा-पचाकर सबके हृदय में गुंजरित कर देना चाहते हैं। निर्मल-वाणी और सार्थक सम्प्रेषण का जो योग इनके प्रवचनों में प्रस्फुटित होता है— उसमें मुक्त छन्द का प्रवाह और काव्यानुभूति की अन्तरंग लय समन्वित करके आचार्यश्री ने इसे काव्य का रूप दिया है।"

जिनका जीवन स्व-पर-कल्याण के लिए समर्पित, जिनका सृजन मानवीय चेतनाओं के गहरे में छिपे आलोक को अनावृत करने को संकल्पित है, जिनके अधरों पर प्रतिपल मुस्कराहट के फूल खिले रहते हैं और जो प्रतिक्षण जाग्रत रहकर जागरण का सन्देश प्ररूपित करते हैं, उन महामनस्वी चेतना के उच्चाशय शिखर-स्पर्शी आचार्य श्री विद्यासागरजी ने अपने आध्यात्मिक अभिनव-प्रयोगात्मक काव्य 'मूकमाटी' को चार खण्डों में विभक्त किया है। प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' में ऋषि-कवि ने उस दशा के परिशोधन की प्रक्रिया को अभिव्यक्त किया जहाँ माटी पिण्ड रूप में कंकर-कणों से मिली-जुली अवस्था में है। माटी अभी वर्ण-संकर है, चूँकि उसकी प्रकृति के विपरीत अनमेल तत्त्व

कंकर उसमें आ मिले हैं, वह अपना मौलिक वर्णलाभ तभी प्राप्त करेगी जब वह मृदु माटी के रूप में अपनी शुद्ध अवस्था प्राप्त कर सके, यथा :

- *"मृदु माटी से/लघु जाति से/मेरा यह शिल्प/निखरता है/और*
  खर-काठी से/गुरु जाति से/वह अविलम्ब/बिखरता है।" (पृ. ४५)
- *"नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।/और*
  क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है
  इससे यही फलित हुआ,/अलं विस्तरेण !" (पृ. ४९)

'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' नामक द्वितीय खण्ड में माटी को खोदने की प्रक्रिया में कुम्भकार की असावधानी से उसकी कुदाली एक काँटे के माथे पर जा लगती है और उसका सिर फूट पड़ता है। वह प्रतिकार की सोचता है और कुम्भकार को अपनी असावधानी पर ग्लानि होती है। ऋषि-कवि का मानना है कि क्रोध-प्रतिशोध के भाव, बोध-भाव में परिणित हो जाते हैं जब बोध का फूल फल बन जाता है तब वह शोध कहलाता है, यथा :

"बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो
शोध कहलाता है।/बोध में आकुलता पलती है/शोध में निराकुलता फलती है,
फूल से नहीं, फल से/तृप्ति का अनुभव होता है।" (पृ. १०७)

आशय यह है कि उच्चारण मात्र 'शब्द' है। शब्द का सम्यक् अभिप्रेत समझना 'बोध' है और इस बोध को चारित्र में ढालना 'शोध' है। आचार्यश्री स्वीकारते हैं कि प्रेम-क्षेम स्वभाव के अभिन्न अंग हैं। यदि पुरुष प्रकृति से दूर होगा तो निश्चय ही विकृतियुक्त होगा। पुरुष का प्रकृति में ही रमना तो मोक्ष है :

"स्वभाव से ही/प्रेम है हमारा/और/स्वभाव में ही/क्षेम है हमारा।
पुरुष प्रकृति से/यदि दूर होगा/निश्चित ही वह/विकृति का पूर होगा
पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।" (पृ. ९३)

'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' शीर्षक से तृतीय खण्ड में कुम्भकार ने माटी की विकास यात्रा के माध्यम से पुण्य कर्म के सम्पादन से अनुस्यूत श्रेय और प्रेय उपलब्धि का चित्रण किया है। अबला, नारी, कुमारी, स्त्री, सुता, दुहिता आदि शब्दों की व्याख्या (पृष्ठ २०१-२०७) अपने ढंग की हुई है। त्रिगुप्ति– मन-वचन-काय– की निर्मलता से, शुभ कर्मों के सम्पादन से, लोककल्याण की कामना से पुण्य उपार्जित होता है। कषाय से तो पाप पुष्पित-फलित होता है। चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में प्रबन्धकाव्य का नायक कुम्भकार ने घट को रूपाकार दे दिया है। अब उसे अवा में तपाने की तैयारी है। पूरी प्रक्रिया काव्यबद्ध है। चतुर्थ खण्ड का फलक विस्तृत है। अनेक कथा प्रसंग रोचकता का श्रीवर्द्धन करते हैं। मानव के दो रूपों– एक शव और दूसरा शिव - का प्रतिनिधित्व चित्रण करते हुए ऋषि-कवि कहते हैं :

"इस युग के/दो मानव/अपने आप को/खोना चाहते हैं–
एक/भोग-राग को/मद्य-पान को/चुनता है;
और एक/योग-त्याग को/आत्म-ध्यान को/धुनता है।

कुछ ही क्षणों में/दोनों होते/विकल्पों से मुक्त।
फिर क्या कहना!/एक शव के समान/निरा पड़ा है,
और एक/शिव के समान/खरा उतरा है।" (पृ. २८६)

इस प्रकार 'मूकमाटी' कथावस्तु में आध्यात्मिक आयामों, दर्शन और चिन्तन के प्रेरणादायक स्फुरणों का गरिमामय समावेश है। 'मूकमाटी' की नायिका माटी है जिसकी वेदना-व्यथा तीव्रता और मार्मिकता से अनुप्राणित करुणा के रूप में अभिव्यंजित है। माँ-बेटी के पारस्परिक संवाद मन्दाकिनी की धवलधारा के सदृश अभिनव मोड़ लेते, बलखाते, इठलाते हैं। इसी प्रवहमान स्थिति में आचार्यश्री की दार्शनिक चिन्तन-चारुता सहज-स्वाभाविकता के साथ समाविष्ट होती चलती है। 'मूकमाटी' का नायक 'कुम्भकार' को स्वीकारा जा सकता है। जन्म-जन्मान्तर से यह माटी प्रतीक्षारत रही 'कुम्भकार' की। ऋषि-कवि का मानना है कि यह कुम्भकार माटी का उद्धार करके अव्यक्त सत्ता में से घट की मंगल मूर्ति प्रतिभाषित करेगा। मंगल घट की सार्थकता गुरु के पाद-प्रक्षालन में है जो काव्य के पात्र, भक्त सेठ की श्रद्धा के आधारभूत हैं। ऋषि-कवि कहते हैं : *"शरण, चरण हैं आपके,/तारण-तरण जहाज,/भव-दधि तट तक ले चलो/करुणाकर गुरुराज!" (पृ. ३२५)*। वस्तुतः काव्य के नायक तो यही गुरु हैं किन्तु स्वयं गुरु के आराध्य-नायक 'अर्हन्तदेव' हैं, यथा :

"जो मोह से मुक्त हो जीते हैं/राग-रोष से रीते हैं
जनम-मरण-जरा जीर्णता/जिन्हें छू नहीं सकते अब
...सप्त-भयों से मुक्त, अभय-निधान वे,/निद्रा-तन्द्रा जिन्हें घेरती नहीं
...शोक से शून्य, सदा अशोक हैं/...जिनके पास संग है न संघ,/जो एकाकी हैं
...सदा-सर्वथा निश्चिन्त हैं,/अष्टादश दोषों से दूर···।" (पृ. ३२६-३२७)

शब्दों के शंख बजाने वाले आचार्य श्री विद्यासागर की भाषा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र, रसमयी, प्रवाहशील और जीवन्त है। मुहावरों और कहावतों के प्रयोग से वह सार्थक हो गई है। शैली भी चित्ताकर्षक है और आलंकारिक भी। मनीषी पाठक बरबस आकृष्ट हो जाता है। इसमें भाव-भाषा की तो सहजता है ही लेकिन मुक्तक छन्दों का सुनियोजन कृति की विशेषता का अभिवर्द्धन-अभिसिंचन करता है। आचार्यश्री की प्रतिभा-प्रज्ञा को, चारु चिन्तन को, उनकी कलमश्री को नमन करने का मन होता है। 'मूकमाटी' आचार्यश्री की अनुभूति की प्रामाणिकता नवीनता की प्रतिष्ठा का अस्त्र है। वस्तुतः वह आध्यात्मिक उत्कर्ष का रसकलश है। आचार्यश्री का कवित्व-निर्झर सौन्दर्य की चट्टान से टकराकर प्रवाहित हुआ है जो बहिर्मुखी होकर मानव कल्याण साधन में तथा अन्तर्मुखी होकर हमारी भारतीय संस्कृति की सम्पत्ति स्वरूपा भक्ति के रूप में प्रकट होता है। आचार्यश्री का सारस्वत रूप इस अक्षरमाला में सुरक्षित है। मैं कामना करता हूँ कि साहित्य के सुधी चिन्तक इस अक्षरमाला में रुचि लें, इसका सम्यक् मान बढ़ाएँ और सारस्वत प्रतिष्ठा से इसे अलंकृत करें। शुभम् !!

□

'मूकमाटी' : एक विवेचन

डॉ. पी. के. बालसुब्रह्मण्यन

दक्षिण के सन्त भक्त त्यागराज की वाणी है : "जितने ही महानुभाव व सन्त इस विश्व में जन्मे हैं, उन सबके प्रति अपने श्रद्धासुमन समर्पित करता हूँ। उनकी वन्दना करता हूँ"—उक्त उद्धरण के साथ प्रस्तुत काव्य का विवेचन करना समीचीन होगा।

यशस्वी सन्त आचार्य विद्यासागरजी सचमुच विद्या के सागर हैं। रत्नाकर हैं। रत्नाकर के गर्भ में अमूल्य रत्न व मोती भरे पड़े हैं। जो पारखी हैं, उसे गोता लगाकर, गहरे पानी में पैठकर और कठिन व अगाध परिश्रम करके उन रत्नों को बाहर लाना पड़ता है। जो व्यापारी है वह दूसरों के हाथ बेचने के लिए रत्न निकालता है। परन्तु जो ज्ञानी है वह विद्यासागर के रत्नों व मोतियों का भोग स्वयं करता है और दूसरों को देता है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'मूकमाटी' का गम्भीर अध्ययन व मनन-चिन्तन के बाद यह प्रतीत होता है कि प्रस्तुत काव्य विश्लेषण या विवेचन से परे रहकर ज्ञानार्जन की दृष्टि से पठनीय है, मननीय है।

नाम से ही स्पष्ट है कि माटी मूक है। हाँ, जो साधक है, जो सेवक है वह बोलना नहीं जानता, लेकिन मूक सेवा करना जानता है। वह भी निष्काम सेवक है, परोपकारी व परमार्थी है। संक्षेप में, इस काव्य का सार यही है कि नदी के किनारे जो माटी है वह माटी पृथ्वी का उपदेश व मार्गदर्शन पाकर कुम्भकार की प्रतीक्षा करती है, उसके हाथों में अपने आपका समर्पण करती है, बोरे में भरकर कुम्भकार की तपोभूमि पर पहुँचती है, उसके पैरों के नीचे रौंदी जाकर, शुद्ध होकर, पवित्र, निष्कण्टक व निष्कंकड़ होकर मुलायम बनती है। कुम्भ पर चढ़कर घड़े का रूप पाती है, अपनी इच्छा से अग्नि परीक्षा देती है, पक्का घड़ा बनती है, सेठजी के द्वारा रंगीन होकर मंगल कलश बनती है, नदी पार करते समय सम्पूर्ण परिवार की रक्षा करके मंगल करती है और अन्त में स्व-स्थान या अपनी जन्मभूमि नदी के तट पर पहुँचती है तो धरती माता उसकी उन्नति, मान-हारिणी प्रणति देखकर प्रसन्नता प्रकट करती है। समर्पण, कष्ट सहन व सेवा भावना ने माटी का उद्धार किया था।

'मूकमाटी' ग्रन्थ समुद्र के समान आकार से बड़ा है। अगर सिर्फ़ महाकाव्य की दृष्टि से इस पर विवेचन करें तो यह कहना है कि जितना आकार से यह काव्य महान् है, उससे अधिक विचार से महान् काव्य है। महानों की कृतियाँ क्यों महान् नहीं होगीं ?

महाकाव्य की परिभाषा में विभिन्न युगों और विभिन्न देशों के, विभिन्न शैलियों के महाकाव्यों में प्राप्त स्थायी लक्षणों का समावेश हो गया है। 'हिन्दी साहित्य कोश' (पृ. ३२७) के अनुसार उन्हें मोटे तौर पर निम्नलिखित अवयवों के स्वरूप में विभाजित करके उपस्थित किया जा सकता है :

१. महत् उद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्य-प्रतिभा
२. गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्त्व
३. महाकार्य और युगजीवन का समग्र चित्रण
४. सुसंघटित जीवन्त कथानक
५. महत्त्वपूर्ण नायक तथा अन्य पात्र
६. गरिमामयी उदात्त शैली
७. तीव्र प्रतिभान्विति और गम्भीर रस व्यंजना

८. अनवरुद्ध जीवनी शक्ति और सशक्त प्राणवत्ता

इनमें से अधिकांश तत्त्व जिन काव्यों में पाए जाते हैं उनको महाकाव्य मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यद्यपि परम्परागत परिभाषा के अनुकूल उच्च कुलोत्पन्न नायक प्रस्तुत काव्य में नहीं है, फिर भी पंचभूत, उनमें भी मूलभूत तत्त्व माटी के, जो मूल है, उन्नत अवस्था में पहुँचने की गाथा यह सुझाती है। मनुष्य, जो मूल पंचभूतों से निर्मित शरीरी है वह साधना, समर्पण, सेवा से अवश्य सम्माननीय हो सकता है। इस महती उद्देश्य का यह काव्य अवश्य आधुनिक महाकाव्य की कोटि में आ सकता है।

'मानस-तरंग' में उठाए गए प्रश्नों का उत्तर ढूँढें तो यह स्पष्ट पता चलता है कि निमित्त की अनिवार्यता ईश्वर की ओर हमारा ध्यान अवश्य आकृष्ट करती है। जो स्वयं जीवनमुक्त हैं, वे जीव को प्रेरणा देकर मुक्ति दिला सकते हैं। इस काव्य में मुक्ति का यह अर्थ ध्वनित होता है कि परोपकार के लिए निष्काम सेवा करना। दूसरे शब्दों में सृष्टि मूक चलती है। वह विज्ञापनबाज़ी, घोषणा या घटाटोप के बिना अपना काम करती जाती है। जो उसके प्रति आत्मसमर्पण करता है वही 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' रहकर उद्धार कर लेता है।

'मानस-तरंग' के अन्त में स्वयं रचयिता ने 'मूकमाटी' काव्य के महत् उद्देश्य पर प्रकाश डाला है। 'सुसुप्त चैतन्य शक्ति को जागृत करना, शुद्ध चेतना की उपासना करना, शुद्ध सात्त्विक सम्बन्धित जीवन को धर्म के अनुरूप प्रतिष्ठित करना...,और वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना' आदि 'मूकमाटी' का उद्देश्य है। प्रस्तुत काव्य, पलायन को प्रोत्साहित नहीं करता, क्योंकि कष्ट को देखकर भागना कायरता का लक्षण है। अन्त में जब स्वयं अग्नि परीक्षा देने माटी तैयार होती है तब हमें भी प्रेरणा व प्रोत्साहन मिलता है कि कष्टमय जीवन की भयंकरता को हम खुद गले लगा लें तो अमर बन सकेंगे, नहीं तो कबीर की उक्ति को ही दुहराना पड़ेगा कि जो अपना सर काटकर उसे दबा सकते हैं वे ही कबीर के अनुयायी हो सकेंगे। आत्मदान, आत्मत्याग, अपूर्व साहस आदि ही मनुष्य को अमर बना सकेंगे। तीर्थंकरों के जीवन भी हमें यही सिखाते हैं कि जो अपने आपको 'पर' के लिए मिटा लेंगे, वे ही पूज्य होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यह काव्य 'महती प्रेरणा' देने में सफल हुआ है। इस सिलसिले में विचारणीय यह होगा कि नदी के किनारे की कच्ची मिट्टी व मंगल कलश दोनों के आधार तत्त्व एक ही हैं। याद रखना चाहिए कि कच्ची मिट्टी मंगल कलश बन सकती है, यानी क्रमिक विकास से आत्मा अपना उद्धार कर सकती है। लेकिन मंगल कलश पतित होकर मिट्टी में मिल सकता है किन्तु कच्ची मिट्टी नहीं बन सकता। इसी प्रकार आत्मा भी अपना उद्धार व विकास कर सकती है।

काव्य प्रतिभा की दृष्टि से विचार करें तो आचार्यश्री की प्रतिभा का मूल्यांकन करना सूरज को दीप दिखाने के बराबर होगा। अब विचारों के गुरुत्व, गाम्भीर्य व महत्त्व पर ज़रा विचार करें।

'मूकमाटी' काव्य का प्रारम्भ सुन्दर प्रकृति चित्रण से होता है। सीमातीत शून्य की नीलिमा व नीरवता के वर्णन के साथ अपने नाम के अनुरूप वातावरण में यह काव्य प्रारम्भ होता है :

"निशा का अवसान हो रहा है/उषा की अब शान हो रही है।" (पृ. १)

ये पंक्तियाँ सुझाती हैं रात का अँधेरा व अज्ञान मिट रहा है व उषा के उदय होते-होते धीरे-धीरे प्रकाश व ज्ञान फैलने लगा है। प्रस्तुत काव्य में भी ज्ञान की परतें एक-एक करके खुलती हैं तब विचारों की बारात निकलती है जो अवश्य सब को आकृष्ट करती है। प्रातः सन्ध्या के समय अपने प्यारे चन्द्र के साथ जब तारा बालाएँ धीरे-धीरे छिपती हैं तब वे दिवाकर की दृष्टि से अपने आपको बचा लेती हैं। हाँ, जब ज्ञान का सूर्य उदित होता है तब अल्पज्ञान के तारे व दूसरों

की कला से उज्ज्वल चाँद का क्या काम या अस्तित्व हो सकता है ?

प्रकृति के सुन्दर परिवेश में यह काव्य प्रारम्भ होता है। सम्पूर्ण विश्व में चेतनता का दर्शन करते हुए कवि कहते हैं कि सरिता जैसे सरपट दौड़ती रहती है और अपने लक्ष्य तक पहुँचती है, उसी तरह क्या जड़ - क्या चेतन, सबको गतिशील होना चाहिए। फलतः 'सरिता तट की माटी' माँ धरती के सम्मुख अपना हृदय खोलती है। स्वयं अपने को पतित घोषित करती हुई वह माटी कहती है कि पतित को ही पद-दलित करना संसार का स्वभाव है। वह पतित हालत से अपने उद्धार का मार्ग दिखाने की प्रार्थना माँ धरती से करती है। माँ धरती अपनी सहनशीलता के लिए ही नहीं, धैर्य और आशावादिता के लिए प्रसिद्ध है। स्मरण रखना चाहिए कि धरती ही मनुष्य को जन्म देती है और संघर्षमय जीवन के बाद अपनी गोद में चिरशान्ति देती है। 'जीव' के विकास के लिए बीज के समान ही समुचित क्षेत्र में उसका वपन होना चाहिए। समयोचित खाद, जल आदि यानी सुविधाएँ मिलें तो उसका सम्पूर्ण विकास होगा। 'बड़ का बीज' विशालकाय रूप धारण कर वट वृक्ष का रूप ले, तभी उसकी महत्ता होती है। 'संगति' के अनुसार मति होती है और गति होती है। जो अपनी कमज़ोरी पहचानता है, अपने आपकी लघुता समझता है वही आगे बढ़ सकता है।

'राम सो बड़ो है कोन, मो सो कोन खोटो है' की पहचान ही विनय का लक्षण है और तुलसीदास के समान वही विनयी होकर परम भक्त बन सकता है, वही अपना उद्धार कर सकता है।

धरती माता का उपदेश सुनकर मिट्टी साधना के साँचे में स्वयं को सहर्ष ढालने तैयार होती है। वह जान लेती है कि आस्था के साथ साधना करनी चाहिए और साधना के समय आयास से डरना नहीं चाहिए एवं आलस्य से बचना चाहिए। साधना के रास्ते में प्रतिकूलता आए तो उसकी परवाह करनी ही नहीं चाहिए।

धरती माँ का मार्गदर्शन पाकर मूकमाटी साधना व तपस्या का मार्ग अपना लेती है। ''पूत का लक्षण पालने में''(पृ.१४) की उक्ति को चरितार्थ करने को ठान लेती है। वह घोषित करती है कि *''आस्था से रीता जीवन/यह चार्मिक वतन है, माँ !''* (पृ.१६)।

कुम्भकार की प्रतीक्षा में रात बिताकर दूसरे दिन सबेरे अपनी उद्धार यात्रा शुरू करती है। वह 'संकर दोष' से बचती है और 'वर्ण लाभ' करती है। वह अनुभव करती है 'शब्द सो बोध नहीं और बोध सो शोध नहीं ।' वह 'पुण्य का पालन' करती है और अपने 'पाप का प्रक्षालन' करती है। वह 'अग्नि परीक्षा' देती है और अपने आप को 'चाँदी-सी राख' सम उज्ज्वल बनाती है। साधारण माटी, जो सबके पैरों तले रौंदी जाती थी, अपनी कठिन साधना से मंगल कलश बनकर पूजनीय होती है। संक्षेप में, अपनी महती काव्य प्रतिभा से तुच्छ से तुच्छ माटी का उद्धार करके जीवन के महती उपासना तत्त्व को समझाने में आचार्यजी सफल हुए हैं।

यद्यपि कथानक का अंश कम है, फिर भी उसका निर्वाह सुसंघटित रूप में सम्पन्न हुआ है। माटी की साधना यात्रा का वर्णन करते-करते अन्य गम्भीर बातों को प्रकट करके पाठक की उत्सुकता को बढ़ाने में यह काव्य सफल हुआ है। उदाहरण के रूप में गधे की पीठ को छिलते देखकर माटी के मन में जो दुःख होता है, वह सचमुच मार्मिक है। कुएँ की मछली जब 'धम्मो दया-विसुद्धो' की बालटी के द्वारा ऊपर आती है तब उसको अपने यहाँ ही रहकर साधना के द्वारा मोक्ष पाने का उपदेश माटी देती है। फलतः उसे फिर अपने पुराने स्थान पर पहुँचना पड़ता है।

प्रकृति वर्णन, रस व्यंजना व शब्द चातुर्य से यह काव्य निखर उठा है। आचार्य विद्यासागर जब इस काव्य सृजन में लगे तब ऐसा लगता है विचार व सूक्तियाँ होड़ लगाकर आ बैठी हैं। फलतः विचारों के रत्न बिखरे पड़े हैं, जो पारखी हैं वही उन रत्नों को बटोर पाएगा।

❑

'मूकमाटी' की सूक्तियाँ : आत्मकल्याण की संजीवनी बूटी

डॉ. हेमलता सावकार

कविता मूलत: सार्थक शब्दों की अभिव्यक्ति है। अज्ञेय का कहना है कि काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। साहित्येतर तथा साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा कविता में शब्द का निरपेक्ष महत्त्व अधिक है। अँग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक क्रिस्टोफर कॉडवेल के शब्दों में : "कहानी, उपन्यास आदि में शब्द एक बाह्य वास्तविकता के पात्रों, दृश्यों और घटनाओं के संकेत चिह्नों के रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं और लेखक द्वारा प्रदत्त रागात्मक प्रसंग उस चित्रित वास्तविकता से जुड़े होते हैं जब कि कविता में रागात्मक प्रसंग सीधे शब्दों से जुड़े होते हैं। परिणामस्वरूप उपन्यास, कहानी, नाटक उस गहराई तक शब्दों की कलाएँ नहीं हैं जिस तक कविता है।"

आचार्य श्री विद्यासागरजी अनुभूतिप्रवण कवि हैं। उनका काव्यशिल्प तथा अभिव्यक्ति कला प्राय: उनके भावलोक से एकात्म होकर प्रकट हुई है। शिल्प को 'कारीगरी' के अर्थ में आचार्यजी ने पृथकत: महत्त्व नहीं दिया है। वह सहज, स्वाभाविक अभिव्यक्ति की कला के रूप में प्रस्तुत है। रचना करते समय भाव-विचारों की अभिव्यक्ति ही उनका प्रमुख लक्ष्य है। शब्दों अथवा अभिव्यंजना के नए प्रयोगों के लिए उन्होंने कुछ लिखा नहीं है, यह स्पष्ट है।

कवि ने अभिव्यक्ति के माध्यम 'शब्द' पर यथासम्भव, असाधारण अधिकार प्राप्त किया है। स्वाध्याय और निरन्तर अभ्यास के द्वारा ही यह सम्भव हो सका है। दीर्घकालीन शब्द साधना की सुखद परिणति 'मूकमाटी' में देखने को मिलती है।

आचार्यश्री की भाषा और शैली सहज है। अनेक जटिल संवेदनाओं को भी बिलकुल सीधे और साफ़, अकृत्रिम रूप में, अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने में वह समर्थ हैं। इनकी भाषा में स्वाभाविकता, ऋजुता, प्रवाह और मौलिकता विद्यमान है। इस तरह भाषा का चरम और अलौकिक सौन्दर्य यहाँ देखा जा सकता है।

'मूकमाटी' की भाषा में प्रधानत: वर्णनात्मकता और बिम्बात्मकता मिलती है और ये दोनों गुण अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से अपने आपको व्यक्त करने में सफल हैं।

वर्णनात्मकता के अन्तर्गत घटनाओं का विस्तृत वर्णन मिलता है जो कि पाठक के मानस पर प्रभाव छोड़ता हुआ आगे बढ़ता है। संकोची, शर्मीली 'माटी' अपने उद्धार के लिए माँ - धरती से उन्नत जीवन का पथ और पाथेय पूछती है और आचार्यश्री की सन्तवाणी माँ द्वारा प्रस्तुत होती है। भाषा, चित्र बनाती हुई बढ़ती है जो पाठक को सहज ही ग्राह्य होने में समर्थ है।

सम्पूर्ण कथानक चार खण्डों में विभक्त है। चारों खण्ड मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों एवं सूक्तियों का कोष बन गए हैं। इनके कारण भाषा अत्यन्त सजीव, सशक्त तथा प्रभावी हो सकी है।

विशेष उल्लेखनीय बात, शोभनोक्तियाँ तथा सूक्तियों की हैं। ये सूक्तियाँ केवल महाकाव्य की गरिमा को बढ़ाती नहीं बल्कि सहृदय पाठक के लिए संजीवनी बूटी के समान हैं, जिन सूत्रों के आधार पर वह आत्म-कल्याण का रास्ता तय कर सकता है।

कुछ विशिष्ट सूक्तियाँ तथा शोभनोक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। पहला खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' शीर्षक का है। बाकी तीनों खण्डों की अपेक्षा इसमें सूक्तियों की भरमार है, यथा :

- *"ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना/सब के वश की बात नहीं।"* (पृ. २)
- *"जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है।"* (पृ. ८)

- "आयास से डरना नहीं/आलस्य करना नहीं !" (पृ. ११)
- "किसी कार्य को सम्पन्न करते समय/अनुकूलता की प्रतीक्षा करना सही पुरुषार्थ नहीं है।" (पृ. १३)
- "मीठे दही से ही नहीं,/खट्टे से भी/समुचित मन्थन हो नवनीत का लाभ अवश्य होता है।" (पृ. १३-१४)
- "संघर्षमय जीवन का/उपसंहार/नियमरूप से/हर्षमय होता है।" (पृ. १४)
- "दुःख की वेदना में/जब न्यूनता आती है दुःख भी सुख-सा लगता है।" (पृ. १८)
- "विचारों के ऐक्य से/आचारों के साम्य से/संप्रेषण में निखार आता है,/वरना/विकार आता है !" (पृ. २२)
- "कुछ अपवाद छोड़कर/बाहरी क्रिया से/भीतरी जिया से सही-सही साक्षात्कार/किया नहीं जा सकता।" (पृ. ३०)
- "पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है/और पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है।" (पृ. ३३)
- "विषयी सदा/विषय-कषायों को ही बनाता/अपना विषय।" (पृ. ३७)
- "दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है।" (पृ. ३७)
- "वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है।" (पृ. ३८)
- "वर्ण का आशय/न रंग से है/न ही अंग से वरन्/चाल-चरण, ढंग से है।" (पृ. ४७)
- "पापी से नहीं/पाप से/पंकज से नहीं,/पंक से/घृणा करो।" (पृ. ५०-५१)
- "नर से/नारायण बनो/समयोचित कर कार्य।" (पृ. ५१)
- "लघुता का त्यजन ही/गुरुता का यजन ही/शुभ का सृजन है।" (पृ. ५१)
- "संयम की राह चलो।" (पृ. ५६)
- "राही बनना ही तो/हीरा बनना है।" (पृ. ५७)
- "राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?" (पृ. ५७)
- "बात का प्रभाव जब/बल-हीन होता है

हाथ का प्रयोग तब/कार्य करता है।" (पृ. ६०)

- "हाथ का प्रयोग जब/बल-हीन होता है
  हथियार का प्रयोग तब/आर्य करता है।" (पृ. ६०)
- "कृपाण कृपालु नहीं हैं।" (पृ. ७३)
- "प्रत्येक व्यवधान का/सावधान होकर/सामना करना
  नूतन अवधान को पाना है,/या यों कहें कि
  अन्तिम समाधान को पाना है।" (पृ. ७४)

खण्ड-दो - 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में एक पंक्ति की सूक्तियाँ अपेक्षाकृत कम हैं। इन सूक्तियों में आचार्यजी ने जीवन का सार डाल दिया है :

- "बदले का भाव वह दल-दल है/कि जिसमें/बड़े-बड़े बैल ही क्या,
  बल-शाली गज-दल तक/बुरी तरह फँस जाते हैं/और
  गल-कपोल तक/पूरी तरह धँस जाते हैं।" (पृ. ९७)
- "दम सुख है, सुख का स्रोत/मद दुःख है, सुख की मौत!" (पृ. १०२)
- "मात्रानुकूल भले ही/दुग्ध में जल मिला लो
  दुग्ध का माधुर्य कम होता है अवश्य!
  जल का चातुर्य जम जाता है रसना पर!" (पृ. १०९)
- "अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही/मोह का परिणाम है
  और/सब को छोड़कर/अपने आप में भावित होना ही
  मोक्ष का धाम है।" (पृ. १०९-११०)
- "जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव — सम्पादन हो
  सही साहित्य वही है।" (पृ. १११)
- "आग का योग पाता है/शीतल-जल भी,/शनैः शनैः
  जलता-जलता,/उबलता भले ही।" (पृ. १३१)
- "आधा भोजन कीजिए/दुगुणा पानी पीव।
  तिगुणा श्रम/चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव!" (पृ. १३३)
- "स्थित-प्रज्ञ हँसते कहाँ?/मोह-माया के जाल में
  आत्म-विज्ञ फँसते कहाँ?" (पृ. १३४)
- "दुःस्वर हो या सुस्वर/सारे स्वर नश्वर हैं।" (पृ. १४३)

- "संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है/और
  प्रीति उसे मानता हूँ/जो अंगातीत होती है।" (पृ. १४४- १४५)
- "आशा ही को पाशा समझो।" (पृ. १५०)
- "करुणा रस में/शान्त-रस का अन्तर्भाव मानना/बड़ी भूल है।" (पृ. १५५)
- "चक्करदार पथ ही, आखिर/गगन चूमता/अगम्य पर्वत-शिखर तक
  पथिक को पहुँचाता है/बाधा-बिन बेशक!" (पृ. १६२)
- "एक-दूसरे के सुख-दुःख में/परस्पर भाग लेना
  सज्जनता की पहचान है।" (पृ. १६८)
- "औरों के सुख को देख, जलना/औरों के दुःख को देख, खिलना
  दुर्जनता का सही लक्षण है।" (पृ. १६८)
- "जिसने जनन को पाया है/उसे मरण को पाना है
  यह अकाट्य नियम है!" (पृ. १८१)
- "अब तो चेतें - विचारें/अपनी ओर निहारें।" (पृ. १८६)

खण्ड-तीन का नाम है—'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन।' इसमें निम्नलिखित सूक्तियाँ-शोभनोक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

- "पर-सम्पदा की ओर दृष्टि जाना/अज्ञान को बताता है।" (पृ. १८९)
- "पर-सम्पदा हरण कर संग्रह करना/मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है।" (पृ. १८९)
- "यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं।" (पृ.१९२)
- "तुच्छ स्वार्थसिद्धि के लिए/कुछ व्यर्थ की प्रसिद्धि के लिए
  सब कुछ अनर्थ घट सकता है!" (पृ. १९७)
- "धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों से/गृहस्थ जीवन शोभा पाता है।" (पृ. २०४)
- "स्त्री और श्री के चंगुल में फँसे/दुस्सह दुःख से दूर नहीं होते कभी।" (पृ.२१४)
- "लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन/रावण हो या सीता
  राम ही क्यों न हों/दण्डित करेगा ही!" (पृ. २१७)
- "गुरु होकर लघु जनों को/स्वप्न में भी वचन देना/यानी
  उनका अनुकरण करना/सुख की राह को मिटाना है।" (पृ. २१९)
- "सज्जन-साधु पुरुषों को भी,/आवेश-आवेग का आश्रय लेकर ही

कार्य करना पड़ता है।" (पृ. २२५)

- *"जब हवा काम नहीं करती/तब दवा काम करती है,*
  और/जब दवा काम नहीं करती/तब दुआ काम करती है।" (पृ. २४१)

खण्ड चार का शीर्षक है—'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।' यह महाकाव्य का अन्तिम खण्ड है। निम्नलिखित सूक्तियाँ —शोभनोक्तियाँ इसमें मिलती हैं :

- *"अपनी कसौटी पर अपने को कसना/बहुत सरल है।" (पृ. २७६)*
- *"अपनी आँखों की लाली/अपने को नहीं दिखती है।" (पृ. २७६)*
- *"शिष्टों पर अनुग्रह करना/सहज-प्राप्त शक्ति का*
  सदुपयोग करना है, धर्म है।" (पृ. २७६-२७७)
- *"ध्यान की बात करना/और/ध्यान से बात करना*
  इन दोनों में बहुत अन्तर है।" (पृ. २८६)
- *"ध्यान के केन्द्र खोलने-मात्र से/ध्यान में केन्द्रित होना सम्भव नहीं।" (पृ. २८६)*
- *"ग्राहक की दृष्टि में/वस्तु का मूल्य वस्तु की उपयोगिता है।" (पृ. ३०४)*
- *"दाँत मिले तो चने नहीं,/चने मिले तो दाँत नहीं,*
  और दोनों मिले तो···/पचाने को आँत नहीं ···।" (पृ. ३१८)
- *"समर्पण के बाद समर्पित की/बड़ी-बड़ी परीक्षायें होती हैं।" (पृ. ४८२)*
- *"समग्र संसार ही/दुःख से भरपूर है,*
  यहाँ सुख है, पर वैषयिक/और वह भी क्षणिक !" (पृ. ४८५)
- *"ऊपर से नीचे देखने से/चक्कर आता है/और*
  नीचे से ऊपर का अनुमान/लगभग गलत निकलता है।" (पृ. ४८७-४८८)

आलोच्य महाकाव्य 'मूकमाटी' की सूक्तियों में व्यावहारिकता तथा अनुभववाणी है। नवीन परिकल्पनाओं से, समुचित अलंकार प्रयोग से भावाभिव्यक्ति में प्रौढ़ता आई है। सूक्तियों, शोभनोक्तियों के अतिरिक्त शब्द व्युत्पत्ति, शब्द विपर्यय, बीजाक्षर के चमत्कार, अंकों का चमत्कार, आयुर्वेद का प्रयोग, मन्त्र विद्या आदि आधुनिक जीवन में विज्ञान से उद्भूत अवधारणाओं को प्रस्तुत करने के कारण यह महाकाव्य मौलिक बन गया है।



गहन दर्शन का सरल काव्य : 'मूकमाटी'

डॉ. (श्रीमती) सन्ध्या भराडे

'मूकमाटी' महाकाव्य कई अर्थों में निराला है या इस काव्य की व्याख्या यदि हमें एक वाक्य में करनी हो तो हम यह कह सकते हैं कि 'यह गम्भीर विषय पर लिखा गया सरल काव्य है।' दर्शन विषय अपने आप में इतना बोझिल है कि जहाँ तत्सम्बन्धी लेख पढ़ने के लिए भी एक विशेष मानसिकता की आवश्यकता होती है, वहाँ काव्य की विधा में तत्त्वज्ञान को स्वीकार करना बहुत दूर की बात है। फिर भी आचार्य विद्यासागरजी ने इस दुष्कर कार्य को साधारणों तक पहुँचाने का प्रयास 'मूकमाटी' के द्वारा किया है।

चार खण्डों में विभक्त काव्य द्वैत से अद्वैत की ओर धाराप्रवाह बह रहा है और गतिमानता शब्दों को नए-नए अर्थों का जामा पहनाकर हमारे सामने रखती है। जहाँ आराध्य शुद्ध चेतना है वहीं आराधना निर्लिप्तता है।

लेखक ने यह लिखने का अधिकार उस पथ पर चलकर अर्जित किया है जिस पर चलने के लिए सारी अहंमन्यता और ऐहिकता को कपड़ों सहित उतारकर दूर रख देना होता है, फिर कभी न ओढ़ने के लिए।

जीवन कुम्भ को मंगल कुम्भ में परिवर्तित करने के प्रयास ही 'मूकमाटी' के शिलालेख हैं। मिट्टी में मिले कंकर-पत्थर साफ़ कर, मिट्टी भिगोना, रौंदना और लोंदा तैयार करना, आकार देना, उसे तपाना--यही प्रक्रिया जीवन के सन्दर्भ में खरी उतरती है। हमारे अहम्, भोग, लिप्सा के कंकर दूर करना और क्षमा, शान्ति से जीवन को भिगोना है। हमारी लालसा और अज्ञान को रौंदकर जीवन को आकार देना है। साधना के चाक पर चढ़ाकर तपस्या की गर्मी में तपाने से जीवन के कुम्भ को 'मंगल कलश' का आकार देना है। हिन्दी साहित्य का इतिहास देखें तो आदिकाल में हमें जैन आचार्यों की रचनाएँ मिलती हैं।

सन्त काव्य से 'मूकमाटी' की तुलना कर देखा जाए तो मराठी सन्त 'ज्ञानेश्वर' के आदिशक्ति के प्रति विचार हमें बताते हैं :

"किं बहुना सर्व सुखी, असि जो ती ही लोकी
भजी जो आदि पुरुषी हो आवे जो।"

यहाँ 'तत् त्वमसि' के भाव साकार हुए हैं जो 'मूकमाटी' के मूलभूत सिद्धान्तों के समकक्ष हैं।

समर्थ रामदास अपने ग्रन्थ 'दासबोध' (दशक आठ-समास ५, ओळी ९-१०) में कहते हैं :

"नाना रचना केली देवी। जे जे निर्मिली मानवीं।
सकळ मिळोन पृथ्वी। जाणिजे श्रोती॥
आतां असो हे बहुवस। जडांश आणी कठिणांश।
सकळ पृथ्वी हा विश्वास। मानिला पाहिजे॥

प्रकृति निर्मित एवं प्राणी निर्मित सब कुछ पृथ्वी है और जो भी हमारे यहाँ अचेतन, चेतन है, वह सब पृथ्वीमय है। मिट्टी की महिमा सभी सन्तों ने स्वीकारी है। इसी सन्दर्भ में मराठी कवि ग.दि. माडगुळकर कहते हैं :

"माती, पाणी, उजेड वारा,/तूच मिसळशी सर्व पसारा
फिरत्या चाकावरती देसी/मातीला आकार, तू बेडा कुंभार...।"

यहाँ तो कवि ने ईश्वर को ही पागल कुम्हार कहा है। मिट्टी, पानी, हवा सब मिलाकर कालचक्र की गति पर आकार देकर जीवन कुम्भ का निर्माण किया जाता है।

कवि कुसुमाग्रज की कई कविताएँ इस विषय को लेकर हैं (मिट्टी और आकार)। इन कविताओं का एक सूत्र है। पृथ्वी तत्त्व को आकाश तत्त्व का आकर्षण इसका मूल है। मिट्टी सर्व साधारण व्यक्ति की प्रतिनिधि है, जब कि आकाश भव्य-दिव्य और उदात्त भावनाओं का प्रतीक है :

"माती चे पण तुझेच हे घर/कर तेजोमय बलमय सुंदर।"

जो हमारा है वह मिट्टी का है और जो मिट्टी का है वह हमारा है। हमें हमको ही बनाना है यानी अनगढ़ को गढ़ना है। बाहरी साधनों से अन्दर की चेतना को सँवारने वाली बात आचार्यजी 'मूकमाटी' द्वारा समझाना चाह रहे हैं। बिना किसी आडम्बर के जैसे वह स्वयं निस्वार्थी, निरामय भाव से अपना जीवन जी रहे हैं। मोह-माया को ही अपना जीवन समझने वाले के लिए उन्होंने कहा है :

"बाहरी क्रिया से/भीतरी जिया से/सही-सही साक्षात्कार
किया नहीं जा सकता।/और/गलत निर्णय दे/जिया नहीं जा सकता।" (पृ.३०)

जैन दर्शन के अनुसार ईश्वर को सृष्टि का निर्माता नहीं माना गया है। यदि उसे अशरीरी मानें तो यह सम्भव नहीं है। अत: विचारकों का प्राय: यही मत है कि ईश्वर मुक्तावस्था छोड़ कर फिर शरीर धारण कर सृष्टि का निर्माण करता है, लेकिन यह सम्भव नहीं है क्योंकि यदि सृष्टि ईश्वर निर्मित होती तो उसमें इतनी असमानता, ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा, जन्म से ही कुरूप-सुन्दरता सम्भव नहीं है।

यदि ईश्वर के सशरीर अस्तित्व को माना जाए तो संसार के अस्तित्व को मानना भी अनिवार्य है और संसार के अस्तित्व को मानते हैं तो सिवाय दु:ख के संसार में क्या है ? ईश्वर तो सभी दु:खों से ऊपर है, इसलिए ईश्वरत्व संसार में सम्भव नहीं। हाँ, संसारी के द्वारा साधना के बल पर ईश्वर अवश्य बना जा सकता है। इसीलिए स्वामीजी ने कहा है :

"ओर-छोर कहाँ उस सत्ता का ?/तीर-तट कहाँ गुरुमत्ता का ?" (पृ. १२९)

पूरे महाकाव्य में साधना और परिश्रम पर बल दिया गया है। कहीं भी आलस्य, अधीरता, लोभ आदि को स्थान नहीं है। वैसे तो हमारे यहाँ सभी भाषाओं में सन्त काव्य का बाहुल्य है। फिर मिट्टी और मानव का सम्बन्ध भी उतना ही प्राचीन है जितनी प्राचीन सृष्टि। तभी तो कबीरदासजी ने कहा है :

"माटी कहे कुम्हार से तू क्या रौंदे मोय।
इक दिन ऐसा आयगा मैं रौंदूँगी तोय॥"

मराठी में सन्त काव्य की एक ओघवती धारा प्रवाहित हुई है। सन्त ज्ञानेश्वर, जिन की 'ज्ञानेश्वरी' आज भी सम्माननीय और गीताभाष्य का आदर्श उदाहरण है, सन्त तुकाराम की गाथा, फिर नामदेव, जनाबाई आदि के काव्य भक्तिरस पूर्ण एवं गेय हैं।

हिन्दी में तो सूर, तुलसी, मीरा, कबीर आदि भक्ति-काल की अलौकिक देन हैं। निस्सन्देह भक्ति की यह धारा प्रत्येक काल में मनुष्य को अपने रस से प्लावित करती आई है, लेकिन हमेशा से ईश्वर के सगुण और निर्गुण होने का दावा अपने-अपने काव्य में भक्तों ने किया है।

'मूकमाटी' महाकाव्य सगुण-निर्गुण से दूर, सत्-असत् से अलग, सभी वाद-विवादों से मुक्त अपने आप में सत्य की प्रतिष्ठा का गौरव है। सत्य कड़ुआ होता है, अतः 'नीलकण्ठ' होना आवश्यक है। यदि हम इसकी गहराई में उतरना चाहें तो यह कार्य कठिन भी है। इसीलिए हलका-फुलका पढ़ने वालों को यह कहीं-कहीं गद्य काव्य का आभास दे जाता है।

कविता की कसौटी पर कसा जाने के लिए यह 'भाव काव्य' तो है नहीं, जो इसमें कविता के वे तत्त्व खोजे जाएँ, जो साधारण कविता के मूल्यमापन हैं। दार्शनिक काव्य, दार्शनिक तत्त्वों के आधार पर तौला जाना चाहिए। यहाँ स्वयं आचार्यजी कह रहे हैं :

"कहते लज्जानुभव हो रहा है/प्रासंगिक कार्य करने में
पूर्णतः हम अक्षम हैं/एतदर्थ क्षमाप्रार्थी हैं।" (पृ. ४७१)

यहाँ दर्शन के साथ क्षमा याचना की, नम्रता एवं पूर्णता का आभास है। अहम् और औद्धत्य का अछूतापन 'मूकमाटी' का गौरव है। यहाँ तक पहुँचना सहज साध्य नहीं है। फिर विद्यासागरजी मिट्टी की मूक वेदना को अभिव्यक्ति देकर यह भी सिद्ध कर देते हैं कि मिट्टी जैसी वस्तु भी फालतू नहीं होती। उसके अपने सुख-दुःख हैं। यह तो कुम्हार की कुशलता है कि वह उसे कैसा रूप दे।

मिट्टी से मंगल कलश तक की यह यात्रा किस पथ से सुकर है ?--इस तरह का उपदेश 'मूकमाटी' में न होकर वह पथ प्रदर्शक है, इसलिए 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' दोष से काव्य बच गया है।

अब दर्शन को काव्यविधा में व्यक्त करने के लिए इससे सरल शब्द योजना और क्या होती ? अतः निश्चित रूप से यह बात कही जा सकती है कि सगुण-निर्गुण, सत्-असत्, द्वन्द्व-निर्द्वन्द्व की सारी पगडण्डी को साफ़ कर आचार्यजी ने शुद्ध चेतना की उपासना का मार्ग 'मूकमाटी' द्वारा सर्व साधारण के लिए प्रशस्त कर दिया है।

□



'मूकमाटी' : एक कमनीय कल्पना

मगनलाल 'कमल'

परम सन्त आचार्य श्री विद्यासागरजी द्वारा विरचित महाकाव्य 'मूकमाटी' को दूसरे शब्दों में सुगन्धित स्वर्ण के समान सहज, असुलभ वस्तु कहना सर्वथा समीचीन है। इस कृति में सरसता और अध्यात्म का मणि-कांचन संयोग इसे अन्य साहित्यिक रचनाओं से भिन्न कोटि में प्रतिष्ठित करता है।

आचार्यश्री के ज्ञान, वैराग्य, तप, साधना और प्रबुद्धता के दर्शन इस महाकाव्य के प्रत्येक पृष्ठ की प्रत्येक पंक्ति में किए जा सकते हैं।

महाकाव्य के प्राचीन लक्षणों के निकष पर इस सुगन्धित स्वर्ण की परीक्षा करना उचित नहीं है। काव्यशास्त्रीयों ने जिस समय महाकाव्य के लक्षणों की उद्भावना की थी, तब से अब तक समय-सरिता में न जाने कितना सलिल सरक चुका है ? आज कहाँ रह गई हैं प्राचीन मान्यताएँ और स्थापनाएँ ? प्रांजल भाषा में निबद्ध इस कमनीय कृति की सरसता, विशालता, सोद्देश्यता एवं वैचारिकता इसे महाकाव्य सिद्ध करने को पर्याप्त है।

'मूकमाटी' महाकाव्य इन चार खण्डों में विभाजित है –(१) 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ', (२) 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं, (३) 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' एवं (४) 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'।

इस महाकाव्य की कथा संक्षिप्त होते हुए भी अपने में दार्शनिकता एवं वैचारिकता के अनेक आयाम समेटे हुए है। धरती की पुत्री माटी को अपने उद्धारक कुम्भकार की युग-युग से प्रतीक्षा थी कि वह उसे कंकर की संकरता से छुटकारा दिलाकर वर्णलाभ कराएगा। मूकमाटी की साध पूरी हुई। कुम्भकार कुदाली की सहायता से उसे खोदकर और अपने सहचर गधे पर लादकर उसे अपने उपाश्रम में ले गया। वहाँ माटी को कूटकर एवं छानकर वे कंकर अलग किए गए जो उसकी संकरता के कारण थे। कुएँ से बालटी में जल भर कर लाया गया जिसमें एक मछली भी अपनी मुक्ति कामना से जान-बूझकर आ गई थी। कुम्भकार ने एक सच्चे अहिंसक जैन श्रावक के समान पानी को छाना और मछली सहित सभी जीवों को छने हुए जल के साथ पुनः कुएँ में डाल दिया। पानी के मिश्रण के पश्चात् माटी को रौंद-रौंद कर लोंदा बना लिया गया। चाक पर चढ़कर लोंदे ने कुम्भकार के हाथों की कला के सहारे घट का आकार प्राप्त किया। कुछ सूखने पर कुम्भकार ने भीतर हाथ का सहारा दिया और बाहर से मोंगरी की चोटें मार-मार कर उसे निर्दोष, मनमोहक घट बना दिया। घट पर कुम्भकार ने अनेक प्रकार के अंक, बीजाक्षर एवं चित्र रचे। अग्नि में तपकर घड़ा अब मंगल मूर्ति - मंगल घट बना। मंगल घट श्रद्धा के आधार, भक्त, नगर सेठ के हाथों में पहुँचा और आहार-ग्रहण हेतु पधारे गुरु के पाद प्रक्षालन हेतु उस मंगल घट में भरे जल का सदुपयोग होने से, मूकमाटी के परिवर्तित रूप घट का जीवन सार्थक हो गया।

इस सर्वथा नवीन महाकाव्य को प्राचीन उपनेत्र अर्थात् चश्मे के माध्यम से देखने वाले, इसमें नायक - नायिका की खोज करेंगे। इसमें नायिका है मूकमाटी, जो बाद में मंगल घट बन जाती है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा स्त्री पर्याय से अपने पुण्य के आधार पर पुरुष पर्याय धारण करके ही मुक्ति लाभ करता है। माटी से मंगल घट बनकर सार्थक होने में यही संकेत है।

माटी से लोंदा और लोंदे से घट रूप होना उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है, जो द्रव्य का लक्षण है। इसमें घट उत्पाद, लोंदा व्यय और माटी ध्रौव्य है। और माटी का कंकर की संकरता से छुटकारा प्राप्त कर वर्ण लाभ लेना यानी कर्मों के 'आस्रव' –आने के द्वार पर साँकल चढ़ जाना है।

माटी का छने, निर्मल जल के मिश्रण से लोंदा और कच्चे घट रूप होना 'संवर' है, जो माटी की निर्मल पर्याय का द्योतक है। फिर कच्चे घट का अवे में तपना, पकना, बीजाक्षरों से युक्त होना ही 'तप' है, जिससे पूर्वार्जित पापों का नाश होता है। कच्चे घट को तपा-पकाकर पक्के और मंगल घट का रूप प्राप्त होना, 'निर्जरा' है। शुद्ध जल युक्त मंगल घट से पूज्य गुरुदेव का पाद प्रक्षालन अर्थात् परम से चरम की ओर ऊर्जायुक्त होना ही 'मोक्ष' है।

नायकों के अनेक सोपानक्रम हैं। प्रारम्भ में नायक है कुम्भकार। कुम्भकार, घट को सेवक के माध्यम से नगर सेठ को अर्पित करता है, तब नायक का मुकुट नगर सेठ के शीश पर प्रतिष्ठित हो जाता है। नगर सेठ द्वारा आहार ग्रहण हेतु पधारे गुरुदेव के पाद प्रक्षालन में, जल पूर्ण घट का उपयोग होने से, नायक का पद गुरुदेव के चरणों में समर्पित हो गया है। गुरुदेव का जीवन अरिहन्त के प्रति समर्पित है, इस कारण अन्तिम और वास्तविक नायक वे ही सिद्ध होते हैं।

महाकाव्य का आरम्भ ऊषाकाल के मनोरम एवं कल्याणकारी वातावरण में होता है :

"प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है/सर पर पल्ला नहीं है
और/सिन्दूरी धूल उड़ती-सी/रंगीन-राग की आभा/भाई है, भाई···!" (पृ.१)

काव्य, रसात्मक वाक्य अथवा शब्दार्थ की निर्दोषिता या रमणीय अर्थ की प्रतिपादकता है। इस महाकाव्य में अनायास ही ऐसे स्थल मिल जाते हैं, जिनके शब्द और अर्थ पाठक को रसविभोर करने को पर्याप्त हैं। संकेत रूप में एक उदाहरण प्रस्तुत है :

"जहाँ कहीं भी देखा/महि में महिमा हिम की महकी,/और आज !
घनी अलिगुण-हनी/शनि की खनी-सी···/भय-मद-अघ की जनी
दुगुणी हो आई रात है।" (पृ. ९१)

विवेचना की सीमा नहीं है और उदाहरण शताधिक हो सकते हैं, किन्तु संक्षिप्तता का आदर भी तो करना है। इसलिए एक अन्तिम आध्यात्मिक उदाहरण की प्रस्तुति के पश्चात् मन, वाणी और लेखनी को विराम देता हूँ :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है/जिसे/प्राप्त होने के बाद,
यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है/तुम ही बताओ !" (पृ. ४८६-४८७)

अन्त में तपस्वी आचार्य सन्त कवि विद्यासागरजी और उनकी प्रज्ञा से उपजे कल्पवृक्ष 'मूकमाटी' महाकाव्य को शत-शत नमन।

□



'मूकमाटी' में निहित 'माटी' का स्वरूप

डॉ. विनोद कुमार जैन एवं डॉ. अर्पणा जैन

'आधुनिक हिन्दी निबन्ध' (साहित्य और जीवन, पृ. २५) कृति में भुवनेश्वरीचरण सक्सेना के अनुसार "साहित्य की धारा चिर काल से प्रवाहित होती चली आ रही है, फिर भी यह अद्यतन नवीन है; और इसकी चिर-नवीनता का कारण यह है कि सदैव से ही कवि की प्रतिभा अपनी सूक्ष्म, मौलिक कल्पना के साथ संयुक्त होकर ऐसे काव्यग्रन्थों का सृजन करती रही है, जिनमें साधारण विषय भी न केवल नवीन आयामों से सम्पृक्त हो जाते हैं अपितु अपने भीतर अनेक नवीन उद्भावनाओं की सम्भावना को भी समेटे रहते हैं। वस्तुतः इसी कारण साहित्य की धारा प्रवहमान है। यदि साहित्य में नवीनता का यह प्रयोग रुक गया तो उसका विकास रुक जाएगा और वह मृतप्राय हो जाएगा।" 'मूकमाटी' आधुनिक हिन्दी का ऐसा ही महाकाव्य है जो अपने विभिन्न प्रकार के अभिनव प्रयोगों एवं विशेषताओं के कारण आलोचना का प्रमुख केन्द्र बिन्दु बन गया है। इन अभिनव प्रयोगों में से एक है– इसमें निहित 'माटी का स्वरूप'।

'मूकमाटी' में माटी का सर्वथा नवीन एवं रचनात्मक रूप दिखाई देता है। वस्तुतः इसके पूर्व भी माटी साहित्य का विषय रही है किन्तु स्वतन्त्र सत्ता के रूप में। इसी को विषय बनाकर इतना विशाल ग्रन्थ सम्प्रति नहीं लिखा गया था। कविताओं की रचना अवश्य हुई थी, यथा– शिवमंगल सिंह 'सुमन' द्वारा रचित 'माटी की महिमा' में :

"फसलें उगतीं, फसलें कटतीं लेकिन धरती चिर उर्वर है
सौ बार बने सौ बार मिटे लेकिन मिट्टी अविनश्वर है।"

ऐसी ही अन्य अनेक छुटपुट कविताएँ हैं, जिनमें माटी का प्रयोग देशप्रेम, देश की एकता अथवा कृषि जैसे पूर्व नियोजित अथवा रूढ़ रूप में किया गया है। वस्तुतः साहित्यकारों ने माटी के प्रति एक प्रतिबद्ध दृष्टिकोण अपनाते हुए उसे इसी रूप में रूढ़ कर दिया था। इस रूढ़ता के आवरण को हटाया है– 'मूकमाटी' के रचयिता आचार्य विद्यासागरजी ने। उन्होंने कुम्भकार द्वारा मिट्टी का घड़ा बनाने की छोटी-सी घटना के माध्यम से माटी को विभिन्न अभिनव आयामों से सम्पृक्त किया है।

महाकाव्य की इस घटना में माटी एक ऐसी नायिका है जिसे युगों-युगों से अपने प्रियतम की प्रतीक्षा है, क्योंकि उसी का आगमन माटी के स्वरूप को ऐसे नवीन मंगलमय स्वरूप में परिवर्तित कर सकता है जिसकी अभिलाषा में माटी व्याकुल हो रही है। अन्ततः कुम्भकार आता है एवं प्रतीक्षारत अपनी प्रेयसी को उसी मंगलमय रूप अर्थात् कुम्भ में परिवर्तित कर देता है।

'मूकमाटी' में माटी की उक्त कथा के वर्णन हेतु कवि ने उसके परिशोधन एवं क्रमिक विकास का वर्णन करते हुए उसे विविध मानवीय भावनाओं एवं संवेदनाओं से सम्पृक्त किया है, उसके द्वारा संघर्षमय जीवन का सन्देश दिया है, आस्था के स्वरूप का वर्णन किया है, विविध दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या की है एवं सबसे प्रमुख बात तो यह है कि माटी के परिशोधन के माध्यम से मानव के परिशोधन की बात कही है।

महाकाव्य के प्रारम्भ में माटी को एक ऐसी संकोचशीला लाजवती के रूप में प्रस्तुत किया है जो अधम पापियों के द्वारा सतायी गई है तथा विभिन्न प्रकार की यातनाओं को सहते हुए घुटन भरी जिन्दगी व्यतीत करने को विवश है।

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
…अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ!" (पृ. ४)

इतने के पश्चात् भी उसमें पराक्रम का अभाव है। पुत्री माटी माँ धरती के सम्मुख अपनी इसी वेदना का वर्णन करती है, जिससे पाठक का अन्तर्मन भी करुणा से आर्त हो उठता है किन्तु फिर भी माटी को अपने भीतर निहित गुणों एवं मूल्यों की अनुभूति है, वस्तुतः इसी कारण वह अधिक व्यथित एवं व्यग्र है। अतः वह अपनी अन्तर्मन की व्यथा-वेदना को माँ धरती के सम्मुख व्यक्त करती हुई उनसे अपने अस्तित्व सुरक्षा की माँग करती है, ठीक उसी प्रकार जैसे यदि कोई बालक योग्य होते हुए भी उपेक्षित किया जाए तो वह सीधे अपनी माँ के पास जाता है एवं उसके द्वारा अपनी योग्यता से सबको अवगत कराना चाहता है। इसके साथ ही माटी अपने लिए सरिता से उचित मार्गदर्शन की भी माँग करती है, क्योंकि सम्भवतः इसके अभाव के कारण ही वह अभी तक दुख-युक्ता रही हो।

माटी को अपने अस्तित्व की अभिलाषा अवश्य है किन्तु इसके लिए जब वह अपने अन्तर्मन को परखती है तो उसे स्वयं में अनेक दोष दिखलाई देते हैं, जिससे उसे अपनी लघुता का भान होता है। माटी द्वारा अपनी लघुता की इस अनुभूति को माँ सरिता महत्त्वपूर्ण मानती हुई प्रसन्न होती है एवं इसकी तुलना उस साधक से करती है जिसने 'गुरुतम' को पहचान लिया है :

"तूने जो/अपने आपको/पतित जाना है/लघु-तम माना है
यह अपूर्व घटना/इसलिए है कि/तूने/निश्चित-रूप से
प्रभु को,/गुरु-तम को/पहचाना है !" (पृ. ९)

इसके पश्चात् माटी के परिशोधन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। परिशोधन की प्रक्रिया उसमें मिले हुए कंकर-पत्थरों को पृथक् करने के साथ प्रारम्भ होती है। इसे कवि ने काव्य के प्रथम खण्ड अर्थात् 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' के अन्तर्गत वर्णित किया है। यहाँ पर कवि का ध्येय माटी के प्रकारान्तर से मानव के परिशोधन की प्रक्रिया को अभिव्यक्त करना भी रहा है। वस्तुतः मानव को उच्च एवं महिमायुक्त होने के लिए आवश्यक है कि वह अपने अन्तर्मन में निहित दोषों को पहचान कर उनका निवारण करे, क्योंकि जब तक वे उसके अन्तर्मन में अपना निवास बनाए रखेंगे तब तक मानव के व्यक्तित्व का परिष्कार सम्भव नहीं है। वे दीर्घकाल तक उसके भीतर निहित रहने के पश्चात् भी उसके गुणों के साथ मिल कर तदनुकूल नहीं हो सकते। अतः यही उचित है कि उनको हटा कर 'वर्ण-लाभ' किया जाए :

"अरे कंकरो !/ माटी से मिलन तो हुआ/पर
माटी में मिले नहीं तुम !/माटी से छुवन तो हुआ
पर/माटी में घुले नहीं तुम !/इतना ही नहीं,/चलती चक्की में डालकर
तुम्हें पीसने पर भी/अपने गुण-धर्म/भूलते नहीं तुम !" (पृ. ४९)

इसी प्रकार द्वितीय खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में भी मानव के शब्द ज्ञान, उससे उत्पन्न बोध तथा बोध के परिणामस्वरूप मानव द्वारा अपने अन्तर्मन का परिशोधन भी कवि का लक्ष्य रहा है, जिसे सहज ही देखा जा सकता है। मानव के परिशोधन की यह प्रक्रिया माटी की विकास कथा के साथ-साथ ही आगे बढ़ती हुई महाकाव्य के तृतीय खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' तक पहुँच जाती है। इस खण्ड के अन्तर्गत कवि कहता है कि सत्कर्मों का परिणाम भी सत् ही होता है। यदि अन्तर्मन विभिन्न प्रकार के परिग्रहों, कषायों का त्याग करके किसी कार्य का प्रारम्भ करता है तो ऐसे कार्य का परिणाम भी निश्चित रूप से शुभ होता है।

अन्तिम चतुर्थ खण्ड में माटी का अभिनव रूप और अधिक मुखर हो उठा है। इस खण्ड में रचयिता ने युगों-युगों

से तुच्छ एवं उपेक्षिता माटी से निर्मित कुम्भ को स्वर्णनिर्मित कुम्भ से भी अधिक श्रेष्ठ बतला कर उसे ऐसे शिखर बिन्दु पर आसीन कर दिया है, जहाँ से वह और अधिक महिमायुक्त प्रतीत होने लगती है। किन्तु यह पद उसे सहज ही प्राप्त नहीं हो गया है अपितु इसके लिए उसने अपने अन्तर्मन को टटोला है, उसमें निहित दोषों को पहचान कर उन्हें जलाया है, उनसे मुक्ति प्राप्त की है :

"मैं निर्दोष नहीं हूँ/दोषों का कोष बना हुआ हूँ
मुझ में वे दोष भरे हुए हैं।/जब तक उनका जलना नहीं होगा
मैं निर्दोष नहीं हो सकता।" (पृ. २७७)

अन्ततः शुद्ध एवं बुद्ध, चेतन होने के पश्चात् ही इस पद की अधिकारिणी हुई है। वस्तुतः देखा जाए तो मानव को भी श्रेष्ठ एवं महिमायुक्त बनने के लिए उक्त प्रक्रिया से ही गुज़रना पड़ता है, क्योंकि जब तक वह कषाय से युक्त रहेगा उसकी वृत्ति सात्त्विक नहीं हो सकती। सात्त्विक वृत्ति के अभाव में कभी भी मानव मानवता को प्राप्त नहीं कर सकता, फलस्वरूप अपने जीवन के उत्कर्ष बिन्दु पर भी नहीं पहुँच सकता। अतः इन सबके लिए आवश्यक है कि अपने भीतर स्थित परिग्रहों एवं कषायों का त्याग करे। इसी तथ्य को कवि ने माटी के माध्यम से कुशलतापूर्वक अभिव्यक्त किया है।

वस्तुतः आचार्य विद्यासागरजी ने माटी को विभिन्न अभिनव विशेषताओं से सम्पृक्त करने के साथ ही उसके माध्यम से अन्य विविध तथ्यों की अभिव्यक्ति भी की है, जिनमें मानव के वर्णन का भी प्रमुख स्थान है। कवि ने अनेक स्थलों पर माटी को आधार बनाकर जैन धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जो कहीं-कहीं बौद्धिकता के आधिक्य के कारण बोझिल-से प्रतीत होते हैं। ऐसे स्थल अत्यल्प हैं, अधिकांश स्थलों पर, जैसा कि श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन का कहना है कि दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन माटी-धरती के संवाद के रूप में अथवा अन्य रूप में काव्य की धारा में सहज प्रवाहित होते चले गए हैं। जैसे—कुम्भकार के यहाँ नगर सेठ के नौकर द्वारा माटी से निर्मित कुम्भ को सात बार बजाने पर उसमें से निःसृत सात प्रकार की ध्वनियों का कवि द्वारा दार्शनिकता के स्तर पर विवेचन करना अथवा 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' सूत्र का वर्णन करना, इत्यादि। इनमें वर्णित जीवन दर्शन सायास निर्मित न होकर कवि की प्रचण्ड प्रतिभा के फलस्वरूप उसकी भाव लहरियों से सहज ही निःसृत होता गया है :

"कुम्भ के मुख पर प्रसन्नता है मुक्तात्मा-सी/तैरते-तैरते पा लिया हो
अपार भव-सागर का पार!/...काया में रहने मात्र से/काया की अनुभूति नहीं,
माया में रहने मात्र से/माया की प्रसूति नहीं,/उनके प्रति
लगाव-चाव भी अनिवार्य है।" (पृ. २९८)

दार्शनिक तथ्यों के प्रतिपादन के अतिरिक्त माटी-धरती के संवाद में धरती द्वारा माटी को जो जीवन संघर्ष की प्रेरणा दी गई है एवं आस्था के जिस स्वरूप को वर्णित किया गया है उसके द्वारा भी माटी के अभिनव रूप सामने आते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आद्यन्त साहित्यकारों के एकांगी अथवा प्रतिबद्ध दृष्टिकोण में आबद्ध माटी 'मूकमाटी' में रचनाकार की प्रतिभा एवं उसकी रचनाधर्मिता के कारण न सिर्फ़ विभिन्न अभिनव आयामों में अभिव्यक्त हुई है, अपितु अपने गर्भ में ऐसी अनेक नवीन उद्भावनाओं को भी समेटे हुए है जिनसे निश्चय ही आने वाला साहित्य और अधिक पुष्ट और समृद्ध हो सकेगा। □

अध्यात्म रस का शब्दशास्त्र : 'मूकमाटी'

डॉ. (श्रीमती) अलका प्रचण्डिया 'दीति'

वन्दनीय आचार्य श्री विद्यासागरजी के अन्तस् का विस्फोट 'मूकमाटी' साहित्य और दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का अभिनव आकलन है। आचार्यश्री का जीवन दर्शन उनकी साधना यात्रा का नवनीत है। यह नवनीत उनकी अनुभूति का सार-परिणाम है जो चिन्तन के निकष पर खरा उतरता है। उनका मानना है :

"तन और मन को/तप की आग में/तपा-तपा कर
जला-जला कर/राख करना होगा/यतना घोर करना होगा
तभी कहीं चेतन–आत्मा/खरा उतरेगा।/खरा शब्द भी स्वयं
विलोमरूप से कह रहा है–/राख बने बिना
खरा-दर्शन कहाँ ?/रा···ख···ख···रा···।" (पृ. ५७)

आकार में बृहत् और चार खण्डों में विभक्त 'मूकमाटी' शब्द साधना का जीवन्त दस्तावेज़ है। नारी, सुता, दुहिता, कुमारी, स्त्री, अबला आदि के आन्तरिक अर्थ आचार्यश्री की महिलाओं के प्रति आदर-आस्था का परिचायक है। इतना ही नहीं, नारी के शान्त, संयत रूप की शालीनता को भी आचार्यश्री ने सराहा है। पुरुष की पूर्णता और सार्थकता का आधेय नारी है। यही नारी पुरुष के पाप को पुण्य में परिणत करती है। उसकी वासना को उपासना का दर्जा दिलाती है। कविश्री का मानना है कि पुरुष का 'काम पुरुषार्थ' निर्दोष हो, इसलिए नारी गर्भधारण करती है :

"धर्म, अर्थ और काम-पुरुषार्थों से/गृहस्थ जीवन शोभा पाता है।
इन पुरुषार्थों के समय/प्रायः पुरुष ही/पाप का पात्र होता है,
वह पाप, पुण्य में परिवर्तित हो/इसी हेतु स्त्रियाँ
प्रयत्न-शीला रहती हैं सदा।/पुरुष की वासना संयत हो,/और
पुरुष की उपासना संगत हो,/यानी काम पुरुषार्थ निर्दोष हो,
बस, इसी प्रयोजनवश/वह गर्भ धारण करती है।" (पृ. २०४)

इतना ही नहीं, नारी संग्रहवृत्ति और अपव्यय रोग से पुरुष को बचाती है तथा दान-पूजा आदि से धर्म परम्परा की संरक्षा करती है :

"संग्रह-वृत्ति और अपव्यय-रोग से/पुरुष को बचाती है सदा,
अर्जित-अर्थ का समुचित वितरण करके।/दान-पूजा-सेवा आदिक
सत्कर्मों को, गृहस्थ धर्मों को/सहयोग दे, पुरुष से करा कर
धर्म-परम्परा की रक्षा करती है।" (पृ. २०४-२०५)

आचार्यश्री ने माटी को अपने काव्य का वर्ण्य विषय बनाकर अपनी मौलिक उद्भावना का परिचय दिया है। 'माटी' से 'मंगल घट' तक की यात्रा में कुम्भकार को क्या कुछ करना होता है, उस प्रक्रिया को कविश्री ने प्रतीक शैली में चित्रित किया है। 'मूकमाटी' से हम सन्त कवि के साहित्य बोध से भी परिचित होते हैं, जब वे नव रसों को परिभाषित करते हैं तथा शृंगार और प्रकृति की व्याख्या काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत करते हैं। इस वर्ण्य विषय के

प्रतिपादन में जैन दर्शन को बड़े सहज ढंग से आचार्यश्री ने उकेरा है। आज जीवन में घटित सामाजिक सन्दर्भों का समाधान दिया है आचार्यश्री ने समाज व्यवस्था को विश्लेषित करके। आचार्यश्री का सामाजिक दायित्व बोध दर्शनीय है :

"...खेद है कि/लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी
प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।" (पृ. ३८६)

ध्यान के सन्दर्भ में आचार्यश्री का आधुनिक चित्रण देखते ही बनता है। आचार्यश्री मानव के दो रूप बताते हैं :

"इस युग के/दो मानव/अपने आप को/खोना चाहते हैं–
एक/भोग-राग को/मद्य-पान को/चुनता है;
और एक/योग-त्याग को/आत्म-ध्यान को/धुनता है।
कुछ ही क्षणों में/दोनों होते/विकल्पों से मुक्त।
फिर क्या कहना!/एक शव के समान/निरा पड़ा है,
और एक/शिव के समान/खरा उतरा है।" (पृ. २८६)

'मूकमाटी' वस्तुतः प्रबन्धकाव्य का एक अभिनव स्वरूप लिए 'अध्यात्म रस का शब्दशास्त्र' है। इसमें अलंकारों की चित्ताकर्षक छटा है तथा शब्द की अन्तरंग अर्थ भंगिमा की झाँकी है, जिससे काव्य की भाषा का 'अर्थ गौरव' बढ़ा है। लोकोक्तियों और मुहावरों के समावेश से भाषा का सौष्ठव दर्शनीय है। संवादों में नाटकीयता और सम्प्रेषणीयता से काव्य में रोचकता का संचार हुआ है।

निश्चय ही आचार्यश्री का यह प्रबन्धकाव्य आधुनिक हिन्दी काव्य यात्रा की नूतन देन कही जाएगी।

□



पृ. ७.
सत्ता शाश्वत होती है....
.... वट के रूप में अवतार लेता है,
यही इसकी महत्ता है!

आचार्य श्री विद्यासागर और उनका महाकाव्य 'मूकमाटी'

डॉ. लक्ष्मी नारायण गुप्त

जैन दर्शन के आचार्य और सन्त श्री विद्यासागरजी का अवदान, दार्शनिक उपलब्धियाँ केवल जैन धर्मावलम्बियों तक सीमित नहीं रह गई हैं, उनका प्रभाव सारे भारतीय समाज पर भी पड़ा है। इसका विशिष्ट कारण है उनका कवि हृदय। कवि द्रष्टा व स्रष्टा होता है। वह मनीषी और स्वयम्भू होता है, यह युग-युगान्तर की मान्यता है। 'कवि- र्मनीषी परिभू: स्वयम्भू:' की उक्ति के साथ कवि को लोक जीवन में प्रतिष्ठित किया गया है। विद्यासागरजी विद्या और दर्शन के सागर हैं, तो उनका हृदय भी अवश्य रत्नाकर है। यदि साम्प्रदायिकतावाद से पृथक् वर्तमान युग के देशी-विदेशी परिवेश के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो आचार्यजी सदाशयता और आत्मोत्कर्ष का मार्गदर्शन करने वाले ऐसे त्याग और तपस्या की साक्षात् विभूति हैं, जिनके उपदेशों के अनुकरण और आचरण से जीवन ही नहीं, मोक्ष भी सहज और सुलभ हो जाता है।

जैन दर्शन में आत्मोत्कर्ष की विशिष्ट प्रविधि और प्रक्रिया है। यहाँ जीव का स्वरूप निम्न रूप में व्यक्त किया गया है :

"जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥" ('द्रव्यसंग्रह'/२)

अर्थात् जीव उपयोगमयी है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, स्वदेह परिमाण वाला है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है तथा स्वाभाविक ऊर्ध्वगति वाला है। जीव को सिद्धावस्था/मुक्तावस्था तक पहुँचने के लिए अनेक संज्ञाओं/दशाओं को पार करना पड़ता है।

आचार्यश्री ने 'मूकमाटी' महाकाव्य की रचना में अनेक नवीन उद्भावनाओं और अर्थ निरूपण की कलात्मक अभिव्यक्तियों के साथ जीवन विकास के क्रम को सँजोया है। माटी जैसे निर्जीव पात्र को सांसारिकता में उपेक्षित नहीं बनाया जा सकता। शरीर भी तो अन्ततः माटी ही है। माटी का अस्तित्व तो होता ही है, किन्तु यदि वह किसी कलश, मूर्ति या अन्य पात्र के रूप में ढल जाए तो माटी सार्थक, जीवन्त और दूसरे को संजीवनी प्रदान करने की क्षमता प्राप्त कर सकती है। आचार्यश्री की मूकमाटी सरिता तट की है। वह अपनी माँ पृथ्वी से निवेदन करती है।

'सरिता तट की माटी अपना हृदय खोलती है माँ धरती के सम्मुख'—जीवन दर्शन का यहाँ से अथ /प्रारम्भ होता है और इति तक पहुँचने के बीच जाने कितने जैव-अजैव झंझावातों से उसे गुज़रना होता है। माटी अपने को पतिता मानती है। वह धरती माँ से कहती है :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,/···अधम पापियों से
पद-दलिता हूँ माँ!/सुख-मुक्ता हूँ,/दुःख युक्ता हूँ
तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ!" (पृ. ४)

वह आगे कहती जाती है :

"घुटन छुपाती-छुपाती/···घूँट/पीती ही जा रही हूँ,
केवल कहने को/जीती ही आ रही हूँ।" (पृ. ५)

मूकमाटी का यह जीवन तिरस्कृत, निर्जीव है। वह माँ से निवेदन करती है :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की
च्युति कब होगी ?/बता दो, माँ···इसे।" (पृ. ५)

मूकमाटी व्याकुल है आकार पाने, जीवन्त पात्रता पाने। वह अपनी धरती माँ से पद, पथ, पाथेय सभी कुछ चाहती है :

"और सुनो,/विलम्ब मत करो/पद दो, पथ दो
पाथेय भी दो माँ !" (पृ. ५)

यह 'मूकमाटी' महाकाव्य का अथ है। सारा वर्णन महाकाव्य की गरिमा से आलिप्त है। महाकवि आचार्य विद्यासागर इस महाकाव्य में जीवन और मुक्ति, मन और हृदय, साधना और साध्य—सभी कुछ जीवनीय और सांवेदनिक, मर्म तथा धर्म, कर्म और उत्सर्ग एवं उत्कर्ष को साथ ही साथ वर्णित करते हैं।

कोई भी जीवन दर्शन गहन साधना, तप और तपश्चर्या, शौच और इन्द्रियनिग्रह के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। जीवन की सार्थकता आत्मा पर पड़े कषायों, दोषों, विकारों, दुर्गुणों के आवरण को हटाने में है। व्यक्ति खरा तभी बन पाता है, जब वह साधनों की अग्नि में तप-तपकर राख बन जाए। आचार्य श्री विद्यासागर का कवि कर्म और आचार्यत्व दोनों ही मुझे उनकी इस सूक्ष्मतम सूझबूझ में दृष्टिगोचर होते हैं, जहाँ उन्होंने राख जैसी निकृष्टतम वस्तु होने में खरा (विलोम शब्द) को उत्कर्ष मार्ग के रूप में ढूँढ़ निकाला है। वे कहते हैं :

"तन और मन को/तप की आग में/तपा-तपा कर/जला-जला कर
राख करना होगा/यतना घोर करना होगा/तभी कहीं चेतन—आत्मा
खरा उतरेगा।/खरा शब्द भी स्वयं/विलोम रूप से कह रहा है—
राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?/रा···ख···ख···रा···।" (पृ. ५७)

महाकाव्य की संरचना महान् आत्मा से परिपूर्ण व्यक्तित्व से ही सम्भव है। 'मूकमाटी' अर्थात् शव को शिव बना सकने का वरदान आचार्यश्री को प्राप्त है। यही महाकाव्य का चमत्कार है। 'मूकमाटी' अवश्य ही पठनीय है। ❑



'मूकमाटी' : एक वीतराग सन्त साहित्यकार की काव्य-यात्रा

के. एल. सेठी

वैसे तो आचार्य श्री विद्यासागरजी का अब तक मैं केवल आध्यात्मिक महान् सन्त के रूप में ही परिचय कर पाया था, किन्तु उनकी वाणी से इस महान् आध्यात्मिक संरचना देख कर ऐसा लगा कि अन्तरतम की गहराइयों को लेकर, महान् अनुभूति पूर्ण काव्य रचना कर, आपने एक नई दिशा दी है। ऐसा प्रतीत होता है मानो 'मूकनिरीह माटी' के माध्यम से सारा जैन सिद्धान्त इस काव्य में उड़ेल दिया गया है।

माटी मूक है, पद दलित है व कुम्भकार के माध्यम से तद्गत सम्पूर्ण कंकर-पत्थरों को हटाकर वह अत्यन्त पवित्र व निर्मल शुद्ध किस प्रकार बन सकती है। तत्पश्चात् महान् तप से तप कर श्रेष्ठता के उच्च शिखर पर किस प्रकार आसीन हो सकती है, इसका सुन्दरतम वर्णन है।

वास्तव में आचार्यश्री का यह काव्य महाकाव्य की परिभाषा में पूर्ण रूप से सही बैठता है। मौलिक रूप में माटी को नायिका बनाकर कुम्भकार को नायक का प्रतीक बनाया गया है किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से इस काव्य के नायक तो स्वयं आचार्यश्री प्रतीत होते हैं पर अन्तिम नायक अर्हन्त देव ही हैं।

काव्य को दृष्टि में रखें तो इसमें शब्दालंकार, अर्थालंकार एवं शब्दों का अभूतपूर्व कथन कर जन साधारण के अध्यात्म व अनेकान्त का सुन्दरतम वर्णन करने का प्रयत्न श्लाघनीय है।

आचार्यश्री ने 'मूकमाटी' का सहारा लेकर महिला शक्ति के प्रति महान् आदर व्यक्त किया है और उनकी संयत स्थिति एवं शालीनता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

पहले खण्ड में आत्मा की प्राथमिक दशा के शोधन की प्रक्रिया का वर्णन किया है अर्थात् पहले माटी को खोदना, उसे कूट-छानकर कंकर रहित बनाना आवश्यक है, इस बात का वर्णन किया है।

दूसरे खण्ड में 'शब्द,' 'बोध' एवं 'शोध' का अन्तर बताते हुए आचार्यश्री ने 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' के महान् सिद्धान्त का सरलता से विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है कि उच्चारण मात्र 'शब्द' है तथा उस शब्द का अर्थ सही रूप में समझना 'बोध' है। तत्पश्चात् उस 'बोध' को स्वयं के आचरण में आत्मसात् कर लेना ही 'शोध' है।

तीसरे खण्ड में पुण्योपार्जन तथा पाप के प्रक्षालन का सुन्दर काव्यमयी उदाहरण देते हुए मन-वचन-काय की निर्मलता से, शुभ कार्यों को करने से एवं लोक कल्याण की भावना से ही पुण्य उपार्जन होता है और क्रोध, मान, माया एवं लोभ के हनन का कारण होता है।

चतुर्थ खण्ड में काव्यात्मक उदाहरण देते हुए माटी को कुम्भकार द्वारा तपा कर शुद्ध निर्मल कुम्भ का रूप दे दिया है। पश्चात् साधु को आहार दान किस प्रकार देना चाहिए, इसकी प्रक्रिया सविस्तृत की गई है। प्रसंग इतने प्रकार के दिए गए हैं कि बात में से बात निकाल कर तत्त्व चिन्तन का उच्चतम शिखर दिखा दिया गया है। साथ ही लौकिक तथा पारलौकिक भावनाओं का सुन्दरतम छविगृह निर्मित कर दिया गया है। साथ ही अन्त में स्पष्ट भी कर दिया कि गुरु तो प्रवचन ही दे सकते हैं, 'वचन' नहीं। आत्मा का उद्धार बिना पुरुषार्थ के नहीं हो सकता। अविनाशी सुख 'वचनातीत' है और वह तो साधना से ही प्राप्त 'आत्मोपलब्धि' है।

कहना ना होगा, 'समयसार' का सारा निचोड़ आचार्यश्री ने इस महाकाव्य में समाहित कर दिया है। इसके पहले खण्ड के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश निम्न प्रकार उल्लेखनीय हैं :

"ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना/सब के वश की बात नहीं,
और···वह भी···/स्त्री-पर्याय में—/अनहोनी-सी घटना !" (पृ. २)

माटी की पुकार सुनाते हुए आचार्यश्री कहते हैं :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
...अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !" (पृ. ४)

आगे यदि मानव प्रयत्न करे और उसे अच्छी संगति मिले तो वह क्या नहीं बन सकता ? इसीलिए वे कहते हैं :

"खसखस के दाने-सा/बहुत छोटा होता है/बड़ का बीज वह !
समुचित क्षेत्र में उसका वपन हो/समयोचित खाद, हवा, जल/उसे मिलें
अंकुरित हो, कुछ ही दिनों में/विशाल काय धारण कर
वट के रूप में अवतार लेता है,/यही इसकी महत्ता है।" (पृ. ७)

तदनन्तर अच्छी व बुरी संगति के परिणामों को बताते हुए आचार्यश्री ने हृदय के कपाट खोल दिए हैं। उजली-उजली जल की धारा धरा धूल में मिलने पर दल-दल बन जाती है ; वही धारा नीम की जड़ों में जाने पर कटुता में ढलती है ; सागर में गिरने पर लवणाकर कहलाती है। विषधर मुख में जा कर विष-हाला में ढलती है और सागरीय शुक्तिका में गिरकर मुक्तिका होती है।

आस्था को आत्मसात् करना हो तो साधना जरूरी है :

"पर्वत की तलहटी से भी/हम देखते हैं कि/उत्तुंग शिखर का/दर्शन होता है,
परन्तु/चरणों का प्रयोग किये बिना/शिखर का स्पर्शन/सम्भव नहीं है!"(पृ.१०)

आचार्यश्री इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए मार्गदर्शन करते हैं :

"प्राथमिक दशा में/साधना के क्षेत्र में/स्खलन की सम्भावना
पूरी बनी रहती है, बेटा !/स्वस्थ-प्रौढ़ पुरुष भी क्यों न हो
काई-लगे पाषाण पर/पद फिसलता ही है !/इतना ही नहीं,
निरन्तर अभ्यास के बाद भी/स्खलन सम्भव है।" (पृ. ११)

आगे यह बताया है कि निरन्तर परिश्रम व संघर्ष करते रहने पर विजय की प्राप्ति होती है :

"संघर्षमय जीवन का/उपसंहार/नियमरूप से/हर्षमय होता है।" (पृ. १४)

पश्चात् लम्बी-लम्बी बातें करने वालों व कोरे उपदेशकों पर व्यंग्य करते हुए एवं सही स्थिति का आकलन करते हुए आचार्यश्री ने कटु सत्य कह डाला है :

"चेतन की इस/सृजन-शीलता का/भान किसे है ?
चेतन की इस/द्रवण-शीलता का/ज्ञान किसे है ?
इसकी चर्चा भी/कौन करता है रुचि से ?/कौन सुनता है मति से ?
और/इसकी अर्चा के लिए/किसके पास समय है ?
आस्था से रीता जीवन/यह चार्मिक वतन है, माँ !" (पृ. १६)

इस प्रकार 'मूकमाटी' महाकाव्य की जितनी भी प्रशंसा की जाए, वह थोड़ी है।

['विद्यासागर' (मासिक), जबलपुर - मध्यप्रदेश]

□

'मूकमाटी' : महिला शक्ति के प्रति महान् आदर की अभिव्यक्ति

सम्पादक : 'सन्मार्ग' (हिन्दी दैनिक)

महान् आध्यात्मिक सन्त आचार्य श्री विद्यासागर ने 'मूकनिरीह माटी' के माध्यम से सारा जैन सिद्धान्त इस काव्य में उड़ेल दिया है।

माटी मूक है, पद दलित है व कुम्भकार के माध्यम से सम्पूर्ण कंकर-पत्थरों को हटाकर वह अत्यन्त पवित्र, निर्मल, शुद्ध किस प्रकार बन सकती है, तत्पश्चात् महान् तप से तपकर श्रेष्ठता के उच्च शिखर पर किस प्रकार आसीन हो सकती है, इसका इसमें वर्णन है।

वास्तव में आचार्यश्री का यह गद्यकाव्य महाकाव्य की परिभाषा में पूर्ण रूप से सही बैठता है। इसमें माटी को नायिका बना कर कुम्भकार को नायक का प्रतीक बनाया गया है।

आचार्यश्री ने मूकमाटी का सहारा लेकर महिला शक्ति के प्रति महान् आदर व्यक्त किया है और उनकी संयत स्थिति और शालीनता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

पहले खण्ड में आत्मा की प्राथमिक दशा के शोधन की प्रक्रिया, दूसरे खण्ड में 'शब्द', 'बोध' व 'शोध' का अन्तर, तीसरे खण्ड में पुण्योपार्जन तथा पाप के प्रक्षालन का सुन्दर काव्यमयी उदाहरण एवं चतुर्थ खण्ड में काव्यात्मक उदाहरण देते हुए माटी को कुम्हार द्वारा तपाकर उस शुद्ध-निर्मल कुम्भ का रूप दे दिया है।

अन्त में स्पष्ट कर दिया कि गुरु तो प्रवचन ही दे सकते हैं, वचन नहीं। आत्मा का उद्धार बिना पुरुषार्थ के नहीं हो सकता। अविनाशी सुख वचनातीत है और वह तो साधना से ही प्राप्त आत्मोपलब्धि है।

आत्मा की शुद्ध दशा को आत्मसात् करना हो तो साधना जरूरी है :

"पर्वत की तलहटी से भी/हम देखते हैं कि/उत्तुंग शिखर का
दर्शन होता है,/परन्तु/चरणों का प्रयोग किये बिना
शिखर का स्पर्शन/सम्भव नहीं है!" (पृ.१०)

निरन्तर परिश्रम व संघर्ष से विजय प्राप्त होती है :

"विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंजिल पर।" (पृ. ४८८)

आचार्यश्री ने जीवन के इस अभिनव एवं प्रशंसनीय महाकाव्य में लोक जीवन के मुहावरे, बीजाक्षरों, अंकों के चमत्कार, आयुर्वेद के प्रयोगों को भी पिरोया है।

[सम्पादक- सन्मार्ग (हिन्दी दैनिक), कोलकाता-पश्चिम बंगाल, ९ नवम्बर, १९९१]

□

मूकमाटी का विद्यासागरीय संवाद

रामप्रकाश

यह महाकाव्य का दौर नहीं है। क्षणिकाओं का ज़माना है। ऐसे में लगभग पाँच सौ पृष्ठ की काव्य रचना का साहस चौंकाने वाला है। लेकिन यह साहस आचार्य विद्यासागर ने किया है अपनी काव्य कृति 'मूकमाटी' में। आज जब धर्म को धनपशु और धनपिशाच अपना क्रीतदास बनाने पर आमादा हैं, आज जब स्वयं धर्माचार्य धर्म को सेठाश्रयी और राजाश्रयी करने को आतुर हैं, तब माटी की, मूकमाटी की बात करना, कहना और पढ़ना अच्छा लगता है। यह काम तो इस काव्य में हुआ है कि मिट्टी के प्रतीक से सृष्टि, मनुष्य के कल्याण, संघर्ष और निर्माण की कथा कही गई है। इस पुस्तक से केवल कविता का नहीं बल्कि कहानी का, नाटक का, निबन्ध का, धर्म और दर्शन का काम भी 'एक साधे सब सधे' के अंदाज से किया गया है।

आचार्य विद्यासागर की यह कृति काव्य से वाहक का काम अधिक लेती है। स्पष्ट ही कविता माध्यम है जैन धर्म के मूल्यों की प्रतिष्ठा का। इसलिए इसे काव्य प्रतिमानों के निकष पर कसने से ही बहुत कुछ हासिल होना नहीं है क्योंकि मूल लक्ष्य वह सन्देश है जो कविता देना चाहती है। इसलिए यह व्यर्थ की बहस होगी कि यह महाकाव्य है, खण्ड काव्य है या आधुनिक कविता का कोई नया प्रकार ?

हमारा सारा धार्मिक साहित्य, दार्शनिक साहित्य, यहाँ तक कि गणितीय और वैज्ञानिक साहित्य तक कविता में है। ऐसी स्थिति में साहित्यिक रुझान वाले धार्मिक सन्तों का रुझान काव्य सृजन के प्रति होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है। 'मूकमाटी' में रिटोरिक का आग्रह ही ज़्यादा है, छन्दानुशासन का नहीं और ना ही स्वच्छन्द छन्द का। गद्य कविता भी यहाँ लय के अतिरिक्त आग्रह के कारण नहीं बन पाई है।

धर्म प्राण श्रद्धालुओं के लिए 'मूकमाटी' का महत्त्व बहुत हो सकता है। साहित्य में इसे उतनी प्रतिष्ठा मिलना कठिन है, जितनी कि अपेक्षा इसके प्राक्कथनों, भूमिकाओं या फ्लेप पर की गई है। असल में भाषा और मुहावरा इसमें सबसे बड़ी बाधा है :

- *"लो, फिर से बादलों में स्फूर्ति आई/स्वाभिमान सचेत हुआ*
  ओलों का उत्पादन प्रारम्भ !" (पृ. २४८)
- *"मखमल मार्दव का मान/मर मिटा-सा लगा।*
  आम्र-मंजुल-मंजरी/कोमलतम कोंपलों की मसृणता
  भूल चुकी अपनी अस्मिता यहाँ पर।" (पृ. १२७)
- *"जिसके/दोनों गालों पर/गुलाब की आभा ले/हर्ष के संवर्धन से*
  दृग बिन्दुओं का अविरल/वर्षण हो रहा है।" (पृ. ६)
- *"रूप पर, गन्ध पर, रास पर/परिणाम जो हुआ है परस पर*
  पर्त-दर-पर्त गहरा लेप चढ़ गया है।" (पृ. १८६)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि पुस्तक की काव्य भाषा में सामान्य जन के लिए पर्याप्त दुरूह शब्द हैं। इसलिए सम्प्रेषण में दिक्कत होती है। दूसरी दिक्कत इसके दार्शनिक सन्देश की है :

- *"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।*

इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है।" (पृ. ४८६)

- *"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं*
  साधक की अन्तर-दृष्टि में।" (पृ. २६७)
- *"इसे उपधि की आवश्यकता है/उपाधि की नहीं, माँ*
  इसे समधी—समाधि मिले, बस ! अवधि—प्रमादी नहीं।/उपधि यानी
  उपकरण—उपकारक है ना !/उपाधि यानी
  परिग्रह—अपकारक है ना !" (पृ. ८६)

इन पंक्तियों के काव्यों के गूढ़ार्थ को समझने के लिए जैन धर्म-दर्शन के सम्यक् ज्ञान की न्यूनाधिक आवश्यकता होगी। इसलिए यह कृति वर्ग विशेष के लिए पठनीय हो सकती है, जन के लिए नहीं। यही इस कृति की विशेषता भी है, यही सीमा भी।

परिग्रह अपकारक है, यह बात आखिर जैन धर्म का महत् दर्शन सदियों से कहता आया है परन्तु जैन धर्मावलम्बियों के आचरण से वह सिरे से नदारद क्यों है ? यदि कोई सन्त धर्म में रहते हुए, परिव्राजक जीवन व्यतीत करते हुए भी काव्य में प्रवृत्त होता है तो उससे काव्यात्मक-विद्रोह की अपेक्षा क्यों नहीं की जानी चाहिए? यह कृति इस अपेक्षा की पूर्ति नहीं करती।

[दैनिक जागरण, भोपाल, मध्यप्रदेश, ३० अक्टूबर, १९९५]

□



पृ. १८
करवटें बदल रही-
.... उपयोग की बात... !

युग की प्रतिनिधि रचना : 'मूकमाटी'

राजेश पाठक

कृति को पढ़ा। प्रथम बार में तो कृति की भाव-व्यंजना, उसके स्नेहिल चिकने भाव पकड़ में नहीं आए। द्वितीय बार में जो रहस्य प्रकट हुआ, उससे अभिभूत हुए बिना नहीं रह सका। जीवन मूल्यों की जीवन्तता ही मानव को नीचे से ऊपर की ओर, एक से अनेक की ओर, पतझड़ से वसन्त की ओर ले जाती है।

शान्त रस से आपूरित महाकाव्यात्मक शिल्प-वैशिष्ट्य कवि की नैसर्गिक प्रतिभा और सामर्थ्य कल्पना का प्रतिफलनात्मक यह महाकाव्य अन्तस् को छूता है, जाग्रत करता है सुषुप्तता को। यह कृति महामानव की सम्पूर्णताओं को भर, एक बार पुनः बताती है कि मानव यथार्थ में अनन्त सम्भावनाओं का केन्द्र-बिन्दु है, यदि व्यभिचारी प्रवृत्तियों का आचरण वह उतार फेंके तब। जन-जन के हृदय में अपने प्रवचनों की गूँज छोड़ देने वाले सन्त आचार्य विद्यासागर जी इतने उत्कृष्ट कोटि के साहित्यकार हैं, यह इनके महाकाव्य 'मूकमाटी' से विदित होता है।

उनका विरह, उनकी भक्ति, उनकी साधना किसी लौकिक वस्तु विशेष के प्रति या उसको प्राप्त करने के लिए नहीं है वरन् सर्वत्र प्रेम, समता, दया, सत्य, सुख, भक्ति की अनुभूति भरने के लिए है। उनकी आँखें तथा हृदय दोनों ही आस्था, विश्वास प्रेम से प्रभु को निहारते, पुकारते हैं, जो सम्पूर्ण जीवन को समग्रता से साक्षात्कार करा सके। इसीलिए वे सन्त-परम्परा में आ जाते हैं।

"पर की पीड़ा से अपनी पीड़ा का/प्रभु की ईडा में अपनी क्रीड़ा का
संवेदन करता हो/पाप-प्रपंच से मुक्त, पूरी तरह/पवन-सम निःसंग।"
(पृ. ३००)

गुणी वही है जो दुर्गणों पर चोट करे, सद्गुणों की प्रतिष्ठा करे, हृदय की पुकार को सुने और गन्तव्य का मार्ग प्रशस्त करे। वे सिर्फ उसे पुकार ही नहीं, अपितु पूरे पुरुषार्थ से अमर तत्त्व की प्राप्ति हेतु निरन्तर संघर्ष/उत्कर्ष देते हैं, तब वे परिषह-उपसर्ग सहते रहते हैं वा यमी-दमी और उद्यमी होने पर सफलता के साथ चलते दिखाई देते हैं :

"मोक्ष की मात्रा/···सफल हो/मोह की मात्रा/···विफल हो
धर्म की विजय हो/कर्म का विलय हो/जय हो, जय हो
जय-जय-जय हो!" (पृ. ७६-७७)

कथनी और करनी में समानता होने पर लक्ष्य मिलने में कठिनाई नहीं आती। यही जीवन का अमर सत्य भी है। आचार्य विद्यासागरजी ने कथनी-करनी में विलोमता रखने वालों का आज के प्रसंग में जो चित्र अंकित किया है, दुःख का कारण भी वही है।

"गरम-चरमवाले ही/शीत-धरम से/भय-भीत होते हैं
और/नीत-करम से/विपरीत होते हैं।" (पृ. ९३)

इसी कारण कथनी में करुणा रस घोल कर धर्मामृत वर्षा करने वालों की भीड़ की वजह से आज न चारित्र रहा, न धर्म रहा, न सुख-शान्ति वरन् जो भयावह विकृतियाँ आई हैं उन्होंने समाज के वास्तविक स्वरूप को बदल दिया है। ऐसे ही 'समाजवाद' के सिद्धान्त पर आचार्य विद्यासागरजी ने तीखा प्रहार कर युगीन प्रसंग प्रस्तुत किया है :

"स्वागत मेरा हो/मनमोहक विलासितायें/मुझे मिलें अच्छी वस्तुएँ–

ऐसी तामसता भरी धारणा है तुम्हारी ?/फिर भला बता दो हमें
आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी/सबसे आगे मैं/समाज बाद में।''
(पृ. ४६०-४६१)

सम्पूर्ण मानव इसी दु:खरूपी सरिता में धारा के समान बहता जा रहा है, भोग का ही लक्ष्य लिए। फिर दु:खी और म्लान-मुख हृदय का अंकन एक सजग कवि की सूक्ष्म आँखों से कैसे नज़र-अंदाज़ हो सकता था। कवि ने कहा है:

''सब के मुखों पर/जिजीविषा बिखरी पड़ी है,
सब के सब विवश हो/बहाव में बहे जा रहे हैं।'' (पृ. ४५०)

मानव-जगत् की मनोवैज्ञानिक रूप में सूक्ष्म-समस्या भी कवि की नज़र से ओझल नहीं हुई है। विशेष बात यह है कि समस्या का समाधान तो मानव के पास ही है। आचार्यश्री ने संकेत दिया है :

पुरुष प्रकृति से/यदि दूर होगा
निश्चित ही वह/विकृति का पूर होगा। (पृ. ९३)

अँधाधुन्ध धन-संकलन की प्रवृत्ति ने मानव को अपने मूल रूप से च्युत कर दिया है। धर्म की आड़ में पाप पनप रहे हैं। कहीं नीतिगत पथ दिखता नहीं है। उलझन और विनाश के काले बादल मण्डरा रहे हैं। आचार्य विद्यासागरजी ने समस्त चराचर में उस विनाश को रोकने हेतु मूक प्रार्थना की है, जो उनकी विश्व बन्धुत्व की भावना का द्योतक है:

''यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय
छा जावे सुख-छाँव/सबके सब टलें-/अमंगल-भाव।'' (पृ. ४७८)

कवि तो प्रार्थना ही कर सकता है। सारे दु:खों की जड़ अहम् ही है। इसके रहते व्यक्ति को किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। लक्ष्य की प्राप्ति समर्पण, श्रद्धा, दया आदि के स्वीकारने और अहम् के विसर्जन से ही हो सकती है। आचार्य विद्यासागरजी ने समर्पण की भावना का बड़ा ही हृदयग्राही चित्र अंकित किया है :

''मेरे रोने से यदि/तुम्हारा मुख खिलता हो/सुख मिलता हो तुम्हें
लो ! मैं···रो···रही···हूँ···/और रो सकती हूँ।'' (पृ. १५०)

साधना करना अर्थात् उद्देश्य प्राप्ति के लिए मार्ग चुनना, मार्ग पर चलना आसान काम नहीं है। जो प्राथमिक बाधाओं को अभिशाप न मान वरन् वरदान मानते हैं, वे ही आगे बढ़ जाते हैं। जिस तरह कुशल लेखक को नई निबवाली लेखनी से शुरू में खुरदरेपन की अनुभूति से गुज़रना पड़ता है, परन्तु लिखते-लिखते निब घिसती जाती है और फिर तो वह विचारों की अनुचरा, सहचरा होती हुई अन्त में जल में तैरती-सी संवेदन करती है। उसी प्रकार 'साधना' की भी यही स्थिति होती है। साधना के इसी रूप को कवि ने विभिन्न आयामों में समर्पित किया है। वे स्वयं साधक हैं, साधना की उच्चतम ऊँचाइयों के प्रयोगधर्मी हैं। इसी साधना को सर्वोपरि महत्त्व देते हुए उन्होंने कहा है कि आस्था के तारों पर साधक की अँगुलियाँ चलती हैं, फिर सार्थक जीवन में स्वरातीत सरगम झरती है। प्रथम तो साधना भार लगती है, फिर निरन्तर अभ्यास होने पर वह सहचरी हो मानव को उच्चतम सोपानों तक ले जाती है।

वास्तव में अपने बाह्य और अन्तर्दर्शन के कारण 'मूकमाटी' इस युग को चित्रित करती हुई, साथ ही समग्रता से साक्षात्कार कराती हुई, युग की प्रतिनिधि रचना है।

□

मूकमाटी की मूक व्यथा की सार्थक प्रस्तुति : 'मूकमाटी' महाकाव्य

मोदी ताराचन्द जैन

'मूकमाटी' महाकाव्य में धर्म-दर्शन एवं अध्यात्म के सार को मुक्त छन्दों में निबद्ध करके काव्य रचना को नया स्वरूप प्रदान किया है। इसके वर्णन घटना प्रधान न होकर भाव प्रधान हैं। महाकवि की चिन्तनशील विचारों पर आधारित कथावस्तु पाठक को एक नई दृष्टि प्रदान करती है। प्रस्तुत काव्य चार सर्गों में विभक्त है। यह सर्ग ही हैं खण्ड नहीं क्योंकि स्वयं महाकवि ने काव्य के अन्त में सर्गों का विभाजन निम्न प्रकार किया है :

"...कुम्भ का संसर्ग किया/सो/सृजनशील जीवन का/आदिम सर्ग हुआ।
...अहं का उत्सर्ग किया/सो/सृजनशील जीवन का/द्वितीय सर्ग हुआ।
...तुमने अग्नि-परीक्षा दी/उत्साह साहस के साथ/जो/सहन उपसर्ग किया,
सो/सृजनशील जीवन का/तृतीय सर्ग हुआ।/...बिन्दु-मात्र वर्ण-जीवन को
तुमने ऊर्ध्वगामी—ऊर्ध्वमुखी/जो/स्वार्थित विसर्ग किया,/सो
सृजनशील जीवन का/अन्तिम सर्ग हुआ।" (पृ. ४८२-४८३)

इस प्रकार स्वयं महाकवि ने इसे सर्गों में बाँटकर खण्ड, अध्याय जैसे नामों को कोई स्थान नहीं दिया।

'मूकमाटी' महाकाव्य का प्रारम्भ बिना मंगलाचरण के हुआ है। यद्यपि मंगलाचरण करने की बहुत प्राचीन परम्परा रही है तथा बड़े-बड़े जैनाचार्यों ने इस परम्परा का निर्वाह भी किया है। लेकिन महाकवि स्वयं पंच परमेष्ठियों में से आचार्य परमेष्ठी हैं, जो स्वयं मंगल स्वरूप हैं। अतः स्वयं मंगल स्वरूप होने पर मंगलाचरण का विशेष औचित्य नहीं रहता। सम्भवतः इसीलिए मंगलाचरण करने की परम्परा का निर्वाह नहीं हुआ है।

वर्तमान शती में किसी जैनाचार्य द्वारा रचित 'मूकमाटी' हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज इस महाकाव्य के रचयिता हैं जो परम सन्त हैं तथा सर्वाधिक समादृत दिगम्बर जैनाचार्य हैं। कुछ परीक्षक कह सकते हैं कि यद्यपि संस्कृत ग्रन्थों में महाकाव्य के जो लक्षण लिखे हैं उनमें से बहुत कम लक्षण 'मूकमाटी' में मिलते हैं। सर्ग भी केवल चार हैं तथा छन्द परिवर्तन भी प्रस्तुत महाकाव्य में नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त रस एवं अलंकारों की दृष्टि से भी 'मूकमाटी' उतना सफल काव्य नहीं बन सका। लेकिन 'मूकमाटी' तो एक आध्यात्मिक महाकाव्य है। अतः इसमें संस्कृत एवं हिन्दी के महाकाव्यों के लक्षण कहाँ से मिल सकते हैं ? इस महाकाव्य की नायिका मूकमाटी है, जिसे शिल्पी द्वारा नया जन्म प्राप्त होता है। उसकी अग्नि परीक्षा होती है, जिसमें वह खरी उतरती है। महाकाव्य की कथावस्तु तो बहुत संक्षिप्त है, लेकिन दार्शनिक विषयों का वर्णन/प्रतिपादन इसमें सहज ढंग से हुआ है कि दर्शन भी कथा के रूप में हो गया है। वैसे यह कोई राजा अथवा श्रेष्ठी के जीवन को प्रतिपादित करने वाला काव्य नहीं है। यह तो पूरे जैन तत्त्व दर्शन को उजागर करने वाला महाकाव्य है। इसकी एक-एक पंक्ति स्मरण करने योग्य है, मनन करने योग्य है। इस प्रकार के महाकाव्य कोई महान् सन्त ही लिख सकते हैं, जिन्होंने अपने जीवन में अध्यात्म को आत्मसात् कर लिया हो।

महाकाव्य की भाषा शुद्ध हिन्दी है तथा भाषा इतनी सरल एवं प्रवाहमय है कि महाकाव्य को यदि मननपूर्वक पढ़ा जावे तो फिर छोड़ने का मन नहीं मानता। प्रारम्भ में कुछ अटपटा-सा अवश्य लगता है कि महाकवि क्या कहना चाहते हैं ? लेकिन जैसे-जैसे हम उसे पढ़ते जाते हैं, महाकाव्य का सार समझ में आने लगता है। मैंने स्वयं महाकाव्य

को अनेक बार पढ़ा है।

महाकाव्य में सुभाषितों का खुलकर प्रयोग हुआ है। वे जीवन की वास्तविकता को उजागर करने वाले हैं। इसके अतिरिक्त आचार्यश्री ने विलोम शब्दों के अर्थों पर भी विशेष प्रकाश डाला है। उससे यह महाकाव्य के साथ-साथ कोशग्रन्थ भी बन गया है।

हिन्दी साहित्य को ऐसा अपूर्व महाकाव्य देने के लिए सारा देश, एवं विशेषत: हिन्दी भाषा-भाषी करोड़ों जन आचार्यश्री के सैकड़ों वर्षों तक कृतज्ञ रहेंगे। आचार्यश्री इसी तरह काव्य सृजन करते रहें, इसी मंगल भावना के साथ निम्न पंक्तियों पूर्वक हम उनका शत-शत अभिनन्दन करते हैं।

'मूकमाटी' का मूक सन्देश

जिस माटी पर विश्व धरा है, उस माटी का घट बन जाता,
कुम्भकार की स्वयं कल्पना, मंगल कलश स्वयं बन जाता।
किसी द्रव्य को कौन बनाता, यह परिवर्तन स्वयं द्रव्य का;
उपादान तो स्वयं द्रव्य है, कुम्भकार नैमित्तिक घट का॥

परिवर्तन करती है माटी, कुट-पिट करके कुम्भकार से,
रुँधकर सँधकर बन जाती घट, कलाकार या कुम्भकार से।
परिवर्तन उसमें ही उसका, सब निमित्त बाहर ही रहते;
कुटती-पिटती-घुटती माटी, अपने रूप स्वयं में रहती॥

कुम्भकार या कलाकार की, कला स्वयं नहीं घट जाती,
मंगल कलश रूप बन जाती, तप से तप कर ही बन जाती।
'मूकमाटी' को महाकाव्य या खण्ड काव्य के रूपक जो हैं;
अपनी ज्ञान कल्पना से ही, मंगल कलश स्वयं में वो हैं॥

आत्म-ज्योति की दीपशिखा को, आगम पथ पर मढ़ लेते हैं,
मूकमाटी की मूक व्यथा को, अन्तर तम में गढ़ लेते हैं।
सात तत्त्व के सही रूप को, प्रतिपल जो जीवन में गढ़ते;
वही मूकमाटी को घट में, मंगल कलश रूप दे मढ़ते॥

यूँ ही पुण्य-पाप परिभाषा, निरत साधना में लाते हैं,
ऊपर उठकर स्वयं साधना-पथ संयममय धर जाते हैं।
संवर द्वारा आस्रव रुकता, पथ आगे ही तपता रहता;
तपा-तपाकर स्वयं निर्जरा द्वारा पथ नित बनता रहता॥

साधक साधना पथ पर चलकर, साध्य रूप में ढलता रहता,
इसी तरह यह महाकाव्य या खण्डकाव्य नित तन में गढ़ता।
मंगल कलश, कामना मंगल, मंगलमय जीवन को मढ़ता;
मूकमाटी की मूक व्यथा को, महाकाव्य में हरदम गढ़ता॥

अन्तरतम की ज्योति जगाकर, निज स्वभाव में रम जाता है,
सब विभाव फिर हटते रहते, साधन पथ पर रम जाता है।
यह योगी की मूक साधना, अन्तरतम की बहती धारा;
दिव्य दृष्टि और दिव्य दिशा को, नई चेतना देता रहता ॥

'मूकमाटी' को महाकाव्यमय, संयम पथ पर नित दे जाता,
ज्ञान ज्योति की दीपशिखा को, विश्व शान्ति का पथ दे जाता।
ज्यों-ज्यों मन्द कषायें होतीं, निरत साधना में रम जाता;
अन्तरतम की निरत साधना, योगी चेतनमय ढल जाता ॥

जब योगी का धर्मध्यान औ शुक्लध्यान आता जाता है,
जीवन उसका सही साधना-पथ तब पल-पल दर्शाता है।
सूक्ष्म लोभ कुछ क्षण रह जाता, ध्यान अग्नि को स्वयं जलाता;
यथाख्यात चारित्र धार वह, मोह क्षीण पथ पा जाता है ॥

निरत साधनारत रहता नित, शुक्लध्यान में रम जाता है,
किंचित् योग साधना पर चल, केवलज्ञानी बन जाता है।
आयु कर्म जब तक रहता है, दें नित उपदेश दिव्य वाणी का;
दिव्यध्वनि में झरता रहता, दिव्य वाणी या मूक वाणी का ॥

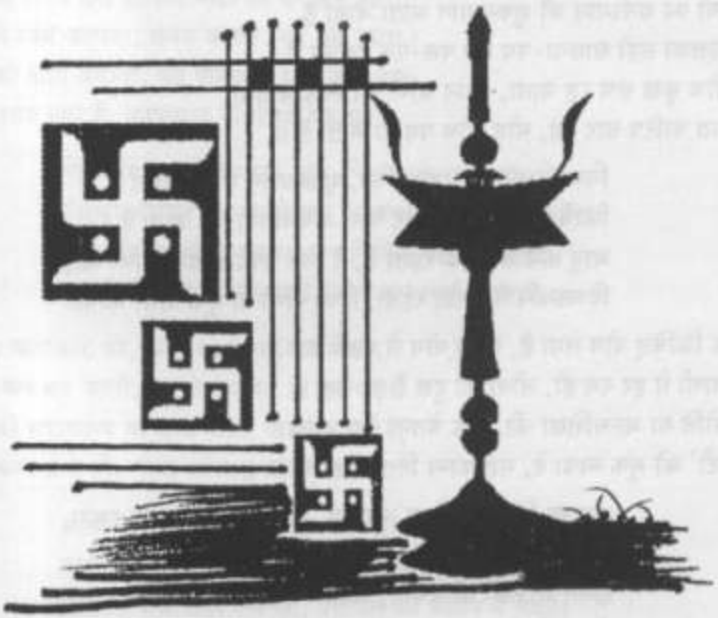
जब तक किंचित् योग लगा है, वचन योग से वाणी देता,
अपनी वाणी से हर दम ही, जीवों का दुख है हर लेता।
आत्मज्योति या आत्मशिखा की, मूक चेतना देता रहता;
'मूकमाटी' को मूक व्यथा दे, महाकाव्य नित गढ़ता रहता ॥

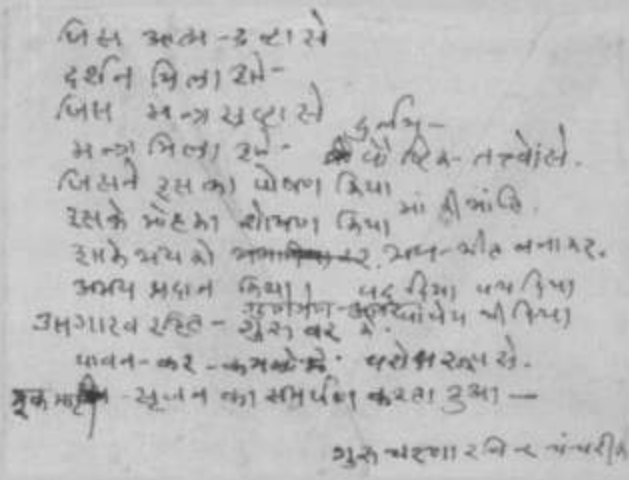
अरहन्त सिद्ध की दिशा और वह, नित प्रति पग धरता रहता,
सर्व साधु औ उपाध्याय पद, आचार्य पद पर मढ़ता रहता।
इंगित आकारों की रचना, अपने पथ से नित प्रति देता;
जैन धर्म और जैन ध्वजा को, विश्व बन्धु में हर दम मढ़ता ॥

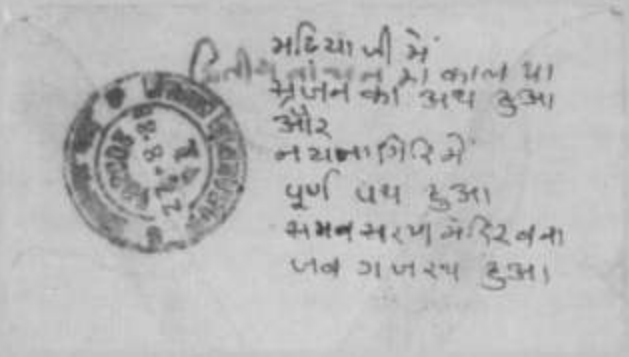
इन्द्रिय-विजय साधना-पथ है, राग-द्वेष नित हरता रहता,
विद्याधर से 'विद्यासागर', पथ पर नित प्रति चलता रहता।
ज्ञानकला की दिव्य शिखा पर, नई चेतना देता रहता;
'मूकमाटी' में निज भावों से, नये काव्य में मढ़ता रहता ॥

यह योगी की आत्म ज्योति है, जिसे जानता केवलज्ञानी,
'मोदी' की इस तुच्छ कलम में, क्या ताकत जो दे दे वाणी।
यह तो मनुज प्रयास सफल हो, इसीलिए मढ़ता रहता हूँ;
'मोदी' मोद भरे इस पथ को, मूक व्यथा से ही कहता हूँ ॥

□







'मूकमाटी' रचयिता की हस्तलिपि

सौजन्य से : श्री अभिनन्दन सांघेलीय, पाटन (जबलपुर)